श्रीमती कमला नेहरू

कमला को

—जिसकी अब याद ही रह गयी—

विषय-सूची

तीसरे संस्करण के लिए

मुझे खुशी है कि 'मेरी कहानी' का तीसरा सस्करण, और सो भी बहुत सस्ता, इतनी जल्दी प्रकाशित करने का दिन आगया। यह इसकी लोक-प्रियता का अच्छा प्रमाण है। इसमे मैंने नीचे लिखे मुताबिक् सुधार करने और बढ़ाने की कोशिश की है—

१—पिछले सस्करणो मे जहाँ-कही सख्त उर्दू-फारसी के शब्द आ गये थे उनकी जगह बोलचाल की हिन्दी के शब्द डाले गये है।

२—श्री महादेव देसाई ने गुजराती अनुवाद मे बहुत उपयोगी फुटनोट दिये है, जिनसे बहुत-सी बाते साफ हो जाती है। उनमे से अधिकाश इस सस्करण मे जोड दिये गये है।

३—कुछ पद्यानुवाद बदल दिये गये है और कुछ नये दाखिल किये गये है।

इतनी विशेषताओं के बाद भी इस सस्करण का दाम सिर्फ २॥) रक्खा गया है। आशा है, 'मण्डल' के इस उद्योग की हिन्दी-भाषी भाई-बहन यथोचित कद्र करेगे।

इसे सस्ता बनाने मे श्री जवाहरलालजी ने अपनी रॉयल्टी आधी करके तथा 'हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस' ने छपाई के दर मे कमी करके 'मण्डल' को जो सहायता पहुँचायी है उसका 'मण्डल' बहुत कृतज्ञ है। श्री महादेवभाई के गुजराती अनुवाद से मैंने जो पूर्वोक्त लाभ उठाया है उसके लिए उनका भी आभार प्रदर्शित करना जरूरी है।

इस सस्करण की तैयारी मे मुझे अपने साथी श्री सुधीन्द्र एम्० ए० 'साहित्यरत्न' की भी ठीक सहायता मिली है।

गांधी-जयन्ती,
१९३८

हरिभाऊ उपाध्याय

पहले संस्करण की भूमिका

आज, जब कि पूर्व-प्रकाशित सूचना के अनुसार इस पुस्तक को पाठकों के हाथों मे पहुँचे एक महीना हो जाना चाहिए था, मैं अपना यह प्रारम्भिक निवेदन लिखने बैठा हूँ। समझ मे नही आता, इस देरी के लिए किस प्रकार क्षमा माँगूं? एक तो वैसे ही स्वास्थ्य कुछ बहुत नहीं अच्छा रहता, फिर दूसरी और ज़िम्मेदारियों का बोझ भी सिर पर था, जो इस अधमरे शरीर को थका देने के लिए काफी था। ऐसी दशा मे श्री जवाहरलालजी की 'आत्म-कथा' के अनुवाद और सम्पादन के काम की ज़िम्मेदारी मेरे लिए दु साहस की बात थी। लेकिन पागल भावुकता का क्या इलाज? बापूजी—महात्माजी—की 'आत्मकथा' के अनुवाद का जब सुअवसर मिला तो उसको मैंने अपना अहोभाग्य समझा। अब अपने मान्य राष्ट्रपति की जीवन-कथा के अनुवाद का सुसयोग आने पर इस गौरव से अपने को वञ्चित रखने की कल्पना ही कैसे हो सकती थी? इसलिए जब 'सस्ता साहित्य मण्डल' ने कांग्रेस-इतिहास के दोनो सस्करणो के अनुवाद और सपादन के बाद ही यह ज़िम्मेदारी भी उठाने के लिए मुझसे कहा तो मैंने फौरन उसे स्वीकार कर लिया और इस ख़याल से कि काम जल्दी और समय पर ख़त्म हो जाय, अनुवाद मे शक्ति से अधिक मेहनत करने लगा। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर शरीर ने जवाब दे दिया और गाडी अधबीच मे ही रुक गयी। लेकिन काम को जल्दी ख़त्म करने और पुस्तक जल्दी प्रकाशित करने की चिन्ता होना स्वाभाविक ही था। और स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था. कि मैं डर गया। लेकिन मेरे मित्र प्रो० गोकुललालजी असावा तथा भाई शकरलालजी वर्मा (मन्त्री-

ान्तीय काग्रेस कमिटी, अजमेर) ने तुरन्त ही मुझे इस चिन्ता-भार से बचा लिया। प्रो० गोकुललालजी तो 'काग्रेस-इतिहास' की तरह शुरू से ही इस काम मे भी मेरी मदद कर रहे थे। इसबार इस समय भाई शकरलालजी भी मेरी मदद पर आ गये। यह इन दोनों के सहयोग और सहायता का ही परिणाम है कि पुस्तक का काम जल्दी पूरा हो गया। इसके लिए मै इनका बहुत आभारी हूँ।

अनुवाद के सिलसिले मे मुझे भाई श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल (एम०एल०ए० केन्द्रीय) भाई गोपीकृष्णजी विजयवर्गीय (प्रधान मत्री, इन्दौर-राज्य-प्रजा-मण्डल) और श्री चन्द्रगुप्तजी वार्ष्णेय (अजमेर) से भी सहायता मिली है, और फ्रेञ्च उद्धरणों का अग्रेजी भाषान्तर स्वय मूल लेखक तथा पूज्य डॉ० हरि रामचन्द्रजी दिवेकर (ग्वालियर) ने किया है। इसके लिए मैं इन सबका अत्यन्त आभारी हूँ।

भाई श्री वियोगी हरिजी ने कविता-क्षेत्र से अलग हट जाने पर भी मेरे अनुरोध पर, इस पुस्तक की कविता के हिन्दी-अनुवादों का सशोधन करने की कृपा की है। श्री मुकुटबिहारी वर्मा ने इस काम को अपना ही काम समझकर प्रूफ-सशोधन और कही-कही भाषा-सम्बन्धी सशोधन आदि मे शुरू से ही सहायता दी है। अत. इन दोनों का भी मै हृदय से कृतज्ञ हूँ।

कुछ शब्द अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध म भी। मैं सरल और बोल-चाल की भाषा—जिसे पूज्य बापूजी ने 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' नाम दिया है, और जो असली राष्ट्रभाषा कही जा सकती है—लिखने का पक्षपाती हूँ। इस पुस्तक के ज़रिये मैं उसका एक नमूना पेश करना चाहता था। लेकिन अफसोस है कि प्रकाशन की जल्दी और अपनी बीमारी की वजह से मैं शुरू से अखीर तक उसे निबाह न सका। फिर

भी जहाँतक सम्भव हो सकता था उसके सरल बनाने और भाषान्तर के सही होने का पूरा खयाल रक्खा गया है। इतना सब कुछ करने पर भी कहीं-कहीं गलतियाँ और मतभेद की आशका रहना मुमकिन है। इसलिए कृपालु पाठको से मेरा अनुरोध है कि जो भूले उनकी निगाह मे आवे उनपर मेरा ध्यान दिलाने की मेहरबानी करे, जिससे दूसरे सस्करण मे उनका सुधार किया जा सके।

अनुवाद की भाषा मे प्रचलित हिन्दी, उर्दू और अग्रेजी शब्दो का खुलकर प्रयोग हुआ है। सम्भव है, कुछ रूढि-चुस्त लोगो को वह पसन्द न आवे। लेकिन अनुवाद का पहला फार्म खुद जवाहरलालजी ने देख लिया था और उसकी भाषा को उन्होने पसन्द किया था। उससे मुझे काफी उत्साह मिला था। अगर सारी पुस्तक पडितजी को पसन्द आ गयी तो मुझे बडा सतोष मिलेगा, क्योंकि मै वर्तमान भारत की बहुतेरी आवश्यकताओ को पडितजी की राय मे बोलता हुआ पाता हूँ।

गांधी-आश्रम, हटुंडी (अजमेर)
[illegible]-जयन्ती, १९३६

हरिभाऊ उपाध्याय

प्रस्तावना

यह सारी किताब, सिर्फ एकाध आखिरी बात और चन्द मामूली रद्दोबदल के अलावा, जून १९३४ से फरवरी १९३५ के बीच, जेल मे ही लिखी गयी है। इसके लिखने का ख़ास मकसद यह था कि मै किसी निश्चित काम मे लग जाऊँ, जो कि जेल-जीवन की तनहाई के पहाड-से दिन काटने के लिए बहुत ज़रूरी होता है। साथ ही मै पिछले दिनो की हिन्दुस्तान की उन घटनाओं का ऊहापोह भी कर लेना चाहता था, जिनसे मेरा ताल्लुक रहा है ताकि उनके बारे मे मै स्पष्टता के साथ सोच सकूं। आत्म-जिज्ञासा के भाव से मैने इसे शुरू किया और, बहुत हद तक, यही क्रम बराबर जारी रक्खा है। पढ़नेवालो का खयाल रखकर ही मैने सब-कुछ लिखा हो, सो बात नही है; लेकिन अगर पढनेवालों का ध्यान आया भी, तो पहले अपने ही देश के लोगों का आया है। विदेशी पाठकों का खयाल करके लिखता तो शायद मैने इससे मुख्तलिफ रूप मे इसे लिखा होता, या दूसरी ही बातो पर ज्यादा जोर दिया होता। उस हालत मे, जिन कुछ बातों को इसमे मैने योही टाल दिया है, उनपर ज़ोर देता, और दूसरी जिन बातो को कुछ विस्तार से लिखा है उन्हे महज सरसरी तौर पर लिखता। मुमकिन है कि बाहरवालों की उनमे से ज्यादातर बातो से दिलचस्पी न हो, जिन्हे मैने तफ़सील मे लिखा है, और वे उनके लिए अनावश्यक या इतनी खुली हुई बाते हो जिनके लिए बसह-मुबाहसे की कोई गुंजाइश नही है; लेकिन मै समझता हूँ कि आज

के हिन्दुस्तान मे उनका कुछ-न-कुछ महत्त्व जरूर है। इसी तरह हमारे देश के राजनैतिक मामलो और व्यक्तियो के बारे मे बराबर जो कुछ लिखा गया है वह भी सम्भवत बाहरवालो के लिए दिलचस्पी का विषय न हो।

मुझे उम्मीद है कि पाठक, इसे पढते हुए, इस बात का खयाल रक्खेगे कि यह किताब ऐसे समय मे लिखी गयी है जो मेरी जिन्दगी का खास तौर पर कष्टपूर्ण समय था। इसमे यह असर साफ तौर पर झलकता है। अगर इसकी बजाय और किसी मामूली वक्त मे यह लिखी गयी होती तो यह कुछ और ही तरह लिखी जाती और कही-कही शायद ज्यादा सयत होती। मगर मैने यही मुनासिब समझा कि यह जैसी है वैसी ही इसे रहने दूं, क्योकि दूसरो को शायद वही रूप ज्यादा पसन्द हो, जिससे उन भावो का ठीक-ठीक परिचय मिलता हो जो इस किताब को लिखते वक्त मेरे दिमाग उठते थे। इसमे जहाँतक मुमकिन हो सकता था, मैंनें अपना मानसिक विकास अकित करने का प्रयत्न किया है, हिन्दुस्तान के आधुनिक इतिहास का विवेचन नही। यह बात, कि यह किताब ऊपर से देखने पर उक्त विवेचन-सी मालूम होती है, पाठक को गुमराह कर सकती है और इसलिए वह इसे उससे कही अधिक महत्त्व दे सकता है, जितने की कि यह मुस्तहक है। इसलिए मै यह चेतावनी देना चाहता हूँ कि यह विवरण सर्वथा एकागी—इकतर्फा—है, और निश्चित रूप से, व्यक्तिगत है। अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओ की बिलकुल उपेक्षा कर दी गयी है, और कई प्रतिभाशाली व्यक्तियो का, जिनका कि घटनाओं के निर्माण मे हाथ रहा है, उल्लेख तक नही हो पाया है। किन्ही बीती हुई घटनाओ के असली विवेचना मे ऐसा करना अक्षम्य होता, किन्तु एक व्यक्तिगत विवरण इसके लिए क्षमापात्र हो सकता है। जो लोग हमारे नजदीक भूतकाल की घटनाओ का ठीक-

ठीक अध्ययन करना चाहते है, उन्हे इसके लिए किसी दूसरे साधनों का सहारा लगाना होगा। लेकिन यह हो सकता है कि यह विवरण और ऐसी दूसरी कथाये उन्हे छूटी हुई कड़ियों को जोडने और कठोर तथ्य का अध्ययन करने मे सहायक हो सके।

मैंने अपने कुछ साथियों की, जिनके साथ मुझे बरसों काम करने का सौभाग्य रहा है, और जिनके प्रति मेरे हृदय मे सबसे अधिक आदर और प्रेम है, खुली चर्चा की है; साथ ही समुदायों और व्यक्तियों की भी शायद और भी कड़ी आलोचना की है। मेरी यह आलोचना उनमे के अधिकतर के प्रति मेरे आदर को घटा नहीं सकती। लेकिन मुझे ऐसा लगा, कि जो लोग सार्वजनिक कामों मे पड़ते है, उन्हें आपस मे एक-दूसरे के और जनता के साथ, जिसकी कि वे सेवा करना चाहते हैं, स्पष्टवादिता से काम लेना चाहिए। दिखावटी शिष्टाचार और असमञ्जस और कभी-कभी परेशानी मे डालनेवाले प्रश्नो को टाल देने से न तो हम एक-दूसरे को अच्छी तरह समझ सकते हैं, और न अपने सामने की समस्याओ का मर्म ही जान सकते है। आपस के मतभेदों और उन सब बातो के प्रति, जिनमे मतैक्य है, आदर और वस्तुस्थिति का, चाहे वह कितनी ही कठोर क्यो न हो, मुकाबिला ही हमारे वास्तविक सहयोग का आधार होना चाहिए। लेकिन मेरा विश्वास है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, उसमे किसी व्यक्ति के साथ किसी प्रकार के द्वेष या दुर्भाव का लेशमात्र भी नहीं है।

सरसरी तौर पर या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा करने के सिवा, मैंने भारत की मौजूदा समस्याओं के विवेचन को जान-बूझकर टाला है। जेल मे मैं न तो इस स्थिति मे था कि इनकी अच्छी तरह विवेचना कर सकूँ, न मैं अपने मन मे यही निश्चय कर सकता था कि क्या किया

जाना चाहिए। जेल से छूटने के बाद भी मैंने उस सम्बन्ध में कुछ बढ़ाना ठीक नहीं समझा। मैं जो कुछ लिख चुका था, उसके यह अनुकूल नही जान पडा। इस तरह यह 'मेरी कहानी' एक व्यक्तिगत, और ऐसे अतीत के, जो वर्त्तमान के नजदीक किन्तु जो उसके सम्पर्क से सतर्कता-पूर्वक दूर है, अपूर्ण विवरणका रेखा-चित्र मात्र रह गयी है।

वेडनवाइलर,
२ जनवरी, १९३६

मेरी कहानी

पण्डित मोतीलाल नेहरू

: १ :

कश्मीरी घराना

"अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी, क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है, और अगर अपनी तारीफ करे, तो पाठकों को उसे सुनना नागवार मालूम होता है।"

—अब्राहम काउली

मा-बाप धनी-मानी और बेटा इकलौता हो, तो यो भी वह सिर पर चढ जाता है—फिर हिन्दुस्तान मे तो और भी ज्यादा, और जब लडका ऐसा हो जो ११ साल की उम्र तक अपने मा-बाप का अकेला ही बच्चा रहा हो, तो फिर दुलार की खराबी से उसके बचने की आशा और भी कम रह जाती है। मेरे दो बहने है, जो उम्र मे मुझसे बहुत ही छोटी है और हम हरेक के बीच मे काफी साल का फर्क है। इस तरह अपने बचपन मे मै बहुत-कुछ अकेला ही रहा। मुझे कोई हमउम्र साथी न मिला—यहाँतक कि मुझे स्कूल का भी कोई साथी नसीब न हुआ, क्योकि मै किसी किडर-गार्टन या बच्चो के मदरसे मे पढने नही भेजा गया। मेरी पढाई की जिम्मेदारी घरू मास्टरो या अध्यापिकाओ पर थी।

मगर हमारे घर मे किसी तरह का अकेलापन न था। हमारा परिवार बहुत बडा था, जिसमे चचेरे भाई वगैरा और दूसरे पास के रिश्तेदार बहुत थे, जैसा कि हिन्दू-परिवारो मे आम तौर पर हुआ करता है। मगर मुश्किल यह थी कि मेरे तमाम चचेरे भाई उम्र मे मुझसे बहुत बडे थे और वे सब हाई स्कूल या कॉलेज मे पढते थे। उनकी नजर मे मै उनके कामो या खेलो मे शरीक होने लायक नही हुआ था। इस तरह इतने बडे परिवार मे, मै और भी अकेला लगता था और ज्यादातर अपने ही खयालो और खेलो मे मुझे अकेले अपना वक्त काटना पडता था।

हम लोग कश्मीरी है। २०० बरस से ज्यादा हुए होगे, १८वी सदी के शुरू मे हमारे पुरखे दौलत और नामवरी पाने के इरादे से कश्मीर की

सुन्दर तराइयो से नीचे के उपजाऊ मैदानो मे आये। वे मुगल सल्तनत की गिरावट के दिन थे। औरगजेब मर चुका था और फर्रुखसियर बादशाह था। हमारे जो पुरखा सबसे पहले आये, उनका नाम था राजकौल। कश्मीर के सस्कृत और फारसी के विद्वानो मे उनका बडा नाम था। फर्रुखसियर जव कश्मीर गया, तो उसकी नजर उनपर पडी। और शायद उसीके कहने से उनका परिवार दिल्ली आया, जो कि उस समय मुगलों की राजधानी थी। यह सन् १७१६ के आसपास की बात है। राजकौल को एक मकान और कुछ जागीर दी गयी। मकान नहर के किनारे था, इसीसे उनका नाम नेहरू पड गया। कौल जो उनका खानदानी लकब था वह वदलकर कौल-नेहरू हो गया और, आगे चलकर, वह कौल गायब होगया और हम महज नेहरू रह गये।

उसके वाद ऐसा डाँवाडोल जमाना आया कि जिससे हमारे कुटुम्ब के जीवन मे उतार-चढाव आये, जिसमे वह जागीर भी तहस-नहस हो गयी। मेरे परदादा लक्ष्मीनारायण नेहरू, दिल्ली के बादशाह के नाममात्र के दरवार मे कम्पनी-सरकार के पहले वकील हुए। मेरे दादा, गगाधर नेहरू, १८५७ के गदर के कुछ पहले तक दिल्ली के कोतवाल थे। १८६१ में ३४ साल की भर-जवानी मे ही वह मर गये थे।

१८५७ के गदर की वजह से हमारे परिवार का सब सिलसिला टूट गया। हमारे खानदान के तमाम कागज-पत्र और दस्तावेज़ तहस-नहस हो गये। इस तरह अपना सव-कुछ खो चुकने पर हमारा परिवार दिल्ली छोडनेवाले और कई लोगो के साथ वहाँसे चल पडा और आगरे जाकर वस गया। उस समय मेरे पिताजी का जन्म नही हुआ था। लेकिन मेरे दो चाचा जवान थे और कुछ अग्रेजी जानते थे। इस अग्रेजी जानने की वदौलत मेरे छोटे चाचा और परिवार के कुछ दूसरे लोग एक बुरी और अचानक मौत से वच गये। हमारे परिवार के कुछ लोगो के साथ वह दिल्ली से कही जा रहे थे। उनके साथ उनकी एक छोटी वहन भी थी, जिसका रूप-रग गोरा और वहुत अच्छा था, जैसा कि अक्सर कश्मीरी वच्चो का हुआ करता है। इत्तिफाक से कुछ अग्रेज सिपाही उन्हे रास्ते

पण्डित गगाधर नेहरू

(जवाहरलालजी के दादा)

मे मिले। उन्हे शक हुआ कि, 'हो-न-हो, यह लड़की किसी अग्रेज की है और ये लोग इसे भगाये लिये जा रहे है। उन दिनों सरसरी तौर पर मुकदमा करके सजा ठोक देना एक मामूली वात थी, इसलिए मेरे चाचा तथा परिवार के दूसरे लोग किसी नजदीकी पेड पर जरूर फाँसी पर लटका दिये गये होते। मगर खुश-किस्मती से मेरे चाचा के अग्रेजी-ज्ञान ने मदद की, जिससे इस फैसले मे कुछ देरी हुई। इतने ही मे उधर से एक शख्स गुजरा, जो मेरे चचा वगैरा को जानता था, उसने उनकी और दूसरो की जान वचायी।

कुछ वरसो तक वे लोग आगरा रहे और वही ६ मई १८६१ को पिताजी का जन्म हुआ[१]। मगर वह पैदा हुए थे मेरे दादा के मरने के तीन महीने वाद। मेरे दादा की एक छोटी तस्वीर हमारे यहाँ है जिसमे वह मुगलों का दरवारी लिबास पहने और हाथ मे एक टेढी तलवार लिये हुए हैं। उसमे वह एक मुगल सरदार-जैसे लगते है, हालाँकि सूरत-शकल उनकी कश्मीरियों की-सी ही थी।

तब हमारे परिवार के भरण-पोषण की जिम्मेदारी मेरे दो चाचाओं पर आपडी, जो कि उम्र मे मेरे पिता से काफी बडे थे। बडे चाचा वसीधर नेहरू, थोडे ही दिन वाद ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग मे नौकर हो गये। जगह-जगह उनका तबादला होता रहा, जिससे वह परिवार के और लोगों से बहुत-कुछ जुदा पड गये। छोटे चाचा नन्दलाल नेहरू, राजपूताना की एक छोटी रियासत खेतडी के दीवान हुए और वहाँ दस बरस तक रहे। बाद मे उन्होने कानून का अध्ययन किया और आगरे में वकालत शुरू की। मेरे पिता भी उन्हीके साथ रहे और उन्हीकी छत्रछाया मे उनका लालन-पालन हुआ। दोनों का आपस मे बडा प्रेम था और उसमे बन्धु-प्रेम, पितृ-प्रेम और वात्सल्य का अनोखा मिश्रण था। मेरे पिता सबसे छोटे होने के कारण स्वभावत. मेरी दादी के बहुत लाडले

---

१. एक अजीब और मजेदार दैवयोग है कि कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उसी दिन, उसी महीने और उसी साल पैदा हुए है।

थे। वह बूढी थी और बडी दबंग भी। किसीकी ताब नहीं थी कि उनकी बात को टाले। उनको मरे अब पचास वर्ष हो गये होंगे, मगर बूढी कश्मीरी स्त्रियाँ अब भी उनको याद करती है और कहती है कि वह बडी जोरदार औरत थी। अगर किसीने उनकी मर्जी के खिलाफ कोई काम किया तो बस मौत ही समझिए।

मेरे चाचा नये हाइकोर्ट मे जाया करते थे और जब वह हाइकोर्ट इलाहाबाद चला गया तो हमारे परिवार के लोग भी वही जा बसे। तबसे इलाहाबाद ही हमारा घर बन गया है और वही, बहुत साल के बाद, मेरा जन्म हुआ। चाचाजी की वकालत धीरे-धीरे बढती गयी और वह इलाहाबाद-हाइकोर्ट के बडे वकीलो मे गिने जाने लगे। इस बीच मेरे पिताजी कानपुर के स्कूल और इलाहाबाद के कॉलेज मे शिक्षा पाते रहे। शुरू-शुरू मे उन्होने महज फारसी और अरबी की तालीम पायी थी। उनकी अंग्रेजी शिक्षा बारह-तेरह वर्ष की उम्र के बाद शुरू हुई। मगर उस उम्र में भी वह फारसी के अच्छे जानकार समझे जाते थे और अरबी मे भी कुछ दखल रखते थे। इसी कारण उनसे उम्र मे बहुत बडे लोग भी उनके साथ इज्जत से पेश आते थे। छोटी उम्र मे इतनी लियाकत हो जाने पर स्कूल और कॉलेज मे वह ज्यादातर हँसी-खेल और धूमा-मस्ती के लिए मशहूर थे। उन्हे सजीदा विद्यार्थी किसी तरह नही कह सकते थे। पढने-लिखने की बनिस्बत खेल-कूद और शरारत का शौक बहुत था। कॉलेज मे सरकश लडको के अगुआ समझे जाते थे। उनका झुकाव पश्चिमी लिबास की तरफ हो गया था, और सो भी उस वक्त जब कि हिन्दुस्तान मे कलकत्ता और बम्बई जैसे बडे शहरो को छोडकर इसका चलन नही हुआ था। वह तेज-मिजाज और अक्खड थे, तो भी उनके अंग्रेज प्रोफेसर उनको बहुत चाहते थे और अक्सर मुश्किलो से बचा लिया करते थे। वह उनकी स्पिरिट को पसन्द करते थे। उनकी बुद्धि तेज थी और कभी-कभी एकाएक जोर लगाकर वह क्लास मे भी अपना काम ठीक चला लेते थे। अर्से बाद अक्सर वह अपने एक प्रोफेसर का जिक्र प्रेम-भरे शब्दो मे किया करते थे। यह थे मि० हैरिसन, जो

म्योर सेण्ट्रल कॉलेज इलाहाबाद के प्रिंसिपल थे। उनकी एक चिट्ठी भी उन्होने वडे जतन से सँभालकर रखी थी। यह उन दिनो की है, जबकि वह कॉलेज मे पढते थे।

कॉलेज की परीक्षाओ मे वह पास होते चले गये। मगर कोई खास नामवरी उन्होने हासिल नही की। आखिर को बी० ए० के इम्तिहान मे वैठे। मगर उसके लिए उन्होने कुछ मेहनत या तैयारी नहीं की थी और जो पहला पर्चा किया, तो उससे उन्हे विलकुल सन्तोष नही हुआ। उन्होने सोचा, जव पहला ही पर्चा विगड गया है तो अब पास होने की क्या उम्मीद ? उन्होने वाकी पर्चे किये ही नही और जाकर ताजमहल की सैर करने लगे। (उन दिनो विश्वविद्यालय की परीक्षाये आगरा मे हुआ करती थीं)। मगर वाद को उनके प्रोफेसर ने उन्हे बुलाया और वहुत विगडे। उनका कहना था कि पहला पर्चा तुमने ठीक-ठीक किया है और वेवकूफी की जो आगे के पर्चे नही किये। खैर, इस तरह पिताजी की कॉलेज-शिक्षा हमेशा के लिए खतम हो गयी और बी० ए० पास करना आखिर रही गया।

अव उन्हे काम-धधा जमाने की फिक्र हुई। सहज ही उनकी निगाह वकालत की ओर गयी, क्योकि उस समय वही एक पेशा ऐसा था कि जिसमे बुद्धिमान और होशियार आदमियो के लिए काम की गुञ्जाइश थी और जिसकी चल जाती उसके पौ-बारह होते थे। अपने भाई की मिसाल उनके सामने थी ही। बस हाइकोर्ट-वकालत के इम्तिहान मे बैठे और उनका नम्बर सबसे पहला रहा। उन्हे एक स्वर्ण-पदक भी मिला। कानून का विषय उन्हे दिल से पसन्द था और उसमे सफलता पाने का उन्होंने निश्चय कर लिया था।

उन्होने कानपुर की जिला-अदालतो मे वकालत शुरू की, और चूँकि वह सफलता पाने के लिए बहुत लालायित थे, इसलिए जी तोडकर मेह-नत की। फिर क्या था, उनकी वकालत अच्छी चमक उठी। मगर हाँ, हँसी-खेल ओर मौज-मजा उनका उसी तरह जारी रहा और अबतक भी उनका कुछ वक्त उसमे चला जाता था। उन्हे कुश्ती और दगल का

खास शौक था। उन दिनों कानपुर कुश्तियों और दगलो के लिए मशहूर था।

तीन साल तक कानपुर मे उम्मीदवार के तौर पर काम करने के बाद पिताजी इलाहाबाद आये और हाइकोर्ट मे काम करने लगे। इधर चाचा पण्डित नन्दलाल एकाएक गुजर गये। इससे पिताजी को जबरदस्त धक्का लगा। वह उनके लिए भाई ही नही, पिता के समान थे, और उन दोनों मे बड़ा प्रेम था। उनके गुजर जाने से परिवार का मुखिया, जिस-पर सारी आमदनी का दारोमदार था, उठ गया। परिवार की और पिताजी की यह बहुत बडी हानि थी। अब इतने बडे कुनबे के भरण-पोषण का प्राय सारा भार इस नौजवान के कन्धे पर आपडा।

वह अपने पेशे मे जुट पडे। सफलता पर तो तुले हुए थे ही। इस-लिए कई महीनो तक दूसरी सब बातो से जी हटाकर इसीमे लगे रहे। चाचाजी के करीब-करीब सब मुकदमे उन्हे मिल गये और उनमे अच्छी कामयाबी भी मिली। इससे अपने पेशे मे भी उन्हे बहुत जल्दी कामयाबी मिलती चली गयी। मुक़दमे धडाधड आने लगे और रुपया खूब मिलने लगा। छोटी उम्र मे ही उन्होने वकालती सफलता मे नामवरी हासिल कर ली, परन्तु उसकी कीमत उन्हे यह देनी पडी कि वकालत-देवी के ही मानो वह अधीन हो गये। उनके पास न सार्वजनिक और न घरू कामो के लिए वक्त रहता था—यहाँतक कि छुट्टियो के दिन भी वह वकालत के काम में ही लगाते थे। कांग्रेस उन दिनो मध्यम श्रेणी के अग्रेजी पढे लोगो का ध्यान अपनी तरफ खीचने मे लगी थी। वह उसकी शुरू की कुछ बैठको मे गये भी थे और, जहाँतक विचारो से सम्बन्ध है, वह कांग्रेसवादी रहे। उसके कामो में वह कोई खास दिलचस्पी नही लेते थे। अपने पेशे मे ही इतने डूबे रहते थे कि उसके लिए उन्हे वक्त नही था। हाँ, एक बात और थी। इसके सिवा, उन्हें यह निश्चय न था कि राजनैतिक और सार्वजनिक कार्यों का क्षेत्र उनके लिए उपयुक्त होगा या नही। उस समय तक इन विषयो पर उन्होने न तो ज्यादा ध्यान ही दिया था, न कुछ उन्हें इसकी अधिक जानकारी ही थी। वह ऐसे किसी आन्दोलन

और सगठन मे शामिल होना नही चाहते थे, जिसमे उन्हे किसी दूसरे के इशारे पर नाचना पडता हो। यो वचपन और जवानी के शुरू की तेजी देखने मे कम हो गयी थी पर दरअसल उसने नया रूप ले लिया था। वकालत की ओर उसे लगा देने से उन्हे कामयावी मिली, जिससे उनका गर्व और अपने पर भरोसा रखने का भाव वढ गया। पर फिर भी विचित्रता यह थी कि एक ओर वह लडाई लडना, दिक्कतो का मुकाबिला करना पसन्द करते थे और दूसरी ओर उन दिनो राजनैतिक क्षेत्र से अपने को वचाये रखते थे। और उन दिनो तो कांग्रेस मे लडाई का मौका भी वहुत कम था। वात दरअसल यह थी कि उस क्षेत्र से उनका परिचय नही था और उनका दिमाग अपने पेशे की वातो मे और उसके लिए कडी मेहनत करने मे लगा रहता था। उन्होने सफलता की सीढी पर अपना पैर मजवूती से जमा लिया था और एक-एक कदम ऊपर चढ़ते जाते थे और यह किसीकी मेहरवानी से नही, और न किसी की खिदमत करके ही, वल्कि खुद अपने दृढ सकल्प और बुद्धि के वल पर।

साधारण अर्थ मे वह जरूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अग्रेजों और उनके तौर-तरीक के कद्रदाँ भी थे। उनका यह खयाल वन गया था कि हमारे देशवासी ही नीचे गिर गये है और वे जिस हालत मे है, वहुत-कुछ उसीके लायक है। जो राजनैतिक लोग वाते-ही-वाते किया करते है, करते-धरते कुछ नही, उनसे वह मन-ही-मन कुछ नफरत-सी करते थे, हालाँकि वह यह नही जानते थे कि इससे ज्यादा वे और कर ही क्या सकते थे? हाँ, एक और खयाल भी उनके दिमाग मे था, जो कि उनकी कामयावी के नशे से पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति मे पड़े है, उनमे ज्यादातर—सब नही—वे लोग है, जो अपने जीवन मे नाकामयाव हो चुके है।

पिताजी की आमदनी दिन-दिन वढती जाती थी, जिससे हमारे रहन-सहन मे वहुत परिवर्तन हो गया था। जहाँ आमदनी वढी नही कि खर्च भी उसके साथ वढा नही। रुपया जमा करना मेरे पिताजी को ऐसा मालूम पड़ता था मानों जव और जितना चाहे रुपया कमाने की अपनी

शक्ति पर तोहमत लगाना है। खिलाड़ी की स्पिरिट और हर तरह से बढ़ी-चढ़ी रहन-सहन के शौकीन तो वह थे ही, जो-कुछ कमाते थे, सब ख़र्च कर देते थे। नतीजा यह हुआ कि हमारी चाल-ढाल धीरे-धीरे पश्चिमी साँचे मे ढलती गयी।

मेरे बचपन[१] मे हमारे घर का यह हाल था।

---

१. १४ नवम्बर १८८९, मार्गशीर्ष बदी सप्तमी, सवत् १९४६ को इलाहाबाद में मेरा जन्म हुआ था।

: २ :

बचपन

मेरा बचपन इस तरह बुजुर्गो की छत्रछाया मे बीता। उसमे कोई महत्त्व की घटना नही हुई। मै अपने चचेरे भाइयों की बाते सुनता, मगर हमेशा सबकी सब मेरी समझ मे आजाती हो सो बात नही। अक्सर ये बाते अग्रेज और यूरेशियन लोगो के ऐंठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियों के साथ अपमानजनक व्यवहारो के बारे मे हुआ करती थी और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फर्ज होना चाहिए कि वह इस हालत का मुकाबिला करे और इसे हरगिज बर्दाश्त न करे। हाकिमो और लोगो मे टक्करे होती रहती थी और उनके समाचार आये दिन सुनायी पडते थे। उनपर भी खूब चर्चा होती थी। यह एक आम बात थी कि जब कोई अग्रेज किसी हिन्दुस्तानी को कत्ल कर देता, तो अग्रेजो के जूरी उसको बरी कर देते। यह बात सबको खटकती थी। रेलगाडियो मे यूरोपियनो के लिए डिब्बे रिजर्व रहते थे और गाडी मे चाहे कितनी ही भीड हो---और जबरदस्त भीड रहा ही करती थी---कोई हिन्दुस्तानी उनमे सफर नही कर सकता था, भले ही वे खाली पडे रहे। जो डिब्बे रिजर्व नही होते थे, उनपर भी अग्रेज ग अपना कब्जा जमा लेते थे और किसी हिन्दुस्तानी को नही घुसने थे। सार्वजनिक बगीचो और दूसरी जगहो मे भी बेन्चे और कुर्सियॉ रिजर्व रखी जाती थी। विदेशी हाकिमो के इस बर्ताव को देखकर मुझे बडा रज होता और जब कभी कोई हिन्दुस्तानी उलटकर वार कर देता, तो मुझे बडी खुशी होती। कभी-कभी मेरे चचेरे भाइयो मे से कोई या उनके कोई दोस्त खुद भी ऐसे झगडों मे उलझ जाते, तब हम लोगो मे बडा जोश फैल जाता। हमारे परिवार मे मेरे चचेरे भाई बडे दबग थे। उन्हे अक्सर अग्रेजो से और ज्यादातर यूरेशियनो से झगडा मोल लेने का बडा शौक था। यूरेशियन तो अपने को शासको की जाति का बताने के लिए

अग्रेज़ अफसरों और व्यापारियो से भी ज्यादा बुरी तरह पेश आते थे। ऐसे झगडे खासकर रेल के सफर मे हुआ करते थे।

हालाँकि देश मे विदेशी शासको का रहना और उनका रग-ढग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी, जहाँतक मुझे याद है, किसी अग्रेज के लिए मेरे दिल मे बुरा भाव नही था। मेरी अध्यापिकाये अग्रेज थी और कभी-कभी मै देखता था कि कुछ अग्रेज भी पिताजी से मिलने के लिए आया करते थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने दिल मे तो मै अग्रेजों की इज्जत ही करता था।

शाम को रोज़ कई मित्र पिताजी से मिलने आया करते थे। पिताजी आराम से पड जाते और उनके बीच दिन भर की थकान मिटाते। उनकी जबरदस्त हँसी से सारा घर भर जाता था। इलाहाबाद मे उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गयी थी। कभी-कभी मै परदे की ओट से उनकी और उनके दोस्तों की ओर झाँकता और यह जानने की कोशिश करता कि देखें ये बडे लोग इकट्ठे होकर आपस मे क्या-क्या बाते करते है? मगर जब कभी ऐसा करते हुए मै पकडा जाता, तो खीचकर बाहर लाया जाता और सहमा हुआ कुछ देर तक पिताजी की गोदी मे बैठाया ज़ाता। एक बार मैने उन्हे 'क्लेरेट' या कोई दूसरी लाल शराब पीते हुए । 'व्हिस्की' को मै जानता था। अक्सर पिताजी और उनके मित्रों पीते देखा था। मगर इस नयी लाल चीज को देखकर मै सहम गया और माँ के पास दौडा गया और कहा कि "माँ, माँ, देखो तो, पिताजी खून पी रहे है!"

मै पिताजी की बहुत इज्जत करता था। मै उन्हे बल, साहस और होशियारी की मूर्त्ति समझता था और दूसरो के मुकाबिले मे इन बातो मे बहुत ही ऊँचा और बढा-चढा पाता था। मै अपने दिल मे मनसूबे बाँधा करता था कि बडा होने पर पिताजी की तरह होऊँगा। पर जहाँ मै उनकी इज्ज़त करता था और उन्हे बहुत ही चाहता था, वहाँ मै उनसे डरता भी बहुत था। नौकर-चाकरो पर और दूसरों पर बिगडते हुए मैने उन्हे देखा था। उस समय वह बडे भयकर मालूम होते थे और मै मारे

डर के काँपने लगता था। नौकरो के साथ उनका जो यह वर्ताव होता था, उससे मेरे मन मे उनपर कभी-कभी गुस्सा आ जाया करता। उनका स्वभाव दरअसल भयकर था, और उनकी आयु के ढलते दिनों मे भी उनका-सा गुस्सा मुझे किसी दूसरे मे देखने को नही मिला। लेकिन खुशकिस्मती से उनमे हँसी-मजाक का माद्दा भी वडे जोर का था और वह इरादे के वडे पक्केथे। इससे आम तौर पर अपने-आपको जब्त रख सकते थे। ज्यों-ज्यों उनकी उम्र वढती गयी उनकी सयम-शक्ति वढती गयी, और फिर शायद ही कभी वह ऐसा भीषण स्वरूप धारण करते।

उनकी तेज-मिजाजी की एक घटना मुझे याद है। वचपन ही मे मै उसका शिकार हो गया था। कोई ५–६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज मैंने पिताजी की मेज पर दो फाउन्टेन पेन पडे देखे। मेरा जी ललचाया। मैंने दिल मे कहा—पिताजी एक साथ दो पेनो का क्या करेंगे ? एक मैंने अपनी जेव मे डाल लिया। वाद मे वडे जोरो की तलाश हुई, कि पेन कहाँ चला गया ? तव तो मै घवराया। मगर मैंने वताया नही। पेन मिल गया और मै गुनहगार करार दिया गया। पिताजी वहुत नाराज हुये और मेरी जी भर के मरम्मत की। आखिर पिटकर शर्म से अपना-सा मुहँ लिये मै माँ की गोद मे दौडा गया। पिटा इतना था कि कई दिन तक वदन पर क्रीम और मरहम लगाने पडे थे।

लेकिन मुझे याद नही पडता कि इस सजा के कारण पिताजी को मैंने कोसा हो। मै समझता हूँ, मेरे दिल ने यही कहा होगा कि सजा तो तुझे वाजिव ही मिली है, मगर थी जरूरत से ज्यादा। लेकिन पिताजी के लिए मेरे दिल मे वैसी ही इज्जत और मुहब्बत बनी रही—हाँ, अब एक डर और उसमे शामिल हो गया था। मगर माँ के बारे मे ऐसा न था। उससे मै विलकुल नही डरता था, क्योकि मै जानता था कि वह मेरे सव किये-धरे को माफ कर देगी और उसके इस ज्यादा और बेहद प्रेम के कारण मै उसपर थोडा-वहुत हावी होने की भी कोशिश करता था। पिताजी की वनिस्वत मै माँ को ज्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज्यादा नजदीक मालूम होती थी। मै जितने भरोसे के

साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ पिताजी से कहने का स्वप्न मे भी खयाल नही कर सकता था। वह सुडौल, कद मे छोटी और नाटी थी और मै जल्द ही करीब-करीब उनके बराबर ऊँचा हो गया था और अपने को उनके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थी। उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे खूबसूरत हाथ-पाँव मुझे बहुत भाते थे। मेरी माँ के पूर्वज कोई दो पुश्त पहले ही कश्मीर से नीचे मैदान मे आये थे।

एक और शख्स जो लडकपन मे मेरे भरोसे के आदमी थे, वह पिताजी के मुशी मुबारक अली थे। वह बदायूँ के रहनेवाले थे और उनके घर के लोग खुशहाल थे। मगर १८५७ के गदर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और अग्रेजी फौज ने उसको एक हद तक जड-मूल से उखाड फेका था। इस मुसीबत ने उन्हे हरेक के प्रति, और खासकर बच्चो के प्रति, बहुत नम्र और सहनशील बना दिया था, और मेरे लिए तो वह, जब कभी मै किसी बात से दु खी होता या तकलीफ महसूस करता तो सान्त्वना के निश्चित आधार थे। उनके बढिया सफेद दाढी थी और मेरी नौजवान आँखो को वह बहुत पुराने और प्राचीन जानकारी के खजाने मालूम होते थे। मै उनके पास लेटे-लेटे घण्टो अलिफ-लैला की और दूसरी किस्से-कहानियाँ या १८५७ और १८५८ की गदर की बाते सुना करता। बहुत दिन बाद, मेरे बडे होने पर, मुशीजी इन्त-काल कर गये। उनकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन मे बसी हुई है।

हिन्दू पुराणो और रामायण-महाभारत की कथाये भी मै सुना करता था, जोकि मेरी माँ और चाचियाँ सुनाया करती थी। मेरी एक चाची, पण्डित नन्दलालजी की विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू-ग्रन्थो की बहुत जान-कारी रखती थी। उनके पास इन कहानियो का तो मानो खजाना ही भरा था। इस कारण हिन्दू पौराणिक बातो और दन्तकथाओ की मुझे काफी जानकारी हो गयी थी।

धर्म के मामले मे मेरे खयालात बहुत धुंधले थे। मुझे वह स्त्रियो से सम्बन्ध रखनेवाला विषय मालूम होता था। पिताजी और बडे चचेरे

भाई धर्म की बात को हँसी मे उडा दिया करते थे और इसको कोई महत्त्व नही देते थे। हाँ, हमारे घर की औरते अलबत्ता पूजा-पाठ और व्रत-त्यौहार किया करती थी। हालाँकि मैं इस मामले मे घर के बड़े-बूढे आदमियों की देखादेखी उनकी अवहेलना किया करता था, फिर भी कहना होगा कि मुझे उनमें एक लुत्फ आता था। कभी-कभी मैं अपनी माँ या चाची के साथ गगा नहाने जाया करता, और कभी इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह मन्दिरो मे भी या किसी नामी और बडे साधु-सन्यासी के दर्शन के लिए भी जाया करता। मगर इन सबका बहुत कम असर मेरे दिल पर हुआ।

फिर त्यौहार के दिन आते थे—होली, जबकि सारे शहर मे रग-रेलियो की धूम मच जाती थी और हम लोग एक दूसरे पर रग की पिचकारियाँ चलाते थे, दिवाली रोशनी का त्यौहार होता, जबकि सब घरों पर धीमी रोशनीवाले मिट्टी के हजारो दीये जलाये जाते, जन्माष्टमी जिसमे कि जेल मे जन्मे श्रीकृष्ण की आधीरात को वर्षगाँठ मनायी जाती (लेकिन उस सयय तक जागते रहना हमारे लिए बडा मुश्किल होता था), दशहरा और रामलीला, जिसमे कि स्वाँग और जुलूसो के द्वारा रामचन्द्र और लका-विजय की पुरानी कहानी की नकल की जाती थी और जिन्हे देखने के लिए लोगो की बडी भारी भीड इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देखने जाते थे, जिसमे रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब में हमे हसन और हुसैन के साथ हुई घटनाओ की यादगार मे शोकपूर्ण मरसिये गाये जाते थे। दोनो ईद पर मुशीजी बढिया कपडे पहन कर बडी मसजिद मे नमाज के लिए जाते और मै उनके घर जाकर मीठी सेवैंया और दूसरी बढिया चीजे खाया करता। इनके सिवा रक्षा-बन्धन, भैया-दूज वगैरा छोटे त्यौहार भी हम लोग मानते थे।

कश्मीरियों के कुछ खास त्यौहार भी होते हैं, जिन्हे उत्तर मे बहुतेरे दूसरे हिन्दू नही मानते। इनमे सबसे बडा नौरोज याने वर्ष-प्रतिपदा का त्योहार है। इस दिन हमलोग नये कपडे पहनकर बन-ठनकर निकलते और घर के बडे लडके-लडकियो को हाथ-खर्च के तौरपर कुछ पैसे मिला करते थे।

मगर इन तमाम उत्सवो मे मुझे एक सालाना जलसे मे ज्यादा दिलचस्पी रहती, जिसका खास मुझी से ताल्लुक था—याने मेरी वर्ष-गाँठ का उत्सव। इस दिन मै वडे उत्साह और रग मे रहता था। सुबह ही एक वडी तराजू मे मै गेहूँ और दूसरी चीजो के थैलो से तौला जाता और फिर वे चीजे गरीबो को बाँट दी जाती और बाद को नये-नये कपडो से सजा-धजाकर मुझे भेट और तोहफे नजर किये जाते। फिर शाम को दावत दी जाती। उस दिन का मानो मै राजा ही हो जाता मगर मुझे इस बात का वडा दु ख होता था कि वर्ष-गाँठ साल मे एक वार ही क्यो आती है? वास्तव मे मैने इस बात का आन्दोलन खडा करने की कोशिश की कि वर्ष-गाँठ के मौके बरस मे एक बार ही क्यों और अधिक क्यो न आया करे? उस वक्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयगा जव ये वर्षगाँठे हमको अपने बुढापे के आने की दु खदायी याद दिलाया करेगी।

कभी-कभी हम सव घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्तेदार या किसी दोस्त की शादी मे बरात भी जाया करते। उस सफर मे वडी धूम रहती। शादी के उत्सव मे हम वच्चो की तमाम पाबन्दियाँ ढीली हो जाती थी और हम आज़ादी से आ-जा सकते थे। शादीखाने मे कई कुटुम्बो के लोग आकर रहते थे और उनमे वहुतेरे लडके और लड-कियाँ भी होती थी। ऐसे मौको पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नही रहती थी और जी भरकर खेलने-कूदने और शरारत करने का मौका मिल जाता था। हाँ, कभी-कभी वडे-बूढो की डाँट-फटकार भी जरूर पड जाती थी।

हिन्दुस्तान मे क्या गरीव और क्या अमीर सव जिस तरह शादियों मे धूम-धाम और फिजूल-खर्ची करते है उनकी सव तरह वुराई ही की जाती है और वह ठीक भी है। फिजूल-खर्ची के अलावा उसमे वडे भद्दे ढग के प्रदर्शन भी होते है, जिनमे न कोई सुन्दरता होती है, न कला। (कहना नही होगा कि इसमे अपवाद भी होते है) इन सवके असली गुनहगार है मध्यम वर्ग के लोग। गरीब भी कर्ज लेकर फिजूल-खर्ची

करते हैं। मगर यह कहना बिलकुल बेमानी है कि उनकी दरिद्रता उनकी इन सामाजिक कुप्रथाओ के कारण है। अक्सर यह भुला दिया जाता है कि गरीब लोगो की जिन्दगी बडी उदास, नीरस और एक ढर्रे की होती है। जब कभी कोई शादी का जलसा होता है, तो उसमे उन्हे अच्छा खाने-पीने और गाने-बजाने का कुछ मौका मिल जाता है, जोकि उनकी मेहनत-मशक्कत के रेगिस्तान मे झरने का काम देता है। रोजमर्रा के जी उबा देनेवाले काम-काज और जीवन-क्रम से हटकर कुछ आराम और आनन्द-छटा दीख जाती है, और जिनको हँसने-खेलने के इतने कम मौके मिलते है उनको कौन ऐसा निष्ठुर बेपीर होगा जो इतना भी आनन्द, आराम और तसल्ली न मिलने देना चाहेगा ? हाँ, फिजूल-खर्ची को आप शौक से बन्द कर दीजिए और उनकी शाहखर्ची भी—कैसे बडे और बेमानी लफ्ज है ये जो उस थोडे-से प्रदर्शन के लिए इस्तैमाल किये जाते है, जिसे गरीब लोग अपनी गरीबी मे भी दिखाते है—कम कर दीजिए, लेकिन मेहरबानी करके उनके जीवन को ज्यादा उदास और हँसी-खुशी से खाली मत बनाइए।

यही बात मध्यम श्रेणी के लोगो के लिए भी है। फिजूल-खर्ची को छोड दे, तो ये शादियाँ एक तरह के सामाजिक सम्मेलन ही है, जहाँकि दूर के रिश्तेदार और पुराने साथी व दोस्त बहुत दिनों के बाद मिल जाते है। हमारा देश बडा लम्बा-चौडा है; यहाँ अपने संगी-साथियों व दोस्तो से मिलना आसान नही है। सबका साथ और एक जगह मिलना तो और भी मुश्किल है। इसलिए यहाँ शादी के जलसो को लोग इतना चाहते है। एक और चीज इसके मुकाबिले की है और कुछ बातो मे तो, और सामाजिक सम्मेलन की दृष्टि से भी, वह उससे आगे निकल गयी है। वह है राजनैतिक सम्मेलन, अर्थात् प्रान्तीय परिषदे, या कांग्रेस की बैठके।

और लोगों की बनिस्बत, खासकर उत्तर भारत मे, कश्मीरियो को एक खास सुभीता है। उनमे परदे का रिवाज, स्त्री-पुरुषो को एक दूसरे से न मिलने-जुलने का रिवाज, कभी नही रहा है। मैदान मे आने पर, वहाँके रिवाज के मुताबिक, दूसरों से और गैर-कश्मीरियों से जहाँ तक

ताल्लुक है, उन्होने उस रिवाज को एक हद तक अपना लिया है। उत्तर मे जहाँ कि कश्मीरी अधिक बसते है, उन दिनो यह सामाजिक उच्चता का एक चिन्ह समझा जाता रहा था। मगर अपने आपस मे उन्होने स्त्री और पुरुष के सामाजिक जीवन को वैसा ही आजाद रखा है। कोई भी कश्मीरी किसी भी कश्मीरी के घर मे आजादी से आ-जा सकता है। कश्मीरियो की दावतो और उत्सवो मे स्त्री-पुरुष आपस मे एक-दूसरे के साथ मिलते-जुलते और बैठते है। हाँ, अक्सर स्त्रियाँ अपना एक झुण्ड बनाकर बैठती है, लडके-लडकियाँ बहुत-कुछ बराबर की हैसियत से मिलते-जुलते है। लेकिन हाँ, यह तो कहना ही पडेगा कि आधुनिक पश्चिम की तरह की आजादी उन्हे नही थी।

इस तरह मेरा बचपन गुजरा। कभी-कभी, जैसा कि बडे कुटुम्बो मे हुआ ही करता है, हमारे कुटुम्ब मे भी झगडे हो जाया करते थे। जब वे बढ जाते तो पिताजी के कानो तक पहुँचते। तब वह नाराज होते और कहते कि ये सब औरतो की बेवकूफी के नतीजे है। मै यह तो नही समझ पाता था कि दरअसल क्या घटना हुई है, मगर मै इतना जरूर समझता था कि कई बुरी बात हुई है, क्योकि लोग एक-दूसरे से बिगड कर बदमजगी से बोलते थे और आपस मे रूठे रहते थे। ऐसी हालत मे मै बडा दुखी हो जाता। पिताजी जब कभी बीच मे पडते, तो हम लोगो के देवता कूच कर जाते थे।

उन दिनो की एक छोटी-सी घटना मुझे अभी तक याद है। मै ६-७ वर्ष का रहा होऊँगा। मै रोज घुड-सवारी के लिए जाया करता था। मेरे साथ घुड-सेना का एक सवार रहता था। एक रोज शाम को मै घोडे से गिर पडा और मेरा टट्टू—जो अरबी नसल का एक अच्छा जानवर था—खाली घर लौट आया। पिताजी टेनिस खेल रहे थे। काफी घबराहट और हलचल मच गयी और वहाँ जितने लोग थे सब-के-सब जो भी सवारी मिली उसे लेकर, मेरी तलाश मे दौड पडे। पिताजी उन सबके अगुआ बने हुए थे। वह रास्ते मे मुझे मिले और मेरा इस तरह स्वागत किया मानो मैने कोई बडी बहादुरी का काम किया हो।

लगी। वोअरो की तरफ मेरी हमदर्दी थी। इस लडाई की खबरो को पढ़ने के लिए मै अखवार पढने लगा।

इसी समय एक घरेलू वात मे मेरा चित्त रम गया। वह थी मेरी एक छोटी वहन का जन्म। मेरे दिल मे एक अर्से से एक रज छिपा रहता था और वह यह कि मेरे कोई भाई या बहन नही है जबकि और कइयो के है। जव मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे भाई या बहन होनेवाली है, तो मेरी खुशी का पार न रहा। पिताजी उन दिनो यूरप मे थे। मुझे याद है कि मै उस वक्त बरामदे में बैठा-बैठा कितनी उत्सुकता से इस वात की राह देख रहा था। इतने मे एक डॉक्टर ने आकर मुझे वहन होने की खवर दी और कहा—शायद मजाक मे—कि तुमको खुश होना चाहिए कि भाई नही हुआ, जो तुम्हारी जायदाद मे हिस्सा वँटा लेता। यह वात मुझे वहुत चुभी और मुझे गुस्सा भी आगया—इस खयाल पर कि कोई मुझे ऐसा कमीना खयाल रखनेवाला समझे।

पिताजी की यूरप-यात्रा ने कश्मीरी ब्राह्मणो मे अन्दर-ही-अन्दर एक तूफान खडा कर दिया। यूरप से लौटने पर उन्होने किसी किस्म का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। कुछ साल पहले एक दूसरे कश्मीरी पण्डित विशननारायण दर, जो वाद मे काग्रेस के सभापति हुए थे, इग्लैण्ड गये थे और वहाँसे वैरिस्टर होकर आये थे। लौटने पर बेचारों ने प्रायश्चित भी कर लिया, तो भी पुराने खयाल के लोगो ने उनको जाति से वाहर कर दिया और उनसे किसी किस्म का ताल्लुक नही रखा। इससे विरादरी मे करीव-करीव वरावर के दो टुकडे हो हो गये थे। वाद को कई कश्मीरी युवक विलायत पढने गये और लौटकर सुधारक-दल मे मिल गये—लेकिन उन सबको प्रायश्चित करना पडता था। यह प्रायश्चित-विधि क्या, एक तमाशा होता था, जिसमे किसी तरह की धार्मिकता नही थी। उसके मानी सिर्फ रस्म अदा करना या एक गिरोह की वात को मान लेना होता था। और दिल्लगी यह कि एक दफा प्रायश्चित्त कर लेनें के वाद ये सव लोग हर तरह के नवीन सुधारो के कामो मे शरीक होते—यहाँ तक कि अब्राह्मण और अहिन्दू-

के यहाँ भी आते-जाते और खाना खाते थे।

पिताजी एक कदम और आगे बढे और उन्होने किसी रस्म या नाम-मात्र के लिए भी किसी प्रकार का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। इससे बडा तहलका मच गया, खासकर पिताजी की तेजी और अक्खड-पन के कारण। आखिरकार कितने ही कश्मीरी पिताजी के साथ हो गये और एक तीसरा दल बन गया। थोडे ही साल के अन्दर जैसे-जैसे खयालात बदलते गये और पुरानी पाबन्दियाँ हटती गयी, ये सब दल एक मे मिल गये। कई कश्मीरी लडके और लडकियाँ इग्लैण्ड और अमेरिका पढने गये और उनके लौटने पर प्रायश्चित्त का कोई सवाल पैदा नही हुआ। खान-पान का परहेज करीब-करीब सब उठ गया। मुट्ठीभर पुराने लोगों को, खासकर बड़ी-बूढी स्त्रियों को छोडकर, गैर कश्मीरियों, मुसलमानों तथा गैर-हिन्दुस्तानियों के साथ बैठकर खाना खाना एक मामूली बात हो गयी। दूसरी जातिवालो के साथ स्त्रियो का परदा उठ गया और उनके मिलने-जुलने की रुकावट भी हट गयी। १९३० के राजनैतिक आन्दोलन ने इसको एक जोर का आखिरी धक्का दिया। दूसरी बिरादरीवालों के साथ शादी-ब्याह करने का रिवाज भी अभी बहुत बढ़ा नही है—हालाँकि दिन-दिन बढ़ती पर है। मेरी दोनो बहनो ने गैर-कश्मीरियों के साथ शादी की और हमारे कुटुम्ब का एक युवक हाल ही एक हँगेरियन लड़की ब्याह लाया है। अन्तर्जातीय विवाह पर ऐतराज धार्मिक दृष्टि से नही, बल्कि ज्यादातर वश-शुद्धि की दृष्टि से किया जाता है। कश्मीरियों मे यह अभिलाषा पायी पाती है कि वे अपनी जाति की एकता को और आर्यत्व के सस्कारों को कायम रखें। उन्हे डर है कि यदि वे हिन्दुस्तानी और गैर-हिन्दुस्तानी समाज के समुद्र मे कूदेंगे, तो इन दोनों बातों को खो देंगे। इस विशाल देश मे हम कश्मीरियों की सख्या सागर मे बूँद के बराबर है।

सबसे पहले कश्मीरी ब्राह्मण जिन्होने आधुनिक समय मे, कोई सौ बरस पहले, पश्चिमी देशों की यात्रा की, वह थे मिर्जा मोहनलाल 'कश्मीरी'। (वह अपने को ऐसा ही कहा करते थे) वह बड़े खूबसूरत और

बुद्धिमान् थे। दिल्ली के मिशन कॉलेज मे पढते थे। एक ब्रिटिश मिशन काबुल गया तो उसके साथ फारसी के दुभाषिया बनकर वह गये। बाद को तमाम मध्य-एशिया और ईरान की उन्होने सैर की। और जहाँ कही गये उन्होने अपनी एक एक शादी की, मगर आम तौर पर ऊँचे दर्जे के लोगो के यहाँ। वह मुसलमान हो गये थे और ईरान मे शाही घराने की एक लडकी से शादी कर ली थी, इसीलिए उनको मिर्जा की उपाधि मिली थी। वह यूरप भी गये थे और तत्कालीन युवती महारानी विक्टोरिया से भी मिले थे। उन्होने अपनी यात्रा के बडे रोचक वर्णन और सुन्दर सस्मरण लिखे है।

जब मैं कुल ग्यारह वर्ष का था तो मेरे लिए एक नये शिक्षक आये, जिनका नाम था एफ० टी० ब्रुक्स। वह मेरे साथ ही रहते थे। उनके पिता आयरिश थे और मा फरासीसी या बेलजियन थी। वह एक पक्के थियोसॉफिस्ट थे और मिसेज बेसेण्ट की सिफारिश से आये थे। कोई तीन साल तक वह मेरे साथ रहे। कई बातो मे मुझपर उनका गहरा असर पडा। उस समय मेरे एक और शिक्षक थे—एक बूढे पण्डितजी जो मुझे हिन्दी और सस्कृत पढाने के लिए रखे गये थे। कई वर्षो की मेहनत के बाद भी पण्डितजी मुझे बहुत कम पढा पाये थे—इतना थोडा कि मै अपने नाम-मात्र के सस्कृत-ज्ञान की तुलना अपने लैटिन-ज्ञान के साथ ही कर सकता हूँ, जोकि मैने हॅरो मे पढी थी। कुसूर तो इसमे मेरा ही था। भाषाये पढने मे मेरी गति अच्छी नही थी और व्याकरण मे तो मेरी रुचि बिलकुल ही न थी।

एफ० टी० ब्रुक्स की सोहबत से मुझे किताबे पढने का चाव लगा, और मैने कई अग्रेजी किताबे पढ डाली—अलबत्ता बिना किसी उद्देश के। बच्चो और लडको सम्बन्धी अच्छा साहित्य मैने देख लिया था। लुई केरोल[1] और किप्लिग[2] की पुस्तके मुझे बहुत पसद थी। डॉन

---

१. अतिशय कल्पनोत्तेजक बाल-साहित्य-लेखक। २. हिन्दुस्तान में पैदा हुआ और भारतीय जीवन के विषय में अनेक काल्पनिक कथायें लिखने-

क्विक्जोट्[1] की पुस्तक मे गुस्ताव दोरे के चित्र मुझे बहुत लुभावने मालूम हुए और फिजॉफ नान्सन की 'फारदेस्ट नॉर्थ'[2] ने तो मेरे लिए अद्भुतता और साहस की एक नयी दुनिया का दरवाजा खोल दिया। स्कॉट,[3] डिकेन्स[4] और थैकरे[5] के कई उपन्यास मुझे पढे याद है। एच० जी० वेल्स[6] की साहस-कथाये, मार्क ट्वेन[7] की विनोद-कथाये और शार्लाक-होम्स[8] की जासूसी-कहानियाँ भी पढी है। 'प्रिजनर्स ऑफ जेन्दा'[9] ने मेरे दिमाग मे घर ही कर लिया था। और जेरोम के० जेरोम की 'थ्री मैन इन ए बोट'[10] से बढकर हास्य-रस की पुस्तक मैने नही पढी। दूसरी किताबे भी मुझे याद है। वे है डू मॉरियर[11] की 'ट्रिलबी' और 'पीटर इबटसन'। काव्य-साहित्य के प्रति भी मेरी रुचि बढी थी, जोकि

वाला एक साम्राज्य-भक्त अंग्रेज लेखक। इंग्लैण्ड और साम्राज्य विषयक इसकी अंधभक्ति तो पाठक को खटकती है, लेकिन लेखनशैली पर वह मुग्ध हो जाता है। १. यह एक स्पेनिश उपन्यास है जिसमें थोडी शक्ति पर हवाई किले बाँधनेवाले पात्र का अनुपम चित्र खीचा गया है। २. पेरी के उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने के पहले उत्तर में बड़ी दूर-दूर तक जानेवाला नार्वियन यात्री। इस पुस्तक में इसने अपनी यात्रा का वर्णन किया है। वह नार्वे में अध्यापक था। इसने पीड़ितो के लिए बहुत काम किया और जब रूस में भयानक अकाल पड़ा था तब इसने भारी सेवा की थी। इसे शान्ति-स्थापना के लिए नोबल प्राइज मिला है। थोडे ही दिन पहले इसकी मृत्यु हुई है। ३-४-५ प्रसिद्ध अंग्रेज उपन्यासकार। ६. प्रसिद्ध आधुनिक विज्ञान-कथा लेखक और सुधारक। ७. अमेरिकन हास्य-रसज्ञ लेखक। ८. कॉनन डायल नामक अंग्रेज लेखक का प्रसिद्ध जासूस पात्र। ९. एण्टनी होप का प्रसिद्ध उपन्यास। १०. काल्पनिक यात्रा-वर्णन-विषयक पुस्तक जिसे पढ़कर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते है। इस अग्रेज लेखक का सारा साहित्य इसी प्रकार का है। ११. पिछली सदी के एक अंग्रेज लेखक (जिसके पिता फ़्रांसीसी और माता अंग्रेज थीं)। इसकी पुस्तकें बालको की कल्पना को उत्तेजित

कई परिवर्त्तनो के हो चुकने के बाद अब भी मुझमे कुछ हद तक कायम है।

ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यो से भी मेरा परिचय कराया। हमने एक विज्ञान की प्रयोगशाला खडी कर ली थी और मै घण्टो प्रारम्भिक वस्तु-विज्ञान और रसायन-शात्र के प्रयोग किया करता था, जो बड़े दिलचस्प मालूम होते थे।

पुस्तके पढने के अलावा ब्रुक्स साहब ने एक और बात का असर मुझपर डाला, जो कुछ समय तक बडे जोर के साथ रहा। वह थी थियोसॉफी। हर हफ्ते उनके कमरे मे थियोसॉफिस्टो की सभा हुआ करती। मै भी उसमे जाया करता और धीरे-धीरे थियोसॉफी की भाषा और विचार-शैली मुझे हृदयगम होने लगी। वहाँ आध्यात्मिक विषयो पर तथा 'अवतार', 'काम-शरीर' और दूसरे 'अलौकिक शरीरो' और दिव्य पुरुषो के आसपास दिखायी देनेवाले 'तेजोवलय' तथा 'कर्म-तत्त्व' इन विषयो पर चर्चा होती और मैडम ब्लेवेट्स्की तथा दूसरे थियोसॉफिस्टो से लेकर हिन्दू धर्म-ग्रन्थो, बुद्ध-धर्म के 'धम्मपद', पायथागोरस[1], तयाना के अपोलोनियस[2] और कई दार्शनिको और ऋषियो के ग्रन्थो का जिक्र आया करता था। वह सब कुछ मेरी समझ मे तो नही आता था, परन्तु वह मुझे बहुत रहस्यपूर्ण और लुभावना मालूम होता था, और मै मानने लगा था कि सारे विश्व के रहस्यों की कुजी यही है।

करती है। 'पीटर इबटसन' में अपने बच्चे का सुन्दर वर्णन है और बड़ी आकर्षक भाषा में उपन्यास के पात्रों के मुख से जीवन का मर्म समझाया गया है। १. ईसापूर्व छठी सदी में यह यूनानी तत्त्ववेत्ता हुआ था। इसे सांख्यवादी कह सकते है। यह पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त को मानता था। इसकी दृष्टि में पशुओ के आत्मा थी और इसलिए यह तथा इसके अनुयायी मांसाहार से नफरत करते थे। २. एक यूनानी तत्त्ववेत्ता जो ईसा के पहले हो गया है। कहते है यह हिन्दुस्तान में आया था। यह वेदान्ती था। —अनु०

यही से जिन्दगी मे सबसे पहले मै अपनी तरफ से धर्म और परलोक के बारे मे गम्भीरता से सोचने लगा था। हिन्दू-धर्म, खासकर, मेरी नजर मे ऊँचा उठ गया था, उसके क्रिया-काण्ड और व्रत-उत्सव नही—बल्कि उसके महान् ग्रन्थ, उपनिषद् और भगवद्गीता। मै उन्हे समझ तो नही पाता था, परन्तु वे मुझे बहुत विलक्षण जरूर मालूम होते थे। मुझे 'काम-शरीरो' के सपने आते और मै बडी-बडी दूर तक आकाश मे उडता जाता। बिना किसी विमान के यो ही ऊँचे आकाश मे उडते जाने के सपने मुझे जीवन मे अक्सर आया करते है। कभी-कभी तो वे बहुत सच्चे और साफ मालूम होते है और नीचे को सारा विशाल विश्व-पटल एक चित्रपट सा मुझे दिखायी पडता। मै नही जानता कि फ्रॉयड[1] तथा दूसरे आधुनिक स्वप्न-शास्त्री इस सपने का क्या अर्थ लगाते होगे।

उन दिनों मिसेज बेसेण्ट इलाहाबाद आयी हुई थी, और उन्होने थियोसॉफी-सम्बन्धी कई विषयों पर भाषण दिये थे। उनके सुन्दर भाषणों से मेरा दिल हिल उठता था और मै चकाचौध होकर घर आता और अपने आपको भूल जाता था, जैसे कि किसी सपने मे हूँ। मै उस समय तेरह साल का था, तो भी मैंने थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया। जब मै पिताजी से इजाजत लेने गया, तो उन्होने उसे हँसकर उडा दिया। वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्त्व देना नही चाहते थे। उनकी इस उदासीनता पर मुझे दुख हुआ। यों तो वह मेरी निगाह मे बहुत बातों मे बड़े थे। फिर भी मुझे लगा कि उनमे आध्यात्मिकता की कमी है। यों सच पूछिए तो वह बहुत पुराने थियोसॉफिस्ट थे। वह तबसे थियोसॉफिकल सोसायटी मे शरीक हुए जब मैडम ब्लेवेट्स्की हिन्दुस्तान मे थी। धार्मिकविश्वास से नही, बल्कि कुतूहल के कारण ही शायद वह मेम्बर बने थे। मगर शीघ्र ही वह उसमे से हट गये। हाँ, उनके कुछ मित्र, जो उनके साथ सोसाइटी मे शरीक

---

१. इस युग का प्रसिद्ध जर्मन मानसशास्त्रवेत्ता। —अनु०

हुए थे, कायम रहे, और सोसायटी के उच्च आध्यात्मिक पदों पर ऊँचे चढते गये।

इस तरह मै तेरह वर्ष की उम्र मे थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बना, और खुद मिसेज बेसेण्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी, जिसमे कुछ उपदेश दिया, और कुछ गूढ चिन्हो से परिचित कराया—जो कि शायद फ्री मेसनरी ढग के थे। उस समय मै हर्ष से पुलकित हो उठा था। मै थियोसॉफिकल कन्वेन्शन मे बनारस गया था और कर्नल अलकॉट को देखा था, जिनकी दाढी बडी भव्य थी।

तीस वरस पहले अपने बचपन मे कोई कैसा लगता होगा, और कैसा क्या अनुभव करता होगा इसका खयाल करना बहुत मुश्किल है। मगर मुझे यह अच्छी तरह खयाल पडता है कि अपने थियोसॉफी के इन दिनो मे मेरा चेहरा गम्भीर, नीरस और उदास दिखायी पडता था, जो कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है, और जैसा कि थियोसॉफिस्ट स्त्री-पुरुपो का अक्सर दिखायी पडता है। मै अपने मन मे समझता था कि मै औरो से ऊँची सतह पर हूँ, और अवश्य ही मेरा रग-ढग ऐसा था कि जिससे मुझे अपने हम-उम्र लडके या लडकी अपनी सगत के लायक न समझते होगे।

ब्रुक्स साहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया, और बहुत थोडे ही अरसे मे थियोसॉफी मेरी जिन्दगी से बिलकुल हट गयी। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मै इग्लैण्ड पढने चला गया था। मगर इसमे कोई शक नही कि ब्रुक्स साहब की सगति का मुझपर गहरा असर हुआ है और मै उनका और थियोसॉफी का बहुत ऋणी हूँ। लेकिन मुझे कहते दुख होता है कि थियोसॉफिस्ट तबसे मेरी निगाह मे कुछ नीचे उतर गये है। वे खतरे की बनिस्वत आराम ज्यादा पसन्द करते है। इसलिए ऊँचे एव बढे-चढे होने के बजाय मामूली आदमी से दिखायी देते है। शहीदो के रास्ते जाने की बनिस्वत फूलो पर चलना पसन्द करते है। लेकिन हाँ, मिसेज बेसेण्ट के लिए मेरे दिल मे जीता-जागता आदर रहा है।

जिस दूसरी मार्के की घटना ने मेरे जीवन पर उस समय असर ाला वह थी रूस-जापान की लडाई । जापानियो की विजय मे मेरा दल उत्साह मे उछलने लगता और रोज मै अखवारो मे ताजी खवरे ढने को उतावला रहता । मैने जापान-सम्बन्धी कई किताबे मंगायी और नमे मे थोडी-वहुत पढी भी । जापान के इतिहास मे तो मानो मै अपने ो गँवा वैठा था, लेकिन पुराने जापान के सरदारो की कहानियाँ चाव ा पढता और लाफकेडियो हर्न[1] का गद्य मुझे रुचिकर लगता था ।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावो से भरा रहता था । मै यूरप के पजे से शिया और हिन्दुस्तान को आजाद करने के भावो मे डूवा रहता । मै डे-वडे वहादुरी के मनसूवे वाँधा करता था, कि कैसे हाथ मे तलवार ेकर मै हिन्दुस्तान को आजाद करने के लिए लडूगा ।

मै चौदह साल का था । हमारे घर मे रद्दोवदल हो रहे थे । मेरे डे चचेरे भाई अपने-अपने काम-धन्धो मे लग गये थे और अलहदा रहने गे थे । मेरे मन मे नये-नये विचार और गोल-मोल कल्पनाये मँडराया रती थी, । और स्त्री जाति मे मेरी कुछ दिलचस्पी वढने लगी थी, ेकिन अव भी मै लडकियो की वनिस्वत लडको के साथ मिलना ज्यादा पसन्द करता था, और लडकियो के साथ मिलना-जुलना अपनी ान के खिलाफ समझता था । लेकिन कभी-कभी कश्मीरी दावतो मे—जहाँ सुन्दर लडकियो का अभाव नही रहता था—या दूसरी जगह उनपर ही निगाह पड गयी या वदन छू गया तो मेरे रोगटे खडे हो जाते थे ।

मई १९०५ को जव मै पद्रह साल का था, हम इग्लैण्ड रवाना हुए । पिताजी, माँ, मेरी छोटी वहन और मै, चारो एकसाथ गये ।

---

१. जापानी लेखक जिसने जापान-जीवन के अनुपम चित्र चित्रित किये है । अनु०

हैरो और कैम्ब्रिज

मई के आखिर में हम लोग लन्दन पहुँचे। डोवर से ट्रेन में जाते हुए रास्ते में सुशीमा में जापानी जल-सेना की भारी विजय का समाचार पढ़ा। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। दूसरे ही दिन डर्बी की घुड़दौड़ थी। हम लोग उसे देखने गये। मुझे याद है कि लन्दन में आने के कुछ दिनों बाद ही डाक्टर अन्सारी से मेरी भेंट हुई। उन दिनों वह एक चुस्त और होशियार नौजवान थे। उन्होंने वहाँके विद्यालयों में भारी सफलता प्राप्त की थी। उन दिनों वह लन्दन के अस्पताल में हाउस-सर्जन थे।

हैरो में दाखिल होने की दृष्टि से मेरी उम्र कुछ बड़ी थी, क्योंकि मैं उन दिनों पन्द्रह बरस का था। इसलिए यह मेरी खुशकिस्मती ही थी कि मुझे वहाँ जगह मिल गयी। मेरे परिवार के लोग पहले तो यूरप के दूसरे देशों की यात्रा को चले गये और फिर वहाँ से कुछ महीनों बाद हिन्दुस्तान लौट गये।

इससे पहले मैं अजनबी आदमियों में बिल्कुल अकेला कभी नहीं रहा था। इसलिए मुझे बड़ा ही सूना-सूना मालूम पड़ता और घर की याद सताती थी। लेकिन यह हालत ज्यादा दिनों तक नहीं रही। कुछ हद तक मैं स्कूल की जिन्दगी में हिल-मिल गया और काम तथा खेल-कूद में लगा रहने लगा, लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नहीं बैठा। हमेशा मेरे दिल में यह खयाल बना रहता कि मैं इन लोगों में से नहीं हूँ और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही खयाल करते होंगे। कुछ हद तक मैं सबसे अलग अकेला ही रहा। लेकिन कुल मिलाकर मैं खेलों में पूरा-पूरा हिस्सा लेता था। खेलों में मैं चमका-चमकाया तो कभी नहीं, लेकिन मेरा विश्वास है कि लोग यह मानते थे कि मैं खेल से पीछे हटने-वाला भी न था।

शुरू मे तो मुझे नीचे दर्जे मे भर्ती किया गया, क्योकि मुझे लैटिन कम आती थी, लेकिन फौरन ही मुझे तरक्की मिल गयी। सम्भवत कई वातो मे, और खासकर आम वातो की जानकारी मे, मै अपनी उम्र के लोगो से आगे था। इसमे शक नही कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे और मै अपने ज्यादातर सहपाठियो से ज्यादा किताबे और अखबार पढता था। मुझे याद है कि मैने पिताजी को लिखा था कि अग्रेज लडके वडे मट्ठ होते है, क्योकि वे खेलो के सिवा और किसी विषय पर वात ही नही कर सकते। लेकिन मुझे इसमे अपवाद भी मिले थे, खास तौर पर ऊपर के दर्जो मे।

इग्लैण्ड के आम चुनाव मे मुझे वहुत दिलचस्पी थी। जहाँतक मुझे याद है, यह चुनाव १९०५ के अखीर मे हुआ और उसमे लिवरलो की वडी भारी जीत हुई थी। १९०६ के शुरू मे हमारे दर्जे के मास्टर ने हमसे सरकार की वावत कई सवाल पूछे, और मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि उस दर्जे मे मै ही एक ऐसा लडका था जो उस विषय पर वहुत-सी वाते वता सका--यहाँतक कि कैम्पवैल-बैनरमैन के मत्रि-मण्डल के सदस्यों की करीब-करीव पूरी फेहरिस्त मैने वता दी।

राजनीति के अलावा जिस दूसरे विषय मे मुझे वहुत दिलचस्पी थी वह था हवाई जहाजों की शुरूआत। वह जमाना राइट ब्रदर्स और सन्तोस डुमों का था। इनके वाद ही फौरन फारमन लैथम और ब्लीरियो आये। जोश मे आकर मैने हॅरो से पिताजी को लिखा था कि मै हर हफ्ते के अखीर मे हवाई-जहाज द्वारा उडकर आपसे हिन्दुस्तान मे मिल सकूँगा।

इन दिनों हॅरो मे चार या पॉच हिन्दुस्तानी लड़के थे। दूसरी जगह रहनेवालों से मिलने का तो मुझे बहुत ही कम मौका मिलता था, लेकिन हमारे अपने ही घर मे--हेडमास्टर के यहाँ--महाराजा बडौदा के एक पुत्र हमारे साथ थे। वह मुझसे वहुत आगे थे और क्रिकेट के अच्छे खिलाडी होने की वजह से लोकप्रिय थे। मेरे जाने के बाद फौरन ही वह वहाँसे चले गये। बाद मे महाराजा कपूरथला के बडे लडके

परमजीतसिह आये, जो आजकल टीकासाहब है। वहाँ उनका मेल बिलकुल नही मिला। वह दुखी रहते थे और दूसरे लडको से मिलते-जुलते नही थे। लडके अक्सर उनका तथा उनके तौर-तरीको का मजाक उडाते थे। इससे वह बहुत चिढते थे, और कभी-कभी उनको धमकी देते कि जब कभी तुम कपूरथला आओगे, तब तुम्हे देख लूँगा। यह कहना बेकार है, कि इस घुडकी का कोई अच्छा असर नही होता था। इससे पहले वह कुछ समय तक फ्रांस मे रह चुके थे और फ्रान्सीसी भाषा मे धारा-प्रवाह बोल सकते थे। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह थी कि अग्रेजी स्कूलो मे विदेशी भाषाओ के सिखाने के तरीके कुछ ऐसे थे, कि फ्रान्सीसी भाषा के दर्जे मे उनका यह ज्ञान उनके कुछ काम नही आता था।

एक दिन एक अजीब घटना हुई। आधी रात को हाउस-मास्टर साहब एकाएक हमारे कमरो मे घुस-घुसकर तलाशी लेने लगे। पीछे हमे मालूम हुआ कि परमजीतसिह की सोने की मूँठ की खूबसूरत स्टिक् खो गयी है। तलाशी मे वह नही मिली। इसके दो या तीन दिन बाद लार्ड्स-मैदान मे ईटन और हैरो का मैच हुआ और उसके बाद फौरन ही वह स्टिक् उनके मकान मे रखी मिली। जाहिर है, कि किसी साहब ने मैच मे उससे काम लिया और उसके बाद उसे लौटा दिया।

हमारे छात्रावास तथा दूसरे छात्रावासो मे थोडे-से यहूदी भी थे। यो वे मजे मे बिला खरखशा रहते थे, लेकिन तह मे उनके खिलाफ यह खयाल जरूर काम करता था कि ये लोग 'बदमाश यहूदी' है और कुछ दिन बाद ही, लगभग अनजान मे, मै भी यही सोचने लगा कि इनसे नफरत करना ठीक ही है। लेकिन दरअसल मेरे दिल यहूदियो के खिलाफ कभी कोई भाव न था, और अपने जीवन मे आगे जाकर तो यहूदियो मे मुझे कई अच्छे दोस्त मिले।

धीरे-धीरे मै हैरो का आदी हो गया और मुझे वहाँ अच्छा लगने लगा। लेकिन न जाने कैसे मै यह महसूस करने लगा कि अब यहाँ मेरा काम नही चल सकता। विश्वविद्यालय मुझे अपनी तरफ खीच रहा था।

१९०६ और १९०७ भर हिन्दुस्तान से जो खबरे आती थी उनसे मै बहुत बेचैन रहता था। अंग्रेजी अखबारो मे बहुत ही कम खबरे मिलती थी, लेकिन जितनी मिलती थी उनसे ही यह मालूम हो जाता था कि देश मे, बगाल, पजाब और महाराष्ट्र मे बडी-बडी बाते हो रही है। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिह को देश-निकाला दिया गया था। बगाल मे हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पडता था। पूना से तिलक का नाम बिजली की तरह चमकता था और स्वदेशी तथा बहिष्कार की आवाज गूँज रही थी। इन बातो का मुझपर भारी असर पडा। लेकिन हॅरो मे एक भी शख्स ऐसा न था जिससे मै इस बारे की बाते कर सकता। छुट्टियो मे मै अपने कुछ चचेरे भाइयो तथा दूसरे हिन्दुस्तानी दोस्तो से मिला और मुझे अपने जी को हल्का करने का मौका मिला।

स्कूल मे अच्छा काम करने के लिए मुझे जी० एम० ट्रैवेलियन की गैरीबाल्डी-नामक एक पुस्तक इनाम मे मिली थी। इस पुस्तक मे मेरा मन ऐसा लगा कि मैने फौरन ही इस माला की बाकी दो किताबे भी खरीद ली और उनमे गैरीबाल्डी की पूरी कहानी बडी सावधानी के साथ पढी। हिन्दुस्तान मे भी इसी तरह की घटनाओ की कल्पना मेरे मन मे उठने लगी। मै आजादी की बहादुराना लडाई के सपने देखने लगा और मेरे मन मे इटली और हिन्दुस्तान अजीब तरह से मिल-जुल गये। इन खयालो के लिए हॅरो कुछ छोटी और तग जगह मालूम होने लगी, और मैं विश्वविद्यालय के ज्यादा बडे क्षेत्र मे जाने की इच्छा करने लगा। इसीलिए मैने पिताजी को इस बात के लिए राजी कर लिया और मैं हॅरो मे सिर्फ दो बरस रहकर वहाँसे चला गया। यह दो बरस का समय वहाँके निश्चित साधारण समय से बहुत कम था।

यद्यपि मैं हॅरो से खुद अपनी मरजी से जाना चाहता था, फिर भी मुझे यह अच्छी तरह याद है कि जब अलग होने का समय आया, तब मुझे बड़ा दु:ख हुआ, और मेरी आँखो मे आँसू आगये। मुझे वह जगह अच्छी लगने लगी थी और वहाँ से सदा के लिए अलग होने से मेरे जीवन

का एक अध्याय समाप्त हो गया। परन्तु फिर भी मुझे कभी-कभी यह खयाल आजाता है कि हॅरो छोडने पर मेरे मन मे असली दु ख कितना था ? क्या कुछ हदतक यह बात न थी कि मै इसलिए दु खी था कि हॅरो की परम्परा और उसके गीत की ध्वनि के अनुसार मुझे दु खी होना चाहिए था ? मै भी इन परम्पराओ के प्रभाव से अपने को बचा नही सकता था, क्योकि वहाँके वातावरण मे घुल-मिल जाने के खयाल से मैने उस प्रथा का विरोध कभी नही किया था।

१९०७ के अक्तूबर के शुरू मे केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज मे पहुँच गया। उस वक्त मेरी उम्र सतरह वर्ष की या अठारह बरस के नजदीक थी। मुझे इस बात से बेहद खुशी हुई कि अब मै अण्डर-ग्रेजुएट हूँ, स्कूल के मुकाबिले मे यहाँ मुझे जो चाहूँ सो करने की काफी आजादी मिलेगी। मै लडकपन के बन्धन से मुक्त हो गया और यह महसूस करने लगा कि आखिर मै भी अब बडा होने का दावा कर सकता हूँ। मै ऐंठ के साथ केम्ब्रिज के विशाल भवनो और उसकी तग गलियो मे चक्कर काटा करता और यदि कोई जान-पहचानवाला मिल जाता तो बहुत खुश होता।

केम्ब्रिज मे मैं तीन साल रहा। ये तीनो साल शातिपूर्वक बीते, इनमे किसी प्रकार के विघ्न नही पडे। तीनो साल धीरे-धीरे, धीमी-धीमी बहनेवाली कैम नदी की तरह चले। ये साल बडे आनन्द के थे। इनमे बहुत-से मित्र मिले, कुछ काम किया, कुछ खेले और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे बढता रहा। मैने प्राकृतिक विज्ञान का कोर्स लिया था। मेरे विषय थे रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र। परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्ही विषयो तक महदूद न थी। केम्ब्रिज मे या छुट्टियो मे लदन मे अथवा दूसरी जगहो मे मुझे जो लोग मिले, उनमे से बहुत-से विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो के बारे मे, साहित्य और इतिहास के बारे मे, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे मे बातचीत करते थे। पहले-पहल तो ये बढी-चढी बाते मुझे बडी मुश्किल मालूम हुई, परन्तु जब मैने कुछ किताबे पढी, तब सब बाते समझने लगा, जिससे मै कम-से-कम अन्त तक बात करते हुए भी इन साधारण विषयो मे से किसीके बारे मे अपना घोर

अज्ञान जाहिर नही होने देता था। हम लोग नीत्शे[1] और बर्नार्ड शॉ[2] की भूमिकाओ तथा लॉज डिकिन्सन[3] की नयी-से-नयी पुस्तकों के बारे मे बहस किया करते थे। उन दिनो केम्ब्रिज मे नीत्शे की धूम थी। हम लोग अपनेको बडा अक्लमन्द समझते थे और स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध तथा सदाचार आदि विषयो पर बडे अधिकारी-रूप से, शान के साथ बाते करते थे और बातचीत के सिलसिले मे ब्लॉक, हैवलॉक एलिस, एबिग और वीनिंगर के नाम लेते जाते थे। हम लोग यह महसूस करते थे कि इन विषयों के सिद्धातो के बारे मे हम जितना जानते है, विशेषज्ञो को छोडकर और किसीको उससे ज्यादा जानने की जरूरत नही है।

वास्तव मे, हम बाते जरूर बढ-बढकर मारते थे, लेकिन स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के बारे मे हममे से ज्यादातर डरपोक थे और कम-से-कम मैं तो जरूर डरपोक था। मेरा इस विषय का ज्ञान, केम्ब्रिज छोडने के बाद भी, बहुत बरसों तक केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहा। ऐसा क्यों हुआ, यह कहना कुछ कठिन है। हममे से अधिकाश का स्त्रियों की ओर जोर का आकर्षण था, और मुझे इस बात मे सन्देह है कि हममे से कोई उनके सहवास मे किसी प्रकार का पाप समझता था। यह निश्चित है कि मै उसमे कोई पाप नही समझता था, मेरे मन मे कोई धार्मिक रुकावट नही थी। हम लोग आपस मे कहा करते थे--स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धो का न सदाचार से सम्बन्ध है न दुराचार से, वह तो इन आचारों से परे है। यह सब होने पर भी एक प्रकार की झिझक तथा इस सम्बन्ध मे आमतौर पर जिन तरीको से काम लिया जाता था उनके प्रति मेरी अरुचि ने मुझे इससे बचा रखा। उन दिनो मै निश्चित रूप से एक झेपू लडका था, शायद यह इसलिए हो कि मै बचपन मे अकेला रहा था।

---

१. आधुनिक जर्मन तत्त्ववेत्ता--प्रचलित नीति और धर्म मान्यताओं का शत्रु। २ आधुनिक प्रसिद्ध अंग्रेज नाट्यकार। ३. केम्ब्रिज विश्व-विद्यालय के एक प्रसिद्ध अध्यापक। --अनु०

उन दिनो जीवन के प्रति मेरा आम रुख एक अस्पष्ट प्रकार के भोग-वाद का था, जो कुछ अश तक युवावस्था मे स्वाभाविक था, और कुछ अश तक ऑस्कर वाइल्ड[1] और वाल्टर पेटर[2] के प्रभाव के कारण था। आनन्दानुभव और आराम की जिन्दगी विताने की ख्वाहिश को भोग-वाद जैसा वडा नाम देना है तो आसान और तवीयत को खुश करनेवाली वात, लेकिन मेरे मामले मे इसके अलावा कुछ और वात भी थी, क्योकि मै खास तौर पर आराम की जिन्दगी की तरफ रुजू न था। मेरी प्रकृति धार्मिक नही थी और धर्म के दमनकारी वन्धनो को मै पसद भी नही करता था, इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मै किसी दूसरे स्टैण्डर्ड की खोज करता। उन दिनो मै सतह पर ही रहना पसद करता था, किसी मामले की गहराई तक नही जाता था, इसलिए जीवन का सौन्दर्य-मय पहलू मुझे अपील करता था। मै चाहता था कि मै सुयोग्यता के साथ जीवन-यापन करूँ। गँवारू ढग से उसका उपभोग तो मै नही करना चाहता था, लेकिन मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूर्ण तथा विविध आनन्द लेने की ओर था। मै जीवन का उपभोग करता था और इस वात से इन्कार करता था कि मै उसमे पाप की कोई वात क्यो समझूँ? साथ ही खतरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। पिताजी की तरह मै भी हर वक्त कुछ हद तक जुआरी था। पहले रुपये का जुआरी, और फिर वडी-वडी वाजियो का—जीवन के वडे-वडे आदर्शो का। १९०७ तथा १९०८ मे हिन्दुस्तान की राजनीति मे उथल-पुथल मची हुई थी और मै उसमे वीरता के साथ भाग लेना चाहता था। ऐसी दशा मे मैं आराम की जिन्दगी तो वसर कर ही नही सकता था। ये सव वाते मिलकर, और कभी-कभी परस्पर-विरोधी इच्छाये, मेरे मन मे अजीव खिचडी पकाती, भँवर-सी पैदा कर देती। उन दिनों ये सव वाते अस्पष्ट तथा गोल-मोल थी। परन्तु इससे उन दिनों मै परेशान न था, क्योकि

१–२ नीति-मुक्त कला के हामी आधुनिक अंग्रेज लेखक। —अनु०

इनका फैसला करने का समय तो अभी बहुत दूर था। तबतक जीवन—शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार का—आनन्दमय था। हमेशा नित-नये क्षितिज दिखायी पडते थे। इतने काम करने थे, इतनी चीजे देखनी थी इतने नये क्षेत्रो की खोज करनी थी। जाडे की लम्बी रातो मे हम लोग अँगीठी के सहारे बैठ जाते और धीरे-धीरे इतमीनान के साथ रात मे आपस मे बाते तथा विचार-विनिमय करते, उस समय तक, जबतक अँगीठी की आग बुझकर हमे जाडे से कँपाकर बिछौने पर न भेज देती थी। कभी-कभी वाद-विवाद मे हमारी आवाज मामूली न रहकर तेज हो जाती और हम लोग बहस की गरमा-गरमी से जोश मे आ जाते थे। लेकिन यह सब कहने भर को था। उन दिनो हम लोग जीवन की समस्याओ के साथ गम्भीरता के स्वॉग करके खेलते थे, क्योकि उस वक्त तक वे हमारे लिए वास्तविक समस्याये न हो पायी थी और हम लोग ससार के झमेलो के चक्कर मे नही फँस पाये थे। वे दिन महायुद्ध से पहले के, बीसवी शताब्दी के शुरू के दिन थे। कुछ ही दिनों मे हमारा वह ससार मिटने को था—इसलिए कि जिससे ऐसे दूसरे ससार को जगह मिले जो दुनिया के युवको के लिए मृत्यु और विनाश एव पीडा तथा हृदय-वेदना से भरा हुआ था। लेकिन हम भविष्य का परदा तोड़कर आनेवाले जमाने को नही देख सकते थे। हमे तो ऐसा लगता था कि हम किसी अचूक प्रगतिशील परिस्थिति से घिरे हुए है और जिनके पास इस परिस्थिति के लिए साधन थे उनके लिए तो वह सुखदायिनी थी।

मैंने भोग-वाद तथा वैसी ही दूसरी और उन दूसरी अनेक भावनाओ की चर्चा की है, जिन्होने उन दिनो मुझ पर अपना असर डाला। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि मैने उन दिनो इन विषयों पर भली भॉति साफ-साफ विचार कर लिया था, या मैने उनकी बावत स्पष्टतया निश्चित विचार करने की कोशिश करने की जरूरत भी समझी थी। वे तो कुछ अस्पष्ट लहरे भर थी, जो मेरे मन मे उठा करती थी और जिन्होंने अपने इसी दौरान मे अपना थोडा या बहुत प्रभाव मेरे ऊपर

अंकित कर दिया। इन बातो के ध्यान के बारे मे मै उन दिनो ऐसा परेशान नही होता था। उन दिनो तो मेरी जिन्दगी काम और विनोद से भरी हुई थी। सिर्फ एक चीज ऐसी जरूरी थी जिससे मै कभी-कभी विचलित हो जाता था। वह थी हिन्दुस्तान की राजनैतिक कश्मकश। केम्ब्रिज मे जिन किताबो ने मेरे ऊपर राजनैतिक प्रभाव डाला उनमे मैरीडिथ टाउनसेण्ड की 'एशिया और यूरप' मुख्य है।

१९०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टो से मानों उबलता रहा। १८५७ के गदर के बाद पहली मर्तबा हिन्दुस्तान फिर लडने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक की हलचल और कारावास की तथा अरविन्द घोष की खबरो से और बगाल की जनता जिस ढग से स्वदेशी और वहिष्कार की प्रतिज्ञाये ले रही थी, उनसे इग्लैण्ड मे रहनेवाले तमाम हिन्दुस्तानियो मे खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद के तिकल-दल या गरम-दल के थे। हिन्दुस्तान मे यह नया दल उन दिनो इन्ही नामो से पुकारा जाता था।

केम्ब्रिज मे जो हिन्दुस्तानी रहते थे उनकी एक सोसायटी थी, जिसका नाम था 'मजलिस'। इस मजलिस मे हम लोग अक्सर राज-नैतिक मामलो पर वहस करते थे, लेकिन ये बहसे कुछ हद तक बेवजूद थी। पार्लमेण्ट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओ की नकल करने की जितनी कोशिश की जाती थी उतनी विषय को समझने की नही। मै अक्सर मजलिस मे जाया करता था, लेकिन तीन साल मे मै वहाँ शायद ही बोला होऊँ। मै अपनी झिझक और हिचकिचाहट को दूर नही कर सका। कॉलेज मे "मैगपी और स्टाम्प" नाम की जो वाद-विवाद-सभा थी, उसमे भी मुझे इसी कठिनाई का सामना करना पडा। इस सभा मे यह नियम था कि अगर कोई मेम्बर पूरी मियाद तक न बोले तो उसे जुर्माना देना पडेगा और मुझे अक्सर जुर्माना देना पडता था।

मुझे यह याद है कि एडविन मॉण्टेगु, जो पीछे जाकर भारत-मत्री

हो गये थे, बहुत बार इस सभा मे आया करते थे। वह ट्रिनिटी कॉलेज के पुराने विद्यार्थी थे और उन दिनो केम्ब्रिज की ओर से पार्लमेण्ट के मेम्बर थे। पहले-पहल श्रद्धा की अर्वाचीन परिभाषा मैने उन्हीसे सुनी। जिस बात के बारे मे तुम्हारी बुद्धि यह कहे कि वह सच नही हो सकती, उसमे विश्वास करना ही सच्ची श्रद्धा है, क्योकि तुम्हारी तर्क-शक्ति ने भी उसे पसन्द कर लिया तो फिर अधश्रद्धा का सवाल ही नही रहता। विश्वविद्यालय के विज्ञानों के अध्ययन का मुझपर बहुत प्रभाव पडा और विज्ञान उन दिनो जिस तरह अपने सिद्धान्तो और निश्चयो को ला-कमाल समझता था वैसा ही मै समझने लगा था, क्योकि उन्नीसवी और बीसवीं सदी के शुरू का विज्ञान अपनी और ससार की बाबत बडा निश्चयात्मक था। आजकल का विज्ञान वैसा नही है।

मजलिस मे और निजी बातचीत मे हिन्दुस्तान की राजनीति पर चर्चा करते हुए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी बडी गरम तथा उग्र भाषा काम मे लाते थे, यहॉतक कि बगाल मे जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे उनकी भी तारीफ करते थे। लेकिन पीछे मैने देखा कि यही लोग कुछ तो इडियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाईकोर्ट के जज हुए, कुछ बडे धीर-गम्भीर बैरिस्टर आदि बन गये। इन आराम-गृह के आग-बबूलो मे से बिरलो ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलनो मे कारगर हिस्सा लिया होगा।

हिन्दुस्तान के उन दिनो के कुछ नामी राजनीतिज्ञो ने केम्ब्रिज मे हम लोगो को भेट देने की कृपा की थी। हम उनकी इज्जत तो करते थे, लेकिन हम उनसे इस तरह पेश आते थे मानो हम उनसे बडे है। हम लोग महसूस करते थे कि हमारी सस्कृति उनसे कही बढी-चढी थी और दृष्टि व्यापक थी। जो लोग हमारे यहॉ आये उनमे विपिनचन्द्र पाल लाला लाजपतराय और गोपाल कृष्ण गोखले भी थे। विपिनचन्द्र पाल से हम अपनी एक बैठक मे मिले। वहॉ हम सिर्फ एक दर्जन के करीब थे। लेकिन उन्होने तो ऐसी गर्जना की कि मानो वह दस हजार की सभा मे भाषण दे रहे हो। उनकी आवाज़ इतनी भयानक थी कि मै

उनकी बात को बहुत ही कम समझ सका। लालाजी ने हमसे अधिक विवेक-पूर्ण ढग से बातचीत की और उनकी बातो का मुझपर बहुत असर पडा। मैने पिताजी को लिखा कि विपिनचन्द्र पाल के मुकाबिले मे मुझे लालाजी का भाषण बहुत अच्छा लगा। इससे वह बडे खुश हुए क्योकि उन दिनो उन्हे बगाल के आग-बबूला राजनीतिज्ञ अच्छे नही लगते थे। गोखले ने केम्ब्रिज मे एक सार्वजनिक सभा मे भाषण दिया। उस भाषण की मुझे सिर्फ यही ,खास बात याद है कि भाषण के बाद अब्दुलमजीद ख्वाजा ने एक सवाल पूछा था। हॉल मे खडे होकर उन्होने जो सवाल पूछना शुरू किया तो पूछते ही चले गये, यहाँतक कि हममे से बहुतो को यही याद नही रहा कि सवाल शुरू किस तरह हुआ था और वह किस सम्बन्ध मे था ?

हिन्दुस्तानियो मे हरदयाल का बडा नाम था। लेकिन वह मेरे केम्ब्रिज मे पहुँचने से कुछ पहले आक्सफोर्ड मे थे। अपने हॅरो के दिनो मे मै उनसे लन्दन मे एक या दो बार मिला था।

केम्ब्रिज मे मेरे समकालीनो मे से कई ऐसे निकले जिन्होने आगे जाकर हिन्दुस्तान की काग्रेस की राजनीति मे प्रमुख भाग लिया। जे० एम० सेनगुप्त मेरे केम्ब्रिज पहुँचने के कुछ दिन बाद ही वहाँ से चले गये। सैफुद्दीन किचलू, सैयद महमूद और तसद्दुक अहमद शेरवानी कम-बढ मेरे समकालीन थे। एस० एम० सुलेमान भी, जो इलाहा-बाद-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे, मेरे समय मे केम्ब्रिज मे थे। मेरे दूसरे समकालीनो मे से कोई मिनिस्टर बना और कोई इडियन सिविल सर्विस का सदस्य।

लन्दन मे हम श्यामजी कृष्ण वर्मा और उनके इण्डिया-हाउस की बाबत भी सुना करते थे, लेकिन मुझे न तो वह कभी मिले और न मै कभी उस हाउस मे गया ही। कभी-कभी हमे उनका 'इण्डियन-सोशलॉ-जिस्ट' नाम का अखबार देखने को मिल जाता था। बहुत दिनो बाद, सन् १९२६ मे श्यामजी मुझे जिनेवा मे मिले थे। उनकी जेबे 'इडियन-सोशलॉजिस्ट' की पुरानी कापियो से भरी पडी थी और वह प्राय हरेक

हिन्दुस्तानी को, जो उनके पास जाता था, ब्रिटिश-सरकार का भेजा हुआ भेदिया समझते थे ।

लन्दन मे इण्डिया-ऑफिस ने विद्यार्थियों के लिए एक केन्द्र खोला था । इसकी बाबत तमाम हिन्दुस्तानी यही समझते थे कि यह हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के भेद जानने का एक जाल है और इसमे बहुत-कुछ सचाई भी थी । फिर भी यह बहुत-से हिन्दुस्तानियो को चाहे मन से हो या बेमन से, बरदाश्त करना पडता था, क्योकि उसकी सिफारिश के बिना किसी विश्वविद्यालय मे दाखिल होना गैरमुमकिन हो गया था ।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति ने पिताजी को अधिक सक्रिय राजनीति की ओर खीच लिया था और मुझे इस बात से खुशी हुई थी, हालाँकि मै उनकी राजनीति से सहमत नही था । यह स्वाभाविक ही था कि वह माडरेटो मे शामिल हुए, क्योकि उनमे से बहुतो को वह जानते थे और उनमें बहुत-से वकालत मे उनके साथी थे । उन्होने अपने सूबे की एक कान्फ्रेस का सभापतित्व भी किया था, और बगाल तथा महाराष्ट्र के गरम दलवालो की तीव्र आलोचना की थी । वह सयुक्त प्रान्तीय काग्रेस कमिटी के अध्यक्ष भी बन गये थे । १९०७ मे जिस समय सूरत मे काग्रेस मे गोलमाल होकर वह भग हुई और अन्त मे सोलहों आना माडरेटों की हो गयी, उस समय वह वहाँ उपस्थित थे ।

सूरत के कुछ ही दिनो बाद एच० डबल्यू० नेविन्सन कुछ समय तक इलाहाबाद मे पिताजी के अतिथि बनकर रहे । उन्होने हिन्दुस्तान पर जो किताब लिखी उसमे पिताजी की बाबत लिखा कि "वह मेहमानो की खातिर-तवाजो को छोड़कर और सब बातो मे माडरेट है ।" उनका यह अन्दाज कतई गलत था, क्योकि पिताजी अपनी नीति को छोडकर और किसी बात मे कभी माडरेट नही रहे, और उनकी प्रकृति ने धीरे-धीरे उनको उस बची-खुची नरमी से भी अलग भगा दिया । प्रचण्ड भावो, प्रबल विकारो, घोर अभिमान और महती इच्छा-शक्ति से सम्पन्न वह माडरेटों की जाति से बहुत ही दूर थे । फिर भी १९०७ और १९०८ मे और कुछ साल बाद तक वह बेशक माडरेटों मे भी माडरेट

थे, और गरमदल के सख्त खिलाफ थे, हालाँकि मेरा खयाल है कि वह तिलक की तारीफ करते थे ।

ऐसा क्यो था ? कानून और विधि-विधान ही उनके बुनियादी पाये थे, सो उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह राजनीति को वकील और विधानवादी की दृष्टि से देखते । उनकी स्पष्ट विचारशीलता ने उन्हे यह दिखाया कि कडे और गरम शब्दो से तबतक कुछ होता जाता नही, जबतक कि इन शब्दो के मुताबिक काम न हो और उन्हे किसी कारगर काम की कोई सम्भावना नजदीक दिखायी नही देती थी। उनको यह मालूम नही होता था कि स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन हमे बहुत दूर तक ले जा सकेगे । इसके अलावा उन आन्दोलनो की पुश्त मे वह धार्मिक राष्ट्रीयता थी जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल थी । वह प्राचीन भारत के पुनरुद्धार की ओर आशा नही लगाते थे । ऐसी बातो को न तो वह कुछ समझते ही थे, न इनसे उन्हे कोई हमदर्दी ही थी । इसके अलावा बहुत से पुराने सामाजिक रीति-रिवाजो को, जात-पाँत वगैरा को, कतई नापसन्द करते थे, और उन्हे उन्नति-विरोधी समझते थे । उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर थी । पाश्चात्य ढग की उन्नति की ओर उनका बहुत अधिक आकर्षण था, और वह समझते थे कि ऐसी उन्नति हमारे देश मे इग्लैण्ड के ससर्ग से ही आ सकती है । १९०७ मे हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता का जो पुनरुत्थान हुआ वह सामाजिक दृष्टि से जरूर पीछे घसीटनेवाला था । हिन्दुस्तान की नयी राष्ट्रीयता, पूर्व के दूसरे देशो की तरह अवश्य ही धार्मिकता को लिये हुए थी । इस दृष्टि से माडरेटो का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उन्नतिशील था । परन्तु वे तो चोटी के सिर्फ मुट्ठीभर मनुष्य थे जिनका आम जनता मे कोई सम्बन्ध न था । वे समस्याओ पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक विचार नही करते थे, महज उस ऊपरी मध्यम वर्ग के लोगो के दृष्टि-कोण से विचार करते थे जिसके वे प्रतिनिधि थे और जो अपने विकास के लिए जगह चाहता था । वे जाति के बन्धनो को ढीला करने और उन्नति को रोकनेवाले पुराने सामाजिक रिवाजो को दूर करने के लिए

छोटे-छोटे सामाजिक सुधारो की पैरवी करते थे।

माडरेटो के साथ अपना भाग्य भिडाकर पिताजी ने आक्रामक ढग इख्तियार किया। बगाल और पूना के कुछ नेताओ को छोडकर अधिकाश गरम-दलवाले नौजवान थे, और पिताजी को इस बात से बहुत चिढ थी कि ये कल के छोकरे अपने मन-माफिक काम करने की हिम्मत करते है। विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नही कर सकते थे। जिन लोगो को वह बेवकूफ समझते थे उनको तो फूटी ऑख भी नही देख सकते थे, और इसलिए वह जब कभी मौका मिलता उनपर टूट पडते थे। मेरा खयाल है कि केम्ब्रिज छोड़ने के बाद मैने उनका एक लेख पढा था, जो मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ था और मैने उन्हे एक गुस्ताखाना खत लिखा, जिसमे मैने यह भी झलकाया कि इसमें शक नही कि आपकी राजनैतिक कार्रवाइयो से ब्रिटिश-सरकार बहुत खुश हुई होगी। यह एक ऐसी बात थी जिसे सुनकर वह आपे से बाहर हो सकते थे, और वह सचमुच बहुत नाराज हुए भी। उन्होने करीब-करीब यहाँतक सोच लिया था, कि मुझे फौरन इग्लैण्ड से वापस बुला ले।

जब मै केम्ब्रिज मे रहता था तभी यह सवाल उठ खडा हुआ था कि मुझे कौन-सा 'कैरियर' चुनना चाहिए? कुछ समय के लिए इण्डियन सिविल सर्विस की बात भी सोची गयी। उन दिनो तक उसमे एक खास आकर्षण था। परन्तु चूँकि न तो पिताजी ही उसके लिए बहुत उत्सुक थे न मै ही, वह विचार छोड दिया गया। खयाल है कि इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी और अगर मैं उस इम्तिहान मे बैठना चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन-चार साल और वहाँ ठहरना पडता। मैने केम्ब्रिज मे जब अपनी डिग्री ली तब मै बीस वर्ष का था और उन दिनों इण्डियन सिविल सर्विस के लिए उम्र की मियाद बाईस बरस से लेकर चौबीस बरस तक थी। इम्तिहान मे कामयाब होने पर इग्लैण्ड मे एक साल और बिताना पडता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इग्लैण्ड मे इतने दिनों तक रहने के कारण ऊब गये थे और चाहते थे कि मै जल्दी से घर लौट आऊँ। पिताजी पर

एक बात का और भी जोर पड़ा और वह यह थी कि अगर मैं आई० सी० एस० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहों में रहना पड़ता। पिताजी और माँ दोनों ही यह चाहते थे कि इतने दिनों तक अलग रहने के बाद मैं उनके पास ही रहूँ। बस, पासा पुश्तैनी पेशे के यानी वकालत के पक्ष में पड़ा और मैं इनर टैम्पिल में भरती हो गया।

यह अजीब बात है कि राजनीति में गरम-दल की ओर झुकाव बढ़ता जाने पर भी आई० सी० एस० में शामिल होने को और इस तरह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन की मशीन का एक पुरज़ा बनने के ख़याल को मैंने ऐसा बुरा नहीं समझा। आगे के सालों में इस तरह का ख़याल मुझे बहुत त्याज्य मालूम होता।

१९१० में अपनी डिग्री लेने के बाद मैं केम्ब्रिज से चला आया। ट्राइपस के इम्तिहान में मुझे मामूली सफलता मिली—दूसरे दर्जे में सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल मैं लन्दन के इधर-उधर घूमता रहा। मेरी कानून की पढ़ाई में बहुत समय नहीं लगता था और बैरिस्टरी के एक के बाद दूसरे इम्तिहान में मैं पास होता रहा। हाँ, उसमें मुझे न तो सम्मान मिला, न अपमान। बाकी वक्त मैंने यों ही बिताया। कुछ आम किताबें पढ़ीं, फैबियन[1] और साम्यवादी[2] विचारों की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ और उन दिनों के राजनैतिक आन्दोलन में भी दिलचस्पी ली। आयर्लेण्ड और स्त्रियों के मताधिकार के आन्दोलनों में मेरी ख़ास दिलचस्पी थी। मुझे यह भी याद है कि १९१० की गरमी

१–२. १८८४ में स्थापित समाजवादी सिद्धान्त रखनेवालों की संस्था और उसके सदस्य। ये क्रान्ति के द्वारा सुधार नहीं चाहते। पर आशा रखते हैं कि लेखों और प्रचार के द्वारा औद्योगिक स्थिति में सुधार हो जायगा। समाजवादी इससे आगे गये। उन्होंने अपना ध्येय बनाया—ज़मीन और सम्पत्ति का मालिक समाज है और समाज की ही सत्ता उसपर होनी चाहिए—इस सिद्धान्त के आधार पर क्रान्ति करना। इस कारण फैबियन महज़ 'म्यूनिसिपल समाजवादी' नाम के पात्र हुए। अनु०

मे जव मै आयर्लेण्ड गया तो सिनफिन-आन्दोलन की शुरुआत ने मुझे अपनी तरफ खीचा था।

इन्ही दिनो मुझे हॅरो के पुराने दोस्तो के साथ रहने का मौका मिला और उसके साथ मेरी आदते खर्चीली हो गयी थी। पिताजी मुझे खर्च के लिए काफी रुपया भेजते थे। लेकिन मै अक्सर उससे भी ज्यादा खर्च कर डालता था, इसलिए उन्हे मेरे वारे मे वडी चिन्ता हो गयी थी। उन्हे अदेशा हो गया था कि कही मै बुरे रास्ते तो नही पड गया हूँ। परन्तु असल मे ऐसी कोई खास बात मै नही कर रहा था। मै तो सिर्फ, उन खुशहाल परन्तु कमअक्ल अंग्रेजो की देखादेखी भर कर रहा था जो वडे ठाट-वाट मे रहा करते थे। यह कहना बेकार है कि इस उद्देशहीन आराम-तलवी की जिन्दगी से मेरी किसी तरह की कोई तरक्की नही हुई। मेरे पहले के हौसले ठडे पडने लगे और खाली एक चीज जो वढ रही थी वह था मेरा घमण्ड।

छुट्टियो मे मैने कभी-कभी यूरप के भिन्न-भिन्न देशो की भी सैर की। १९०९ की गरमी मे जव काउण्ट जैपलिन अपने नये हवाई जहाज मे कोन्स्टैन्स झील पर फ्रीडरिश शैफिन मे उडकर वर्लिन आये, तव मैं और पिताजी दोनो वही थे। मेरा खयाल है कि वह उसकी सवसे पहली लम्बी उडान थी। इसलिए उस अवसर पर वडी खुशियाँ मनायी गयी और खुद कैसर ने उसका स्वागत किया। वर्लिन के टेम्पिलोफ फील्ड मे जो भीड इकट्ठी हुई थी वह दस लाख से लेकर वीस लाख तक कूती गयी थी। जैपलिन ने ठीक समय पर आकर वडी वजादारी के साथ ऊपर-ऊपर हमारी परिक्रमा की। ऐडलॉ होटल ने उस दिन अपने सव निवासियो को काउण्ट जैपलिन का एक-एक सुन्दर चित्र भेट किया था। वह चित्र अवतक मेरे पास है।

कोई दो महीने वाद हमने पैरिस मे वह हवाई जहाज देखा जो उस शहर पर पहले-पहल उडा और जिसने एफिल टावर के चक्कर पहले-पहल लगाये। मेरा खयाल है कि उडाके का नाम कोंत द लावेर था। अठारह वरस वाद, जव लिडवर्ग अटलाटिक के उस पार से दमकते

हुए तीर की तरह उड़कर पैरिस आया था, तब भी मैं वहाँ था।

१९१० में केम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के बाद फौरन ही जब मैं सैर-सपाटे के लिए नार्वे गया था, तब मैं बाल-बाल बच गया। हमलोग पहाड़ी प्रदेश में पैदल घूम रहे थे। बुरी तरह थके हुए एक छोटे से होटल में अपने मुकाम पर पहुँचे, और गरमी के मारे नहाने की इच्छा प्रकट की। वहाँ ऐसी बात पहले किसीने न सुनी थी। होटल में नहाने के लिए कोई इन्तिजाम न था। लेकिन हमको यह बता दिया गया कि हमलोग पास की एक नदी में नहा सकते हैं। अत. मेज के या मुहँ पोंछने के छोटे-छोटे तौलियों में जो होटलवालों ने हमें उदारतापूर्वक दिये थे, सुसज्जित होकर हममें से दो, एक मैं और एक नौजवान अंग्रेज, पड़ौस के हिम-सरोवर से निकलती और दहाड़ती हुई तूफानी धारा में जा पहुँचे। मैं पानी में घुस गया। वह गहरा तो न था, लेकिन ठंडा इतना था कि हाथ-पाँव जमे जाते थे और उसकी जमीन बड़ी रपटीली थी। मैं रपटकर गिर गया। बरफ की तरह ठंडे पानी में मेरे हाथ-पैर निर्जीव हो गये। मेरा शरीर और सारे अवयव सुन्न पड़ गये, मेरे पैर जम न सके, तूफानी धारा मुझे तेजी से बहाये ले जा रही थी, परन्तु मेरे अंग्रेज साथी ने किसी तरह बाहर निकलकर मेरे साथ भागना शुरू किया और अन्त में मेरा पैर पकड़ने में कामयाब होकर उसने मुझे बाहर खींच लिया। इसके बाद हमें मालूम हुआ कि हम कितने बड़े खतरे में थे, क्योंकि हमसे दो-तीन-सौ गज की दूरी पर यह पहाड़ी धारा एक विशाल चट्टान के नीचे गिरती थी जिसका जल-प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय बात थी।

१९१२ की गर्मी में मैंने बैरिस्टरी पास कर ली और उसी शरद् ऋतु में मैं, कोई सात साल से ज्यादा इंग्लैण्ड में रहने के बाद, आखिर को हिन्दुस्तान लौट आया। इस बीच छुट्टी के दिनों में दो बार मैं घर गया था। परंतु अब मैं हमेशा के लिए लौटा और मुझे लगा कि जब मैं बम्बई में उतरा तो अपने पास कुछ न होते हुए भी अपने बड़प्पन का अभिमान लेकर उतरा था।

: ५ :

लौटने पर

देश का राजनैतिक वातावरण

१९१२ के अखीर में राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत फीका मालूम होता था। तिलक जेल में थे, गरम-दलवाले कुचल दिये गये थे। किसी प्रभावशाली नेता के न होने से वे चुपचाप पड़े हुए थे। बंग-भंग दूर होने पर बंगाल में शान्ति हो गयी थी और सरकार को कौंसिलों की मिन्टो-मॉर्ले योजना के मातहत, माडरेटों को अपने वश करने में कामयाबी मिल गयी थी। प्रवासी भारतवासियों की समस्या, खासतौर पर दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों की दशा के बारे में, कुछ दिलचस्पी जरूर ली जाती थी। कांग्रेस माडरेटों के हाथ में थी। साल भर में एक बार उसका जलसा होता था और वह कुछ ढीले-ढाले प्रस्ताव पास कर देती थी। उसकी तरफ लोगों का ध्यान बहुत ही कम जाता था।

१९१२ की बड़े दिन की छुट्टियों में मैं डेलीगेट की हैसियत से बांकीपुर की कांग्रेस में शामिल हुआ। बहुत हदतक वह अंग्रेजी जाननेवाले उच्च श्रेणी के लोगों का उत्सव था। जहाँ सुबह पहनने के कोट और सुन्दर इस्त्री किये हुए पतलून बहुत दिखायी देते थे। वस्तुतः वह एक सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक गरमागरमी न थी। गोखले, जो हाल ही अफ्रीका से लौटकर आये थे, उसमें शामिल हुए थे। उस अधिवेशन के प्रमुख वही थे। उनकी तेजस्विता, उनकी सच्चाई और उनकी शक्ति से वहाँ आये उन थोड़े से व्यक्तियों में वही एक ऐसे मालूम होते थे जो राजनीति और सार्वजनिक मामलों पर संजीदगी से विचार करते थे और उनके सम्बन्ध में गहराई से सोचते थे। मुझपर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा।

जब गोखले बांकीपुर से लौट रहे थे तब एक खास घटना हो गयी।

वह उन दिनो पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य थे। उस हैसियत से उन्हे अपने लिए एक फर्स्ट क्लास का डब्बा रिजर्व कराने का हक था। उनकी तबीयत ठीक न थी और लोगो की भीड से तथा बेमेल साथियों से उनके आराम मे खलल पडता था। इसलिए वह चाहते थे कि उन्हे एकान्त मे चुपचाप पडा रहने दिया जाय और काग्रेस के अधिवेशन के बाद वह चाहते थे कि सफर मे उन्हे शान्ति मिले। उन्हे उनका डब्बा मिल गया, लेकिन बाकी गाडी कलकत्ता लौटनेवाले प्रतिनिधियो से ठसा-ठस भरी हुई थी। कुछ समय के बाद, भूपेन्द्रनाथ वसु जो बाद मे जाकर इडिया कौसिल के मेम्बर हुए, गोखले के पास गये और यो ही उनसे पूछने लगे कि क्या मै आपके डब्बे मे सफर कर सकता हूँ ? यह सुनकर पहले तो गोखले कुछ चौके, क्योकि वसु महाशय बडे बातूनी थे, लेकिन फिर स्वभाव-वश वह राजी हो गये। चन्द मिनट बाद श्री वसु फिर गोखले के पास आये और उनसे कहने लगे कि अगर मेरे एक और दोस्त आपके साथ इसी कम्पार्टमेण्ट मे चले चले, तो आपको तकलीफ तो न होगी। गोखले ने फिर चुप-चाप 'हाँ' कर दिया। ट्रेन छूटने से कुछ समय पहले वसु साहब ने फिर उसी ढग से कहा कि मुझे और मेरे साथी को ऊपर की बर्थों पर सोने मे बहुत तकलीफ होगी, इसलिए अगर आपको तकलीफ न हो तो आप ऊपर की बर्थ पर सो जायँ। मेरा खयाल है कि अन्त मे यही हुआ। बेचारे गोखले को ऊपरी बर्थ पर चढकर जैसे-तैसे रात बितानी पडी।

मै हाईकोर्ट मे वकालत करने लगा। कुछ हद तक मुझे अपने काम मे दिलचस्पी आने लगी। यूरप से लौटने के बाद शुरू-शुरू के महीने बडे आनन्द के थे। मुझे घर आने और वहाँ आकर पुरानी मेल-मुलाकाते कायम कर लेने से खुशी हुई। परन्तु धीरे-धीरे, अपनी तरह के अधिकाश लोगो के साथ जिस तरह की जिन्दगी बितानी पडती थी, उसकी सब ताजगी गायब होने लगी और मै यह महसूस करने लगा कि मै बेकार और उद्देश्यहीन जीवन की नीरस खाना-पूरी मे ही फँस रहा हूँ। मै समझता हूँ कि मेरी दोगली, कम-से-कम खिचडी, शिक्षा इस

बात के लिए उत्तरदायी थी कि मेरे मन मे अपनी परिस्थितियो से असन्तोष था। इग्लैड की अपनी सात बरस की जिन्दगी मे मेरी जो आदते और जो भावनाये बन गयी थी वे जिन चीजो को मैं यहाँ देखता था उनसे मेल नही खाती थी। तकदीर से मेरे घर का वायुमण्डल बहुत अनुकूल था और उससे कुछ शान्ति भी मिलती थी। परन्तु उतना काफी न था। उसके बाद तो वही बार-लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनो मे वही साथी, जो उन्ही पुराने विषयो पर, आमतौर पर कानूनी पेशे-सम्बन्धी बातो पर ही बार-बार बाते करते थे। निस्सन्देह यह वायुमण्डल ऐसा न था जिससे बुद्धि को कुछ गति या स्फूर्ति मिले, और मेरे मन मे जीवन के नितान्त नीरसपन या मनहूसी का भाव घर करने लगा। कहने योग्य विनोद या प्रमोद की बाते भी न थीं।

ई० एम० फॉर्स्टर ने हाल ही मे लॉज डिकिसन की जो जीवनी लिखी है, उसमे उन्होने लिखा है कि डिकिसन ने एक बार हिन्दुस्तान के बारे मे कहा था कि "ये दोनो जातियाँ (यूरोपियन और हिन्दुस्तानी) एक दूसरे से मिल क्यों नही सकती? महज इसलिए कि हिन्दुस्तानियो से अग्रेज ऊब जाते है, यही सीधा और कठोर सत्य है।" यह सभव है कि बहुत से अग्रेज यही महसूस करते हों और इसमे कोई आश्चर्य की बात भी नही है। दूसरी पुस्तक मे फॉर्स्टर ने कहा है कि हिन्दुस्तान मे हरेक अग्रेज यही महसूस करता है, और इसीके मुताबिक बर्ताव करता है कि वह विजित देश पर कब्जा बनाये रखनेवाली सेना का एक सदस्य है, और ऐसी हालत मे दोनों जातियो मे परस्पर सहज और सकोचहीन सम्बन्ध स्थापित होना असम्भव है। हिन्दुस्तानी और अग्रेज दोनों ही एक-दूसरे के सामने बनते है और स्वभावत दोनो एक-दूसरे के सामने असुविधा अनुभव करते है। दोनो एक-दूसरे से ऊबे रहते है और जब दोनों ही एक-दूसरे से अलग होते है तो उन्हे खुशी होती है और वे आजादी के साथ साँस लेते तथा फिर से स्वाभाविक रूप से चलने-फिरने लगते है।

आम तौर पर अग्रेज एक ही किस्म के हिन्दुस्तानियो से मिलते है— उन लोगों से जिनका हाकिमों की दुनिया से ताल्लुक रहता है। वास्तव

में भले और बढ़िया लोगों तक उनकी पहुँच ही नहीं होती और अगर ऐसा कोई ग्रन्थ उन्हें मिल भी जाय, तो वे उसे जी खोलकर बात करने को तैयार नहीं कर पाते। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन ने, सामाजिक मामलों में भी, हाकिमों की श्रेणी को ही महत्त्व देकर आगे बढ़ाया है। इसमें हिन्दुस्तानी और अंग्रेज दोनों ही तरह के हाकिम आ जाते हैं। इस वर्ग के लोग खास तौर पर मट्ठे और तंग ख़याल के होते हैं। एक सुयोग्य अंग्रेज नौजवान भी हिन्दुस्तान में आने पर शीघ्र ही एक प्रकार की मानसिक और सांस्कृतिक तन्द्रा में ग्रस्त हो जाता है तथा समस्त सजीव विचारों और आन्दोलनों से अलग हो जाता है। दफ्तर में दिन-भर मिसलों में, जो हमेशा चक्कर लगाती रहती हैं और कभी खतम नहीं होतीं, सर खपाकर ये हाकिम थोड़ा-सा व्यायाम करते हैं। फिर वहाँसे अपने समाज के लोगों से मिलने-जुलने को क्लब में चले जाते हैं, वहाँ व्हिस्की पीकर 'पंच' तथा इंग्लैंड से आये हुए सचित्र साप्ताहिक पत्र पढ़ते हैं—किताब तो वे शायद ही पढ़ते हों। पढ़ते भी होंगे तो अपनी किसी पुरानी मनचाही किताब को ही। इसपर भी अपने इन धीमे मानसिक ह्रास के लिए आप हिन्दुस्तान पर दोष मढ़ते हैं, यहाँकी आब-हवा को कोसते हैं और आमतौर पर आन्दोलन करनेवालों को बददुआ देते हैं, जो उनकी दिक्कतें बढ़ाते हैं। लेकिन यह महसूस नहीं कर पाते कि उनके मानसिक और सांस्कृतिक क्षय का कारण वह मजबूत नौकर-शाही तथा स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली है जो हिन्दुस्तान में प्रचलित है और वह खुद जिसका एक छोटा-सा पुर्जा है।

जब छुट्टियों और फर्लो के बाद भी अंग्रेज हाकिमों की यह हालत है तब जो हिन्दुस्तानी अफसर उनके साथ या उनके मातहत काम करते हैं वे उनसे बेहतर कैसे हो सकते हैं, क्योंकि वे अंग्रेजी नमूनों की नकल करने की कोशिश करते हैं। साम्राज्य की राजधानी नयी दिल्ली में ऊँचे हिन्दुस्तानी और अंग्रेज हाकिमों के पास बैठकर, तरक्कियों छुट्टी के कायदों, तबादिलों और नौकरों की रिश्वतखोरी तथा बेईमानियों वगैरा के कभी खत्म न होने वाले किस्सों को सुनने से ज्यादा जी घबड़ानेवाली बात शायद ही कोई हो।

शायद कुछ हद तक कलकत्ता, बम्बई जैसे शहरो को छोडकर बाकी जब जगहो मे इस हाकिमाना और 'सर्विस' के वातावरण ने हिन्दुस्तान की मध्यम श्रेणी के लगभग तमाम लोगो की जिन्दगी, खास तौर पर अग्रेजी पढे-लिखे लोगो के जीवन पर, चढाई करके उसे अपने रग मे रग दिया। पेशवर लोग जैसे वकील, डाक्टर तथा दूसरे लोग भी उसके शिकार हो गये, और अर्ध सरकारी, विश्वविद्यालयो के शिक्षा-भवन भी उससे न बच सके। ये सब लोग अपनी एक अलग दुनिया मे रहते है जिसका सर्व-साधारण से तथा मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगो से कतई कोई ताल्लुक नही है। उन दिनो राजनीति इसी ऊपर की तह के लोगों तक महदूद थी। बगाल मे १९०६ से राष्ट्रीयता के आन्दोलन ने जरा इस वस्तुस्थिति को झकझोरकर बगाल के मध्यम श्रेणी के निचले लोगों मे और कुछ हद तक जनता मे भी नयी जान डाल दी। आगे चलकर गाधीजी के नेतृत्व मे यह सिलसिला और तेजी से बढने को था। परन्तु राष्ट्रीय सग्राम जीवनप्रद होने पर भी वह एक सकीर्ण सिद्धान्त होता है, और वह अपने मे इतनी अधिक शक्ति तथा इतना अधिक ध्यान लगवा लेता है कि दूसरे कामो के लिए कुछ नही बचता।

इसलिए इग्लैण्ड से लौटने के बाद उन शुरू के सालों मे, मै जीवन से असतोष अनुभव करने लगा। अपने वकालत के पेशे मे मुझे पूरा उत्साह नही था। राजनीति के मानी मेरे मन मे यह थे कि विदेशी शासन के खिलाफ उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन हो। लेकिन उस समय की राजनीति मे इसके लिए कोई गुजाइश नही थी। मै काग्रेस मे शरीक हो गया और उसकी बैठकों मे जाता रहता, फिजी मे हिन्दुस्तानी मजदूरों के लिए शर्तबन्दी कुल-प्रथा के खिलाफ या दक्षिण अफ्रीका मे प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यहार किये जाने के खिलाफ यानी ऐसे खास मौकों पर जब कभी कोई आन्दोलन उठ खडा होता, तो मै अपनी पूरी ताकत से उसमे जुटकर खूब मेहनत करता। लेकिन ये काम तो सिर्फ कुछ समय के लिए ही होते थे।

शिकार जैसे दूसरे कामों मे मैने अपना जी बहलना चाहा, लेकिन

उसकी तरफ़ी मेरा ख़ास लगाव या झुकाव न था। बाहर जाना और जगल मे घूमना तो मुझे अच्छा लगता था, लेकिन इस बात की ओर मै कम ध्यान देता कि कोई जानवर मारूँ। सच बात तो यह है कि मै जानवरो को मारने के लिए कभी मशहूर नही हुआ, हालाँकि एक दिन कश्मीर मे थोडे-बहुत इत्तिफ़ाक से ही एक रीछ के मारने मे मुझे काम-याबी मिल गयी थी। शिकार के लिए मेरे मन मे जो थोडा-बहुत उत्साह था, वह भी एक छोटे-से बारहसिंगे के साथ जो घटना हुई उससे ठडा पड गया। यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु चोट से मरकर मेरे पैरो पर गिर पडा और अपनी आँसूभरी बडी-बडी आँखो से मेरी तरफ़ देखने लगा। तबसे उन आँखो की मुझे अक्सर याद आ जाती है।

उन शुरू के सालो मे श्री गोखले की भारत-सेवक समिति की ओर भी मेरा आकर्षण हुआ था। मैने उसमे शामिल होने की बात तो कभी नही सोची। कुछ तो इसलिए कि उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नरम थी, और कुछ इसलिए कि उन दिनो अपना पेशा छोडने का मेरा कोई इरादा न था। परन्तु समिति के मेम्बरो के लिए मेरे दिल मे बडी इज्जत थी, क्योकि उन्होने निर्वाहमात्र पर अपने को स्वदेश की सेवा मे लगा दिया था। मैने दिल मे कहा कि कम-से-कम यह एक समिति ऐसी है, जिसके लोग एकाग्र-चित्त होकर लगातार सीधा काम करते है, फिर चाहे वह काम सोल्हो आने ठीक दिशा मे भले ही न हो।

विश्व-व्यापी महायुद्ध शुरू हुआ और उसमे हमारा ध्यान लग गया, हालाँकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था। शुरू मे उससे हमारे जीवन पर ऐसा ज्यादा प्रभाव नही पडा और हिन्दुस्तान ने तो उसकी वीभत्सता का पूरा स्वरूप अनुभव भी नही किया। राजनीति के बरसाती नाले बहते और लोप हो जाते थे। 'ब्रिटिश डिफेन्स आफ रिएल्म एक्ट' की तरह जो 'भारत रक्षा कानून', बना था, देश को वह जोर से जकडे हुए था। लडाई के दूसरे साल से ही षड्यत्रों की और गोलियो से मारे जाने की ख़बरे आने लगी। उधर पजाब मे रगरूटो की ज़बरन् भरती की ख़बरे सुनायी देती थी।

यद्यपि लोग जोर-जोर से राजभक्ति का राग अलापते थे, तो भी अंग्रेजों के साथ उनकी बहुत ही कम हमदर्दी थी। जर्मनी की जीत की खबरे सुनकर क्या माडरेट और क्या गरमदलवाले दोनों को ही खुशी होती थी। यह नही कि किसीको जर्मनी से कोई प्रेम था, बल्कि यह इच्छा थी कि हमारे इन प्रभुओं का गरूर उतर जाय। भाव ऐसा ही था, कमजोर और असहाय मनुष्यो के मन मे अपने से जबरदस्त के दूसरे से पीटे जाने की ख़बर सुनकर जैसी खुशी पैदा होती है। असल मे यह मेरा ख़याल है कि हममे से अधिकाश इस लडाई के बारे मे मिले-जुले भाव रखते थे। जितने राष्ट्र लड रहे थे, उनमे मेरी हमदर्दी सबसे ज्यादा फ्रान्सीसियों के साथ थी। मित्र राष्ट्रो की ओर से, बेहयाई के साथ जो लगातार प्रचार किया गया, उसका कुछ असर ज़रूर पडा, यद्यपि हम लोग उसकी सब बाते सही न मानने की काफी कोशिश करते थे।

धीरे-धीरे फिर राजनैतिक जीवन बढने लगा। लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आ गये, और उन्होने तथा मिसेज बेसेन्ट ने होमरूल लीगें कायम की। मै दोनो लीगों मे शामिल हुआ, लेकिन काम मैने खास तौर पर मिसेज बेसेन्ट की लीग के लिए ही किया। हिन्दुस्तान के राजनैतिक मच पर मिसेज़ बेसेन्ट दिनोदिन अधिक भाग लेने लगी। काग्रेस के वार्षिक अधिवेशनो मे कुछ अधिक जोश भर गया और मुस्लिम लीग काग्रेस के साथ-साथ चलने लगी। वायु-मण्डल मे बिजली-सी दौड गयी, और हम-जैसे अधिकाश नवयुवकों का दिल फडकने लगा। नजदीक भविष्य मे हम बडी-बडी बाते होने की उम्मीदे करने लगे। मिसेज़ बेसेन्ट की नजरबन्दी से पढे-लिखे लोगों मे बहुत उत्तेजना बढ़ी और उसने देश भर मे होमरूल आन्दोलन मे जान डाल दी। होमरूल लीगो मे न सिर्फ वे पुराने गरम-दलवाले ही शामिल हुए जो १९०७ से काग्रेस से अलग हो गये थे, बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगो मे से नये कार्यकर्त्ता भी आये। लेकिन आम जनता को इन लोगो ने छुआ तक नही।

कई माडरेट लीडर भी आगे बढते गये। उनमे से कुछ तो बाद को पीछे हट गये, कुछ जहाँ पहुँच चुके थे, वहीके वही डटे रहे। मुझे याद

है कि 'यूरोपियन डिफेस फोर्स' के ढग पर सरकार हिन्दुस्तान मे मध्यम-वर्ग के लोगो मे से जिस नये 'इण्डियन डिफेस फोर्स' का सगठन कर रही थी, उसके बारे मे बडी चर्चा होती थी। कई मामलो मे इस हिन्दुस्तानी डिफेस फोर्स के साथ वह व्यवहार नही किया जाता था, जो यूरोपियन डिफेंस फोर्स के साथ किया जाता था, और हममे से बहुतो को यह महसूस हुआ कि जबतक यह सब अपमानजनक भेद-भाव न मिटा दिया जाय, तब तक हमे इस फोर्स से सहयोग न करना चाहिए। लेकिन बहुत बहस के बाद, आखिर हम लोगो ने सयुक्त प्रात मे सहयोग करना ही तय किया, क्योकि यह सोचा गया कि इन हालतो मे भी हमारे नौजवानो के लिए यह अच्छा है कि वे फौजी शिक्षा ग्रहण करे। मैने इस फोर्स मे दाखिल होने के लिए अपनी अर्जी भेज दी, और उस तजवीज को बढाने के लिए हम लोगो ने इलाहाबाद मे एक कमेटी भी बना ली। इसी समय मिसेज बेसेन्ट की नजरबन्दी हुई, और उस क्षण के जोश मे मैने कमेटी के मेम्बरो को, जिनमे पिताजी, डाक्टर तेजबहादुर सप्रू, श्री सी० वाई० चिन्तामणि तथ दूसरे माडरेट लीडर शामिल थे, इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे अपनी मीटिंग रद कर दे, और सरकार की नजरबन्दीवाली हरकत के विरोध-स्वरूप डिफेस फोर्स के सिलसिले के दूसरे सब काम भी बन्द कर दे। तुरन्त ही इस मतलब का एक आम नोटिस निकाल दिया गया। मेरा खयाल है कि लडाई के वक्त मे ऐसा लडाकू काम करने के लिए इनमे से कुछ लोग पीछे बहुत पछताये।

मिसेज बेसेन्ट की नजरबन्दी का नतीजा यह हुआ कि पिताजी तथा दूसरे माडरेट लीडर होम-रूल लीग मे शामिल हो गये। कुछ महीने बाद ज्यादातर माडरेट नेताओ ने लीग से स्तीफा दे दिया। पिताजी उसके मेम्बर बने रहे और उसकी इलाहाबाद शाखा के सभापति भी बन गये।

धीरे-धीरे पिताजी कट्टर माडरेटो की स्थिति से अलग हटते जा रहे थे। उनकी प्रकृति तो जो सत्ता हमारी उपेक्षा करती थी और हमारे साथ हिकारत का बर्ताव करती थी, उससे ज्यादा दबने और उसीसे अपील करने के खिलाफ बगावत करती थी, पुराने नरम-

दल के नेता उन्हे आकर्षित नही करते थे। उनकी भाषा और उनके ढग उन्हे बहुत खटकते थे। मिसेज बेसेण्ट की नजरबन्दी की घटनाओ का उनके ऊपर काफी असर पडा, लेकिन आगे कदम रखने से पहले वह अब भी हिचकिचाते थे। अक्सर वह उन दिनो यह कहा करते थे कि माडरेटों के तरीकों से कुछ नही हो सकता लेकिन साथ ही जबतक हिन्दू-मुस्लिम सवाल का हल नही मिलता, तबतक दूसरा कोई भी कारगर काम नही किया जा सकता। वह वादा करते थे कि अगर इसका हल मिल जाय, तो मैं आपमे से तेज-से-तेज के साथ कदम मिलाकर चलने को तैयार हूँ। हमारे ही घर मे आल-इडिया काग्रेस कमिटी की मीटिग मे वह सयुक्त काग्रेस-लीग-योजना बनी जिसे १६१६ ईसवी मे काग्रेस ने लखनऊ मे मजूर किया। इस बात से पिताजी बडे खुश हुए, क्योकि इससे सम्मिलित प्रयास का रास्ता खुल गया। उस समय वह माडरेट दल के अपने पुराने साथियो से बिगाड करके भी हमारे साथ चलने को तैयार थे। भारत-मत्री की हैसियत से एडविन माटेग्यू ने हिन्दुस्तान मे जो दौरा किया तबतक, और दौरे के दरम्यान, माडरेट और पिताजी साथ-साथ रहे। लेकिन माटेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट[1] के प्रकाशन के बाद तुरन्त ही मत-भेद शुरू हो गया। १९१८ मे लखनऊ मे सूबे की एक विशेष कान्फ्रेस हुई। पिताजी इसके सभापति थे। इसीमे वह सदा के लिए माडरेटो से अलग हो गये। माडरेटो को डर था कि यह कान्फ्रेंस माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड प्रस्तावों के खिलाफ कडा रुख अख्तियार करेगी। इसलिए उन्होने उसका बायकाट कर दिया। इसके बाद इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिए काग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसका भी उन्होने बायकाट किया। तबसे अबतक वे काग्रेस के बाहर ही है।

माडरेटों ने जो ढग अख्तियार किया वह यह था कि वे काग्रेस के अधिवेशनों तथा दूसरे आम जल्सों से चुपचाप अलग होकर दूर रहे,

---

१ 'कांग्रेस का इतिहास', प्रकाशक सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, प्रकरण ४ देखिए। —अनु०

और बहुमत के खिलाफ होने पर वहाँ जाकर अपना दृष्टि-कोण भी न रक्खे और न उसके लिए लड़े। यह ढग बहुत ही भद्दा और अनुचित मालूम हुआ। मेरा खयाल है कि देश मे अधिकाश लोगो का यही आम खयाल था और मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान की राजनीति मे माडरेटो का प्रभाव जो प्राय सोलहो आने जाता रहा, वह एक हद तक उनके इस डरपोकपन के कारण भी हुआ। मेरा खयाल है कि अकेले श्री शास्त्री ही एक ऐसे माडरेट नेता थे जो काग्रेस के शुरू के उन कुछ जल्सो में भी शामिल हुए जिनका माडरेट दल ने बायकाट कर दिया था, और उन्होंने अपने अकेले का दृष्टि-कोण वहाँ रक्खा।

लड़ाई के शुरू के सालो मे मेरे अपने राजनैतिक और सार्वजनिक कार्य साधारण ही थे और मैं आम सभाओ मे व्याख्यान देने से बचा रहा। अभी तक मुझे जनता मे व्याख्यान देने मे डर व झिझक मालूम होती थी। कुछ हद तक इसकी वजह यह भी थी कि मैं यह महसूस करता था कि सार्वजनिक व्याख्यान अग्रेजी मे तो होने नही चाहिएँ और हिन्दुस्तानी मे देर तक बोलने की अपनी योग्यता मे मुझे सन्देह था। मुझे वह छोटी-सी घटना याद है जो उस समय हुई जब मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मै पहले-पहल इलाहाबाद मे सार्वजनिक भाषण दूँ। सम्भवत यह १९१५ मे हुआ। तारीख के बारे मे मैं ठीक-ठीक नही कह सकता। इसके अलावा पहले क्या हुआ और फिर क्या, यह तरतीब भी मुझे साफ-साफ याद नही है। प्रेस का मुहँ बन्द करनेवाले एक कानून के विरोध मे सभा होनेवाली थी और उसमें मुझे यह मौका मिला था। मैं बहुत थोड़ा बोला, सो भी अग्रेजी मे। ज्योही मीटिग खतम हुई, मुझे इस बात से बडी सकुच हुई कि डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मच पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा। मैंने जो-कुछ या जिस तरह कहा उसपर वह खुश हुए हो सो बात नही। बल्कि उनकी इस बेहद खुशी का सबब सिर्फ यह था कि मैंने आम सभा मे व्याख्यान दिया, और इस तरह सार्वजनिक कार्य के लिए एक नया रगरूट मिल गया। उन दिनो सार्व-

जनिक काम दरअसल महज व्याख्यान देना ही था।

मुझे याद है कि उन दिनो हमे, इलाहाबाद के बहुत से नौजवानों को, यह भी आशा थी कि, मुमकिन है, डॉक्टर सप्रू राजनीति मे कुछ आगे कदम रखे। शहर मे माडरेट दल के जितने लोग थे उन सबमे उन्हीसे इस बात की सबसे ज्यादा सम्भावना थी, क्योकि वह भावुक थे और कभी-कभी मौक़े पर उत्साह की लहर मे बह जाते थे। उनके मुक़ाबिले मे पिताजी बहुत ठडे मालूम पडते थे, हालॉकि उनकी इस बाहरी चादर के नीचे काफी आग थी। लेकिन पिताजी की दृढ इच्छा-शक्ति के कारण हमे उनसे बहुत कम उम्मीद रह गयी थी, और कुछ वक्त के लिए हमे सचमुच डॉक्टर सप्रू से ज्यादा उम्मीदे थी। इसमे तो कोई शक नही कि अपनी लम्बी सार्वजनिक सेवाओ के कारण पण्डित मदनमोहन मालवीय हमे अपनी तरफ खीचते थे और हमलोग उनसे देर-देर तक बाते करके तथा उनपर यह जोर डालते थे कि वह जोर के साथ मुल्क का नेतृत्व करे।

उस जमाने मे, घर मे राजनैतिक सवाल चर्चा और बहस के लिए शान्तिमय विषय नही था। उनकी चर्चा अक्सर होती थी, लेकिन चर्चा होते ही तनातनी होने लगती थी। गरम दल की तरफ जो मेरा झुकाव था, उसे पिताजी बडे गौर से देख रहे थे; खास तौर पर बातूनी राजनीति के बारे मे मेरी नुक्ता-चीनियो को और कार्य के लिए की जानेवाली मेरी हठीली मॉग को। मुझे भी यह बात साफ-साफ नही दिखायी देती थी कि क्या काम होना चाहिए, और पिताजी कभी-कभी खयाल करते थे कि मै सीधे उस हिंसात्मक काम की तरफ जा रहा हूँ जिसको बगाल के नौजवानों ने अख्तियार किया था। इससे वह बहुत ही चिन्तित रहते थे, जबकि दरअसल मेरा आकर्षण उस तरफ था नही। हॉ, यह खयाल मुझे हर वक्त घेरे रहता था कि हमे मौजूदा हालत को चुपचाप बरदाश्त नही करना चाहिए और कुछ-न-कुछ करना जरूर चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी काम को सफल करना बहुत आसान नही दिखायी देता था। लेकिन मै यह महसूस करता था कि स्वाभिमान और स्वदेशा-

भिमान दोनो ही यह चाहते हैं कि विदेशी हुकूमत के खिलाफ अधिक लडाकू और आक्रामक रवैया अख्तियार किया जाय। पिताजी खुद माडरेटो की विचार-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उनके मन के भीतर द्वन्द्व-युद्ध मच रहा था। वह इतने हठी थे कि जबतक इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो जाय कि ऐसा करने के अलावा और कोई चारा नही, तबतक वह एक स्थिति को छोडकर दूसरी को कभी नही अपनाते। आगे रखे जानेवाले हरेक कदम के मानी यह थे कि उनके मन मे कठिन और कठोर द्वन्द्व हो, लेकिन अपने मन से इस तरह लडने के बाद जब वह कोई कदम आगे रख देते थे तब फिर पीछे पैर नही हटाते थे। उन्होने आगे जो कदम बढाया, वह किसी उत्साह के झोके मे नही, बल्कि बौद्धिक विश्वास के फलस्वरूप, और एक बार आगे कदम रख देने के बाद उनका सारा अभिमान उन्हे पीछे मुडकर देखने से भी रोकता था।

उनकी राजनीति मे बाह्य परिवर्तन मिसेज बेसेण्ट की नजरबन्दी के वक्त से आया और तबसे वह कदम-ब-कदम आगे ही बढते गये और अपने माडरेट दोस्तो को पीछे छोडते गये। अन्त मे १९१९ मे पजाब मे जो दुखान्त काण्ड हुआ उसने उन्हे हमेशा के लिए अपने पुराने जीवन और अपने पेशे से अलग काट फेका, और उन्होने गाधीजी के चलाये नये आन्दोलन के साथ अपने भाग्य की बागडोर बाँध दी।

लेकिन यह बात तो आगे जाकर होने को थी और १९१५ से १९१७ तक तो वह यह तय ही नही कर पाये कि क्या करना चाहिए। एक तो उनके अपने मन मे तरह-तरह की शकाये उठ रही थी, दूसरे वह मेरी वजह से चिन्तित थे। इसलिए वह उन दिनो के सार्वजनिक प्रश्नो पर शान्ति-पूर्वक बातचीत नही कर सकते थे। अक्सर यह होता था कि बातचीत मे वह नाराज हो जाते और हमे बात जहाँ-की-तहाँ खतम कर देनी पडती।

मै गाधीजी से पहले-पहल १९१६ मे बडे दिन की छुट्टियो मे लखनऊ-काग्रेस मे मिला। दक्षिण अफ्रीका मे उनकी बहादुराना लडाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ करते थे, लेकिन हम नौजवानो मे बहुतो को वह बहुत दूर और अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होते

थे। उन दिनो उन्होंने काग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति मे भाग लेने से इन्कार कर दिया था, और अपनेको प्रवासी भारतीयो के मसले की सीमा तक बाँध रखा था। इसके बाद ही चम्पारन मे निलहे गोरो के कारण होनेवाले किसानो के दु ख दूर करने मे उन्होंने जैसा साहस दिखाया और उस मामले मे उनकी जो जीत हुई, उससे हम लोग उत्साह से भर गये। हम लोगो ने देखा कि वह हिन्दुस्तान मे भी अपने इस तरीके से काम लेने को तैयार है और उनसे सफलता की भी आशा होती थी।

लखनऊ-काग्रेस के बाद उन दिनो इलाहाबाद मे सरोजिनी नायडू ने जो कई बढिया भाषण दिये, उनसे भी, मुझे याद है, मेरा दिल हिल उठता था। वे भाषण शुरू से आखिर तक राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से सराबोर होते थे और उन दिनो मै विशुद्ध राष्ट्रीयता-वादी था। मेरे कालेज के दिनो के गोलगोल साम्यवादी भाव पीछे जा छिपे थे। १९१६ मे रोजर केसमेन्ट[1] ने अपने मुकदमे मे जो आश्चर्यजनक भाषण दिया उसने हमे यह बताया कि गुलाम जातिवालो के भाव कैसे होने चाहिएँ? आयर्लैण्ड मे ईस्टर के दिनो मे जो बगावत हुई उसकी

१—रोजर केसमेंट एक समय ब्रिटिश सरकार के उपनिवेशो में उच्च पद पर था। दक्षिण अमेरिका के पुटुमायो में एंग्लो-पेरूवियन रबर कम्पनी ने वहाँके निवासियो पर जो जुल्म किये थे उनकी जाँच करने के लिए १९१० में इसकी नियुक्ति की गयी थी और उसकी रिपोर्ट से बडी सनसनी फैली थी। इसके बाद यह ब्रिटिश साम्राज्य का कट्टर शत्रु बन गया। महायुद्ध में भाग लेने के लिए, उसने अपने आयरिश भाइयो से अनुरोध किया। नवंबर १९१४ में बर्लिन गया और वहाँ जर्मन सरकार के साथ ब्रिटिश के खिलाफ सुलह की। आयर्लैण्ड में १९१६ के ईस्टर सप्ताह में बलवे की तैयारी की बारह अप्रैल को जर्मनी से जहाज में गोला-बारूद भरकर आयर्लैंड के किनारे उतरा। जहाज और वह खुद दोनों पकडे गये। 'राज्य के शत्रु' होने का इल्जाम इसपर लगाया गया और तीन अगस्त को उसे फाँसी की सजा दी गयी।

विफलता ने भी हमें अपनी तरफ खीचा, क्योंकि जो निश्चित विफलता पर हँसता हुआ ससार के सामने यह ऐलान करता है कि एक राष्ट्र की अजेय आत्मा को कोई भी शारीरिक शक्ति नही कुचल सकती वह सच्चा साहस नही था, तो क्या था ?

उन दिनो ये ही मेरे भाव थे। परन्तु नयी किताबो के पढने से मेरे दिमाग मे साम्यवादी विचारो के अगारे भी फिर जलने लगे थे। उन दिनो वे भाव अस्पष्ट थे। उतने वैज्ञानिक नही थे जितने दयापूर्ण और हवाई। युद्धकाल मे तथा उसके बाद भी मुझे वर्ट्रैन्ड रसल[1] के लेख तथा ग्रथ बहुत पसन्द आते थे।

इन विचारो और इच्छाओ से मेरे मन का भीतरी सघर्प तथा अपने वकालत के पेशे के प्रति मेरा असन्तोप और भी बढ गया। यो मै उसे चलाता रहा, क्योकि उसके सिवा मै करता भी क्या ? लेकिन मै अधिकाधिक यह महसूस करने लगा कि एक ओर खास तौर पर आक्रामक ढग का सार्वजनिक कार्य, जो मुझे पसन्द है, और दूसरी तरफ यह वकालत का पेशा, दोनो एक साथ निभ नही सकते। सवाल सिद्धान्त का नही, समय और शक्ति का था। न जाने क्यो कलकत्ता के नामी वकील सर रासबिहारी घोप मुझसे बहुत खुश थे। वह मुझे इस विपय मे बहुत नेक सलाह दिया करते थे। खासतौर पर उन्होने मुझे यह सलाह दी कि मै पसन्द के किसी कानूनी विपय पर एक किताब लिखूँ, क्योकि उनका कहना था कि जूनियर वकील के लिए अपने को 'ट्रेन' करने का यही सबसे अच्छा रास्ता है। उन्होने यह भी कहा कि इस किताब के लिखने मे मै तुम्हे विचारो की भी मदद दूँगा और उस किताब का सशोधन भी कर दूँगा। लेकिन मेरे वकीली जीवन मे उनकी यह दिलचस्पी बेकार थी, क्योकि मेरे लिए इससे ज्यादा अखरनेवाली और कोई चीज नही हो सकती थी कि मै कानूनी किताब लिखने मे अपना समय और शक्ति बरबाद करूँ।

---

१ लार्ड-पद छोडकर समाजवाद का प्रचार करनेवाला अंग्रेज अध्यापक और समर्थ लेखक। महायुद्ध में युद्धनीतियो का विरोध करने के लिए इसने सजा भी पायी थी। अनु०

बुढापे मे सर रासबिहारी बहुत ही चिडचिडे हो गये थे। फौरन ही उन्हे गुस्सा आ जाता था, जिससे उनके जूनियरो पर उनका बडा आतक-सा रहता था। लेकिन मुझे वह फिर भी अच्छे लगते थे। उनकी कमियाँ और कमजोरियाँ भी बिलकुल अनाकर्षक नही मालूम होती थी। एक मर्त्तबा मै और पिताजी शिमला मे उनके मेहमान थे। मेरा खयाल है कि यह १९१८ की बात है, ठीक उस समय की जब माण्टेगू-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट छपकर आयी थी। उन्होने एक दिन शाम को कुछ मित्रो को खाने के लिए बुलाया और उनमे खापर्डे साहब भी थे। खाना खाने के बाद सर रासबिहारी और खापर्डे आपस मे जोर-जोर से बाते तथा एक दूसरे पर हमला करने लगे, क्योकि वह राजनीति मे भिन्न-भिन्न फिरको के थे। सर रासबिहारी घुटे हुए माडरेट थे और खापर्डे उन दिनो प्रमुख तिलक-शिष्य माने जाते थे, यद्यपि पीछे जाकर वे कपोत की तरह कोमल और माडरेटो के लिए भी अत्यधिक माडरेट हो गये। खापर्डे ने गोखले की आलोचना शुरू की। कुछ साल पहले ही गोखले का देहान्त हो चुका था। खापर्डे कहने लगे कि गोखले ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट थे और उन्होने लन्दन मे मेरे ऊपर भेदिये का काम किया। सर रासबिहारी इसे कैसे बरदास्त कर सकते थे? वह बिगडकर बोले कि गोखले एक पुरुषोत्तम थे और मेरे खास मित्र थे। मै किसी को उनके खिलाफ एक भी शब्द नही कहने दूँगा। तब खापर्डे श्रीनिवास शास्त्री की बुराई करने लगे। सर रासबिहारी को यह भी अच्छा तो नही लगा लेकिन उन्होने कोई नाराजगी नही दिखलायी। जाहिर है कि वह शास्त्री के उतने प्रशसक नही थे जितने गोखले के। यहाँतक कि उन्होने यह कहा कि जबतक गोखले जीवित थे मै रुपये-पैसे से भारत-सेवक-समिति की मदद करता था, लेकिन उनकी मौत के बाद मैने रुपया देना बन्द कर दिया है। इसके बाद खापर्डे उनके मुकाबिले मे तिलक की तारीफ करने लगे। बोले, "तिलक निस्सन्देह महापुरुष, एक आश्चर्यजनक पुरुष, महात्मा है।" "महात्मा!" रासबिहारी बोले—"मुझे महात्माओ से चिढ है। मै उनसे कोई वास्ता नही रखना चाहता।"

: ६ :

हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ मे, दिल्ली मे, वसन्त-पचमी को हुई थी। उस साल गरमी मे हमने कुछ महीने कश्मीर मे विताये। मैने अपने परिवार को तो श्रीनगर की घाटी मे छोड़ दिया, और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ्ते तक पहाडो मे घूमता रहा, तथा लद्दाख रोड तक बढ़ता चला गया।

ससार के उच्च प्रदेश में उन सकीर्ण और निर्जन घाटियो मे, जो कि तिब्बत के मैदान की तरफ ले जाती है, घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था, जोजी-ला घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ नीचे की ओर पहाड़ो की घनी हरियाली थी, और दूसरी तरफ खाली कडी शिला की चट्टान। हम उस घाटी की सँकडी तह के ऊपर चढते चले गये, जिसके दोनो ओर पहाड है। एक तरफ वरफ से ढकी हुई चोटियाँ चमक रही थी, और उनमे से छोटे-छोटे ग्लेश्यर—हिमसरोवर—हमसे मिलने के लिए, नीचे को रेग रहे थे। हवा ठडी और कटीली थी, लेकिन दिन मे धूप अच्छी पड़ती थी और हवा इतनी साफ थी कि अक्सर हमे चीजो की दूरी के वारे मे भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थी, हम उन्हे उससे वहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन वढता गया, पेडो और वनस्पतियो तक ने हमारा साथ छोड़ दिया—सिर्फ नगी चट्टान और वरफ और पाला और कभी-कभी कुछ खुशनुमा फूल रह गये। फिर भी प्रकृति के इन जगली और सुनसान निवासो मे मुझे अजीव सन्तोष मिला। मेरे उत्साह और उमग का ठिकाना न था।

इस यात्रा मे मुझे एक वडा दिल को कँपा देनेवाला अनुभव हुआ। जोजी-ला घाटी से आगे सफर करते हुए एक जगह, जो मेरे खयाल मे मातायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहाँ से

सिर्फ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच मे बुरी तरह हिम व बरफ से ढका हुआ एक बडा पहाड पडता था, जिसे पार करना था। लेकिन उससे क्या ? आठ मील होते ही क्या है ? जोश खूब था और तजुरबे नदारद। हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ग्यारह हजार पाच सौ फीट की ऊँचाई पर थे, छोड दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड पर चढने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ वहाँ का एक गडरिया था।

हम लोगो ने रस्सियो के सहारे कई बरफीली-नदियो को पार किया। हमारी मुश्किले बढती गयी तथा साँस लेने मे भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ सामान उठानेवालो के मुहँ से खून निकलने लगा, हालाँकि उनपर बहुत बोझ नही था। इधर बर्फ पडने लगी और बर्फीली नदियाँ भयानक रूप से रपटीली हो गयी। हमलोग बुरी तरह थक गये और एक-एक कदम आगे बढने के लिए खास कोशिश करनी पडती थी। लेकिन फिर भी हम यह मूर्खता करते ही गये। हमने अपना खीमा सुबह चार बजे छोडा था और बारह घटे तक लगातार चढते रहने के बाद एक सुविशाल हिम-सरोवर देखने का पुरस्कार मिला। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उसके चारो ओर बरफ से ढकी हुई पर्वत-चोटियाँ थी। मानो देवताओ का मुकुट अथवा अर्द्धचन्द्र हो। परन्तु ताजा बरफ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आँखो से ओझल कर दिया। पता नही कि हम कितनी ऊँचाई पर थे, लेकिन मेरा खयाल है कि हमलोग कोई पन्द्रह-सोलह हजार फीट ऊँचाई पर जरूर होगे, क्योकि हम अमरनाथ की गुफा से बहुत ऊँचे थे। अब हमे इस हिम-सरोवर को, जो सम्भवत आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ नीचे गुफा को जाना था। हमलोगो ने सोचा कि चढाई खत्म होने से हमारी मुश्किले भी खत्म हो गयी होगी, इसलिए बहुत थके होने पर भी हमलोगो ने हँसते हुए यात्रा की यह मजिल भी तय करनी शुरू की। इसमे बडा धोखा था, क्योकि वहाँ दरारे बहुत-सी थी और ताजी गिरनेवाली बरफ खतरनाक दरारो को ढक देती थी। इस नये बर्फ ने ही मेरा करीब-करीब खात्मा कर दिया होता, क्योकि मैने ज्योही उसके ऊपर पैर रखा,

वह नीचे को धसक गयी और मै धम्म से एक विशाल दरार मे, जो मुहँ बायें हुए थी, जा गिरा। यह दरार बहुत बडी थी और कोई भी चीज उसमे बिलकुल नीचे पहुँचकर हजारो वर्ष बाद तक भूगर्भशास्त्रियो की खोज के लिए इत्मीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी। लेकिन मेरे हाथ से रस्सी नही छूटी और मै दरार की बाजू को पकडे रहा और ऊपर खीच लिया गया। इस घटना से हमलोगो के होश तो ढीले हो गये थे, पर फिर भी हमलोग आगे चलते ही गये। लेकिन दरारो की तादाद और उनकी चौडाई आगे जाकर और भी बढ गयी। इनमे से कुछ को पार करने के कोई साधन भी हमारे पास न थे, इसलिए अन्त मे हम लोग थके-माँदे हताश हो लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफा अनदेखी ही रह गयी।

कश्मीर के पहाडो तथा ऊँची-ऊँची घाटियो ने मुझे ऐसा मुग्ध कर लिया कि मैने एक बार फिर वहाँ जाने का सकल्प किया। मैने कई योजनाये सोची, और कई यात्राओ के मनसूबे बाँधे और उनमे से एक के तो खयाल ही से मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। वह थी तिब्बत की अलौकिक झील मानसरोवर और उसके पास का हिमाच्छादित कैलास। यह अठारह बरस पहले की बात है और मै आज भी कैलास तथा मानसरोवर से उतना ही दूर हूँ जितना पहले था। मै फिर कश्मीर न जा सका, हालाँकि वहाँ जाने की मेरी बहुत ख्वाहिश रही। लेकिन मै राजनीति और सार्वजनिक कामो के जजाल मे अधिकाधिक उलझता गया। पहाडो पर चढने या समुद्रो को पार करने के बदले मेरी सैलानी तबीयत को जेलो मे जाकर ही सतोप करना पडा। लेकिन अब भी मै वहाँ जाने के मनसूबे गढा करता हूँ क्योकि वह तो एक ऐसे आनन्द की बात है जिसे कोई जेल मे भी नही रोक सकता। और इसके अलावा जेलो मे ये स्कीमे सोचने के सिवा और कोई करे भी क्या? अत मै उस दिन का स्वप्न देख रहा हूँ जब मै हिमालय पर चढकर उसे पार करूँगा और उस झील तथा कैलास के दर्शन करके अपना मनोरथ पूरा करूँगा। परन्तु इस बीच मे जीवन की घडियाँ दौडती जा रही है, जवानी अधेडपन मे

तबदील हो रही है और कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि मैं इतना बूढ़ा हो जाऊँगा कि कैलास और मानसरोवर जा ही न सकूँगा। परन्तु यद्यपि यात्रा का अन्त न भी दिखायी दे, तब भी यात्रा करने मे हमेशा आनन्द ही आता है।

मेरे अन्तर्पट पर इन गिरि-शृगो की पडती छाया-
साध्य गुलाबो से रजित है जिनकी भीपण दुर्गमता,
फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलकों पर बैठे अकुलाते,
शात शुभ्र हिम के ये प्यासे, है कैसी पागल ममता।[१]

---

१. वाल्तर दि ला मेयर के एक पद्य का भावानुवाद। —अनु०

: ७ :

गांधीजी मैदान में

सत्याग्रह और अमृतसर

युरोपियन महायुद्ध के अन्त मे हिन्दुस्तान मे एक दबा हुआ जोश फैला हुआ था। कल-कारखाने जगह-जगह फैल गये थे और पूँजीवादी वर्ग धन और सत्ता मे बढ गया था। चोटी पर के मुट्ठीभर लोग मालामाल हो गये थे और उनके जी इस बात के लिए ललचा रहे थे कि बचत की इस दौलत को और भी बढाने के लिए सत्ता और मौके मिले। मगर आम लोग इतने खुशकिस्मत न थे और वे उस बोझे को कम करने की टोह मे थे कि जिसके तले वे कुचले जा रहे थे। मध्यम वर्ग के लोगो मे यह आशा फैल रही थी कि अब शासन-सुधार होगे ही, जिनसे स्वराज के कुछ अधिकार मिलेगे और उसके द्वारा उन्हे अपनी बढती के नये रास्ते मिलेगे। राजनैतिक आन्दोलन, जोकि शातिमय और बिलकुल वैध था कामयाब होता हुआ दिखायी देता था और लोग विश्वास के साथ आत्म-निर्णय और स्वशासन और स्वराज की बाते करते थे। इस अशान्ति के कुछ आसार जनता मे भी, और खासकर किसानो मे भी, दिखायी पडते थे, पजाब के देहाती इलाको मे जबरदस्ती रगरूट भर्ती करने की दुखदायी बाते लोग अभी तक बुरी तरह याद करते थे और कोमागाटा-मारू[1] वाले तथा दूसरे लोगो पर षडयन्त्र के

---

१ कोमा-गाटा-मारूवाली घटना थोडे में इस प्रकार है—कनाडा में एक ऐसा कानून पास हुआ कि सिवा उन लोगो के जो ठेठ कनाडा तक एक ही जहाज में सीधे यात्रा करे, दूसरे किसीको कनाडा में न उतरने दिया जाय। कनाडा से हिन्दुस्तान तक सीधा एक भी जहाज नहीं आता। कनाडा में कई सिक्ख जा बसे है। अतएव उनके लिए इस कानून का यह अर्थ हुआ कि वहाँ बस जानेवाले कोई भी सिक्ख जो

मुकदमे चलाकर जो दमन किया गया था उसने उनकी चारो ओर फैली हुई नाराज़गी को और भी बढा दिया। जगह-जगह लड़ाई के मैदानो से जो सिपाही लौटे थे वे अब पहले जैसे 'जो हुकुम' नही रह गये थे। उनकी जानकारी और अनुभव बढ गया था और उनमे भी बहुत अशान्ति थी।

मुसलमानो मे भी. तुर्किस्तान और खिलाफत के मसले पर जैसा रुख अख़्तियार किया गया उसपर गुस्सा बढ रहा था और आन्दोलन तेज़ हो रहा था। तुर्किस्तान के साथ सुलहनामे पर अभी दस्तखत नही हो चुके थे, मगर ऐसा मालूम होता था कि कुछ बुरा होनेवाला है, सो जहाँ एक ओर वे आन्दोलन कर रहे थे वहाँ दूसरी ओर इन्तज़ार भी कर रहे थे। सारे देशभर मे इन्तजार और आशा की हवा ज़ोरों पर थी, लेकिन उस आशा मे चिन्ता और भय समाये हुए थे। इसके बाद रौलट-बिल[1] का दौर हुआ, जिसमे कानूनी कार्रवाई के बिना भी गिरफ्तार करने और सजा देने की धाराये रक्खी गयी थी। सारे हिन्दुस्तान मे चारो ओर उठे हुए क्रोध की लहर ने उनका स्वागत किया था। यहाँ तक कि

यहाँ थोड़े दिन के लिए आये हो, वापस कनाडा नहीं जा सकते, न कनाडा-स्थित कोई सिक्ख हिन्दुस्तान से अपने कुटुम्बियों को ही ले जा सकते थे। इस चुनौती का जवाब देने के लिए १९१५ में बाबा गुरुदत्त सिंह ने 'कोमागाटा-मारू' नामक एक ठेठ कनाडा जानेवाला जहाज़ किराये किया और ६०० सिक्खो को उसमें वहाँ ले गये। इन्हे वहाँ उतरने नही दिया गया। वापस लौटते हुए उन्हे कलकत्ते में बजबज स्टेशन पर उतरकर सीधा पंजाब जाने का हुक्म मिला। इस हुक्म को भंग किया गया और इससे बलवा पैदा हुआ; गोलियाँ चलायी गयीं, कितने ही मारे गये, कइयों पर राजद्रोह और षड्यन्त्र के मुकदमे चले। बाबा गुरुदत्त सिंह वहाँ से भाग निकले और छुपे रहे। १९२१ तक वे इधर-उधर घूमते रहे, फिर गांधीजी से भेंट हुई और उनकी सलाह के अनुसार खुद अपनेको गिरफ्तार करा दिया। १९२२ में वह लाहौर जेल से छूटे। —अनु०

माडरेट लोगो ने भी अपनी पूरी ताकत से उसका विरोध किया था। और सच तो यह है कि हिन्दुस्तान के सब विचार और दल के लोगो ने एक स्वर से उसका विरोध किया था। फिर भी सरकारी अफसरो ने उनको कानून[1] बनवा ही डाला। और खास रिआयत सच पूछो तो यह की गयी कि उनकी मियाद महज तीन वर्ष की रख दी गयी।

पन्द्रह बरस पहले इस बिल के ज़माने पर और इसकी बदौलत जो हलचल मची उसपर ज़रा निगाह दौडाना यहाँ उपयोगी होगा। रौलट-कानून बन तो गया, मगर, जहाँ तक मैं जानता हूँ, अपनी तीन वर्ष की जिन्दगी में वह कभी काम मे नही लाया गया हालाँकि वे तीन साल शान्ति के नही, ऐसे उपद्रव के साल थे, जो १८५७ के गदर के बाद हिन्दुस्तान ने पहले-पहल देखे थे। इस तरह ब्रिटिश सरकार ने लोकमत के घोर विरोधी होते हुए एक ऐसा कानून बनाया, जिसका उसने कुछ उपयोग भी नही किया और बदले मे एक तूफान पैदा कर दिया। इससे यह बहुत-कुछ खयाल किया जा सकता है कि इस कानून को बनाने का उद्देश सिर्फ खलबली मचाना था।

एक और मजेदार बात सुनिए। आज पद्रह साल के बाद ऐसे कितने ही कानून बन गये है जो रोज-ब-रोज बरते भी जाते है और जो रौलट-बिल से भी ज्यादा सख्त है। इन नये कानूनो और आर्डिनेन्सो के मुकाबिले मे, जिनके मातहत हम आज ब्रिटिश हुकूमत की नियामत का आनन्द लूट रहे है, रौलट-बिल तो आजादी का परवाना समझा जा सकता है। हाँ, एक फर्क जरूर है। १९१९ से हमे मॉन्टेगु-चैम्सफोर्ड-योजना नामक स्वराज की एक किस्त मिल चुकी है और अब, सुनते है, एक बडी किस्त और मिलनेवाली है। हम तरक्की जो कर रहे हैं।

१९१९ के शुरू मे गाधीजी एक सख्त बीमारी से उठे थे। रोग-शय्या से उठते ही उन्होने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि वह इस बिल

---

१. एक बिल वापिस लिया गया और दूसरा बिल पास होकर कानून बना। —अनु०

को कानून न बनने दे। इस अपील की उन्होने, दूसरी अपीलो की तरह कोई परवा न की और उस हालत मे, गाधीजी को अपनी तबियत के खिलाफ इस आन्दोलन का अगुआ बनना पडा, जो उनके जीवन मे पहला भारत-व्यापी आन्दोलन था। उन्होने सत्याग्रह-सभा शुरू की, जिसके मेम्बरो से यह प्रतिज्ञा करायी गयी थी कि उनपर लागू किये जाने पर वे रौलट-क़ानून को न मानेगे। दूसरे शब्दो मे उन्हे खुल्लम-खुल्ला और जान-बूझकर जेल जाने की तैयारी करनी थी।

जब मैने अख़बारो मे यह खबर पढी तो मुझे बडी तसल्ली हुई। आखिर इस उलझन से एक रास्ता मिला तो। वार करने के लिए एक हथियार तो मिला जो सीधा, खुला और बहुत करके राम-बाण था। मेरे उत्साह का पार न रहा और मै फौरन ही सत्याग्रह-सभा मे सम्मिलित होना चाहता था। लेकिन मैने उसके नतीजे पर—कानून तोडना, जेल जाना वगैरा पर—शायद ही गौर किया हो और अगर मैने गौर किया भी होता तो मुझे उनकी परवा न होती। मगर एकाएक मेरे सारे उत्साह पर पाला पड गया और मैने समझ लिया कि मेरा रास्ता आसान नही है, क्योकि पिताजी इस नये ख़याल के घोर विरोधी थे। वह नये-नये प्रस्तावो के बहाव मे बह जानेवाले न थे। कोई नया कदम आगे बढाने के पहले वह उसके नतीजे को बहुत अच्छी तरह सोच लिया करते थे और जितना ही ज्यादा उन्होने सत्याग्रह के प्रश्न और उसके प्रोग्राम के बारे मे सोचा उतना ही कम वह उन्हे जँचा। थोडे-से लोगो के जेल जाने से क्या फायदा होगा? उससे सरकार पर क्या असर होगा और क्या दबाव पडेगा? इन आम बातो के अलावा असल बात तो थी हमारा जाती सवाल। उन्हे यह बात बहुत बेहूदा दिखायी देती थी कि मै जेल जाऊँ। जेल जाने का सिलसिला अभी पडा नही था और यह ख़याल ही उनको बहुत नागवार मालूम होता था। पिताजी अपने बच्चो से बहुत ही मुहब्बत रखते थे। यद्यपि वह प्रेम का दिखावा नही करते थे, तो भी उनके अन्दर प्रेम बहुत छिपा रहता था।

बहुत दिनो तक मानसिक सघर्ष चलता रहा और चूँकि हम दोनों

जानते थे कि यह बडी-बडी बाजियाँ लगाने का सवाल है, जिसमे हमारे सारे जीवन मे बडी उथल-पुथल होने की सम्भावना है, दोनो ने इस बात की कोशिश की कि जहाँतक हो सके एक दूसरे की भावनाओ और बातो का खयाल रखे। मै चाहता था कि जहाँतक हो सके कोशिश करूँ कि उनको तकलीफ न उठानी पडे। मगर मुझे अपने दिल मे यकीन हो गया था कि मुझे जाना तो सत्याग्रह के ही रास्ते है। हम दोनो के लिए वह मुसीबत का समय था और कई राते मैने अकेले बडी चिन्ता और बेचैनी मे काटी। मै सोचता रहता कि इसमे से कोई रास्ता निकले। बाद को मुझे मालूम हुआ कि पिताजी रात को सचमुच फर्श पर सोकर खुद यह अनुभव कर लेना चाहते थे कि जेल मे मेरी क्या गति होगी, क्योकि उनके खयाल मे मुझे आगे-पीछे जेल जरूर जाना पडेगा।

पिताजी ने गाधीजी को बुलाया और वह इलाहाबाद आये। दोनो की बडी देर तक बाते होती रही। उस समय मै मौजूद न था। इसका नतीजा यह हुआ कि गाधीजी ने मुझे सलाह दी कि जल्दी न करो और ऐसा काम न करो जो पिताजी को नागवार हो। मुझे इससे दुख ही हुआ, मगर उसी समय देश म ऐसी घटनाये घट गयी जिनसे सारी हालत ही बदल गयी, और सत्याग्रह-सभा ने अपनी कार्रवाई बन्द कर दी।

सत्याग्रह-दिवस—सारे हिन्दुस्तान मे हडताले और तमाम काम-काज बन्द—दिल्ली अमृतसर और अहमदाबाद मे पुलिस और फौज का गोली चलाना और बहुत से आदमियो का मारा जाना—अमृतसर और अहमदाबाद मे भीड के द्वारा हिसा-काण्ड हो जाना—जालियाँवाला-बाग का हत्या-काण्ड—पजाब मे फौजी कानून के भीषण अपमानजनक और जी दहलानेवाले कारनामे। पजाब मानो दूसरे प्रातो से अलग काट दिया गया हो, उसपर मानो एक गहरा परदा पड गया था जिससे बाहरी दुनिया की आँखे उसतक नही पहुँच पाती थी। वहाँसे मुश्किल से कोई खबर मिलती थी, और कोई वहाँ न जा सकता था, न वहाँ से आ ही सकता था।

कोई इक्का-दुक्का जो किसी तरह उस नरक-कुड मे बाहर आ

पहुँचता था तो वह इतना भयभीत हो जाता था कि साफ-साफ हाल नही बता सकता था। हमलोग जो कि बाहर थे, असहाय और असमर्थ थे, छोटी-बडी खबर का इन्तजार करते रहते थे और हमारे दिल मे कटुता भरती जा रही थी। हममे से कुछ लोग फौजी कानून की परवा न करके खुल्लमखुल्ला पजाब के उन हिस्सो मे जाना चाहते थे, लेकिन हमे ऐसा नही करने दिया गया और इस दर्मियान काग्रेस की तरफ से दुखियो और पीडितो को सहायता पहुँचाने तथा जॉच करने के लिए एक बडा सगठन बनाया गया।

ज्योही खास-खास जगहो से फौजी कानून वापस लिया गया और बाहरवालो को जाने की छुट्टी मिली, मुख्य-मुख्य काग्रेसी और दूसरे लोग पजाब मे जा पहुँचे और सहायता तथा जॉच[1] के काम मे अपनी सेवाये अर्पित की। पीडितो की सहायता का काम मुख्यत पण्डित मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्दजी की देखभाल मे होता था और जॉच का काम मुख्यत पिताजी और देशबन्धु दास की देख-रेख मे। गाधीजी उसमे बहुत दिलचस्पी ले रहे थे और दूसरे लोग अक्सर उनसे सलाह-मशवरा लिया करते थे। देशबन्धु दास ने अमृतसर का हिस्सा खास तौर पर अपनी तरफ लिया और वहाँ मै उनके साथ उनकी सहायता के लिए तैनात किया गया। मुझे वह पहला मौका था उनके साथ और उनके नीचे काम करने का। वह अनुभव मेरे लिए बडा कीमती था और इससे उनके प्रति मेरा आदर बढा। जालियाँवाला-

---

१ सरकार-नियुक्त हण्टर-कमेटी से असहयोग क्यो किया गया, इसका हाल 'कॉग्रेस इतिहास' में पढ़िए। इसके बाद कांग्रेस ने खुद अपनी जॉच-कमिटी बैठायी। कमिटी के सदस्य थे—गांधीजी, पडित मोतीलालजी, देशबन्धु दास, अब्बास तैयबजी, फजलुलहक और श्री सन्तानम्। पं० मोतीलालजी अमृतसर महासभा के सभापति चुने गये। तब श्री जयकर ने कमिटी में उनका स्थान लिया। कमिटी की रिपोर्ट का सारा मसविदा गॉधीजी ने बनाया था। —अनु०

वाग मे और उस भयकर गली से जिसमे लोगो को पेट के वल रेगाया गया था, सम्वन्ध रखनेवाले वयान, जो वाद को काग्रेस-जाँच-रिपोर्ट मे छपे थे, हमारे सामने लिये गये थे। हमने कई वार खुद जाकर उस वाग को देखा था और उसकी हर चीज की जाँच वडे गौर से की थी।

यह कहा गया था, मै समझता हूँ, मि० एडवर्ड थामसन के द्वारा, कि जनरल डायर का यह खयाल था कि वाग से निकलने के दूसरे दरवाजे भी थे और यही कारण है जो उसने इतनी देर तक गोलियाँ जारी रक्खी। यदि डायर का यही खयाल थ और दरअसल उसमे दरवाजा रहा होता, तो भी इससे उसकी जिम्मेदारी कम नही हो जाती। मगर यह ताज्जुव की वात मालूम होती है कि उसे ऐसा खयाल रहा। कोई शख्स इतनी ऊँची जगह पर खडा होकर, जहाँ कि वह खडा था, उस सारी जगह को अच्छी तरह देख सकता था कि वह किस तरह चारो ओर से वडे ऊँचे-ऊँचे मकानो से घिरी हुई और वन्द है। सिर्फ एक तरफ कोई सौ फीट के करीव कोई मकान न था, महज पाँच फीट ऊँची दीवार थी। गोलियाँ तडा-तड चल रही थी और लोग चट-पट मर रहे थे। जव उन्हे कोई रास्ता नही सूझ पडा तो हजारो आदमी उस दीवार की ओर झपटे और उसपर चढने की कोशिश करने लगे। तव गोलियाँ उस दीवार की ओर निशाना लगाकर चलायी गयी—जैसा कि हमारे वयानात तथा दीवार पर लगे गोलियो के निशानात से मालूम होता है—ताकि कोई उसपर से चढकर भाग न सके। और जव यह सव खतम हो चुका, तो क्या देखा गया कि मुर्दो और घायलो के ढेर दीवार के दोनो ओर पडे हुए थे।

उस साल (१९१९) के अखीर मे मै अमृतसर से देहली को रात की गाडी से रवाना हुआ था। जिस डिव्वे मे मै चढा उसकी तमाम जगहे भरी हुई थी, सिर्फ ऊपर एक 'वर्थ' खाली थी। सव मुसाफिर सो रहे थे। मैने उस खाली वर्थ को ले लिया। दूसरे दिन सुवह मुझे मालूम हुआ कि वे तमाम मुसाफिर फौजी अफसर थे। वे आपस में जोर-जोर से वाते कर रहे थे, जो मेरे कानो तक आ ही पहुँचती थी। उनमे से एक वडी

तेजी के साथ, मगर विजय के घमण्ड मे, बोल रहा था और फौरन ही मै समझ गया कि यह वही जालियाँवाला-बाग के 'बहादुर' मि० डायर है। वह अपने अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। उसने बताया कि कैसे सारा शहर उसकी दया के भरोसे हो रहा था। उसने सोचा, एक बार इस सारे बागी शहर को खाक मे मिला दूँ। मगर कहा, कि फिर मुझे रहम आ गया और मै रुक गया। हण्टर-कमिटी मे अपना बयान देकर वह लाहौर से वापस आ रहा था। उसकी बातचीत और उसकी सगदिली को देखकर मेरे दिल को बडा धक्का लगा—वह देहली स्टेशन पर उतरा तो गहरी गुलाबी धारियोवाला पायजामा और ड्रेसिग-गाउन पहने हुए था।

पजाब-जॉच के जमाने मे मुझे गाधीजी को बहुत-कुछ समझने का मौका मिला। बहुत बार उनके प्रस्ताव कमिटी को अजीब मालूम होते थे और कमिटी उन्हे पसन्द नही करती थी। मगर करीब-करीब हमेशा अपनी दलीलो से कमिटी को वह समझा लिया करते थे और कमिटी उन्हे मजूर कर लिया करती थी। और बाद की घटनाओ से मालूम हुआ कि उनकी सलाह मे दूरदेशी थी। तबसे उनकी राजनैतिक अतर्दृष्टि मे मेरी श्रद्धा बढती गयी।

पजाब की दुर्घटनाओ और उनकी जॉच के कार्य का मेरे पिताजी पर जबरदस्त असर हुआ। उनकी तमाम कानूनी और वैधानिक बुनियाद उसके द्वारा हिल गयी थी ओर उनका मन उस परिवर्तन के लिए धीरे-धीरे तैयार हो रहा था, जो एक साल बाद आने वाला था। अपनी पुरानी माडरेट स्थिति से वह पहले ही बहुत-कुछ आगे बढ चुके थे। उन दिनो इलाहाबाद से नरम दल का अखबार 'लीडर' निकल रहा था, उससे उनको सतोष नही था और उन्होने १९१९ मे 'इण्डिपेण्डेण्ट' नाम का दैनिक पत्र इलाहाबाद से निकाला। यो तो इस अखबार को बडी सफलता मिली, लेकिन शुरू से ही उसमे एक बात की बडी कमी रही। उसका प्रबन्ध अच्छा नही था। उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी—क्या डाइरेक्टर, क्या सम्पादक और क्या प्रबन्ध-विभाग के लोगों—पर इस कमी की जिम्मेदारी आती है। मै खुद भी एक डाइरेक्टर था, मगर इस

काम का मुझे कुछ भी तजुरबा न था। और उसके ग्गडे-झगडो की चिन्ता से मै दिन-रात परेशान रहता था मुझे और पिताजी दोनो को जॉच के सिलसिले मे पजाब जाना और ठहरना पडा था। हमारी लम्बी गैरहाजिरी मे पत्र की हालत बहुत गिर गयी और उसकी माली हालत भी बहुत बिगड गयी। उस हालत से वह कभी उभर न सका। हालाँकि १९२०-२१ मे उसकी हालत बीच-बीच मे कुछ बेहतर हो जाती थी, लेकिन ज्यो ही हम जेल गये उसकी हालत अबतर होने लगी। आखिर १९२३ के शुरू मे उसकी जिन्दगी खतम हो गयी। अखबार के मालिक बनने के इस अनुभव ने मुझे इतना भयभीत कर दिया कि उसके बाद से मैने किसी अखबार का डाइरेक्टर बनने की जिम्मेदारी नही ली। हॉ, जेल मे तथा बाहर और-और कामो मे लगे रहने के कारण ही मै ऐसा न कर सकता था।

१९१९ के बडे दिनो मे पिताजी अमृतसर-काग्रेस के सभापति हुए। उन्होने माडरेट नेताओ के नाम एक दिल हिला देनेवाली अपील की, कि वे अमृतसर के अधिवेशन मे शामिल हो। चूँकि फौजी-कानून की वजह से एक नयी हालत पैदा हो गयी थी, उन्होने लिखा—'पजाब का जख्मी और पीडित दिल आपको बुला रहा है। क्या आप उसकी पुकार न सुनेगे ?' मगर उन्होने उसका वैसा जवाब नही दिया जैसा कि वह चाहते थे। वे लोग शामिल नही हुए। उनकी आँखे उन नये सुधारो की ओर लगी हुई थी जो माण्टेगु-चैम्सफोर्ड सिफारिशो के फल-स्वरूप आने वाले थे। उनके इनकार कर देने से पिताजी के दिल को बडा सदमा पहुँचा और इससे उनके और माडरेटो के दिल की खाई और चौडी हो गयी।

अमृतसर-काग्रेस पहली गाधी-काग्रेस हुई। लोकमान्य तिलक भी आये थे और उन्होने उसकी कार्रवाई मे प्रमुख भाग लिया था। मगर इसमे कुछ शक नही कि प्रतिनिधियो मे अधिकाश और इससे भी ज्यादा बाहर की भीड मे ज्यादातर लोग अगुवा बनने लिए गाधीजी की ओर देख रहे थे। हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज मे 'महात्मा गाधी की

जयकी आवाज़ बुलन्द हो रही थी। अली-बन्धु हाल ही नजरबन्दी से छूटे थे और सीधे अमृतसर-काग्रेस मे आये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन एक नया रूप धारण कर रहा था और उसकी नयी नीति निर्माण हो रही थी।

शीघ्र ही मौलाना मुहम्मदअली खिलाफत-डेपूटेशन मे यूरप चले गये। इधर हिन्दुस्तान मे खिलाफत-कमिटी दिन-पर-दिन गाधीजी के असर मे आने लगी और उसके अहिसात्मक असहयोग के विचारो से नाता जोडने की फिराक मे थी। दिल्ली मे जनवरी १९२० मे खिलाफत के नेताओ और मौलवियो और उलेमाओ की एक शुरू-शुरू की मीटिग मुझे याद है। ख़िलाफत-डेपुटेशन वाइसराय से मिलने जानेवाला था और गाधीजी भी साथ जानेवाले थे। उनके देहली पहुँचने के पहले, जो एड्रेस वाइसराय को दिया जानेवाला था, उसका मसविदा उन्हे रिवाज के मुताबिक भेजा जा चुका था। जब गाधीजी पहुँचे और उन्होने उसका मजमून पढा, तो उसे नापसन्द किया और यह भी कहा कि अगर इसमे बहुत-कुछ रद्दोबदल नही किया गया, तो मै डेपूटेशन मे शरीक न हो सकूँगा। उनका ऐतराज यह था कि इस मजमून मे गोल-मोल बाते कही गयी है। इसमे शब्द तो बहुत है, मगर यह साफ तौर पर नही कहा गया कि मुसलमानो की कम-से-कम माँगे क्या है। उन्होंने कहा कि इससे न तो बादशाह के साथ इन्साफ होता है और न ब्रिटिश-सरकार के साथ, न लोगो के साथ, न अपने साथ। उन्हे बढी-चढी माँगे पेश न करनी चाहिएँ जिनपर वे अडना न चाहते हो। मगर छोटी-से-छोटी माँग बिलकुल साफ शब्दो मे हो, जिसमे किसी प्रकार शक-शुबह न हो और फिर मरने तक उसपर डटे रहो। अगर आप लोग सचमुच कुछ किया चाहते हो तो यही सच्चा और सही राजमार्ग है।

यह दलील हिन्दुस्तान के राजनैतिक और दूसरे हलको मे एक नयी चीज थी। हम लोग बढी-चढी और गोल-मोल बाते और लच्छेदार भाषा के आदी थे और दिमाग मे हमेशा सौदा करने की तजवीजे चला करती थी। आखिर गाधीजी की बात कायम रही और उन्होंने वाइसराय के

प्राइवेट-सेक्रेटरी को पत्र लिखा, जिसमे बताया कि पिछले मज़मून मे क्या ख़ामियाँ है और वह किस तरह गोल-मोल है और कुछ नया मजमून भी अपनी तरफ से भेजा जो उसमे जोड़ा जानेवाला था। इसमे उन्होने कम-से-कम माँग पेश की थी। वाइसराय का जवाब दिलचस्प था। उन्होने नये मजमून का जोड़ा जाना मजूर नही किया और कहा कि मेरी राय मे पहला मज़मून ही बिलकुल ठीक है। गाधीजी ने सोचा कि इस चिट्ठी-पत्री से उनकी और खिलाफत कमिटी की स्थिति साफ हो जाती है और वह डैपुटेशन के साथ चले गये।

यह जाहिर था कि सरकार खिलाफत-कमिटी की माँगे मजूर नही करेगी और लड़ाई छिड़े बिना न रहेगी। अब मौलवियो और उलेमाओं मे देर-देर तक बाते होती रहती। अहिंसात्मक असहयोग पर और खास कर अहिसा पर चर्चा होती रहती। गाधीजी ने उनसे कह दिया कि मै अगुवा बनने के लिए तैयार हूँ, मगर शर्त यह है कि आप लोग अहिसा को उसके पूरे मानी मे अपना ले। इसके बारे मे कोई कमजोरी, लाग-लपट और छिपावट मन मे न होनी चाहिए। मौलवियो के लिए इस चीज को मान लेना आसान न था। लेकिन वे रजामन्द हो गये। हाँ, उन्होने यह अलबत्ता साफ कर दिया कि वे इसे धर्म के तौर पर नही बल्कि तात्कालिक नीति के तौर पर मानेगे, क्योंकि हमारे मजहब मे नेक काम के लिए तलवार उठाना मना नही है।

१९२० मे राजनैजिक और खिलाफत-आन्दोलन दोनो एक ही दिशा मे और एकसाथ चले और काग्रेस के द्वारा गाधीजी के अहिंसात्मक असहयोग के मजूर कर लिये जाने पर आखिर दोनो एकसाथ मिल गये। पहले खिलाफत कमिटी ने उस कार्य-क्रम को अपनाया और १ अगस्त लड़ाई जारी करने का दिन मुकर्रर हुआ।

उस साल के शुरू मे मुसल्मानो की मीटिंग (मै समझता हूँ कि मुस्लिम-लीग की कौंसिल होगी) इलाहाबाद मे सैयद रज़ाअली के मकान मे इस कार्य-क्रम पर विचार करने के लिए हुई। मौलाना मुहम्मदअली तो यूरप थे, मगर मौलाना शौकतअली उसमे मौजूद थे। मुझे उस सभा

की याद है, क्योकि मे उससे बहुत नाउम्मीद हुआ था। हाँ, शौकतअली अलबत्ता उत्साह मे थे, बाकी सब लोग दु खी और परेशान थे। उनमे यह हिम्मत न थी कि वे उसको नामजूर कर दे, किन्तु फिर भी उनका इरादा किसी खतरे मे पडने का न था। मैने दिल मे कहा—क्या यही लोग एक क्रातिकारी आन्दोलन के अगुवा होगे और ब्रिटिश सल्तनत को चुनौती देगे? गाधीजी ने एक भाषण दिया, जिसे सुनकर, ऐसा मालूम होता था कि, वे पहले से भी ज्यादा घबरा गये। उन्होने, जैसे कोई डिक्टेटर हो, बहुत अच्छा भाषण दिया। उसमे नम्रता थी, मगर साथ ही हीरे की तरह स्पष्टता और कठोरता भी। उसकी भाषा सुहावनी और मीठी थी, जिसमे कठोर निश्चय और अजहद सरगमी भरी हुई थी, उनकी आँखो मे मृदुलता और शान्ति थी, मगर उनमे से जबरदस्त कार्य-शक्ति और दृढ निश्चय की लौ निकल रही थी। उन्होने कहा कि यह मुकाबिला बडा जबरदस्त होगा और सामना भी बडे ज़बरदस्त से है। अगर आप लडना ही चाहते है तो आपको अपना सब-कुछ बर्बाद करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए और कडाई के साथ अहिसा और अनुशासन का पालन करना चाहिए। जब लड़ाई का ऐलान कर दिया जाता है, तो फौजी कानून का दौर हो जाता है। हमारे अहिसात्मक युद्ध मे भी हमे अपनी तरफ से डिक्टेटर बनाने होगे और फौजी कानून जारी करने होगे, यदि हम चाहते हो कि हमारी फतह हो। आपको यह हक है कि आप मुझे ठोकर मार कर निकाल दे, मेरा सिर उतार ले, और जब कभी और जैसी चाहे सजा दे दे। लेकिन जबतक आप मुझे अपना अगुआ मानते है, तबतक आपको मेरी शर्तो का पाबन्द जरूर रहना होगा, आपको डिक्टेटर की राय पर चलना होगा और फौजी कानून के निज़ाम मे रहना होगा। लेकिन डिक्टेटर बना रहना बिलकुल आपके सद्भाव, आपकी मजूरी और आपके सहयोग पर अवलम्बित रहेगा। ज्यो ही आप मुझसे उकता जायँ, त्यो ही आप मुझे उठाकर फेक दे, पैरो तले रौद दे और मै चूँ तक न करूँगा।

इस आशय की कुछ बाते उन्होने कही और यह फौजी मिसाल और

उनकी जबरदस्त सरगर्मी देखकर वहाँ बहुत से श्रोताओं के बदन मे चींटियाँ रेंगने लगी। मगर शौकतअली वहाँ मौजूद थे, जो अधकचरे लोगो में जोश भरा करते थे। और जब राये लेने का समय आया तो उनमे से बहुतो ने चुपचाप, मगर झेपते हुए, उस प्रस्ताव के, यानी लड़ाई शुरू करने के हक मे हाथ ऊँचे कर दिये।

जब हम सभा से लौट रहे थे, तो मैंने गाधीजी से पूछा कि क्या इसी तरीके से आप एक महान् युद्ध को शुरू करेगे? मैने तो वहाँ जोश और उत्साह की, गरमागरम भाषा की, आँखो से आग की चिनगारी निकलने की आशा रखी थी, लेकिन उसके बजाय मुझे यहाँ पालतू, डर-पोक और अधेड लोगो का जमघट दिखायी पडा। और फिर भी इन लोगो ने—आम राय का इतना असर था कि—लडाई के हक मे राय दे दी। निश्चय ही मुस्लिम-लीग के इन मेम्बरो मे से बहुत कम ने आगे लड़ाई मे योग दिया था। बहुतो को तो सरकारी कामो मे पनाह मिल गयी थी। मुस्लिम-लीग उस समय या बाद भी मुसलमानो के किसी भी बडे तबके की प्रतिनिधि नही रह गयी थी। हाँ, १९२० की ख़िलाफत-कमिटी अलबत्ता एक जोरदार और उससे कही ज्यादा प्रातिनिधिक सस्था थी, और इसी कमिटी ने जोश और उत्साह के साथ लडाई के लिए कमर कस ली।

१ अगस्त गाधीजी ने असहयोग की शुरुआत का दिन रक्खा था—हालॉकि अभी कांग्रेस ने न तो इसको मजूर किया था, और न इसपर विचार ही किया था। इसी दिन लोकमान्य तिलक का बम्बई मे देहान्त हो गया। उसी दिन सुबह गाधीजी सिन्ध के दौरे से बम्बई पहुँचे थे।[1] मै उनके साथ था, और हम सब उस जबरदस्त जुलूस मे शरीक हुए थे जिसमे सारी बम्बई के लाखो आदमी अपने उस महान् और मान्य नेता को अपनी श्रद्धाञ्जलि देने के लिए दौड पडे।

---

१ इसमें कुछ स्मृति-दोष मालूम होता है। गाधीजी तिलक महाराज के अवसान के पहले से अवसान तक काफी दिन बम्बई में ही थे।—अनु०

: ८ :

मेरा निर्वासन

मेरी राजनीति वही थी जो मेरे यानी मध्यमवर्ग की राजनीति थी। हाँ, उस समय और बहुत हद तक अब भी, मध्यम वर्ग के लोगों की राजनीति जवानी थी। क्या नरम और क्या गरम, दोनों विचार के लोग मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और अपने-अपने ढंग से उनकी बहबूदी चाहते थे। माडरेट लोग खास करके मध्यमवर्ग की ऊपरी श्रेणी के मुट्ठीभर लोगों में से थे जो कि आम तौर पर ब्रिटिश शासन की बदौलत फूले-फले थे, और एकाएक ऐसे परिवर्तन नहीं चाहते थे जिनसे उनकी मौजूदा स्थिति और स्वार्थों को धक्का लगे। ब्रिटिश सरकार से और बड़े जमींदारों से उनके घने सम्बन्ध थे। गरम विचार के लोग भी मध्यम वर्ग के ही थे, परन्तु निचली सतह के। कल-कारखानों के मजदूर जिनकी संख्या महायुद्ध के कारण बेहद बढ़ गयी थी, कुछ-कुछ जगहों में ही, मुकामी तौर पर संगठित हो पाये थे, और उनका प्रभाव नहीं के बराबर था। किसान अपढ़, अज्ञान, मुफलिस, गँवार, दुखी और मुसीबत के मारे थे। भाग्य के भरोसे दिन काटते और सरकार, जमींदार साहूकार, छोटे-बड़े हुक्काम, वकील, पंडे-पुरोहित, जो भी होते सब उनपर सवारी गाँठते और उनको चूसते थे।

किसी अखबार का कोई पाठक शायद ही उन दिनों खयाल करता होगा कि हिन्दुस्तान में करोड़ों किसान और लाखों मजदूर हैं या उनकी कोई वकत है। अंग्रेजों के अखबार बड़े अफसरों के कारनामों से भरे रहते। उनमें शहरों और पहाड़ों पर रहनेवाले अंग्रेजों के सामाजिक जीवन की यानी उनकी पार्टियों की, उनके नाच-गान और नाटकों की, लम्बी-लम्बी खबरें छपा करतीं। उनमें हिन्दुस्तानियों के दृष्टिबिन्दु से हिन्दुस्तान की राजनीति की चर्चा प्राय बिल्कुल नहीं की जाती थी, यहाँतक कि कॉंग्रेस के अधिवेशन के समाचार भी किसी ऐसे-वैसे पन्ने

के एक कोने में और सो भी कुछ सतरो मे, दे दिया करते थे। कोई खबर तभी किसी काम की समझी जाती, जब हिन्दुस्तानी, चाहे वह बडा हो या मामूली, काग्रेस को या उसके दावो को बुरा-भला कह बैठता या नुकताचीनी कर बैठता। कभी-कभी किसी हडताल का थोडा जिक्र आ जाता, और देहात को तो महत्त्व तभी दिया जाता जब वहाँ कोई दगा-फसाद हो जाता।

हिन्दुस्तानी अखबार भी अग्रेजी अखबारो की नकल करने की कोशिश करते। लेकिन वे राष्ट्रीय आन्दोलन को उनसे कही ज्यादा महत्त्व देते थे। यो तो वे हिन्दुस्तानियो को छोटी-बडी नौकरियाँ दिलवाने, उनकी तरक्की और तबदीली मे, और जब किसी जानेवाले अफसर की विदाई मे कोई पार्टी दी जाती थी, जिसमे लोगो मे बडा उत्साह होता था, दिलचस्पी लेते थे। जब कभी नया बन्दोबस्त होता, तो करीब-करीब हमेशा ही लगान वगैरा बढ जाता था, जिससे पुकार मच जाती, क्योकि उसका असर जमीदारो की जेब पर भी पडता। बेचारे किसान जो जमीन जोतते थे, उनकी तो कोई बात ही नही पूछता था। ये अखबार जमीदार और कल-कारखानेवालो के होते थे। यह हालत थी उन अखबारो की जो 'राष्ट्रीय' कहे जाते थे।

यही क्यो, खुद काग्रेस का भी शुरू के दिनो मे एक यह मतालबा था कि जहाँ-जहाँ अभी बदोबस्त नही हो पाया है वहाँ स्थायी बदोबस्त कर दिया जाय कि जिससे जमीदारो के हकूक की रक्षा हो सके, और उसमे किसानो का कही जिक्र तक न रहता था।

पिछले बीस वर्षों मे राष्ट्रीय आन्दोलन की बढती के कारण हालत बहुत बदल गयी है, और अब अग्रेजो के अखबारो को भी हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नो के लिए जगह देनी पडती है, क्योकि ऐसा न करे तो हिन्दुस्तानी पाठको के टूट जाने का अदेशा रहता है। परन्तु यह बात वे अपने खास ढग से ही करते है। हिन्दुस्तानी अखबारों की दृष्टि कुछ विशाल हो गयी है। वे किसानो और मजदूरो की भी बाते किया करते है, क्योकि एक तो आजकल यह फैशन हो गया है और दूसरे उनके

पाठको मे कल-कारखानो और गाँव-सम्बन्धी बातो के जानने की तरफ दिलचस्पी बढ़ रही है। परन्तु दरअसल तो अब भी वे पहले की तरह हिन्दुस्तानी पूँजीपतियो ओर जमीदारी वर्ग के हितो का ही ध्यान रखते है, जो कि उनके मालिक होते है। कितने ही हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी अखबारों मे अपना रुपया लगाने लगे है और वे हर तरह कोशिश करते है कि उन्हे अपने रुपयो का मुआवजा मिल जाय। फिर भी इनमे से वहुत से अखवार 'काग्रेसी' कहलाते हैं, हालॉकि वे जिनके ताबे है उनमे से बहुतेरे काग्रेस के मेम्बर भी न होगे। किन्तु काग्रेस शब्द लोगो को बहुत प्यारा होगया है और कितने ही लोग और सस्थाये उसे अपने फायदे के लिए इस्तैमाल करते है। जो अखवार ज़रा आगे बढ़े विचारो का प्रतिपादन करते है उन्हे या तो बड़े-बड़े जुर्मानो का, यहॉतक कि प्रेस-एक्ट के जरिये दवा दिये जाने या सेसर किये जाने का भी, ख़ौफ बना रहता है।

१९२० मे मुझे इस वात का बिलकुल पता न था कि कारखानो मे या खेतों मे काम करनेवाले मजदूरो की हालत क्या है, और मेरा राजनैतिक दृष्टिकोण बिलकुल मध्यम वर्ग के जैसा था। फिर भी मै इतना जरूर जानता था कि उनमे गरीबी बहुत है और उनके दु ख भयकर है और मै सोचता था कि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान आजाद हो जाये, तो उसका पहला लक्ष्य यह होगा कि इस गरीबी के मसले को हल करे। मगर मुझे सबसे पहली सीढी तो राजनैतिक आजादी ही दिखायी दी, जिसमे मध्यम वर्ग की प्रधानता हुए विना नही रह सकती। गाधीजी के चम्पारन (विहार) और खेडा (गुजरात) के किसान-आन्दोलन के बाद किसानो के प्रश्न पर मै ज्यादा ध्यान देने लगा। फिर भी मेरा ध्यान तो १९२० मे राजनैतिक वातों मे और असहयोग के आगमन मे लग रहा था, जिसकी चर्चा से राजनैतिक वायुमण्डल भरा हुआ था।

उन्ही दिनों एक नयी वात मे मेरी दिलचस्पी पैदा हो रही थी, जिसे कि आगे चलकर एक महत्त्व का काम करना था। मै अपनी खुद की प्राय. कोई इच्छा न रहते हुए, किसानो के सम्पर्क मे आ गया, और सो भी एक अजीव तरीके से।

मेरी माँ और कमला (मेरी पत्नी) दोनो की तन्दुरुस्ती खराब थी और मई १९२० के शुरू मे मै उनको मसूरी ले गया। पिताजी उस वक्त एक बडे राज्य के मामले मे मशगूल थे, जिनमे कि दूसरी ओर के वकील देशबन्धुदास थे। हम सेवाय होटल मे ठहरे थे। उन दिनो अफगान और ब्रिटिश राज-प्रतिनिधियो के दर्म्यान मसूरी मे सुलह की बाते हो रही थी (यह १९१९ मे हुए छोटे अफगान युद्ध के बाद की बात है, जबकि अमानुल्ला तख्त पर बैठा था) और अफगान प्रतिनिधि सेवाय होटल मे ठहरे हुए थे। लेकिन वे एक तरफ ही रहते थे, खाना भी अकेले खाते थे और किसीसे मिलते-जुलते न थे। मुझे उनमे कोई खास दिलचस्पी नही थी और इस महीने भर मे मैंने उस प्रतिनिधि-मडल के एक भी आदमी को नही देखा और अगर देखा भी हो तो मै किसीको पहचानता न था। लेकिन क्या देखता हूँ कि एक दिन एकाएक शाम को पुलिस-सुपरिन्टेन्डेट वहाँ आया और मुझे स्थानीय सरकार का खत दिखाया, जिसमे मुझसे यह वादा चाहा गया था कि मै अफगान-प्रतिनिधि मण्डल से कोई सरोकार न रक्खूँ। मुझे यह एक बडी अजीब बात मालूम हुई, क्योकि इस महीने भर मे मैंने उन्हे कभी देखा तक नही और न मुझे उसका मौका मिल सकता था। सुपरिन्टेन्डेट इस बात को जानता था, क्योकि वह प्रतिनिधि-मण्डल की हलचलो पर गौर से निगाह रखता था और वहाँ दरअसल खुफिया लोगो का एक खासा जमघट लगा रहता था। मगर ऐसा वादा करना मेरे मिजाज के खिलाफ था और मैंने उनको ऐसा कह भी दिया। उन्होने मुझे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से, जो कि देहरादून का सुपरिन्टेन्डेण्ट था, मिलने के लिए कहा और उससे मै मिला। चूँकि मै बराबर कहता रहा कि मै ऐसा वादा नही कर सकता, मुझे मसूरी से चले जाने का हुक्म मिला, जिसमे कहा गया कि मै २४ घटे के अन्दर देहरादून जिले के बाहर चला जाऊँ। इसके मानी यही थे कि मै कुछ घन्टो मे ही मसूरी छोड दूँ। मुझे यह अच्छा तो नही लगा कि अपनी बीमार माँ और पत्नी दोनो को वहाँ छोडकर जाऊँ, लेकिन उस वक्त मुझे उस हुक्म की खिलाफवर्ज़ी करना मुनासिब मालूम नही हुआ।

क्योंकि उस समय सविनय भग तो था नही, इसलिए मै मसूरी से चल दिया।

मेरे पिताजी की सर हारकोर्ट बटलर से, जो कि उस समय युक्त-प्रान्त के गवर्नर थे, अच्छी तरह मुलाकात थी। उन्होने दोस्ताना तरीके पर सर हारकोर्ट को पत्र लिखा कि मुझे यकीन है कि ऐसा वाहियात हुक्म आपने न दिया होगा, यह शिमला के किसी मनचले हाकिम की कार्रवाई मालूम होती है। सर हारकोर्ट ने जवाब दिया कि हुक्म मे कोई ऐसी खराब बात नही है जिसके मानने से जवाहरलाल के शान मे कोई फर्क आजाता। इसके जवाब मे पिताजी ने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया और लिखा कि जवाहरलाल का जानबूझकर हुक्म तोडने का तो कोई इरादा नही है, पर अगर उसकी माँ या पत्नी की तन्दुरुस्ती के लिए ज़रूरी हुआ, तो वह जरूर मसूरी जायगा, चाहे आपका हुक्म रहे या न रहे। और ऐसा ही हुआ भी। मेरी माँ की हालत ज्यादा खराब हो गयी और पिताजी व मै दोनो तुरन्त मसूरी के लिए रवाना हो गये। उसके ठीक पहले हमे उस हुक्म की मन्सूखी का एक तार मिला।

दूसरे दिन सुबह मसूरी पहुँचने पर सबसे पहले जो शख्स मैने होटल के आँगन मे देखा वह अफगान था और मेरी छोटी बच्ची को गोद मे लिये हुए था। मुझे मालूम हुआ कि वह वहाँका एक मिनिस्टर और अफगान प्रतिनिधि-मण्डल का एक सदस्य था। बाद को पता चला कि मसूरी से मेरे निकाले जाने का हुक्म मिलते ही उन अफगानो ने अख़-बारो मे उसके समाचार पढे और उनकी दिलचस्पी यहाँतक बढी कि प्रतिनिधि-मण्डल के प्रधान हर रोज फूल और फलो की एक डलिया मेरी माँ को भेजा करते।

बाद को पिताजी और मै प्रतिनिधि-मण्डल के एक-दो सदस्य से मिले भी थे और उन्होने हमे अफगानिस्तान आने का प्रेमपूर्वक निमन्त्रण दिया था। मगर अफसोस है कि हम उससे कुछ फायदा न उठा पाये, और पता नही वहाँकी नयी हुकूमत मे वह निमत्रण अब कायम रहा है या नही।

मसूरी से निकाल दिये जाने के फल-स्वरूप मुझे दो हफ्ते इलाहाबाद रहना पड़ा और इसी अर्से में मैं किसान-आन्दोलन में जा फँसा और ज्यों-ज्यों दिन आते गये त्यों-त्यों मैं उसमें अधिकाधिक फँसता गया, जिसने मेरे विचारों और दृष्टिकोण पर काफी असर डाला। कभी-कभी मेरे मन में यह विचार उठा है कि अगर मैं न तो मसूरी से निकाला जाता और न इलाहाबाद में ठहरा होता, या उन्हीं दिनों कोई दूसरा काम होता तो क्या हुआ होता ? बहुत मुमकिन है कि मैं किसानों की ओर तो किसी-न-किसी तरह आगे-पीछे खींचा गया होता, परन्तु मेरा उनके पास जाने का तरीका और इसलिए उसका असर भी कुछ और होता।

जून १९२० के शुरू में, जहाँतक मुझे याद है, कोई दो सौ किसान परतावगढ़ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये—इस इरादे से कि वे अपने दुःखों और मुसीबतों की तरफ वहाँ के खास-खास राजनैतिक पुरुषों का ध्यान आकर्षित करें। रामचन्द्र नामक उनके एक अगुआ थे, जो न तो वहाँ के रहनेवाले ही थे और न खुद किसान ही। मैंने सुना किसानों का यह जत्था जमना के घाट पर डेरा डाले हुए है। मैं कुछ मित्रों के साथ उनसे मिलने गया। उन्होंने बताया कि किस तरह ताल्लुकेदार-जोर-जुल्म से वसूली करते हैं, कैसा उनका अमानुष व्यवहार है, और कैसी उनकी असह्य हालत हो गयी है। उन्होंने हमसे प्रार्थना की कि हम उनके साथ चलकर उनकी हालत की जाँच करें। उनको डर था कि ताल्लुकेदार उनके इलाहाबाद आने पर जरूर बहुत बिगड़ेंगे और उसका बदला लिये बिना न रहेंगे, इसलिए वे चाहते थे कि उनकी हिफाजत के लिए हम उनके साथ रहें। वे हमारे इन्कार को मानने के लिए किसी तरह तैयार न थे, और सचमुच हमसे बुरी तरह चिपट गये। आखिर को मैंने उनसे वादा किया कि मैं एक-दो रोज बाद जरूर आऊँगा।

मैं कुछ साथियों को लेकर वहाँ पहुँचा। कोई तीन दिन वहाँ हम लोग गाँव में रहे। वे रेलवे से और पक्की सड़क से बहुत दूर थे। उस

दौरे मे मैने कई नयी बाते देखी। हमने देखा सारे देहाती इलाके मे उत्साह की लहर फैल रही है और उनमे अजीब जोश उमडा पडता है। ज़रा ज़बानी कहला दिया और बड़ी-बडी सभाओ के लिए लोग इकट्ठे हो गये। एक गॉव से दूसरे गॉव और दूसरे से तीसरे गाँव, इस तरह सब गॉव मे सदेसा पहुँच जाता और देखते-देखते सारे गाँव खाली हो जाते और खेतो मे दूर-दूर तक सभास्थान पर आते हुए मर्द, औरत और बच्चे दिखायी देते। और इससे भी ज्यादा तेजी से 'सीताराम' सीता · रा···आ · आ···म' की धुन आकाश मे गूँज उठती और चारो तरफ दूर-दूर तक फैल जाती और दूसरे गॉव से उसीकी प्रतिध्वनि सुनायी पडती और बस, लोग पानी की धारा की तरह दौडते चले आते। मर्द-औरत फटे-टूटे चिथडे पहने थे, मगर उनके चेहरे पर जोश और उत्साह था और ऑखे चमकती हुई दिखायी देती थी, मानो कोई विचित्र बात होने को थी, जिसके द्वारा जादू की तरह आनन-फानन मे उनकी तमाम मुसीबतो का खात्मा हो जायगा।

उन्होने हमपर बहुत प्रेम बरसाया और वे हमे आशा तथा प्रेमभरी आँखो से देखते थे—मानों हम कोई शुभ सन्देश सुनाने आये हो, या उनके रहनुमा हो, जो उन्हे उनके लक्ष्य तक पहुँचा देगे। उनकी मुसीबतो को और उनकी अपार कृतज्ञता को देखकर मै दु ख और शर्म के मारे गड़ गया। दु ख तो हिन्दुस्तान की ज़बरदस्त गरीबी और जिल्लत पर, और शर्म मेरी अपनी आराम की जिन्दगी पर, और शहरो की न-कुछ राजनीति पर, जिसमे भारत के इन अधनगे करोडों पुत्र-पुत्रियो के लिए कोई स्थान न था। नगे-भूखे, दलित-पीडित भारतवर्ष का एक नया चित्र मेरी ऑखो के सामने खडा होता हुआ दिखायी दिया। और हम लोग जो दूर शहर से उन्हे देखने कभी-कभी आ जाते है, उनके प्रति उनकी श्रद्धा को देखकर मै परेशानी मे पड गया और उसने मुझमे यह नयी ज़िम्मेदारी का भाव पैदा कर दिया जिसकी कल्पना से मेरा दिल दहल उठा।

मैने उनके दु ख की सैकडो कहानियॉ सुनी। कैसे लगान का बोझ

दिन-दिन बढता जा रहा है, जिसके तले वे कुचले जा रहे हैं। किस तरह खिलाफ-कानून लाग लगाये जाते हैं और जोरो-जुल्म से वसूली की जाती है, जमीन और कच्चे झोपडो से किस तरह उनको बेदखल किया जाता है, कैसे उनपर मार पडती है, कैसे चारो तरफ जमीदारो के एजेण्ट, साहूकारो और पुलिस के गिद्धो से घिरे रहते है, किस तरह कडी धूप मे मशक्कत करते हैं और अन्त मे यह देखते है कि उनकी सारी पैदावार उनकी नही है––दूसरे ही उठा ले जाते है और उसका बदला उन्हे मिलता है ठोकरो, गालियो और भूखे पेट से। जो लोग वहाँ आये थे उनमे से बहुतो के जमीन नही थी और जिन्हे जमीदारो ने बे-दखल कर दिया था, उन्हे सहारे के लिए न अपनी जमीन थी न अपना झोपडा। यो जमीन उपजाऊ थी मगर उसपर लगान आदि का बोझ बहुत भारी था। खेत छोटे-छोटे थे और एक-एक खेत पाने के लिए कितने ही लोग मरते थे। उनकी इस तडप से फायदा उठाकर जमीदारो ने, जो कि कानून के मुताबिक एक हद से ज्यादा लगान नही बढा सकते थे, कानून को ताक मे रखकर भारी-भारी नजराना वगैरा बढा दिया था। बेचारे किसान कोई चारा न देख रुपया उधार लाते और नजराना वगैरा करते और फिर जब कर्ज और लगान तक न दे पाते तो बेदखल कर दिये जाते, उनका सब-कुछ छिन जाता था।

यह तरीका पुराना चला आ रहा है और किसानो की दिन-ब-दिन बढनेवाली दरिद्रता का सिलसिला भी एक लम्बे अरसे से चला आ रहा है। तब फिर क्या बात हुई जिससे मामला इस हद तक बढ गया और देहात के लोग इस तरह उमड पडे ? निश्चय ही इसका कारण उनकी आर्थिक दशा थी। परन्तु यह हालत तो सारे अवध मे एक-सी थी। और यह किसानो का १९२०-२१ का बवण्डर तो सिर्फ परताबगढ, रायबरेली और फैजाबाद जिले में ही फैला हुआ था। इसका आंशिक कारण तो था रामचन्द्र नामक विलक्षण व्यक्ति का अगुआ हो जाना, जो कि बाबा रामचन्द्र कहलाता था।

रामचन्द्र महाराष्ट्रीय था और कुली-प्रथा के अन्दर मजदूर बनकर

फिजी चला गया था। वहाँ से लौटने पर धीरे-धीरे वह अवध के जिलो की तरफ आ गया। तुलसीदास की रामायण गाता हुआ और किसानो के कष्टो और दुखो को सुनाता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा। वह पढा-लिखा थोड़ा था और कुछ हद तक उसने किसानो से अपना जाती फायदा भी कर लिया। मगर हाँ, उसने भारी सगठन-शक्ति का परिचय दिया। उसने किसानो को आपस मे समय-समय पर सभा करना और अपनी तकलीफो पर चर्चा करना सिखलाया और हर तरह उनके आपस मे एके का भाव पैदा किया। कभी-कभी वडी भारी-भारी सभाये होती और उससे उन्हे एक वल का अनुभव होता। यो 'सीताराम' एक पुरानी और प्रचलित धुन है, मगर उसने उसे करीव-करीव एक युद्ध-घोष का रूप दे दिया और जरूरत के वक्त लोगो को वुलाने का तथा जुदा-जुदा गॉवो को आपस मे वॉधने का चिन्ह बना दिया। फैजावाद, परतावगढ और रायवरेली राम और सीता की पुरानी कथाओ से भरे पडे है। इन जिलो का समावेश पुराने अयोध्या-राज्य होता था। तुलसीदासजी की रामायण वहाँ लोगो के घर-घर गायी जाती है। कितने ही लोगो को इसके हजारो दोहे, चौपाई जबानी याद थे। इस रामायण का गान और अच्छे-अच्छे प्रसगो पर मौजू दोहे-चौपाइयो की मिसाल देना वावा रामचन्द्र का एक खास तर्ज था। कुछ हद तक किसानो का सगठन करके उसने उनके सामने वहुतेरे गोल-मोल और ऊटपटॉग वायदे भी किये, जिनसे उन्हे वडी-वडी आशाये वॅधी। उसके पास किसी-किस्म का कोई कार्यक्रम नही था, और जब उनका जोश आखिरी सीमातक पहुँच गया, तो उसने उसकी जिम्मेदारी को दूसरो पर डालने की कोशिश की। यही कारण है जो वह कितने ही किसानो को इलाहावाद लाया कि वहाँ के लोग उस आन्दोलन मे दिलचस्पी ले।

एक साल तक और रामचन्द्र ने आन्दोलन मे प्रधान रूप से भाग लिया और दो-तीन वार जेल गया। मगर वाद मे जाकर वह बडा गैर-जिम्मेदार और अविश्वसनीय सावित हुआ।

किसान-आन्दोलन के लिए अवध खास तौर पर अच्छा क्षेत्र था।

वह ताल्लुकेदारो की, जो कि अपनेको 'अवध के राजा' कहते है, भूमि थी और अब भी है। जमीदारी-प्रथा का सबसे बिगडा हुआ रूप वहाँ मिलता है। ज़मीदारो के लगाये करो के बोझ असह्य हो रहे थे और बे-जमीन मजदूरो की तादाद बढ रही थी। वहाँ यो सिर्फ एक ही किस्म के किसान थे और इसीसे वे सब मिलकर एक-साथ कोई कार्रवाई कर सके।

हिन्दुस्तान को मोटे तौर पर दो भागो मे बॉट सकते है। एक जमीदारी इलाका, जिसमे बडे-बडे जमीदार है, और दूसरा वह जहॉ किसान ज़मीन के मालिक है। मगर कही-कही दोनो की खिचडी हो जाती है। बगाल, बिहार और सयुक्तप्रात जमीदारी इलाका है। किसानी इलाके के लोगो की हालत इनसे अच्छी है, हालॉकि वहॉ भी उनकी हालत कई बार दयाजनक हो जाती है। पजाब और गुजरात के (जहाँ जमीदार किसान है) किसानो की हालत जमीदारी इलाके से कही अच्छी है। ज़मीदारी इलाके के ज्यादातर हिस्से मे कई किस्म के काश्तकार थे, दख़ीलकार गैर-दख़ीलकार और शिकमी वगैरा। इन जुदा-जुदा काश्तकारो के स्वार्थ अक्सर आपस मे टकराते और इस कारण मिलकर एक साथ कोई जोरदार काम नही किया जा सकता। लेकिन अवध मे १९२० मे न तो दख़ीलकार काश्तकार थे और न हीनहयात काश्तकार ही थे। वहॉ सिर्फ आरजी काश्तकार थे, जो बे-दखल होते रहते थे और जिनकी ज़मीने ज्यादा नज़राना या लगान देने पर दूसरो को दे दी जाया करती थी। इस तरह चूँकि वहॉ खास तौर पर एक ही तरह के काश्तकार थे, वहॉ एकसाथ काम करने के लिए सगठन करना और भी आसान था।

अवध मे आरज़ी पट्टे की भी कोई गारन्टी देने का रिवाज नही था। जमीदार शायद ही कही लगान की रसीद देते थे और कोई भी जमीदार कह सकता था कि लगान अदा नही किया गया और काश्तकार को बे-दखल कर सकता था। उस बेचारे के लिए साबित करना गैर-मुमकिन था कि लगान अदा कर दिया। लगान के अलावा बहुतेरी बेजा लागे लगी हुई थी। मुझे मालूम हुआ कि उस ताल्लुके मे तरह-तरह की पचास

ऐसी लागें लगी हुई है। मुमकिन है यह बात बढाकर कही गयी हो। मगर ताल्लुकेदार जिस तरह खास-खास मौको पर—जैसे अपने कुटुम्ब में किसीकी शादी हो तो, लडके विलायत पढ़ने गये हो तो, गवर्नर या दूसरे बडे अफसर को पार्टी दी गयी हो तो, एक मोटर या हाथी खरीदा गया हो तो—उनके खर्चे का रुपया वसूल करते थे, यह कितनी दुष्टता थी। यहाँतक कि इन लागो के मोटरोना (मोटर-टैक्स), हथियोना (हाथी के खरीदने का खर्च) वगैरा नाम पड गये थे।

ऐसी हालत मे कोई ताज्जुब नही जो अवध मे इतना बडा किसान-आन्दोलन उठ खडा हुआ हो, वल्कि मुझे उस वक्त ताज्जुब तो इस बात पर हुआ कि विना शहरवालो की मदद के या राजनैतिक पुरुषो अथवा ऐसे ही दूसरे लोगो की प्रेरणा के कैसे बिलकुल अपने-आप वह इतना वढ गया ? यह किसान-आन्दोलन काग्रेस से बिलकुल अलहदा था। देश मे जो असहयोग-आदोलन आरम्भ हो रहा था, उसका इससे कोई ताल्लुक न था। बल्कि यह कहना ज्यादा सही हो कि इन दोनो विशाल और जोरदार आन्दोलनो का मूल कारण एक-सा था। हाँ, १९१९ मे गाधीजी ने जो वडी-वड़ी हडतालें करायी थी उनमे किसानो ने भी हिस्सा लिया था, और उसके वाद से उनका नाम देहातियो मे जादू का काम करता था।

मुझे सबसे बडा आश्चर्य इस वात पर हुआ कि हम शहरवालो को इतने बडे किसान-आन्दोलन का पता तक नही था। किसी अखबार मे उसपर एक सतर भी नही आती थी। उन्हे देहात की बातों मे कोई दिलचस्पी नही थी। मैने इस बात को और भी ज्यादा महसूस किया कि हम अपने लोगो से किस तरह दूर पडे हुए है, और उनसे अलग अपनी छोटी-सी दुनिया मे किस तरह रहते और काम करते है।

: ६ :

किसानों में भ्रमण

तीन दिन तक मै गॉवो मे घूमता रहा और एक बार इलाहाबाद आकर फिर वापिस गया। हम गॉव-गॉव घूमे—किसानो के साथ खाते, उन्ही के साथ उनके कच्चे झोपडो मे रहते, घटो उनसे बात-चीत करते और कभी-कभी छोटी-बडी सभाओ मे व्याख्यान भी देते। शुरू मे हम एक छोटी मोटर मे गये थे। किसानो मे इतना उत्साह था कि सैकडो ने रात-रात भर काम करके खेतो के रास्ते कच्ची सडक तैयार की, जिससे मोटर ठेठ दूर-दूर के गाँवो मे जा सके। अक्सर मोटर अड जाती और बीसो आदमी खुशी-खुशी दौडकर उसे उठाते। आखिर को हमे मोटर छोड देनी पडी और ज्यादातर सफर पैदल ही करना पडा। जहॉ कही हम गये, हमारे साथ पुलिस और खुफिया के लोग, और लखनऊ के डिप्टी कलेक्टर रहते थे। मै समझता हूँ, खेतो मे हमारे साथ दूर-दूर तक पैदल चलते हुए उनपर एक प्रकार की मुसीबत आगयी होगी। वे सब थक गये थे। हमसे और किसानो से बिलकुल उकता उठे थे। डिप्टी कलेक्टर थे लखनऊ के एक नाजुक-मिजाज नौजवान, पम्प-शू पहने हुए। कभी-कभी वह हमसे कहते कि जरा धीरे चले। मै समझता हूँ आखिर हमारे साथ चलना उन्हे दुश्वार हो गया और वह रास्ते मे ही कही रह गये।

जून का महीना था, जिसमे सबसे ज्यादा गर्मी पडा करती है। बारिश के पहले की तपिश थी। सूरज की तेजी बदन को झुलसाये देती थी और ऑखो को अधा बना देती थी। मुझे धूप मे चलने की बिलकुल आदत न थी और इग्लैड से लौटने के बाद हर साल गर्मियो मे मै पहाड पर चला जाया करता था। किन्तु इस बार मै दिन भर खुली धूप मे घूमता था और सिर पर धूप से बचने को हैट भी न था। सिर्फ एक छोटा तौलिया सिर पर लपेट लिया था। दूसरी बातों मे मै इतना मश-गूल था कि धूप का कुछ खयाल भी नही रहा, और इलाहाबाद लौटने

पर जब कहीं मैंने देखा तो मेरे चेहरे का रंग कितना पक्का हो गया था। और मुझे याद पड़ा कि सफर में क्या-क्या बीती। लेकिन इस बात पर मैं अपने-आपमें खुश हुआ, क्योंकि मुझे मालूम हो गया कि बड़े-बड़े मजबूत आदमियों के बराबर मैं धूप को बर्दाश्त कर सका, और मैं जो उससे डरता था उसकी जरूरत नहीं थी। मैंने देख लिया है कि मैं कड़ी-से-कड़ी गर्मी और कड़े-से-कड़े जाड़े को बिना ज्यादा तकलीफ के बर्दाश्त कर सकता हूँ। इससे मुझे अपने काम में तथा जेल-जीवन बिताने में बड़ी मदद मिली। इसकी वजह यह थी कि मेरा शरीर आम तौर पर मजबूत और काम करने के लायक था और मैं हमेशा कसरत किया करता था। इसका सबक मैंने पिताजी से सीखा था, जो थोड़े-बहुत कसरती थे और करीब-करीब अपने आखिरी दिनों तक उन्होंने रोजाना कसरत जारी रखी थी। उनके सिर पर चांदी-से सफेद बाल हो गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं और वह विचार करते-करते बूढ़े और थके-से दिखायी देते थे। मगर उनका बाकी शरीर मृत्यु के एक-दो साल पहले तक उनसे बीस बरस कम उम्र के आदमी का-सा जान पड़ता था।

जून १९२० में परतापगढ़ जाने के पहले भी मैं गांवों में अक्सर गुजरता था। वहाँ ठहरता था और किसानों से बात-चीत भी करता था। बड़े-बड़े मेलों के अवसर पर गंगा-किनारे हजारों देहातियों को मैंने देखा था और उनमें होमरूल का प्रचार किया था। लेकिन उस समय मैं यह अच्छी तरह न जानता था कि दरअसल वे क्या हैं, और हिन्दुस्तान के लिए उनका क्या महत्त्व है। हममें से ज्यादातर लोगों की तरह मैं भी उनके बारे में कोई विचार नहीं करता था। यह बात मुझे इस परतापगढ़ की यात्रा में मालूम हुई, और तबसे हिन्दुस्तान का जो चित्र मैंने अपने दिमाग में बना रखा है उसमें हमेशा के लिए इस नंगी-भूखी जनता का स्थान बन गया है। सम्भवतः उस हवा में एक किस्म की बिजली थी। शायद मेरा दिमाग उसका असर अपनेपर पड़ने देने के लिए तैयार था। और उस समय जो चित्र मैंने देखे और जो छाप मुझ-पर पड़ी वह मेरे दिलपर हमेशा के लिए अमिट हो गयी।

इन किसानो की बदौलत मेरी झेप निकल गयी और मै सभाओ में बोलना सीख गया। तबतक मै शायद ही किसी सभा मे बोला होऊँ। अक्सर हमेशा हिन्दुस्तानी मे बोलने की नौबत आती थी और उसके खयाल से मै दहशत खाया करता था। लेकिन मै किसान-सभाओ मे बोलने को कैसे टाल सकता था? और इन सीधे-सादे गरीब लोगो के सामने बोलने मे झेपने की भी क्या बात थी? मै वक्तृत्व-कला तो जानता न था। इसलिए उनके साथ एक-दिल होकर बोलता और मेरे दिल और दिमाग मे जो-कुछ होता था वह सब उनसे कह देता था। लोग चाहे थोडे हो चाहे हजारो की तादाद मे हो, मै हमेशा बातचीत के या जाती ढग से ही उनके सामने बोलता, और मैने देखा कि चाहे कुछ कमी भी उसमे रह जाती हो, लेकिन मेरा काम चल जाता था। मेरे व्याख्यान मे प्रवाह काफी रहता था। मै जो-कुछ कहता था शायद उसका बहुत-कुछ हिस्सा उनमे से बहुतेरे समझ नही पाते थे। मेरी भाषा और मेरे विचार इतने सरल न थे कि वे समझ सकते। बहुत लोग तो मेरा भाषण सुन ही नही पाते थे; क्योकि भीड तो भारी होती थी और मेरी आवाज दूर तक नही पहुँच पाती थी। लेकिन जबकि वे किसी एक शख्स पर भरोसा और श्रद्धा कर लेते है, तब इन सब बातो की ज्यादा परवा उन्हे नही रहती।

मै अपनी माँ और पत्नी से मिलने मसूरी गया तो, मगर मेरे दिमाग मे किसानो की ही बाते भरी थी और मै फिर उनमे जाने के लिए उत्सुक था। ज्योही मै मसूरी से वापस लौटा, गाँवो मे घूमने चला गया, और मैने देखा कि किसान-आन्दोलन बढता जा रहा था। उन पीडित किसानो के अन्दर एक नया आत्म-विश्वास पैदा हो रहा था। वे छाती तानकर और सिर ऊँचा करके चलने लगे थे। जमीदारो के कारिन्दो और पुलिस का डर उनके दिल मे कम होता चला था। और यदि किसीका खेत बे-दखल होता था तो कोई दूसरा किसान उसे लेने के लिए आगे नही बढता था। जमीदारो के नौकर जो उन्हे मारा-पीटा करते थे और कानून के खिलाफ उनमे बेगार और लाग लिया करते थे

वह कम हो गया था, और जब कभी कोई ज्यादती होती तो फौरन उसकी रिपोर्ट होती और तहकीकात की कोशिश की जाती। इससे जमीदारो के कारिन्दो और पुलिस की ज्यादतियो की कुछ रोक हुई। ताल्लुकेदार घबराये और अपनी रक्षा का उपाय करते रहे और प्रान्तीय सरकार ने अवध-काश्तकारी-कानून मे सुधार करने का वादा किया।

ताल्लुकेदार और बड़े जमीदार जमीन के मालिक कहलाते है। वे अपनेको "लोगो के स्वाभाविक नेता" कहने मे अपना फख्र समझते है। वे यो तो ब्रिटिश सरकार के लाडले और बिगडैल बेटे है, लेकिन सरकार ने उनके लिए शिक्षा और लालन-पालन की जो विशेष व्यवस्था की थी, या करने की भूल की थी, उसके द्वारा उसने उनके सारे वर्ग को बुद्धि और दिमाग मे बिलकुल बोदा और निकम्मा बना दिया। वे अपने काश्तकारो के लिए कुछ भी नही करते थे जैसा कि दूसरे देशो के जमीदार अक्सर थोड़ा-बहुत किया करते है, और जमीन और लोगो को महज चूसकर अपना पेट भरनेवाले रह गये थे। उनके पास सबसे बड़ा काम यह रह गया था कि वे मुकामी अफसरो की खुशामद-दरमाद करते रहे—कि जिनकी मेहरबानी के बिना उनकी हस्ती ज्यादा दिन ठहर नही सकती थी। और वे हमेशा अपने खास स्वार्थो और हको की रक्षा का लगातार मतालबा करते रहते थे।

'जमीदार' शब्द से जरा धोखा हो जाता है और किसी-किसी को यह खयाल हो सकता है कि तमाम जमीदार बड़ी-बड़ी जमीनो के मालिक है। जिन सूबो मे रैयतवारी तरीका है, वहाँ जमीदार के मानी है खुद खेती करनेवाला जमीन-मालिक। उन प्रान्तो मे भी जहाँ 'जमीदारी-प्रथा है, जमीदारो मे कम जमीन के मालिक, मध्यम दर्जे के हजारो जमीन-मालिक, और वे हजारो लोग भी जो हद दर्जे की गरीबी मे दिन काटते है और जो किसी तरह काश्तकारों मे अच्छी हालत मे नही है, आजाते है। संयुक्त-प्रान्त मे, जहाँ तक मुझे याद है, पन्द्रह लाख के करीब वे लोग है जिनकी गिनती जमीदार-वर्ग में की जाती है। गालिबन इनमे से ९० फीसदी से ऊपर की हालत गरीब-से-गरीब काश्तकार की

हालत से मिलती-जुलती है और दूसरे ९ फीसदी की हालत कुछ अच्छी है। बड़े समझे जानेवाले जमीन-मालिक सारे सूबे मे पाच हजार से ज्यादा नही है और इसके कोई ¹⁄₁₀ दर-हकीकत बड़े ज़मीदार और ताल्लुकेदार कहलाने लायक है। बाज-बाज बड़े काश्तकार की हालत तो छोटे गरीब जमीदारो से कही अच्छी है। गरीब जमीन-मालिक और मध्यम दर्जे के जमीदार शिक्षा मे पिछड़े हुए है। मगर है आम तौर पर बहुत अच्छे लोग---स्त्री व पुरुष दोनो। और यदि उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध अच्छा हो, तो वे बढ़िया नागरिक बन सकते है। उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलनो मे खासा हिस्सा लिया है। मगर ताल्लुकेदारो और बड़े जमीदारो ने नही---हॉ, कुछ अच्छे अपवादो को छोड़कर। और तो और उनमे कुलीन वर्ग की खूबियॉ भी नही पायी जाती। एक वर्ग की हैसियत से शरीर और बुद्धि दोनो मे वे गिर गये है। अबतक तो उनका खात्मा ही हो जाना चाहिए था। अब वे तभीतक जीवित रह सकेगे कि जबतक ब्रिटिश सरकार ऊपर से उनको सहारा लगाती रहेगी।

पूरे १९२१ भर मै देहाती इलाको मे आता-जाता रहा। लेकिन मेरा कार्य-क्षेत्र बढ़ता गया---यहॉतक कि वह सारे युक्त-प्रान्त मे फैल गया। असहयोग सरगर्मी से शुरू हो गया था और उसका सन्देश दूर-दूर के गॉंवो मे पहुँच चुका था। हर जिले मे काग्रेस-कार्यकर्त्ताओ का एक झुण्ड इस नये सन्देश को लेकर देहात मे जाता, और उसके साथ वह किसानो की शिकायते दूर करने की बात भी मोटे तौर पर जोड़ देता था। स्वराज एक ऐसा व्यापक शब्द था जिसमे सब-कुछ आजाता था, फिर भी ये दोनो आन्दोलन---असहयोग और किसान---बिलकुल अलहदा-अलहदा थे, हालॉंकि हमारे प्रान्त मे ये दोनो बहुत-कुछ एक दूसरे मे मिल-जुल जाते थे और एक-दूसरे पर असर डालते थे। काग्रेस के इस प्रचार का यह फल हुआ कि मुकदमेबाजी एकबारगी कम हो गयी और गॉंवो मे पञ्चायते कायम होकर उनमे मुकदमे फैसल होने लगे। काग्रेस का असर शान्ति के हक मे खास तौर पर ज्यादा गिरा, क्योकि जहॉं भी कोई काग्रेस-कार्यकर्त्ता जाता, वहॉं वह इस नये अहिंसा

के सिद्धान्त पर खास तौर पर जोर देता। हो सकता है कि लोगो ने न तो इसकी पूरी कद्र की हो, न इसे पूरा समझा ही हो, लेकिन इसने किसानो को मार-काटपर उतर पडने से रोका जरूर है।

यह कोई कम बात न थी। किसान जब उभडते है तो मार-पीट कर बैठते है और उनका उभाड किसानो और मालिको की एक लडाई ही बन जाती है। और उन दिनो अवध के हिस्से के किसानो के जोश का पारा बहुत ऊँचा चढा हुआ था और वे सब-कुछ कर डालने पर आमादा थे। एक चिनगारी पड़ने की देर थी कि आग धधक उठती। फिर भी उन्होने गजब की शान्ति रक्खी। मुझे सिर्फ एक ही मिसाल याद आती है कि जिसमे एक ताल्लुकेदार पीटा गया। ताल्लुकेदार अपने घर मे बैठा था—उसके यार-दोस्त आसपास बैठे थे। एक किसान उसके पास गया और उसके गाल पर एक थप्पड जमा दिया। किसान का कहना था कि वह अपनी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार नही करता था और बदचलन था।

एक और किस्म का हिसा-कार्य आगे जाकर हुआ, जिससे सरकार के साथ टक्करे हुई। मगर ये टक्करे तो आगे-पीछे होकर ही रहती, क्योकि सरकार सगठित किसानो की बढती हुई ताकत को बर्दाश्त नही कर सकती थी। ढेर-के-ढेर किसान बिना टिकट रेल मे सफर करने लगे—खास तौर पर तब, जब कि उन्हे अपनी बडी-बडी सभाओ मे समय-समय पर जाना पडता था। कभी-कभी तो उनकी तादाद साठ से सत्तर हजार तक हो जाती। उन्हे हटाना मुश्किल था। और वे खुल्लम-खुल्ला रेलवे की हुकूमत का मुकाबला करने लगे, जैसाकि पहले कभी न देखा न सुना गया था। वे रेलवे-कर्मचारियो से कहते—'साहब, अब पुराना जमाना चला गया।' किसके भडकाने से वे बिना टिकट झुण्ड-के-झुण्ड सफर करते थे, मै नही जानता। हॉ, हमने उन्हे ऐसी कोई बात नही सुनायी थी। हमने तो अचानक सुना कि वे ऐसा कर रहे है। बाद को जाकर रेलवेवालो ने कडाई की, तब यह सिलसिला बन्द होगया।

१९२० की सर्दी के दिनो मे (जब मै कलकत्ते मे कांग्रेस के विशेष

अधिवेशन में गया हुआ था) कुछ मामूली-सी बात पर कुछ किसान-नेता गिरफ्तार कर लिये गये। ख़ास परतावगढ़ में उनपर मुकदमा चलाया जानेवाला था। लेकिन मुकदमे के दिन किसानों की एक बड़ी भीड़ से अदालत का हाता भर गया और वहाँसे जेलतक के रास्ते भर एक लाइन बन गयी, जहाँ कि नेता लोग रखे गये थे। मजिस्ट्रेट घबरा गया और उसने मुकदमा दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया। लेकिन भीड़ बढ़ती गयी और उसने जेल को करीब-करीब घेर लिया। किसान लोग मुट्ठी-भर चने खाकर कुछ दिन बड़े मज़े से रह सकते हैं। आख़िर को किसान-नेता छोड़ दिये गये। शायद जेल में उनका मुकदमा कर दिया गया था। मैं यह तो भूल गया कि यह घटना कैसे हुई, लेकिन किसानों ने इसे अपनी एक बड़ी विजय समझा और वे यह सोचने लगे कि महज़ अपनी भीड़ के बल पर ही हम अपना चाहा करा लिया करेंगे, मगर सरकार के लिए यह स्थिति असह्य थी। और एक ऐसा मौका जल्दी पेश आया, लेकिन उसका अन्त दूसरी तरह हुआ।

१९२१ की जनवरी के आरम्भ की बात है। मैं नागपुर-कांग्रेस से लौटा ही था कि मुझे रायबरेली से तार मिला कि जल्दी आओ, क्योंकि वहाँ उपद्रव की आशंका थी। दूसरे दिन मैं गया। मुझे मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले कुछ प्रमुख किसान पकड़े गये थे और वहीं जेल में रखे गये थे। किसानों को परतावगढ़ की सफलता और उस समय जो नीति उन्होंने अख़्त्यार की थी वह याद थी ही। चुनाँचे किसानों की एक बड़ी भीड़ रायबरेली जा पहुँची। मगर इस बार सरकार उन्हें ऐसा नहीं करने देना चाहती थी और इसलिए उसने अतिरिक्त पुलिस और फौज का इन्तज़ाम कर रखा था जो उन्हें आगे न बढ़ने दे। कस्बे के ठीक बाहर एक छोटी नदी के उस पार किसानों का मुख्य भाग रोक दिया गया। लेकिन फिर भी दूसरी तरफ से लोग लगातार चले आ रहे थे। स्टेशन पर आते ही मुझे इस स्थिति की ख़बर मिली और मैं फौरन नदी की तरफ गया, जहाँ फौज किसानों का सामना करने के लिए रखी गयी थी। रास्ते में मुझे ज़िला-मजिस्ट्रेट का जल्दी में लिखा एक पुर्जा मिला कि मैं

वापिस लौट जाऊँ। उसीकी पीठ पर मैंने जवाब लिखा और पूछा कि किस कानून की किस दफा की रू से मुझे वापस जाने के लिए कहा गया है ? और जबतक इसका जवाब नही मिलेगा, तबतक मै अपना काम जारी रखा चाहता हूँ। जैसे ही मै नदी तक पहुँचा दूसरे किनारे पर से गोलियो की आवाज सुनायी दी। मुझे पुल पर ही फौजवालो ने रोक दिया। मै वहाँ इन्तजार कर ही रहा था कि एकाएक कितने ही डरे और घबराये हुए किसानो ने मुझे आ घेरा, जोकि नदी के इस किनारे खेतो मे छिप रहे थे। तब मैंने वहाँ उसी जगह कोई दो हजार किसानों की सभा करके उनके डर को दूर और उत्तेजना को कम करने की कोशिश की। कुछ कदम आगे ही एक छोटे नाले के उस पार उनके भाइयो पर गोलियो का बरसना और चारो ओर फौज-ही-फौज दिखाई देना—यह उनके लिए एक असाधारण स्थिति थी। मगर फिर भी सभा बहुत सफलता के साथ हुई, जिससे किसानो का डर कुछ कम हो गया। तब जिला-मजिस्ट्रेट उस स्थान से लौटे जहाँसे गोलियाँ चलायी जा रही थी और उनके अनुरोध पर मै उनके साथ उनके घर गया। वहाँ उन्होने किसी-न-किसी बहाने दो घंटे तक मुझे रोक रखा—जाहिर है कि उनका इरादा मुझे किसानो से और शहरो के अपने मित्रो से दूर रखने का था।

बाद को हमे पता चला कि गोली-काण्ड से बहुतेरे आदमी मारे गये। किसानो ने तितर-बितर होने या पीछे हटने से इनकार कर दिया था, मगर यो वे बिलकुल शान्त बने रहे थे। मुझे बिलकुल यकीन है कि अगर मै, या हममे से कोई, जिनपर वे भरोसा रखते थे, वहाँ होते और उन्होने उनसे कहा होता तो वे जरूर वहाँसे हट गये होते। जिन लोगो का वे विश्वास नही करते थे, उनका हुक्म मानने से उन्होने इन्कार कर दिया। किसीने तो दर-असल मजिस्ट्रेट को सुझाया भी था, कि मेरे आने तक कुछ ठहर जावे, किन्तु उन्होने नही सुना। जहाँ वह खुद नाकामयाब हो चुके थे, वहाँ भला वह किसी आन्दोलनकारी को क्यो कर सफ़ल होने दे सकते थे? विदेशी सरकारो का, जिनका कि दारो-मदार अपने रौब पर होना है, यह तरीका नही हुआ करता है।

रायबरेली के जिले में उन्हीं दिनों दो बार किसानों पर गोलियाँ चलीं और उसके बाद तो हरेक प्रमुख किसान-कार्यकर्त्ता या पंचायत के मेम्बर के लिए मानो डर का राज्य ही फैल गया। सरकार ने उस आन्दोलन को कुचल डालने का पक्का इरादा कर लिया था। उन दिनों कांग्रेस की प्रेरणा से किसानों के अन्दर चरखा चलाने की प्रवृत्ति हो रही थी। इसलिए चरखा मानो राजद्रोह का प्रतीक हो गया था, और जिसके घर चरखा पाया जाता उसीकी आफत आ जाती। चरखे अक्सर जला भी दिये जाते थे। इस तरह सरकार ने सैकड़ों लोगों को गिरफ्तार करके तथा दूसरे तरीकों से रायबरेली और परतापगढ़ जिले के देहाती इलाकों के किसान और कांग्रेस दोनों आन्दोलनों को कुचलने की कोशिश की। ज्यादातर मुख्य-मुख्य कार्यकर्त्ता दोनों आन्दोलनों में एक ही थे।

कुछ दिन बाद, १९२१ में फैजाबाद जिले में दूर-दूर तक दमन का मजा चखाया गया। वहाँ एक अनोखे ढंग से झगड़ा खड़ा हुआ। कुछ देहात के किसानों ने जाकर एक ताल्लुकेदार का माल-असबाब लूट लिया। बाद को पता लगा कि उन लोगों को एक दूसरे जमींदार के नौकर ने भड़का दिया था, जिसका ताल्लुकेदार से कुछ झगड़ा था। उन गरीबों से सचमुच यह कहा गया था कि महात्मा गांधी चाहते हैं कि वे लूट लें, और उन्होंने 'महात्मा गांधी की जय!' बोलते हुए इस आदेश का पालन किया।

जब मैंने यह सुना तो मैं बहुत बिगड़ा और दुर्घटना के एक या दो ही दिन में उसी स्थान पर जा पहुँचा, जो अकबरपुर (फैजाबाद जिला) के पास ही था। मैंने उसी दिन एक सभा बुलायी और कुछ ही घण्टों में पाँच-छः हजार लोग कई गाँवों से, कोई दस-दस मील की दूरी से वहाँ इकट्ठे हो गये। मैंने उन्हें बुरी तरह आड़े हाथों लिया, कि किस तरह उन्होंने अपने-आपको तथा हमारे काम को धक्का पहुँचाया, और शर्मिन्दगी दिलायी और कहा कि जिन-जिनने लूट-पाट की है, वे सबके सामने अपना गुनाह कबूल करें। (उन दिनों मैं गांधीजी के सत्याग्रह की स्पिरिट से, जैसा-कुछ मैं उसे समझता था, भरा हुआ था।) मैंने

उन लोगो से, जो लूट-मार मे शरीक थे, हाथ ऊँचा उठाने के लिए कहा, और कहते ताज्जुब होता है कि बीसों पुलिस-अफसरो के सामने कोई दर्जन हाथ ऊपर उठ गये। इसके मानी थे यकीनन उनपर आफत आना।

जब उनमे से बहुतेरे लोगो से मैने एकान्त मे बात-चीत की और उन्होने सीधे-सादे ढग से सुनाया कि किस तरह उन्हे गुमराह किया गया था, तो मुझे उनकी हालत पर बडा दु ख हुआ और इस बात पर अफसोस होने लगा कि मैने नाहक ही इन सीधे-भोले लोगो को लम्बी-लम्बी सजाये पाने की हालत मे रखा। लेकिन जिन लोगो को सजा भुगतनी पडी वे दो या तीन दर्जन नही थे। सरकार के लिए इतना अच्छा मौका भला कही खोने जैसा था ? उस जिले के किसान-आन्दोलन को कुचलने के लिए इस अवसर का पूरा-पूरा फायदा उठाया गया। एक हजार से ऊपर गिरफ्तारियॉ हुई और जिला-जेल ठसाठस भर गयी। कोई एक साल तक मुकदमे चलते रहे। कितने ही तो मुकदमे के दौरान मे जेल ही मे मर गये। दूसरे कितनो ही को लम्बी-लम्बी सजाये दी गयी। और पिछले दिनो जब मै जेल गया, तो वहॉ उनमे से कुछ से मुलाकात हुई थी। क्या लडके और क्या जवान, सब अपनी जवानी जेल मे काट रहे थे !

भारतीय किसान मे टिके रहने की शक्ति बहुत कम है। ज्यादा दिनो तक मुकाबला करने की उसमे ताकत नही रहती। अकालो और बीमारियो के दोरे मे लाखो मर जाते है। ऐसी दशा मे यह आश्चर्य की बात है। कि एक साल भर तक उन्होने सरकार जमीदार दोनो के सम्मिलित दबाव का मुकाबला करने की ताकत का परिचय दिया। लेकिन वे कुछ-कुछ थकने लग गये थे और सरकार उनके आन्दोलन पर दृढता-पूर्वक हमले करती रहती थी, जिससे अन्त मे उनकी हिम्मत उस समय के लिए तो टूट गयी। फिर भी उनका आन्दोलन धीमी रफ्तार से चलता रहा—हॉ, पहले-जैसे बडे-बडे प्रदर्शन नही होते थे, लेकिन अधिकाश गॉवो मे पुराने कार्यकर्त्ता बच रहे थे जिनपर डर का कोई असर न हुआ

था और जो थोडा-बहुत काम करते रहे। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि यह सब हुआ था काग्रेस के १९२१ के जेल जाने के कार्य-क्रम बनने के पहले। किन्तु इसमे भी किसानो ने, पिछले साल के दमन के बावजूद बहुत-कुछ हाथ बँटाया था।

सरकार किसान-आन्दोलन से डर गयी थी और उसने किसानो-सम्बन्धी कानून को पास करने की जल्दी की। इसके द्वारा किसानो की हालत सुधरने की आशा हुई थी। किन्तु जब देखा कि आन्दोलन काबू मे आ चुका है तो उसको नरम बना दिया गया। इसके द्वारा जो मुख्य परिवर्त्तन किया गया वह था अवध के किसानो को हीन-हयात जमीन पर अधिकार दे देना। यह दिखायी तो दिया था उनके लिए लुभावना, लेकिन अन्त मे साबित यह हुआ कि उनकी हालत मे उससे कुछ भी सुधार नही हुआ।

अवध मे किसानो की हलचले जब-तब होती रहती थी, लेकिन छोटे पैमाने पर। मगर, १९२१ मे जो मन्दी सारे ससार मे आयी, उससे चीजो के भाव गिर गये और इसलिए फिर एक सकट-काल आ खडा हुआ।

: १० :

असहयोग

अवध के किसानो की उथल-पुथल का यहाँ कुछ ब्योरे के साथ मैंने वर्णन किया है, क्योकि उसने भारत की समस्या पर से परदा उठाकर उसका मूल-स्वरूप मेरे सामने खडा कर दिया, जिसपर कि राष्ट्रीय विचारवालो ने शायद ही कुछ ध्यान दिया हो। हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न भागो मे किसानो की हलचले बार-बार होती रहती है, जो कि गहरी अशान्ति के लक्षण है। अवध के कुछ हिस्सो मे जो किसान-आन्दोलन १९२०-२१ मे हुआ वह उसी तरह का था—हालाँकि वह अपने ढग का निराला था, जिससे कई रहस्य सामने आये। उसकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी तरह न तो राजनीति से था, न राजनैतिक पुरुषो से बल्कि शुरू से अखीर तक बाहरी और राजनैतिक लोगो का उसपर कम-से-कम असर था। सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से वह एक मुकामी मामला था, और इसलिए उसकी तरफ बहुत कम ध्यान दिया गया था। यहाँतक कि सयुक्तप्रात के अखबारो ने भी उसकी तरफ बहुत-कुछ लापरवाही ही दिखायी। उनके सम्पादको और उनके अधिकाश शहराती पाठकों के लिए अब नगे किसानों की जमात के उन कामों मे कोई असली राजनैतिक या दूसरे प्रकार का महत्त्व न था।

पजाब और खिलाफत-सम्बन्धी अन्यायो की रोज चर्चा होती थी और असहयोग, जिनके बल पर उन अन्यायो को दूर करने की कोशिश की जानेवाली थी, लोगो की जबान पर एक ही विषय था। सब लोगों का ध्यान उसीमे लगा हुआ था। अलबत्ता शुरू मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बडे प्रश्न, यानी स्वराज्य पर ज्यादा जोर नही दिया जाता था। गाधीजी गोल-मोल और लम्बी-चौडी बातों को पसन्द नही करते है—वह हमेशा किसी खास और निश्चित बात पर सारी ताकत लगाना ज्यादा पसन्द करते है। फिर भी स्वराज्य की बाते वायु-मण्डल मे और

लोगो के दिमागो मे बहुत-कुछ घूमती रहती थी, और जगह-जगह जो सभा-सम्मेलन होते थे, उनमे बार-बार उनका जिक्र आया करता था।

१९२० के सितम्बर मे कलकत्ता मे कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ—पंजाब और खिलाफत के ओर खासकर असहयोग के प्रश्न पर अपना निर्णय देने के लिए। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे, जो लम्बे अरसे से देश से बाहर रहने के बाद हाल ही अमेरिका से लौटे थे। उन्हे असहयोग की यह नयी योजना नापसन्द थी और उन्होने उसका विरोध किया था। हिन्दुस्तान की राजनीति मे वह आम तौर पर गरम-दल के माने जाते थे, लेकिन उनकी साधारण जीवन-दृष्टि निश्चितरूप से वैध और माडरेट थी। इस सदी के शुरू के दिनो परिस्थिति ने—न कि हार्दिक विश्वास या इच्छा ने—उन्हे लोकमान्य तिलक तथा दूसरे गरम-दलवालो का साथी बना दिया था। लेकिन उनका दृष्टि-कोण निश्चय ही सामाजिक तथा आर्थिक था, जो कि उनके जमाने तक विदेशो मे रहने से और भी मजबूत हो गया था, और उसके उनकी कारण दृष्टि अधिकाश हिन्दुस्तानी नेताओ की बनिस्बत ज्यादा व्यापक थी।

विल्फ्रेड स्केवन ब्लण्ट ने अपनी 'डायरियो' मे गोखले और लालाजी के साथ हुई मुलाकातो (१९०९ के लगभग) का हाल लिखा है। दोनो के बारे मे उसने बहुत सख्त लिखा है, क्योकि उसकी राय मे वे बहुत फूंक-फूंककर चलते थे और वास्तविकता का सामना करते हुए डरते थे। लेकिन फिर भी लालाजी दूसरे बहुत-से हिन्दुस्तानी नेताओ से कही ज़्यादा उनका मुकाबला करते थे। ब्लण्ट पर जो छाप पडी उससे तो हम यह समझ सकते है कि उस समय हमारी राजनीति मे हमारे नेताओ की नाडी कितनी धीमी चलती थी और उनका क्या असर एक समर्थ और अनुभवी विदेशी सज्जन पर पडा। लेकिन पिछले बीस बरसो मे उनकी नब्ज की चाल मे बडा फर्क पड गया है।

इस विरोध मे लाला लाजपतराय अकेले न थे। उनके साथ बडे-बडे और प्रभावशाली लोग भी थे। कांग्रेस के करीब-करीब सभी पुराने महारथियो ने गाधीजी के असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया था। देश-

वन्धुदास उस विरोध के अगुवा थे—इसलिए नही कि वह उसकी स्पिरिट को नापसन्द करते थे वह तो उस हद तक बल्कि उससे भी आगे जाने को तैयार थे—बल्कि खासकर इसलिए कि नई कौसिलों के बहिष्कार पर उन्हे ऐतराज था।

पुरानी पीढी के वडे-वडे नेताओं मे एक मेरे पिताजी ही ऐसे थे, जिन्होने उस समय गाधीजी का साथ दिया। उनके लिए ऐसा करना हँसी-खेल न था। उन पुराने साथियो ने जो-जो ऐतराज किये थे उनमे से वहुतेरो को वे ठीक समझते थे और उनका उनपर वहुत असर भी हुआ था। उनकी तरह वे भी एक अज्ञात दिशा मे एक अजीव नये तरीके से आगे वढने मे हिचकिचाते थे, जहाँ जाकर किसीके लिए अपने पुराने तौर तरीके कायम रखना मुश्किल ही था। फिर भी उनके दिल मे एक अनिवार्य कोशिश थी कोई कारगर उपाय करने की और असहयोग के प्रस्ताव मे ऐसे निश्चित उपाय की योजना थी, अलवत्ता वह ठीक उसी तरह की न थी जैसी कि पिताजी चाहते थे। पक्का इरादा करने मे उन्हे वहुत वक्त लगा था। वडी देर-देर तक उन्होने गाधीजी और देशवन्धु से वाते की थी। उन्ही दिनो सयोग से वह और दासवावू दोनो वहुत-कुछ एक साथ पड गये थे, क्योंकि एक वडे मुफस्सिल मुकदमे मे वे दोनो एक-दूसरे के खिलाफ पैरवी के लिए खडे हुए थे। वे दोनो इस मसले को वहुत-कुछ एक ही नुक्ते-निगाह से देखते थे और उनके अन्त के वारे मे भी उनका वहुत कम मत-भेद था। फिर भी, वह थोडा-सा ही मतभेद उनसे विशेष काग्रेस के मुख्य प्रस्ताव का परस्पर-विरोधी पक्ष लिवाने के लिए काफी था। तीन महीने वाद वे फिर नागपुर काग्रेस मे मिले, और तवसे आगे चलकर दोनो एकसाथ चलते रहे और एक-दूसरे के अधिक नजदीक आते चले गये।

उन दिनो, कलकत्ता की विशेष काग्रेस के पहले, मै उनको वहुत कम समझ पाया था। परन्तु जव कभी मै उनसे मिलता, मैने देखा कि वह वरावर इस समस्या का मुकाविला करने मे लगे रहते थे। इस सवाल के राष्ट्रीय स्वरूप के अलावा इसका जाती पहलू भी था। असहयोग के

मानी होते थे उनका वकालत छोड़ देना, जिसके मानी होते थे उनका अपने पुराने जीवन से बिलकुल नाता तोड़ लेना और एक बिलकुल नये जीवन में अपनेको डालना—यह कोई आसान बात नहीं थी, खासकर उस समय जब कि कोई अपनी साठवीं वर्षगाँठ मनाने की तैयार कर रहा हो। पुराने राजनैतिक साथियों से, अपने पेशे से, उस सामाजिक जीवन से जिसके वह अब आदी थे, सबसे ताल्लुक तोड़ना था और कितनी ही खर्चीली आदतों को छोड़ देना था जो अबतक पड़ी हुई थीं। फिर रुपये और खर्च-वर्च का सवाल भी कम महत्त्व का न था, और यह जाहिर था कि अगर वकालत की आमदनी चली गयी तो उन्हें अपने रहन-सहन का स्टैंडर्ड बहुत कम करना होगा।

लेकिन उनकी बुद्धि, उनका जबरदस्त स्वाभिमान, और उनका गर्व—ये सब मिलाकर उन्हें एक-एक कदम नये आन्दोलन की तरफ ही बढ़ाते गये, यहाँतक कि अन्त में वह सोलहो आना उसमें कूद पड़े। उन कई घटनाओं से, जिनका अन्त पंजाब-काण्ड में हुआ, और उसके बाद जो-कुछ हुआ उससे उनके दिल में जो गुस्सा भरता जा रहा था उसको, जो अन्याय या अत्याचार वहाँ हुए थे उनकी याद को, और जो राष्ट्रीय अपमान हुआ उसकी कटुता को बाहर निकलने का कोई मार्ग चाहिए था। लेकिन वह महज उत्साह की लहर में बह जानेवाले न थे। उन्होंने आखिरी फैसला तभी किया और गांधीजी के आंदोलन में तभी कूदे जब उनके दिमाग ने, और एक मँजे हुए वकील के दिमाग ने, सारा आगा-पीछा अच्छी तरह सोच लिया।

गांधीजी के व्यक्तित्व की तरफ वह खिंचे थे और इसमें कोई शक नहीं कि इस बात ने भी उनके निर्णय पर असर डाला था। जिस शख्स को वह नापसन्द करते थे उससे उनका साथ कोई भी शक्ति नहीं करा सकती थी, क्योंकि उनकी रुचि और अरुचि दोनों बड़ी तेज होती थीं। लेकिन यह मिलाप था अनोखा—एक तो साधु, संयमी, धर्मात्मा, जीवन के आनन्द-विलास और शारीरिक सुखों को लात मारनेवाला, और दूसरा कुछ भोग-प्रिय जिसने जीवन के कितने ही आनन्दों का स्वागत

और उपभोग किया और इस बात की बहुत कम परवा की कि परलोक मे क्या होगा ! मनोविश्लेषण-शास्त्र की भाषा मे कहे तो यह एक अन्तर्मुख का एक बहिर्मुख के साथ मिलाप था। फिर भी उन दोनो मे एक प्रेम-बन्धन और एक हित-सम्बन्ध था जिसने दोनो को एक-दूसरे की तरफ खीचा और बॉध रखा—यहॉतक कि जब आगे चलकर दोनो की राजनीति मे अन्तर पड गया तब भी दोनो मे गाढी मित्रता रही।

वाल्टर पेण्टर ने अपनी एक किताब मे बताया है कि कैसे एक साधु और एक शौकीन, एक धार्मिक प्रकृति का और दूसरा उसके विरुद्ध स्वभाव का, परस्पर विरोधी स्थानो से शुरू करके, भिन्न-भिन्न रास्तो मे सफर करते हुए, पर फिर भी दोनो ऐसी जीवन-दृष्टि रखते हुए जो अपने उत्साह और सरगर्मियो मे औरो से उच्च और उदार रहती है, अक्सर एक-दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझते और पहचानते है—बनिस्वत इसके कि उनमे से हरेक दुनिया के किसी साधारण मनुष्य को समझे और पहचाने—और कभी-कभी तो वे दरअसल एक-दूसरे के हृदय को स्पर्श भी करते है।

कलकत्ता के विशेष-अधिवेशन ने काग्रेस की राजनीति मे गाधीयुग को शुरू किया, जो तब से अबतक कायम है—हॉ, बीच मे एक छोटा-सा जमाना (१९२२ से १९२९ तक) जरूर ऐसा गया जिसमे उन्होने अपने आपको पीछे रख लिया था और स्वराज्य-पार्टी को, जिसके नेता देशबन्धुदास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तब से काग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गयी, विलायती कपड़े चले गये और देखते-देखते सिर्फ खादी-ही-खादी दिखायी देने लगी, काग्रेस मे नये किस्म के लोग—प्रतिनिधि—दिखायी देने लगे, जो खास करके मध्यम-वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिन्दुस्तानी, और कभी-कभी तो उस प्रान्त की भाषा जहॉ अधिवेशन होता था, अधिकाधिक बोली जाने लगी, क्योंकि कितने ही डेलीगेट (प्रतिनिधि) अग्रेजी नही जानते थे। राष्ट्रीय कामो मे विदेशी भाषा का व्यवहार करने के खिलाफ भी लोगो के भाव तेजी से बढ रहे थे, और काग्रेस की सभाओ मे साफ तौर पर एक नयी

ज़िन्दगी, नया जोश, और सरगर्मी दिखायी देती थी।

अधिवेशन ख़त्म होने के बाद गांधीजी 'अमृत बाज़ार पत्रिका' के ज़बरदस्त सम्पादक श्री मोतीलाल घोष से मिलने गये जोकि मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे। मैं उनके साथ गया था। मोतीबाबू ने गांधीजी के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और कहा—'मैं तो अब दूसरी दुनिया में जा रहा हूँ। मैं, और तो क्या कहूँ, कहीं भी जाऊँ, मुझे एक बात का बहुत सन्तोष है कि वहाँ ब्रिटिश साम्राज्य न होगा—अब मैं इस साम्राज्य की पहुँच के परे हो जाऊँगा।'

कलकत्ता से लौटते समय मैं गांधीजी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके अति प्यारे बड़े भाई 'बड़ो दादा' से मिलने शान्तिनिकेतन गया। वहाँ कुछ दिन रहे। मुझे याद है कि चार्ली एण्ड्रूज़ ने कुछ किताबें मुझे दी थीं, जो मुझे दिलचस्प मालूम हुई थीं और जिनका मुझ पर बहुत असर भी पड़ा था। उनका विषय था अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य से हुई आर्थिक हानि। इनमें से मॉरेल की लिखी एक किताब—'ब्लैकमेन्स बर्डन'—की मेरे दिलपर बहुत गहरी छाप पड़ी थी।

इन्हीं दिनों या इसके कुछ दिन बाद, एण्ड्रूज़ साहब ने एक पुस्तिका लिखी, जिसमें हिन्दुस्तान के लिए स्वाधीनता की पैरवी की गयी थी। मैं समझता हूँ कि उसका नाम था—'इण्डिपेंडेन्स—दि इमीजिएट नीड'। यह एक बहुत ऊँचे दर्जे का निबन्ध था, जो कि सिली के हिन्दुस्तान-विषयक कुछ लेखों और पुस्तकों के आधार पर लिखा गया था। और मुझे ऐसा लगा कि उसमें स्वाधीनता का प्रतिपादन इतनी अच्छी तरह किया गया है कि उसका कोई जवाब नहीं हो सकता—यही नहीं, बल्कि मुझे वह मेरे हार्दिक भावों का चित्र खींचती हुई मालूम हुई। उसकी भाषा बड़ी सीधी-सादी और सरगर्मी लिये हुए थी। उसमें मानो हमारे दिल को हिला देनेवाली गहरी प्रेरणायें और अधखिली अभिलाषायें साफ़ तौर पर मूर्त बनती दिखायी दीं। न तो वह आर्थिक आधार पर लिखी गयी थी और न उसमें साम्यवाद ही था, उसमें शुद्ध राष्ट्रीयता, हिन्दुस्तान की ज़िल्लत के प्रति मन में सहानुभूति और इससे छुटकारा

पाने की और बरसो के हमारे इस अध पतन का खात्मा कर देने की जबरदस्त ख्वाहिश थी। यह कितनी विचित्र बात है कि एक विदेशी, और सो भी वह जो हमपर हुकूमत करनेवाली जाति का है, हमारे अन्तस्तल की पुकार को इस तरह प्रतिध्वनित करे! असहयोग तो, जैसा कि सिली ने बहुत पहले कह दिया, है, "यह भावना है कि हमारे लिए विदेशियों को अपनी हुकूमत हमपर जमाये रखने मे सहायता पहुँचाना शर्मनाक है।' और एण्ड्रूज ने लिखा है—"आत्मोद्धार का एक ही मार्ग है कि अपने अन्दर मे कोई जबरदस्त हलचल—उभाड—पैदा हो। ऐसे उभाड के लिए जिस बारूद की जरूरत है वह खुद हिन्दुस्तान की रूह मे ही पैदा होनी चाहिए। वह बाहर से किसीके देने, माँगने, मिलने, ऐलान करने और रिआयते देने से नही आ सकती। वह अपने अन्दर से ही आनी चाहिए।' ····· 'इसलिए जब मैने देखा कि ऐसी ही आन्तरिक शक्ति, वह बारूद, दर असल भक् से धडाका कर चुकी है—जब महात्मा गाधी ने भारत के हृदय मे मन्त्र फूँका—'आजाद हो जाओ, गुलाम मत बने रहो, और हिन्दुस्तान की हृत्तन्त्री उसी स्वर मे झनझना उठी—तो मेरे मन और आत्मा उस असह्य बोझ से छुटकारा पाने की खुशी से नाच उठे। एक आकस्मिक हलचल के साथ उसकी बेडियाँ ढीली हुई और आजादी का रास्ता खुल गया।"

अगले तीन मास मे सारे देश भर मे असहयोग की लहर बढती चली गयी। नयी कौन्सिलो का बहिष्कार करने की जो अपील की गयी थी उसमे आश्चर्यजनक सफलता मिली। यह बात नही कि सभी लोग वहाँ जाने से रुक गये, या रुक सकते थे, और इस तरह तमाम सीटे खाली रखी जा सकती थी। बल्कि मुट्ठीभर वोटर भी चुनाव कर सकते थे और अविरोध चुनाव भी हो सकता था। लेकिन हाँ, यह सच है कि अधिकाश वोटर—मतदाता—वोट देने नही गये, और वे सब उम्मीदवार जिन्हे देश की पुकार का खयाल था, कौन्सिलों के लिए खडे नहीं हुए। चुनाव के दिन सर वेलेन्टाइन शिरोल दैवयोग से इलाहबाद मे थे और चुनाव के मुकामों पर खुद देखने गये थे। वह बायकाट की सफलता को

देखकर दग रह गये। एक देहाती चुनाव-स्टेशन पर, जो कि इलाहाबाद शहर से पन्द्रह मील दूर था, उन्होंने देखा कि एक भी वोटर वोट देने नही गया था। हिन्दुस्तान पर लिखी अपनी एक पुस्तक मे उन्होंने अपने इस अनुभव का वर्णन किया है।

यद्यपि देशबन्धु दास तथा दूसरे लोगो ने कलकत्ता-अधिवेशन मे बहिष्कार की उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया था, तो भी आखिर को उन्होने काग्रेस के फैसले को माना। चुनाव हो जाने के बाद मतभेद भी दूर हो गया और नागपुर काग्रेस (१९२०) मे फिर बहुत से पुराने काग्रेसी नेता असहयोग के मञ्च पर आकर मिल गये। उस आन्दोलन की कामयाबी ने बहुतेरे डॉवाडोल और सन्देह रखनेवालो को कायल कर दिया था।

फिर भी, कलकत्ता के बाद, कुछ पुराने नेता काग्रेस से पीछे हट गये, जिनमे एक मशहूर और लोकप्रिय नेता थे श्री जिन्ना। सरोजिनी नायडू ने उन्हे 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का राजदूत' कहा था और पिछले दिनो मे उन्हीकी बदौलत मुस्लिम-लीग का काग्रेस के नजदीक आना बहुत-कुछ मुमकिन हुआ था, मगर काग्रेस ने बाद मे जो रूप धारण किया—असहयोग को तथा अपने नये विधान को अपनाया, जिससे वह ज्यादातर जनता का सगठन बन गयी, वह उन्हे कतई नापसन्द था। उनके मतभेद का कारण यो तो राजनैतिक बताया गया था, परन्तु वह मुख्यत राजनैतिक न था। उस समय की काग्रेस मे ऐसे बहुत-से लोग थे जो राजनैतिक विचारो मे जिन्ना साहब से पीछे ही थे। पर बात यह है कि काग्रेस के इस नये रग-रूप से उनका स्वभाव मेल नही खाता था। उस खादीधारी भब्भड मे, जो हिन्दुस्तानी मे व्याख्यान देने का मतालबा करती थी, वह अपने को बिलकुल बेमेल पाते थे। बाहर लोगो मे जो जोश था वह उन्हे पागलो की उछल-कूद-सा मालूम होता था। उनमे और भारतीय जनता मे उतना ही फर्क था जितना कि सेवाइल रो, बॉण्ड स्ट्रीट मे और झोपडोवाले हिन्दुस्तानी गॉवो मे है। एक बार उन्होने खानगी मे सुझाया था कि सिर्फ मैट्रिक पास ही काग्रेस में लिये जावे।

में नही कह सकता कि उन्होने दरअसल सजीदगी के साथ ही यह बात सुझायी थी। परन्तु यह सच है कि वह उनके साधारण दृष्टिकोण के मुआफिक ही थी। इस तरह वह काग्रेस से दूर चले गये और हिन्दुस्तान की राजनीति मे अकेले-से पड गये। दुख की बात है कि आगे जाकर एकता का यह पुराना एलची उन प्रतिगामी लोगो मे मिल गया, जो मुसलमानो मे बहुत ही सम्प्रदायवादी थे।

माडरेटो या यो कहे कि लिबरलो का तो काग्रेस से कोई ताल्लुक ही न रहा था। वे उससे सिर्फ दूर ही नही हट गये, बल्कि सरकार मे घुल-मिल गये। नयी योजना के अन्दर मिनिस्टर और बडे-बडे अफसर बने और असहयोग तथा काग्रेस का मुकाबला करने मे सरकार की मदद की। वे जो-कुछ चाहते थे, करीब-करीब सब उन्हे मिल गया था—यानी कुछ सुधार दे दिये गये थे, और इसलिए अब उन्हे किसी आन्दोलन की जरूरत न थी। सो, एक ओर देश जहाँ जोश-खरोश से उबल रहा था, और अधिकाधिक क्रान्तिकारी बनता जा रहा था, तहाँ वे खुले आम क्रान्ति-विरोधी, खुद सरकार के एक अग बन गये। वे लोगो से कटकर बिलकुल अलग जा पडे और तबसे हर मसले को हाकिमो के दृष्टि-बिन्दु से देखने की उनको आदत पड गयी, जो अबतक कायम है। सच्चे अर्थ मे उनकी अब कोई पार्टी नही रह गयी है—सिर्फ चन्द लोग रह गये है सो भी कुछ बडे-बडे शहरो मे।

फिर भी यह न समझिए कि लिबरल लोग निश्चिन्त थे। खुद अपने ही लोगो से कटकर अलहदा पड जाना, जहाँ दुश्मनी नही दिखायी या सुनायी देती हो वहाँ भी दुश्मनी समझना कोई आनन्ददायी अनुभव नही कहा जा सकता। जब सारी जनता उभड उठती है तो वह अपने से अलहदा रहनेवालो के प्रति मेहरबान नही रह सकती। हालाँकि गाधीजी की बार-बार की चेतावनियो ने असहयोग को मुखालिफो के लिए उससे कही अधिक मृदुल और सौम्य बना दिया था जितना कि दूसरी हालत मे वह हो सकता था। लेकिन फिर भी महज उस वायुमण्डल ने ही उनका दम बन्द कर दिया था जो उसका विरोध करते थे, जिस तरह

कि वह उन लोगों को बल और स्फूर्ति देता था और उनमें जीवन तथा कार्य-शक्ति का सञ्चार करता था, जो कि उसके हामी थे। जनता के उभाड और सच्चे क्रान्तिकारी आन्दोलनों के हमेशा ऐसे दोहरे असर होते हैं, वे उन लोगों को जो जनता में से होते हैं या जो उनकी तरफ हो जाते हैं, उत्साहित करते हैं और उनको आगे लाते हैं, और साथ ही उन लोगों के विचारों को दबाते हैं और उनको पीछे हटा देते हैं जो उनसे मतभेद रखते हैं।

यही कारण है जो कुछ लोगों की यह शिकायत थी कि असहयोग में तो सहनशीलता का अभाव है और उसमें अन्धे की तरह एकसी राय देने और एकसे काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। इस शिकायत में सचाई तो थी, लेकिन वह थी इस बात में कि असहयोग जनता का एक आन्दोलन था और उसका अगुआ था ऐसा ज़बर्दस्त शख्स जिसे हिन्दुस्तान के करोड़ों लोग भक्ति-भाव से देखते थे। मगर इससे भी गहरी सच्चाई तो थी जनता पर हुए उसके असर में। ऐसा अनुभव होता था मानो किसी कैद से या बोझ से वह छुटकारा पा गयी हो और आजादी का एक नया भाव आ गया हो। जिस भय से वह अबतक दबी और कुचली जा रही थी वह पीछे हट गया था और उसकी कमर सीधी और सिर ऊँचा हो गया था। यहाँतक कि दूर-दूर के बाजारों में भी राह चलते लोग कांग्रेस और स्वराज की (क्योंकि नागपुर-कांग्रेस ने स्वराज को अपना ध्येय बना लिया था), पंजाब की घटनाओं की तथा खिलाफत की बातें करते थे। लेकिन 'खिलाफत' शब्द के अजीब मानी देहात के लोग समझते थे। लोग समझते थे कि यह 'खिलाफ' से बना है और इसलिए वे इसके मानी करते थे 'सरकार के खिलाफ'। हाँ, वे अपने खास-खास आर्थिक कष्टों पर भी बात-चीत करते थे। बेशुमार सभायें और सम्मेलन हुए और उनमें उनमें बहुत-कुछ राजनैतिक शिक्षा फैली।

हममें से बहुत लोग जो कांग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करने में लगे हुए थे, १९२१ में मानो एक किस्म के नशे में मतवाले हो रहे थे। हमारे जोश, आशावाद और उछलते हुए उत्साह का ठिकाना न था। हमें वैसा

आनन्द और सुख का स्वाद आता था जैसा किसी शुभ काम के लिए धर्म-युद्ध करनेवाले को होता है। हमारे मन मे न शकाओ के लिए जगह थी, न हिचक के लिए; हमे अपना रास्ता अपने सामने बिलकुल साफ दिखाई देता था, और हम आगे बढ़ते चले जाते थे, दूसरो के उत्साह से उत्साहित होते तथा दूसरो को और आगे धक्का देते थे। हमने जी-जान लगाकर काम करने मे कोई बात उठा न रक्खी, इतनी बडी मेहनत हमने कभी न की थी, क्योकि हम जानते थे कि सरकार से मुकाबला शीघ्र ही होनेवाला है, और सरकार हमे उठाकर अलग कर दे, इससे पहले हम ज्यादा-से-ज्यादा काम कर डालना चाहते थे।

इन सब बातो से बढकर हमारे अन्दर आजादी का और आजादी के गर्व का भाव आ गया था। यह पुराना भाव कि हम दबे हुए है और हमे कामयाबी नही हो सकती, बिलकुल चला गया था। अब न तो डरसे काना-फूँसी होती थी और न गोल-मोल कानूनी भाषा इस्तैमाल की जाती थी, कि जिससे अधिकारियो के साथ झगडा मोल लेने से अपनेको बचाया जा सके। हम वही करते थे जो हम मानते थे और महसूस करते थे, और उसे खुल्लमखुल्ला डके की चोट कहते थे। हमे उसके नतीजे की क्या परवा थी? जेल? उसकी हम राह ही देख रहे थे। उससे तो हमारे उद्देश्य-सिद्धि मे मदद ही पहुँचानेवाली थी। बेशुमार भेदिया और खुफिया पुलिस के लोग हमे घेरे रहते थे और हम जहाँ जाते वहाँ साथ रहते थे। उनकी हालत दयाजनक हो गयी थी, क्योकि हमारे पास उनके पता लगाने के लिए कोई छिपी बात ही न थी। हमारी सारी बाजी खुली थी।

हमको इस बात का ही सिर्फ सतोष न था कि हम एक सफल राज-नैतिक काम कर रहे है, जिससे हमारी आँखो के सामने भारत की तसवीर बदलती जा रही है, और जो, जैसा कि हमारा विश्वास था, हिन्दुस्तान की आजादी बहुत नजदीक आ रही थी। बल्कि हमारे अन्दर एक नैतिक उच्चता का भाव भी पैदा हो गया था कि हमारे साध्य और साधन दोनो हमारे मुखालिफो के मुकाबले मे अच्छे और ऊँचे है। हमे अपने नेता पर और उसके बताये लासानी तरीके पर फख्र था और कभी-

कभी हम अपने को सत्पुरुष मानने का दावा करने लगते थे। लड़ाई के जारी होते हुए भी और हमारे खुद उसमें लिप्त होते हुए और उसे बढ़ावा देते हुए भी एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता था।

ज्यों-ज्यों हमारा नैतिक तेज, हमारा सत्त्व, बढ़ता गया, त्यों-त्यों सरकार का तेज घटता गया। उसकी समझ में नहीं आता था कि यह हो क्या रहा है। ऐसा जान पड़ता था कि हिन्दुस्तान में उनकी परिचित पुरानी दुनिया एकाएक ढहे जा रही है। दूर-दूर तक एक नयी आक्रामक स्पिरिट और आत्मावलम्बन और निर्भयता के भाव फैल रहे हैं और भारत में ब्रिटिश हुकूमत का बहुत बड़ा सहारा—रौब—सरेदस्त गिरता जा रहा है। थोड़ा-थोड़ा दमन करने में आन्दोलन उलटा बढ़ता जाता था और सरकार बहुत देर तक बड़े-बड़े नेताओं पर हाथ डालने से हिचकती ही रही। वह नहीं जानती थी कि इसका नतीजा आखिर क्या होगा। हिन्दुस्तानी फौज पर भरोसा रखा जा सकता है या नहीं? पुलिस हमारे हुक्मों पर अमल करेगी या नहीं? दिसम्बर १९२१ में लार्ड रीडिंग ने तो कह ही दिया था कि हम 'हैरान और परेशान हो रहे हैं।'

१९२१ की गर्मियों में युक्तप्रान्त की सरकार की ओर से जिला-अफसरों के नाम एक मजेदार गुप्त गश्ती-चिट्ठी भेजी गयी थी। वह बाद को एक अखबार में भी छप गयी थी। उसमें दुःख के साथ यह कहा गया था कि इस आन्दोलन में प्रारम्भिक सूत्र हमेशा दुश्मन यानी कांग्रेस के हाथों में है, और प्रारम्भिक सूत्र सरकार के हाथों में आ जाय, इसके लिए उसमें तरह-तरह के उपाय बताये गये थे, जिनमें एक था निकम्मी 'अमन सभाओं' को कायम करना। यह माना जाता था कि असहयोग ने लड़ने का यह तरीका लिबरल मिनिस्टरों का सुझाया हुआ था।

कितने ही ब्रिटिश अफसरों के होश-हवास गुम होने लगे थे। दिमागी परेशानी कम न थी। दिन-दिन प्रबल होनेवाला विरोध और हुकूमत का मुकाबला करने की स्पिरिट हाकिमों के सिर पर घने मानसूनी बादलों की तरह मँडरा रहे थे, परन्तु फिर भी चूँकि कांग्रेस के साधन शान्तिमय थे उन्हें उसका मुकाबला करने, उसपर हावी होने या ज़ोर के साथ

घर दबाने का कोई मौका नहीं मिलता था। औसत दर्जे के अंग्रेज इस बात को नहीं मानते थे, कि हम कांग्रेसी सच्चे दिल से अहिंसा चाहते हैं। वे समझते थे कि यह सब धोखा-धडी है—किसी गहरी छिपी साजिश को छिपाने का बहाना-मात्र है, जो किसी-न-किसी दिन एक हिंसात्मक उत्पात के रूप मे फूट पडनेवाली है। अंग्रेजों को बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि पूरब एक रहस्यमय देश है, और वहाँके बाजारो और तग गलियो मे दिन-रात छिपी साजिशे होती रहती है। इसलिए वे इन रहस्यमय समझे जानेवाले देशो के मामलो को सीधा नही देख सकते। वे एक पूरब के पुरुष को जो सीधा-सादा और रहस्य से खाली है, समझने की कभी कोशिश ही नही करते। वे उससे एक दूरी पर ही रहते है, उसके बारे मे जो-कुछ खयाल बनाते है वे भेदिया और खुफिया पुलिस के द्वारा मिली भली-बुरी खबरो के आधार पर बनाते है, और फिर उसके सम्बन्ध मे अपनी कल्पना की उडान को खुला छोड देते है। अप्रैल १९१९ के शुरू म पजाब मे ऐसा ही हुआ। अधिकारियों मे और आम तौर पर अंग्रेज लोगो मे एकाएक दहशत फैल गयी। उन्हे हर जगह खतरा-ही-खतरा, एक बगावत, एक दूसरा गदर जिसमे भयानक मारकाट होगी, दिखायी देने लगा और हर सूरत मे ऑखे मूंदकर आत्म-रक्षा की सहज वृत्ति ने उनसे वे-वे भयकर काण्ड करा डाले, जिनके अमृतसर का जालियाँवाला-बाग और रेगनेवाली गली ये प्रतीक और दूसरे नाम हो गये।

१९२१ का साल बडी तनातनी का साल था, और उसमे बहुत-सी ऐसी बाते हुई जिनसे हाकिमो को चिढने, बिगडने और घबराने या डर जाने की गुंजाइश थी। जो कुछ दर-असल हो रहा था वह तो बुरा था ही, परन्तु जो-कुछ खयाल कर लिया गया वह उससे भी बुरा था। मुझे एक घटना याद है, जिससे इस कल्पना की घुडदौड का नमूना मिल जायगा। मेरी बहन सरूप की शादी इलाहाबाद मे दस मई १९२१ को होनेवाली थी। देशी तिथि के हिसाब से पचाग मे शुभ-दिन देखकर यह तारीख मुकर्रर की गयी थी। गाधीजी तथा दूसरे कांग्रेसियो को, जिनमे, अली-बन्धु भी थे, निमत्रण दिया गया था, और उनकी सुविधा का खयाल

करके उसी समय के आस-पास कार्य-समिति की भी बैठक इलाहाबाद मे रख ली गयी थी। स्थानिक काग्रेसी चाहते थे कि बाहर से आये हुए नामी-नामी नेताओ की मौजूदगी से फायदा उठाया जाय और इसलिए उन्होने बडे पैमाने पर एक जिला-कान्फरेन्स का आयोजन किया। उन्हे उम्मीद थी कि आस-पास के देहात के किसान लोग बहुत बडी तादाद मे आ जायँगे।

इन राजनैतिक सभाओ की बदौलत इलाहाबाद मे खूब चहल-पहल और जोश छाया हुआ था। इससे कुछ लोगो के दिलो मे अजीब घबडाहट छा गयी। एक रोज एक बैरिस्टर-दोस्त से मैने सुना कि इस आयोजन से कितने ही अग्रेजो के होश ठिकाने न रहे और उन्हे डर हो गया कि शहर मे एकाएक कोई बवडर खडा हो जानेवाला है। हिन्दुस्तानी नौकरो पर से उनका विश्वास हट गया और वे अपनी जेब मे पिस्तौल रखने लगे। खानगी मे यहाँतक कहा गया कि इलाहाबाद का किला इस बात के लिए तैयार रखा गया था कि जरूरत पडने पर तमाम अग्रेजो को पनाह के लिए वहाँ भेज दिया जाय। मुझे यह सुनकर बडा ताज्जुब हुआ और इस बात को समझ न सका कि कोई क्यो इलाहाबाद जैसे सोये हुए और शान्तिमय शहर मे ऐसे किसी बवडर का अन्देशा रक्खे, खासकर उसी समय जब कि खुद अहिंसा का दूत ही वहाँ आ रहा हो। ओफ! यहाँ तक कहा गया कि दस मई, (और इत्तिफाक से यही तारीख मेरी बहन की शादी की नियत हो गयी) १८५७ को मेरठ मे जो गदर शुरू हुआ था उसीका सालाना जलसा करने की ये तैयारियाँ हो रही है।

१९२१ मे खिलाफत-आन्दोलन को बहुत प्रधानता दी गयी थी, इससे कितने ही मौलवी और मुसलमानो के मजहबी नेताओ ने इस राजनैतिक लडाई मे बडा हाथ बँटाया था। उन्होने इस हलचल पर एक निश्चित मजहबी रग चढा दिया था और मुसलमान लोग आम तौर पर उससे बहुत प्रभावित हुए थे। बहुत-से पश्चिमी रग मे रँगे हुए मुसलमान भी, जिनका कोई खास झुकाव मजहब की तरफ नही था, डाढी रखने तथा शरीयत के दूसरे फरमानो की पाबन्दी करने लगे थे। बढते हुए पश्चिमी

असर के और नये खयालात के सबब से मौलवियो का जो असर और रौब घटता जा रहा था वह फिर बढ़ने और मुसलमानो पर अपनी धाक जमाने लगा। अली-भाइयो ने भी, जो खुद भी मजहबी तबीयत के आदमी थे, और इसी तरह गाधीजी ने भी, इस सिलसिले को और ताकत दी, जो मौलवी और मौलानाओ को बहुत ही इज्जत दिया करते थे।

इसमे कोई शक नही कि गाधीजी बराबर आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर जोर दिया करते थे। उनका धर्म रूढियो से जकडा हुआ न था, परन्तु उसकी यह मशा जरूर थी कि जीवन को देखने की दृष्टि धार्मिक हो। और इसलिए सारे आन्दोलन पर उसका बहुत प्रभाव पडा था तथा, जहाँतक जनता से ताल्लुक है, वह उसे एक पुनरुद्धार का आन्दोलन मालूम होता था। काग्रेस के बहुसख्यक कार्यकर्त्ता स्वभावत अपने नेता का अनुकरण करने लगे और कितने ही तो उनकी तरह भाषा भी बोलने लगे। और फिर भी कार्य-समिति मे गाधीजी के मुख्य-मुख्य साथी थे—मेरे पिताजी, देशबन्धुदास, लाला लाजपतराय और दूसरे लोग—जो साधारण अर्थ मे धार्मिक पुरुष न थे, और राजनैतिक मसलो को राजनैतिक कक्षा मे ही रखकर विचार करते थे। अपने व्याख्यानो और वक्तव्यो मे वे धर्म को नही लाया करते थे। मगर वह जो कुछ कहते थे उससे उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का ज्यादा असर होता था—क्योकि उन्होने वह सब बहुत-कुछ छोड दिया, जिसको दुनिया कीमती समझती है, और पहले से ज्यादा सादी रहन-सहन अख्त्यार कर ली। त्याग खुद ही धर्म का एक चिन्ह समझा जाता है और इसने भी पुनरुद्धार के वायु-मण्डल को फैलाने मे मदद की।

राजनीति मे, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनो तरफ धार्मिकता की इस बढ़ती से कभी-कभी मुझे परेशानी होती थी। मुझे वह बिलकुल पसन्द न थी। मौलवी, मौलाना और स्वामी तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो-कुछ अपने भाषणो मे कहते उसका अधिकाश मुझे बहुत कुफल पैदा करनेवाला मालूम होता था। उसका सारा इतिहास, सारा समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र मुझे गलत दिखायी देता था और हर चीज को जो

मजहवी मरोड दी जाती, उससे स्पष्ट विचार करना रुक जाता था। कुछ-कुछ तो गाधीजी के भी शब्द-प्रयोग मेरे कानो को खटकते थे— जैसे 'रामराज्य', जिसे वह फिर लाना चाहते है। लेकिन उस समय मुझमे दखल देने की शक्ति न थी, और मै इसी खयाल से तसल्ली कर लिया करता था कि गाधीजी ने उनका प्रयोग इसलिए किया है कि इन शब्दो को सब लोग जानते है और जनता इन्हे समझ लेती है। उनमे जनता के हृदय तक पहुँच जाने की विलक्षण स्वभाव-सिद्ध कला है।

लेकिन मै इन बातो की झञ्झट मे ज्यादा नही पडता था। मेरे पास काम इतना ज्यादा था और हमारे आन्दोलन की प्रगति इस तेजी से हो रही थी कि ऐसी छोटी-छोटी बातो की परवा करने की जरूरत न थी, क्योंकि उस समय मै उन्हे वैसा ही न-कुछ समझता था। किसी बडे आन्दोलन मे हर किस्म के लोग रहते है, और जबतक हमारी असली दिशा सही है, कुछ भँवरो और चक्करो से कुछ बिगड नही सकता। और खुद गाधीजी को ले, तो वह ऐसे शख्स थे जिन्हे समझना बहुत मुश्किल था। कभी-कभी तो उसकी भाषा औसत दर्जे के आधुनिक आदमी की समझ मे प्राय नही आती थी। लेकिन हम यह मानते थे कि हम उन्हे इतना जरूर अच्छी तरह समझ गये है कि वह एक महान और अद्वितीय पुरुष और तेजस्वी नेता है और जबकि हमने उनपर कम-से-कम उस समय तो श्रद्धा रखी थी, तो मानो हमने कोरे कागज पर ही दस्त-खत करके उनके हवाले कर दिया था। अक्सर हम आपस मे उनके इन खब्तो और विचित्रताओ की चर्चा किया करते थे और कुछ-कुछ दिल्लगी मे कहा करते थे कि जब स्वराज्य आ जायेगा, तब इन खब्तो को इस तरह आगे न चलने देगे।

इतना होने पर भी हममे से बहुत-से लोग राजनैतिक तथा दूसरे मामलो मे उनके इतने प्रभाव मे थे कि धर्म-क्षेत्र मे भी बिल्कुल आजाद बने रहना असम्भव था। जहाँ सीधे हमले से कामयाबी की उम्मीद न थी, वहाँ जरा चक्कर खाकर जाने से बहुत हद तक प्रभाव पडे बिना न रहता। धर्म के बाहरी आचार कभी मेरे दिल मे जगह न कर पाये,

और सबसे बडी बात तो यह कि मुझे इन धार्मिक कहलानेवाले लोगो के द्वारा जनता का चूसा जाना बहुत नापसन्द था, मगर फिर भी मैने धर्म के प्रति नरमी अख्त्यार कर ली थी। अपने ठेठ बचपन से लेकर किसी भी समय की बनिस्बत १९२१ मे मेरा मानसिक झुकाव धर्म की तरफ ज्यादा हुआ था। लेकिन तब भी मै उसके बहुत नजदीक नही पहुँचा था।

जिस का मैं आदर करता था वह तो था उस आन्दोलन का नैतिक और सदाचार-सम्बन्धी पहलू और सत्याग्रह। मैने अहिसा के सिद्धान्त को सोलहो आने नही मान लिया था, या हमेशा के लिए नही अपना लिया था, लेकिन हाँ, वह मुझे अपनी तरफ अधिकाधिक खीचता चला जाता था और यह विश्वास मेरे दिल मे पक्का बैठता जाता था कि हिन्दुस्तान की जैसी परिस्थिति बन गयी है, हमारी जैसी परम्परा और जैसे सस्कार है उन्हे देखते हुए यही हमारे लिए सही नीति है। राजनीति को आध्यात्मिकता के—तग और मजहबी मानी मे नही—साँचे मे ढालना मुझे एक उम्दा खयाल मालूम हुआ। निस्सन्देह एक उच्च ध्येय को पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहिएँ—यह एक अच्छा नीति-सिद्धान्त ही नही, बल्कि भ्रमरहित व्यावहारिक राजनीति भी थी, क्योकि जो साधन अच्छे नही होते, वे अक्सर हमारे उद्देश्य को ही विफल बना देते है और नयी समस्याये और नयी दिक्कते पैदा कर देते है। और ऐसी दशा मे, एक व्यक्ति या एक कौम के लिए, ऐसे साधनो के सामने सिर झुकाना—दलदल मे से गुजरना, कितना बुरा, कितना स्वाभिमान को गिरानेवाला मालूम होता था! उससे अपने को कलुषित किये बिना कोई कैसे बच सकता था? अगर हम सिर झुकाते है, या पेट के बल रेगते है, तो कैसे हम अपने गौरव को कायम रखते हुए तेजी के साथ आगे बढ सकते है?

उस समय मेरे विचार ऐसे थे। और असहयोग-आन्दोलन ने मुझे वह चीज दी कि जो मै चाहता था—कौमी आजादी का ध्येय और (जैसा मैने समझा) निचले दर्जे के लोगो के शोषण का अन्त कर देना, और ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावो के मुआफिक थे और जिन्होने मुझे

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का भान कराया। यह व्यक्तिगत सतोष मुझे इतना ज्यादा मिला कि नाकामयाबी के अन्देशे की भी मैं ज्यादा परवा न करता था, क्योकि ऐसी असफलता तो थोडे समय के लिए ही हो सकती थी। भगवद्गीता के आध्यात्मिक भाग को मैं न तो समझा था और न उसकी तरफ मेरा खिचाव ही हुआ था, लेकिन हाँ, उन श्लोको को पढ़ना पसन्द करता था, जो शाम को गाधीजी के आश्रम मे प्रार्थना के समय पढे जाते थे, और जिनमे यह बताया गया है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए शान्त, स्थिर, गभीर, अचल, निष्काम भाव से कर्म करनेवाला और फल के विषय मे अनासक्त। मैं खुद बहुत शान्त-स्वभाव या अनासक्त नही हूँ, इसीलिए शायद यह आदर्श मुझे अच्छा लगा होगा।

: ११ :

पहली जेल-यात्रा

१९२१ का साल हमारे लिए एक असाधारण वर्ष था। राष्ट्रीयता और राजनीति और धर्म, भावुकता और धर्मान्धता का एक अजीब मिश्रण हो गया था। इस सबकी तह मे किसानों की अशान्ति और बड़े शहरों का बढता हुआ मजदूरवर्गीय आन्दोलन था। राष्ट्रीयता और अस्पष्ट किन्तु देशव्यापी जबर्दस्त आदर्शवाद ने इन सब भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी असन्तोषों को मिला देने का प्रयत्न किया, और इसमे बडी हद तक कामयाबी भी मिली। परन्तु इस राष्ट्रीयता को कई शक्तियो से वल मिला था। उसकी तह मे थी हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता, जिसका ध्यान कुछ-कुछ हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर भी खिचा हुआ था, और हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता, जो जमाने की स्पिरिट के अधिक अनुकूल थी। उस समय ये सब एक-दूसरे मे मिल-जुलकर साथ-साथ चलने लगी थीं। हर जगह 'हिन्दू-मुसलमान की जय' थी। यह देखने लायक वात थी कि किस तरह गाधीजी ने सब वर्गों और सब गिरोहो के लोगों पर जादू-सा डाल दिया था, और उन सबको एक दिशा मे चलनेवाला एक पचरगी दल बना लिया था। वास्तव मे वह 'लोगों की धुँधली अभिलाषाओ का एक मूर्त रूप' (जो वाक्य कि एक-दूसरे ही नेता के विषय मे कहा गया है) बन गये थे।

इससे भी ज्यादा निराली वात यह थी कि ये सब अभिलाषाये और उमगे उन विदेशी हाकिमों के प्रति घृणा-भाव से कही मुक्त थी, जिनके खिलाफ वे इस्तैमाल हो रही थी। राष्ट्रीयता मूल मे ही एक विरोधरूपी भाव है, और यह जीता और पनपता है दूसरे राष्ट्रीय समुदायों के, खासकर किसी शासित देश के विरोधी शासको के खिलाफ घृणा और क्रोध के भावो पर। १९२१ मे हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश लोगो के खिलाफ घृणा और क्रोध जरूर था, मगर इसी हालतवाले दूसरे मुल्कों के मुकाबले

से यह निहायत ही कम था। इसमें शक नहीं कि यह बात हुई है गांधीजी के अहिंसा के रहस्य पर ज़ोर देते रहने के कारण ही। इसका यह भी कारण था कि सारे देश में आन्दोलन चालू होने के साथ ही यह भावना आ गयी थी कि हमारे बन्धन टूट रहे हैं, हमारा बल बढ़ रहा है, और नज़दीक भविष्य में कामयाब हो जाने का व्यापक विश्वास पैदा हो गया था। जब हमारा काम अच्छी तरह चल रहा हो और जब हम जल्दी ही सफल हो जानेवाले हों तो नाराज़ होने और नफरत करने में फायदा ही क्या है? हमें लगा कि उदार बनने में हमारा कुछ बिगाड़ नहीं।

मगर हमारे अपने ही कुछ देशवासियों के प्रति, जो हमारे ख़िलाफ हो गये थे और राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करते थे, हम अपने दिलों से इतने उदार नहीं थे, हालाँकि जो-जो काम हम करते थे और ख़ूब आगा-पीछा सोचकर करते थे, उनके प्रति घृणा या क्रोध का तो कोई सवाल ही न था, क्योंकि उनकी कोई वकत नहीं थी, और हम उनकी उपेक्षा कर सकते थे। मगर हमारे दिल की गहराई में उनकी कमज़ोरी, समय-साधुता तथा उनके द्वारा राष्ट्रीय सम्मान और स्वाभिमान के गिरा दिये जाने के कारण हिकारत भरी हुई थी।

इस तरह हम चलते रहे—अस्पष्टता से, किन्तु उत्कटता के साथ, और हम इस आनन्द में मग्न थे कि हमने अपना हथियार चला दिया है। मगर लक्ष्य के बारे में तो स्पष्ट विचार का बिल्कुल अभाव था। अब तो इस बात पर ताज्जुब ही होता है कि हमने सैद्धान्तिक पहलुओं को, अपने आन्दोलन के बुनियादी उसूलों को, और जिस निश्चित चीज़ को हमें प्राप्त करना है उसे, किस बुरी तरह से भुला दिया था। बेशक, हम स्वराज के बारे में बहुत बढ़-चढ़कर बातें करते थे, मगर शायद हर व्यक्ति जैसा चाहता वैसा उसका मतलब निकाला करता था। ज़्यादातर नवयुवकों के लिए तो इसका मतलब था राजनैतिक आज़ादी या ऐसी ही कोई चीज़, और लोकतन्त्री ढंग की शासन-प्रणाली, और यही बात हम अपने सार्वजनिक भाषणों में कहा करते थे। बहुत लोगों ने यह भी सोचा था कि इससे लाज़मी तौर पर मज़दूरों और किसानों के वे बोझे

जिनके तले वे कुचले जा रहे हैं हल्के हो जायेंगे। मगर यह जाहिर था कि हमारे ज्यादातर नेताओं के दिमाग में स्वराज का मतलब आजादी से बहुत छोटी चीज थी। गांधीजी इस विषय पर एक अजीब तौर पर अस्पष्ट रहते थे और इस बारे में साफ विचार कर लेनेवालों को वह बढ़ावा नहीं देते थे। मगर हाँ, हमेशा अस्पष्टता से ही किन्तु निश्चित रूप से, पददलित लोगों को लक्ष्य करके बोला करते थे, और इससे हम कइयों को बड़ी तसल्ली होती थी, हालाँकि उसीके साथ वह ऊँची श्रेणीवालों को भी कई प्रकार के आश्वासन दे डालते थे। गांधीजी का जोर किसी सवाल को बुद्धि से समझने पर कभी नहीं होता था, बल्कि चरित्रबल और पवित्रता पर रहता था, और उन्हें हिन्दुस्तान के लोगों को दृढ़ता और चरित्रबल देने में आश्चर्यजनक सफलता मिली भी। फिर भी ऐसे बहुत-से लोग थे, जिनमें न अधिक दृढ़ता बढ़ी, न चरित्रबल बढ़ा, मगर जो समझ बैठे थे कि ढीला-ढाला शरीर और कुम्हलाया हुआ चेहरा ही पवित्रता की प्रतिमूर्ति है।

जनता की यह असाधारण चुस्ती और मजबूती ही हममें विश्वास भर देती थी। हिम्मत हारे, पिछड़े और दबे हुए लोग अचानक अपनी कमर सीधी और सिर ऊँचा करके चलने लगे और एक देशव्यापी, सुनियंत्रित और सम्मिलित उपाय में जुट पड़े! हमने समझा कि इस उपाय में ही जनता को अदम्य शक्ति मिल जायगी। मगर उपाय के साथ उसके मूलस्थ विचार की आवश्यकता का खयाल हमने छोड़ दिया। हमने भुला दिया कि एक ज्ञानपूर्वक निश्चित विचार-प्रणाली और उद्देश्य के बिना, जनता की शक्ति और उत्साह बहुत-कुछ धुँधुआकर रह जायगा। किसी हदतक हमारे आन्दोलन में धर्म-जाग्रति के बल ने हमें आगे बढ़ाया। और वह यह भावना थी कि राजनैतिक या आर्थिक आन्दोलनों के लिए या अन्यायों को दूर करने के लिए अहिंसा का प्रयोग करना एक नया ही सन्देश है, जो हमारा राष्ट्र संसार को देगा। सभी जातियों और सभी राष्ट्रों में जो यह विचित्र मिथ्याविश्वास फैल जाता है कि हमारी ही जाति एक विशेष प्रकार से संसार में सबसे ऊँची है, उसीमें

हम फंस गये थे। अहिसा, युद्ध या सब प्रकार की हिसात्मक लडाइयों मे, शस्त्रास्त्रो के वजाय एक नैतिक शस्त्र का काम दे सकती है। यह एक कोरा नैतिक उपाय ही नही, बल्कि रामबाण भी है। मेरे खयाल से, शायद ही कोई मशीन और वर्तमान सभ्यता-विषयक गाँधीजी के पुराने विचारो से सहमत था। हम समझते थे कि खुद वह भी अपने विचारो को कल्पना-सृष्टि या मनोराज्य और वर्तमान परिस्थितियो मे ज्यादातर अव्यवहार्य समझते होगे। निश्चय ही, हममे से ज्यादातर लोग तो आधुनिक सभ्यता की नियामतो को त्यागने को तैयार न थे, हालाँकि हमे चाहे यह महसूस हुआ हो कि हिन्दुस्तान की परिस्थिति के मुताविक उनमे कुछ परिवर्तन कर देना ठीक होगा। खुद मै तो बडी मशीनरी और तेज सफर को हमेशा पसन्द करता रहा हूँ। फिर भी इसमे सन्देह नही हो सकता कि गाधीजी के आदर्श का बहुत लोगो पर असर पडा और वह मशीनो और उनके सब परिणामो को तोलने-जोखने लगे। इस तरह, कुछ लोग तो भविष्यकाल की तरफ देखने लगे और दूसरे कुछ भूतकाल की तरफ निगाह डालने लगे। और कुतूहल की बात यह है कि दोनो ही तरह के लोगो ने सोचा कि हम जिस सम्मिलित उपाय मे लगे हुए है वह मिलकर करने ही योग्य है और इसी स्पिरिट के वदौलत खुशी-खुशी बलिदान करना और आत्मत्याग के लिए तैयार होना आसान हो गया।

मै आन्दोलन मे दिलोजान से जुट पडा और दूसरे वहुत-से लोगों ने भी ऐसा ही किया। मैने अपने दूसरे कामकाज और सम्बन्ध, पुराने मित्र, पुस्तके और अखबारतक, सिवा उस हदतक कि जितना उनका चालू काम से ताल्लुक था, सब छोड दिये। हाँ, उस समय तक प्रचलित किताबो को कुछ-कुछ पढना कायम रक्खा था और ससार मे क्या-क्या घटनाये घटती जाती है इसको जानने की कोशिश करता था। मगर अब तो इसके लिए वक्त ही नही था। हालाँकि पारिवारिक मोह जबर-दस्त था, मगर मै अपने परिवार, अपनी पत्नी, अपनी बेटी, सबको करीब-करीब भूल ही गया था। बहुत अरसे के बाद मुझे मालूम हुआ

कि उन दिनो मै उनकी कितनी कठिनाई और कितने कष्टो का कारण बन गया था, और मेरी पत्नी ने मेरे प्रति कितने विलक्षण धीरज और सहनशीलता का परिचय दिया था। दफ्तर और कमिटी की मीटिगे और लोगों की भीडे ही मानो मेरा घर बन गया था। "गॉवों मे जाओ" यही सबकी आवाज थी, और हम कोसो खेतो मे चलकर जाते थे, दूर-दूर के गॉवो मे पहुँचते थे, और किसानो की सभाओ मे भाषण देते थे। मै रोम-रोम मे जनता की सामूहिक भावना का और जनता को प्रभावित करने की शक्ति का अनुभव करता था। मै कुछ-कुछ भीड की मनोभावना, व शहर की जनता और किसानो के फर्क को समझने लगा, और मुझे धूल और तकलीफों और बडे-बडे मजमो के धक्कम-धक्को मे मजा आने लगा, हालॉकि उनमे अनुशासन के न होने से मै अक्सर चिढ जाता था। उसके बाद तो कभी-कभी मुझे विरोधी और क्रोधित मजमो के सामने भी जाना पडा है, जिनकी तेजी इतनी बढी हुई थी कि एक चिनगारी भी उन्हे भडका सकती थी, और शुरू के तजुर्बे से और उससे उत्पन्न आत्म-विश्वास से मुझे बडी मदद मिली। मै हमेशा विश्वास के साथ सीधा मजमे के सामने जाता। अभी तक तो उसने मेरे प्रति सद्व्यवहार और गुण-ग्राहकता का ही परिचय दिया है। चाहे हममे मतभेद ही रहा हो। मगर मजमो के स्वभाव का कुछ कह नही सकते, सम्भव है भविष्य मे मुझे कुछ और ही अनुभव मिले।

मै मजमो को अपना समझता था और मजमे मुझे अपना लेते थे, मगर उनमे मै अपने-आपको भुला नही देता था। मै अपनेको उससे हमेशा अलग ही समझता रहा। मै अपनी अलग मानसिक स्थिति से उन्हे समीक्षक-दृष्टि से देखता था, और मुझे ताज्जुब होता था कि मै जो कि अपने आसपास जमा होनेवाले इन हजारो आदमियो से हर बात मे भिन्न था, अपनी आदतो मे, इच्छाओ मे, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण मे बहुत भिन्न था, इन लोगो की सदिच्छा और विश्वास कैसे हासिल कर सका? क्या इसका सबब यह तो नही था कि इन लोगो ने मुझे मेरे मूल स्वरूप से कुछ जुदा समझ लिया? जब वे मुझे ज्यादा

पहचानने लगेगे, क्या तब भी वे मुझे चाहेगे ? क्या मै लम्बी-चौडी बाते बना-बनाकर उनकी सदिच्छा प्राप्त कर रहा हूँ ? मैने उनके सामने सच्ची और खरी बातें कहने की कोशिश की, कभी-कभी मैने उनसे सख्ती से बातचीत की और उनके कई प्रिय विश्वासो और रीतियो की नुकता-चीनी की, फिर भी वे मेरी इन सब बातो को बरदाश्त कर लेते थे। मगर मेरा यह विचार न हटा कि उनका मुझपर प्रेम, मै जैसा कुछ हूँ उसके लिए नही, बल्कि मेरी बाबत उन्होने जो-कुछ सुन्दर कल्पना कर ली थी उसके कारण था। यह झूठी कल्पना कितने समय तक टिकी रह सकती थी ? और वह टिकी रहने भी क्यो दी जाय ? जब उनकी यह कल्पना झूठी निकलेगी और उन्हे असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा ?

मुझमे तो कई तरह का अभिमान है, मगर मजमो के इन भोले-भाले लोगो मे तो ऐसे किसी अभिमान का कोई सवाल ही नही हो सकता। उनमे कोई दिखावा न था, और न कोई आडम्बर ही था, जैसा कि मध्यम वर्ग के कई लोगो मे, जो अपने को उनसे अच्छा समझते है, होता है। हाँ, वे जड बेशक थे और व्यक्तिगत रूप से ऐसे न थे कि उनमे कोई दिलचस्पी ले, मगर समुदाय-रूप में उनको देखकर तो असीम करुणा का भाव पैदा होता और उनके आनेवाले दु खान्त जीवन का दृश्य आँखो के सामनें खडा हो जाता था।

मगर हमारी कान्फ्रेन्सों का तो, जहाँ हमारे चुने हुए कार्यकर्त्ता, (जिनमे मै भी शामिल था) व्याख्यान-मच पर अपना करतब दिखाते थे, हाल ही दूसरा था। वहाँ काफी दिखावा होता था, और हमारे धुँआधार भाषणो मे आडम्बर की कोई कमी न थी। हममे से सभी थोडे-बहुत इस मामले मे कुसूरवार रहे होंगे, मगर खिलाफत के कई छोटे नेता तो इसमे सबसे ज्यादा बढे हुए थे। जहाँ बहुत लोग जमा हो उनके सामने व्याख्यान-मच पर स्वाभाविक बर्ताव रखना आसान नही है, और इस तरह लोगो के सामने आने का पहले किसीको तजुर्बा भी न था। इसलिए हमारे खयाल के मुताबिक नेताओ को जैसे रहना चाहिए उसी तरह से हम अपने-आपको विचार-पूर्ण और गभीर, चचलता और छिछोरपन से

बिलकुल बुरी, दिखाते थे। जब हम चलते, या बात करते या हँसते थे, तो हमे यह खयाल रहता था कि हजारो ऑखे हमे घूर रही है और उसी को ध्यान मे रखते हुए हम सब-कुछ करते थे। हमारे भाषण अक्सर बडे छटादार होते थे, मगर अक्सर वे ज्यादातर बेमुद्दा भी होते थे। दूसरे लोग हमको जैसा देखते है उसी तरह अपने-आपको देखना मुश्किल ही है। इसलिए जब मैं अपने-आपको टीका की दृष्टि से न देख सका, तो मैंने दूसरो के तर्ज-अमल पर गौर करना शुरू किया, और इस काम मे मुझे खूब मजा आया और फिर यह भयकर खयाल भी आता था कि शायद मैं भी दूसरो को इतना ही वाहियात दिखाई देता होऊँगा।

१९२१ भर काग्रेस-कार्यकर्ताओ की व्यक्तिगत गिरफ्तारी और सजा-याबी होती रही, मगर मजमूई गिरफ्तारियाँ नही हुई। अली-बन्धुओं को हिन्दुस्तानी फौज मे असन्तोष पैदा करने के लिए लम्बी-लम्बी सजाये दी गयी थी। जिन शब्दो के लिए उन्हे सजा मिली थी, उनको सैकडों व्याख्यान-मचों से हजारो आदमियो ने दोहराया। अपने कुछ भाषणो के कारण राजद्रोह का मुकदमा चलाये जाने की धमकी मुझे गर्मियो मे दी गयी थी। मगर उस वक्त ऐसी कोई कार्रवाई नही की गयी। साल के अखीर मे मामला अजहद बढ गया। युवराज हिन्दुस्तान आनेवाले थे, और उनकी आमद के मुताल्लिक की जानेवाली तमाम कार्रवाइयों का बहिष्कार करने की घोषणा काग्रेस ने कर दी थी। नवम्बर के अखीर तक बगाल मे काग्रेस के स्वयसेवक गैरकानूनी करार दे दिये गये, और फिर युक्तप्रान्त के लिए भी ऐसी ही घोषणा निकल गयी। देशबन्धु दास ने बगाल को एक बडा जोशीला सदेश दिया—"मैं महसूस कर रहा हूँ कि मेरे हाथों मे हथकडियाँ पडी हुई है और मेरा सारा शरीर लोहे की वजनी जजीरों से जकडा हुआ है। यह है गुलामी की वेदना और यन्त्रणा। अरे सारा हिन्दुस्तान एक बडा जेलखाना ही हो गया है! काग्रेस का काम हर हालत मे जारी रहना चाहिए—इसकी परवा नही कि मैं पकड लिया जाऊँ या खुला रहूँ, इसकी पर्वाह नही कि मैं मर जाऊँ या जिन्दा रहूँ।" यू० पी० मे भी हमने सरकार की चुनौती को स्वीकार

कर लिया। हमने न सिर्फ यही ऐलान किया कि हमारा स्वयसेवक-सगठन क़ायम रहेगा, बल्कि दैनिक अखबारो मे अपने स्वयसेवको की नामावलियाँ भी छपवा दी। पहली फहरिस्त मे सबसे ऊपर मेरे पिता का नाम था। वह स्वयसेवक तो नही थे, मगर सिर्फ सरकार की हुक्म-उदूली करने के लिए ही वह शामिल हो गये थे और उन्होने अपना नाम दे दिया था। दिसम्बर के शुरू ही मे, हमारे प्रान्त मे युवराज के आने के कुछ ही दिन पहले, सामूहिक गिरफ्तारियाँ शुरू हुई।

हमने जान लिया कि आखिर अब तो पासा पड चुका है, काग्रेस और सरकार का अनिवार्य सघर्ष अब होने ही वाला था। अभीतक भी जेल एक अपरिचित जगह थी और वहाँ जाना भी एक नयी बात थी। एक दिन मै इलाहाबाद के काग्रेस-दफ्तर मे जरा देर तक बकाया काम निपटा रहा था। इतने ही मे एक क्लर्क जरा उत्तेजित होता हुआ आया और उसने कहा कि पुलिस तलाशी का वारण्ट लेकर आयी है, और दफ्तर के मकान को घेर रही है। नि सन्देह मै भी थोडा अस्तव्यस्त तो हो गया, क्योकि मेरे लिए भी इस तरह की यह पहली ही बात थी, मगर दृढ दिखाई देने की इच्छा, पूरी तरह शान्त और निश्चिन्त प्रतीत होने तथा पुलिस के आने और जाने से प्रभावित न होने की अभिलाषा प्रबल थी। इसलिए मैने एक क्लर्क से कहा कि जब पुलिस-अफसर दफ्तर के कमरो मे तलाशी ले तो तुम उसके साथ-साथ रहो, और बाकी के कार-कुनो से कहा कि सब अपना-अपना काम बिला खरखशा करते रहो और पुलिस की तरफ ध्यान न दो। कुछ देर के बाद एक मित्र और एक साथी कार्यकर्त्ता, जो दफ्तर के बाहर ही गिरफ्तार कर लिये गये थे, एक पुलिस-मैन के साथ, मेरे पास मुझसे विदा लेने आये। मुझे इन नयी घटनाओं को मामूली घटनाये समझना चाहिए, यह अभिमान मुझमे इतना भर गया था कि मै अपने साथी कार्यकर्त्ता के साथ बिलकुल रुखाई से पेश आया। उनसे और पुलिस-मैन से मैने कहा कि मै जबतक अपनी चिट्ठी, जिसे मै लिख रहा था, पूरी न कर लूँ, तबतक जरा ठहरे रहे। जल्दी ही शहर मे और भी लोगो के गिरफ्तार होने की खबर आयी।

आख़िरकार मैंने यह तय किया कि मैं घर जाऊँ और देखूँ कि वहाँ क्या हो रहा है। वहाँ भी सर्वव्यापी पुलिस के दर्शन हुए। वह हमारे उस लम्बे-चौड़े घर के एक हिस्से की तलाशी ले रही है और मालूम हुआ कि पिताजी और मुझे दोनों को गिरफ्तार करने आयी है।

युवराज के आगमन के बहिष्कार-सम्बन्धी कार्य-क्रम के लिए हमारा और कोई कार्य इतना उपयुक्त न होता। युवराज जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्हें हड़तालें और सूनी सड़कें ही मिलीं। जब वह इलाहाबाद आये, तो वह एक सुनसान शहर मालूम पड़ा। कुछ दिनों बाद कलकत्ता ने भी कुछ समय के लिए अचानक अपना सारा कारोबार बन्द कर दिया। युवराज के लिए यह सब एक मुसीबत थी। मगर उनका कोई कसूर न था, और न उनके ख़िलाफ़ कोई दुर्भावना थी। हाँ, हिन्दुस्तान की सरकार ने अलबत्ता उनके व्यक्तित्व का बेजा फ़ायदा उठाने की कोशिश की थी, इसलिए कि अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये रख सके।

इसके बाद तो खासकर युक्तप्रान्त और बंगाल में गिरफ्तारियों और सजाओं की धूम मच गयी। इन प्रान्तों में सभी ख़ास-ख़ास कांग्रेसी नेता और काम करनेवाले पकड़ लिये गये, और मामूली स्वयंसेवक तो हज़ारों की तादाद में जेल गये। शुरू-शुरू में ज्यादातर शहर के ही लोग थे, और जेल जाने के लिए स्वयंसेवकों की तादाद मानों खत्म ही न होती थी। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के लोग सब-के-सब (५५ व्यक्ति), जब वे कमिटी की एक मीटिंग कर रहे थे, एकसाथ गिरफ्तार कर लिये गये। कई ऐसे लोगों को भी, जिन्होंने अभीतक कांग्रेस या राजनैतिक हलचल में कोई हिस्सा नहीं लिया था, जोश चढ़ आया, और वे गिरफ्तार होने की ज़िद करने लगे। ऐसी भी मिसालें हुईं कि कुछ सरकारी क्लर्क, जो शाम को दफ्तर से लौट रहे थे, इसी जोश में बह गये, और घर के बजाय जेल में जा पहुँचे। नवयुवक और बच्चे पुलिस की लारियों के भीतर घुस जाते थे और बाहर निकलने से इन्कार कर देते थे। हम जेल के अन्दर से, शाम-की-शाम, अपने परिचित नारे

और आवाज़े सुनते थे, जिनसे हमें पता लगता था कि बाहर पुलिस की लारियो-पर-लारियाँ आ रही है। जेले भर गयी थी, और जेल-अफसर इस असाधारण बात से परेशान हो गये थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि लारी के साथ जो वारण्ट आता था उसमे सिर्फ लाये जानेवालो की तादाद ही लिखी रहती थी, नाम नही लिखे होते थे या न लिखे जा सकते थे। और वास्तव में लिखी तादाद से भी ज्यादा व्यक्ति लारी मे से निकलते थे, तब जेल-अधिकारी यह नही समझ पाते थे कि इस अजीव परिस्थिति मे क्या करना चाहिए, जेल-मैनुअल मे इसकी बावत कोई हिदायत नही थी।

धीरे-धीरे सरकार ने हर किसीको गिरफ्तार कर लेने की नीति छोड दी, सिर्फ खास-खास कार्यकर्ता चुनकर पकडे जाने लगे। धीरे-धीरे लोगो के उत्साह की पहली वाढ भी उतर गयी, और सभी भरोसे के कार्यकर्ताओ के जेल चले जाने से अनिश्चय और असहायता की भावना फैल गयी। परन्तु यह सब क्षणिक ही था। वातावरण मे तो विजली भरी हुई थी और चारो ओर गडगडाहट हो रही थी। ऐसा जान पडता था कि अन्दर-ही-अन्दर क्रान्ति की तैयारी हो रही है। दिसम्बर १९२१ और जनवरी १९२२ मे, यह अनुमान किया जाता है कि, कोई ३० हजार आदमियो को असहयोग के सम्वन्ध मे सजाये मिली। मगर हालाँकि ज्यादातर प्रमुख व्यक्ति और काम करनेवाले जेल चले गये, इस सारी लडाई के नेता महात्मा गाधी फिर भी वाहर थे, जो रोजाना लोगो को अपने सदेश देते और हिदायते जारी करते रहते थे, जिनसे लोगों को स्फूर्ति मिलती थी और कई अवाञ्छनीय बाते होने से वच जाती थी। सरकार ने उनपर अभीतक हाथ नही डाला था, क्योकि उसे डर था कि शायद इसका नतीजा खराव हो और कही हिन्दुस्तानी फौज और पुलिस विगड न उठे।

अचानक १९२२ की फरवरी के शुरू मे ही सारा दृश्य बदल गया, और जेल मे ही हमने वडे आश्चर्य और भय के साथ सुना कि गाधीजी ने सविनय भग की लडाई रोक दी और सत्याग्रह मुल्तवी कर दिया है।

एजेन्ट और चुगलखोर वगैरा हमारे आन्दोलन मे आ घुसते है, और या तो खुद ही कोई मारकाट कर डालते है या दूसरों से करा देते है, उनका क्या होगा ? अगर अहिसात्मक लडाई के लिए यही शर्त रही कि वह ाभी चल सकती है जब कही कोई जरा भी खून-खराबी न करे, तब तो हिसात्मक लडाई हमेशा असफल ही रहेगी।

हम लोगों ने अहिसा के तरीके को इसलिए मजूर किया था, और ग्रेस ने भी इसीलिए उसे अपनाया था कि हमे यह विश्वास था कि ह तरीका कारगर है। गाधीजी ने उसे मुल्क के सामने महज इसीलिए ही रखा था कि वह सही तरीका है, बल्कि इसलिए भी कि हमारे प्लब के लिए वह सबसे ज्यादा कारगर था। यद्यपि उसका नाम कार मे है, तो भी वह है बहुत ही बल और प्रभाव रखनेवाला तरीका और ऐसा तरीका जो जालिम की ख्वाहिश के सामने चुपचाप सिर झुकाने के बिलकुल खिलाफ था। वह तरीका कायरों का तरीका नही था जिसमे लडाई से मुहँ छिपाया जाये, बल्कि बुराई और कौमी गुलामी की मुखालिफत करने के लिए बहादुरो का तरीका था। लेकिन अगर किन्ही भी थोडे से शख्सों के—मुमकिन है वे दोस्ती का लबादा ओढे हुए हमारे दुश्मन हो—हाथ मे यह ताकत हो कि ऊटपटॉग बेतहाशा कामो से हमारे आन्दोलन को रोक या खत्म कर सकते है, तो बहादुराना-से-बहादुराना और मजबूत-से-मजबूत तरीके से भी आखिर क्या फायदा ?

धारा-प्रवाह बोलने की और लोगो को समझाने की ताकत गाधीजी मे कसरत से मौजूद है। अहिसा का और शातिमय असहयोग का रास्ता अख्त्यार कराने के लिए उन्होने अपनी ताकत से पूरा-पूरा काम लिया था। उनकी भाषा सीधी-सादी थी, उसमे बनावट बिलकुल न थी। नकी आवाज और मुख-मुद्रा शान्त और साफ थी। उसमे विकार का मोनिशान भी न था, लेकिन बर्फ की उस बाहरी ओढनी के पीछे एक म जोश और उमग और जलती हुई ज्वाला की गरमी थी। उनके मुख ब्द उड-उडकर ठेठ हमारे दिलो-दिमाग के भीतरी-से-भीतरी कोने र कर गये, और उन्होने वहाँ एक अजीब खलबली पैदा कर दी।

उन्होंने जो रास्ता बताया था वह कड़ा और मुश्किल था, लेकिन था बहादुरी का, और ऐसा मालूम पड़ता था कि वह आज़ादी के मकसद पर हमें जरूर पहुँचा देगा। १९२० मे 'तलवार का न्याय' नाम के एक नामी लेख मे उन्होंने लिखा था —

"मै यह विश्वास जरूर रखता हूँ कि अगर सिर्फ बुज़दिली और हिंसा मे से ही चुनाव करना हो तो मै हिंसा को चुनने की सलाह दूँगा। मै यह पसन्द करूँगा कि हिंदुस्तान अपनी इज्जत बचाने के लिए हथियारों की मदद ले, बनिस्बत इसके कि वह कायरो की तरह खुद अपनी बेइज्जती का असहाय शिकार हो जाये या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कही ऊँची है, सजा की बनिस्बत माफी देना कही ज्यादा बहादुरी का काम है। **'क्षमा वीरस्य भूषणम्'**। क्षमा से वीर की शोभा बढती है। लेकिन सजा न देना उसी हालत मे क्षमा होती है जब सजा देने की ताकत हो। किसी असहाय जीव का यह कहना कि मैने अपनेसे बलवान को क्षमा किया, कोई मानी नही रखता। जब एक चूहा बिल्ली को अपने शरीर के टुकडे-टुकडे करने देता है तब वह बिल्ली को क्षमा नही करता।...लेकिन मै यह नही समझता कि हिन्दुस्तान कायर है। न मै यही समझता हूँ कि मै बिलकुल असहाय हूँ......।

"कोई मुझे समझने मे गलती न करे। ताकत शारीरिक बल से नही आती, वह तो अदम्य इच्छा-शक्ति से ही आती है।

"कोई यह न समझे कि मै हवाई और खयाली आदमी हूँ। मै तो अमली आदर्शवादी होने का दावा करता हूँ। अहिंसा-धर्म महज ऋषियो और महात्माओं के लिए ही नही है, वह तो आम लोगों के लिए भी है। जैसे पशुओं के लिए हिंसा प्रकृति का नियम है वैसे ही अहिंसा हम मनुष्यो की प्रकृति का कानून। पशुओ की आत्मा-सोती पडी ही रहती है और वह शरीरिक बल के अलावा और कानून को जानती ही नही। इन्सान का गौरव चाहता है कि वह ज्यादा ऊँचे कानून की ताकत, आत्मा की ताकत के सामने सिर झुकावे।

"इसीलिए मैने हिन्दुस्तान के सामने आत्म-बलिदान का, अपनी

कुर्बानी का प्राचीन नियम पेश करने की जुर्रत की है, क्योंकि सत्याग्रह और उसकी शाखायें, सहयोग और सविनय प्रतिरोध, कष्ट-सहन के नियम के दूसरे नामों के अलावा और कुछ नही हैं। जिन ऋषियो ने हिंसा मे से अहिंसा का नियम ढूँढ निकाला, वे न्यूटन से ज्यादा प्रतिभाशाली थे। वे खुद वेलिगटन से ज्यादा योद्धा थे। वे हथियार चलाना जानते थे, लेकिन अपने अनुभव से उन्होंने उन्हे वेकार पाया और भयभीत दुनिया को यह सिखाया कि उसका छुटकारा हिंसा के जरिये नही होगा बल्कि अहिंसा के जरिये होगा।

"अपनी सक्रिय दशा मे अहिंसा के मानी हैं जानबूझकर तकलीफे उठाना। उसके मानी यह नही हैं कि आप वुरा करनेवाले की इच्छा के सामने चुपचाप अपना सिर झुका दे, वल्कि उसके मानी यह है कि हम जालिम की इच्छा के खिलाफ अपनी पूरी आत्मा को भिडा दे। अपनी हस्ती के इस कानून के मुताविक काम करते हुए, महज एक शख्स के लिए भी यह मुमकिन है कि वह अपनी इज्जत, अपने मजहव और अपनी आत्मा को बचाने के लिए, किसी अन्यायी साम्राज्य की ताकत को ललकार दे और उसके साम्राज्य के पुनरुद्धार या पतन की नीव डाल दे।

"और इसलिए मै हिन्दुस्तान से अहिंसा का रास्ता अख्त्यार करने के लिए इसलिए नही कहता कि वह कमजोर है। मै चाहता हूँ कि वह अपनी ताकत और अपने बल-भरोसे को जानते हुए अहिंसा पर अमल करे......मै चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान यह पहचान ले कि उसके एक आत्मा है, जिसका नाश नही हो सकता और जो तमाम शारीरिक कमजोरियो पर फतह पा सकती है और तमाम दुनिया के शारीरिक वलों का मुकावला कर सकती है।......

"इस असहयोग को मै 'सिनफिन'-आन्दोलन से अलग समझता हूँ; क्योंकि इसका जिस तरह से खयाल किया गया है उस तरह वह हिंसा के साथ-साथ कभी हो ही नही सकता। लेकिन मै तो हिंसा के सम्प्रदाय को भी न्यौता देता हूँ कि वे इस शान्तिमय असहयोग की परीक्षा तो करे। वह अपनी अन्दरूनी कमजोरी की वजह से असफल न होगा। हाँ, अगर

ज्यादा तादाद मे लोग उसे अख्त्यार न करे, तो वह असफल हो सकता है। वही वक्त असली खतरे का वक्त होगा, क्योकि उस वक्त वे उच्चात्मा जो अधिक काल तक राष्ट्रीय अपमान सहन नही कर सकते, अपना गुस्सा नही रोक सकेगे। वे हिंसा का रास्ता अख्त्यार करेगे। जहाँतक मै जानता हूँ, वे गुलामी से अपना या मुल्क का छुटकार किये बिना ही बरबाद हो जायेगे। अगर हिन्दुस्तान तलवार के पक्ष को ग्रहण कर ले तो मुमकिन है कि वह थोडी देर को विजय पा ले। परन्तु उस वक्त हिन्दुस्तान के लिए मेरे हृदय मे गर्व न होगा। मै तो हिन्दुस्तान से इसलिए बँधा हुआ हूँ कि मेरे पास जो-कुछ है वह सब मैने उसीसे पाया है। मुझे पक्का और पूरा विश्वास है कि दुनिया के लिए हिन्दुस्तान का एक मिशन है।"

इन दलीलो का हमारे ऊपर बहुत असर पड़ा, लेकिन हम लोगों की राय मे और कुल मिलाकर काग्रेस की राय मे अहिंसा का तरीका न तो मजहब या अकाट्य सिद्धान्त या धर्म का तरीका था, और न हो ही सकता था। हमारे लिए तो वह ज्यादा-से-ज्यादा एक ऐसी नीति या एक ऐसा सहल तरीका ही हो सकता था जिससे हम खास नतीजों की उम्मीद करते थे, और उन्ही नतीजो से आखीर मे हम उसकी बाबत फैसला करते। अपने-अपने लिए लोग उसे भले ही मजहब बना ले या निर्विवाद धर्म मान ले, परन्तु कोई भी राजनैतिक सस्था, जबतक वह राजनैतिक है, ऐसा नही कर सकती।

चौरीचौरा और उसके नतीजे ने हम लोगो को, एक साधन के रूप मे, अहिसा के इन पहलुओं की जॉच करने को मजबूर कर दिया और हम लोगो ने महसूस किया कि अगर आन्दोलन मुल्तवी करने के लिए गाधीजी ने जो कारण बताये है वे सही है तो हमारे विरोधियो के पास हमेशा वह ताकत रहेगी, जिससे वे ऐसी हालते पैदा कर दे जिनसे लाज़मी तौर पर हमे अपनी लडाई छोड देनी पडे। तो, यह कसूर खुद अहिसा के तरीके का था या उसकी उस व्याख्या का जो गाधीजी ने की ? लेकिन आखिर वही तो उस तरीके के जन्मदाता थे ? उनसे ज्यादा इस बात का

बेहतर जज और कौन हो सकता था कि वह तरीका क्या है और क्या नही है ? और बिना उसके हमारे आन्दोलन का क्या ठिकाना होगा ?

लेकिन बहुत बरसो के बाद, १९३० की सत्याग्रह की लडाई शुरू होने से ठीक पहले, हमे यह देखकर बडा सतोष हुआ कि गाधीजी ने इस बात को साफ कर दिया। उन्होने कहा कि कही इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड हो जाये, तो उसकी वजह से हमे अपनी लडाई छोडने की जरूरत नही है। अगर ऐसी घटनाओ की वजह से, जो कही-न-कही हुए बिना नही रह सकती, अहिंसा का तरीका काम नही कर सकता ,तो जाहिर था कि वह हर मौके के लिए सबसे अच्छा तरीका नही है। और गाधीजी इस बात को मानने के लिए तैयार नही थे। उनकी राय मे तो जब वह तरीका सही है तो वह सब मौकों के लिए मौजूँ होना चाहिए, और कम-से-कम सकुचित दायरे मे ही सही, लेकिन विरोधी आबोहवा मे भी उसे अपना काम करते रहना चाहिए। इस व्याख्या ने अहिंसात्मक लडाई का क्षेत्र बढा दिया। लेकिन यह व्याख्या गाधीजी के विचारो के विकास की गवाही देती है या क्या, यह मै नही जानता।

असल बात तो यह है कि फरवरी १९२२ मे सत्याग्रह का मुल्तवी किया जाना महज चौरीचौरा की वजह से नही हुआ, हालॉकि ज्यादातर लोग यही समझते थे। वह तो असल मे एक आखिरी निमित्त हो गया था। गाधीजी अक्सर अपनी अन्त प्रेरणा या सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते है। ऐसा मालूम होता है कि जैसे महान् लोक-प्रिय नेता अक्सर किया करते है, वैसे ही गाधीजी ने बहुत अर्से से जनता के नज़-दीक रहकर एक नयी चेतना पैदा कर ली है, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नही कर सकती ? वह इस सहज-प्रेरणा को सुनते है और तुरन्त उसीके मुताबिक रूप अपने कार्य को दे देते है और उसके बाद अपने चकित और नाराज साथियो के लिए अपने फैसलो को कारण का जामा पहनाने की कोशिश करते है। यह जामा अक्सर बिलकुल नाकाफी होता है, जैसे कि चौरीचौरा के बाद मालूम होता था। उस वक्त हमारा

आन्दोलन, बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देनेवाले और लम्बे-चौड़े जोश के, अन्दर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम संगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था। करीब-करीब हमारे सब अच्छे आदमी जेल में थे, और उस वक्त तक आम लोगों को खुद अपने बल पर लड़ाई चलाते रहने की बहुत ही कम, नहीं के बराबर, शिक्षा मिली थी। जो भी अजनबी आदमी चाहता, कांग्रेस कमिटी का चार्ज ले सकता था, और दर-असल बहुत से अनिष्ट लोग, जिनमें लोगों को उकसाने तथा भड़काने वाले सरकारी एजेंट तक शामिल थे, घुस आये थे और कुछ मुकामी कांग्रेस और खिलाफत-कमिटियों पर हावी हो गये थे। ऐसे लोगों को रोकने का उस वक्त कोई चारा न था।

इसमें कोई शक नहीं कि कुछ हदतक इस तरह की बात इस किस्म की लड़ाई में बहुत कुछ लाजिमी है। नेताओं के लिए यह लाजिमी है कि वे सबसे पहले खुद जेल जाकर लोगों को रास्ता दिखा दें और दूसरों पर वह भरोसा करें कि वे लड़ाई चलाते रहेंगे। ऐसी दशा में जो कुछ किया जा सकता है वह सिर्फ इतना ही कि जनता को कुछ मामूली सीधे-सादे काम करना और उससे भी ज्यादा कुछ किस्म के कामों से बचते रहना सिखा दिया जाय। १९३० में इस तरह की तालीम देने में हमने पहले ही कुछ साल लगा दिये थे। इसीसे उस वक्त और १९३२ में सविनय-भंग-आन्दोलन बहुत ही ताकत के साथ और संगठित रूप में चला था। १९२१ और १९२२ में इस बात की कमी थी। उन दिनों लोगों के जोशोखरोश के पीछे और कुछ न था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर आन्दोलन जारी रहता तो कई जगह भयंकर हत्याकाण्ड हो जाते। इन हत्याकाण्डों को सरकार बदतर हत्याकाण्डों द्वारा कुचलती। डर का राज कायम हो जाता, जिससे लोग बुरी तरह पस्त-हिम्मत हो जाते।

गांधीजी के दिमाग में जिन असरों और वजहों ने काम किया वे सम्भवतः यही थे। उनकी मूल बातों को, तथा अहिंसा-शास्त्र के मुताबिक काम करना वाञ्छनीय था, इस बात को मान लेने के बाद कहना

होगा कि उनका फैसला सही ही था। उनको ये सब खराबियाँ रोककर नये सिरे से रचना करनी थी। एक दूसरी और बिल्कुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फैसला गलत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टि-कोण का अहिंसात्मक तरीके से कोई ताल्लुक न था। आप एक साथ दाये और बॉये दोनो रास्तों पर नही चल सकते। इसमे कोई शक नही कि अपने उस आन्दोलन को उस अवस्था मे और इस खास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकाण्डो द्वारा कुचल डालने का निमन्त्रण देने से भी राष्ट्रीय आन्दोलन खत्म नही हो सकता था, क्योकि ऐसे आन्दोलनों का ऐसा तरीका है कि वे अपनी चिता की भस्म मे से ही फिर उठ खडे होते है। अक्सर थोडे वक्त के लिए हार जाने से भी समस्याओं को भलीभाँति समझने और लोगो को पक्का तथा मजबूत करने मे मदद मिलती है। असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार होना नही है, बल्कि सिद्धान्त और आदर्श है। अगर जनता इन उसूलों का तेज कम न होने दे तो नये सिरे से ताकत हासिल करने मे देर नही लगती। लेकिन १९२१ और १९२२ मे हमारे सिद्धान्त और हमारा लक्ष्य क्या था ? एक धुँधला स्वराज, जिसकी कोई स्पष्ट व्याख्या न थी, लेकिन था सिर्फ अहिंसात्मक लडाई का एक खास शास्त्र। अगर लोग किसी बडे पैमाने पर इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड कर डालते तो अपने-आप पिछला यानी अहिंसा का तरीका खत्म हो जाता, और जहाँतक पहली बात, यानी स्वराज से ताल्लुक है उसमे ऐसी कोई बात न थी जिसके लिए लोग अडते। आम तौर पर लोग इतने मजबूत न थे कि वे ज्यादा अरसे तक लडाई चलाये जाते और विदेशी शासन के खिलाफ करीब-करीब सर्वव्यापी असन्तोष और काग्रेस के साथ सब लोगों की हमदर्दी के बावजूद लोगो मे काफी बल या सगठन न था। वे टिक नही सकते थे। जो हजारों लोग जेल गये वे भी क्षणिक जोश मे आकर और यह उम्मीद करते हुए कि तमाम किस्सा कुछ ही दिनो मे तय हो जायगा।

इसलिए यह हो सकता है कि १९२२ मे सत्याग्रह को मुल्तवी करने का जो फैसला किया गया वह ठीक ही था, हालाँकि उसके मुल्तवी करने

का तरीका और भी बेहतर हो सकता था और उसकी वजह से लोगों की निष्ठा ढीली हो गयी और एक प्रकार की पस्त-हिम्मती आगयी।

मगर मुमकिन है कि इस बड़े आन्दोलन को इस तरह एकाएक बोतल मे बन्द करने से उन दु खान्त काण्डो के होने मे मदद मिलती जो देश मे बाद को जाकर हुए। राजनैतिक सग्राम मे फुटकर और बेकार हिंसा-काण्डो की ओर बहाव तो रुक गया, लेकिन इस तरह दबायी गयी हिंसावृत्ति अपने निकलने का रास्ता तो ढूँढती ही; और शायद बाद के बरसो मे इसी बात ने हिन्दू-मुस्लिम झगडो को बढाया। असहयोग और सविनय भग या सिविल नाफरमानी की हलचल को आम लोगो की जो भारी इमदाद मिली उससे तरह-तरह के साम्प्रदायिक नेता, जो ज्यादातर राजनीति मे प्रतिक्रियावादी थे, लोगो की निगाह से गिरकर दबे पडे थे। लेकिन उस चहलपहल के बन्द होने पर अब वे बाहर निकल आये। बहुत-से दूसरे लोगो ने भी—जैसे खुफिया के एजेण्टो तथा उन लोगो ने जो हिन्दू-मुसलमानों मे फिसाद कराके हाकिमो को खुश करना चाहते थे—हिन्दू-मुस्लिम वैर बढाने मे मदद की। मोपलाओ के उत्पात से तथा जिस निहायत बेरहमी से उसे कुचला गया उससे उन लोगों को एक अच्छा हथियार मिला जो फिरकेवाराना झगडे पैदा कराना चाहते थे। रेलवे के बन्द डिब्बो मे मोपला कैदियो का भुरता कर देना एक बहुत-ही वीभत्स दृश्य था। यह मुमकिन हो सकता है कि अगर सत्याग्रह बन्द न किया गया होता और उसे सरकार ने ही कुचला होता तो उस हालत मे कौमी जहर इतना न बढता और बाद को जो साम्प्रदायिक दगे हुए उनकेलिए बहुत ही कम ताकत बाकी रहती।

सत्याग्रह बन्द करने के पहले एक घटना हुई, जिसके नतीजे बिल्कुल दूसरे हो सकते थे। सत्याग्रह की पहली लहर से सरकार भौचक रह गयी और डर गयी। इसी वक्त वाइसराय लार्ड रीडिंग ने एक आम स्पीच मे यह कहा कि मैं हैरान व परेशान हूँ। उन दिनो युवराज हिन्दुस्तान मे थे और उनकी मौजूदगी से सरकार की जिम्मेदारी बहुत बढ गयी थी। दिसम्बर १९२१ के शुरू मे जो धडाधड गिरफ्तारियाँ हुई थी उनके बाद

ही फ़ौरन उसी महीने मे सरकार ने एक कोशिश की कि कॉग्रेस से किसी क़िस्म का राजीनामा कर लिया जाय। यह बात खास तौर पर कलकत्ते मे युवराज की आमद को मद्देनजर रखकर की गयी थी। बगाल-सरकार के प्रतिनिधियो मे और देशबन्धु दास मे, जो उन दिनो जेल मे थे, कुछ आपसी बात-चीत हुई। मालूम पडता है कि इस तरह की तजवीज की गयी कि सरकार और काग्रेस के प्रतिनिधियो मे एक छोटी सी गोलमेज-कान्फ्रेन्स की जाय। यह तजवीज इसलिए गिर गयी कि गॉधीजी ने इस बात पर जोर दिया कि मौलाना मुहम्मदअली का भी, जो उस वक्त कराची की जेल मे थे, इस कान्फ्रेन्स मे मौजूद रहना जरूरी है और सरकार इस बात के लिए राजी न थी।

इस मामले मे गाधीजी का यह रुख दासबाबू को पसन्द नही आया और कुछ वक्त बाद जब वह जेल से छूटकर आये तब उन्होने खुलेआम गाधीजी की आलोचना की ओर कहा कि उन्होने सख्त गलती की है। हम लोग उन दिनों जेल मे थे, इसलिए हममे से ज्यादातर वे सब बाते नही जान सकते जो इस मामले मे हुई, और तमाम बातो को जाने बिना कोई फैसला करना मुश्किल है। लेकिन यह मालूम होता है कि उस हालत मे कान्फ्रेन्स से कोई फायदा नही हो सकता था। असल मे सरकार महज यह कोशिश कर रही थी कि किसी तरह कलकत्ते मे शाह-जादे की आमद का वक्त बिला खरखशा निकल जाये। इससे तो जो बुनियादी मसले हमारे सामने थे वे ज्यो-के-त्यो बने रहते। नौ बरस बाद जब राष्ट्र और काग्रेस पहले से कही ज्यादा ताकतवर थे, तब गोलमेज कान्फ्रेन्स हुई और उससे भी कोई नतीजा नही निकला। लेकिन इसके अलावा भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि गाधीजी ने मुहम्मदअली की मौजूदगी पर जोर देकर बिल्कुल ठीक ही किया। काग्रेस के लीडर की हैसियत से ही नही, बल्कि खिलाफत की हलचल के लीडर की हैसियत से भी, और उन दिनो काग्रेस के प्रोग्राम का खिलाफत एक अहम मुद्दा था, उनकी मौजूदगी लाजिमी थी। जिस नीति या कार्रवाई मे अपने साथी को छोडना पडे वह कभी सही हो ही नही सकती। सरकार की

एक इसी बात से कि वह उन्हें जेल से छोड़ने को तैयार न थी, इस बात का पता चल जाता है कि कान्फ्रेन्स से किसी किस्म के नतीजे की उम्मीद करना बेकार था।

मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मों में अलग-अलग अदालतों ने ६-६ महीने की सजायें दी थीं। मुकदमे महज तमाशे थे और अपने रिवाज के मुताबिक हम लोगों ने उनमें कोई हिस्सा नहीं लिया था। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे सब व्याख्यानों में और दूसरी हलचलों में सजा दिलाने के लिए काफी मसाला ढूँढ़ निकालना बहुत आसान था। लेकिन सजा दिलाने के लिए जो मसाला दर-असल पसंद किया गया वह मजेदार था। पिताजी पर एक गैर-कानूनी जमात का मेंबर—कांग्रेस-स्वयंसेवक—होने के जुर्म में मुकदमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने के लिए एक फार्म पेश किया गया जिसमें हिन्दी में उनके दस्तखत दिखाये गये थे। बिलाशक दस्तखत उन्हींके थे, लेकिन असल में हुआ यह कि इससे पहले उन्होंने प्रायः कभी हिन्दी में दस्तखत नहीं किये थे। इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिन्दी के दस्तखत पहचान सकते थे। अदालत में एक फटे-हाल महाशय पेश किये गये, जिन्होंने हलफिया बयान दिया कि दस्तखत मोतीलालजी के ही हैं। वह महाशय बिलकुल अपढ़ थे और जब उन्होंने दस्तखतों को देखा तब वह फार्म को उल्टा पकड़े हुए थे। पिताजी अदालत में मेरी लड़की को बराबर अपनी गोद में लिये रहे। इसमें उनके मुकदमे में उसे पहली मर्तबा अदालत का तजुर्बा हुआ। उस वक्त उसकी उम्र चार बरस की थी।

मेरा जुर्म यह था कि मैंने हड़ताल कराने के लिए नोटिस बाँटे थे। उन दिनों यह कोई जुर्म न था—यद्यपि मेरा खयाल है कि इस वक्त ऐसा करना जुर्म है, क्योंकि हम बड़ी तेजी के साथ डोमीनियन स्टेट्स (औपनिवेशिक स्वराज्य) की तरफ बढ़ते जा रहे हैं—फिर भी मुझे सजा दे दी गयी। तीन महीने बाद जब मैं पिताजी तथा दूसरे लोगों के साथ जेल में था तब मुझे इत्तला मिली कि कोई मुकदमों की जाँच करनेवाले अफसर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मुझे जो सजा दी गयी वह गलत है

और इसलिए मुझे छोड़ा जायगा। मुझे इस बात से बड़ा अचरज हुआ, क्योंकि मेरे मुकदमे की जॉच कराने के लिए मेरी तरफ से किसीने कोई कार्रवाई नही की थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्याग्रह मुल्तवी हो जाने पर जॉच करनेवाले जजों मे मुकदमो की जाँच करने का एकाएक जोश उमड आया हो। मुझे पिताजी को जेल मे छोडकर बाहर जाने में बहुत दु ख हुआ।

मैने तय कर लिया कि अब फौरन ही अहमदाबाद जाकर गाधीजी से मिलूँगा। लेकिन मेरे वहॉ पहुँचने से पहले वह गिरफ्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मै साबरमती-जेल मे ही जाकर मिल सका। उनके मुकदमे के वक्त मै अदालत मे मौजूद था। वह एक चिरस्मरणीय प्रसग था और हममे से जो लोग उस वक्त वहॉ मौजूद थे वे शायद उसे कभी भूल नही सकते। जज एक अंग्रेज था। उसने अपने व्यवहार मे काफी शराफत और सद्भावना दिखायी। अदालत मे गाधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत ही असर डालनेवाला था। हम लोग वहॉसे जब लौटे तब हमारे दिल हिलोरे ले रहे थे और उनके जिन्दा वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारो की गहरी छाप हमारे मन पर पडी हुई थी।

मै इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक्त पर जेल से बाहर रहना बहुत ही सुनसान और दु खप्रद मालूम हुआ जब मेरे इतने दोस्त और साथी जेल के सीखचों के अन्दर बन्द थे। बाहर आकर मैने देखा कि काग्रेस का सगठन ठीक-ठीक काम नही कररहा है और मैने उसे ठीक करने की कोशिश की। खास तौर पर मैने विलायती कपडे के बहिष्कार मे दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिए जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपडे के करीब-करीब तमाम व्यापारियों ने यह वादा किया था कि वे न तो विलायती कपडा हिन्दुस्तान मे ही किसीसे खरीदेंगे न विलायत से ही मँगावेंगे। इस मतलब के लिए उन्होने एक मण्डल भी कायम कर लिया था। मण्डल के कायदो मे यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोडेगा उसे जुर्माने की सजा दी जायगी। मैने देखा कि कपडे के कई

वडे-वड़े व्यापारियो ने अपना वादा तोड दिया है और वे विदेशो से विलायती कपडा मँगा रहे है। यह उन लोगो के साथ बहुत बडी बेइसाफी थी जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगों ने कहा-सुनी की, लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपडे के दूकानदारो का मण्डल किसी कारगर काम के लिए बिलकुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगों ने तय किया कि वादा तोडनेवाले दूकानदारो की दूकानो पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरने का इशारा-भर काफी था। बस, जुर्माने दे दिये गये और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गये। जुर्मानों से जो रुपया आया वह दूकानदारो के मण्डल के पास गया।

दो-तीन दिन वाद अपने कई साथियों के साथ मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। ये साथी वे लोग थे जिन्होने दूकानदारों के साथ बातचीत करने मे हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर जबरदस्ती रुपया ऐठने और लोगों को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर राजद्रोह सहित, कुछ और भी जुर्म लगाये गये। मैंने अपनी कोई सफाई नही दी, अदालत मे सिर्फ एक लवा बयान दिया। मुझे कम-से-कम तीन जुर्मो मे सजा दी गयी, जिनमे जबरदस्ती रुपया ऐठना और लोगों को दबाने के जुर्म भी शामिल थे। लेकिन राजद्रोहवाला मामला नही चलाया गया क्योकि गालिबन यह सोचा गया कि मुझे जितनी सजा मिलनी चाहिए थी वह पहले ही मिल चुकी है। जहाँतक मुझे याद है, मुझे तीन सजायें दी गयी, जिनमे दो अठारह-अठारह महीने की थी और एक-साथ चलने को थी। मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर मुझे एक साल नौ महीने की सजा दी गयी थी। यह मेरी दूसरी सजा थी। मैं छ हफ्ते के करीब जेल से बाहर रहकर फिर वहीं चला गया।

: १३ :

लखनऊ-ज़िला-जेल

१९२१ मे हिन्दुस्तान मे राजनैतिक अपराधों के लिए जेल जाना कोई नयी बात नही थी। खासकर बग-भग-आन्दोलन के वक्त से बराबर ऐसे लोगों का तॉता लगा रहा जो जेल जाते थे और उनकी अक्सर बडी लम्बी-लम्बी सजाये होती थी। बगैर मुकदमे चलाये नजरबन्दियॉ भी होती थी। लोकमान्य तिलक को, जो अपने समय के हिन्दुस्तान के सबसे बडे नेता थे, उनकी ढलती हुई उम्र मे छ साल कैद की सजा दी गयी थी। पिछले महायुद्ध के कारण तो नजरबन्दियों और जेल भेजने का यह सिलसिला और भी बढ गया, और षड्यन्त्रों के मामले बहुत होने लगे जिनमे आमतौर पर मौत की या आजीवन कैद की सजाये दी जाती थी। अली-बन्धु और मौ० अबुलकलाम आजाद भी लडाई के जमाने मे नजर-बन्द हुए थे। लडाई के बाद ही फौरन पजाब मे फौजी कानून जारी हुआ, जिसमे लोग बडी तादाद मे जेल गये और बहुत लोगो को षड्यन्त्र के या मुख्तसर मुकदमो मे सजाये दी गयी। इस तरह हिन्दुस्तान मे राज-नैतिक सजा होना एक काफी आम बात हो गयी थी, मगर अभीतक खुद जानबूझकर कोई जेल न जाता था। लोग अपना काम करते थे और उस सिलसिले मे उन्हे राजनैतिक सजा अपने-आप मिल जाती थी, या शायद इसलिए मिल जाती थी कि खुफिया पुलिस उनको नापसन्द करती थी, लेकिन, ऐसा होने पर, अदालत मे पैरवी करके उससे बचने की पूरी कोशिश की जाती थी। हाँ, दक्षिण-अफ्रीका मे अलबत्ता सत्याग्रह की लडाई मे गाधीजी और उनके हजारों अनुयायियो ने एक नयी ही मिसाल पेश की थी।

मगर फिर भी १९२१ मे जेलखाना करीब-करीब एक अज्ञात जगह थी, और बहुत कम लोग जानते थे कि नये सजायाफ्ता आदमियों को अपने अन्दर हडप जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है?

अन्दाज से हम कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अन्दर बडे-बडे खतरनाक जीव होगे, जिनके लिए कुछ भी कर गुजरना तो बाये हाथ का खेल होगा। हमारे ख़याल से जेल एकान्त, बेइज्जती और कष्टो की जगह थी, और सबसे बडी बात यह थी कि उसके साथ अनजान जगह होने का खौफ लगा हुआ था। १९२० से जेल जाने का बार-बार जिक्र सुनते रहने और उसमे अपने कई साथियो के चले जाने से, हम इस ख़याल के आदी हो गये, और उसके बारे मे आशका और अरुचि की जो भावना अक्सर अपने-आप पैदा हो जाती थी उसकी तेजी कम हो गयी। परन्तु दिमागी तैयारी पहले से कितनी भी की हो, जब हम लोहे के फाटक मे पहले-पहल दाखिल होते थे तो वह क्षोभ और उद्वेग से नही बचा सकती थी। उस ज़माने से, जिसे आज तेरह साल हो गये, आज तक मेरे अन्दाज से हिन्दुस्तान से कम-से-कम ३ लाख स्त्री-पुरुष उन फाटको मे राजनैतिक अपराधो के लिए दाखिल हो चुके है, हालाँकि बहुत करके इलजाम फौजदारी आईन की किसी दूसरी ही दफा की रू से लगाया गया है। इनमे से हजारो तो कई बार अन्दर गये और बाहर आये है। उन्हे यह अच्छी तरह मालूम हो ही जाता है कि अन्दर वे किन बातों की उम्मीद रखे, और जहाँतक कोई आदमी विचित्र रूप से असाधारण और नीरसता और उदासी के साथ कष्ट-सहन और एक ढर्रे की भयकर जिन्दगी के लायक अपने-आपको बना सकता है, वहाँतक उन्होने वहाँकी अजीब जिन्दगी के मुआफिक अपनेको बनाने की कोशिश की है। हम उसके आदी हो जाते है, क्योकि इसान करीब-करीब हर बात का आदी हो जाता है, और फिर भी जब नयी बार हम उस फाटक के अन्दर दाखिल होते है तो फिर वही पुराना क्षोभ और उद्वेग की भावना आ जाती है और नब्ज उछलने लगती है और आँखे बरबस बाहर की हरियाली और चौडे मैदानो, चलते-फिरते लोगो और गाडियो और जान-पहचानवालों के चेहरो की तरफ, जिन्हे अब बहुत अर्से तक देखने का मौका नही मिलेगा, आखिरी नजर डालने लगती है।

जेल की मेरी पहली मियाद के दिन, जो तीन महीने के बाद ही

अचानक-ही खत्म हो गयी, मेरे और जेल-कर्मचारियों दोनों ही के लिए क्षोभ और बेचैनी के दिन थे। जेल के अफसर इन नयी तरह के अपराधियों की आमद से घबरा-से गये थे। इन नये आनेवालो की महज़ तादाद ही, जो दिन-ब-दिन बढती ही जाती थी, एक गैर-मामूली थी। उन्हे एक ऐसी बाढ-सी मालूम होती थी कि कही अपनी पुरानी कायम हदो को बहा न ले जाय। इसमे भी ज्यादा चिन्ता की बात यह थी कि नये आनेवाले लोग बिलकुल निराले ढग के थे। यो आदमी तो सभी वर्ग के थे, मगर मध्यम वर्ग के बहुत ज्यादा थे। लेकिन इन सब वर्गो मे एक बात सामान्य थी। वे मामूली सजायाफ्ता लोगों से बिल्कुल दूसरी तरह के थे और उनके साथ पुराने तरीके से बर्ताव नही किया जा सकता था। अधिकारियों ने यह बात मानी तो, मगर मौजूदा कायदो की जगह दूसरे कायदे न थे, और न पहले की कोई मिसाले थी, न कोई पहले का तजुर्बा। मामूली काग्रेसी कैदी न तो बहुत दब्बू था और न नरम। और जेल के अन्दर होते हुए भी अपनी तादाद ज्यादा होने से उसमे यह खयाल भी आगया था कि हममें कुछ ताकत है। बाहर के आन्दोलन से और जेलखानो के अन्दर के मामलो मे जनता की नयी दिलचस्पी पैदा हो जाने के कारण, वह और भी मजबूत हो गया था। ऐसे कुछ-कुछ तेज रुख के होते हुए भी हमारी आम नीति जेल-अधिकारियों से सहयोग करने की थी। अगर हम लोग उनकी मदद न करते तो अफसरों की तकलीफे बहुत ज्यादा हो गयी होती। जेलर अक्सर हमारे पास आया करता था, और कुछ बैरको मे, जिनमे हमारे स्वयंसेवक थे, चलकर उन्हे शान्त करने या किसी बात के लिए राजी करने को कहता था।

हम अपनी खुशी से जेल आये थे, और कई स्वयसेवक तो प्राय बिना बुलाये खुद जवरदस्ती भीतर घुस आये थे। इस तरह यह सवाल तो था ही नही कि कोई भाग जाने की कोशिश करता। अगर कोई बाहर जाना चाहता तो वह अपनी हरकत के लिए अफसोस जाहिर करने पर या आयन्दा ऐसे काम मे न पडने का इकरार लिखने पर आसानी से

बाहर जा सकता था। भागने की कोशिश करने से तो किसी हदतक बदनामी होती थी, और ऐसा काम सत्याग्रह जैसे राजनैतिक कार्य से अलग हो जाने के बराबर था। हमारे लखनऊ-जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी, और वह जेलर से (जोकि खान-साहब था) कहा करता था कि अगर आप कुछ कांग्रेस-स्वयसेवको को भाग जाने देने मे कामयाब हो सके तो तो मै आपको खानबहादुर बनाने के लिए सरकार से सिफारिश कर दूँगा।

हमारे साथ के ज्यादातर कैदी जेल के भीतरी चक्कर की बड़ी-बडी बैरको मे रक्खे जाते थे। हममे से अठारह को, जिन्हे मेरे अनुमान से अच्छे बर्ताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड मे रक्खा गया था, जिसके साथ एक बडी खुली हुई जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मैं, इन लोगो के लिए एक अलग सायबान था, जो करीब-करीब २०×१६ फीट था। हमे एक बैरक से दूसरी बैरक मे आने-जाने की काफी आजादी थी। बाहर के रिश्तेदारो से मुलाकात बहुत बार करने की इजाजत थी। अखबार आते थे, और नई गिरफ्तारियो और हमारी लडाई की बढती की ताजी घटनाओ की रोजाना खबरो से जोश का वातावरण रहता था। आपसी बात-चीत और बहस मे बहुत वक्त जाता था, और मै पढना या दूसरा ठोस काम कुछ नही कर पाता था। मैं सुबह का वक्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ करने और धोने मे, पिताजी के और अपने कपडे धोने मे और चर्खा कातने मे गुजारा करता था। वे जाडे के दिन थे, जोकि उत्तर-हिन्दुस्तान का सबसे आच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ्तो मे हमे अपने स्वयसेवको के लिए, या उनमे जो पढाना नही जानते थे उनके लिए, हिन्दी, उर्दू और दूसरे प्रारम्भिक विषय पढाने के लिए क्लास खोलने की इजाजत मिल गयी थी। तीसरे पहर हम वाली-बॉल खेला करते थे।[1]

---

1 अखबारो में एक बे-सिर-पैर की खबर निकली है, और हालाँकि उसका खण्डन किया जा चुका है फिर भी वह समय-समय पर प्रकाशित

धीरे-धीरे बन्धन बढने लगे। हमे अपने अहाते से बाहर जाने और जेल के उस हिस्से मे, जहाँ हमारे ज्यादातर स्वयसेवक रक्खे गये थे, पहुँचने से रोक दिया गया। तब पढाई के क्लास अपने-आप बन्द हो गये। करीव-करीव उसी वक्त मै जेल से छोड दिया गया।

मै मार्च शुरू मे बाहर निकला, और छ या सात हफ्ते बाद, अप्रैल मे फिर लौट आया। तब क्या देखता हूँ कि हालते बदल गयी थी। पिताजी को बदलकर नैनीताल-जेल मे भेज दिया गया था, और उनके जाने के बाद फौरन ही नये कायदे लागू कर दिये गये थे। बडे वीविंग-शेड के, जहाँ पहले मे रक्खा गया था, सारे कैदी भीतरी जेल मे बदल दिये गये और वहाँ बैरको मे रख दिये गये थे। हरेक बैरक करीब-करीब जेल के अन्दर दूसरी जेल ही थी, और बैरकवालों से मिलने-जुलने या बातचीत करने की इजाजत न थी। मुलाकात और खत अब कम किये जाकर महीने भर मे एक कर दिये गये। खाना बहुत मामूली कर दिया गया, हालाँकि हमे बाहर से खाने की चीजे मँगाने की इजाजत थी।

जिस बैरक मे मैं रखा गया उसमे करीब पचास आदमी रहते होगे। हम सबको एकसाथ ठूंस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक-दूसरे से तीन-चार फीट के फासले पर थे। खुशकिस्मती से उस बैरक का करीब-करीब हरेक आदमी मेरा जाना हुआ था। और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकान्त का बिलकुल न मिलना तो नागवार होता गया। हमेशा

होती रहती है। वह यह कि उस वक्त के यू० पी० गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर नें जेल में मेरे पिताजी के पास शेम्पेन शराब भेजी। सच तो यह है कि सर हारकोर्ट ने पिताजी के लिए जेल में कुछ नही भेजा, और न किसी दूसरे ने ही शेम्पेन या दूसरी कोई नशीली चीज भेजी। वास्तव में कांग्रेस के असहयोग को अपना लेने के बाद, १९२० ई० से, उन्होनें शराब वग़ैरा पीना सब छोड़ दिया था, और उस वक्त वह कोई ऐसी चीज नहीं पीते थे।

उसी झुंड को देखना-दिखाना, वही छोटे-छोटे झगड़े-टटे चलते रहना, और इन सबसे बचकर शान्ति का कोई कोना भी बिलकुल न मिलना हम सबके सामने नहाते, सबके सामने कपड़े धोते, कसरत के लिए बैरकों के चारों तरफ चक्कर लगाकर दौड़ते, और बहस और बातचीत इस हद तक करते कि जिससे दिमाग थक जाता और और सोच-समझकर बात भी करने की ताकत न रह जाती थी। यह कौटुम्बिक जीवन का का एक नीरस—सौगुना नीरस दृश्य था, जिसमें उसका आनन्द, शोभा और सुख-सुविधा का अंश बहुत था, और वह सब ऐसे लोगों के साथ कि जो सब तरह के स्वभाव और रुचियों के थे। हम सबके मन में इस बात का बड़ा उद्वेग रहता था, और मैं तो अक्सर अकेला रहने के लिए तरसता रहता था। कुछ सालों के बाद तो जेल में मुझे खूब एकान्त और अकेलापन मिल गया—ऐसा कि महीनों तक लगातार मुझे किसी-किसी जेल-अधिकारी के सिवा और किसीकी सूरत न भी दिखायी देती। तब फिर मेरे मन में उद्वेग रहने लगा—मगर इस बार अच्छे साथियों की जरूरत महसूस करता था। अब मैं कभी-कभी १९२२ में लखनऊ जिला-जेल में इकट्ठा रहने की हालत को रश्क के साथ याद करता था। फिर भी मैं खूब अच्छी तरह जानता था कि दोनों हालतों में से मुझे अकेला-पन ही ज्यादा पसन्द आया है, बशर्ते कि मुझे पढ़ने और लिखने की सुविधा हो।

फिर भी मुझे कहना होगा कि उस वक्त के साथी निहायत अच्छे और खुशमिजाज थे, और हम सबकी अच्छी बनी। मगर मेरा खयाल है कि हम सभी कभी-कभी एक-दूसरे से तंग-से आ जाते थे और अलहदा होकर कुछ एकान्त में रहना चाहते थे। ज्यादा-से-ज्यादा एकान्त जो मैं पा सकता था वह यही था कि मैं बैरक छोड़कर अहाते के खुले हिस्से में आ बैठता था। इन दिनों बारिश का मौसम था और बादल होने के कारण बाहर बैठा जा सकता था। मैं गरमी का, और कभी-कभी बूँदा-बाँदी का भी मुकाबला कर लेता था, और ज्यादा-से-ज्यादा वक्त बैरक के बाहर बिताया करता था।

खुले हिस्से मे लेटकर मै आकाश और बादलों को निहारा करता था और जो सौन्दर्य मैंने पहले कभी अनुभव नही किया वह बादलों के नित नये सुन्दर रगों मे करने लगा—

"अहो ! मेघमालाओं का यह
पल-पल रूप पलटना,
कितना मधुर स्वप्न है लेटे-
लेटे इन्हे निरखना !"[१]

लेकिन वह समय मेरे लिए सुख और आनन्द-युक्त न था, वह तो हमारे लिए भार-रूप था। मगर जो वक्त मै इन बरसाती बादलो को, जो हमेशा बदलते रहते थे, देखने मे गुजारता था वह आनन्द से भरा रहता था और मुझे राहत मालूम होती थी। मुझे ऐसा आनन्द होता मानो मैने कोई आविष्कार किया हो, और ऐसी भावना पैदा होती मानों मै कैद से छुटकारा पा गया हूँ। मै नही जानता कि खास उसी बारिश ने मुझपर इतना बडा असर क्यों डाला, इससे पहले या बाद की किसी साल की भी बारिश ने इस तरह प्रभावित नही किया। मैने कई बार पहाडो पर और समुद्र पर सूर्योदय और सूर्यास्त के मनोरम दृश्य देखे थे, उनकी शोभा को सराहा था और उस समय का आनन्द लूटा था एव उनकी महान् भव्यता और सुन्दरता से उस समय आन्दोलित हो उठता था। मगर मै उनको देखकर यही खयाल कर लेता कि ये तो रोज की बाते है, और दूसरी बातो की तरफ ध्यान देने लगता। मगर जेल मे तो सूर्योदय और सूर्यास्त दिखायी नही देते थे। क्षितिज हमसे छिपा हुआ था और सुबह देर से गरम किरणे लेकर सूरज हमारी रक्षक दीवारो के ऊपर से निकलता था। कही रग का नामोनिशान नही था, और हमारी आँखे सदा उन्ही मटमैली दीवारो और बैरको का नजारा देखते-देखते पथरा गयी थीं। वे तरह-तरह के प्रकाश, छाया और रगों को देखने के लिए भूखी हो रही थी, और जब बरसाती बादल अठखेलियाँ

---

१. अंग्रेजी कविता का भावानुवाद। —अनु०

करते हुए गुजरने लगे, तरह-तरह की शक्ले बनाते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के रगो के चमत्कार दिखाने लगे, तो मै ताज्जुब और खुशी से उन्हे निहारने लगा और देखते-देखते मानो आनन्द मे पागल हो जाता। कभी-कभी बादलो के बीच मे से कुछ हिस्सा अलग हो जाता था और वर्षाऋतु का एक अद्भुत दृश्य दिखायी देता था। उस खाली जगह मे से गहरा नीला आसमान नजर आता था जो कि अनन्त का ही एक हिस्सा मालूम होता था।

हमारे ऊपर रुकावटे धीरे-धीरे बढने लगी, और ज्यादा-ज्यादा सख्त कायदे लागू किये जाने लगे। सरकार ने हमारे आन्दोलन की नाप कर ली थी, और वह हमे यह महसूस करा देना चाहती थी कि उसका मुकाबिला करने की जुर्रत करने के सबब से वह हमपर किस कदर नाराज़ है। नये कायदो के चालू करने या उनके अमल मे लाने के तरीको मे जेल-अधिकारियो और राजनैतिक कैदियों के बीच झगडे होने लगे। कई महीनो तक करीब-करीब हम सबने—हम लोग उसी जेल मे कई थे—विरोध के तौर पर मुलाकाते करना छोड दिया था। जाहिरा यह खयाल किया गया कि हममे से कुछ झगडा खडा करानेवाले है, इसलिए हममे से सात आदमियो को जेल के एक दूर के हिस्से मे बदल दिया गया, जो कि खास बैरको से बिलकुल अलहदा था। इस तरह जिन लोगो को अलग किया गया उनमे मै, पुरुषोत्तमदास टण्डन, महादेव देसाई, जार्ज जोसफ, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गाधी थे।

हमे एक छोटे अहाते मे भेजा गया, और वहाँ रहने मे कुछ तकलीफे भी थी। मगर कुल मिलाकर मुझे तो इस तब्दीली से खुशी ही हुई। यहाँ भीड-भाड नही थी, हम ज्यादा शान्ति और ज्यादा एकान्त से रह सकते थे। पढने या दूसरे काम के लिए वक्त ज्यादा मिलता था। हम जेल के दूसरे हिस्सो के अपने साथी-कैदियो से अलहदा कर दिये गये और बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गये, क्योकि अब सब राजनैतिक कैदियों के लिए अखबार भी बन्द कर दिये गये थे।

हमारे पास अखबार नही आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई खबर

अन्दर टपक आती थी, जैसे कि जेलों में अक्सर टपका करती हैं। हमारी माहवारी मुलाकातों और खतों से भी हमें बाज-बाज ऐसी-वैसी खबरें मिल जाती थीं। हमको पता लगा कि हमारा आन्दोलन बाहर कमज़ोर हो रहा है। वह चमत्कारिक युग गुज़र गया था और कामयाबी धुँधले भविष्य में दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर, कांग्रेस में दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अ-परिवर्तनवादी। पहला दल, जिसके नेता देशबन्धुदास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रान्तीय कौंसिलों के चुनावों में हिस्सा ले और हो सके तो इन कौंसिलों पर कब्जा कर ले, दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम में कोई भी परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था। उस समय गांधीजी तो जेल में ही थे। आन्दोलन के जिन सुन्दर आदर्शों ने हमें ज्वार की लहरों की चोटी पर बैठे हुए की तरह आगे बढ़ाया था, वे छोटे-छोटे झगड़ों और सत्ता प्राप्त करने की साजिशों के द्वारा दूर उछाले जाने लगे। हमने यह महसूस किया कि जोश गुज़र जाने के बाद रोजाना का काम चलाने की बनिस्बत उत्साह और जोश के वक्त में बड़े-बड़े और हिम्मत के काम कर जाना कितना आसान है। बाहर की खबरों से हमारा जोश ठण्डा होने लगा, और इसके साथ-साथ जेल से दिल पर जो अलग-अलग तरह के असर पैदा होते हैं उनके कारण हमारा वहाँ रहना और भी दूभर हो गया। मगर, फिर भी हमारे अन्दर यह एक तसल्ली की भावना रही कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रक्खा है, और हमने सत्य का ही मार्ग ग्रहण किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो। आगे क्या होगा यह तो साफ दिखायी नहीं देता था; मगर आगे कुछ भी हो, हमें ऐसा मालूम होता था कि हम कइयों की किस्मतों में तो जिन्दगी का ज्यादा हिस्सा जेलों में गुजारना ही बदा है। इसी तरह की बातें हम आपस में किया करते थे, और मुझे खास तौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोसफ से एक बार बात-चीत हुई थी जिसमें हम इसी नतीजे पर पहुँचे थे। उन दिनों के बाद जोसफ हमसे दूर-ही-दूर होते चले गये हैं, और यहाँतक कि हमारे कामों के

एक जबरदस्त आलोचक भी बन गये है। क्या पता लखनऊ-ज़िला-जेल के सिविल वार्ड मे शरद्-ऋतु की एक शाम को हुई उस बातचीत की याद उनको कभी आती है या नही ?

हम रोजाना कुछ काम और कसरत करने मे जुट पडे। कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहाते के चारो तरफ दौडकर चक्कर लगाया करते थे, या दो बैलो की तरह से दो-दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएँ से एक बडा चमडे का डोल खीचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से शाक-भाजी के बाग मे पानी दे देते थे। हममें से ज्यादातर लोग रोजाना थोडा-थोडा सूत कातते थे। मगर उन जाडे के दिनो और लम्बी रातो मे पढना ही मेरा खास काम था। करीब-करीब हमेशा जब-जब सुपरिण्टेण्डेण्ट आता तो वह मुझे पढता हुआ ही देखता था। यह पढते रहने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इसपर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैंने तो अपना साधारण पढना बारह साल की उम्र मे ही खत्म कर दिया था! बेशक, पढ़ना छोड देने से उस बहादुर अग्रेज कर्नल को यह फायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करनेवाले विचार आये ही नही, और शायद इसीके बाद उसे युक्तप्रात की जेलो के इन्सपेक्टर-जनरल की जगह पर तरक्की पा जाने मे मदद मिली।

जाडे की लम्बी रातो और हिन्दुस्तान के साफ आस्मान ने हमारा ध्यान तारों की तरफ खीचा, और कुछ नकशो की मदद से हमने कई तारे पहचान लिये। हर रात हम उनके उगने का इन्तजार करते थे और मानो अपने पुराने परिचितो के दर्शन करते हो इस आनन्द से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक्त गुजारते थे। दिन गुजरते-गुजरते हफ्ते हो जाते और हफ्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोजमर्रा की रहन-सहन के आदी हो गये। मगर बाहर की दुनिया मे असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर—हमारी माताओं, पत्नियों और बहनो पर पडा। वे इन्तजार करते-करते थक गयी, और जब कि उनके प्यारे जेल के सीखचों

मे बन्द थे उन्हे अपनेको आजाद रखना बहुत खटकता था ।

दिसम्बर १९२१ मे हमारी पहली गिरफ्तारी के बाद ही इलाहाबाद के हमारे मकान, आनन्द-भवन, मे पुलिसवालो ने अक्सर आना-जाना शुरू किया । वे उन जुर्मानो को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझपर किये गये थे । काग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाय । इसलिए पुलिस रोज-रोज आती और कुछ-न-कुछ फर्नीचर कुर्क करके उठा ले जाती । मेरी चार साल की छोटी लडकी इन्दिरा इस बार-बार की लगातार लूट से बहुत नाराज होती थी । उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख्त नाराजगी जाहिर की । मुझे आशका है कि पुलिस-दल के बारे मे उसके ये बचपन के भाव उसके भावी विचारो पर असर डाले बिना न रहेगे ।

जेल मे पूरी कोशिश की जाती थी कि हमे मामूली गैर-राजनैतिक कैदियों से अलग रक्खा जाय । मामूली तौर पर राजनैतिक कैदियों के लिए अलग जेले मुकर्रर कर दी जाती थी । मगर पूरी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था, और हम उन कैदियो से अक्सर मिल लेते थे, और उनसे तथा खुद तजुर्बे से हमने जान लिया कि उन दिनों वास्तव मे जेल की जिन्दगी कैसी होती थी । उसे मार-पीट और जोर की रिश्वतखोरी और भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिए । खाना अजीब तौर पर खराब था, मैंने कई मर्त्तबा उसे खाने की कोशिश की मगर बिलकुल न खाये जाने लायक पाया । कर्मचारी आमतौर पर बिल्कुल अयोग्य थे और उन्हे बहुत कम तनख्वाहे मिलती थी । मगर उनके लिए कैदियो या कैदियो के रिश्तेदारो से हर मुमकिन मौके पर रुपया ऐठकर अपनी आमदनी बढाने का रास्ता पूरी तरह खुला था । जेलर और उसके असिस्टेण्टो और वार्डरो के फर्ज और जिम्मेदारियाँ, जेल-मैनुअल मे लिखे मुताबिक, इतनी ज्यादा और इतनी किस्म की थी कि किसी भी आदमी के लिए उन्हे ईमानदारी या योग्यता के साथ पूरा करना नामुमकिन था । युक्तप्रान्त मे (और सम्भवत. दूसरे प्रान्तों मे भी) जेल-शासन की सामान्य नीति का कैदी के सुधार या उसे अच्छी

आदते या उपयोगी धन्धे सिखाने से कोई ताल्लुक न था। जेल की मशक्कत का मकसद सजायाफ्ता आदमी को तग करना था[१] और यह कि उसको इतना भयभीत कर दिया जाय और दबाकर पूरी तरह तावे में कर लिया जाय, जिससे जब वह जेल से छूटे तो दिल मे उसका डर और खौफ लेकर जावे और आयन्दा जुर्म करने और फिर जेल लौटने से वाज आवे।

पिछले कुछ बरसो मे कुछ सुधार जरूर हुए है। खाना थोडा सुधरा है, और कपडे वगैरा भी सुधरे है। यह भी ज्यादातर राजनैतिक कैदियो के छूटने के वाद उनके बाहर आन्दोलन करने के कारण हुआ है। असहयोग के कारण वार्डरो की तनख्वाहो मे भी काफी तरक्की हुई है, ताकि वे 'सरकार' के वफादार बने रहे। लडको और छोटी उम्र के

---

१. युक्तप्रान्त के जेल-मैनुअल की धारा ९८७ में जो अब नये सस्करण से हटा दी गयी है, लिखा था :—

"जेल में मशक्कत करना, सिर्फ़ काम देने के लिए ही नहीं बल्कि खासकर सजा देने के लिए समझा जाना चाहिए। इसका भी ज्यादा खयाल न किया जाये कि उससे खूब पैसा पैदा किया जा सकता है। सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि जेल का काम तकलीफ-देह और मेहनत का होना चाहिए और उससे बदमाशो को खौफ़ पैदा होना चाहिए।"

इसके मुकाबिले में रूस के एस० एफ० एस० आर० की ताजीरात फ़ौजदारी को नीचे लिखी धारा देखने योग्य है :—

धारा ९—"सामाजिक सुरक्षा के उपायो का यह मकसद नही है कि शारीरिक यातनायें दी जायें, न यह है कि मनुष्य के गौरव को गिराया जाय, और न यह मकसद है कि बदला लिया जाय या दण्ड दिया जाय।"

धारा २६—"सजायें देना चूंकि सुरक्षा का ही एक उपाय है, वह तकलीफें देने के उसूल से बिलकुल बरी होना चाहिए, और उससे अपराधी को गैरजरूरी या फालतू तकलीफ़ न पहुँचनी चाहिए।"

कैदियों को पढना-लिखना सिखाने के लिए भी अब थोडी-सी कोशिश की जाती है। मगर अच्छे होते हुए भी, इन सुधारो से असली सवाल कुछ भी हल नही होता है और अब भी ज्यादातर वही पुरानी स्पिरिट चली आ रही है।

ज्यादातर राजनैतिक कैदियो को मामूली कैदियों के साथ किये जाने-वाले इस नियमित व्यवहार को ही सहना पडा। उन्हे कोई विशेष अधि-कार या व्यवहार नही मिला, मगर दूसरो से ज्यादा तेज-तर्रार और समझदार होने के कारण उनसे आसानी से कोई बेजा फायदा नही उठा सकता था, न उनमे रुपया ऐंठा जा सकता था। इस सबब से आप ही कर्म-चारी उन्हे पसन्द नही करते थे, और जब मौका आता तो उनमे से किसीको भी जेल के कायदे टूटने पर सख्त सजा दी जाती। ऐसे ही कायदे तोड़ने के लिए एक छोटे लडके को, जिसकी उम्र १५ या १६ साल की थी और जो अपनेको 'आजाद' कहता था बेत की सजा दी गयी। वह नगा किया गया और बेत की टिकटी से बाँध दिया गया, और जैसे-जैसे बेत उसपर पडते थे और उसकी चमडी फाडकर घुस जाते थे, वह 'महात्मा गाधी की जय' चिल्लाता था। हर बेत के साथ वह लडका यही नारा लगाता रहा, जबतक कि वह बेहोश न हो गया। बाद मे वही लडका उत्तर-भारत के आतककारी कार्यो के दल का एक नेता बना।

: १४ :

फिर बाहर

आदमी को जेल मे कई बातों का अभाव मालूम होता है, मगर सब-से ज्यादा अभाव तो शायद स्त्रियो के मधुर वचनों का और बच्चो की हँसी का ही महसूस होता है। जो आवाजें वहाँ आम तौर से सुनायी देती है वे कोई बड़ी खुशगवार नही होती। वे ज्यादातर कठोर और डरावनी होती है। भाषा जगली होती है और उसमे गाली-गलौज भरी रहती है। मुझे याद है कि मुझे एकबार एक नयी चीज का अभाव मालूम हुआ। मैं लखनऊ-जिला-जेल मे था और अचानक मुझे महसूस हुआ कि सात या आठ महीने से मैने कुत्ते का भौंकना नही सुना है।

जनवरी १९२३ के आखरी दिन लखनऊ-जेल के हम सब राजनैतिक कैदी छोड दिये गये। उस समय लखनऊ में एकसौ और दोसौ के बीच 'स्पेशल क्लास' के कैदी होंगे। दिसम्बर १९२१ या १९२२ के शुरु मे जिन लोगों को एक साल या कम की सजा मिली थी, वे सब तो अपनी पूरी सजा करके चले गये थे; सिर्फ वे जिनकी लम्बी सजाये थी, या जो दुबारा आ गये थे रह गये थे। इस अचानक रिहाई से हम सबको बड़ा ताज्जुब हुआ, क्योंकि आम रिहाई की पहले से कोई खबर न थी। प्रान्तीय कौंसिल ने राजनैतिक कैदियो की आम रिहाई कर देने के पक्ष मे एक प्रस्ताव भी पास किया था, मगर सरकार की कार्यकारिणी ऐसी माँगो की सुनवाई बहुत कम करती है। लेकिन इस समय ऐसा हुआ कि सरकार की निगाह मे यह वक्त मौजूँ था। कांग्रेस सरकार के विरुद्ध कुछ नही कर रही थी, और काग्रेसवाले आपसी झगडो मे ही फँसे हुए थे। जेल मे भी नामी-गिरामी काग्रेसवाले ज्यादा नही थे, इसलिए यह रिहाई करदी गयी।

जेल के फाटक से बाहर निकलने मे हमेशा एक राहत का भाव और आनन्दोल्लास रहता है। ताजा हवा और खुले मैदान, सडको पर के

चलते हुए दृश्य, और पुराने मित्रो से मिलना-जुलना, ये सब दिमाग मे एक खुमारी लाते है और कुछ-कुछ दीवाना-सा बना देते है। बाहर की दुनिया को देखने से पहलेपहल जो असर होता है उसमे कुछ पागलो का सा एक आनन्द छाया रहता है। हमारा दिल उछलने लगा, मगर यह भाव रहा थोडी देर के लिए ही, क्योकि काग्रेस-राजनीति की दशा काफी निराशाजनक थी। ऊँचे आदर्शों की जगह षड्यत्र होने लगे थे, और कई गुट उन सामान्य तरीको से काग्रेस-तन्त्र पर कब्जा करने की कोशिश करने लगे थे, जिनसे कुछ कोमल भावना रखनेवाले लोगो की निगाह मे राजनीति एक घृणित शब्द बन गया है।

मेरे मन का झुकाव तो कौसिल-प्रवेश के बिल्कुल खिलाफ था, क्योकि इसका जरूरी नतीजा यह मालूम होता था कि समझौता करने की चाले करनी पडेगी और अपना लक्ष्य हमेशा नीचा करना पडेगा। मगर सच पूछो तो देश के सामने कोई दूसरा राजनैतिक प्रोग्राम ही न था। अपरिवर्तनवादी 'रचनात्मक कार्यक्रम' पर जोर देते थे, जो कि दरअसल सामाजिक सुधार का कार्यक्रम था और जिसका मुख्य गुण यह था कि उससे हमारे कार्यकर्त्ताओ का जनता से सम्पर्क पैदा हो जाय। मगर इससे उन लोगो को तसल्ली नही हो सकती थी जो राजनैतिक कार्य मे विश्वास करते थे, और यह कुछ अनिवार्य ही था कि सीधे सघर्ष की लहर के बाद, कि जो कामयाब न हुई हो, कौसिल-सम्बन्धी कार्यक्रम आगे आवे। यह कार्यक्रम भी देशबन्धुदास और मेरे पिताजी ने, जोकि इस नये आन्दोलन के नेता थे, सहयोग और रचना के लिए नही बल्कि बाधा डालने और मुकाबिला करने की दृष्टि से सोचा था।

देशबन्धु दास कौसिलो मे भी राष्ट्रीय सग्राम को जारी रखने के उद्देश्य से वहाँ जाने के पक्ष मे हमेशा रहे थे। मेरे पिताजी का भी लगभग यही दृष्टिकोण था। १९२० मे जो उन्होंने कौसिल का बहिष्कार मजूर किया था, वह कुछ अशो मे अपने दृष्टिकोण को गाधीजी के दृष्टिकोण के अधीन कर देने के रूप मे था। वह लडाई मे पूरी तरह शामिल हो जाना चाहते थे, और उस समय ऐसा करने का एक ही रास्ता था कि

गाधीजी के नुस्खे को सोलहो आना आजमाया जाय। कई नौजवानों के दिमाग मे यह भरा हुआ था कि जिस तरह सिनफीन ने पार्लमेण्ट की सीटो पर कब्जा कर लिया और फिर वे कामन्स-सभा मे दाखिल नही हुए, उसी तरह यहाँ भी किया जाय। मुझे याद है कि मैंने १९२० की गर्मियो मे गाधीजी पर बहिष्कार के इस तरीके को अख्त्यार करने के लिए जोर दिया था, मगर ऐसे मामलो मे वह झुकनेवाले नही थे। मुहम्मदअली उन दिनो खिलाफत सम्बन्धी एक डेपुटेशन के साथ यूरप मे थे। लौटने पर उन्होने बहिष्कार के इस तरीके पर अफसोस जाहिर किया था। उन्हे सिनफीन-मार्ग ज्यादा पसद था। मगर दूसरे व्यक्ति इस मामले मे क्या विचार रखते है, इस बात की कोई वकत न थी, क्योकि आखिरकार गाधीजी का दृष्टिकोण ही कायम रहने को था। वही आन्दोलन के जन्मदाता थे, इसलिए यह खयाल किया गया कि व्यूह-रचना के बारे मे उन्हीको पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। सिनफीन तरीके के बारे मे उनके खास ऐतराज (हिंसा से उसका सम्बन्ध होने के अलावा) यह थे कि जनता यह सीधी बात ज्यादा आसानी से समझ सकती है कि वोट देने के मुकामो का और वोट देने का बहिष्कार कर दिया जाय, मगर सिनफीन तरीके को मुश्किल समझेगी। चुनाव करवा लेने और फिर कौसिलो मे न जाने से जनता के दिमाग मे उलझन पैदा हो जायगी। इसके सिवा, अगर एक बार हमारे लोग चुन दिये गये तो वे कौसिलो की तरफ ही खिचेगे और उन्हे उसके बाहर रखना मुश्किल होगा। हमारे आन्दोलन मे इतना अनुशासन और शक्ति नही है कि देर तक उन्हे बाहर रक्खा जा सके, और धीरे-धीरे अपनी स्थितियो से गिरकर लोग कौसिलों के जरिये सरकारी आश्रय का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से फायदा उठाने लगेगे।

इन दलीलों मे सचाई काफी थी, और सचमुच १९२४–२६ मे जब स्वराजपार्टी कौसिल मे गयी तब बहुत-कुछ ऐसा ही हुआ भी। फिर भी कभी-कभी विचार आ ही जाता है, कि अगर काग्रेस १९२० मे कौसिलो पर कब्जा करना चाहती तो क्या हुआ होता? इसमे शक नही हो

सकता कि चूंकि उस समय खिलाफत-कमिटी भी साथ थी, वह प्रान्तीय तथा केन्द्रीय दोनो ही कौसिलो की करीब-करीब हर सीट को जीत सकती थी। आज (अगस्त, १९३४ मे) यह फिर चर्चा है कि काग्रेस असेम्बली के लिए उम्मीदवार खडे करे, और एक पार्लमेण्टरी-बोर्ड भी बन गया है। मगर १९२० के बाद से हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन मे कई बडी-बडी दरारे पड चुकी है, अत अगले चुनाव मे काग्रेस को कितनी भी कामयाबी क्यो न मिले वह इतनी नही हो सकती जितनी १९२० मे हो सकती थी।

जेल से छूटने पर कुछ दूसरे लोगो के साथ मैने भी कोशिश की कि परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी दलो मे कुछ समझौता हो जाय। किन्तु हमे कुछ भी सफलता न मिली और मै इन झगडो से ऊब उठा। तब मै तो सयुक्तप्रान्तीय काग्रेस-कमिटी के मन्त्री की हैसियत से काग्रेस को सगठित करने के काम मे लग गया। पिछले साल के धक्को से बहुत छिन्न-भिन्नता आगयी थी और उसे दूर करने के लिए काम बहुत था। मैने बहुत मेहनत की, मगर उसका कोई नतीजा न निकला। असल मे मेरे दिमाग के लिए कोई काम न था। मगर जल्दी ही मेरे सामने एक नयी तरह का काम आ खडा हुआ। मेरी रिहाई के कुछ हफ्तो के अन्दर ही मै इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी की सदारत पर बैठा दिया गया। यह चुनाव इतना अचानक हुआ कि घटना के पैतालीस मिनट पहले तक इस बाबत किसीने भी मेरे नाम का जिक्र नही किया था, बल्कि मेरा खयाल तक नही किया था। मगर अन्तिम घडी मे काग्रेस-पक्ष ने यह अनुभव किया कि मै ही उनके दल मे एक ऐसा आदमी हूँ जिसका कामयाब होना निश्चित था।

उस साल ऐसा हुआ कि देशभर मे बडे-बडे काग्रेसवाले ही म्युनिसिपैलिटियो के प्रेसिडेन्ट बन गये। देशबन्धु दास कलकत्ता के पहले मेयर बने, विट्ठलभाई पटेल बम्बई कार्पोरेशन के प्रेसिडेन्ट बने, सरदार वल्लभभाई अहमदाबाद के बने। युक्तप्रान्त मे ज्यादातर बडी म्युनिसिपैलिटियों मे काग्रेसी ही चेयरमैन थे।

अब तो मुझे म्युनिसिपैल्टिटी के सभी मुख्तलिफ कामों में दिलचस्पी पैदा होने लगी और मैं उसमें ज्यादा-से-ज्यादा वक्त देने लगा। उसके कई सवालों ने तो मुझे लुभा ही लिया। मैंने इस विषय का खूब अध्ययन किया और म्युनिसिपैल्टिटी का सुधार करने के मैंने बहुत बड़े-बड़े मनसूबे बाँधे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि आजकल हिन्दुस्तानी म्युनिसिपैलिटियों की रचना जिस तरह की गयी है उसके रहते हुए उनमें बड़े सुधारों या उन्नति के लिए बहुत कम गुंजाइश है। फिर भी काम करने के लिए और म्युनिसिपल तन्त्र को साफ़-सूफ करने और सुगम बनाने की गुंजाइश तो थी ही, और मैंने इस बात के लिए काफी मेहनत की। उन्हीं दिनों मेरे पास कांग्रेस का काम भी बढ़ रहा था और प्रान्तीय सेक्रेटरी के अलावा मैं अखिल-भारतीय सेक्रेटरी भी बना दिया गया था। इन मुख्तलिफ़ कामों की वजह से अक्सर मुझे रोज़ाना पन्द्रह-पन्द्रह घंटे तक काम करना पड़ता था, और दिन खत्म होने पर मैं अपने को बिलकुल थका हुआ पाता था।

जेल से घर लौटने पर मेरी आँखों के सामने जो पहला खत आया वह इलाहाबाद-हाईकोर्ट के तत्कालीन चीफ़ जस्टिस सर ग्रिमवुड मियर्स का था। यह खत मेरे छूटने से पहले लिखा गया था, मगर ज़ाहिरा यह जानते हुए लिखा गया था कि रिहाई होनेवाली है। उनकी सौजन्यपूर्ण भाषा और उनसे अक्सर मिलते रहने के उनके निमन्त्रण से मुझे थोड़ा ताज्जुब हुआ। मैं उन्हें नहीं जानता था। वह इलाहाबाद में अभी १९१९ में ही आये थे, जबकि मैं वकालत के पेशे से दूर होता जाता था। मेरा खयाल है कि उनके सामने मैंने सिर्फ एक ही मुकदमे की बहस की थी, और हाईकोर्ट में मेरा वह आखिरी ही मुक़दमा था। किसी-न-किसी कारण से, मुझे ज्यादा जाने-बूझे बिना ही मेरी तरफ उनका कुछ अधिक झुकाव होने लगा। उनकी यह आशा थी, उन्होंने मुझे बाद में बताया, कि मैं खूब आगे बढ़ूँगा, और इसलिए मुझे अंग्रेजों के दृष्टिकोण समझाने में वह मुझपर अपनी नेक सलाह का असर डालना चाहते थे। वह बड़ी बारीकी से काम कर रहे थे। उनकी राय थी, और अब भी कई अंग्रेज ऐसा ही समझते हैं, कि हिन्दुस्तान के साधारण 'गरम' राजनीतिक ब्रिटिश-विरोधी

इसलिए हो गये है कि सामाजिक क्षेत्र मे अग्रेजों ने उनके साथ बुरा बर्ताव किया है। इसीसे रोष, तीव्र दुख और 'गरम-पन' पैदा हो गया है। यह कहा जाता है, और इसे कई जिम्मेदार लोगों ने भी दोहराया है, कि मेरे पिताजी को एक अग्रेजी क्लब मे नही चुना गया इसीसे वह ब्रिटिश-विरोधी और 'गरम' विचार के हो गये। यह बात कतई बेबुनियाद है, और एक बिलकुल दूसरी तरह की घटना का विकृत रूप है।[1] मगर कई अग्रेजों को ऐसी मिसाले, चाहे वे सही हो या गलत, राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति का सीधा और काफी कारण मालूम होती है। दरहकीकत, मेरे पिताजी को और मुझे इस मामले मे कोई खास शिकायत थी ही नही। व्यक्तिगत रूप से अग्रेज हमेशा हमसे शिष्टता से पेश आते थे। और उनसे हमारी अच्छी बनती है, हालाँकि सभी हिन्दुस्तानियों की तरह बेशक हमे अपनी जाति की गुलामी का अहसास रहा और वह हमे बहुद ज्यादा खटकती रही। मै मानता हूँ कि आज भी मेरी अग्रेजों से बहुत अच्छी पटती है, बशर्ते कि वह कोई अधिकारी न हो और मुझपर महरबानी न जताता हो। और इतने भी हमारे सम्बन्धों मे खुशमिजाजी की कमी नही होती। शायद नरम दलवालों तथा अन्य लोगों की बनिस्बत, जो हिन्दुस्तान मे अग्रेजों से राजनैतिक सहयोग करते है, मेरा अग्रेजों से ज्यादा मेल खाता है।

सर ग्रिमवुड का इरादा था कि दोस्ताना मेल-जोल, सरल और शिष्टतापूर्ण बर्ताव के द्वारा कटुता के इस मूल कारण को निकाल डाले। मेरी उनसे कई बार मुलाकात हुई। किसी-न-किसी म्यूनिसिपल टैक्स पर ऐतराज करने के बहाने वह मुझसे मिलने के लिए आया करते थे और दूसरी बातों पर बहस किया करते थे। एक मर्तबा उन्होने हिन्दुस्तान के लिबरलों पर खूब हमला किया। वह उन्हे डरपोक, ढीले, मौकापरस्त—जिनमे न चरित्र-बल है, न दम-खम—कहने लगे, और उनकी भाषा मे

---

१. इस घटना का ज्यादा हाल जानने के लिए अध्याय ३८ का फुटनोट देखिए।

कठोरता और घृणा आ गयी। उन्होंने कहा—"क्या आप समझते है कि हमारे दिल मे उनके लिए कोई इज्जत है ?" मुझे ताज्जुब होता था कि वह मुझसे इस तरह की बाते क्यों कर रहे है, शायद उनका खयाल था कि ऐसी बातो से मै खुश होऊँगा। इसके बाद बातचीत फेरकर वह नयी कौंसिलो, उनके मन्त्रियों और उनको देश-सेवा करने का कितना बडा मौका हासिल है इन बातो की चर्चा करने लगे। देश के सामने सबसे जरूरी सवाल तालीम का है। क्या किसी शिक्षा-मन्त्री को जिसे अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की आजादी हो, लाखो आदमियो की किस्मत सुधारने का मौका नही है ? क्या यह जिन्दगी का सबसे बडा मौका नही है ? उन्होंने कहा, फर्ज कीजिए कि आप जैसा कोई आदमी जिसमे समझदारी, चरित्र-बल, आदर्श और आदर्शो को अमल में लाने की शक्ति हो, प्रान्त की शिक्षा का जिम्मेदार हो, तो क्या आप अद्भुत काम करके नही दिखा सकते ? और उन्होंने कहा कि मै हाल मे ही गवर्नर से मिला हूँ, और विश्वास रखिए कि आपको अपनी नीति चलाने की पूरी आजादी रहेगी। फिर, शायद यह अनुभव करके कि वह जरूरत से ज्यादा आगे बढ गये है, उन्होंने कहा कि सरकारी तौर पर किसीकी तरफ से कोई वादा तो वह नहीं कर सकते, मगर जो तजवीज उन्होंने रक्खी है वह उनकी खुद की ही है।

सर ग्रिमवुड ने बडी सफाई और टेढे-मेढे तरीके से जो प्रस्ताव रखा उसकी तरफ मेरा ध्यान तो गया, मगर सरकार का मन्त्री बनकर उसका साथ देने का विचार मै कर भी नही सकता था। वास्तव मे इस खयाल से ही मै नफरत करता था। मगर, उस समय और उसके बाद भी, कुछ ठोस, निश्चित और रचनात्मक काम करने का मौका पाने की अक्सर तमन्ना की है। विध्वंस आदोलन, और असहयोग तो मानव-प्राणी की दैनिक प्रवृत्तियाँ नही हो सकती। फिर भी हमारी किस्मत मे यही लिखा है कि संघर्ष और विनाश के रेगिस्तान मे से गुजरने के बाद ही उस देश मे पहुँच सकते है जहाँ हम रचना कर सकते है, और संभव है कि हममे से ज्यादातर लोग अपनी शक्तियों और जीवन को उन बदलते

हुए रेगिस्तानों मे से गुजरने की सख्त जद्दोजहद करते हुए ही बिता देंगे, और रचना का काम हमारे बच्चों या उनके बच्चो के हाथ से होगा।

उन दिनों, कम-से-कम युक्तप्रान्त मे तो, मन्त्रि-पद बहुत सस्ते हो गये थे। दो नरम-दली मन्त्री, जो असहयोग के जमाने मे काम कर रहे थे, हट गये थे। जब काग्रेस के आन्दोलन ने मौजूदा तन्त्र को तोडना चाहा, तव सरकार ने काग्रेस से लडने के लिए नरम-दली मन्त्रियों से फायदा उठाने की कोशिश की। मन्त्रि-मण्डल के लोग उन दिनों उनको मान देते थे और उनके प्रति आदर प्रदर्शित करते थे, क्योकि उस मुश्किल वक्त मे उन्हे सरकार का हिमायती बनाये रखने के लिए यह जरूरी था। शायद वे समझते थे कि यह मान और इज्जत उन्हे बतौर हक के दिये गये हैं, मगर वे नही जानते थे कि यह तो काग्रेस के सामूहिक आक्रमण के परिणाम-स्वरूप सरकार की एक चालमात्र थी। जब आक्रमण हटा लिया गया, तो सरकार की निगाह मे नरमदली मन्त्रियों की कीमत बहुत गिर गयी और साथ ही वह मान और इज्जत भी जाती रही। मन्त्रियों को यह अखरा, मगर उनका कुछ बस न चला और जल्दी ही उन्हे इस्तीफा दे देना पडा। तब नये मन्त्रियों के लिए तलाश होने लगी, और इसमे जल्दी कामयाबी नही हुई। कौंसिल मे जो मुट्ठी भर नरम-दली लोग थे, वे अपने साथियों की, जो बगैर किसी लिहाज के निकाल बाहर किये थे हमदर्दी के सबब दूर ही रहे। दूसरे लोगों मे से जो ज्यादातर जमींदार थे, शायद ही कुछ ऐसे हों जो मामूली तौर पर भी तालीम-याफ्ता कहे जा सके। काग्रेस द्वारा कौंसिलों का बहिष्कार होने से उनमे एक अजीब पचरगी गिरोह दाखिल हो गया था।

एक बात यह प्रसिद्ध है कि इसी समय, या कुछ वक्त बाद, एक शख्स को मन्त्री बनने के लिए कहा गया। उसने जवाब दिया कि मै बहुत होशियार आदमी होने का फख्र तो नही करता, मगर मै अपने को मामूली समझदार और शायद औसत दर्जे के लोगों से कुछ ज्यादा ही समझदार समझता हूँ, और मै समझता हूँ कि मेरी ऐसी शोहरत भी है; क्या सरकार चाहती है कि मै मन्त्री-पद मजूर कर लूँ और दुनिया

मे अपने-आपको सख्त बेवकूफ जाहिर करूँ ?

यह विरोध कुछ उचित भी था। नरम-दली मन्त्री कुछ सकुचित विचार के थे, राजनीति या सामाजिक मामलों मे उनकी निगाह दूरतक नही जाती थी। मगर यह तो उनके बेकार उसूलो का कुसूर था। परन्तु एक पेशेवर की हैसियत से उनकी लियाकत अच्छी थी, और अपने दफ्तर का रोजमर्रा का काम वे ईमानदारी से करते थे। उनके बाद जो मन्त्री बने उनमे से कुछ जमीदार-वर्ग मे से आये, और उनकी शिक्षा, प्रचलित मानी मे भी, बहुत ही सीमित थी। मै समझता हूँ कि उन्हे ठीक तौर पर सिर्फ साक्षर कह सकते थे, इससे ज्यादा नही। कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि गवर्नर ने इन भले आदमियो को हिन्दुस्तानियों को बिलकुल नाकाबिल साबित करने के लिए ही चुना और ऊँची जगह पर मुकर्रर कर दिया था। उनके बारे मे यह कहना बिलकुल मुनासिब होगा कि —

दिया भाग्य ने इसी हेतु तुझको यह ऊँचा उद्भव है,
जिससे दुनिया कहे भाग्य को कुछ भी नहीं असभव है।[1]

तालीम-याफ्ता हो या नही, मगर इन मन्त्रियो की तरफ़ जमीदारों के वोट तो थे ही, और वे बडे अफसरों को बढिया गार्डन-पार्टियाँ भी दे सकते थे। भूख से तडपते हुए किसानो से जो रुपया उनके पास आता था, उसका इससे अच्छा इस्तैमाल और क्या हो सकता था !

---

१. रिचर्ड गार्नेट के एक पद्य का भावानुवाद।

: १५ :

सन्देह और संघर्ष

मैं बहुत-से कामों मे लग गया, और इस तरह मैंने उन मामलों से बचने की कोशिश की जो मुझे परेशानी मे डाले हुए थे। लेकिन उनसे बचना मुमकिन न था। जो सवालात बार-बार मेरे मन मे उठते थे, और जिनका कोई सन्तोषजनक जवाब मुझे नही मिलता था, उनसे मैं कहाँ भाग सकता था? बात यह है कि वह १९२०-१२ की तरह मेरी आत्मा का सोलहों आने प्रतिबिम्ब नही था। इन दिनों जो काम मै करता था वह सिर्फ इसलिए कि मैं अपने अन्तर्द्वन्द्व से बचना चाहता था। उस वक्त जो आवरण मुझपर पडा हुआ था अब उससे मैं निकल आया था, और अपने चारों तरफ हिन्दुस्तान मे और हिन्दुतान से बाहर जो कुछ हो रहा था उसपर निगाह डाल रहा था। मैंने बहुत-से ऐसे परिवर्तन देखे जिनकी तरफ अभीतक मेरा खयाल ही नही गया था। मैंने नये-नये विचार देखे, और नये-नये सघर्ष, और मुझे प्रकाश की जगह उलटे बढती हुई अस्पष्टता दिखायी दी। गाधीजी के नेतृत्व मे मेरा विश्वास बना रहा, लेकिन उनके प्रोग्राम के कुछ हिस्सों की मैं बारीकी से छान-बीन करने लगा। पर वह तो थे जेल मे। हम लोग जब चाहते तब उनसे मिल नही सकते थे, और न उनकी सलाह ही ले सकते थे। उन दिनों जो दो पार्टियाँ—कौंसिल-पार्टी और अपरिवर्तनवादी—काम कर रही थी उनमे से कोई भी मुझे अपनी तरफ नही खीच रही थी। कौंसिल-पार्टी जाहिरा तौर पर सुधारवाद और विधानवाद की तरफ झुक रही थी, और मुझे लगा कि यह मार्ग तो हमें एक अन्धी गली मे लेजाकर डाल देगा। अपरिवर्तनवादी महात्माजी के कट्टर अनुयायी माने जाते थे, लेकिन महान् पुरुषों के दूसरे सब अनुयायियों की तरह वे भी उनके उपदेशों के सार को न मानकर उनके अक्षरों के अनुसार चलते थे। उनमे सजीवता और सचालक-शक्ति नही थी, और अमल मे उनमे से

ज्यादातर लोग लडाकू नही थे और सीधे-सादे समाज-सुधारक थे। लेकिन उनमे एक गुण था। आम किसानों से उन्होने अपना सम्बन्ध बनाये रखा था, जबकि कौंसिलो मे जानेवाले स्वराजी सोलहो आने पार्लमेण्टो की पैतरेबाजियो मे ही लगे रहे।

मेरे जेल से छूटते ही देशबन्धु दास ने मुझे स्वराजियो के मत का बनाने की कोशिश की। यद्यपि मुझे दिखायी नही देता था कि ुझे क्या करना चाहिए, और उन्होने अपनी सारी वकालत खर्च कर दी, तो भी मेरा दिल उनके अनुकूल न हुआ। यह बात विचित्र किन्तु ध्यान देने योग्य थी, जिससे कि मेरे पिताजी के स्वभाव का पता भी लगता था, कि उन्होने मुझपर कभी इस बात के लिए जोर या असर डालने की कोशिश नही की कि मै स्वराजी हो जाऊँ, यद्यपि वह खुद स्वराज-पार्टी के लिए उन दिनो बहुत उत्सुक थे। साफ जाहिर है कि अगर मै उनके आन्दोलन मे उनके साथ हो जाता तो उन्हे बडी खुशी होती, लेकिन मेरे भावो के लिए उनके दिल मे इतना ज्यादा खयाल था कि जहाँतक इस मामले से ताल्लुक था उन्होने सब कुछ मेरी मर्ज़ी पर ही छोड दिया; मुझसे कभी कुछ नही कहा।

इन्ही दिनो में मेरे पिताजी और देशबन्धुदास मे बहुत गहरी दोस्ती पैदा हो गयी। यह दोस्ती राजनैतिक मित्रता से कही ज्यादा गहरी थी। इस दोस्ती मे मैने जो मुहब्बत की गहराई और अपनापन देखा, उसपर कम अचरज न हुआ, क्योंकि बडी उम्र मे तो गहरी दोस्तियाँ शायद ही कभी पैदा होती हो। पिताजी के मेल-मुलाकातियो की तादाद बहुत बडी थी। उनके साथ हँस-खेलकर घुल-मिल जाने का उनमे विशेष गुण था। लेकिन वह दोस्ती बहुत सोच-विचारकर ही करते थे, और जिन्दगी के पिछले सालों मे तो वह ऐसी बातो मे आस्थाहीन हो गये थे। लेकिन उनके और देशबन्धु के बीच मे तो कोई बाधा न ठहर सकी, और दोनों एक-दूसरे को तहे-दिल से चाहने लगे। मेरे पिताजी देशबन्धु से नौ बरस बडे थे, फिर भी शारीरिक दृष्टि से वही ज्यादा ताकतवर और तन्दुरुस्त थे। हालाँकि दोनों की कानूनी शिक्षा और वकालत की कामयाबी का

पिछला इतिहास एक-सा ही था, फिर भी दोनों मे कई बातो मे बड़ा फर्क था। देशबन्धु दास वकील होने पर भी कवि थे। उनका दृष्टिकोण भावुकतामय—कवियो का-सा—था। मेरा खयाल है कि उन्होंने बगाली मे बहुत अच्छी कवितायें भी लिखी है। वह बडे अच्छे वक्ता थे, तथा उनकी प्रकृति धार्मिक थी। मेरे पिताजी उनसे अधिक असली और रूखे-से थे, उनमे सगठन करने की बहुत बडी शक्ति थी, और धर्मनिष्ठा का उनमे नामो-निशान न था। वह हमेशा लडाके रहे थे, हर वक़्त चोट खाने और करने को तैयार। जिन लोगो को वह बेवकूफ समझते थे, उनको कतई बरदाश्त नही कर सकते थे। अपनी खुशी से तो नही ही करते थे। और वह अपने विरोध को भी बरदाश्त नही कर सकते थे। कोई उनका विरोध करता, तो उन्हे वह ऐसी चुनौती मालूम पडती जिसका पूरी तरह मुकाबिला करना ही चाहिए। मालूम होता था कि मेरे पिताजी और देशबन्धु यद्यपि कई बातों मे एक-दूसरे से भिन्न थे, फिर भी एक-दूसरे के साथ अच्छा मेल खा गये। पार्टी के नेतृत्व के लिए इन दोनों का मेल बहुत ही उम्दा और कारगर साबित हुआ। इनमे हरेक, कुछ हद तक, दूसरे की कमी को पूरा करता था। यहाँतक कि दोनों ने एक-दूसरे को यह अख्त्यार दे दिया था कि किसी भी किस्म का बयान या ऐलान निकालते वक्त दूसरे के नाम का इस्तेमाल कर सकते है। इसके लिए पहले से पूछने या सलाह लेने की कोई जरूरत न थी।

स्वराज-पार्टी को मज़बूती के साथ कायम करने मे और देश मे उसकी ताकत और धाक जमाने मे इस जाती दोस्ती का बहुत-कुछ हाथ था। शुरू से ही इस पार्टी मे फूट फैलानेवाली प्रवृत्तियाँ थी, क्योंकि कौंसिलो के जरिये अपनी ज़ाती तरक्की की गुजाइश होने की वजह से बहुत-से मौका-परस्त और ओहदों के भूखे लोग उसमे आ घुसे थे। उसमे कुछ असली माडरेट भी थे, जिनका झुकाव सरकार के साथ ज्यादा सहयोग करने की तरफ था। चुनाव के बाद ज्योंही ये प्रवृत्तियाँ सामने आने लगी, त्योंही पार्टी के नेताओ ने उनकी निन्दा की। मेरे पिताजी ने ऐलान किया कि मैं पार्टी के शरीर से सड़े हुए अग को काटने मे न

हिचकूँगा, और उन्होंने अपने इसी ऐलान के अनुसार काम भी किया।

१९२३ से आगे अपने पारिवारिक जीवन में मुझे बहुत सुख व संतोष मिलने लगा, हालाँकि मैं पारिवारिक जीवन के लिए बिलकुल वक्त न दे सकता था। अपने पारिवारिक संबंधों में मैं बड़ा भाग्यशाली रहा हूँ। ज़बरदस्त कशमकश और मुसीबतों के वक्त में मुझे अपने परिवार में शान्ति और सान्त्वना मिली है। मैंने महसूस किया कि इस दिशा में मैं खुद कितना अपात्र निकला। यह सोचकर मुझे कुछ शर्म भी मालूम हुई। मैंने महसूस किया कि १९२० से लेकर मेरी पत्नी ने जो उत्तम व्यवहार किया उसका मैं कितना ऋणी हूँ। स्वाभिमानी और मृदुल स्वभाव की होते हुए भी उसने न सिर्फ मेरी सनकों ही को बरदाश्त किया, बल्कि जब-जब मुझे शान्ति और तसल्ली की सबसे ज्यादा ज़रूरत थी तब-तब वह उसने मुझे दी।

१९२० में हमारे रहन-सहन के ढंग में कुछ फर्क पड़ गया था। वह बहुत सादा हो गया था, और नौकरों की तादाद भी बहुत कम कर दी थी। फिर भी उससे किसी आवश्यक आराम में कोई कमी नहीं हुई थी। किसी हद तक तो ज़रूरी चीज़ों को अलग करने के लिए, और कुछ हद तक चालू खर्च के लिए रुपया इकट्ठा करने के वास्ते, बहुत-सी चीज़ें, घोड़े-गाड़ियाँ और घर-गृहस्थी की वे सब चीज़ें जो हमारे रहन-सहन के नये ढंग के लिए मौज़ूँ नहीं थीं, बेच दी गयी थीं। हमारे फर्नीचर का कुछ हिस्सा तो पुलिस ने ही लेकर बेच दिया था। इस फर्नीचर की और मालियों की कमी से घर की सफाई और खूबसूरती जाती रही, और बाग जंगल-सा हो गया। कोई तीन साल तक घर व बाग की तरफ नहीं के बराबर ध्यान दिया गया था। बहुत हाथ खोलकर खर्च करने के आदी होने की वजह से पिताजी कई बातों की किफायतशारी को पसन्द नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने तय किया कि वह, घर बैठे-बैठे, लोगों को कानूनी सलाह देकर कुछ पैसे पैदा किया करें।

जो वक्त सार्वजनिक कामों से बचा रहता उसमें वह यह काम करते थे। उनके पास वक्त बहुत कम बचता था, फिर भी वह इस हालत में

भी काफी कमा लेते थे।

खर्च के लिए पिताजी पर अवलम्बित रहने की वजह से मै बहुत ही दुख और ग्लानि महसूस करता था। जबसे मैंने वकालत छोडी थी, तबसे असल मे मेरी कोई निजी आमदनी नही रही—सिर्फ उस न-कुछ आमदनी को छोड़कर, जो शेअरो के मुनाफे--डिवीडेण्ड—के रूप मे मिलती थी। मेरा और मेरी पत्नी का खर्च ज्यादा न था। सच बात तो यह है कि मुझे यह देखकर काफी अचरज हुआ कि हम लोग इतने कम खर्च मे अपना काम चला लेते है। इसका पता मुझे १९२१ मे लगा, और उससे मुझे बडी तसल्ली हुई। खादी के कपडो और रेल के तीसरे दर्जे के सफर मे ज्यादा खर्च नही पडता। उन दिनों पिताजी के साथ रहने की वजह से मै पूरी तरह यह महसूस नही कर सका कि इनके अलावा भी घर-गृहस्थी के ऐसे बहुत बेशुमार खर्च है जिनका जोड बहुत ज्यादा बैठता है। कुछ भी हो, रुपया न रहने के डर ने मुझे कभी नही सताया। मेरा खयाल है कि जरूरत पडने पर मै काफी कमा सकता हूँ, और हम लोग अपना काम बहुत-कम खर्च मे चला सकते है।

पिताजी के ऊपर हमारा कोई बहुत बडा बोझ नही था। इतना ही नही, अगर उनको इस बात का इशारा भी मिल जाता कि हम अपनेको उनपर एक बोझ समझते है तो उन्हे बडा दुख होता। फिर भी मै जिस हालत मे था उसको पसन्द नही करता था, और तीन साल तक मे इस मामले पर सोचता रहा, लेकिन मुझे उसका कोई हल नही मिला। मुझे ऐसा काम ढूंढ लेने मे कोई मुश्किल न थी जिससे मै कमाई कर लेता, लेकिन ऐसा काम कर लेने के मानी थे कि पब्लिक का जो काम मैं कर रहा था उसे या तो बन्द कर दूँ या कम कर दूँ। इस वक्त तक मै जितना समय दे सकता था वह सब मैंने काग्रेस और म्युनिसिपैलिटी के काम मे लगाया। मुझे यह बात पसन्द नही आयी कि मै रुपया कमाने के लिए उस काम को छोड दूँ। इसलिए बडे-बडे औद्योगिक फर्मो ने मुझे रुपये की दृष्टि से बडे-बडे लाभदायक काम सुझाये, मगर उनको मैंने नामजूर कर दिया। शायद वे इतना ज्यादा रुपया महज मेरी लियाकत

के खयाल से उतना नही देना चाहते थे, जितना कि मेरे नाम का फायदा उठाने की दृष्टि से। मुझे बड़े-बड़े उद्योग-धन्धेवालो के साथ इस तरह का सम्बन्ध करने की बात अच्छी नही लगी। मेरे लिए यह बात बिलकुल गैर-मुमकिन थी कि मैं फिर से वकालत का पेशा अख्त्यार करता, क्योंकि वकालत के लिए मेरी अरुचि बढ गयी थी, और वह बढ़ती ही चली गयी।

१९२४ की काग्रेस मे एक बात उठी थी कि प्रधान-मन्त्रियों को तनख्वाह दी जानी चाहिए। मैं उस वक्त भी काग्रेस का एक प्रधान-मत्री था, और मैंने इस विचार का स्वागत किया था। मुझे यह बात बिलकुल गलत मालूम होती थी, कि किसीसे एक तरफ तो यह उम्मीद की जाय कि वह अपना पूरा वक्त देकर काम करे और दूसरी तरफ उसे कम-से-कम पेट भरने भर को भी कुछ न दिया जाय। नही तो हमें ऐसे ही आदमियों के भरोसे सार्वजनिक काम छोडना पडेगा, जिनके पास खर्च का निजी इन्तजाम हो। लेकिन इस तरह की फुरसतवाले लोग राजनैतिक दृष्टि से हमेशा वाञ्छनीय नही होते, और न आप उनको उनके काम के लिए जिम्मेदार ही ठहरा सकते हैं। मगर काग्रेस ज्यादा नही दे सकती थी, क्योंकि हमारी वेतन की दर बहुत कम थी। लेकिन हिन्दुस्तान मे सार्वजनिक फण्डो से तनख्वाह लेने के खिलाफ एक अजीब और बिलकुल अनुचित धारणा फैली हुई है, हालाँकि सरकारी नौकरी की बावत यह बात नही है, और इसलिए पिताजी ने इस बात पर बहुत ऐतराज किया कि मैं काग्रेस से तनख्वाह लूँ। मेरे सहकारी मत्री को भी रुपयों की सख्त जरूरत थी, लेकिन वह भी काग्रेस से तनख्वाह लेना शान के खिलाफ समझते थे। इसलिए मुझे भी उसके बिना ही रहना पडा, हालाँकि मैं उसमे कोई बेइज्जती की बात नही समझता था और तनख्वाह लेने को तैयार था।

सिर्फ एक मर्त्तबा मैंने इस मामले में पिताजी से बाते छेडी, और उनसे कहा कि रुपये के लिए परावलम्बी रहना मुझे कितना नापसन्द है। मैंने यह बात, जहाँतक हो सकता था, बडे सकोच से और घुमा-फिरा-

कर कही, जिससे उन्हे बुरा न लगे। उन्होंने मुझे बताया कि "तुम्हारे लिए अपना सारा या ज्यादातर वक्त पब्लिक के काम के बजाय थोडा-सा रुपया कमाने मे लगाना बडी बेवकूफी होगी, जबकि मै (पिताजी) थोडे दिनो की मेहनत से आसानी से उतना रुपया कमा सकता हूँ जितना तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के लिए सालभर काफी होगा।" दलील जोरदार थी, लेकिन उससे मुझे सन्तोष नही हुआ। फिर भी मैं उसके मुताबिक ही काम करता रहा।

इन कौटुम्बिक मामलो मे और रुपये-पैसे की परेशानियो मे १९२३ से लेकर १९२५ तक के साल बीत गये। इस बीच मे राजनैतिक हालत बदल रही थी, और करीब-करीब अपनी मर्जी के खिलाफ मुझे भिन्न-भिन्न समूहों मे अपनेको शामिल करना पडा, और कांग्रेस मे भी मुझे जिम्मेदारी का पद लेना पडा। १९२३ मे एक अजीब हालत थी। देशबन्धु दास पिछले साल गया-कांग्रेस के सभापति थे। उस हैसियत से वह १९२३ के लिए अ० भा० कांग्रेस कमिटी के अध्यक्ष थे। लेकिन इस कमिटी मे कसरत राय उनके व स्वराजी नीति के खिलाफ थी, यद्यपि वह बहुमत बहुत थोडा-सा था और दोनो दल करीब-करीब बराबर थे। १९२३ की गर्मियो मे बम्बई मे अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक मे मामला यहाँतक बढ गया कि देशबन्धु दास ने कमिटी की अध्यक्षता से इस्तीफा दे दिया और एक छोटा-सा मध्यवर्ती दल आगे आया और उसीने नयी कार्य-समिति बनायी। अ० भा० कांग्रेस कमिटी मे इस मध्यवर्ती दल के कोई समर्थक न थे, और यह दो मुख्य पार्टियों मे से किसी-न-किसी की कृपा पर ही जीवित रह सकता था। किसी भी एक दल से मिलकर वह दूसरे को थोडे-से बहुमत से हरा सकता था। डॉक्टर अन्सारी नये अध्यक्ष बने और मै एक मन्त्री।

फौरन ही हमे दोनो तरफ से मुसीबतो का सामना करना पड़ा। गुजरात ने, जो उन दिनो अपरिवर्तनवादियों का एक मजबूत किला था, केन्द्रीय कार्यालय की कुछ हिदायतो को मानने से इन्कार कर दिया। गर्मियों के अखीर मे उसी साल नागपुर मे अ० भा० कांग्रेस कमिटी की

बैठक की गयी । नागपुर मे इन दिनो झण्डा-सत्याग्रह चल रहा था । यहीं हमारी कार्य-समिति का, जो अभागे मध्यवर्ती दल की प्रतिनिधि थी, थोड़े वक्त तक बदनाम ज़िन्दगी बिताने के बाद खातमा हो गया । इस समिति को इसलिए हटाना पडा कि असल मे खास तौर पर वह किसीकी भी प्रतिनिधि नही थी; और वह उन्ही लोगों पर हुकूमत चलाना चाहती थी, जिनके हाथ में काग्रेस सगठन की असली ताक़त थी । कार्य-समिति के इस्तीफा देने का कारण यह हुआ कि उसने केन्द्रीय कार्यालय का हुक्म न मानने के लिए गुजरात-कमिटी पर निन्दा का जो प्रस्ताव रक्खा था वह गिर गया । मुझे याद है कि अपना इस्तीफा देते हुए मुझे कितनी खुशी हुई और मैंने कितने सतोष की साँस ली ! पार्टी की पैंतरेबाज़ियो के इस थोड़े-से ही अनुभव से मै बिलकुल उकता गया, और मुझे यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि कुछ मशहूर काग्रेसी भी इस तरह साज़िश कर सकते है ।

इस मीटिंग मे देशबन्धु दास ने मुझपर यह इलजाम लगाया कि तुम भावना-हीन हो । मै समझता हूँ कि उनका खयाल सही था । तुलना के लिए जिस पैमाने से काम लिया जाय उसीपर सब कुछ निर्भर रहता है । अपने बहुत-से दोस्तो और साथियो के मुकाबिले मे मै भावना-हीन हूँ । फिर भी मुझे अपनी बाबत हर वक्त यह डर रहता है कि कही मै भावुकता या आवेश की लहर मे डूब या बह न जाऊँ । बरसो मैंने इस बात की कोशिश की है कि मै भावनाहीन हो जाऊँ । लेकिन मुझे डर है कि इस मामले मे मुझे जो कामयाबी मिली वह सिर्फ ऊपरी ही है ।

: १६ :

नाभा का नाटक

स्वराजिस्टो और अपरिवर्तनवादियो की कशमकश चलती रही और स्वराजिस्टो की ताकत धीरे-धीरे बढती गयी। १९२३ के सितम्बर मे दिल्ली मे काग्रेस का जो खास अधिवेशन हुआ, उसमे स्वराजिस्टों का ज़ोर और बढ गया। इस काग्रेस के बाद ही मेरे साथ एक ऐसी घटना हुई जो बडी अजीब थी और जिसकी मुझे कोई उम्मीद नही थी।

सिख, और उनमे से खासकर अकाली, पजाब मे बार-बार सरकार के सघर्ष मे आ रहे थे। उनमे एक सुधार-आन्दोलन उठ खडा हुआ था, और उसने यह काम हाथ मे लिया कि बदचलन महन्तो को निकालकर उपासना के स्थानों पर और उनकी सम्पत्ति पर कब्जा करके गुरुद्वारो को इस खराबी से छुडाया जाय। सरकार ने इसमे दखल दिया और सघर्ष हो गया। गुरुद्वारा-आन्दोलन कुछ-कुछ असहयोग से उत्पन्न हुई जागृति के सबब से पैदा हुआ था, ओर अकालियो के तरीके अहिंसात्मक सत्याग्रह के ढग पर बनाये गये थे। यो सघर्ष कई जगहो पर हुए, मगर सबसे बडी लडाई गुरु-का-बाग की थी, जहाँ बीसियो सिक्खो ने, जिनमे कई पहले फौज मे काम किये हुए सिपाही भी शामिल थे, हाथ तक उठाये बिना या अपने कर्त्तव्य से पीठ फेरे बिना पुलिस की हैवानी मार का सामना किया। इस दृढता और हिम्मत के अद्भुत दृश्य से सारा हिन्दुस्तान चकित हो उठा। सरकार ने गुरुद्वारा-कमिटि को गैरकानूनी करार दे दिया। यह लडाई कुछ बरसो तक जारी रही, और अन्त मे सिख कामयाब हुए। स्वभावत काग्रेस की इसमे हमदर्दी थी, और उसने कुछ वक्त तक अमृतसर मे अकाली-आन्दोलन से निकट-सम्पर्क बनाये रखने के लिए बतौर माध्यम के खास सन्धि-कर्मचारी मुकर्रर किया था।

जिस घटना का मै जिक्र करनेवाला हूँ उसका इस आम सिख-आन्दोलन से कोई ताल्लुक नही था। मगर इसमे शक नही कि वह

घटना इस सिख-हलचल के सबब से ही हुई। पजाब की दो सिख रियासतो, पटियाला और नाभा के नरेशों मे बडा गहरा ज़ाती झगडा था जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत सरकार ने महाराजा नाभा को गद्दी से उतार दिया। नाभा रियासत की हुकूमत करने को एक अग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर मुकर्रर कर दिया गया। सिक्खो ने महाराजा नाभा के गद्दी से उतारे जाने का विरोध किया, और उसके विरुद्ध नाभा मे और बाहर दोनो जगह आन्दोलन उठाया। इस आन्दोलन के बीच मे, जैतो नामक स्थान पर, अखण्ड पाठ को नये एडमिनिस्ट्रेटर ने रोक दिया। इसका विरोध करने के लिए, और रोके हुए पाठ को जारी रखने के स्पष्ट उद्देश्य से, सिक्खो ने जैतो को जत्थे भेजने शुरू किये। पुलिस इन जत्थों को रोकती, मारती, गिरफ्तार करती और आम तौर पर जगल की एक बीहड जगह मे ले जाकर छोड देती थी। मै समय-समय पर इस मार का हाल पढा करता था। जब मुझे दिल्ली मे विशेष काग्रेस के बाद ही मालूम हुआ कि दूसरा जत्था जा रहा है, और मुझे वहाँ चलने और वहाँ क्या होता है यह देखने का न्यौता मिला, तो मैने खुशी से उसको मजूर कर लिया। इसमे मेरा सिर्फ एक ही दिन खर्च होता था, क्योंकि जैतो दिल्ली के पास ही है। काग्रेस के दो मेरे साथी भी—आचार्य गिडवानी और मद्रास के के० सन्तानम्—मेरे साथ गये। ज्यादातर फासला जत्थे ने कायदे से कतार मे चलकर तय किया। यह सोचा गया था कि मै नजदीक के रेलवे स्टेशन तक रेल से जाऊँ और फिर जैतो के पास नाभा की सरहद मे जिस वक्त वहाँ जत्था पहुँचने वाला हो, सडक के रास्ते से पहुँच जाऊँ। हम एक बैलगाडी से आये और ठीक वक्त पर पहुँचे, और जत्थे के पीछे-पीछे उससे अलग रहते हुए चले। जैतो पहुँचने पर जत्थे को पुलिस ने रोक दिया, और उसी वक्त मुझे भी एक हुक्म मिला, जिसपर अग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर के दस्तखत थे कि मै नाभा के इलाके मे दाखिल न होऊँ, और अगर मै दाखिल हो गया होऊँ तो फौरन वापस चला जाऊँ। गिडवानी और सन्तानम् को भी ऐसे ही हुक्म दिये गये, मगर उनमे उनके नाम नही लिखे हुए

थे, क्योकि नाभा के अधिकारियो को उनके नाम ही नही मालूम थे। मेरे साथियों ने और मंने पुलिस-अफसर से कहा कि हम जत्थे मे शामिल नही है, सिर्फ तमाशबीन की तरह है, और नाभा के किसी भी कानून को तोडने का हमारा इरादा नही है। इसके सिवा जब हम नाभा के इलाके मे ही थे तो उसमे दाखिल न होने का सवाल ही नही हो सकता था, और स्पष्टत हम एकदम अदृश्य होकर तो कही नही चले जा सकते। जैतो से दूसरी गाडी शायद कई घण्टे बाद जाती थी। इसलिए, हमने उससे कहा कि अभी तो हम यही रहना चाहते है। बस, हम फौरन ही गिरफ्तार कर लिये गये और हवालात मे ले जाकर बन्द कर दिये गये। हमको इस तरह हटाने के बाद, उस जत्थे का वही हाल हुआ जो और जत्थो का होता था।

सारे दिन हम हवालात मे बन्द रखे गये और शाम को हमे विधिवत् स्टेशन ले जाया गया। सन्तानम् को और मुझको एक ही हथकडी डाली गयी—उनकी बायी कलाई मेरी दाहिनी कलाई मे फाँद दी गयी थी, और हथकडी की जजीर हमे ले चलनेवाले पुलिसवाले ने पकड ली। गिडवानी के भी हथकडी डाली गयी और वह हमारे पीछे-पीछे चले। जैतो के बाजारों मे हमारी इस कूच को देखकर मुझे बार-बार कुत्तो के जजीर पकडकर ले जाने की याद आती थी। चलते वक्त ही पहले तो हम झल्ला उठे, मगर फिर हमे इस घटना की मजेदारी का ख़याल आया, और इसका भी हम मजा लेने लगे। उसके बाद की रात हमने अच्छी नही गुजारी। रात को हमारा कुछ वक्त तो धीमी चालवाली रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे मे बीता जो ठसाठस भरा हुआ था। रास्ते मे शायद आधी रात को गाडी भी बदलनी पडी थी। और रात का कुछ हिस्सा नाभा की एक हवालात मे गुजरा। इस सारे समय और अगले दिन तीसरे पहर तक, जब कि हम अन्त मे नाभा-जेल मे रख दिये गये, वह हथकडी और भारी जजीर हमारे साथ ही रही। हम दोनो मे से एक भी दूसरे के सहयोग के बिना हिल-डुल नही सकता था। एक-दूसरे आदमी के साथ सारी रात और दूसरे दिन काफी देर तक हथकडी

से जुडा रहना एक ऐसा अनुभव है जिसका अब फिर मजा लेना मै पसन्द न करूँगा।

नाभा-जेल मे हम तीनो एक बहुत ही रद्दी और गन्दी कोठरी मे रखे गये। वह छोटी-सी और सीलवाली कोठरी थी, जिसकी छत इतनी नीची थी कि उसतक हमारा हाथ करीब-करीब पहुँच जाता था। हम ज़मीन पर ही सोते और मै बीच-बीच मे एकाएक जाग उठता था, और तब मालूम होता कि मेरे मुहँ पर से कोई चूहा या चुहिया गुज़री थी।

दो-तीन दिन बाद पेशी के लिए हमे अदालत ले गये, और बहुत ही ऊटपटाँग जाब्ते से वहाँ रोज़-रोज़ कार्रवाई चलने लगी। मजिस्ट्रेट या जज बिलकुल अपढ मालूम पडता था। नि सन्देह अँग्रेजी तो वह जानता ही न था, मगर मुझे शक है कि वह अपनी अदालत की ज़बान उर्दू लिखना भी शायद ही जानता हो। हम उसे एक हफ्ते से ज्यादा देखते रहे, और इस अर्से मे उसने एक भी लाइन नही लिखी। अगर उसे कुछ लिखना होता था तो वह सरिश्तेदार से लिखवाता था। हमने कई छोटी-मोटी अर्जियाँ पेश की। वह उस वक्त उनपर कोई हुक्म नही लिखता था। वह उन्हे रख लेता था और दूसरे दिन उन्हे निकालता था। उनपर किसी और के ही लिखे हुए नोट रहते थे। हमने बाकायदा अपनी सफाई नही दी। असहयोग-आन्दोलन मे हमे अपनी पैरवी न करने की इतनी आदत हो गई थी, कि जहाँ पैरवी करने की छुट्टी थी वहाँ भी हमे सफाई देने का खयाल तक प्राय बुरा लगता था। मैने एक लम्बा बयान पेश किया, जिसमे मैने सारे वाक़यात लिखे, और ख़ासकर एक अग्रेज की अमलदारी होते हुए भी नाभा रियासत के तरीके कैसे है इसपर अपनी राय भी जाहिर की।

हमारा मुकदमा दिन-ब-दिन बढता ही गया, हालाँकि वह एक काफी सीधा मामला था। अब अचानक एक नई बात और हुई। एक दिन शाम को, उस रोज़ की अदालत उठ जाने के बाद भी, हमे उसी मकान मे बिठा रक्खा। और बहुत देर मे, करीब ७ बजे, हमे एक दूसरे कमरे मे ले गये, जहाँ एक शख्स मेज़ के सामने बैठा था। और

वहाँ और भी कई लोग थे। एक आदमी—जो वही पुलिस-अफसर था जिसने हमे जैतो मे गिरफ्तार किया था—खड़ा हुआ और एक बयान देने लगा। मैंने पूछा कि यह कौन-सी जगह है और यहाँ क्या हो रहा है? मुझे इत्तिला दी गयी कि यह अदालत है और हमपर षड्यन्त्र करने का मुकदमा चलाया जा रहा है। यह कार्रवाई उससे बिलकुल भिन्न थी जिसको अभीतक हम देखते थे, और जो नाभा मे न दाखिल होने के हुक्म की उदूली के सिलसिले मे चल रही थी। जाहिरा यह सोचा गया कि इस हुक्म-उदूली की ज्यादा-से-ज्यादा सजा तो सिर्फ ६ माह ही है इस लिए यह हमारे लिए काफी न होगी, लिहाजा और कुछ ज्यादा सगीन इलजाम लगाना जरूरी है। साफ है कि सिर्फ तीन आदमी षड्यन्त्र के लिए काफी नही थे, इसलिए एक चौथे आदमी को, जिनका हमसे कतई कोई ताल्लुक न था, गिरफ्तार किया गया और उसपर भी हमारे साथ ही मुकदमा चलाया गया। इस अभागे आदमी को, जो एक सिक्ख था, हम नही जानते थे, हाँ हमने उसे जैतो जाते वक्त सिर्फ खेत मे देखा भर था।

मेरे बैरिस्टरपन को यह देखकर बडा धक्का लगा कि किस अचानक ढग से एक षड्यन्त्र का मुकदमा चलाया जा रहा है! मामला तो बिल्कुल झूठा था ही, मगर शिष्टता के खातिर भी तो कुछ जाब्ते की पाबन्दी होनी चाहिए। मैंने जज से कहा कि हमे इसकी पहले से कुछ भी इत्तिला नही दी गई और हम अपनी सफाई का इन्तजाम भी करना चाहेगे। मगर इसकी उसने कुछ भी चिन्ता न की। यह नाभा का निराला तरीका था। अगर हमे सफाई के लिए कोई वकील करना हो तो वह नाभा का ही होना चाहिए। जब मैंने कहा कि मै बाहर का कोई वकील करना चाहूँगा, तो मुझे जवाब मिला कि नाभा के कायदो मे इसकी इजाजत नही है। इससे नाभा के जाब्ते की विचित्रताओ का हमे और भी ज्ञान मिला। हमे एक तरह की नफरत होगयी, और हमने जज से कह दिया कि जो उसके जी मे आवे करे, हम लोग इस कार्रवाई मे कोई हिस्सा न लेगे। किन्तु मै इस निर्णय पर पूरी तरह कायम न रह सका। अपने बारे मे अत्यन्त आश्चर्यजनक झूठी बातें

-सुनकर चुप रहना मुश्किल था, और इसलिए कभी-कभी हम गवाहो के बारे मे मुख्तसर तौर पर मौके-मौके से अपनी राय जाहिर करते जाते थे। हमने अदालत को असली वाकयात के बारे मे एक तहरीरी बयान दिया। यह दूसरा जज, जो षड्यन्त्र का मुकदमा चला रहा था, पहले से ज्यादा शिक्षित और समझदार था।

ये दोनों मुकदमे चलते रहे, और हम दोनो अदालतो में जाने का रोज इन्तजार किया करते थे, क्योंकि इससे जेल की गदी कोठरी से तबतक के लिए छुटकारा तो हो ही जाता था। इसी दर्मियान एड-मिनिस्ट्रेटर की तरफ से जेल का सुपरिण्टेण्डेण्ट हमारे पास आया और उसने हमसे कहा कि अगर हम अफसोस ज़ाहिर कर दे और नाभा से चले जाने का इकरार कर दे, तो हमपर से मुकदमा उठा लिया जा सकता है। हमने कहा कि हम किस बात का अफसोस जाहिर करे ? हमने कोई ऐसी बात नही की है। बल्कि रियासत को हमसे माफी माँगनी चाहिए। हम किसी किस्म का वादा करने को भी तैयार नही है।

गिरफ्तारी के करीब दो हफ्ते बाद आखिर हमारे मुकदमे खतम हुए। यह सारा वक्त इस्तगासे मे ही लगा, क्योंकि हम तो अपनी पैरवी कर ही नहीं रहे थे। ज्यादा वक्त तो देर-देर तक इन्तज़ार करने मे गया, क्योंकि जहाँ कही जरा-सी भी कठिनाई पैदा होती थी वही कार्रवाई मुल्तवी करदी जाती थी या उसकी बाबत किसी अन्दरूनी अफसर से, जो शायद अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर ही था, पूछने की जरूरत होती थी। आखिरी दिन, जबकि इस्तगासे की तरफ से मामला खत्म किया गया, हमने भी अपने तहरीरी बयान दे दिये। पहले जज ने कार्रवाई खत्म करदी, और यह जानकर हमे बडा ताज्जुब हुआ कि वह थोडी ही देर मे फिर वापिस आ गया और उसके साथ उर्दू मे लिखा हुआ एक बडा भारी फैसला था। यह जाहिर है कि यह भारी फैसला इतने थोडे से अरसे में ही नहीं लिखा जा सकता था। यह फैसला हमारे बयानात देने के पहले ही तैयार हो गया था। फैसला पढ-कर सुनाया नही गया। हमे सिर्फ इतना कह दिया गया कि हमे नाभा

इलाके मे से चले जाने के हुक्म की उदूली करने के जुर्म मे छ माह की सजा, जो इस जुर्म की ज्यादा-से-ज्यादा सज़ा थी, दी गयी है।

उसी रोज षड्यन्त्र के मुकदमे मे भी हमे, ठीक-ठीक मे भूल गया हूँ, या तो अठारह माह की या दो साल की सजा मिली। यह सजा छ माह की सजा के अलावा हुई। इस तरह हमे कुल दो या ढाई साल की सज़ा दे दी गयी।

हमारे मुकदमे के दौरान मे बहुत बाते ध्यान देने लायक हुई, जिनसे हमें देशी-रियासतों के शासन के ढग या देशी रियासतो मे अग्रेजो के शासन ढग का कुछ हाल मालूम हुआ। सारी कार्रवाई एक स्वाॅग-जैसी थी। इसीसे शायद किसी अखबारवाले या बाहरवाले को अदालत मे आने नही दिया गया। पुलिस जो चाहती थी करती थी और अक्सर जज या मजिस्ट्रेट की भी पर्वाह नही करती थी, और उसकी हिदायतो की सचमुच खिलाफ-वर्जी भी करती थी। बेचारा मजिस्ट्रेट तो यह सब बरदाश्त कर लेता था, मगर हम इसे बरदाश्त क्यो करते ? कई मौको पर मुझे खडा होना पडा और जोर देना पडा कि पुलिस को मजिस्ट्रेट के कहने के मुताबिक़ अमल करना चाहिए और उसका हुक्म मानना चाहिए। कभी-कभी पुलिस भद्दी तरह से कागजो को छीन लेती थी, और चूँकि मजिस्ट्रेट अपनी ही अदालत मे उसपर कोई कार्रवाई करने या व्यवस्था कायम रखने मे असमर्थ था, इसलिए हमे थोडा-थोडा उसका काम करना पडता था। बेचारा मजिस्ट्रेट बडे पसोपेश मे था। वह पुलिस से भी डरता था, और हमसे भी कुछ-कुछ डरा हुआ दिखायी देता था; क्योकि अखबारो मे हमारी गिरफ्तारी की खूब चर्चा हो रही थी। जब हम-जैसे थोडे-बहुत नामी राजनैतिक लोगो के साथ यह अधेर हो सकता था, तो जो लोग कम प्रसिद्ध है उनका क्या हाल होता होगा ?

मेरे पिताजी को देशी रियासतो का हाल कुछ-कुछ मालूम था, इसलिए वह नाभा मे मेरी यकायक गिरफ्तारी से बहुत परेशान हुए। उन्हे सिर्फ गिरफ्तारी का वाकया मालूम हुआ; मगर इसके अलावा और

कोई खबर बाहर न जा पायी। अपनी परेशानी में उन्होंने मेरे समाचार जानने के लिए वाइसराय को भी तार दे डाला। नाभा में मुझसे मिलने के बारे में उनके रास्ते में बहुत मुश्किलें खड़ी कर दी गयीं। मगर आखिर उन्हें जेल में मुझसे मुलाकात करने की इजाजत मिल गयी। परन्तु वह मेरी कोई मदद नहीं कर सकते थे, क्योंकि मैं अपनी सफाई भी पेश नहीं कर रहा था और मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह इलाहाबाद वापस चले जायें और कोई चिन्ता न करें। वह लौट गये, लेकिन कपिलदेव मालवीय को, जो हमारे एक युवक साथी-वकील हैं, नाभा में मुकदमे की कार्रवाई पर ध्यान रखने को छोड़ गये। नाभा की अदालतों को थोड़े दिन देखकर कपिलदेव की कानून और जाब्ते-सम्बन्धी जानकारी में काफी बढ़ती हुई होगी। पुलिस ने खुली अदालत में उनके कुछ कागजात जबरदस्ती छीन लेने की भी कोशिश की थी।

ज्यादातर देशी रियासतें पिछड़ी हुई हैं और उनकी हालत जागीरदारी पद्धति की याद दिलाती है, यह सब जानते हैं। वहाँ अकेला राजा सब कुछ कर सकता है। उनमें न तो योग्यता ही होती है और न लोकहित का भाव। वहाँ बड़ी-बड़ी अजीब बातें हुआ करती हैं, जो कभी प्रकाश में भी नहीं आतीं। मगर उनकी अयोग्यता में ही किसी-न-किसी तरह यह बुराई कम हो जाती है, और उनकी बदकिस्मत प्रजा का बोझ कुछ हल्का हो जाता है। क्योंकि इस कारण से वहाँकी कार्यकारी सत्ता में भी कमजोरी रहती है, जिससे जुल्म और बेइन्साफी करने में भी अयोग्यता से काम लिया जाता है। इससे जुल्म ज्यादा बरदाश्त करने लायक नहीं हो जाता, बल्कि हाँ, इससे वह कम गहरा और व्यापक हो जाता है। मगर देशी-रियासत में जब अंग्रेजी सरकार खुद हुकूमत अपने हाथ में ले लेती है, तब उसका एक विचित्र नतीजा यह होता है कि यह हालत नहीं रहती। जागीरदारी पद्धति कायम रक्खी जाती है, एकतन्त्री-पन भी ज्यों-का-त्यों रहता है, पुराने सब कानून और जाब्ता ही जायज माना जाता है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, संगठन और मत-प्रकाशन (और इनमें सब कुछ शामिल है) इनपर सारे बन्धन कायम रहते

है, मगर एक तब्दीली ऐसी हो जाती है जिससे सारी हालत बदल जाती है। कार्यकारिणी सत्ता ज्यादा मजबूत हो जाती है, और कायदे और उनकी पाबन्दी बढ जाती है। इससे जागीरदारी-प्रथा मे और एकतन्त्री शासन मे रहनेवाले सब बन्धन सख्त हो जाते है। धीरे-धीरे अग्रेजी हुकूमत पुराने रिवाजो और तरीको मे बेशक कुछ परिवर्तन करती है, क्योकि इनसे अच्छी तरह हुकूमत और व्यापारिक प्रवेश करने मे रुकावटे आती है। मगर शुरू-शुरू मे तो वह लोगो पर अपना प्रभुत्व मजबूत करने के लिए उन पुराने रिवाजो और तरीको से पूरा फायदा उठाती है। इधर लोगो को अब जागीरदारी-तत्र और एकतन्त्रसत्ता ही नही, बल्कि एक मजबूत कार्यकारिणी द्वारा उनकी सख्त पाबन्दी भी बरदाश्त करनी पडती है।

मैने नाभा मे कुछ ऐसा ही हाल देखा। रियासत का इन्तजाम एक अग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर के हाथ मे था, जो इडियन सिविल सर्विस का मेम्बर था, और उसे एकतन्त्री शासक के पूरे अख्तियारात थे। वह सिर्फ भारत-सरकार के मातहत था, और फिर भी हर मर्त्तबा हमे, अपने अत्यन्त सामान्य हको के छीनने की पुष्टि मे, नाभा के कायदे-कानूनो का हवाला दिया जाता था। हमे जागीरतन्त्र और आधुनिक नौकरशाही-तन्त्र की खिचडी का मुकाबला करना पडा, जिसमे बुराइयाँ दोनो की शामिल थी, लेकिन अच्छाइयाँ एक भी न थी।

इस तरह हमारा मुकद्दमा खत्म हुआ और हमे सजा हो गयी। फ़ैसलो मे क्या लिखा था यह हमे मालूम नही, मगर इस असल बात से कि हमे लम्बी सजा मिली है हमारी झल्लाहट कुछ कम हुई। हमने फैसलो की नकले माँगी, मगर हमे जवाब मिला कि इसके लिए बाकायदा अर्जी दो।

उसी शाम को जेल मे सुपरिण्टेण्डेण्ट ने हमे बुलाया, और उसने हमे जाब्ता फौजदारी की रू से एडमिनिस्ट्रेटर का एक आर्डर दिखाया जिसमे हमारी सजाये मुल्तवी कर दी गयी थी। उसमे कोई शर्त नही रक्खी गयी थी, और इसका कानूनी नतीजा यह था कि जहाँतक हमारा ताल्लुक

या हमारी सज़ायें ख़त्म हो गयीं। फिर सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक दूसरा हुक्म, जिसका नाम एक्ज़ीक्यूटिव आर्डर था, दिखाया। यह भी एडमिनिस्ट्रेटर का जारी किया हुआ था। उसमें यह हिदायत थी कि हम नाभा छोड़कर चले जायँ और ख़ास इजाज़त लिये बिना रियासत में न लौटें। मैंने दोनों हुक्मों की नक़लें माँगी, मगर वे हमें नहीं दी गयीं। तब हमें रेलवे स्टेशन भेज दिया गया, और हम वहाँ छोड़ दिये गये। नाभा में हम किसीको भी नहीं जानते थे, और रात को शहर के दरवाज़े भी बन्द हो गये थे। हमें पता लगा कि अभी अम्बाला को एक गाड़ी जानेवाली है और हम उसीमें बैठ गये। अम्बाला से मैं दिल्ली और वहाँ से इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद से मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को पत्र लिखा कि मुझे दोनों हुक्मों की नक़लें भेज दीजिए, जिससे मुझे मालूम हो सके कि सचमुच वह किस तरह के हुक्म हैं, और साथ ही दोनों फ़ैसलों की नक़लें भी। उसने किसी चीज़ की भी नक़ल देने से इन्कार कर दिया। मैंने बताया कि शायद मुझे अपील करनी पड़े। मगर वह इन्कार ही करता रहा। कई बार कोशिश करने पर भी मुझे इन फ़ैसलों को, जिनके द्वारा मुझे और मेरे दो साथियों को दो या ढाई साल की सज़ा मिली, पढ़ने का मौक़ा नहीं मिला। क्योंकि मुझे जानना चाहिए कि ये सज़ायें अब भी मेरे नाम पर लिखी हुई होंगी, और जब कभी नाभा के अधिकारी या ब्रिटिश सरकार चाहें उसी वक़्त मुझपर लागू की जा सकेंगी।

हम तीन तो इस तरह 'मौक़ूफ़ी' की हालत में छोड़ दिये गये, मगर मैं इस बात का पता नहीं लगा सका कि षड्यन्त्र के बँधे आदमी, उस सिक्ख का क्या हुआ, जो हमारे मुक़दमे के लिए हमारे साथ जोड़ दिया गया था। बहुत मुमकिन है कि वह छोड़ा न गया हो। उसकी मदद में किसी ज़ोरदार दोस्त या पब्लिक की आवाज़ न थी, और कई दूसरे आदमियों की तरह रियासती जेल में जाकर वह अन्धकार में पड़ गया होगा। मगर हम उसे नहीं भूले। हमसे जो कुछ बना वह हम करते रहे, किन्तु उससे कुछ हुआ नहीं। मेरा ख़याल है कि गुरुद्वारा-कमिटी ने भी

इस मामले मे दिलचस्पी ली थी। हमे पता लगा कि वह पुराने 'कोमा-गाटा मारू' दल का एक आदमी था, और वह लम्बे अर्से तक जेल मे रहकर हाल में ही छूटकर आया था। पुलिसवाले ऐसे आदमियो को बाहर रहने देने का उसूल नही मानते, और इसलिए उन्होने बनावटी इल्जाम मे हमारे साथ उसे भी फाँस लिया।

हम तीनो—गिडवानी, सन्तानम् और मैं—नाभा-जेल की कोठरी से एक दु खदायी साथी सग मे ले आये। वह था विषमज्वर का कीटाणु, क्योकि हम तीनो पर ही विपमज्वर का हमला हुआ। मेरी बीमारी जोर की थी और शायद खतरनाक भी थी, मगर उसकी मियाद दोनो से कम थी, और मैं सिर्फ तीन या चार हफ्ते ही बिस्तर पर रहा। मगर बाकी दोनो तो लम्बे अरसे तक बहुत बुरी हालत मे बीमार पडे रहे।

इस नाभा की घटना के बाद एक और भी बात हुई। शायद छ. या ज्यादा महीने बाद गिडवानी अमृतसर में सिख-गुरुद्वारा-कमिटी से सम्पर्क रखने के लिए काग्रेस-प्रतिनिधि का काम करते थे। कमिटी ने जैतो को पाँच सौ आदमियो का एक खास जत्था भेजा, और गिडवानी ने दर्शक की तरह से नाभा की हदतक उसके साथ-साथ जाने का निश्चय किया। नाभा की हद मे दाखिल होने का उनका कोई इरादा न था। सरहद के पास जत्थे पर पुलिस ने गोली चलायी, और मेरे खयाल से बहुत आदमी घायल हुए और मरे। गिडवानी घायलो की मदद करने गये तो पुलिसवाले उनपर टूट पडे और उनको पकड कर ले गये। उनके खिलाफ अदालत मे कोई कार्रवाई न की गयी। उन्हे करीब-करीब एक साल तक जेल मे यो ही पटक रक्खा, और बाद मे बहुत खराब तन्दुरुस्ती की हालत मे वह छोड दिये गये।

गिडवानी की गिरफ्तारी और उनका जेल मे रक्खा जाना मुझे कार्यकारिणी सत्ता का एक भयकर दुरुपयोग मालूम हुआ। मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को (जोकि वही अग्रेज आई० सी० एस० था) खत लिखा और उससे पूछा कि गिडवानी के साथ ऐसा क्यो किया गया? उसने जवाब म लिखा कि उन्हें इसलिए गिरफ्तार किया गया था कि उन्होने नाभा

के इलाके में बिला इजाजत न आने के की खिलाफवर्जी की थी। मैंने चुनौती दी कि कानून के मुताबिक भी यह ठीक न था, और साथ ही लिखा कि घायलो को मदद देते हुए उनको गिरफ्तार करना मुनासिब न था। और, मैंने उस आर्डर की नकल मुझे देने या आमतौर पर शाया करने के लिए भी एडमिनिस्ट्रेटर को लिखा। मगर उसने ऐसा करने से इन्कार किया। मेरा इरादा हुआ कि मैं खुद भी नाभा जाऊँ और एडमिनिस्ट्रेटर को मेरे साथ भी वही बर्ताव करने दूँ जैसा कि गिडवानी के साथ हुआ। अपने साथी के साथ वफादारी का तो यही तकाजा था। मगर मेरे कई दोस्तो ने ऐसा करने की राय न दी और मेरा इरादा बदलवा दिया। सच तो यह है कि मैंने अपने दोस्तो की सलाह का बहाना ले लिया, और उसमे अपनी कमजोरी को छिपा लिया। क्योकि, आखिरकार यह मेरी अपनी कमजोरी और नाभा-जेल मे दुबारा जाने की अनिच्छा ही थी जिसने मुझे वहाँ जाने से रोका, और मुझे अपने साथी को इस तरह छोड़ देने की कुछ-कुछ शर्म हमेशा रहती है। इस तरह, जैसा कि हम सब अक्सर करते है, अक्लमदी को बहादुरी पर तरजीह मिली।

: १७ :

कोकनाडा और मुहम्मदअली

दिसम्बर १९२३ मे काग्रेस का सालाना अधिवेशन कोकनाडा (दक्षिण) मे हुआ। मौलाना मुहम्मदअली उसके सदर थे, और जैसी कि उनकी आदत थी, सभापति की हैसियत से उन्होने अपनी लम्बी-चौडी स्पीच पढी। लेकिन वह थी दिलचस्प। उसमे उन्होने यह दिखाया कि मुसलमानों मे किस तरह राजनीतिक व साम्प्रदायिक भावना बढती गयी। उन्होने बताया कि १९०८ मे आगाखा के नेतृत्व मे जो डेपुटेशन वाइसराय से मिला था और जिसकी कोशिश से ही सरकार ने पहली बार अलहदा निर्वाचन के हक मे घोषणा की थी वह एक कैसी जबर्दस्त चाल थी, जिसके मूल मे खास सरकार का ही हाथ था।

मुहम्मदअली ने मुझे, मेरी इच्छा के बहुत खिलाफ अपनी सदारत के साल मे अखिल-भारतीय काग्रेस-कमेटी का सेक्रेटरी बनने के लिए राज़ी किया। काग्रेस की भावी नीति के सम्बन्ध मे मुझे साफ-साफ पता न था, ऐसी हालत मे मै नही चाहता था कि कोई व्यवस्था-सम्बन्धी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लूँ।

लेकिन मै मुहम्मदअली को इन्कार नही कर सकता था; क्योकि हम दोनों ने महसूस किया कि कोई दूसरा सेक्रेटरी शायद नये सदर के साथ उतनी अच्छी तरह से काम न कर सके जितना कि मै। रुचि और अरुचि दोनो मे वे सख्त आदमी थे। और सौभाग्य से मै उन लोगो मे से था जो उनकी 'रुचि' मे आते थे। हम दोनो प्रेम और परस्पर की गुणग्राहकता के धागे से बँधे हुए थे। वह प्रबल धार्मिक—और मेरी समझ से बुद्धि-विरुद्ध—धार्मिक थे और मै वैसा नही था। मगर मै उनकी सरगर्मी, अतिशय कार्य-शक्ति और प्रखर बुद्धि से आकर्षित था। वह बडे चपल वाक्पटु थे। लेकिन कभी-कभी उनका भयकर व्यग दिल को चोट पहुँचा देता था और इससे उनके बहुतेरे दोस्त कम हो गये थे।

कोई बढ़िया टिप्पणी मन में आयी तो उनके लिए उसे मन में रख लेना असंभव था—फिर उसका नतीजा चाहे कुछ हो।

उनके सभापति-काल में हम दोनों की गाड़ी ठीक-ठीक चली—हालाँकि कई छोटी-छोटी बातों में हमारा मतभेद रहता था। हमारे अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी के दफ्तर में मैंने एक नया रिवाज डाला था। किसीके भी नाम के आगे-पीछे कोई प्रत्यय या पदवी वगैरा न लिखी जाय। महात्मा, मौलाना शेख, सैयद, मुन्शी, मौलवी और आज कल के श्रीयुत और श्री और मिस्टर तथा एस्क्वायर वगैरा जो बहुत-से ऐसे मानवाचक शब्द हैं और इनका प्रयोग इतना बहुतायत से और अक्सर गैरजरूरी होता है कि मैं इस बारे में एक अच्छी मिसाल पेश करना चाहता था। लेकिन मैं ऐसा कर नहीं पाया। मुहम्मदअली ने बहुत बिगड़कर मुझे एक तार भेजा, जिसमें सदर की हैसियत से मुझे हिदायत दी थी कि मैं पुराने तरीके से ही काम लूँ, और खासतौर पर गांधीजी को हमेशा महात्मा लिखा करूँ।

एक और विषय था जिसमें अक्सर हमारी बहस हुआ करती, और वह था ईश्वर। मुहम्मदअली एक अजीब तरीके से अल्लाह का जिक्र कांग्रेस के प्रस्तावों में भी ले आया करते थे, या तो शुक्रिया अदा करने की शक्ल में या किसी किस्म की दुआ की शक्ल में। मैं इसका विरोध किया करता। वह जोर से बिगड़ते और कहते, तुम बड़े नास्तिक हो। मगर फिर भी आश्चर्य है कि वह थोड़ी देर बाद मुझसे कहते कि एक मजहबी आदमी के जरूरी गुण तुममें हैं, हालाँकि तुम्हारा जाहिरा बर्ताव और दावा इसके खिलाफ है। और मैंने कई बार मन में सोचा है कि उनका कहना कितना सच था। शायद यह इस बात पर हसर रखता है कि कोई मजहब या मजहबी के क्या मानी करता है।

मैं उनके साथ हमेशा मजहब के मामले में बहस करना टालता था। क्योंकि मैं जानता था, इसका नतीजा यही होता कि हम दोनों एक-दूसरे पर चिढ़ उठते, और मुमकिन था कि उनका जी दुःख जाता। किसी भी मत के कट्टर माननेवाले से इस किस्म की चर्चा करना हमेशा मुश्किल

होता है। बहुत-से मुसलमानो के लिए तो यह शायद और भी मुश्किल हो; क्योंकि उनके यहाँ विचारो की आजादी मजहबी तौर पर नही दी गयी है। विचारो की नजर से देखा जाय तो उनका सीधा मगर तग रास्ता है और उसका अनुयायी जरा भी दाहिने-बाये नही जा सकता। हिन्दुओ की हालत इससे कुछ अलग है, सो भी अक्सर नहीं। व्यवहार मे चाहे वे कट्टर हो, उनके यहाँ बहुत पुराने बुरे और पीछे घसीटनेवाले रस्म-रिवाज माने जाते है, फिर भी वे धर्म के विषय मे निहायत क्रान्तिकारी और मौलिक विचारो की चर्चा करने के लिए भी हमेशा तैयार रहते है। मेरा खयाल है कि आधुनिक आर्यसमाजियो की दृष्टि आमतौर पर इतनी विशाल नही होती। मुसलमानो की तरह वे अपने सीधे और तग रास्ते पर ही चलते है। विद्या-बुद्धि मे बढे-चढे हिन्दुओ के यहाँ ऐसी कुछ दार्शनिक परम्परा चली आरही है जो धार्मिक प्रश्नो मे भिन्न-भिन्न विचार-दृष्टियो को स्थान देती है, हालाँकि व्यवहार पर उसका कोई असर नही पडता। मै समझता हूँ कि इसका आशिक कारण यह है कि हिन्दू-जाति मे तरह-तरह के और अक्सर परस्पर-विरोधी प्रमाण और रिवाज पाये जाते है। इस सम्बन्ध मे यहाँतक कहा जाता है कि हिन्दू-धर्म को साधारण अर्थ मे मजहब नही कह सकते। और फिर भी कितनी गजब की दृढता उसमे है! अपने-आपको जिन्दा रखने की कितनी जबरदस्त ताकत! भले ही कोई अपनेको नास्तिक कहता हो, जैसा कि चार्वाक था, फिर भी कोई यह नही कह सकता कि वह हिन्दू नही रहा। हिन्दू-धर्म अपने सतानो को उनके न चाहते हुए भी पकड रखता है। मै एक ब्राह्मण पैदा हुआ था और मालूम होता है कि ब्राह्मण ही रहूँगा, फिर मै धर्म और सामाजिक रस्म-रिवाज के बारे मे कुछ भी कहता और करता रहूँ। हिन्दुस्तानी दुनिया के लिए मै पडित ही हूँ, चाहे मै इस उपाधि को नापसन्द ही करूँ। मुझे याद है कि एक बार मै तुर्की विद्वान से स्वीजरलैण्ड मे मिला था। उन्हे मैने पहले से ही एक परिचय-पत्र भेज दिया था, जिसमे मेरे लिए लिखा था—'पण्डित जवाहरलाल नेहरू।' लेकिन मिलने पर वह हैरान हुए और कुछ निराश भी। क्योकि उन्होने

मुझसे कहा, कि 'पडित' शब्द से मै समझा था कि आप कोई बडे विद्वान् धार्मिक वयोवृद्ध शास्त्री होगे।

हाँ, तो, मुहम्मदअली और मै मज़हब पर बहस नही करते थे। लेकिन उनमे खामोश रहने का गुण न था। और कुछ साल बाद (मैं समझता हूँ, १९२५ मे या १९२६ के शुरू मे) वह अपनेको ज्यादा न रोक सके। एक रोज जब मै उनके घर, दिल्ली मे, उनसे मिला तो वह भभक उठे और बोले कि मै तुमसे मजहब पर जरूर बहस करना चाहता हूँ। मैने उन्हे समझाने की कोशिश की। कहा—आपके मेरे नुक्ते-निगाह एक-दूसरे से बहुत जुदा है और हम एक-दूसरे पर कोई ज्यादा असर न डाल सकेगे। लेकिन वह कब सुनते ? उन्होने कहा—"नही, हम दो-दो बाते कर ही ले। मै समझता हूँ, तुम मुझे कठमुल्ला मानते हो। मगर मै तुम्हे बताना चाहता हूँ कि मै ऐसा नही हूँ।" उन्होने कहा कि मैने मज़हब पर बहुत-सी किताबे पढी है और गहराई से सोचा है। उन्होने आल्मारियाँ बतायी, जो अलग-अलग मज़हबो पर लिखी किताबो से और खासकर इस्लाम और ईसाई धर्म-सम्बन्धी किताबों से भरी हुई थी और जिनमे कुछ आधुनिक किताबे—जैसे एच० जी० वेल्स की 'गॉड, दि इनविज़िबल किंग'—भी थी। महायुद्ध के दिनो मे जब वह लम्बे अर्से तक नजरबन्द रहे थे, उन्होने कुरान के कई पारायण किये और कितने ही भाष्यो को पढा। उन्होने कहा कि इस सारे अध्ययन के फलस्वरूप मैने देखा कि कुरान मे जो कुछ लिखा गया है उसका ९७ फीसदी युक्तिसगत है, और कुरान को छोडकर भी उसकी पुष्टि की जा सकती है। ३ फीसदी यो सरेदस्त तो युक्तिसगत नही दिखायी देता है, मगर यह ज्यादा मुमकिन है कि जो कुरान ९७ फीसदी बातो पर साफ तौर सही है वह बाकी ३ फीसदी मे भी सही होगा। बजाय इसके कि मेरी दुर्बल तर्क-शक्ति सही हो और कुरान गलत, वह इस नतीजे पर पहुँचे कि कुरान के सही होने का पक्ष भारी है और इसलिए उन्होने कुरान को १०० फीसदी सही मान लिया।

इस दलील का तर्क स्पष्ट न था, लेकिन मै बहस करना न चाहता

था। किन्तु इसके वाद जो-कुछ हुआ उसे देखकर तो मै दग रह गया। मुहम्मदअली ने कहा कि कोई भी कुरान को अपने दिमाग का दर्वाजा खोलकर और एक जिज्ञासु की भावना से पढेगा तो ज़रूर ही वह उसकी सचाई का कायल हो जायगा। उन्होने यह भी कहा कि वापू (गाधीजी) ने उसे वडे गौर से पढा है और वह ज़रूर इस्लाम की सचाई के कायल हो गये होंगे। लेकिन उनके दिल मे घमड है, वह उन्हे इसको ज़ाहिर करने से मना करता है।

मुहम्मदअली अपने इस साल के सभापति-काल के वाद से धीरे-धीरे काग्रेस से दूर हटने लगे। या, जैसा कि वह कहते, काग्रेस उनसे दूर हटने लगी। मगर यह हुआ वहुत धीरे-धीरे। कई साल आगे तक यों वह कांग्रेस मे और अ० भा० काग्रेस-कमेटी मे आते रहे और उनमें ज़ोर-शोर से हिस्सा लेते रहे, लेकिन खाई चौडी होती ही गयी और अनवन वढती ही गयी। शायद किसी ख़ास व्यक्ति या व्यक्तियो पर इसका दोप नही लगाया जा सकता। मगर देश की वास्तविक परिस्थिति जैसी वन गयी थी उसमे ऐसा हुए विना रह नही सकता था। लेकिन यह हुआ वहुत ही वुरा। और इससे हम वहुतो के जी को वड़ा दु ख हुआ। क्योंकि जातिगत मामले मे कैसा ही भेद रहा हो, राजनैतिक मामले मे हमारा-उनका कम मतभेद था। भारतीय स्वाधीनता का विचार उन्हे भी वहुत भाता था। और चूंकि उनकी हमारी राजनैतिक दृष्टि एक थी, इसलिए हमेशा इस वात की सम्भावना रहती थी कि जातिगत या यो कहे कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर उनके साथ कोई ऐसी तजवीज़ हो सकती थी कि जो दोनो के लिए सन्तोपजनक हो। राज-नैतिक दृष्टि से उन प्रतिगामी लोगों से जो अपनेको जातिगत स्वार्थो के रक्षक वताते है, उनकी कोई वात मेल नही खाती थी।

हिन्दुस्तान के लिए यह दुर्भाग्य की वात हुई कि १९२८ की गर्मियो मे वह यहाँसे यूरप चले गये। उस वक्त इस जातिगत समस्या को सुलझाने के लिए वड़े ज़ोर की कोशिश की गयी थी और वह करीव-करीव कामयावी की हद तक जा पहुँची थी। अगर मुहम्मदअली यहाँ

होते तो क़यास होता है कि मामला और ही शक्ल अख़्त्यार करता। लेकिन जबतक वह वापस लौटे तबतक यहाँ सब टूट-टाट चुका था। और स्वाभाविक तौर पर वे विरोधी पक्ष मे मिल गये।

दो साल बाद, १९३० मे, जब सत्याग्रह-आन्दोलन जोर पर था और हमारे भाई-बहन धडाधड जेल जा रहे थे, मुहम्मदअली ने काग्रेस के निर्णय की परवा न कर गोलमेज-परिषद् मे जाना पसन्द किया। इससे मेरे जी को बडा दुख हुआ। मै मानता हूँ कि वह भी अपने दिल मे दुखी ही हुए होगे। और लन्दन मे उन्होने जो कुछ किया उससे इसका काफी प्रमाण मिलता है। उन्होने महसूस किया कि उनकी असली जगह हिन्दुस्तान मे और लडाई के मैदान मे है, न कि लन्दन के कान्फ्रेस-भवन मे। और अगर वह हिन्दुस्तान वापस आये होते तो मुझे यकीन है कि वह सत्याग्रह मे शरीक हो गये होते। सेहत उनकी बहुत ही बिगड गयी थी और बरसो से बीमारी उनपर हावी हो रही थी। लन्दन मे जाकर उन्होने बडी चिन्ता के साथ कुछ-न-कुछ काम की चीज़ पाने की जो कोशिश की, और खासकर ऐसे समय जबकि उन्हें आराम और इलाज की जरूरत थी, उससे उनके आखिरी दिन और नजदीक आ गये। नैनी जेल मे मुझे उनके मरने की खबर से बडा धक्का लगा।

दिसम्बर १९२९ मे लाहौर-काग्रेस के वक्त आख़िरी दफा मै उनसे मिला था। मेरे सभापति-पद से दिये भाषण के कुछ हिस्से से वह नाराज थे और उन्होने बडे जोर से उसकी आलोचना भी की। उन्होने देखा कि काग्रेस सरपट दौडी जा रही है और राजनैतिक दृष्टि से बहुत तेज होती जा रही है। वह खुद भी कम तेज़ न थे, और इसलिए खुद पीछे रह जाना और दूसरे का मैदान मे आगे बढ जाना उन्हे पसन्द न था। उन्होने मुझे गम्भीर चेतावनी दी—"जवाहर ! मै तुम्हे चेताये देता हूँ कि तुम्हारे आज के ये सगी-साथी सब तुमको अकेला छोड देगे। जब कोई मुसीबत का और आनबान का मौका आयेगा उसी वक्त ये तुम्हारा साथ छोड देगे। याद रखना, खुद तुम्हारे काग्रेसी ही तुम्हें फाँसी के तख्ते पर भेज देगे।" कैसी मनहूस भविष्यवाणी थी!

कोकानाडा-काग्रेस (१९२३) मे मेरे लिए एक खास दिलचस्पी की वात थी, क्योकि वही हिन्दुस्तानी-सेवादल की वुनियाद रक्खी गयी। स्वयसेवक-दल इससे पहले नही थे सो वात नही। वे इन्तजाम भी करते थे और जेल भी जाते थे। मगर उनमे अनुशासन और आन्तरिक एकता का भाव वहुत कम था। डॉक्टर नारायण सुव्वाराव हार्डीकर को यह वात सूझी कि राष्ट्रीय कार्यो के लिए क्यो न एक अच्छा अनुशासनवद्ध स्वय-सेवक-दल वना लिया जाय, जो काग्रेस की आम रहनुमाई मे अपना काम करे? उन्होने इसमे सहयोग देने के लिए मुझसे आग्रह किया और मैंने वडी खुशी से उसे मजूर किया; क्योकि यह खयाल मुझे जँच गया था। इसकी शुरुआत कोकनाडा मे हुई। वाद को हमे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वडे-वडे काग्रेसियो की तरफ से भी सेवादल के सवाल पर कैसा विरोध-भाव प्रकट हुआ था। कुछ लोगो ने कहा कि काग्रेस के लिए ऐसा करना खतरनाक होगा। यह तो काग्रेस मे फौजी तत्त्व को लाने जैसा है। और यह फौजी तत्त्व उन्हे भय था कि कही काग्रेस की मुल्की सत्ता को ही धर दवाये! दूसरे कुछ लोगो का यह खयाल दिखायी दिया कि स्वयसेवको के दल के लिए तो सिर्फ इतना ही अनुशासन काफी है कि वे ऊपर से मिले आदेशो का पालन करते रहे। कुछ के खयाल मे उन्हे कदम मिलाकर चलने की भी ऐसी जरूरत नही। कुछ लोगो के दिल मे भीतर-भीतर यह खयाल था कि तालीम और कवायद-यापता स्वयसेवको का रखना एक तरह से काग्रेस के अहिसा-सिद्धान्त से मेल नही खाता। लेकिन हार्डीकर इस काम मे भिड ही गये और वरसो की मेहनत के वाद उन्होने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि ये तालीम-यापता स्वयसेवक कितने ज्यादा कार्यकुशल और अहिसात्मक भी हो सकते है।

कोकनाडा से लौटने के वाद ही, जनवरी १९२४ मे मुझे इलाहावाद मे एक नये ढग का तजुर्वा हुआ। मै अपनी याददाश्त से यह लिख रहा हूँ और मुमकिन है कि तारीखों के सम्वन्ध मे कुछ भूल और गडवड हो जाय। मै समझता हूँ, वह कुम्भ या अर्द्धकुम्भ के मेले का साल था। लाखो यात्री सगम यानी त्रिवेणी नहाने आते है। गगा-घाट यो कोई एक

मील चौडा है, मगर जाडे मे धारा सिकुड जाती है, और दोनो तरफ वालू का वडा मैदान छोड देती है जोकि यात्रियो के ठहरने के लिए वडा उपयोगी हो जाता है। अपने इस पट मे गगा अक्सर अपना वहाव वदलती रहती है। १९२४ मे गगा की धारा इस तरह हो गयी थी कि यात्रियो के लिए नहाना अवश्य ही खतरनाक था। कुछ पावन्दियाँ और अहतियात लगाकर और एक वक्त मे नहानेवालो की तादाद मुकर्रर करके यह खतरा कम किया जा सकता था।

मुझे इस मामले मे किसी किस्म की दिलचस्पी न थी; क्योकि ऐसे पर्वो के अवसर पर गगा नहाकर पुण्य कमाने की मुझे तो चाह न थी। लेकिन मैने अखवारो मे पढा कि इस मामले मे प० मदनमोहन मालवीय और प्रान्तीय सरकार के वीच एक चर्चा छिड गयी है, क्योकि प्रान्तीय सरकार ने एक ऐसा फरमान निकाल दिया था कि कोई सगम पर न नहाने पाये। मालवीयजी ने इसपर ऐतराज किया; क्योकि धार्मिक दृष्टि से तो सगम पर नहाने का ही महत्त्व था। इधर सरकार का अहतियात रखना भी ठीक ही था कि जिससे जान का खतरा न रहे। लेकिन हस्वमामूल उसने निहायत ही वेवकूफी और चिढा देनेवाले ढग से इस सम्वन्ध मे कार्रवाई की थी।

कुम्भ के दिन सुवह ही मै मेला देखने गया। मेरा कोई इरादा नहाने का न था। गगा-किनारे पहुँचने पर मैने सुना कि मालवीयजी ने जिला मजिस्ट्रेट को एक सौम्य चेतावनी दे दी है, जिसमे त्रिवेणी मे नहाने की इजाजत माँगी गयी है। मालवीयजी गरम हो रहे थे और वातावरण मे क्षोभ फैला हुआ था। जिला-मजिस्ट्रेट ने इजाजत नही दी तव मालवीयजी ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया, और कोई दो सौ लोगो को साथ लेकर वह सगम की तरफ वढे। इन घटनाओं से मेरी दिलचस्पी थी, और मै उसी वक्त जोश मे आकर सत्याग्रही-दल मे शामिल हो गया। मैदान के उस पार लकडियो का एक जवर्दस्त घेरा वना दिया गया था कि लोग सगम तक पहुँचने से वचे। जव हम इस ऊँचे घेरे तक पहुँचे तो पुलिस ने हमे रोका और एक सीढी, जो हम साथ लिये हुए

थे, छीन ली। हम तो थे अहिंसात्मक सत्याग्रही, इसलिए उस घेरे के पास बालू मे शान्ति के साथ बैठ गये। सुबह भर और दोपहर के भी कुछ घटे हम उसी तरह बैठे रहे। एक-एक घण्टा बीतने लगा। धूप तेज-पर-तेज होने लगी। पैदल और घुडसवार पुलिस हमारे दोनो तरफ खडी थी। मै समझता हूँ कि सरकारी घुड-सेना भी वहाँ मौजूद थी। हम बहुतेरो का धीरज छूटने लगा, और हमने कहा कि अब तो कुछ-न-कुछ फैसला करना ही चाहिए। मै मानता हूँ कि अधिकारी भी उकता उठे थे। और उन्होने कदम आगे बढाने का निश्चय किया। घुड-सेना को कुछ आर्डर दिया। इस समय मुझे लगा (मै नही कह सकता कि वह सही था) कि वे हमपर घोडे फेकेगे, और यो हमको बुरी तरह खदेडेगे। घुडसवारो से इस तरह पीटे जाने का खयाल मुझे अच्छा न लगा और वहाँ बैठे-बैठे मेरा जी भी उकता उठा था। मैने झट से अपने नजदीकवाले को सुझाया कि हम इस घेरे को ही क्यो न फाँद जायँ! और मै उसपर चढ गया। तुरन्त ही बीसो आदमी उसपर चढ गये और कुछ लोगों ने तो उसकी बल्लियाँ भी निकाल डाली, जिससे एक खासा रास्ता बन गया। किसीने मुझे एक राष्ट्रीय झण्डा दे दिया, जिसे मैने उस घेरे के सिरे पर खोस दिया जहाँ कि मै बैठा हुआ था। मै अपने पूरे रग मे था और खूब मगन हो रहा था और लोगों को उसपर चढते और उसके बीच मे घुसते हुए और घुडसवारो को उन्हे हटाने की कोशिश करते देख रहा था। यहाँ मुझे यह जरूर कहना चाहिए कि घुडसवारो ने जितना हो सका इस तरह अपना काम किया कि किसीको चोट नही पहुँचे। वे अपने लकडी के डण्डो को हिलाते थे और लोगो को उनसे धक्का देते थे। मगर किसीको चोट नहीं पहुँचायी। उस समय मुझे बलवे के समय के घेरे के दृश्य का कुछ-कुछ स्मरण हो आया।

आखिर को मै दूसरी तरफ उतर पडा। इतनी मेहनत के कारण गर्मी बढ गयी थी, सो मैने गगा मे गोता लगा लिया। जब वापस आया तो मुझे यह देखकर अचरज हुआ कि मालवीयजी और दूसरे अबतक जहाँ-के-तहाँ बैठे हुए है और घुडसवार और पैदल पुलिस सत्याग्रहियो

और घेरे के बीच कधे-से-कधा भिडाकर खडी हुई थी। सो मैं (जरा टेढे-मेढे रास्ते से निकलकर) फिर मालवीयजी के पास जा बैठा। हम कुछ देर तक बैठे रहे, और मैंने देखा कि मालवीयजी मन-ही-मन बहुत भिन्नाये हुए थे और ऐसा मालूम होता था कि वह अपने मन को बहुत मसोस रहे थे। एकाएक बिना किसीको कुछ पता दिये उन पुलिसवालो और घोडो के बीच अद्‌भुत रीति से निकलकर उन्होने गोता लगा लिया। यो तो किसी भी शख्स के लिए इस तरह गोता लगाना आश्चर्य की बात होती, लेकिन मालवीयजी जैसे बूढे और दुर्बल-शरीर व्यक्ति के लिए तो ऐसा करना बहुत ही स्तम्भित कर देनेवाला था। खैर, हम सबने उनका अनुकरण किया। हम सब पानी मे कूद पडे। पुलिस और घुडसेना ने हमे पीछे हटाने की थोडी-बहुत कोशिश की, मगर बाद को रुक गयी। थोडी देर बाद वह वहाँसे हटा ली गयी।

हमने सोचा था कि सरकार हमारे खिलाफ कोई कार्रवाई करेगी। मगर ऐसा कुछ नही हुआ। शायद सरकार मालवीयजी के खिलाफ कुछ करना नही चाहती थी, और इसलिए बडे के पीछे हम छुटभैये भी अपने-आप बच गये।

: १८ :

पिताजी और गांधीजी

१९२४ के शुरू मे यकायक खवर आयी कि गाधीजी जेल मे वहुत ज्यादा वीमार हो गये है जिसकी वजह से वह अस्पताल पहुँचा दिये गये है और वहाँ उनका ऑपरेशन हुआ है। इस खबर को सुनकर चिन्ता के मारे हिन्दुस्तान सन्न होगया। हम लोग डर से परेशान थे और दम साधकर खवरो का इतजार करते थे। अखीर मे सकट गुजर गया और देश के तमाम हिस्सो से लोगो की टोलियाँ उन्हे देखने के लिए पूना पहुँचने लगी। इस वक्त तक वह अस्पताल मे ही थे। कैदी होने की वजह से उनके ऊपर गारद रहती थी, लेकिन कुछ दोस्तों को उनसे मिलने की इजाजत थी। मै और पिताजी उनसे अस्पताल मे ही मिले।

अस्पताल से वह वापस जेल नही ले जाये गये। जव उनकी कमजोरी दूर हो रही थी तभी सरकार ने उनकी वाकी सजा रद करके उन्हे छोड़ दिया। उस वक्त जो छ साल की सजा उन्हें मिली थी उसमे से करीव-करीव दो साल की वह काट चुके थे। अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने के लिए वह वम्वई के नजदीक समुद्र के किनारे जुहू चले गये।

हमारा परिवार भी जुहू जा पहुँचा और वही समुद्र के किनारे एक छोटे-से वगले मे रहने लगा। हम लोगो ने कुछ हफ्ते वही गुजारे और अर्से के वाद अपने मन के मुताविक छुट्टी मिल गयी, क्योंकि मै वहाँ मजे से तैर सकता था, दौड सकता था और समुद्र-तट की वालू पर घुडदौड़ कर सकता था। लेकिन हमारे वहाँ रहने का असली मतलव छुट्टियाँ मनाना नही था, वल्कि गाधीजी के साथ देश की समस्याओ पर चर्चा करना था। पिताजी चाहते थे कि गाधीजी को यह वता दे कि स्वराजी क्या चाहते है और इस तरह वह गाधीजी की सक्रिय हमदर्दी नही, तो कम-से-कम उनका निष्क्रिय सहयोग जरूर हासिल कर ले। मै भी इस

बात से चिन्तित था कि जो मसले मुझे परेशान कर रहे हैं उनपर कुछ रोशनी पड जाय। मैं यह जानना चाहता था कि उनका आगे का कार्यक्रम क्या होगा ?

जहाँतक स्वराजियो से ताल्लुक है वहाँतक उनको जुहू की बातचीत से गाधीजी को अपनी तरफ कर लेने मे या किसी हदतक भी उनपर असर डालने मे कोई कामयाबी नही मिली। यद्यपि बातचीत बडे दोस्ताना ढग से और बहुत ही शराफत के साथ होती थी, लेकिन यह बात तो रही ही कि आपस मे कोई समझौता नही हो सका। यह तय रहा कि उनकी राय एक-दूसरे से नही मिलती और इसी मतलब के बयान अखबारो मे छपा दिये गये।

मै भी जुहू से कुछ हद तक निराश होकर लौटा, क्योकि गाधीजी से मेरी एक भी शका का समाधान नही हुआ। अपने मामूली तरीके के मुताबिक उन्होने भविष्य की बात सोचने या बहुत लम्बे अर्से के लिए कोई कार्यक्रम बनाने से साफ इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि हमे धीरज के साथ लोगो की सेवा का काम करते रहना चाहिए, काग्रेस के रचनात्मक और समाज-सुधारक कार्यक्रम को पूरा करना चाहिए और लडाकू काम के वक्त का रास्ता देखना चाहिए। लेकिन हमारी असली मुश्किल तो यह थी कि ऐसा वक्त आने पर कही चौरीचौरा जैसा काण्ड तो नही हो जायगा, जो सारा तख्ता ही उलट दे और हमारी लडाई को रोक दे! इस वक्त गाधीजी ने हमारे इस शक का कोई जवाब नही दिया। न हमारे मकसद—ध्येय—के बारे मे ही उनके विचार स्पष्ट थे। हममे से बहुत-से अपने मन मे यह बात साफ-साफ जान लेना चाहते थे कि आखिर हम जा कहाँ रहे है ? फिर चाहे काग्रेस इस मामले पर कोई बाजाब्ता ऐलान करे या न करे। हम जानना चाहते थे कि क्या हम लोग आजादी के लिए और कुछ हद तक समाज-रचना मे हेर-फेर के लिए अडेगे, या हमारे नेता इससे बहुत कम किसी बात पर राजीनामा कर लेगे ? कुछ ही महीने पहले सयुक्त-प्रान्त की सूबा कान्फ्रेस मे अपने उस भाषण मे, जो मैने सदर की हैसियत से

दिया था, मैंने आज़ादी पर ज़ोर दिया था। वह कान्फ्रेंस १९२६ के वसन्त में मेरे नाभा से लौटने के कुछ दिन बाद हुई थी। उन दिनों मैं उस बीमारी से ठीक हो ही रहा था जो नाभा ने मेरी भेंट की थी, इसलिए मैं कान्फ्रेन्स में शामिल नहीं हो सका, लेकिन मेरा वह भाषण जो मैंने चारपाई पर बुखार में पड़े-पड़े लिखा था, वहाँ पहुँचा दिया गया था।

जबकि हम कुछ लोग कांग्रेस में आज़ादी के मसले को साफ़ करा लेना चाहते थे, तब हमारे लिबरल दोस्त हम लोगों से इतनी दूर बह गये थे—या शायद हमीं लोगों ने उन्हें दूर बहा दिया था—कि वे सरेआम साम्राज्य की ताक़त और उसकी शान-शौकत पर नाज़ करते थे, फिर चाहे वह साम्राज्य हमारे देशभाइयों के साथ पापोश का-सा बर्ताव करे और उसके उपनिवेश या तो हमारे भाइयों को अपना ग़ुलाम बनाकर रक्खें या उनको अपने मुल्क में घुसने ही न दें। श्री शास्त्री राजदूत बन गये थे और सर तेजबहादुर सप्रू ने १९२३ में लन्दन में होनेवाली इम्पीरियल कान्फ्रेंस में बड़े फ़ख्र के साथ कहा था कि "मैं अभिमान के साथ कह सकता हूँ कि वह मेरा ही देश है जो साम्राज्य को साम्राज्य बनाये हुए है।"

एक बहुत बड़ा समुद्र हमें इन लिबरल लीडरों से अलग किये हुए था। हम लोग अलग-अलग दुनिया में रहते थे, अलग-अलग भाषाओं में बात करते थे और हमारे ख़्वाबों में, अगर लिबरल कभी ख़्वाब देखते हों तो, कोई चीज़ ऐसी न थी जो एक-सी हो। तब क्या यह ज़रूरी न था कि हम अपने मक़सद के बाबत साफ़ और सही फ़ैसला कर लें?

लेकिन उस वक़्त ऐसे खयालात थोड़े ही लोगों को आते थे। ज्यादातर आदमी बहुत साफ़ और ठीक-ठीक सोचना पसन्द नहीं करते थे—खास तौर पर किसी राष्ट्रीय हलचल में जोकि स्वभावतः ही कुछ हदतक अस्पष्ट और धार्मिक रंग की होती है। १९२४ के शुरू के महीनों में जनता का खयाल ज्यादातर उन स्वराजियों की तरफ़ था जो सूबे की कौंसिलों और असेम्बली में गये थे। भीतर से विरोध करने और

कौसिलो को तोडने की लम्बी-चौडी बाते मारने के बाद यह दल क्या करेगा ? हाँ, कुछ मजेदार बाते तो हुई । असेम्बली ने उस साल बजट ठुकरा दिया, हिन्दुस्तान की आजादी की शर्ते तय करने के लिए गोलमेज मे बहस करने की माँग करनेवाला प्रस्ताव पास हो गया। देशबन्धु के नेतृत्व मे बगाल-कौसिल ने भी बहादुरी के साथ सरकारी खर्चो की माँगो को ठुकरा दिया । लेकिन असेम्बली और सूबे की कौसिलो मे, दोनो मे ही, वाइसराय और गवर्नर ने बजट पर सही कर दी, जिससे वे कानून बन गये । कुछ व्याख्यान हुए, कौसिलो मे कुछ खलबली मची, स्वराजियो मे थोडी देर के लिए अपनी फतह पर खुशी छा गयी, अखबारो मे अच्छे-अच्छे हेडिंग आये, लेकिन इनके अलावा और कुछ नही हुआ । इससे ज्यादा वे कर ही क्या सकते थे ? ज्यादा-से-ज्यादा वे फिर यही काम करते, लेकिन उनका नयापन चला गया था । जोश खतम हो गया था और लोग बजटों और कानूनो को वाइसराय या गवर्नरों द्वारा सही होते देखने के आदी हो गये थे । इसके बाद का कदम अवश्य ही कौसिलो मे जो स्वराजी मेम्बर थे उनकी पहुँच के बाहर था। वह तो कौसिल-भवन से बाहर का था ।

इस साल १९२४ के बीच मे किसी महीने मे अहमदाबाद मे अखिल-भारतीय काग्रेस कमिटी की बैठक हुई । इस बैठक मे, आशा से बाहर, स्वराजियो और गाधीजी मे बहुत गहरी तनातनी हो गयी और कुछ अचानक विलक्षण हालात पैदा हो गये । शुरुआत गाधीजी की तरफ से हुई । उन्होने काग्रेस के विधान मे एक खास परिवर्तन करना चाहा । वह वोट देने के हक को और मेम्बरी से ताल्लुक रखनेवाले नियम को बदल देना चाहते थे । इस वक्त तक जो कोई काग्रेस-विधान की पहली धारा को, जिसमे यह लिखा हुआ था कि 'कागेस का उद्देश शान्तिमय उपायो से स्वराज लेना है, मजूर करता' और चार आने देता वही मेम्बर हो जाता था । अब गाधीजी चाहते थे कि सिर्फ वही लोग मेम्बर हो सके जो चार आने के बजाय निश्चित परिमाण मे अपने हाथ का कता हुआ सूत दे । इससे वोट देने का हक बहुत कम हो जाता था और इसमे कोई

शक नही कि अ० भा० कांग्रेस कमिटी को कोई हक न था कि वह इस हक को इस हदतक कम करती। लेकिन जब विधान के अक्षर गांधीजी की मर्जी के खिलाफ पडते है तब वह उन हरफो की शायद ही कभी परवा करते हों। मैं इसे विधान के साथ इतनी जबरदस्त ज्यादती समझता था कि उसे देखकर मुझे बडा धक्का लगा और मैंने कार्य-समिति से कहा कि मन्त्री-पद से मेरा इस्तीफा ले लीजिए। लेकिन इसी बीच मे कुछ नयी बाते और होगयी जिनकी वजह से मैंने इसपर जोर नही दिया। अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक मे देशबन्धु दास और पिताजी ने जोर-शोर से इस प्रस्ताव का विरोध किया और अखीर मे वे उसके खिलाफ अपनी पूरी नाराजगी जाहिर करने की गरज से वोट होने से कुछ पहले अपने अनुयायियो की काफी तादाद के साथ उठकर चले गये। उसके बाद भी कमिटी मे कुछ लोग ऐसे रह गये जो उस तजवीज के खिलाफ थे। प्रस्ताव कसरत राय से पास हो गया, लेकिन बाद मे वह वापस ले लिया गया, क्योकि मेरे पिताजी और देशबन्धु के अटल विरोध से और स्वराजियो के उठकर चले जाने से गांधीजी पर बडा भारी असर पडा, उनकी भावना को गहरी ठेस लगी और एक मेम्बर की किसी बात से वह इतने विचलित हो गये कि अपने को सम्हाल न सके। यह जाहिर था कि उनको बहुत गहरी तकलीफ हुई थी। उन्होने बडे हृदयस्पर्शी शब्दो मे कमिटी के सामने अपने खयालात जाहिर किये, जिन्हे सुनकर बहुत-से मेम्बर रोने लगे। यह एक असाधारण और दिल हिला देनेवाला दृश्य था।[1]

---

[1] इस वर्णन में कई स्मृति-दोष हैं। एक तो पं० जवाहरलालजी ने खुद ही सुधार लिया है, जो इस टिप्पणी में इस प्रकार है—

"यह सब हाल जेल मे याद्दाश्त के भरोसे लिखना पडा था। अब मुझे मालूम हुआ है कि मेरी याद्दाश्त गलत निकली और अ० भा० कांग्रेस कमिटी में जिन बातो पर बहस हुई उनमें से एक खास बात को म भूल गया और इस तरह वहाँ जो कुछ हुआ उसकी बाबत मैंने गलत

मैं यह कभी नही समझ सका कि गाधीजी हाथ-कते सूत पर ही वोट का हक देनेवाली उस अनोखी बात के बारे मे इतनी हठ क्यो करते थे ? क्योंकि वह यह तो जरूर ही जानते होगे कि उसकी बुरी तरह मुखालफत की जायगी। शायद वह यह चाहते थे कि काग्रेस मे सिर्फ ऐसे शख्स रहे जो उनके खादी वगैरा के रचनात्मक कार्यक्रम मे श्रद्धा रखते हो और दूसरो के लिए वह या तो यह चाहते थे कि वे लोग भी उस कार्यक्रम को मान ले, नही तो काग्रेस से निकाल दिये जाये। लेकिन हालाँकि

खयाल पैदा कर दिया। जिस बात से गांधीजी विचलित हुए थे वह तो एक नौजवान बंगाली (आतंकवादी) गोपीनाथ साहा से ताल्लुक रखनेवाला प्रस्ताव था, जो मीटिंग में पेश हुआ और अखीर में गिर गया। जहाँतक मुझे याद है, उस तजवीज में उसके हिंसात्मक काम (श्री डे के खून) की तो निन्दा की गयी थी लेकिन उसके उद्देश्य के साथ हमदर्दी जाहिर की गयी थी। तजवीज से भी ज्यादा रज गांधीजी को उन तकरीरो से हुआ जो उस तजवीज के सिलसिले में दी गयीं। उनसे गांधीजी को यह खयाल हो गया कि काग्रेस में भी बहुत-से लोग अहिंसा के मामले में संजीदा नहीं है और इसी खयाल से वह दुखी हुए। इसके बाद फौरन ही 'यंग इण्डिया' में इस मीटिंग की बाबत लिखते हुए उन्होने कहा—"चारो प्रस्तावो पर मेरे साथ बहुमत जरूर था, लेकिन वह इतना कम था कि मुझे तो उस बहुमत को भी अल्पमत मानना चाहिए। असल में दोनो दल करीब-करीब बराबर थे। गोपीनाथ साहावाले प्रस्ताव से मामला सजीदा हो गया। उसपर जो तकरीरें हुई, उसका जो नतीजा हुआ और उसके बाद मैंने जो बातें देखीं, उन सबसे मेरी आँखें खुल गयीं। ' 'गोपीनाथ साहावाली तजवीज के बाद गभीरता विदा हो गयी। ऐसे मौके पर मुझे अपना आखिरी प्रस्ताव पेश करना पड़ा। ज्यो-ज्यो कार्रवाई होती गयी त्यो-त्यो मै और भी सजीदा होता गया। मेरे जी में ऐसा आया कि इस दु:खमय दृश्य से भाग जाऊँ। मुझे, जो प्रस्ताव मेरे सुपुर्द था उसे, पेश करते हुए डर लगता था।" मैं नहीं जानता था

कसरत राय उनके साथ थी फिर भी उन्होने अपना इरादा ढीला कर दिया और दूसरे दल से समझौता कर लिया। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि अगले तीन-चार महीनो मे इस मामले मे उन्होंने कई बार अपनी राय बदली। ऐसा मालूम पडता था कि खुद उनकी समझ मे कुछ नही आता था कि वह कहाँ है और किधर जाना चाहते है ? उनके बारे मे मै ऐसा खयाल कभी नही करता था कि उनकी भी कभी ऐसी हालत हो सकती है। इसलिए मुझे अचम्भा हुआ। मेरी राय मे वह मामला खुद

कि मैंने यह बात साफ़ करदी थी या नही कि किसी वक्ता के प्रति मेरे दिल में मैल या दुश्मनी नहीं थी। लेकिन मेरे दिल में जिस बात का रंज था वह कांग्रेस के ध्येय या अहिंसा की नीति के प्रति लोगो की उपेक्षा और उनकी वह अनजाने गैरजिम्मेदारी थी।···ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करने को कांग्रेस में सत्तर मेम्बर तैयार थे, यह एक ऐसी बात थी कि जिसे देखकर मैं दंग रह गया।" गांधीजी के भाष्य के साथ यह वाकया बहुत ही सार्थक है। उससे उस अत्यन्त महत्व का पता चलता है जो गांधीजी अहिंसा को देते है और इस बात का भी पता चलता है कि उसमें गडबड करनें का, अनजान में, अप्रत्यक्ष रूप से की गयी कोशिश का भी उनपर कैसा बुरा असर होता है। उसके बाद उन्होंने जो बहुत-सी बातें की वे भी गालिबन तह में इसी तरह के विचारों की वजह से कीं। उनके तमाम कामों और उनकी तमाम कार्यनीति की जड़ असल में अहिंसा ही थी और अहिंसा ही है।"

पंडितजी के इतना सुधार कर देने पर भी, अभी इस प्रसंग के वर्णन में भूलें रह गयी है जिन्हे यहाँ सुधार देना ठीक होगा—

(१) स्वराजी गांधीजी के मताधिकार में सूचित परिवर्तन से बिगड़कर सभा छोडकर नही चले गये थे, और न गांधीजी ने मताधिकार-सम्बन्धी यह प्रस्ताव ही वापस लिया था। इस प्रस्ताव में एक भाग सजा देनें-सम्बन्धी था—कोई मेंबर इतना सूत न काते तो वह सदस्य न रह सकेगा। यह भाग उन सबको बहुत अखरता था। इसके प्रति विरोध

कोई ऐसा बहुत जरूरी नही था। वोट देने का अख्त्यार हासिल करने के लिए कुछ श्रम कराने का खयाल बहुत अच्छा था, लेकिन जबरदस्ती लादने से उसका मतलब खब्त हो जाता था।

मै इस नतीजे पर पहुँचा कि गाधीजी को इन मुश्किलो का सामना इसलिए करना पडा कि वह अपरिचित वातावरण मे रह रहे थे। सत्याग्रह की सीधी लडाई के खास मैदान मे उनका मुकाबला कोई नही कर सकता था। उस मैदान मे उनकी सहज बुद्धि अचूक उन्हे सही कदम रखने के लिए प्रेरित किया करती थी। जनता मे सामाजिक सुधार कराने के लिए चुपचाप खुद काम करने और दूसरो से काम कराने में भी वह बहुत होशियार थे। या तो दिल खोलकर लडाई या सच्ची

दरसाने के लिए वे उठकर चले गये थे। उनके चले जाने के बाद इस भाग राय ली गयी—पक्ष में ६७ और विपक्ष में ३७ मत आये। इसपर गाधीजी ने दूसरा प्रस्ताव पेश किया—इस आशय का कि यदि स्वराजी न चले गये होते तो उनकी रायें खिलाफ ही पडतीं, और प्रस्ताव का यह भाग उड ही जाता, इसलिए यह भाग प्रस्ताव में से निकाल दिया जाय। इस तरह परिवर्तन-सम्बन्धी मूल प्रस्ताव तो कायम रहा, गाधीजीने उसे वापस नहीं लिया, सिर्फ सजावाला अश वापस लिया गया था।

(२) गोपीनाथ साहा विषयक मूल प्रस्ताव गांधीजी ने पेश किया था, जिसमें गोपीनाथ द्वारा किये गये खून की निन्दा की गयी थी। इसपर देशबन्धु ने एक सुधार सूचित किया था। उसमें भी निन्दा तो थी ही, परन्तु साथ ही यह स्तुति भी थी कि फाँसी पर चढ़कर गोपीनाथ ने अपनी देशभक्ति का परिचय दिया। इससे वह निन्दा मिट जाती थी। गाधीजी ने इस सुधार का विरोध किया। कहा—यह अहिंसा-सिद्धांत को मटियामेट कर देता है। गाधीजी के मूल प्रस्ताव पर ७८ और देशबन्धु के सुधार पर ७० मत मिले थे। १४८ मतदाताओं में ७० सदस्य अहिसा के नाममात्र के हामी थे, इस खयाल से गांधीजी को जबरदस्त आघात पहुँचा था।—अनु०

शान्ति को वे समझ सकते थे। इन दोनों के बीच की हालत उनके काम की नही थी।

कौसिलो के भीतर विरोध करने और लडाई लडने के स्वराजी प्रोग्राम से वह बिलकुल उदासीन थे। उनकी राय थी कि अगर कोई साहब कौसिलो मे जाना चाहते है तो वे वहाँ सरकार की मुख़ालफत करने न जायँ, बल्कि बेहतर कानून बनवाने वगैरा के लिए सरकार से सहयोग करने के लिए जायँ। अगर वे ऐसा नही करना चाहते तो बाहर ही रहे। स्वराजियो ने इनमे से एक भी सूरत अख्त्यार नही की, और इसीलिए उनके साथ व्यवहार करने मे उन्हे मुश्किल पडती थी।

लेकिन आखिर मे गाधीजी ने स्वराजियो से अपना ठीक-ठाक कर लिया। कता हुआ सूत भी, चार आने के साथ-साथ वोट का हक हासिल करने का एक साधन मान लिया गया। उन्होने कौसिलो मे स्वराजियो के काम को लगभग अपना आशीर्वाद दे दिया। लेकिन वह खुद उससे बिलकुल अलग रहे। यह कहा जाता था कि वह तो राजनीति से अलहदा हो गये है, और ब्रिटिश सरकार और उसके अफसर यह समझते थे कि उनकी लोकप्रियता कम हो रही है और उनमे कुछ दम नही रहा। यह कहा जाता था कि दास और नेहरू ने गाधीजी को रगभूमि से पीछे हटा दिया है, और खुद नायक बन बैठे है। पिछले पन्द्रह बरसो मे इस तरह की बाते समय के अनुसार उचित हेर-फेर के साथ बार-बार दुहरायी गयी है और उन्होने हर मर्तबा यह दिखा दिया है कि हमारे शासक हिन्दुस्तानी लोगो के विचारो के बारे मे कितनी कम जानकारी रखते है। जबसे गाधीजी हिन्दुस्तान के राजनैतिक मैदान मे आये तबसे उनकी लोकप्रियता मे कभी कमी नही आयी, कम-से-कम जहाँतक आम लोगो का ताल्लुक है उसकी लोकप्रियता बराबर बढती चली गयी है। और यह सिलसिला अभीतक ज्यों-का-त्यो जारी है। लोग गाधीजी की इच्छाओ को पूरा भले ही न कर सके, क्योकि आदमी की तबीयत अक्सर कमजोर होती है, लेकिन उनके दिलों मे गाधीजी के लिए आदर बराबर बना हुआ है। जब मुल्क के हालात मुआफिक होते है

तब लोग विशाल जन-साधारण के आन्दोलनो के रूप मे उठ खडे होते है, नही तो चुपचाप मुहँ छिपाये पडे रहते है। नेता का काम यह नही है कि वह न-कुछ मे जादू की-सी लकड़ी फेरकर जनता की हलचले पैदा कर दे। हॉं, जब हालत ऐसी पैदा हो जाय तो वह उसका फायदा उठा सकता है, उन हालात से फायदा उठाने के लिए तैयारी कर सकता है, लेकिन वह उन हालात को पैदा नही कर सकता।

लेकिन यह बात सच है कि पढ़े-लिखे लोगो मे गाधीजी की लोकप्रियता घटती-बढती रहती है। जब आगे बढने का जोश आता है तब वे उनके पीछे-पीछे चलते है, और जब उसकी लाज़िमी प्रतिक्रिया होती है तब वे गाधीजी की नुक्ताचीनी करने लगते है। लेकिन इस हालत मे भी उनकी बहुत ज्यादा तादाद गाधीजी के सामने सिर झुकाती है। कुछ हदतक तो यह बात इसलिए है कि गाधीजी के प्रोग्राम के सिवा दूसरा और कोई कारगर प्रोगाम ही नही है। लिबरलो या उन्हीसे मिलते-जुलते दूसरे उन जैसे प्रतिसहयोगी वगैरा को कोई पूछता नही, और जो लोग आतककारी हिसा मे विश्वास रखते है उनका आजकल की दुनिया मे कोई स्थान नही रहा। उन्हे लोग बेकार तथा पुराने और पिछडे हुए समझते है। इधर समाजवादी कार्यक्रम को लोग अभी बहुत कम जानते है, और काग्रेस मे ऊँची श्रेणियो के जो लोग है वे उससे भड़कते है।

१९२४ के बीच मे थोडे वक्त के लिए जो राजनैतिक अनबन हो गयी थी, उसके बाद मेरे पिताजी और गाधीजी मे पुरानी दोस्ती फिर कायम हो गई और वह और भी ज्यादा बढ गयी। एक-दूसरे से उनकी राय चाहे कितनी ही खिलाफ होती, लेकिन दोनो के दिल मे एक-दूसरे के लिए सद्भाव और आदर था। दोनो मे आखिर ऐसी क्या बात है, जिसकी दोनों इज्जत करते थे? 'विचार-प्रवाह'—Thought currents—नाम की एक पुस्तिका मे गाधीजी के लेखो का सग्रह छापा गया था। इस पुस्तिका की भूमिका पिताजी ने लिखी थी। उस भूमिका मे हमे उनके मन की झलक मिल जाती है। उन्होने लिखा है—

"मैने महात्माओ और महान् पुरुषो की बाबत बहुत सुना है, लेकिन

उनसे मिलने का आनन्द मुझे कभी नही मिला । और मैं यह मजूर करता हूँ कि मुझे उनकी असली हस्ती के बारे मे भी कुछ शक है । मै तो मर्दो मे और मर्दानगी मे विश्वास करता हूँ । इस पुस्तिका मे जो विचार इकट्ठा किये किये गये है, वे एक ऐसे ही मर्द के दिमाग से निकले है और उनमे मर्दानगी है । वे मानव-प्रकृति के दो बडे गुणो के नमूने है—यानी श्रद्धा और पुरुषार्थ के······ ···

[''जिस आदमी मे न श्रद्धा है न पुरुषार्थ, वह पूछता है, इस सबका नतीजा क्या होगा ? यह जवाब कि मौत होगी या जीत, उसे अपील नही करता·········इस बीच मे वह विनीत और छोटा-सा व्यक्ति, अजेय शक्ति और अचल श्रद्धा के मजबूत पैतानो पर सीधा खडा हुआ अपने देश के लोगो को मातृभूमि के लिए अपनी कुर्बानी करने और कष्ट सहने का अपना सदेश देता चला जा रहा है । लाखो लोगो के हृदयो मे इस सदेश की प्रतिध्वनि उठती है ।···]······ ··''

उन्होने स्विनबर्न की पक्तियाँ देकर अपनी भूमिका खत्म की है —

नही हमारे पास रहे क्या पुरुषसिह वे नामी—
जो कि परिस्थितियों के होवे शासक एव स्वामी ![1]

जाहिर है कि वह इस बात पर जोर देना चाहते थे कि वह गाधीजी की तारीफ इसलिए नही करते कि वह कोई साधु या महात्मा है, बल्कि इसलिए कि वह मर्द है । वह खुद मजबूत तथा कभी न झुकनेवाले थे, इसलिए गाधीजी की आत्म-शक्ति की तारीफ करते थे । क्योकि यह साफ मालूम होता था कि दुबले-पतले शरीरवाले एक छोटे-से आदमी मे इस्पात की-सी मजबूती भी है, कुछ चट्टान जैसी चीज है जो शारीरिक ताकतों के सामने नही झुकती, फिर चाहे ये ताकते कितनी ही बडी क्यो न हों, और यद्यपि उनकी शक्ल-सूरत, उनका नगा शरीर, उनकी छोटी धोती ऐसी न थी कि किसीपर बहुत धाक जमे, लेकिन उनमे कुछ पुरुषसिहता और ऐसी बादशाहियत जरूर है जो दूसरो को खुशी-खुशी

---

१. अंग्रेजी कविता का भावानुवाद ।

उनका हुक्म बजा लाने को मजबूर कर देती है। यद्यपि उन्होंने जान-बूझ कर नम्रता और निरभिमानता प्राप्त की थी, फिर भी शक्ति व अधिकार उनमें लबालब भरे हुए थे और वह इस बात को जानते भी थे, और कभी-कभी तो वह बादशाह की तरह हुक्म छोडते थे जिसे पूरा ही करना पडता। उनकी शान्त लेकिन गहरी आँखे आदमी को जकड लेती और उसके दिल के भीतर तक की बाते खोज लेती। उनकी साफ-सुथरी आवाज़ मीठी गूँज के साथ दिल के अन्दर घुसकर हमारे भावो को जगाकर अपनी तरफ खींच लेती। उनकी बात सुननेवाला चाहे एक शख्स हो या हज़ार हो, उनका चुम्बक का-सा आकर्षण उन्हे अपनी तरफ खींचे बिना नहीं रहता और हरेक सुननेवाला मंत्र-मुग्ध हो जाता था। इस भाव का दिमाग से बहुत कम ताल्लुक होता था। गाधीजी दिमाग को अपील करने की बिलकुल उपेक्षा करते हो सो बात नहीं। फिर भी इतना निश्चित है कि दिमाग व तर्क को दूसरा नम्बर मिलता था। मंत्र-मुग्ध करने का यह जादू न तो वाग्मिता के बल से होता था और न रेशमी मुलायम वाक्यावली के मोहक प्रभाव से। उनकी भाषा हमेशा सरल और मुद्देमूद होती थी, गैर-जरूरी शब्दो का इस्तैमाल शायद ही कभी होता हो। महज उनकी पारदर्शक सच्चाई और उनका व्यक्तित्व ही दूसरो को जकड लेता है। उनसे मिलने पर यह खयाल जम जाता है कि उनके भीतर प्रचण्ड आत्मशक्ति का भडार भरा हुआ है। शायद यह भी हो कि उनके चारो तरफ ऐसी प्रथाये भी बन गयी है जो उचित आबोहवा पैदा करने मे मदद देती है। हो सकता है कि कोई अजनबी आदमी, जिसे उन प्रथाओ का पता न हो और गाधीजी के आसपास की हालतो से जिसका मेल न खाता हो, उनके जादू के असर मे न आवे या इस हद तक न आवे, लेकिन फिर भी गाधीजी के बारे मे सबसे ज्यादा कमाल की बात यही थी और यही है कि वे अपने मुखालिफो को या तो सोलहों आने जीत लेते है या कम-से-कम उनको निःशस्त्र ज़रूर कर देते है।

यद्यपि गाधीजी प्राकृतिक सौन्दर्य की बहुत तारीफ करते है,

लेकिन मनुष्य की बनाई चीजों मे वह कला या खूबसूरती नही देख सकते। उनके लिए ताजमहल जबरदस्ती ली हुई बेगार की प्रतिमूर्ति के सिवा और कुछ नही। उनमे सूँघने की शक्ति की भी बहुत कमी है। फिर भी उन्होंने अपने तरीके से उन्हीमे जीवन-यापन की कला खोज निकाली है और अपनी जिन्दगी को कलामय बना लिया है। उनका हरेक इशारा सार्थक और खूबी लिये हुए होता है, और खूबी यह है कि बनावट का नामोनिशान नही। उनमे न कही नुकीलापन है, न कँटीलापन। उनमे उस अशिष्टता या साधारणपन का निशान तक नही जिसमे, दुर्भाग्य से, हमारे बीच के दर्जे के लोग डूबे रहते है। भीतरी शान्ति पाकर करके वह दूसरों को भी शान्ति देते है और जिन्दगी के कँटीले रास्ते पर मजबूत और निडर कदम रखते हुए चले जाते है।

मगर मेरे पिताजी गाधीजी से कितने भिन्न थे! लेकिन उनमे भी व्यक्तित्व का बल था और बादशाहियत की मात्रा थी। स्विनबर्न की वे पक्तियाँ उनके लिए भी लागू होती है। जिस किसी समाज मे वह जा बैठते उसके केन्द्र और मुखिया वही बन जाते। जैसा कि अग्रेज जजने पीछे कहा था, वह जहाँ-कही भी जाकर बैठते वही मुखिया बन जाते। वह न तो नम्र ही थे न मुलायम ही, और गाधीजी के उल्टे वह उन लोगों की खबर लिये बिना नही रहते थे जिनकी राय उनके खिलाफ होती थी। उन्हे इस बात का भान रहता था कि उनका मिजाज शाही है। उनके प्रति या तो आकर्षण होता था या तिरस्कार। उनसे कोई शख्स उदासीन या तटस्थ नही रह सकता था। हरेक को या तो उन्हे पसन्द या नापसन्द करना पडता। चौडा ललाट, चुस्त होठ और सुनिश्चित ठोडी। इटली के अजायबघरों मे रोमन शहशाहो की जो अर्द्ध-मूर्त्तियाँ है उनसे उनकी शक्ल बहुत काफी मिलती थी। इटली मे बहुत-से मित्रों ने जो उनकी तस्वीर देखी तो उन्होने भी इस साम्य का जिक्र किया था। खास तौर पर उनकी जिन्दगी के पिछले सालो मे जबकि उनका सिर सफेद बालों से भर गया था, उनमे एक खास किस्म की महत्ता और भव्यता आ गयी थी जो इस दुनिया मे आजकल बहुत ही कम दिखाई

देती है। मेरे सिर पर तो बाल नही रहे पर उनके सिर के बाल अखीर तक बने रहे। मैं समझता हूँ कि शायद मैं उनके साथ पक्षपात कर रहा हूँ, लेकिन इस सकुचितता और कमजोरी से भरी हुई दुनिया मे उनकी शरीफाना हस्ती की रह-रहकर याद आती है। मैं अपने चारो तरफ उनकी-सी अजीब ताकत और उनकी-सी शान-शौकत को खोजता हूँ, लेकिन बेकार। -

मुझे याद है कि १९२४ मे मैंने गाधीजी को पिताजी का एक फोटो दिया था। इन दिनो गाधीजी की और स्वराजियो की रस्साकशी हो रही थी। इस फोटो मे पिताजी के मूछे न थी और उस वक्त तक गाधीजी ने उन्हे हमेशा सुन्दर मूछो-सहित देखा था। इस फोटो को देखकर गाधीजी चौक गये और बहुत देर तक उसे निहारते रहे, क्योकि मूछे न रहने से मुहँ व ठोडी की कठोरता और भी प्रकट हो गयी थी, और कुछ सूखी-सी हँसी हँसते हुए उन्होने कहा कि अब मैंने यह जान लिया कि मुझे किसका मुकाबला करना है। उनकी आँखो ने और निरतर हँसी ने चेहरे पर जो रेखाये बना दी थी उन्होने चेहरे की कठोरता को कम कर दिया था, फिर भी कभी-कभी आँखे चमक उठती थी।

पिताजी असेम्बली के काम मे उसी तरह तैरने लगे जैसे बतक पानी मे। वह उनकी कानूनी और विधान-ज्ञान-सम्बन्धी तालीम के लिए मौजूँ था। सत्याग्रह तथा उसकी शाखाओ के खेल के नियम तो वह नही जानते थे, लेकिन इस खेल के नियम-उपनियमो से पूरी तरह वाकिफ थे। उन्होने अपनी पार्टी मे कठोर अनुशासन रक्खा और दूसरे दलो और व्यक्तियों को भी इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे स्वराज-पार्टी की मदद करे। लेकिन जल्दी ही उन्हे अपने ही लोगो से मुसीबत का सामना करना पडा। स्वराज-पार्टी को अपने शुरू के दिनो मे काग्रेस मे ही अ-परिवर्तन-वादियो से लडना पडता था, और इसलिए काग्रेस के भीतर पार्टी की ताकत बढाने के लिए बहुत से ऐसे-वैसे लोग भर्ती कर लिये गये थे। इसके बाद चुनाव हुआ, जिसके लिए रुपये की जरूरत थी। रुपये पैसेवालो से ही आ सकते थे, इसलिए इन पैसेवालों को खुश रखना पडता था। उनमे से कुछ को स्वराजी उम्मेदवार होने के लिए भी कहा गया था। एक

अमेरिकन साम्यवादी ने कहा है कि राजनीति वह नाजुक कला है जिसके जरिये गरीबो से वोट और अमीरों से चुनाव के लिए रुपये यह कहकर लिये जाते है कि हम तुम्हारी एक-दूसरे से रक्षा करेगे।

इन सब बातो से पार्टी शुरू से ही कमजोर हो गयी थी। कौसिल और असेम्बली के काम मे इस बात की रोज ही जरूरत पडती थी कि दूसरों से और ज्यादा माडरेट दलो के साथ समझौते किये जाये। और कोई भी उमूल या प्रचार की प्रचड आकाक्षा इन समझौतो से सुरक्षित नही रह सकती थी। धीरे-धारे पार्टी की स्पिरिट और उसका अनुशासन बिगडने लगा और उसके कमजोर तथा समय-साधु मेम्बर मुश्किले पैदा करने लगे। स्वराज-पार्टी खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान करके कौसिलो मे गयी थी कि हम "हम भीतर जाकर मुखालिफत करेगे।" लेकिन इस खेल को तो दूसरे भी खेल सकते थे और सरकार ने स्वराजी मेम्बरो मे फूट व विरोध पैदा करके इस खेल मे अपना हाथ डालने की ठान ली। पार्टी के कमज़ोर भाइयों के रास्ते मे तरह-तरह के तरीको से खास रिआयतों और ऊँचे ओहदो के लालच दिये जाने लगे। उन्हे सिर्फ इन चीजों मे से जिसे वे चाहे उसे चुन लेना था। उनकी लियाकत, उनकी मीठी विवेक-शीलता तथा उनकी राजनीति-चतुरता आदि गुणो की तारीफ होने लगी। उनके चारो तरफ एक आनन्दमय तथा सुखप्रद वातावरण पैदा कर दिया गया, जो खेतो व बाजार की धूल और शोरोगुल से बिलकुल जुदा था।

स्वराजियो का आम लहजा नीचे गिर गया। कोई किसी सूबे मे से तो कोई असेम्बली मे से विरोधी पक्ष की तरफ खिसकने लगे। पिताजी बहुत चिल्लाये और गरजे। उन्होने कहा, मै सडे हुए अग को काट फेकूंगा। लेकिन जब सडा हुआ अग खुद ही शरीर छोडकर चले जाने को उत्सुक हो तब इस धमकी का कोई बडा असर नही हो सकता था। कुछ स्वराजिस्ट मिनिस्टर हो गये और कुछ बाद को सूबों मे कार्यकारिणी के मेम्बर। उनमे से कुछ ने अपना अलग दल बना लिया और अपना नाम प्रति-सहयोगी रख लिया। इस नाम को शुरू मे लोकमान्य

तिलक ने बिलकुल दूसरे मानी मे इस्तैमाल किया था। इन दिनों तो इसके मानी यही थे कि मौका मिलते ही जो ओहदा मिले उसे हड़प लो और उससे जितना फायदा उठा सकते हो उठाओ। इन लोगो के धोखा दे जाने पर भी स्वराज-पार्टी का काम चलता रहा। लेकिन घटना चक्र ने जो शक्ल अख्त्यार की उससे पिताजी व देशबन्धु दास को कुछ हद तक नफरत हो गयी। कौसिलो और असेम्बली के अन्दर उन्हे अपना काम व्यर्थ-सा मालूम होने लगा, जिसकी वजह से वे उससे ऊबने लगे। मानो उनकी इस ऊब को बढाने के लिए उत्तरी हिन्दुस्तान मे हिंदू-मुस्लिम झगडा बढने लगा, जिसकी वजह से कभी-कभी दगे भी हो जाते थे।

कुछ काग्रेसी जो हमारे साथ १९२१ और २२ मे जेल गये थे, अब सूबे की सरकारो मे मिनिस्टर हो गये थे या दूसरे ऊँचे ओहदों पर पहुँच गये थे। १९२१ मे हमे इस बात का फख्र था कि हमे एक ऐसी सरकार ने गैर कानूनी करार दिया है और वही हमे जेल भेज रही है, जिसके कुछ सदस्य लिबरल थे जो पुराने काँग्रेसी भी थे। भविष्य मे हमे यह तसल्ली और होने को थी कि कम-से-कम कुछ सूबो मे हमारे अपने पुराने साथी ही हमे गैर-कानूनी करार देकर जेल मे भेजेगे। ये नये मिनिस्टर और कार्यकारिणी के मेम्बर इस काम के लिए लिबरलो से कही ज्यादा कुशल थे। वे हमे जानते थे, हमारी कमजोरियो को जानते थे, और यह भी जानते थे कि उनसे कैसे फायदा उठाया जाय? वे हमारे तरीको से भली-भाँति वाकिफ थे तथा जन-समूहो और उनके मनोभावो का भी उन्हे कुछ तजुर्बा जरूर था। दूसरी तरफ जाने से पहले उन्होने नात्सियो की तरह क्रान्तिकारी हलचल के साथ नाता जोडा था। और काग्रेस के अपने पुराने साथियो का दमन करने मे वे इन तरीको से अनभिज्ञ पुराने हाकिमों या लिबरल मिनिस्टरो से कही ज्यादा क्षमतापूर्वक अपने इस ज्ञान का उपयोग कर सकते थे।

दिसम्बर १९२४ मे काग्रेस का जलसा बेलगाँव मे हुआ और गाधी जी उसके सभापति थे। उनके लिए काग्रेस का सभापति होना तो एक भौडी-सी बात थी, क्योकि वह तो बहुत अर्से से उसके स्थायी सभापति

से भी बढकर थे। उनका सदर की हैसियत से दिया हुआ भाषण मुझे पसन्द नही आया। उसमे जरा भी स्फूर्ति नही मिली। जलसा खत्म होते ही, गांधीजी के कहने पर, मै फिर अगले साल के लिए अ० भा० कांग्रेस कमिटी का कार्यकारी मन्त्री चुन लिया गया। मेरी इच्छाओ के बावजूद धीरे-धीरे मै कांग्रेस का लगभग-स्थायी मन्त्री बनता जा रहा था।

१९२५ की गर्मियो मे पिताजी बीमार थे। उनका दमा बहुत ज्यादा तकलीफ दे रहा था। वह परिवार के साथ हिमालय मे डलहौजी चले गये। बाद को कुछ अर्से के लिए मै भी उन्हीके पास जा पहुँचा। हम लोगो ने हिमालय के भीतर डलहौजी से चम्बा तक का सफर किया जब हमलोग चम्बा पहुँचे तब जून का कोई दिन था, और हम लोग पहाडी रास्तो पर सफर करके कुछ थक गये थे। इसी समय एक तार आया, उससे मालूम हुआ कि देशबन्धु मर गये। बहुत देर तक पिताजी शोक के भार से झुककर बैठे रहे, उनके मुहँ से एक शब्द तक नही निकला। यह आघात उनके लिए बहुत ही निर्दयता-पूर्ण था। मैने उन्हे इतना दुखी होते हुए कभी नही देखा था। वह एक शख्स जो उनके लिए दूसरे सब लोगो से ज्यादा घनिष्ठ और प्यारा साथी हो गया था यकायक उन्हे छोडकर चला गया और सारा बोझ उनके कन्धो पर छोड गया। वह बोझा वैसे ही बढ रहा था, वह तथा देशबन्धु दोनो ही उससे तथा लोगो की कमजोरियो से ऊब रहे थे। फरीदपुर-कान्फ्रेंस मे देशबन्धु ने जो आखिरी भाषण दिया वह एक थके हुए-से शख्स का भाषण था।

हम दूसरे ही दिन सुबह चम्बा से चल दिये और पहाडो पर चलते चलाते डलहौजी पहुँचे, वहाँसे कार द्वारा रेलवे स्टेशन पर, फिर इलाहाबाद और वहाँसे कलकत्ता।

: १६ :

साम्प्रदायिकता का दौरदौरा

नाभा-जेल से लौटने पर १९२३ के जाडे मे मै बीमार पड गया। मियादी बुखार से मेरी यह कुश्ती मेरे लिए एक नया तजुर्बा था। मुझे शारीरिक कमजोरी मे या बुखार से चारपाई पर पडा रहने या बीमार पडने की आदत न थी। मुझे अपनी तन्दुरुस्ती पर कुछ नाज था और हिन्दुस्तान मे आमतौर पर जो बीमार बने रहने का रिवाज-सा पड़ा हुआ था उसके मै खिलाफ था। अपनी जवानी और अच्छे शरीर की वजह मे मैने बीमारी पर पार पा लिया, लेकिन सकट के टल जाने पर मुझे कमजोरी की हालत मे चारपाई पर पडे रहना पडा और अपनी तन्दुरुस्ती भी धीरे-धीरे हासिल करनी पडी। इन दिनो मै अपने आस-पास की चीजो और अपने रोजमर्रा के कामो से अजीब तरह का विराग-सा अनुभव करता था और उन्हे तटस्थता से देखता रहता था। मुझे ऐसा मालूम पडता था कि जगल मे मै पेडो की आड मे से बाहर निकल आया हूँ और अब तमाम जगल को अच्छी तरह देख सकता हूँ। मेरा दिमाग जितना साफ और ताकतवर इन दिनो था उतना पहले कभी न था। मै समझता हूँ कि यह तजुर्बा या इस तरह का कोई दूसरा तजुर्बा उन सब लोगो को हुआ होगा जिन्हे सख्त बीमारी मे से होकर गुजरना पडा है। लेकिन मेरे लिए तो वह एक तरह का आध्यात्मिक अनुभव-सा हुआ। मै आध्यात्मिक शब्द का इस्तैमाल उसके सकीर्ण धर्म के मानी मे नही करता। इस तजुर्बे का मुझपर बहुत काफी असर पडा। मैने महसूस किया कि मै अपनी राजनीति के भावुकता-मय वायुमण्डल से ऊपर उठ गया हूँ, और जिन ध्येयो तथा शक्तियो ने मुझे कार्य के लिए प्रेरित किया उन्हे ज्यादा तटस्थता के साथ देख सकता हूँ। इस स्पष्टता के फल-स्वरूप मेरे दिल मे तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे, जिनका कोई माकूल जवाब नही मिलता था। लेकिन मै जिन्दगी और राजनीति

दोनो मामलो को मजहबी निगाह से देखने के दिन-पर-दिन ज्यादा ही खिलाफ होता गया। मै अपने उस तजुर्बे की बाबत ज्यादा नही लिख सकता। वह एक ऐसा खयाल था जिसे मै आसानी से जाहिर नही कर सकता। यह बात ग्यारह वर्ष पहले हुई थी और अब तो उसकी मेरे मन पर बहुत हल्की छाप रह गयी है। लेकिन इतनी बात मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे ऊपर और मेरे विचार करने के तरीके पर उसका टिकाऊ असर पडा और अगले दो या तीन साल मैने अपना काम कुछ हदतक तटस्थता से किया।

हाँ, बेशक कुछ हदतक तो यह बात उन घटनाओ की वजह से हुई जो बिलकुल मेरी ताकत के बाहर थी और जिनमे मै फिट नही होता था। कुछ राजनैतिक परिवर्त्तनो का जिक्र मै पहले ही कर चुका हूँ। उससे भी ज्यादा असल बात थी हिन्दू-मुसलमानों के ताल्लुकात मे दिन-पर-दिन ज्यादा बढनेवाली खराबी, जो खास तौर पर उत्तरी हिन्दुस्तान मे अपना असर दिखा रही थी। बडे-बडे शहरों मे कई दगे हुए, जिनमे हद दर्जे की पशुता और क्रूरता दिखायी दी। शक और गुस्से की आबोहवा ने नये-नये झगडे पैदा कर दिये जिनके नाम भी हममे से ज्यादातर लोगो ने पहले कभी नही सुने थे। इससे पहले झगडा पैदा करनेवाली वजह थी गो-कुशी और वह भी खासकर बकरीद के दिन। हिन्दू और मुसलमानों के त्यौहारो के भिड जाने पर भी तनातनी हो जाती थी। मसलन्, जब मुहर्रम उन्ही दिनों आ पडे जिनमे रामलीला होती थी तो झगड़े का अन्देशा हो जाता था। मुहर्रम पिछले रज की याद दिलाता था जिससे रज और आँसू पैदा होते थे। रामलीला खुशी का त्यौहार था जिसमे बुराई के ऊपर भलाई की विजय का उत्सव मनाया जाता था। दोनों एक-दूसरे से चस्पा नही हो सकते थे, लेकिन खुश-किस्मती से ये त्यौहार तीन साल मे सिर्फ एक दफा साथ-साथ पड़ते थे। रामलीला तो सौर मास के अनुसार नियत चैत बदी नवमी को मनायी जाती है जब कि मुहर्रम चन्द्रमास के मुताबिक कभी इस महीने मे और कभी उस महीने मे मनाये जाते है।

लेकिन अब तो झगडे का एक सबब ऐसा पैदा हो गया जो हमेशा मौजूद रहता था और हमेशा खडा हो सकता था। यह था मसजिदो के सामने बाजा बजाने का सवाल। नमाज के वक्त बाजा बजानें या जरा भी आवाज आने पर मुसलमान ऐतराज करने लगे--कहते, इससे नमाज मे खलल पडता है। हर शहर मे बहुत-सी मसजिदे है और उनमे हर रोज पाँच मर्तबा नमाज पढी जाती है और शहरो मे जलूसो की, जिनमे शादी वगैरा के जलूस भी शामिल है, तथा दूसरे शोरोगुल की कमी नही। इसलिए झगडा होने का अन्देशा हर वक्त मौजूद रहता था। खास तौर पर जब मसजिद मे शाम को होनेवाली नमाज के वक्त जलूस निकलते और बाजो का शोरगुल होता तब ऐतराज किया जाता था। इत्तिफाक से यही वक्त है जबकि हिन्दुओ के मन्दिर मे शाम की पूजा यानी आरती होती है और शख बजाये जाते है तथा मन्दिरो के घटे बजते है। इसी आरती-नमाज के झगडे ने बहुत बडा रूप धारण कर लिया।

यह बात अचम्भे की-सी मालूम होती है कि जो सवाल एक-दूसरे के भावो का आपस मे थोडा-सा खयाल करके और उसके मुताबिक थोडा सा इधर-उधर कर देने से तय हो सकता है, उसकी वजह से इतनी कटुता पैदा हो और दगे हो, लेकिन मज़हबी जोश. तर्क विचार या आपसी खयाल से कोई ताल्लुक नही रखता, और जब दोनो को काबू करनेवाली एक तीसरी पार्टी एक को दूसरे के खिलाफ भिडा सकती है तब उस जोश को भडकाना बहुत आसान होता है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के थोडे-से शहरों मे होनेवाले इन दगो को ज़रूरत से ज्यादा महत्त्व दे दिया जाता है, क्योंकि हिन्दुस्तान के ज्यादातर शहरो और सूबो मे और तमाम गाँवो मे हिन्दू-मुसलमान अमन के साथ रहते रहे थे, उनके ऊपर इन दगो का कोई कहने लायक असर नही पडा। लेकिन अखबारो ने स्वभावत ही मामूली-से-मामूली और टुच्चे-से-टुच्चे झगडे को भी बहुत ज्यादा शोहरत दी। हाँ, यह बिलकुल सच है कि शहरो के आम लोगो मे भी यह साम्प्रदायिक तनातनी और कटुता बढती गयी। चोटी के साम्प्रदायिक लीडरों ने उसे और भी बढाया

और वह साम्प्रदायिक, राजनैतिक माँगो की कड़ाई के रूप मे जाहिर हुई। हिन्दू-मुसलिम झगड़े से मुसलमानो के दकियानूसी लीडर, जो राजनीति मे प्रतिगामी दल के है और जो असहयोग के इतने बरसो मे कोनो मे पीछे पडे हुए थे, बाहर निकले और इस प्रतिक्रिया मे सरकार ने उनकी मदद की। उनकी तरफ से रोज-ब-रोज़ नयी-नयी पहले से ज्यादा दूर तक जानेवाली साम्प्रदायिक माँगे पेश होती, जो हिन्दुस्तान की आजादी और कौमी एकता की जड को काटती थी। हिन्दुओ की तरफ भी जो लोग राजनीति मे प्रगति-विरोधी थे, वे ही हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता थे और हिन्दुओं के हकों की रखवाली करने के बहाने वे नियमित-रूप से सरकार के हाथों की कठपुतली बन गये। उन्होने जिन बातो पर जोर दिया उन्हे हासिल करने मे उन्हे कोई कामयाबी नही मिली। जिन तरीको से वे काम ले रहे थे उनसे वे लाख कोशिश करने पर भी कामयाब नही हो सकते थे। हाँ, उन्होने मुल्क मे जातिगत विद्वेष फैलाने मे जरूर कामयाबी हासिल की।

काग्रेस बडे असमजस मे पड़ गयी। वह तो राष्ट्रीय भावनाओं की प्रतिनिधि-स्वरूप थी। उन्हीका उसे ख़याल रहता था, इसलिए इस साम्प्रदायिक मनमुटाव का उसपर असर पडना लाजिमी था। कई काग्रेसी राष्ट्रीयता की चादर ओढ़े हुए सम्प्रदायवादी साबित हुए। लेकिन काग्रेस के नेता मजबूत बने रहे और कुल मिलाकर उन्होंने किसी की तरफदारी करने से इन्कार कर दिया। हिन्दू-मुसलमानो के मामलो मे ही नही, बल्कि और भी फिरको के मामलो मे भी, क्योकि अब तो सिख वगैरा कम तादादवाली जातियाँ भी जोर-जोर से अपनी माँगे पेश कर रही थी। लाजिमी तौर पर इस बात का नतीजा यह हुआ कि दोनों तरफ के अतिवादी लोग काग्रेस की बुराई करने लगे।

बहुत दिन पहले असहयोग के शुरू होते ही या उससे भी पहले गाधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम मसले को हल करने की तदबीर बतायी थी। उनका कहना था कि यह मसला तो तभी हल हो सकता है जब बडी जाति उदारता और सद्‌भावना से काम ले। इसलिए वह मुसलमानो की

हरेक माँग को पूरा करने को राजी थे। वह उनसे सौदा नही करना चाहते बल्कि उन्हे अपनी तरफ पूरी तरह मिला लेना चाहते है। चीजो की कीमतो को ठीक-ठीक कूतकर उन्होने दूरदर्शिता के साथ जो असली काम की बात थी उसे पकड लिया। लेकिन दूसरे लोग जो समझते थे कि वे हरेक चीज का बाजार-भाव जानते है लेकिन असल मे किसी भी चीज की सही कीमत से वाकिफ न थे, बाज़ार के सौदा करने के तरीके से चिपके रहे। उन्हे वह खर्च तो साफ-साफ दिखायी दिया जो असली चीज को खरीदने मे देना पड रहा था, और उससे उन्हे दर्द भी होता था, लेकिन जिस चीज को वे शायद खरीद लेते उसकी असली कीमत की वे कुछ भी कद्र नही कर सकते थे।

दूसरो की नुक्ताचीनी करना और उनपर दोष मढ देना आसान है और अपनी तदबीरो की नाकामयाबी के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूँढने के लिए तो दूसरो के सिर कसूर थोपने के लालच को रोकना अक्सर दुश्वार ही हो जाता है। हम कहते है कसूर हमारे खयाल का या काम मे किसी किस्म की गलती का थोडे ही था, वह तो दूसरे लोगो ने जान-बूझकर जो रोडे अटकाये उनका था। हमने सरकार को और साम्प्रदायिक लीडरो को दोप दिया। साम्प्रदायिक लीडरो ने हमारा कसूर बताया। इसमे कोई शक नही कि हम लोगो के रास्ते मे सरकार तथा उसके साथियो ने अडचने डाली, और जान-बूझकर लगातार रोड़े अटकाये। इसमे कोई शक नही कि ब्रिटिश सरकार ने क्या पहले से और क्या अब अपनी कार्य-नीति का आधार हम लोगो मे फूट पैदा करने पर ही रक्खा है। फूट डालकर राज्य करो, यह हमेशा साम्राज्यों का तरीका रहा है, और उनकी नीति की कामयाबी की मात्रा से, जिन लोगो का वे उससे शोषण करते है उनके ऊपर, शासको की उच्चता की मात्रा साबित होती है। हमे इस बात की कोई शिकायत नही होनी चाहिए। कम-से-कम हमे उसपर कोई अचम्भा नही होना चाहिए। उसकी उपेक्षा करना या पहले से ही उसका इन्तज़ाम न कर लेना, खुद हमारे विचारो की ही गलती है।

लेकिन हम उसका भी क्या इन्तजाम करे ? यह तो तय है कि दूकानदारो की तरह से सौदा करने और आम तौर पर उन्हीकी चालो से काम लेने से कुछ फायदा नही हो सकता; क्योकि हम कितना भी क्यो न दे, हमारी बोली कितनी भी ज्यादा क्यो न हो, एक ऐसा तीसरा दल हमेशा मौजूद है जो हमसे ज्यादा बोली बोल सकता है और इससे भी ज्यादा यह कि वह जो कुछ कहता है उसे पूरा कर सकता है। अगर हम लोगो मे कोई एक राष्ट्रीय या सामाजिक दृष्टिकोण नही है तो हम अपने समान बैरी पर सब मिलकर एकसाथ चढाई नही कर सकते। अगर हम मौजूदा राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे की भाषा मे ही सोचे और तय करे कि उसीमे सिर्फ इतना ही इधर-उधर कुछ हेर-फेरकर लेगे, उसका सुधार या 'भारतीयकरण' कर लेगे, तो फिर सयुक्त प्रहार के लिए असली प्रलोभन का अभाव ही रहेगा। क्योकि उस हालत मे हमारा मकसद जो कुछ पल्ले पडे उसके बटवारे का रह जाता है, जिसमे तीसरी ओर हमपर काबू रखनेवाली पार्टी या शक्ति का लजिमी तौर पर बोलबाला रहता है और वही, जिसे इनाम देना पसन्द करती है उसको, जो इनाम चाहती है देती है। हाँ, लेकिन एक बिलकुल दूसरे ढग के राजनैतिक ढाँचे की बात सोचने पर और इससे भी ज्यादा बिल्कुल दुसरे सामाजिक ढाँचे की बात सोचकर ही हम सयुक्त उपाय की मजबूत नीव डाल सकते है। हमारी आजादी की माँग की तह मे जो खयाल काम कर रहा था वह यह था कि हम लोगों को यह महसूस करा दे कि हम मौजूदा व्यवस्था का वह हिन्दुस्तानी सस्करण नही चाहते, जिसमे परदे के पीछे ब्रिटेन का ही नियन्त्रण रहे; और 'डोमिनियन स्टेट्स' के तो मानी यही है। लेकिन हम लोग तो बिलकुल ही दूसरी किस्म के राजनैतिक ढाँचे के लिए लड रहे है। इसमे कोई शक नही कि राजनैतिक स्वाधीनता के मानी तो राजनैतिक आजादी ही थे। उसमे आम लोगों के लिए कोई आर्थिक या सामाजिक रद्दोबदल शामिल न थी लेकिन उसके यह मानी जरूर थे कि आर्थिक नीति और मुद्रा-नीति जो बैंक आफ़ इँग्लैंड के द्वारा ठहरायी जाती है वह बन्द हो जायगी और उसके

बन्द हो जाने पर हमारे लिए सामाजिक ढाँचे को बदलना बहुत आसान हो जायगा। उन दिनो मैं ऐसा सोचता था। अब मैं इसमे इतना और बढा देना चाहता हूँ कि मेरे खयाल मे राजनैतिक आजादी भी हमे अकेली नही मिलेगी, जब वह हमे हासिल होगी तब वह अपने साथ बहुत-कुछ सामाजिक आजादी को भी लेती आवेगी।

लेकिन हमारे करीब-करीब सभी नेता मौजूदा राजनैतिक और, बिलाशक, सामाजिक ढाँचे के फौलादी चौखटे के तग दायरो मे ही सोचते रहे। साम्प्रदायिक या स्वराज-सम्बन्धी हरेक मसले का सामना करते समय उनके पीछे यही खयाल होता था। इसीसे वे ब्रिटिश सरकार से मात खाते रहे। क्योकि उस ढाँचे पर तो उस सरकार का पूरा-पूरा काबू था। लेकिन वे इसके अलावा और कुछ कर भी नही सकते थे। क्योंकि सीधी लडाई का प्रयोग करने के बावजूद अभी भी उनका तमाम दृष्टिकोण क्रान्तिकारी न होकर मुख्यत सुधारवादी था, और वह समय बहुत पहले चला गया जब हिन्दुस्तान मे कोई भी राजनैतिक या आर्थिक या जातिगत मसला सुधारवादी तरीको से सन्तोष-जनक रूप से हजम हो सकता था। हालात की माँग थी कि क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से योजना निर्माण करके क्रान्तिकारी उपाय किया जाय। लेकिन नेताओं मे ऐसा कोई न था जो इन माँगो को पूरा करता।

इसमे कोई शक नही कि हमारी आजादी की लडाई मे स्पष्ट आदर्शो और ध्येयो की कमी ने साम्प्रदायिक जहर को फैलाने मे मदद दी। जनता को स्वराज्य की लडाई का उनकी रोजमर्रा की तकलीफो से कोई ताल्लुक दिखायी नही दिया। वे कभी-कभी अपनी सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर खूब लडे। लेकिन वह हथियार इतना कमजोर था कि उसे आसानी से कुण्ठित किया जा सकता था और दूसरी तरफ दूसरे कामो के लिए भी उसका इस्तैमाल किया जा सकता था। उसके पीछे कोई तर्क और विवेक न था और प्रतिक्रिया के समय मे जातीय नेताओ को इस काम मे कोई मुश्किल नही पडती थी कि वे इसी जजबे को मजहब के नाम पर उभाडकर उसका इस्तैमाल करे। फिर भी यह बात

बडी अचम्भे की है कि हिन्दू और मुसलमान दोनो मे बुर्जुआ यानी मध्यम श्रेणी के लोगों को मजहब के नाम पर उन प्रोग्रामो और मॉंगो के लिए भी जनता की हमदर्दी काफी हदतक मिल गयी, जिनका जनता से ही नही, निचली मध्यम श्रेणी के लोगो से भी कोई ताल्लुक न था। हरेक जाति जनता से जो भी अपनी जातीय मॉग पेश करती है उसकी जाच करने पर अखीर मे यही मालूम होता है कि वह मॉंग नौकरियो की मॉग है और ये नौकरियॉ तो मध्यम श्रेणी के मुट्ठी-भर ऊपर के लोगो को ही मिल सकती हैं। वेशक, यह मॉग भी की जाती है कि कौंसिलो मे जोकि राजनैतिक ताकत का मुकाम है, स्पेशल और ज्यादह जगहे दी जायँ, मगर इस मॉंग का भी यही मतलब है कि इमसे खासकर दूसरो से वडे वनकर उन्हे अपनाने की सत्ता मिलेगी। इन छोटी सियासी मॉगों से ज्यादा-से-ज्यादा मध्यम श्रेणी के ऊपरी तह के थोडे-से लोगो को कुछ-कुछ फायदा पहुँचता था, लेकिन उनसे अक्सर राष्ट्रीय उन्नति और एकता के रास्ते मे नयी अड़चनने पैदा होती थीं। फिर भी वडी चालाकी के साथ इन मॉगों को अपने मजहवी फिरके के आम लोगो की मॉग के रूप मे दिखाया जाता था। असल मे उनका नगापन छिपाने के लिए उनपर मजहवी जोश की चादर लपेट दी जाती थी।

इस तरह जो लोग राजनीति मे प्रतिगामी थे वे ही साम्प्रदायिक या जातीय नेताओं का रूप धरकर राजनैतिक मैदान मे आये और उन्होने जो वहुत-सी कार्रवाइयाँ की वे असल मे जातिगत पक्षपात से प्रेरित होकर उतनी नही की जितनी राजनैतिक तरक्की को रोकने के लिए की। राजनैतिक मामलों मे उनसे हमे हमेशा मुखालफत की ही उम्मीद थी, लेकिन फिर भी उस वुरी हालत का यह खासतौर पर दर्द-नाक पहलू था कि लोग स्वराज के विरोध मे इस हद तक जा सकते है। मुस्लिम जातीय नेताओं ने तो सबसे ज्यादा विचित्र और आश्चर्यजनक वाते कही और की। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की, उसकी आजादी की, उन्हे ज़रा भी परवाह नही है। हिन्दुओं के

जातीय नेता यद्यपि जाहिरा तौर पर राष्ट्रीयता के नाम पर बोलते थे लेकिन असल में उनका उससे कोई ताल्लुक नहीं था। चूंकि वे कोई असली उपाय नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने सरकार की खुशामद करके उसे राजी करने की कोशिश की, लेकिन वह भी बेकार गयी। हिन्दू-मुसलमान दोनों के नेता साम्यवाद या ऐसी ही 'सत्यानासी' हलचलों की बुराई करते थे। स्थापित स्वार्थों के हकों में खलल डालने-वाली हर नजवीज के मामले में इनकी एक राय देखते बनती थी। मुसलमानों के जातीय नेताओं ने ऐसी बहुत-सी बातें कहीं और बहुत-सी हरकतें कीं जिनसे राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता को नुकसान पहुँचता था। लेकिन व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूप में उनका व्यवहार पब्लिक और सरकार के सामने कुछ थोड़ा-बहुत गौरव लिये हुए होता था। लेकिन हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओं की बाबत यह बात नहीं कही जा सकती।

कांग्रेस में बहुत-से मुसलमान थे। उनकी तादाद बहुत बड़ी थी, जिनमें बहुत-से काबिल शख्स भी थे। इतना ही नहीं, हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा मशहूर और सबसे ज्यादा लोकप्रिय मुसलमान नेता कांग्रेस में शामिल थे। उनमें से बहुत-से कांग्रेसी मुसलमानों ने नेशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी नाम का एक दल बनाया और उन्होंने जातीय मुसलमान नेताओं का मुकाबिला किया। शुरू में तो उन्हें इस काम में कामयाबी भी मिली, और ऐसा मालूम पड़ता था कि पढ़े-लिखे मुसलमानों का बहुत बड़ा हिस्सा उनके साथ था, लेकिन ये सब-के-सब मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के लोगों में से थे और उनमें कोई ऐसा वेगवान् नेता न था। वे अपने-अपने काम-धन्धों में लग गये और आम लोगों से उनका सम्बन्ध टूट गया। बल्कि सच तो यह है कि वे लोग अपनी कौम के आम लोगों के पास कभी गये ही नहीं। उनका तरीका अच्छे-अच्छे कमरों में बैठकर मीटिंग करके आपसमें राजीनामा कर लेने और पैक्ट करने का था और इस खेल में उसके रकीब यानी जातीय नेता उनसे कहीं ज्यादा होशियार थे। इन जातीय नेताओं ने नेशनलिस्ट मुसलमानों

को धीरे-धीरे एक स्थिति से हटाकर दूसरी स्थिति पर लगाया और इसी तरह एक-के-बाद-एक स्थिति से वे उन्हें हटाते गये और जिन उसूलो के लिए वे शुरू मे अड़े थे, उनको वे इनसे एक-एक करके छुड़वाते गये। नेशनलिस्ट मुसलमान हमेशा, कभी पीछे न ज्यादा हटना पडे इस डर से, खुद-ब-खुद कुछ पीछे हटते गये और 'कम बुराई' को चुनने की नीति को अख्त्यार करके अपनी हालत मजबूत करने की कोशिश करते रहे। लेकिन इस नीति का नतीजा हमेशा यही हुआ कि उन्हें हमेशा पीछे हटना पडा और हमेशा 'कम बुराई' के बाद उससे ज्यादा बुरी दूसरी 'कम बुराई' मजूर करनी पडी। फलस्वरूप ऐसा वक्त आगया कि उनके पास कोई ऐसी चीज नही रह गयी जिसे वे अपनी कह सकते। उनके आधारभूत सिद्धान्तों मे भी एक के सिवा और कोई बाकी नही रहा। यह एक उसूल हमेशा से उनकी जमात का लगर रहा है और वह है सम्मिलित चुनाव। लेकिन 'कम बुराई' को चुनने की नीति ने फिर उनके सामने यही घातक चुनाव पेश कर दिया और उस अग्नि-परीक्षा से तो बच आये लेकिन अपना लगर वही छोड गये। इसलिए आज उनकी यह हालत है कि जिन उसूलों या अमल की बुनियाद पर उन्होने अपनी जमात बनायी थी उन सबको वे खो बैठे। इन्ही उसूलों और अमल को उन्होंने पहले बड़े फख्र के साथ अपने जहाज के मस्तूल पर लगाया था, लेकिन अब उनमे से उनके पास उनके नाम के सिवा और कुछ नही रहा।

जाती हैसियत से तो ये लोग, बिलाशक, अब भी काग्रेस के खास नेताओ मे से है, लेकिन जमात की हैसियत से नेशनलिस्ट मुसलमानों के गिरने और की मिटने कहानी बहुत ही दयनीय है। इसमे बहुत बरस लगे और उस कहानी का आखिरी अध्याय पिछले साल १९३४ मे ही लिखा गया है। १९२३ मे और उसके बाद उनकी जमात बहुत मजबूत थी और वे साम्प्रदायिक लोगों के मुकाबले मे लडाकू ढग भी अख्तियार किया करते थे, और सच बात तो यह है कि कई मौकों पर गाधीजी तो सम्प्रदायवादी मुसलमानों की कुछ माँगों को सख्त नापसन्द करते हुए भी पूरा करने को तैयार हो जाते थे; लेकिन उनके साथी नेशनलिस्ट

मुसलमान नेता गांधीजी को ऐसा करने से रोकते और उन माँगों की मुख़ालफत बडी सख्ती के साथ करते थे।

१९२० से लेकर १९२९ तक के बीच के सालों मे आपस मे बात-चीत और बहस-मुबाहिसा करके हिन्दू-मुस्लिम मसलो को हल करने की कई कोशिशे की गयी। ये कोशिशे एकता-सम्मेलनो के नाम से मशहूर है। इन सम्मेलनो मे सबसे ज्यादा मशहूर वह था जो १९२४ मे मौलाना मुहम्मदअली ने कांग्रेस के सदर की हैसियत से बुलाया और जो गांधीजी के इक्कीस दिन के अनशन के अवसर पर दिल्ली मे हुआ। इन सम्मेलनो मे बहुत-से भले और सच्चे आदमी शरीक हुए थे और उन्होने समझौता करने की बहुत सख्त कोशिश की, कुछ अच्छे व भले प्रस्ताव भी पास किये गये, लेकिन असली मसला हल हुए बिना ही रह गया। ये सम्मेलन उस मसले को हल कर ही नही सकते थे; क्योकि समझौता बहुमत से नही हो सकता था। वह तो वास्तविक एक-राय से ही तय हो सकता है और किसी-न-किसी दल के ऐसे कट्टर लोग हमेशा मौजूद रहते थे जो समझते थे कि समझौता तभी हो सकता है जब सब लोग सोलहो आने हमारी बात मान ले। सचमुच कभी-कभी तो यह शक होने लगता था कि कुछ नामी-नामी साम्प्रदायिक नेता वाकई निपटारा चाहते भी है या नही? उनमे से बहुत-से राजनैतिक मामलों मे प्रगति-विरोधी थे और उनमे तथा उन लोगो मे जो राजनीति मे काया-पलट चाहते थे, कोई भी बात सामान्य न थी।

लेकिन असली मुश्किले तो ज्यादा गहरी थी और वे महज शख्सो की ख़राबी की वजह से ही नही थी। अब तो सिक्ख भी अपनी जाति की माँगे जोर के साथ पेश करने लगे थे, जिसकी वजह से पंजाब मे भी एक गैर मामूली और विकट तिकोना खिचाव पैदा हो गया था। सचमुच पंजाब ही तमाम मामले की जड बन गया और वहाँ हरेक जाति मे दूसरे के डर की वजह से जोश और दुर्भाव का वायु-मण्डल बन गया। कुछ सूबो मे किसान और जमीदारो के व बंगाल मे हिन्दू-जमीदार और मुसल्मान-किसानो के किस्से साम्प्रदायिक रूप मे सामने आये। पंजाब और

सिन्ध मे साहूकार और रुपयेवाले लोग आमतौर पर हिन्दू है और कर्ज से दबे हुए लोग मुसलमान खेतीहर। वहाँ कर्ज से दवे हुए लोगो मे उनकी जान के गाहक वोहरो के खिलाफ जो भाव होते है उन तमाम भावों ने साम्प्रदायिक लहर को बढाया। आमतौर पर मुसलमान गरीव थे और मुसलमानो के साम्प्रदायिक लीडरो ने गरीवो मे अमीरों के खिलाफ जो बुरे भाव होते है उनका इस्तैमाल अपने साम्प्रदायिक हेतुओं के लिए किया। यद्यपि, आश्चर्य की वात तो यह है कि इन हेतुओं से गरीबो की भलाई का कतई कोई ताल्लुक न था, लेकिन इनकी वजह से साम्प्रदायिक मुसलमान लीडर कुछ हद तक जरूर आम लोगों के प्रतिनि थे और इसकी वजह से उन्हे ताकत भी मिली। आर्थिक दृष्टि से हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता अमीर साहूकारों और पेशेवर लोगो के प्रतिनिधि थे—इसलिए हिन्दू जन-साधारण मे उनकी पीठ पर कोई न था, यद्यपि कुछ मौकों पर जन-साधारण की सहानुभूति उन्हे मिल जाती थी।

इसलिए यह मसला कुछ हद तक आर्थिक फिरकेवन्दी के मसले मे हिलता-मिलता जा रहा है, हालाँकि रज की वात तो यह है कि लोगों ने अभी इस बात को महसूस नही किया। हो सकता है कि यह वात वढकर स्पष्ट रूप से आर्थिक वर्गो के झगडों की शक्ल अख्तियार करले, लेकिन अगर वह वक्त आया तो आजकल के साम्प्रदायिक लीडर, जो फिरके के अमीरों के प्रतिनिधि है, दौडकर अपने भेद-भाव को मिटा देगे जिससे कि वे मिलकर अपने वर्ग के वैरी का मुकाबला कर सके। यों तो जुदा हालतों मे भी इन जातिगत झगडो को निपटाकर राजनैतिक एकता कर लेना उतना मुश्किल न होना चाहिए, वशर्ते—लेकिन वहुत वडी शर्त है—कि तीसरी पार्टी मौजूद न हो।

दिल्ली का 'एकता-सम्मेलन' मुश्किल से खत्म हो पाया था कि इलाहावाद मे हिन्दू-मुसलमानों मे दगा हो गया। यो और दगो को देखते हुए यह दगा कोई वडा दगा न था, क्योकि उसमे हताहतो की तादाद बहुत न थी, लेकिन अपने ही शहर में इस तरह के दगे के होने

से मुझे रंज जरूर होता था। मैं दूसरे लोगो के साथ इलाहाबाद दौड़ पडा। लेकिन यहाँ पहुँचते-पहुँचते मालूम हुआ कि दगा खतम हो गया। हाँ, उसके फल-स्वरूप जो आपसी बैर-भाव बढा और मुकदमेबाजी चली वह बहुत दिनो तक बनी रही। मैं यह भूल गया हूँ कि यह झगडा क्यों हुआ। उस साल या शायद उसके बाद इलाहाबाद मे रामलीला के उत्सव के सिलसिले मे भी कुछ टण्टा हो गया था। रामलीला के उत्सव मे बडे भारी-भारी जुलूस भी निकला करते थे—लेकिन चूँकि मसजिदो के सामने बाजा बजाने मे कुछ बन्धन लगा दिये गये, उसके विरोध-स्वरूप, लोगो ने रामलीला मनाना ही छोड दिया। करीब-करीब आठ वर्ष से इलाहाबाद मे रामलीला नही हुई। यह त्यौहार इलाहाबाद के जिले के लाखो लोगो के लिए सालभर मे सबसे बडा त्यौहार था। लेकिन अब वहाँ उसकी दु खद याद-भर है। बचपन मे जब मैं रामलीला देखने जाया करता था तबकी याद मुझे अच्छी तरह बनी हुई है। उसको देखकर हम लोगो को कितनी खुशी, कितना जोश होता था और जिले-भर से तथा दूसरे कसबो से लोगो की भारी भीडे उसे देखने को आती थी। त्यौहार हिन्दूओ का था, लेकिन वह खुले आम मनाया जाता था इसलिए मुसलमान भी उसे देखने को भीड मे शामिल हो जाते थे और चारो तरफ सब लोग खूब खुशियाँ मनाते और मौज करते थे। व्यापार चमक उठता था। इसके बहुत दिनो बाद बडा हो जाने पर जब मैं रामलीला देखने गया तो मुझे कोई जोश न आया और जुलूस और स्वाँगो से मेरा जी ऊब गया। कला और आमोद-प्रमोद के बारे मे मेरी रुचि का माप-दण्ड ऊँचा हो गया था। लेकिन उस वक्त भी मैंने यह देखा कि आदमियो की भारी भीड उसको देख-देखकर बहुत खुश होती थी और उसे पसन्द करती थी। उनके लिए तो वह मौज करने का वक्त था, और अब आठ या नौ बरसो से इलाहाबाद के बच्चो को—बच्चो को ही क्यो, बडे लोगो को भी—उस उत्सव को देखने का कोई मौका नही मिलता। उनकी जिन्दगी मे रोजमर्रा के नीरस काम से खुशी के जोश का जो एक उज्ज्वल दिन हर साल उन्हें मिल जाया करता था वह

भी न रहा, और यह सब बिलकुल नाचीज बेकार के झगड़े-टण्टो की वजह से। बेशक मजहब और मजहब की स्पिरिट को ऐसी बहुत-सी बातो के लिए जवाबदेह होना पडेगा। ओफ, वे कितने आनन्द-नाशक साबित हुए है!

: २० :

म्युनिसिपैलिटी का काम

दो साल तक मै इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से काम करता रहा। लेकिन दिन-पर-दिन इस काम से मेरी तबीयत उचटती-सी जाती थी। मेरी चेयरमैनी की मियाद कायदे से दो-तीन साल की थी, लेकिन दूसरा साल अच्छी तरह शुरू ही हुआ था कि मैने उस जिम्मेदारी से अपना पिण्ड छुडाने की कोशिश शुरू कर दी। मै उस काम को पसन्द करता था और उसमे मैने अपना काफी वक्त और काफी ध्यान लगाया था। कुछ हदतक उसमे मुझे कामयाबी भी मिली और अपने साथियो का भी सद्भाव मैने प्राप्त किया था। सूबे की सरकार ने भी मेरे म्युनिसिपैलिटी-सम्बन्धी कुछ कामो को इतना पसन्द किया कि उसने मेरे राजनैतिक कामो की वजह से अपनी नाराजगी को भूलकर उनकी तारीफ की। लेकिन फिर भी मै यह पाता था कि मै चारो तरफ से जकडा हुआ हूँ और ोई वाकई कहने लायक काम करने से मुझे रोका जाता है तथा मेरे रास्ते मे अडचने डाली जाती है।

इसके मानी यह नही है कि कोई साहब जान-बूझकर मेरे काम मे अडगे लगाते थे, बल्कि सच बात तो यह है कि लोगो ने राजी-खुशी से मुझे जितना सहयोग दिया वह आश्चर्यजनक था। लेकिन एक तरफ सरकारी मशीन थी और दूसरी तरफ म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरो और पब्लिक की उदासीनता थी। सरकार ने म्युनिसिपैलिटी के शासन का फौलादी चौखटे मे जैसा ढाँचा बनाया वह आमूल परिवर्तन या नवीन सुधारो को रोकनेवाला था। राजस्व-सम्बन्धी नीति ऐसी थी कि म्युनिसिपैलिटी को हमेशा सरकार के भरोसे रहना पडता था। मौजूदा म्युनिसिपल कानूनो के मुताबिक सामाजिक विकास की और टैक्स लगाने-सम्बन्धी कायापलट करनेवाली योजनाओ की इजाज़त न थी। जो योजनाये कानून के मुताबिक की जा सकती थी उनपर अमल करने के लिए भी सरकार की

स्वीकृति लेनी पडती थी, और उस स्वीकृति को वही लोग मॉग सकते थे तथा वही उसकी राह देख सकते थे जो बडे आशावादी हो और जिनके सामने बहुत बडी जिन्दगी पडी हो। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि जब कोई सामाजिक पुनस्सघटन का या राष्ट्र-निर्माण का मामला आ पडता है तब सरकारी मशीन कितनी धीरे-धीरे, मार-मारकर और ढील-पोल के साथ चलती है, लेकिन जब किसी राजनैतिक मुखालिफ को दबाना हो तब जरा भी ढील और गलती नही रहती। इन दोनो कामो मे सरकार के रुख की दुभाँत देखने लायक होती थी।

स्थानीय स्वराज्य से ताल्लुक रखनेवाली सूबे की सरकार के महकमे मिनिस्टर के मातहत होते है, लेकिन आम तौर पर ये मिनिस्टर देवता म्युनिसिपैलिटी के मामलों मे ही नही बल्कि पब्लिक मामलो मे भी बिलकुल कोरे थे। सच बात तो यह है कि उनको कोई पूछता ही न था। खुद उनके महकमे के कारकुन ही उनका कुछ खयाल नही करते थे। उसे तो इडियन सिविल सर्विस के स्थायी हाकिम चलाते थे और इन हाकिमो पर हिन्दुस्तान के ऊँचे हाकिमो की इस प्रचलित धारणा का बहुत असर था कि सरकार का काम तो खास तौर पर पुलिस का यानी अमन-चैन रखने का काम है। अधिकारीपन और मॉ-बापपन के थोडे-से खयाल ने भी इस धारणा पर कुछ हदतक असर डाला था। लेकिन बडे पैमाने पर सामाजिक सेवा के कार्यो की जरूरत को कोई भी महसूस नही करता था।

म्युनिसिपैलिटियाँ हमेशा ही सरकार के कर्ज से दबी रहती है और इसलिए पुलिस की निगाह के अलावा सरकार जिस दूसरी निगाह से म्युनिसिपैलिटी को देखती है वह है कर्ज देनेवाले बोहरे की निगाह। आया कर्ज की किस्ते वायदे पर अदा हो रही है ? आया म्युनिसिपैलिटी कर्ज अदा करने की ताकत भी रखती है ? उसके पास काफी रोकड-बाकी है या नही ? ये सब सवाल ज़रूरी और माकूल है, लेकिन अक्सर यह बात भुला दी जाती है कि म्युनिसिपैलिटी को कुछ खास काम भी करने है—जैसे तालीम, सफाई वगैरा, और वह महज़ एक ऐसा मण्डल

नहीं है जिसका काम रुपये कर्ज लेकर उन्हें तयशुदा मियादों पर अदा करते रहना हो। हिन्दुस्तान की म्युनिसिपैलिटियाँ शहर की भलाई के लिए जो काम करती हैं वे वैसे ही बहुत कम हैं, लेकिन वे थोड़े-से-थोड़े काम भी रुपये की तंगी होते ही फौरन कम कर दिये जाते हैं और आम तौर पर सबसे पहले यह बला शिक्षा के ऊपर पड़ती है। म्युनिसिपैलिटी के मदरसों में हाकिम लोगों की कोई जाती दिलचस्पी नहीं, उनके बाल-बच्चे तो उन बिल्कुल अप-टू-डेट और खर्चीले प्राइवेट स्कूलों में पढ़ते हैं जिन्हें अक्सर सरकार से ग्राण्ट मिलती है।

ज्यादातर हिन्दुस्तानी शहरों को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। एक तो घना बसा हुआ खास शहर दूसरा लम्बा-चौड़ा फैला हुआ बंगले-बंगलियों का रकबा। इन हरेक बंगलों में काफी बड़ा अहाता या बाग भी होता है। इस रकबे को अंग्रेज आम तौर पर 'सिविल लाइन' कहकर पुकारते हैं। अंग्रेज अफसर और व्यापारी तथा ऊपरी मध्यम श्रेणी के पेशेवर और हाकिमों के दर्जे के हिन्दुस्तानी इन्हीं सिविल लाइनों में रहते हैं। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी ज्यादातर शहर खास से होती है न कि सिविल-लाइन से। लेकिन म्युनिसिपैलिटियाँ खर्च जितना शहर खास पर करती हैं उससे कहीं ज्यादा सिविल-लाइनों पर करती हैं; क्योंकि सिविल-लाइनों के कहीं बड़े रकबे में ज्यादा सड़कों की जरूरत होती है। इन सड़कों की सफाई और उनपर छिड़काव कराना होता है। उनपर रोशनी का इन्तजाम करना होता है तथा उनकी मरम्मत भी करानी पड़ती है। इसी तरह उनमें नालियों का, पानी पहुँचाने का और सफाई का इन्तजाम भी ज्यादा जगह में करना होता है। मगर शहर खास की हमेशा बुरी तरह से लापरवाही की जाती है और बिला शक शहर के गरीबों की गलियों की तो अक्सर कोई परवाह ही नहीं की जाती। शहर खास में अच्छी सड़कें तो बहुत ही कम होती हैं उसकी तंग गलियों में रोशनी का इन्तजाम ज्यादातर बहुत नाकाफी होता है। उसमें नालियों और सफ़ाई का भी काफी माकूल इन्तजाम नहीं होता। शहर खास के लोग बेचारे धीरज के साथ इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते हैं। कभी

कोई शिकायत नही करते, और जब वे शिकायत करते है तब भी ऐसा कोई नतीजा नही निकलता, क्योकि करीब-करीब सभी बडे-छोटे शोर मचानेवाले लोग तो सिविल-लाइनो मे ही रहते है।

टैक्स के बोझ को कुछ दिन तक गरीबो और अमीरो पर बराबर-बराबर डालने के लिए और सुधारो के कुछ काम करने के लिए मै ज़मीनो की कीमत के आधार पर टैक्स लगाना चाहता था। लेकिन ज्योही मैने यह तजवीज पेश की त्योही एक सरकारी अफसर ने उसकी मुखालफत की। मै समझता हूँ कि वह अफसर जिला-मजिस्ट्रेट था जिसने यह कहा कि ऐसा करना जमीन के कब्जे के बारे मे जो बहुत-सी शर्ते व कानून है उनके खिलाफ पडेगा। जाहिर है कि ऐसा टैक्स सिविल लाइन के बगलो मे रहनेवालो को ज्यादा देना पडता। लेकिन सरकार उस चुगी को बहुत पसन्द करती है जिससे व्यापार कुचला जाता है। तमाम चीज़ों की—जिनमे खाने की चीजे भी शामिल है—कीमते बढ जाती है और जिसका बहुत ज्यादा बोझ गरीबो पर आकर पडता है। और समाज-विरुद्ध तथा हानिकारक यह टैक्स हिन्दुस्तान की ज्यादातर म्युनिसिपैलिटियो की आमदनी की खास बुनियाद है—यद्यपि मै समझता हूँ, वह धीरे-धीरे बडे-बडे शहरो से उठता जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से मुझे इस तरह एक हृदयहीन सत्तावादी सरकारी मशीन से काम लेना पडता था जो बडी मशक्कत के साथ पुरानी लीक पर चर्र-मर्र करती चलती थी और अडियल टट्टू की तरह ज्यादा तेजी से या दूसरी तरफ चलने से इन्कार करती थी। दूसरी तरफ मेरे साथी मेम्बर लोग थे। उनमे से ज्यादातर लीक-लीक ही चलना पसन्द करते थे। उनमे से कुछ तो आदर्शवादी थे। इन लोगों ने अपने काम मे उत्साह दिखाया। लेकिन कुल मिलाकर मेम्बरो मे न तो दूरदृष्टि ही थी, न तबदीली या सुधार करने की धुन। पुराने तरीके काफी अच्छे है, फिर क्या जरूरत है कि ऐसे प्रयोगों से काम लिया जाय जो मुमकिन है पूरे न पडे? आदर्शवादी और जोशीले मेम्बर भी धीरे-धीरे उन रोज़मर्रा की जड बातो के नशीले असर

के शिकार हो गये। लेकिन हाँ, एक बात ऐसी जरूर थी जिसपर हमेशा यह भरोसा किया जा सकता था कि वह मेम्बरो मे नया जोश पैदा कर देगी, और वह थी अपने नाते-रिश्तेदारो को नौकरियो तथा ठेके वगैरा देने के मामले। लेकिन इसमे दिलचस्पी रखने से हमेशा ही काम मे अच्छाई नही बढती थी।

हर साल सरकारी प्रस्ताव, हाकिम लोग और कुछ अखबार म्युनिसिपैलिटियो और जिला-बोर्डो की नुक्ताचीनी करते है और उनकी बहुत-सी कमियो की तरफ इशारा करते है, और इससे यह नतीजा निकाला जाता है कि लोक-तन्त्री सस्थाये हिन्दुस्तान के लिए मौजूँ नही है। उनकी कमियाँ तो जाहिर है, लेकिन उस ढाँचे की तरफ कतई ध्यान नही दिया जाता, जिसके अन्दर उन्हे अपना काम करना पडता है। यह ढाँचा न तो लोक-तन्त्री ही है न एक-तन्त्री। वह तो इन दोनो की दोगली सतान है और उसमे दोनो की ही खराबियाँ मौजूद है। यह बात तो मजूर की जा सकती है कि केन्द्रीय-सरकार को मुकामी या स्थानिक सस्थाओ पर देखभाल तथा नियन्त्रण करने के कुछ अख्त्यार जरूर होने चाहिएँ, लेकिन स्थानीय लोक-सस्थाओ के लिए यह तभी लागू हो सकता है जब केन्द्रीय सरकार खुद लोक-तन्त्री और पब्लिक की जरूरतो का खयाल रखनेवाली हो। जहाँ ऐसा न होगा वहाँ या तो केन्द्रीय सरकार और स्थानीय शासन-सस्था मे रस्साकशी होगी या मुकामी सस्था चुपचाप केन्द्रीय सरकार के हुक्म बजाया करेगी। इस तरह केन्द्रीय सरकार ही असल मे स्थानिक सस्थाओ से जो चाहेगी सो करायेगी। लेकिन तारीफ यह है कि वह जो कुछ करेगी उसके लिए जिम्मेदार नही होगी! अख्त्यार तो उसीको होगे, लेकिन जवाबदेही उसकी न होगी। जाहिर है कि यह हालत सन्तोष-जनक नही कही जा सकती, क्योकि उससे पब्लिक के नियन्त्रण की वास्तविकता जाती रहती है। म्युनिसिपल बोर्डो के मेम्बर केन्द्रीय सरकार को खुश रखने की जितनी कोशिश करते है उतनी पब्लिक के अपने चुननेवालो को खुश रखने की नही, और जहाँ तक पब्लिक से ताल्लुक है, वह अक्सर बोर्ड के कामो की तरफ से बिल-

कुल उदासीन रहती है। समाज की भलाई से असली ताल्लुक रखनेवाले मामले तो बोर्ड के सामने मुश्किल से ही कभी जाते है—खास तौर पर इसलिए, कि वे बोर्ड के काम के दायरे से बाहर है, और बोर्ड का सबसे ज्यादा जाहिरा काम है पब्लिक से टैक्स वसूल करना। और यह काम उसे ऐसा ज्यादा लोकप्रिय नही बना सकता।

स्थानिक सस्थाओ के लिए वोट देने का हक भी थोडे ही लोगों तक महदूद हैं। वोट देने का अख्त्यार और भी ज्यादा बढाया जाना चाहिए, जो वोटर होने की योग्यता को घटाकर किया जा सकता है। बम्बई-कार्पोरेशन जैसे बड़े-बड़े शहरो के कार्पोरेशन तक के मेम्बरो का चुनाव भी बहुत महदूद वोटरो द्वारा होता है। कुछ समय पहले खुद कार्पोरेशन मे वोट देने का अख्त्यार ज्यादातर लोगो को देने का प्रस्ताव गिर गया था। जाहिर है कि ज्यादातर मेम्बर अपनी हालत से खुश थे और वे उसमे हेर-फेर करने या उसे खतरे मे डालने की कोई जरूरत नही समझते थे।

वजह कुछ भी हो, मगर यह बात जरूर है कि हमारी स्थानिक सस्थाये आम तौर पर कामयाबी और कार्यसाधकता के चमकते हुए नमूने नही है, यद्यपि वे जैसी है वैसी हालत में भी बहुत आगे बढे हुए लोकतन्त्री देशो की कुछ म्युनिसिपैलिटियो से टक्कर ले सकती है। आमतौर पर उनमें रिश्वत की बुराई नही है। महज सुव्यवस्था की कमी है। उनकी खास कमजोरी है पक्षपात, और उनके दृष्टिकोण सब गलत है। यह सब स्वाभाविक है, क्योंकि लोकतन्त्र तो तभी कामयाब हो सकता है जब उसके पीछे लोकमत जानकार और जिम्मेदारी का भान हो। उसकी जगह पर हमे हुकूमत का सर्वव्यापी वायुमण्डल मिलता है और लोकतन्त्र के साथ जिन बातो की जरूरत है वे नही पायी जाती। आम जनता को तालीम देनेका कोई इतजाम नही है; न इस बात की कभी कोशिश की गयी है कि जानकारी की बुनियाद पर पब्लिक की राय बनायी जाय। लाजिमी तौर पर ऐसी हालत मे पब्लिक का खयाल शख्सी या साम्प्रदायिक या दूसरे टुच्चे-टुच्चे मामलो की तरफ चला जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के इतजाम मे सरकार की दिलचस्पी इस बात मे रहती है कि राजनीति उससे बाहर रक्खी जाय। अगर राष्ट्रीय हलचल से हमदर्दी रखनेवाला कोई प्रस्ताव पास किया जाता है तो सरकार की त्यौरियाँ चढ जाती है। जिन पाठ्य पुस्तको मे राष्ट्रीयता की बू हो उन्हे म्युनिसिपैलिटी के मदरसो मे नही पढाने दिया जाता। इतना ही नही, उनमे राष्ट्रीय नेताओ की तसवीरे भी नही लगाने दी जाती। म्युनिसिपैलिटियो से राष्ट्रीय झण्डा उतारना पडता है, न उतारे तो म्युनिसिपैलिटी तोड दी जाती है। ऐसा मालूम होता है कि हाल ही मे कई सूबो की सरकारो ने इस बात की कोशिश की है कि कार्पोरेशन और म्युनिसिपैलिटियो मे जितने काग्रेसी नौकर हो उन सबको निकाल बाहर किया जाय। मामूली तौर पर इस मतलब को पूरा कराने के लिए इन सस्थाओ पर सरकारी दबाव काफी होता है, क्योकि उसके साथ-साथ यह धमकी भी दी जाती है कि उन्हे न निकाला गया तो सरकार म्युनिसिपैलिटियो को तालीम वगैरा के लिए जो इमदाद देती है उसे बन्द कर देगी। लेकिन कही-कही तो—खास तौर पर कलकत्ता-कार्पोरेशन के लिए तो—कानून ही ऐसा बना दिया है जिससे उन सब लोगो को जो असहयोग या सरकार के खिलाफ किसी और राजनैतिक हलचल मे जेल गये नौकरी न मिलने पावे। इस मामले मे सरकार का मतलब महज राजनैतिक होता है। काम के लिए उस शख्स की लायकी या नालायकी का कोई सवाल नही।

इन थोडी-सी मिसालो से यह जाहिर हो जाता है कि हमारी म्युनिसिपैलिटियो और हमारे जिला-बोर्डो को कितनी आजादी मिली हुई है और उसमे लोकतन्त्रता की कितनी कमी है? यह तो तय ही है कि वे लोग सीधी सरकारी नौकरी नही चाहते। ऐसी हालत मे अपने इन राजनैतिक मुखालिफो को तमाम म्युनिसिपल और जिला-बोर्डो की नौकरी से अलग रखने की जो कोशिश हो रही है उसपर कुछ गौर करने की जरूरत है। यह कूता गया है कि पिछले चौदह वर्षों में करीब तीन लाख लोग जुदा-जुदा मौकों पर जेल हो आये है और यदि

राजनैतिक दृष्टि से न देखे तो इसमे किसीको शक नही हो सकता कि इन तीन लाख लोगों मे हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा सज्जन और आदर्श-वादी, सबसे ज्यादा सेवा-वृती और स्वार्थ-हीन शख्स शामिल है। इन लोगो मे जोश है, आगे बढने की ताकत है और किसी उद्देश की पूर्ति के लिए सेवा का आदर्श है। इस तरह किसी भी भी पब्लिक महकमे या सार्वजनिक हित की सस्था के काम के लिए आदमी ढूँढने का सबसे अच्छा सामान इन्ही मे मिल सकता था। फिर भी सरकार ने कानून बनाकर इस बात की पूरी-पूरी कोशिश की है कि वे लोग नौकर न होने पावें, जिससे न सिर्फ उन्ही को सजा मिले बल्कि उन लोगो को भी जो उनसे हमदर्दी रखते है। सरकार खुद ऐसे लोगो को पसन्द करती है और आगे बढाती है जो बिलकुल ही जी-हुजूर हों, और उसके बाद यह शिकायत करती है कि हिन्दुस्तान की स्थानिक सस्थाये ठीक तरह से काम नही करती, और यद्यपि यह कहा जाता है कि राजनीति स्थानिक सस्थाओ के काम की हद से बाहर है, फिर भी सरकार को इस बात मे कोई ऐतराज नही कि वे सरकार की मदद के लिए राज नीति मे हिस्सा ले। स्थानीय बोर्डो के स्कूलों के मास्टरो को यह डर दिखाकर, कि उन्हे नौकरी से निकाल दिया जायगा, मजबूर किया गया कि गाँवों मे जाकर सरकार के पक्ष मे प्रचार करे।

पिछले पन्द्रह बरसो मे काग्रेस-कार्यकर्त्ताओ को कई मुश्किलों का सामना करना पडा है। उन्हे बडी भारी-भारी जिम्मेदारियाँ झेलनी पडी है और आखिर उन्होंने ऐसी सरकार से टक्कर ली जो बडी ताकतवर और सुरक्षित है। और यह नही कि उसमे उन्हे कामयाबी भी न मिली हो। बल्कि तालीम के इस कडे क्रम ने उन्हे आत्म-निर्भरता प्रबन्ध-पटुता और डटे रहने की ताकत दी है। जिन गुणों को एक हुकूमत की स्पिरिट से भरी हुई सरकार की लम्बी और नामर्द करनेवाली तालीम ने छीन लिया था उन्हींको हमारी हलचलो ने हिन्दुस्तानियो मे फिर से डाल दिया है। हाँ, निस्सन्देह, तमाम सार्वजनिक आन्दोलनो की तरह काग्रेस की हलचलो मे भी बहुत-से नामाकूल, बेवकूफ, निकम्मे और इससे

भी वदतर लोग आये और है। लेकिन इस बात में भी मुझे कोई शक नही है कि औसतन काग्रेस-कार्यकर्त्ता अपनी बराबर योग्यता रखनेवाले किसी दूसरे शख्स के मुकाबले मे ज्यादा होशियार और कार्यकुशल साबित होगा।

इस मामले का एक और पहलू है, जिसको शायद सरकार और उसके सलाहकारो ने नही समझ पाया है। वह यह है कि असली क्रान्तिकारी तो इस बात का खुशी से स्वागत करते है जो सरकार काग्रेस-कार्यकर्ताओ को ही कोई नौकरी नही मिलने देती और उनके लिए काम तथा नौकरी के तमाम रास्तो को रोक देती है। औसत काग्रेसी इस बात के लिए बदनाम है कि वे क्रान्तिकारी नही होते और कुछ वक्त अर्ध-क्रान्तिकारी काम करने के बाद वे अपनी उसी पुराने ढर्रे की ज़िन्दगी और हालतो को शुरू कर देते है। वे फिर अपने धन्धे या पेशे या मुकामी राजनैतिक मामलो मे फँस जाते है। बडे-बडे मामले उनके दिमाग से ओझल होने लगते है और उनमें जो थोडा-बहुत क्रान्तिकारी जोश था वह ठडा पड जाता है। उनके पुट्ठो पर चरबी चढने लगती है और उनकी आत्मा सुरक्षितता चाहती है। मध्यमश्रेणी के कार्यकर्ताओं के इस लाज़िमी झुकाव की वजह से ही आगे बढे हुए तथा क्रान्तिकारी विचारो के काग्रेसियों ने हमेशा से इस बात की कोशिश की है कि उनके साथी स्थानिक बोर्डो और कौसिलो के विधानो के जजाल मे पूरे समय के कामों मे न फँसने पावे जो उन्हे काग्रेस का कारागर काम करने से रोकते हो।

मगर अब खद सरकार ही कुछ हदतक मदद कर रही है; क्योंकि वह काग्रेसियो के लिए कोई काम पाना मुश्किल बनाये दे रही है, जिससे यह मुमकिन है कि उनके क्रान्तिकारी उत्साह का कुछ हिस्सा ज़रूर कायम रहेगा या हो सकता है कि बढ भी जाय।

एक साल या उससे कुछ ज्यादा दिनों तक म्युनिसिपैलिटी का काम करने के वाद मै यह महसूस करने लगा कि मै यहाँ अपनी शक्तियो का सबसे अच्छा उपयोग नही कर रहा हूँ। मै ज्यादा-से-ज्यादा जो कुछ कर

सकता था वह यह था कि काम जल्दी निबटे और वह पहले से ज्यादा होशियारी के साथ किया जाय। मै कोई कहने लायक तब्दीली तो करा नही सकता था। इसलिए मै चेयरमैनी से इस्तीफा देना चाहता था। लेकिन बोर्ड के तमाम मेम्बरो ने मुझपर जोर दिया कि मै चेयरमैन बना रहूँ। मेरे इन साथियो ने मेरे साथ हमेशा शराफत व मेहरबानी का बर्ताव किया था। इस कारण मेरे लिए उनकी बात न मानना मुश्किल हो गया। लेकिन अपनी चैयरमैनी के दूसरे साल के अखीर मे मैने इस्तीफा दे ही दिया।

यह १९२५ की बात है। उस साल वसन्त-ऋतु मे मेरी पत्नी बहुत बीमार पड गयी। कई महीनो तक वह लखनऊ के अस्पताल मे पडी रही। उस साल कांग्रेस कानपुर मे हुई थी। मुद्दत तक दु खी दिल के साथ कभी इलाहाबाद, कभी कानपुर और कभी लखनऊ तथा वहाँसे वापस चक्कर लगाने पडे थे। (मै इन दिनो भी कांग्रेस का प्रधान-मंत्री था।)

डाक्टरो ने सिफरिश की कि कमला का इलाज स्वीजरलैण्ड मे कराया जाय। मुझे यह बात पसन्द आयी, क्योकि मै खुद भी हिन्दुस्तान से बाहर चला जाना चाहता था। मेरा दिमाग साफ नही था। कोई साफ रास्ता नही दिखायी देता था। मैने सोचा कि अगर मै हिन्दुस्तान से दूर पहुँच जाऊँ तो चीजो को और अच्छी दृष्टि से देख सकूँगा और अपने दिमाग के अन्धेरे कोनो मे रोशनी पहुँचा सकूँगा।

मार्च १९२६ के शुरू मे हम लोग जहाज मे बम्बई से वेनिस के लिए रवाना हुए। मै, मेरी पत्नी और बेटी। उसी जहाज मे हमारे साथ मेरी बहन और बहनोई रणजीत पण्डित भी गये। उन लोगो ने अपनी योरप-यात्रा का इन्तजाम हम लोगो के योरप जाने का सवाल पैदा होने से बहुत पहले ही कर रक्खा था।

: २१ :

यूरप में

मुझे यूरप छोड़े तेरह साल से भी ज्यादा हो चुके थे और ये साल लड़ाई और क्रान्ति तथा भारी परिवर्तन के साल थे। जिस पुरानी दुनिया को मैं जानता था वह लड़ाई के खून और उसकी वीभत्सता में डूब चुकी थी और एक नयी दुनिया मेरा रास्ता देख रही थी। मुझे उम्मीद थी कि यूरप में छः या सात महीने या ज्यादा-से-ज्यादा साल के अखीर तक रह पाऊँगा। लेकिन दरअसल हम लोग वहाँ ठहरे एक साल और नौ महीने।

यह वक्त मेरे शरीर और दिमाग दोनों के लिए चैन व आराम का वक्त था। ज्यादातर हमने यह वक्त स्वीजरलैंड के जिनेवा में और मोन्टाना के पहाड़ी सेनिटोरियम में बिताया था। मेरी छोटी बहन कृष्णा भी १९२६ की गर्मियों के शुरू में हिन्दुस्तान से हमारे पास आ गयी और जबतक हम लोग यूरप में रहे तबतक हमारे साथ रही। मैं अपनी पत्नी को ज्यादा अर्से के लिए नहीं छोड़ सकता था, इसलिए दूसरी जगहों में मैं बहुत थोड़े वक्त के लिए ही जा सका। कुछ दिनों बाद जब मेरी पत्नी की तबियत कुछ ठीक हो गयी तब हम लोगों ने कुछ दिनों तक फ्रांस, इंग्लैंड और जर्मनी की सैर की। जिस पहाड़ी की चोटी पर हम लोग ठहरे थे उसके चारों ओर बर्फ थी। वहाँ मैं यह महसूस करता था कि मैं हिन्दुस्तान तथा यूरोपियन संसार से बिल्कुल अलहदा हो गया हूँ। हिन्दुस्तान में होनेवाली बातें खास तौर पर बहुत दूर मालूम होती थीं। मैं महज दूर से देखनेवाला एक तमाशबीन बन गया था जो अखबार पढ़ता था, जो बातें होती थीं उन्हें समझकर उनपर गौर करता था, नये यूरप तथा उसकी राजनीति और उसके अर्थशास्त्र तथा उसके कहीं ज्यादा आज़ादाना मानव-सम्बन्धों को देखा करता था। जब मैं जिनेवा में था तब स्वभावतः मुझे राष्ट्र-संघ के कामों में और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-दफ्तर में भी दिलचस्पी रही थी।

लेकिन जाडा आते ही, जाडे के खेलो मे मेरा मन लग गया। कुछ महीनो तक इन खेलो मे ही मेरी खास दिलचस्पी रही और इन्हीमे मैं लगा रहा बरफ पर एक किस्म के फिसल-खडाऊँ पहनकर तो मैं पहले भी चलता तथा खिसकता था, लेकिन लकडी के आठ फीट लम्बे और चार इच चौडे फिसल-जोडे को पैरों से बाँधकर बरफ पर चलने का तजुर्बा मेरे लिए बिलकुल नया था और मै उसपर मुग्ध हो गया। बहुत दिनो तक तो मुझे इस खेल मे क़ाफी तकलीफ मालूम हुई, लेकिन बार-बार गिरने पर भी मै हिम्मत के साथ जुटा रहा ओर अखीर मे मुझे खूब मजा आने लगा।

सब मिलाकर इन दिनो हमारी जिन्दगी मे कोई खास घटना नही हुई। दिन बीतते गये और धीरे-धीरे. मेरी पत्नी ताकत व तन्दुरुस्ती हासिल करती गयी। वहाँ हमलोगो को बहुत कम हिन्दुस्तानियो से मिलने का मौका मिला। सच बात तो यह है कि उस पहाडी बस्ती मे रहनेवाले थोडे-से लोगो को छोडकर और किसीसे हमे मिलने का मौका नही मिला। लेकिन हम लोगों ने यूरप मे जो एक और तीन-चौथाई साल बिताया उसमे हमे बहुत-से ऐसे पुराने क्रान्तिकारी और हिन्दुस्तान से निकाले हुए भाई मिले जिनके नामो से मै वाकिफ था।

उनमे से श्यामजी कृष्ण वर्मा जिनेवा मे एक मकान की सबसे ऊँची मजिल पर अपनी बीमार पत्नी के साथ रहते थे। ये दोनो बूढे पति-पत्नी अकेले ही रहते थे। उनके साथ दिन-भर रहकर काम करनेवाले नौकर न थे, इसलिए उनके कमरे गन्दे पडे रहते थे, जिनमे दम-सा घुटता था। हर चीज के ऊपर धूल की मोटी तह जमी हुई थी। श्यामजी के पास काफी रुपया था, लेकिन वह रुपया खर्च करने मे विश्वास नही करते थे। वह ट्राम मे बैठकर जाने के बदले कुछ पैसे बचा लेना ज्यादा पसन्द करते थे। जो कोई उनसे मिलने जाता उसको वह शक की निगाह से देखते थे और जबतक इससे उलटी बात साबित न हो जाय तबतक यही मान बैठते थे कि आनेवाले महाशय या तो ब्रिटिश सरकार के एजेन्ट है या उनके धन के गाहक हैं। उनकी जेबे उनके 'इण्डियन

सोशियॉलॉजिस्ट' नाम के अखबारो की पुरानी कापियों से भरी रहती थी। वह उन्हे खीचकर निकालते और कुछ जोश के साथ उन लेखो को दिखाते जो उन्होने कोई बारह बरस पहले लिखे थे। वह ज्यादातर पुराने जमाने की बाते किया करते थे। हैम्पस्टीड में इण्डिया-हाउस मे क्या हुआ, ब्रिटिश सरकार ने उनके भेद लेने के लिए कौन-कौन शख्स भेजे और उन्होने किस तरह उन्हे पहचानकर उनको चकमा दिया, आदि। उनके कमरो की दीवारे पुरानी किताबो से भरी, अलमारियो से सटी हुई थी। उन किताबो को पढता-पढाता कोई नही था, इसलिए उनपर धूल जमी हुई थी और वे जो कोई वहाँ जा पहुँचता उसकी तरफ दुःख-भरी निगाहो से देखती-सी मालूम होती थी। किताबे और अखबार फर्श पर भी इधर-उधर पडे रहते थे। ऐसा मालूम पडता था मानो वे कई दिनो और हफ्तो से, मुमकिन है महीनो से, इसी तरह पडे हुए है। उस तमाम जगह मे शोक की छाप-सी, मनहूसियत की हवा-सी छायी हुई थी। जिन्दगी वहाँ ऐसी मालूम पडती थी जैसे कोई अनचाहा अजनबी घुस आया हो। अँधेरे और सुनसान बरामदों मे चलते हुए ऐसा डर-सा मालूम पडता था कि किसी कोने मे कही मौत की छाया तो नही छिपी हुई है। जानेवाले उस मकान मे से निकलकर आराम की लम्बी साँस लेते और बाहर की हवा पाकर खुश होते थे।

श्यामजी अपनी दौलत की बाबत कुछ इन्तजाम, पब्लिक के कामों के लिए कोई ट्रस्ट, कर देना चाहते थे। शायद वह विदेशों मे शिक्षा पानेवाले हिन्दुस्तानियों के लिए कुछ इन्तजाम करना पसन्द करते थे। उन्होने मुझसे कहा कि मै भी उनके उस ट्रस्ट का एक ट्रस्टी होजाऊँ। लेकिन मैंने उस जिम्मेदारी को अपने ऊपर लेने की कोई ख्वाहिश जाहिर नही की। मैं नही चाहता था कि मै उनके आर्थिक मामलों के चक्कर मे फँसूँ। इसके अलावा मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने कही जरूरत से ज्यादा दिलचस्पी जाहिर की तो उन्हें फौरन ही यह शक हो जायगा कि उनकी दौलत पर मेरा दाँत है। यह तो किसीको नही मालूम था कि उनके पास कितनी दौलत है। अफवाह भी उडी थी कि

जर्मनी मे सिक्के की कीमत गिरने पर उनको बहुत नुकसान हुआ था।

कभी-कभी कोई नामी-गरामी हिन्दुस्तानी जिनेवा मे होकर गुजरते थे। जो लोग राष्ट्र-सघ मे शामिल होने के लिए आते थे, वे तो हाकिमी किस्म के लोग होते थे और यह जाहिर है कि श्यामजी ऐसे लोगों के पास तक नही फटक सकते थे। लेकिन मजदूर दफ्तर मे कभी-कभी नामी गैर-सरकारी हिन्दुस्तानी आ जाते थे, जिनमे मशहूर काग्रेसी भी होते थे। श्यामजी इन लोगो से मिलने की कोशिश करते। श्यामजी से मिल कर उन लोगो पर जो असर होता वह बडा ही दिलचस्प होता था। पर श्यामजी से मिलते ही ये लोग घबरा उठते थे और न सिर्फ पब्लिक मे ही उनसे मिलने से बचने की कोशिश करते थे, बल्कि खानगी मे भी उनसे मिलने के लिए किसी-न-किसी बहाने से माफी माँग लेते थे। वे लोग समझते थे कि श्यामजी से ताल्लुक रखने या उनके साथ देखे जाने मे खैर नही है।

इसलिए श्यामजी और उनकी पत्नी को एकाकी जिन्दगी बितानी पडती थी। उनके न तो बाल-बच्चे ही थे, न कोई रिश्तेदार या दोस्त ही, उनका कोई साथी भी नही था। शायद किसी भी मनुष्य-प्राणी से उनका सम्पर्क नही था। वह तो पुराने जमाने की यादगार थे। सचमुच उनका जमाना गुजर चुका था। मौजूदा ज़माना उनके लिए मौजूँ नही था। इसलिए दुनिया उनकी तरफ से मुहँ फेरकर मजे से चली जा रही थी। लेकिन फिर भी उनकी आँखो मे पुराना तेज था, और यद्यपि उनमे और मुझमे एक-सी कोई चीज नही फिर भी उनके प्रति मै अपनी हमदर्दी व इज्जत को नही रोक सकता था।

हाल ही मे अखबारो मे खबर छपी कि वह मर गये और उनके कुछ दिन बाद ही वह भली गुजराती महिला भी, जो दूसरे मुल्को मे देश-निकाले मे भी जिन्दगी-भर उनके साथ रही थी, मर गयी। अखबारों की खबरो मे यह भी कहा गया था कि उन्होने (उनकी पत्नी ने) विदेशों मे हिन्दुस्तान की औरतों की तालीम के लिए बहुत-सा रुपया छोडा है।

एक और मशहूर शख्स जिनका नाम मैंने अक्सर सुना था लेकिन जो मुझे पहले-पहल स्वीज़रलैण्ड मे मिले, राजा महेन्द्रप्रताप थे। उनकी आशावादिता ज़बरदस्त थी। मेरा ख़याल है कि अब भी वह आशावादी है। वह बिलकुल हवा मे रहते है और असली हालत से कतई कोई ताल्लुक रखने से इनकार करते है। मैंने जब उन्हे पहले-पहल देखा तो थोडा-सा चौक पडा। वह एक अजीब तरह की पोशाक पहने हुए थे, जो तिब्बत के ऊँचे मैदानो के लिए भले ही मौजूँ हो या साइबेरिया के मैदानो मे भी, लेकिन वह उन दिनो की गर्मियो मे वहाँ बिलकुल बेमौजूँ थी। वह पोशाक एक किस्म की आधी फौजी पोशाक-सी थी। वह ऊँचे रूसी बूट पहने हुए थे और उनके कोट मे बहुत-सी बडी-बडी जेबे थी जो फोटो तथा अखबार इत्यादि से भरी हुई थी। इन चीज़ो मे जर्मनी के चान्सलर बैथमैन हॉलवेग का एक खत था। कैसर की एक तस्वीर थी, जिसपर उसके अपने दस्तखत थे। तिब्बत के दलाई लामा का लिखा हुआ भी एक खूबसूरत खर्रा था। इसके अलावा अनगिनत कागज़ात और तस्वीरे थी। उन जेबो मे कितनी चीज़े भरी हुई थी, यह देखकर हैरत होती थी। उन्होने हमसे कहा कि एक दफा चीन मे उनका एक डिस्पैच बक्स खो गया, जिसमे उनके बडे कीमती कागज़ात भरे हुए थे, तबसे उन्होंने इसी मे ज्यादा सुरक्षितता समझी है कि वह हमेशा अपने काग-ज़ात को अपनी जेबो मे ही रक्खे। इसीसे उन्होने इतनी ज्यादा जेबे बनवायी थी।

महेन्द्रप्रतापजी के पास जापान, चीन, तिब्बत और अफगानिस्तान की और उन यात्राओ मे जो घटनाये हुई उनकी कहानियो की भरमार थी। उनको अपनी ज़िन्दगी तरह-तरह की हालतो मे बितानी पडी, जिनका हाल बडा दिलचस्प था। उस वक्त उनको सबसे ज्यादा जोश 'आनन्द-समाज' (A Happiness Society) के लिए था, जो खुद उन्होने कायम की थी और जिसका मूल-मन्त्र था—"खुश रहो।" मालूम पडता था कि इस सस्था को लटाविया (या लियुवानिया) में बहुत कामयाबी मिली।

उनके प्रचार का तरीका यह था कि वह वक्तन-फवक्तन जिनेवा या या दूसरी जगह होनेवाली कान्फ्रेन्सो के मेम्बरो के पास पोस्टकार्ड पर छपे हुए अपने बहुत-से सन्देश भेज दिया करते थे। इन पोस्टकार्डो पर उनके दस्तखत रहते थे, लेकिन जो नाम रहता था वह विचित्र, लम्बा और विचित्र। महेन्द्रप्रताप को तो उन्होने म० प्र० यही रहने दिया था, लेकिन उसके साथ और बहुत-से नाम जोड दिये गये थे, जो जाहिरा तौर पर जिन देशो की उन्होने सैर की थी उनमे से उनके मनचाहे देश के नाम के द्योतक थे। इस तरह वह इस बात पर जोर देते थे कि वह अपने को जाति, मजहब और कौम के बन्धनो से ऊपर समझते है। इस विचित्र नाम के नीचे आखिरी विशेषण "मनुष्य-जाति का सेवक" बिलकुल मौजूँ था। महेन्द्रप्रतापजी की बातो को ज्यादा महत्त्व देना मुश्किल था। वह तो मध्यकालीन उपन्यासो के एक पात्र-से, डॉन क्विक्जोट-से,[1] मालूम होते थे, जो गलती से बीसवी सदी मे आ भटके थे। लेकिन वह थे सोलहो आने सच्चे और अपनी धुन के पक्के।

पेरिस मे हमने बूढी मेडम कामा को भी देखा। जब हमारे पास आकर उन्होने हमारे चेहरे की तरफ गौर से देखा, और हमारी तरफ अँगुली उठाकर एकाएक हमसे यह पूछा कि आप कौन है, तब वह कुछ कुछ खूँख्वार और डरावनी-सी मालूम हुई। आपके जवाब से उनके ऊपर कोई असर नही पडता, शायद उनको इतना ऊँचा सुनायी देता था कि वह आपकी बात सुन ही नही पाती। वह अपनी इच्छाओं के अनुसार धारणाये बना लेती है, और फिर उन्हीपर अडी रहती है, चाहे वाकयात उन धारणाओ के खिलाफ ही हो।

इनके अलावा मौलवी उबेदुल्ला थे, जो मुझसे कुछ वक्त के लिए इटली मे मिले। वह मुझे चालाक जँचे, लेकिन उनकी लियाकत पुराने

---

१. थोडी शक्ति पर हवाई किले बाँधनेवाला एक पात्र जिसका अनुपम चित्र इसी नाम के एक स्पेनिश उपन्यास में चित्रित किया गया है—अनु०

जमाने की राजनैतिक चालबाजियो मे जो होशियारी होती थी वैसी थी। वह नये विचारो के सम्पर्क मे न थे। हिन्दुस्तान के 'सयुक्त राज्यो' या 'हिन्दुस्तान के सयुक्त प्रजातन्त्र' की उन्होने एक स्कीम बनायी थी, जो हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की एक काफी अच्छी कोशिश थी। उन्होने इस्ताम्बूल मे, जो उन दिनो तक कुस्तुन्तुनिया ही कहलाता था, अपनी कुछ पुरानी हलचलों की बाबत भी मुझसे कुछ कहा, लेकिन उनको मैने इतना महत्त्व नही दिया, इसलिए मै जल्दी ही उन सब बातो को भूल गया। कुछ महीने बाद वह लाला लाजपतराय से मिले और ऐसा मालूम पडता है कि उन्हे भी उन्होने वही बाते कह सुनायी। लालाजी पर उनका बहुत असर पडा, उससे वह बहुत ही चिन्तित हो गये थे। यहाँतक कि उस साल हिन्दुस्तान की कौसिलों के चुनाव मे उन बातो का बडा महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा। उनके बिलकुल अनुचित और विचित्र नतीजे तथा मतलब निकाले गये। इसके बाद मौलवी उबेदुल्ला हेजाज चले गये और पिछले कई सालो से मुझे उनकी बाबत कोई खबर नही मिली।

उनसे बिलकुल दूसरी किस्म के मौलवी बरकतउल्ला साहब थे। उनसे मै बर्लिन मे मिला। वह बडे मजेदार बूढे आदमी थे। बडे उत्साही और बहुत ही भले। वह बेचारे कुछ सीधे-सादे थे, बहुत तीव्र-बुद्धि न थे। फिर भी वह नये खयालात को अपनाने और आजकल की दुनिया को समझने की कोशिश करते थे। १९२७ मे सेन फ्रान्सिस्को मे उनकी मौत हुई, जबकि हम लोग स्वीज़रलैंड मे थे। उनकी मौत की खबर सुनकर मुझे बहुत रज हुआ।

बर्लिन मे ऐसे बहुत-से लोग थे जिन्होने लडाई के वक्त मे हिदुस्तानियो का एक दल बना लिया था। वह दल तो बहुत पहले ही टुकडे-टुकडे हो गया। उन लोगो की आपस मे नही बनी और वे एक-दूसरे से लड पडे, क्योकि हर शख्स दूसरे पर विश्वासघात करने का शक करता था। ऐसा मालूम होता है कि सब जगह देश से निकाले हुए राजनैतिक कार्यकर्ताओं का यही हाल होता है। बर्लिन के इन हिन्दुस्तानियों मे से

बहुत-से तो मध्यश्रेणी के लोगो के उन बैठे-बिठाये पेशो मे लग गये। महायुद्ध के बाद जर्मनी मे इस तरह के पेशे अक्सर नही मिल सकते थे। अब जो उनमे लग गये उनमे क्रान्तिकारीपन का कोई चिन्ह नही रहा। यहाँतक कि वे राजनीति से भी दूर रहने लगे।

लडाई के जमाने के इस पुराने दल की कहानी मनोरजक है। इनमे ज्यादातर तो वे लोग थे जो १९१४ की इतिहास-पूर्ण गर्मियो मे जर्मनी के जुदा-जुदा विश्वविद्यालयों मे पढ रहे थे। ये लोग जर्मनी के विद्यार्थियो के साथ उन्हीकी-सी ज़िन्दगी बिताते थे, उनके साथ बियर (शराब) पीते थे और उनकी (जर्मनी की) सस्कृति को सहानुभूति तथा सम्मान के साथ देखते थे। लडाई से उनको कुछ मतलब न था, लेकिन उस वक्त जर्मनी के ऊपर राष्ट्रीय उन्माद का जो तूफान आया उससे विचलित हुए बिना नही रह सके। उनकी भावना तो वास्तव मे ब्रिटिश-विरोधी थी, न कि जर्मनो की पक्षपाती। अपने हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता ने उन्हे ब्रिटेन के दुश्मनों की ओर झुका दिया। लडाई शुरू होने के बाद फौरन ही कुछ और थोडे-से हिन्दुस्तानी, जो इनसे कही ज्यादा क्रान्तिकारी थे, स्वीजरलैण्ड से जर्मनी मे जा पहुँचे। इन लोगों ने अपनी एक कमिटी बना ली और हरदयाल को बुला भेजा। वह उन दिनो सयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर थे। हरदयाल कुछ महीने पीछे आये, लेकिन इस वक्त तक यह कमिटी काफी महत्त्वपूर्ण हो गयी थी। कमिटी पर यह महत्त्व जर्मन-सरकार ने लाद दिया था। जर्मन-सरकार कुदरतन यह चाहती थी कि वह तमाम ब्रिटिश-विरोधी भावो को अपने फायदे के लिए इस्तैमाल करे। उधर हिन्दुस्तानी यह चाहते थे कि वे अपने कौमी मकसदो को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का फायदा उठावे। वे यह नही चाहते थे कि महज़ जर्मनी के ही फायदे के लिए अपने को इस्तैमाल होने दे। इस मामले मे उनकी बहुत चल नही सकती थी, लेकिन वे यह महसूस करते थे कि उनके पास कोई चीज़ जरूर है जिसे लेने के लिए जर्मन-सरकार बहुत उत्सुक है। इस बात से उन्हे जर्मन-सरकार से सौदा करने को एक हथियार मिल गया। उन्होंने इस बात

पर बहुत ज़ोर दिया कि हिन्दुस्तान की आज़ादी का जर्मन-सरकार अहद करे और इत्मीनान दिलाये कि वह उस पर क़ायम रहेगी। ऐसा मालूम होता था कि जर्मनी के वैदेशिक दफ़्तर ने इन लोगों से बाक़ायदा मुआहदा-नामा किया, जिसमें उन्होंने यह वादा किया कि अगर जर्मन लोगों की फ़तह हुई तो जर्मन-सरकार हिन्दुस्तान की आज़ादी को मंज़ूर कर लेगी। इसी अहद और इसी शर्त तथा कई छोटी शर्तों की बुनियाद पर इस हिन्दुस्तानी दल ने यह वादा किया कि हम लड़ाई में जर्मनी की मदद करेंगे। जर्मनी की सरकार हर तरह से इस कमिटी की इज़्ज़त करती थी, और उनके प्रतिनिधियों के साथ क़रीब-क़रीब विदेशी राजदूतों की बराबरी का बर्ताव किया जाता था।

ख़ासतौर पर नातजुर्बेकार नौजवानों के इस छोटे-से दल को यकायक जो इतना महत्त्व मिल गया, उससे उनमें से कई का सिर फिर गया। वे यह महसूस करने लगे कि हम कोई बहुत बड़ा ऐतिहासिक कार्य कर रहे हैं, बहुत ही बड़ी और युगान्तरकारी कार्रवाइयों में लगे हुए हैं। उनमें से बहुतों को बड़े रोमांचक साहसों का सामना करना पड़ा और वे बाल-बाल बचे। लेकिन लड़ाई के पिछले हिस्से में उनकी अहमियत खुल्लम-खुल्ला कम होने लगी, और उनकी उपेक्षा शुरू हो गयी। हरदयाल को जो अमेरिका से आये थे, बहुत पहले ही सलाम कर लिया गया था। कमिटी से उनकी बिल्कुल नहीं बनी, और कमिटी तथा जर्मन सरकार दोनों ही उनको विश्वास-पात्र नहीं मानते थे। उन्होंने उन्हें चुपचाप खिसका दिया। कई साल बाद जब १९२६ और १९२७ में मैं यूरप में था, तब मुझे अचम्भा हुआ कि यूरप में रहनेवाले ज्यादातर हिन्दुस्तानियों के दिलों में हरदयाल के ख़िलाफ़ कितनी कटुता और कितनी नाराज़गी है। उन दिनों वह स्वीडन में रहते थे। मैं उनसे नहीं मिला।

लड़ाई ख़त्म होते ही बर्लिनवाली हिन्दुस्तानी कमिटी का बुरी तरह ख़ात्मा हो गया। उन लोगों की तमाम उम्मीदों पर पानी फिर गया था, जिससे उनके लिए ज़िन्दगी बिल्कुल नीरस हो गयी थी। उन्होंने बहुत बड़ा जुआ खेला था, और वे उसमें हार गये थे। लड़ाई के सालों में

उन्हे जो महत्त्व मिला, और जैसे बडे-बडे वाकयात हुए, उनके बाद तो हर हालत मे जिन्दगी बोझा मालूम होती। लेकिन उन बेचारों को मुंह-मॉगे इस तरह की बेफिक्री की जिन्दगी भी नही नसीब हो सकती थी। वे हिन्दुस्तान मे लौट नही सकते थे और लडाई के बाद के हारे हुए जर्मनी मे रहने के लिए कोई आराम की जगह थी नही। उन बेचारो को बडी मुश्किल का सामना करना पडा। उनमे से कुछेक को ब्रिटिश सरकार ने बाद मे हिन्दुस्तान मे आने की इजाजत दे दी, लेकिन बहुतो को तो जर्मनी मे ही रहना पडा। उनकी हालत बडी नाजुक थी। जाहिर है कि वे किसी भी राज्य के नागरिक न थे। उनके पास वाजिब पासपोर्ट तक नही थे। जर्मनी के बाहर तो सफर करना मुमकिन था ही नही, जर्मनी मे रहने मे भी बहुत-सी मुश्किले थी। वे वहाँकी पुलिस की मेहरबानी से ही रह सकते थे। उनकी ज़िन्दगी बहुत ही चिन्ता और मुसीबत से भरी थी। दिन-पर-दिन उन्हे कोई-न-कोई फिक्र सवार रहती थी। हर वक्त उन्हे इसी बात के लिए परेशान रहना पडता था, कि क्या खाये और कैसे जिये?

१९३३ के शुरू से नाजियों के दौर-दौरे ने उनकी बदनसीबी को और भी बढा दिया। अगर वे सोलहो आने नाजियो के मत को मान ले तो दूसरी बात है। अनार्यो और खास तौर पर एशियायी विदेशियों का आजकल जर्मनी मे स्वागत नही होता। उन लोगो को ज्यादा-से-ज्यादा उस वक्त तक वहाँ ठहरने भर दिया जाता है जबतक कि वे ठीक तरह से रहे। हिटलर ने कई बार यह ऐलान किया है कि वह हिन्दुस्तान मे ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन का तरफदार है। इसमे शक नही कि यह बात वह ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने को कहता है। इसलिए वह ऐसे किसी हिन्दुस्तानी को शह नही देना चाहता जिसने ब्रिटिश सरकार को नाराज कर दिया हो।

बर्लिन मे हमे जो देश निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले उनमे से एक चम्पक रमन पिल्ले थे। वह पुराने युद्धकालीन दल के एक मशहूर मेम्बर थे और कुछ धूम-धामपसन्द थे, और नौजवान हिन्दुस्तानियो ने उन्हे

एक बुरा-सा खिताब दे रखा था। वह सिर्फ राष्ट्रीयता की भाषा मे ही सोच सकते थे। किसी भी सवाल को उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू से देखने से वह दूर भागते थे। जर्मनी के राष्ट्रवादी 'स्टील हेल्मेट्स' से उनकी खूब पटती थी। वह जर्मनी में उन थोडे-से हिन्दुस्तानियो में से थे, जिनकी नाजियो से खूब छनती थी। कुछ महीने हुए, जेल मे मैंने खबर पढी कि बर्लिन में उनका देहान्त हो गया।

हिन्दुस्तान के एक मशहूर घराने के वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बिलकुल दूसरी किस्म के आदमी थे। आमतौर पर लोग उन्हे चट्टो के नाम से जानते थे। वह बहुत ही काबिल और बडे मज़े के आदमी थे। हमेशा मुसीबतो मे रहते। उनके कपडे बिलकुल फटे-पुराने थे, और अक्सर उन्हे अपने खाने का इन्तज़ाम करना बहुत ही मुश्किल हो जाता था। लेकिन उनके मज़ाक और उनकी खुशदिली ने उनका साथ कभी नही छोडा। जब मै इग्लैण्ड मे पढ रहा था, तब वह मुझसे कुछ साल आगे थे। जब मैं हैरो मे दाखिल हुआ, तब वह ऑक्सफोर्ड मे थे। तबसे वह कभी हिन्दुस्तान को नही लौटे। कभी-कभी घर की याद उनको सताने लगती और वह हिन्दुस्तान को लौटने के लिए व्याकुल हो उठते। उनके तमाम पारिवारिक बन्धन खत्म हो चुके थे। और यह तय है कि अगर वह कभी हिन्दुस्तान आये तो फौरन ही वह दु खी होने लगेगे, और यह पावेंगे कि यहाँ उनका मेल नही मिलता। लेकिन इतने बरसों के बीत जाने और लम्बे-लम्बे सफर करने के बावजूद घर का खिचाव तो रहता ही है। देश से निकाला हुआ कोई भी शख्स अपनी इस बीमारी से, जिसे मैजिनी 'आत्मा का तपेदिक' कहता था, नही बच सकता।

मै यह जरूर कहूँगा कि मुझे दूसरे मुल्को मे जितने देश-निकाले हुए हिंदुस्तानी मिले, उनमें ज्यादातर लोगों का मुझपर अच्छा असर नही पडा, यद्यपि मै उनकी कुर्बानियों की तारीफ करता था और जिन वाकई और असली मौजूदा मुसीबतों मे वे फँसे हुए थे और उन्होने जो तकलीफे सही थी और जो सहनी पड रही थी, उनसे मेरी पूरी हमदर्दी थी। मै उनमे से ज्यादा लोगों से नही मिला, क्योकि उनकी

तादाद बहुत काफी है और वे दुनिया-भर मे फैले हुए है। उनमे से नाम भी तो हमने बहुत कम के सुने है, बाकी तो हिन्दुस्तान की दुनिया से बिलकुल अलग हो गये है और अपने जिन हिन्दुस्तानी भाइयो की खिदमत करने की उन्होंने कोशिश की वे उन्हे भूल गये है। उनमे से जिन थोडे-से लोगों से मै मिला उनमे वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय और एम० एन० राय[1] के बुद्धि-वैभव का मुझपर अच्छा असर पडा। राय से मै कोई आध घण्टे तक मास्को मे मिला था। उन दिनों वह प्रमुख कम्यूनिस्ट थे, लेकिन कम्यूनिस्ट इटरनेशनल ब्राड के कट्टर कम्यूनिज्म से बाद के उनके कम्यूनिज्म मे फर्क हो गया था। मै समझता हूँ कि चट्टो बाकायदा कम्यूनिस्ट न थे, सिर्फ उनका झुकाव कम्यूनिज्म की तरफ था। अब तो राय को हिन्दुस्तानी जेलों मे पडे हुए तीन साल से भी ज्यादा हो गये है।

इनके अलावा और भी बहुत-से हिन्दुस्तानी थे जो यूरप के मुल्कों मे घूमते-फिरते थे। ये लोग क्रान्तिकारियों की जबान मे बात-चीत करते, बड़े-बडे जीवट की और अजीब बाते सुझाते, कौतूहल-भरे विचित्र सवाल पूछते। ऐसा मालूम पडता था कि इन लोगों पर ब्रिटिश सीक्रेट सर्विस (खुफिया महकमे) की छाप लगी हुई थी।

हाँ, हम बहुत से यूरोपियनों और अमेरिकनों से भी मिले। जिनेवा

---

१. एम० एन० राय बगाली है और पहले क्रान्तिकारी थे। यहाँसे भागकर वे रूस में बस गये। वहाँ इन्हें कोमिण्टर्न में अग्रगण्य स्थान मिला। कोमिण्टर्न कम्यूनिस्ट इटरनेशनल—साम्यवादियों की मुख्य संस्था है। बाद को एम० एन० राय उससे हट गये। इसका कारण यह बताया जाता है कि यह मुख्य संस्था बाहर के देशों की संस्थाओ से स्थानिक परिस्थितियों का विचार किये बिना अपनी नीति का कठोरता से पालन चाहती थी। चीन में ये इसी संस्था की तरफ से गये थे। उसके बाद ये हिन्दुस्तान में आये और पकड़े गये। अब छूट गये है। इनका असली नाम कुछ और ही है। —अनु०

से हम कई वार वीलनव मे रोमाँ रोलाँ को देखने के लिए विला ऑल्गा गये। उनके पास पहली मर्तवा जाते वक्त हम गाधीजी से परिचय-पत्र लेते गये थे। एक नौजवान जर्मन कवि और नाटककार की याद भी मैं बहुत वहुमूल्य समझता हूँ। इसका नाम था अर्न्स्ट टॉलर। अव नाजियों के शासन मे वह जर्मन नही रहा। यही वात न्यूयार्क के नागरिक-स्वाधीनता-सघ के रोजर वाल्डविन के लिए है। जिनेवा मे नामी लेखक श्री धनगोपाल मुकर्जी से भी हमारी दोस्ती हो गयी थी। वह अमेरिका मे वस गये है।[1]

यूरप जाने से पहले मै हिन्दुस्तान मे फ्रैंक बुकमैन से मिला था। यह आक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेण्ट के है। इन्होने अपनी हलचल के सम्बन्ध मे कुछ साहित्य मुझे दिया। उसे पढकर मुझे वडा आश्चर्य हुआ। यकायक मजहव वदल देना या गुनाहो का इकबाल करते फिरना और आमतौर पर धर्म का पुनरुद्धार करना मेरी निगाह मे ऐसी वाते है जिनका बुद्धि-वाद के साथ मेल नही खाता। मै यह नही समझ सका कि जो शख्स जाहिरा तौर पर साफ-साफ बुद्धिमान मालूम होते थे वे ऐसे अजीव मनोभावो के शिकार कैसे हो जाते है और उनपर इन मनोविकारो का इस हदतक असर कैसे पड जाता है? मेरा कौतूहल वढा। जिनेवा मे फ्रैंक वुकमैन मुझे फिर मिले और उन्होंने मुझे न्यौता दिया कि रूमानिया मे उनका जो अन्तर्राष्ट्रीय गृह-सम्मेलन होनेवाला है उसमे मै शामिल होऊँ। मुझे अफसोस है कि मै वहाँ नही जा सका और नजदीक से इस नयी भावपूर्णता को नही देख सका। इस तरह मेरा कौतूहल अभीतक अतृप्त ही है और मै इस आक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेण्ट की वढती की जितनी खवरे पढता हूँ उतना ही आश्चर्य करता हूँ।

---

१. मई १९३६ में अमेरिका में इनकी मृत्यु हो गई—वडी करुण परिस्थिति में। अपनी अनेक पुस्तकों में इन्होने भारतीय सभ्यता के उज्वल चित्र खींचे है। अंग्रेजी भाषा पर इनका आश्चर्यजनक प्रभुत्व था। —अनु०

आपसी मतभेद

हमारे स्वीजरलैण्ड मे पहुँचने के वाद फौरन ही इग्लैण्ड मे आम हडताल हो गयी थी, जिससे मुझे वहुत उत्तेजना हुई। मेरी हमदर्दी पूरी तरह हडतालियो के साथ थी। कुछ दिनो के वाद जब हडताल बुरी तरह खत्म हुई तब मुझे ऐसा मालूम पडा मानो खुद मुझपर चोट पड़ी है। कुछ महीने वाद मुझे कुछ दिनो के लिए इग्लैण्ड जाने का मौका मिला। वहाँ कोयले की खानो के मजदूरो की लडाई अभीतक चल रही थी और रात मे लन्दन आधे अँधेरे मे रहता था। एक खान मे भी मै कुछ समय के लिए गया। मेरा खयाल है कि वह जगह डरबीशायर मे होगी। मर्दो, औरतो और बच्चो के पीले और पिचके हुए चेहरे मैने अपनी आँखो से देखे। इससे भी ज्यादा आँखे खोलनेवाली बात यह हुई कि मैने हडताल करनेवाले मजदूरो और उनकी औरतो पर मुकामी या देहाती अदालतो मे मुकद्मे चलते हुए देखे। इन अदालतो के मजिस्ट्रेट खुद उन कोयले की खानो के डाइरेक्टर या मैनेजर थे। उन्हीकी अदालतों मे मजदूरो का मुकद्मा हुआ और उन्हे ज़रा-ज़रा-से जुर्मो के लिए कुछ खास तौर पर बनाये गये कानूनो के मुताबिक सजा दे दी जाती थी। एक मुक़दमे से मुझे खासतौर पर गुस्सा आया। अदालत के कटघरे मे तीन या चार औरते ऐसी लायी गयी जिनकी गोद मे बच्चे थे। उनका जुर्म था कि उन्होने हडताल करनेवालो की जगह पर काम करने जानेवाले मजदूर-द्रोहियों को धिक्कारा था। ये नौजवान माताये और उनके नन्हे-नन्हे बच्चे दु खी है और उन्हे भरपेट भोजन नही मिलता, यह बात साफ-साफ दिखायी देती थी। लम्बी लडाई से वे वहुत ही कमजोर हो गयी थी। उनकी हालत वहुत विगड गयी थी। उनमे उन मजदूर-द्रोहियो के प्रति कटुता आ गयी थी जो उनके मुहँ का कौर छीनते हुए मालूम होते थे।

वर्ग-न्याय अर्थात् अमीर श्रेणी के लोग गरीब दर्जे के लोगो के साथ कैसा इसाफ करते है, इसकी बाबत अक्सर हम लोग बहुत-सी बाते पढा करते है, और हिन्दुस्तान में तो इस तरह के इन्साफो के किस्से रोजमर्रा की बाते है। लेकिन, किसी भी वजह से हो, मै यह उम्मीद नही करता था कि इग्लैण्ड में 'इसाफ' का इतना बुरा नमूना मुझे देखने को मिलेगा। इस वजह से उससे मेरे मन मे, भारी धक्का लगा। एक और बात, जिसे देखकर मुझे कुछ अचरज हुआ, यह थी कि हडताल करनेवालों मे डर की आबहवा फैली हुई थी। निश्चित रूप से पुलिस और-हाकिमो ने उन्हें बुरी तरह डरा दिया था जिससे वे बेचारे सब बातो को, मै समझता हूँ कि उनके साथ जो बेइज्जती का बर्ताव किया जाता था उसे भी, चुपचाप सह लेते थे। यह सही है कि एक लम्बी लडाई के बाद वे बुरी तरह थक गये थे। उनकी हिम्मत उनका साथ छोडने को ही थी। दूसरे मजदूर-सघों के उनके साथी-मजदूरो ने उनका साथ छोड ही दिया था। लेकिन गरीब हिन्दुस्तानी के मुकाबिले मे फिर भी दुनिया-भर का फर्क था। ब्रिटिश खानो के मजदूरो का सगठन तो अभीतक बहुत मजबूत था। सचमुच मुल्क-भर के मजदूरो की ही नही दुनिया-भर के मजदूर-सघों की हमदर्दी उनके साथ थी। उनके विषय मे काफी प्रचार हो रहा था। इसके अलावा भी उनके पास तरह-तरह के साधन थे। हिन्दुस्तानी मजदूरो को इनमें से एक भी बात नसीब नही। लेकिन फिर भी दोनो मुल्कों के मजदूरों की भयभीत आँखो मे एक अजीब एक-सा पन दिखायी देता था।

उस साल हिन्दुस्तान मे असेम्बली और प्रान्तीय कौसिलो का हर तीसरे साल होनेवाला चुनाव था। मुझे उन चुनावो मे कोई दिलचस्पी न थी, लेकिन वहाँ जो घमासान शब्दयुद्ध हुआ उनकी कुछ आवाजे स्वीजरलैड मे भी पहुँच गयी। स्वराज-पार्टी इन दिनो तक कौसिलो मे बाकायदा काग्रेस-पार्टी हो गयी थी। इसकी मुखालिफत करने के लिए, मुझे मालूम हुआ कि, प० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने एक नयी पार्टी बनायी थी। इस पार्टी का नाम रक्खा गया था नेशनलिस्ट-पार्टी। मेरी समझ मे यह नही आया और अभीतक मै नही समझ सका

कि नयी पार्टी और पुरानी पार्टी मे किन बुनियादी उसूलो का फर्क था ? सच बात तो यह है कि आजकल कौसिल की ज्यादातर पार्टियो मे कोई कहने लायक फर्क नही है—उतना ही फर्क है जितना ईसरी और ईसरिया के नामो मे । कोई असली उसूल उन्हे एक-दूसरे से अलग नही करता था । स्वराज-पार्टी ने पहले-पहल कौसिलो मे एक नया और लडाकू रुख अख्त्यार किया और दूसरों के मुकाबले मे वह ज्यादा गरम नीति से काम लेने के पक्ष मे थी । लेकिन यह तो मात्रा का फर्क था, तत्त्व का नही ।

नयी नेशनलिस्ट-पार्टी अधिक माडरेट यानी नरम दृष्टि-कोण की प्रतिनिधि थी । वह निश्चित रूप से स्वराज-पार्टी से ज्यादा सरकार की ओर झुकी हुई थी । इसके अलावा वह सोलहो आने हिन्दू-पार्टी भी थी, जो हिन्दू-सभा के घनिष्ट सहयोग के साथ काम करती थी । मालवीयजी का इस पार्टी का नेतृत्व करना तो आसानी से समझ मे आ सकता था, क्योकि वह उनके सार्वजनिक रुख को अधिक-से-अधिक जाहिर करती थी । पुराने सम्बन्धो की वजह से वह काग्रेस मे जरूर बने हुए थे, लेकिन उनकी विचार-दृष्टि लिबरलो या माडरेटो के दृष्टि-कोण से ज्यादा भिन्न न थी । काग्रेस ने सहयोग और सीधी लडाई के जो नये ढग अख्त्यार किये थे, वे उन्हे पसन्द न थे । काग्रेस की नीति को तय करने मे भी उनका कोई खास हाथ न था । यद्यपि लोग उनकी बडी इज्जत करते थे और काग्रेस मे हमेशा उनका स्वागत किया जाता था, लेकिन दरअसल मालवीयजी की काग्रेस के प्रति आत्मीयता नही रही थी । वह उसकी कार्य-कारिणी—कार्य-समिति—के मेम्बर नही थे और वह काग्रेस के आदेशो पर भी अमल नही करते थे, खासकर उन आदेशो पर जो कौसिलो के बारे मे दिये जाते थे । वह हिन्दू-सभा के सबसे ज्यादा लोकप्रिय नेता थे, और हिन्दू-मुसलमानो के मामलो मे उनकी नीति काँग्रेस की नीति से जुदा थी । काँग्रेस के प्रति उनको वैसी भावुकता-पूर्ण ममता थी, जैसी किसी एक सस्था से किसीका करीब करीब शुरू से ही सम्बन्ध होने पर हो जाती है । कुछ हदतक इसलिए भी उन्हे काग्रेस से प्रेम था क्योकि आजादी की लड़ाई की दिशा मे भी उनकी भावुकता उन्हे खीच

ले जाती थी और वह यह देखते थे कि कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो उसके लिए कोई कारगर काम कर रही है। इन कारणों से उनका दिल अक्सर कांग्रेस के साथ रहता था, खासतौर पर लड़ाई के वक्त में, लेकिन उनका दिमाग दूसरे कैम्पों में था। लाज़िमी तौर पर इसका नतीजा यह हुआ कि खुद उनके भीतर भी लगातार एक खींचातानी होती रहती थी। कभी-कभी वह एक दूसरे के खिलाफ दिशाओं में, पूर्व-पश्चिम दोनों तरफ, एकसाथ चलने की कोशिश करते थे। नतीजा यह होता था कि लोगों की बुद्धि गड़बड़ी में पड़ जाती थी। लेकिन राष्ट्रीयता ऐसी गोलमालों की खिचड़ियों से ही भरी हुई है और मालवीयजी केवल नेशनलिस्ट हैं, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों से उनका कोई वास्ता नहीं। वह पुराने कट्टर पंथ के समर्थक थे और हैं। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वह सनातन-धर्म को माननेवाले हैं। हिन्दुस्तानी राजे, ताल्लुकेदार तथा बड़े-बड़े ज़मींदार ठीक ही उन्हें अपना हितचिन्तक मित्र समझते हैं। वह सिर्फ एक ही तब्दीली चाहते हैं, पर उसे जरूर तहेदिल से चाहते हैं और वह है हिन्दुस्तान से विदेशी शासन का कतई हट जाना। उन्होंने अपनी जवानी में जो कुछ पढ़ा और जो राजनैतिक तालीम पायी थी उसका अब भी उनके दिमाग पर बहुत असर है और वह लड़ाई के बाद की, बीसवीं सदी की, सजीव और क्रान्तिकारी दुनिया को अर्ध-स्थिर उन्नीसवीं सदी के चश्मे से, टी०एच० ग्रीन और जान स्टुअर्ट मिल और ग्लैडस्टन व मॉर्ले की निगाहों से तथा हिन्दू-संस्कृति और समाज-विज्ञान की तीन-चार वर्ष पुरानी भूमिका से, देखते हैं। यह एक विचित्र मेल है, जिसमें परस्पर-विरोधी बातें भरी हुई हैं। लेकिन परस्पर-विरोधी बातों को हल करने की अपनी खुद की शक्ति में उनका विश्वास आश्चर्य-जनक है। उठती जवानी से ही विविध क्षेत्रों में उनके द्वारा भारी सार्वजनिक सेवायें होती आयी हैं। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय जैसी विशाल संस्था कायम करने में उन्होंने कामयाबी हासिल की है। उनकी सचाई और उनकी लगन बिलकुल पारदर्शक है। उनकी भाषण-शक्ति बहुत ही प्रभावशाली है। उनका स्वभाव मीठा है और उनका व्यक्तित्व मोहक

है। इन सब बातो से हिन्दुस्तान के लोगो को, खासतौर पर हिन्दुओ को, वह बहुत प्यारे है, और यद्यपि बहुत-से लोग राजनीति मे उनसे सहमत नही है, न उनके पीछे ही चलते है, लेकिन वे उनसे प्रेम तथा उनकी इज्जत जरूर करते है। अपनी अवस्था और बहुत लम्बी सार्वजनिक सेवा की वजह से वह हिन्दुस्तान की राजनीति के वृद्ध-वशिष्ठ है, लेकिन ऐसे, जो समय से पीछे मालूम देते है और जो आजकल की दुनिया से बिलकुल अलग-से है। उनकी आवाज की तरफ लोगो का ध्यान अब भी जाता है, लेकिन वह जो भाषा बोलते है उसे अब बहुत-से लोग न तो समझते ही है न उसकी परवाह ही करते है।

इन बातों से मालवीयजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह स्वराज-पार्टी मे शामिल न होते। वह पार्टी राजनैतिक दृष्टि से उनके लिए बहुत ज्यादा आगे बढी हुई थी, और उसमे कांग्रेस की नीति पर डटे रहने का कडा अनुशासन जरूरी था। वह चाहते थे कि कोई ऐसी पार्टी हो जो ज्यादातर उग्र न हो और जिसमे राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनों मामलो मे मन-मुताबिक काम करने की ज्यादा छूट मिले। ये दोनों बाते उन्हे उस नयी पार्टी मे मिल गयी, जिसके वह जन्मदाता और नेता थे।

लेकिन यह बात आसानी से समझ मे नही आती कि लाला लाजपतराय क्यों नयी पार्टी मे शामिल हुए, यद्यपि उनका झुकाव भी कुछ-कुछ दाहिनी तरफ और ज्यादा साम्प्रदायिक नीति की तरफ था। उस साल गर्मियों मे मै जिनेवा मे लालाजी से मिला था और मुझसे उनकी जो बाते वहाँ हुई उनसे तो यह नही मालूम पडता था कि वह कांग्रेस-पार्टी के खिलाफ लडाकू रुख अख्त्यार करेंगे। यह क्यों हुआ, इस बात का अभीतक मुझे कुछ पता नही। लेकिन चुनाव की लडाई के दौरान मे उन्होने कुछ स्पष्ट आक्षेप किये थे जिनसे यह पता चल जाता है कि उनके मन मे क्या-क्या चल रहा था। उन्होने कांग्रेस के नेताओ पर यह इलजाम लगाया कि हिन्दुस्तान से बाहर के लोगों के साथ साजिश कर रहे है। उन्होने यह भी इलजाम लगाया कि काबुल मे कांग्रेस की शाखा खोलकर

कुछ साज़िश की है। मेरा खयाल है कि उन्होने अपने इन आक्षेपो की बाबत कोई खास-खास बात कभी नही बतायी। बार-बार प्रार्थना करने पर भी वह तफसील मे कोई सबूत न दे सके।

मुझे याद है कि जब मैने स्वीजरलैण्ड मे हिन्दुस्तानी अखबारो मे लालाजी के इलजामो को पढा तो मै दग रह गया। काग्रेस के मन्त्री की हैसियत से मै काग्रेस की बाबत सब बाते जानता था। काबुल की काग्रेस कमिटी का काग्रेस से सम्बन्ध कराने मे मेरा अपना हाथ था। उसकी शुरूआत देशबन्धु दास ने की थी। यद्यपि मुझे उस वक्त यह नही मालूम था, अब भी नही मालूम है, कि लालाजी के पास उन इलजामो की क्या तफसील थी, फिर भी मै उनके स्वरूप को देखकर यह कह सकता हूँ कि जहाँतक काग्रेस का ताल्लुक है इन इलजामों की कोई बुनियाद नही हो सकती। मै नही जानता कि इस मामले मे लालाजी कैसे गुमराह हो गये। मुमकिन है कि तरह-तरह की अफवाहों का उन्होने एतबार कर लिया हो, और मेरा खयाल है कि हाल ही मे मौलवी उबैदुल्ला के साथ उनकी जो बातचीत हुई थी उसका उनके ऊपर जरूर असर पडा होगा। हालाँकि उस बात-चीत मे मुझे कोई बात ऐसी गैर-मामूली नही मालूम होती थी, लेकिन चुनाव के वक्त मे तो गैर-मामूली हालत पैदा हो ही जाती है। उसमे एक ऐसी अजीब बात होती है कि लोगो का मिजाज बिगड जाता है और वे सरासार विचार भूल जाते है। इन चुनावो को मै जितना ही ज्यादा देखता हूँ उतनी ही ज्यादा मेरी हैरत बढती है, और मेरे मन मे उनके खिलाफ ऐसी अरुचि पैदा हो रही है जो लोकतन्त्री भाव के कतई खिलाफ है।

लेकिन शिकायतो की बात जाने दीजिए, मुल्क के बढते हुए साम्प्रदायिक वातावरण को देखकर, नेशनलिस्ट-पार्टी का या ऐसी ही किसी और पार्टी का खडा होना लाजिमी था। एक तरफ मुसलमानो के दिलों मे हिन्दुओं की ज्यादा तादाद का डर था, दूसरी तरफ हिन्दुओ के दिलों मे इस बात पर बहुत नाराजगी थी कि मुसलमान उनपर धौस जमाते है। बहुत से हिन्दू यह महसूस करते थे कि मुसलमानो का रुख बहुत-कुछ

'जो-कुछ पास पल्ले है उसे रख दो नही तो ठीक कर दूँगा' जैसा है। वे दूसरी तरफ सरकार की तरफ मिलने की धमकी देकर जबरदस्ती खास रिआयते ले लेने की भी बहुत ज्यादा कोशिश करते थे। इसी वजह हिन्दू महासभा को कुछ अहमियत मिल गई, क्योकि वह हिन्दू-राष्ट्रीयता की प्रतिनिधि थी। अब हिन्दुओ की हिन्दू-साम्प्रदायिकता मुसलमानो की साम्प्रदायिकता के मुकाबले पर आ डटी थी। महासभा की लडाकू हरकतो का यह नतीजा हुआ कि मुसलमानो की यह साम्प्रदायिकता और ज़ोर पकड गई। इसी तरह घात-प्रतिघात होता रहा और इस प्रक्रिया मे मुल्क का साम्प्रदायिक पारा बहुत चढ गया। खास तौर पर यह सवाल देश के अल्पसंख्यक दल और बहुसंख्यक दल के झगडे का सवाल था। लेकिन अजीब बात तो यह थी कि मुल्क के कुछ हिस्सो मे बात बिलकुल उलटी थी। पजाब और सिन्ध मे हिन्दू-और सिक्ख दोनो की तादाद मिलकर भी मुसलमानो से कम थी। और इन सूबो के अल्पसंख्यक हिन्दू और सिक्खो को भी वैर-भाव रखनेवाली बहुसंख्या से कुचले जाने का उतना ही डर था जितना मुसलमानो को हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों मे। या अगर बिलकुल ठीक-ठीक बात कही जाय तो यो कहिए कि दोनो दलो के मध्यश्रेणीवाले, नोकरी की फिराक मे लगे हुए, लोगो को यह डर था कि कही ऐसा न होजाय कि नौकरियाँ मिलने ही न पावे, और कुछ हदतक स्थापित स्वार्थ रखनेवाले जमीदारों और साहूकारो वगैरा को यह डर था कि कही ऐसे आमूल परिवर्तन न कर दिये जायँ जिसमे हमारे स्वार्थो का सत्यानाश हो जाय।

साम्प्रदायिकता की इस बढती से स्वराज्यपार्टी को बहुत नुकसान पहुँचा। उसके कुछ मुसलमान मेंबर उसे छोडकर चले गये और मुसलमानों की साम्प्रदायिक जमातो मे जा मिले, और उसके कुछ मेम्बर खिसककर नेशनलिस्ट-पार्टी मे जा मिले। जहाँतक हिन्दू लीडरों से ताल्लुक था, मालवीयजी और लाला लाजपतराय का मेल बहुत ताकतवर मुकाबिला था और साम्प्रदायिकता के तूफान के केन्द्र पजाब मे उनका बहुत असर था। स्वराज्य-पार्टी या काग्रेस की तरफ

चुनाव लड़ने का खास बोझ मेरे पिताजी के ऊपर पड़ा। उस बोझ को उनसे बँटाने के लिए देशबन्धु दास भी अब नही रहे थे। उन्हे लड़ाई मे मजा आता था। किसी हालत मे वह लड़ाईसे जी नही चुराते थे, और मुखालिफ की ताकत बढ़ती हुई देखकर उन्होने चुनाव की लड़ाई मे अपनी तमाम ताकत लगा दी। उन्होने गहरी चोटे खायी और दी। दोनो पार्टियो मे से किसीने भी किसीका कुछ लिहाज़ नही किया। शिष्टता भी छोड़ दी। इस चुनाव के पीछे भी उसकी याद बड़ी कड़वी बनी रही।

नेशनलिस्ट-पार्टी को बहुत काफी मात्रा मे कामयाबी मिली। लेकिन इस कामयाबी ने निश्चित रूप से असेम्बली की राजनैतिक आब को काम कर दिया। आकर्षण-केन्द्र और भी ज्यादा नरम नीति की ओर चला गया। स्वराज्य-पार्टी खुद कांग्रेस का दाहिना पक्ष था। अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए उसने बहुत-से सदिग्ध लोगो को पार्टी मे घुस आने दिया। इस वजह से उसकी श्रेष्ठता मे कमी हो गयी। नेशनलिस्ट-पार्टी ने और भी नीचे जाकर उसी नीति से काम लिया। खिताबधारी लोगो, बड़े जमीदारों, मिल-मालिको तथा दूसरे लोगों का एक अजीब भानमती का पिटारा उसमे आ इकट्ठा हुआ। इन लोगो का भला राजनीति से क्या ताल्लुक ? उस साल १९२६ के अखीर मे हिन्दुस्तान में एक भारी दुखद घटना से अँधेरा-सा छा गया। इस घटना से हिन्दुस्तान भर घृणा व रोष से काँप उठा। उससे पता चलता था कि जातीय वैमनस्य हमारे लोगो को कितना नीचे गिरा सकता था। स्वामी श्रद्धानन्द को, जबकि वह बीमारी से चारपाई पर पड़े हुए थे, एक मज़हब के अन्धे ने कत्ल कर दिया। जिस पुरुष ने गोरखो की सगीनो के सामने अपनी छाती खोल दी थी और उनकी गोलियों का सामना किया था उसकी ऐसी मौत! करीब-करीब आठ बरस पहले इसी आर्यसमाजी नेता ने दिल्ली की विशाल जामा मसजिद की वेदी पर खड़े होकर हिन्दुओ और मुसलमानो की एक बहुत बड़ी जमात को एकता का और हिन्दुस्तान की आजादी का उपदेश दिया था। उस विशाल भीड़ ने 'हिन्दू-मुसलमानो की जय' के शोर से उनका स्वागत किया था और मसजिद से बाहर

गलियो मे उन्होने उस ध्वनि को अपने खून की एक शामिल मुहर लगादी थी। और अब अपने ही देश-भाई द्वारा मारे जाकर उनके प्राण-पखेरू उड गये! हत्यारा यह समझता था कि वह एक ऐसा अच्छा काम कर रहा है जो उसे बहिश्त को ले जायगा!

विशुद्ध शारीरिक साहस का, किसी भी अच्छे काम मे शारीरिक तकलीफ सहने और मौत तक की परवाह न करनेवाली हिम्मत का मै हमेशा से प्रशसक रहा हूँ। मेरा खयाल है कि हममे से ज्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ करते है। स्वामी श्रद्धानन्द मे इस निडरता की मात्रा आश्चर्यजनक थी। लम्बा कद, भव्यमूर्ति, सन्यासी के वेश मे बहुत उमर हो जाने पर भी बिलकुल सीधी चमकती हुई ऑखे और चेहरे पर कभी-कभी दूसरो की कमजोरियो पर आनेवाली चिड-चिडाहट या गुस्से की छाया का गुजरना, मै इस सजीव तस्वीर को कैसे भूल सकता हूँ? अक्सर वह मेरी ऑखो के सामने आ जाती है।

: २३ :

ब्रसेल्स में पीड़ितों की सभा

१९२६ के अखीर मे मैं इत्तिफाक से वर्लिन मे था और वही मुझे यह मालूम हुआ कि जल्दी ही ब्रसेल्स शहर मे पददलित कौमो की एक कान्फ्रेन्स होनेवाली है। यह खयाल मुझे बहुत पसन्द आया और मैंने घर यानी हिन्दुस्तान को लिखा कि काग्रेस को ब्रसेल्स-काँग्रेस मे हिस्सा लेना चाहिए। काग्रेस ने मेरी यह बात पसन्द की और मुझे ब्रसेल्स-कान्फ्रेन्स के लिए हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय महासभा का प्रतिनिधि बना दिया गया।

ब्रसेल्स की यह काग्रेस १९२७ की फरवरी के शुरू मे हुई। मुझे पता नही कि यह खयाल पहले-पहल किसको सूझा? उन दिनो वर्लिन एक ऐसा केन्द्र था जो देशनिकाले हुए राजनैतिक लोगो और दूसरे मुल्को के उग्र विचार के लोगो को अपनी तरफ खीचता था। इस मामले मे वर्लिन धीरे-धीरे पेरिस के बराबर पहुँच रहा था। वहाँ कम्यूनिस्ट दल भी काफी मजबूत था। पददलित कौमो मे आपस मे तथा इन कौमों में और मजदूर उग्रदलो मे एक-दूसरे के साथ मिलकर सयुक्त रूप से कुछ काम करने का खयाल उन दिनो लोगो मे फैला हुआ था। लोग अधिकाधिक यह महसूस करते जाते थे कि साम्राज्यवाद नाम की चीज के खिलाफ आजादी की लडाई सबके लिए एक-सी है, इसलिए यह मुनासिब मालूम होता है कि इस लडाई की बाबत मिलकर गौर किया जाय और जहाँ हो सके वहाँ मिलकर कम करने की कोशिश भी की जाये। इग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली वगैरा जिन राष्ट्रो के पास उपनिवेश थे वे कुदरतन इस बात के खिलाफ थे कि ऐसी कोई कोशिश की जाय। लेकिन लडाई के बाद जर्मनी के पास तो उपनिवेश रहे नही थे, इसलिए जर्मनी सरकार दूसरी ताकतों के उपनिवेशो और अधीन देशो मे आन्दोलन की इस बढती को एक हितैषी की तटस्थता से देखती थी।

यह उन कारणो मे से एक था जिसने बर्लिन को एक केन्द्र बना दिया था। उन लोगों मे सबसे ज्यादा मशहूर व क्रियाशील वे चीनी थे जो वहाँकी क्योमिनताग-पार्टी के बाये दल (गरमदल) के थे। यह पार्टी उन दिनो चीन मे तूफ़ान की तरह जीतती जा रही थी और उसकी बेरोक गति के आगे पुराने ज़माने के जागीरदारी तत्व जमीन मे लुढकते नजर आ रहे थे। चीन के इस नये चमत्कार के सामने साम्राज्यवादी ताकतों ने भी अपनी तानाशाही आदतो और धौंस-डपट को छोड़ दिया था। ऐसा मालूम पडता था कि अब चीन के एके और उसकी आजादी के मसले के हल हो जाने मे ज्यादा देर नही लगेगी क्योमिनताग ख़ुशी से फूलकर कुप्पा हो गयी थी। लेकिन उसके सामने जो मुश्किले आने को थी उन्हे भी वह जानती थी। इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार द्वारा अपनी ताकत बढाना चाहती थी। शायद इस पार्टी के बाये दल के लोगो ने ही, जो दूसरे मुल्को के कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते लोगो से मिलकर काम करते थे, इस तरह के प्रचार पर जोर दिया था, जिससे वे दूसरे मुल्को मे चीन की राष्ट्रीय परिस्थिति को और घर पर पार्टी में अपनी स्थिति को मजबूत कर सके। उस वक्त पार्टी ऐसे दो या तीन परस्पर प्रतिस्पर्धी और कट्टर-शत्रु-दलो मे नही बँट गयी थी। उस वक्त वह बाहर से देखनेवाले सब लोगो को सयुक्त सामना करती हुई मालूम होती थी।

इसलिए क्योमिनताग के यूरोपियन प्रतिनिधियो ने पद-दलित कौमो की कान्फ्रेस करने के खयाल का स्वागत किया, शायद उन्होने ही कुछ और लोगो से मिलकर इस खयाल को पहले-पहल जन्म दिया। कुछ कम्यूनिस्ट और कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते लोग भी शुरू से इस खयाल के समर्थक थे, लेकिन कुल मिलाकर कम्यूनिस्ट लोग कान्फ्रेस के मामले मे अलग, पीछे ही रहे। लेटिन अमेरिका[1] से भी क्रियात्मक मदद और

---

[1] लैटिन अमेरिका अर्थात् मैक्सिको, ब्राजील, बोलिविया, इत्यादि अमेरिकन प्रदेश—जहाँ लैटिन भाषा से निकली भाषायें बोलनेवाले

सहायता आयी, क्योकि उन दिनो वह सयुक्तराज्य के आर्थिक साम्राज्य-वाद के मारे कुडमुडा रहा था। मैक्सिको की नीति उग्र थी। उसका सभापति भी उग्र दल का था। वह इस बात के लिए उत्सुक था कि सयुक्तराज्य के खिलाफ लेटिन अमेरिका के गुट्ट के रहनुमाई करे। इसलिए मैक्सिको ने ब्रसेल्स काग्रेस मे बडी दिलचस्पी ली। वहाँकी सरकार एक सरकार की हैसियत से तो काग्रेस मे हिस्सा नही ले सकती थी, लेकिन उसने अपने एक प्रमुख राजनीतिज्ञ को भेजा कि वहाँ वह एक तटस्थ दर्शक की हैसियत से मौजूद रहे।

ब्रसेल्स मे जावा, हिन्दी-चीन, फिलस्तीन, सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका के अरब और अफ्रीका के हब्शी लोगों की कौमी सस्थाओ के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इनके अलावा बहुत-से मजदूरों के उग्रदलो ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। बहुत-से ऐसे लोग भी, जिन्होने एक युग से मजदूरो की लडाइयो मे खास हिस्सा लिया था, वहाँ मौजूद थे। कम्यूनिस्ट भी वहाँ थे। उन्होने काग्रेस की कार्रवाई मे काफी हिस्सा लिया, लेकिन वे वहाँ कम्यूनिस्टो की हैसियत से न आकर कई मजदूर-सघ या वैसी ही सस्थाओ के प्रतिनिधि होकर आये थे।

जार्ज लेन्सबरी उस काग्रेस के सभापति चुने गये और उन्होने बहुत ही जोरदार भाषण दिया। यह बात इस बात का सबूत थी कि काग्रेस कोई ऐसी-वैसी सभा न थी और न उसने अपना भाग्य ही कम्यूनिस्टो के साथ जोड दिया था। लेकिन इस बात मे कोई शक नही कि वहाँ एकत्र लोग कम्यूनिस्टो के प्रति भिन्न भाव रखते थे और यद्यपि उनमे और कम्यूनिस्टो मे कई बातो मे समझौता भले ही न हो सकता हो फिर भी काम करने के लिए कई बाते ऐसी भी थी जिनमे मिलकर काम किया जा सकता था।

वहाँ जो स्थायी सस्था साम्राज्यवाद-विरोधी लीग कायम की गयी

लोग योरप से जाकर बसे है, जैसे—फ्रेंच, इटेलियन, स्पेनिश, पोर्च्युगीज लोग। —अनु०

उसका भी सभापतित्व मि० लेन्सबरी ने स्वीकार कर लिया, लेकिन फौरन ही उन्हें अपनी इस जल्दबाजी पर पछताना पडा, या शायद ब्रिटिश मजदूर-दल के उनके साथियो ने उनकी इस बात को पसन्द नही किया। उन दिनो यह मजदूर-दल 'सम्राट का विरोधी दल' था और जल्दी ही बढकर 'सम्राट-सरकार' बनने को था। तब भला मत्रि-मण्डल के भावी सदस्य खतरनाक और क्रान्तिकारी राजनीति मे कैसे पैर फँसा सकते थे? मि० लेन्सबरी ने पहले तो काम मे बहुत मशगूल रहने का बहाना करके लीग की सदारत से इस्तीफा दे दिया, बाद को उन्होंने उसकी मेम्बरी भी छोड दी। मुझे इस बात से बहुत अफसोस हुआ कि जिस शख्स के व्याख्यान की दो-तीन महीने पहले मैंने इतनी तारीफ की थी उसमे यकायक ऐसी तब्दीली हो गयी।

कुछ भी हो, काफी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के सरक्षक है। उसमे एक तो मि० आइस्टीन[1] है और दूसरी श्रीमती सनयातसेन,[2] और मेरा खयाल है कि रोमा रोलाँ[3] भी। कई महीने बाद आइन्स्टीन ने इस्तीफा दे दिया, क्योकि फिलस्तीन मे अरबो और यहूदियो के जो झगडे हो रहे थे उनमे लीग ने अरबो का पक्ष लिया था और यह बात उन्हे नापसन्द थी।

ब्रसेल्स-काग्रेस के बाद लीग की कमिटियो की कई मीटिगे वक्तन-फवक्तन भिन्न-भिन्न जगहो मे हुई। इन सबसे मुझे अधीनस्थ और औपनिवेशिक प्रदेशो की कुछ समस्याओ को समझने मे बडी मदद मिली। उनकी वजह से पश्चिमी ससार मे मजदूरो के जो भीतरी सघर्ष चल रहे है उनकी तह तक पहुँचने मे भी मुझे आसानी हुई। उनकी बाबत मैंने बहुत-कुछ पढा था, और कुछ तो मै पहले से ही जानता था, लेकिन मेरे उस ज्ञान के पीछे कोई असलियत नही थी, क्योकि उनसे मेरा कोई जाती

---

१. सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक, जो यहूदी होने के कारण अमेरिका में देश निकाला भोग रहे हैं। २. स्वतन्त्र चीन के प्रथम प्रमुख सनयात सेन की विधवा पत्नी। ३ सुप्रसिद्ध साम्राज्य-विरोधी फ्रेंच विद्वान्। अनु०

ताल्लुक नही पडा था। लेकिन अब मै उनके सम्पर्क मे आया और कभी-कभी मुझे उन मसलो का भी सामना करना पडा जो इन भीतरी सघर्पो मे प्रकट होते है। दूसरी[1] इटरनेशनल और तीसरी इटरनेशनल नाम की मजदूरो की जो दो दुनिया है उनमे मेरी हमदर्दी तीसरी से थी। लड़ाई से लेकर अवतक दूसरी इटरनेशनल ने जो कुछ किया उससे मुझे अरुचि हो गयी और हमको तो हिन्दुस्तान मे इस इटरनेशनल के सबसे जबरदस्त हिमायती ब्रिटिश मजदूर दल के तरीको का खुद तजुर्बा हो चुका था। इसलिए लाज़िमी तौर पर कम्यूनिज्म की बावत मेरा खयाल अच्छा हो गया, क्योंकि उसमे कितने भी ऐब क्यों न हो, कम्यूनिस्ट कम-से-कम सम्राज्यवादी और पाखण्डी तो न थे। कम्यूनिज्म से मेरा यह सम्बन्ध उसके सिद्धान्तो की वजह से नही था, क्योंकि मै कम्यूनिज्म की कई सूक्ष्म बातो की बावत ज्यादा नही जानता था। उस वक्त उससे मेरी जान-पहचान सिर्फ उसकी मोटी-मोटी बातो तक ही महदूद थी। ये बाते और वे भारी-भारी परिवर्तन जो रूस मे हो रहे थे मुझे आकर्पित कर रहे थे। लेकिन अक्सर कम्यूनिस्टो से मै, उनके डिक्टेटराना ढग तथा उनके नये लडाकू और कुछ हदतक अशिष्ट तरीके से और जो लोग उनसे सहमत न हो उन सबकी बुराई करने की उनकी आदतों की

---

१. अखिल यूरप के श्रमजीवियो के संघ के ये नाम है। पहला संघ जिसे मार्क्स ने स्थापित किया था नाममात्र का था। दूसरा संघ १९८९ में स्थापित हुआ उसमें जोरदार प्रस्ताव होते, लेकिन उनपर अमल शायद ही होता। उसने इस आशय के प्रस्ताव किये थे कि पूँजी-पति राज्यतन्त्र में अथवा युद्ध में कभी भाग न लिया जाय। ये १९१४-१८ के महायद्ध में यो ही धरे रह गये। तब १९१९ में बोल्शेविक लोगों ने तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी सघ स्थापित किया। इस संघ की कार्यप्रणाली क्रान्तिकारी है। इसका प्रधान उद्देश है—ससार से पूँजी-वाद का नाश और श्रमजीवियों की डिक्टेटरशिप की स्थापना करना। दूसरा संघ सुधारक और यह क्रान्तिकारी माना जाता है। —अनु०

उन्हे बताया, कि मै आपसे ब्रसेल्स-काग्रेस मे नीग्रो प्रतिनिधि की हैसियत से मिला था, उस वक्त मैने अपना चेहरा और अपने हाथ वगैरा सब बिलकुल काले कर लिये थे।

साम्राज्य-विरोधी-सघ की एक बैठक कोलोन मे हुई और मै भी उसमे शामिल हुआ। जब कमिटी की बैठक खत्म हो गयी तब हमसे यह कहा गया कि, चलो, नजदीक ही डुसेल्डॉर्फ में सेक्को-वेन्जेटी[1] के सिल-सिले मे जो जलसा हो रहा है उसमे चले। जब हम उस सभा से वापस आ रहे थे तब हमसे कहा गया कि पुलिस को अपने-अपने पास-पोर्ट दिखाइए। हममे से ज्यादातर लोगो के पास अपना-अपना पासपोर्ट था, लेकिन मै अपना पासपोर्ट कोलोन के होटल मे छोड गया था। क्योंकि हम लोग डुसेल्डॉर्फ तो सिर्फ कुछ घण्टों के लिए ही आये। इसपर मुझे पुलिस-थाने मे ले जाया गया। मेरी खुशकिस्मती से इस मुसीबत मे मुझे दो साथी भी मिल गये। वे थे एक अग्रेज और उनकी बीबी। ये दोनो भी अपने पासपोर्ट कोलोन मे छोड आये थे। हमे वहाँ कोई एक घण्टा ठहरना पडा होगा, इस बीच मे शायद फोन से सब बाते दर्याफ्त करली गयी। इसके बाद पुलिसवालो ने हमे जाने देने की महरबानी की।

पिछले सालो मे यह साम्राज्य-विरोधी-लीग कम्यूनिज्म की तरफ ज्यादा झुक गयी। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उसने किसी वक्त अपनी अलग हस्ती को नही खोया। मै तो उसके साथ अपना सम्पर्क दूर से पत्रो द्वारा ही रख सकता था। १९३१ मे काग्रेस और सरकार के बीच दिल्ली मे जो समझौता हुआ और उसमे मैने जो हिस्सा लिया उसकी वजह से यह लीग बहुत ज्यादा नाराज हो गई और उसने मुझे बिलकुल निकाल बाहर किया, या ठीक-ठीक यो कहिए कि उसने मुझे निकालने के लिए एक प्रस्ताव भी पास किया। मै यह मजूर करता हूँ

---

१. दो इटालियन मजदूर कार्यकर्त्ता जिन्हे अमेरिकन सरकार ने झूठे मुकदमे चलाकर फाँसी की सजा दी थी। सारे मजूर-संसार में इस घटना से भारी खलबली मची थी।

कि मैंने उसे नाराज़ होने का काफी मसाला दिया था, लेकिन फिर भी हव मुझे स्थिति साफ करने का कुछ मौका दे सकती थी।

१९२७ की गर्मियो मे मेरे पिताजी यूरप आये। मै उनसे वेनिस में मिला और उसके वाद कुछ महीनो तक हम लोग अक्सर साथ-साथ रहे। हम सव लोगो ने—मेरे पिताजी, पत्नी, छोटी वहन और मैंने—नवम्बर मे थोड़े दिनों के लिए मास्को की यात्रा की। हम लोग मास्को मे वहुत ही थोडे दिनो के लिए, सिर्फ तीन-चार दिन के ही लिए गये थे; क्योकि हमने यकायक वहाँ जाना तय किया था। लेकिन हमें इस वात की खुशी है कि हम वहाँ गये; क्योकि उसकी इतनी सी झाँकी भी काफी थी। इतनी जल्दी मे किया गया वह दौरा हमे नये रूस की वावत न तो ज्यादा वता ही सकता था न उसने वताया ही, लेकिन उसने हमे अपने अध्ययन के लिए एक वुनियाद दे दी। पिताजी के लिए ये सव सोवियट और समष्टिवादी विचार विलकुल नये थे। उनकी तमाम तालीम कानूनी और विधान-सम्वन्धी थी और वे उस ढाँचे मे से आसानी से नही निकल सकते थे। लेकिन मास्को मे उन्होने जो कुछ देखा उसका उनके ऊपर निश्चित रूप से असर पडा था।

जव पहले-पहल साइमन-कमीशन की वावत ऐलान हुआ तव हम लोग मास्को मे ही थे। हमने उसकी वावत पहले-पहल मास्को के एक अखवार मे पढा। इसके कुछ दिनो वाद पिताजी लन्दन मे—प्रिवी-कौंसिल मे—हिन्दुस्तान के एक मामले की अपील मे सर जान साइमन के साथ-साथ वकील थे। यह एक पुरानी ज़मींदारी का मुकदमा था जिसमे शुरू-शुरू मे वहुत साल पहले मैंने भी पैरवी की थी। उस मुकदमे मे मुझे कुछ दिलचस्पी नही थी। लेकिन एक मर्तवा मैं सर जान साइमन के कहने पर पिताजी के साथ-साथ कुछ सलाह-मशवरे में शामिल होने के लिए साइमन साहव के चेम्वर मे गया था।

१९२७ का साल भी खत्म हो रहा था, और यूरप मे हम वहुत ज्यादा ठहर चुके थे। अगर पिताजी यूरप न आते तो शायद हम पहले ही घर लौट गये होते। हमारा एक इरादा यह भी था कि घर लौटते

वक्त कुछ समय दक्षिण-पूर्वी यूरप, टर्की और मिस्र में भी बितावे। लेकिन उस वक्त उसके लिए समय नहीं रहा था और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि कांग्रेस का जो अगला जलसा मदरास में बड़े दिन की छुट्टियों में होने को था उसमें शामिल हो सकूँ। इसलिए मैं, मेरी पत्नी, मेरी बहन व मेरी पुत्री दिसम्बर के शुरू में मारसेल्स से कोलम्बो के लिए रवाना हो गये। पिताजी तीन महीने और यूरप में ही रहे।

: २४ :

हिन्दुस्तान में आने पर फिर राजनीति में

यूरप से मै बहुत अच्छी शारीरिक और मानसिक हालत लेकर लौट रहा था। मेरी पत्नी अभी पूरी तरह चगी तो नही हुई थी, लेकिन वह पहले से बहुत बेहतर थी। इसलिए मुझे उनकी तरफ से किसी किस्म की फिक्र नही रही थी। मै ऐसा महसूस करता था कि मुझमें शक्ति और जीवन लबालब भर गया है, और इससे पेश्तर भीतरी द्वन्द्व और मनसूबो के बिगड जाने का जो खयाल मुझे अक्सर परेशान करता रहता था, वह इस वक्त न रहा था। मेरा दृष्टि-बिन्दु व्यापक हो गया था और बजात खुद राष्ट्रीयता का मकसद मुझे निश्चित रूप से तग और नाकाफी मालूम होता था। इसमे कोई शक नही कि राजनैतिक स्वतन्त्रता, लाजिमी थी, लेकिन वह तो सही दिशा मे कदमभर है। जब तक सामाजिक आजादी न होगी और समाज का तथा राज का बनाव समाजवादी न होगा तबतक न तो मुल्क ही ज्यादा तरक्की कर सकता है, न उसमे रहनेवाले लोग ही। मै यह महसूस करने लगा कि मुझे दुनिया के मामलात ज्यादा साफ दिखायी दे रहे है। आज-कल की दुनिया को, जोकि हर वक्त बदलती रहती है, मैने अच्छी तरह समझ लिया है। चालू मामलो और राजनीति के बारे मे ही नही, लेकिन सास्कृतिक और वैज्ञानिक तथा और भी ऐसे विषयो पर जिनमे मेरी दिलचस्पी थी, मैने खूब पढा। यूरप और अमेरिका मे जो बडे-बडे राजनैतिक, आर्थिक और सास्कृतिक परिवर्तन हो रहे थे, उनके अध्ययन मे मुझे बडा लुत्फ आता था। यद्यपि सोवियट रूस के कई पहलू अच्छे नही मालूम होते थे, फिर भी वह मुझे जोरो से अपनी ओर खीचता था और ऐसा मालूम होता था कि वह दुनिया को आशा का सन्देश दे रहा है। १९२५ के आसपास यूरप एक तरीके से एक जगह जमकर बैठने की कोशिश कर रहा था। महान् आर्थिक सकट तो उसके बाद ही आने को

था। लेकिन मै वहाँ से यह विश्वास लेकर लौटा कि जमकर बैठने की यह कोशिश तो ऊपरी है और निकट-भविष्य मे यूरप मे और दुनिया मे भारी उथल-पुथल होने वाली है, तथा बडे-बडे विस्फोट होनेवाले है।

मुझे फौरन ही सबसे पहले करने का काम यह दिखायी देता था कि हम देश को इन विश्वव्यापी घटनाओ के लिए शिक्षित व उद्यत करे, उसे उनके लिए जहाँतक हमसे हो सके वहाँतक तैयार रखे। यह तैयारी ज्यादातर विचारो की तैयारी थी, जिसमे सबसे पहली यह थी कि हमारी राजनैतिक आजादी के मकसद के बारे मे किसीको कुछ शक नही होना चाहिए। यह बात तो सबको साफ-साफ समझ लेनी चाहिए कि हमारे लिए एकमात्र राजनैतिक ध्येय यही हो सकता है और औपनिवेशिक-पद के बारे मे जो ये अस्पष्ट और गोलमोल बाते की जाती है उससे बिलकुल जुदा है। इसके अलावा सामाजिक ध्येय भी था। मैने महसूस किया कि काग्रेस से यह उम्मीद करना कि अभी इस तरफ वह ज्यादा दूर जा सकेगी बहुत ज्यादा होगा। काग्रेस तो महज एक राजनैतिक राष्ट्रीय सस्था है जिसे दूसरे तरीको पर सोचने का अभ्यास न था। लेकिन फिर भी, इस दिशा मे भी शुरुआत की जा सकती है। काग्रेस से बाहर मजदूर-मण्डलो में और नौजवानों मे खयालात काग्रेस से ज्यादा दूर तक फैलाये जा सकते थे। इसके लिए मै अपनेको काग्रेस के दफ्तर के काम से अलग रखना चाहता था। इसके अलावा मेरे मन मे कुछ-कुछ यह खयाल भी था कि मै कुछ महीने सुदूर भीतर के गाँवो मे रहकर उनकी हालत का अध्ययन करने मे बिताऊँ। लेकिन होनहार ऐसा न था और घटनाओ ने तय कर लिया था कि वे मुझे काग्रेस की राजनीति मे घसीट लेगी।

हम लोगो के मदरास में पहुँचने के बाद फौरन ही मै काग्रेस के भँवर में फँस गया। कार्य-समिति के सामने मैने कई प्रस्ताव पेश किये। आजादी के बारे मे, लडाई के खतरे के बारे मे, साम्राज्य-विरोधी सघ के बारे मे और ऐसे ही कुछ और प्रस्ताव थे। करीब-करीब ये सब प्रस्ताव मजूर हुए और वे कार्य-समिति के सरकारी प्रस्ताव बना लिये

गये। काग्रेस के खुले अधिवेशन मे भी वे प्रस्ताव मुझे ही पेश करने पडे और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सब-के-सब करीब-करीब एक राय से पास हो गये। आजादी के प्रस्ताव का तो मिसेज एनी बेसेण्ट तक ने समर्थन किया। इस चारों ओर के समर्थन से मुझे बडी खुशी हुई, लेकिन मेरे दिल मे यह खयाल बेचैनी पैदा करता था कि या तो लोगो ने उन प्रस्तावो को समझा ही नही है कि वे क्या है या उन्होने उनके मानी तोड-मरोडकर बिलकुल दूसरे लगा लिये है। काग्रेस के बाद फौरन ही आजादी के प्रस्ताव के बारे मे जो बहस उठ खडी हुई उससे यह ज़ाहिर हो गया कि असल मे यही बात थी।

मेरे ये प्रस्ताव काग्रेस के हस्वमामूल प्रस्तावो से कुछ भिन्न थे। वे एक नया दृष्टिकोण जाहिर करते थे। इसमे शक नही कि बहुत-से काग्रेसी उन्हे पसन्द करते थे, कुछ लोग कुछ हद तक उन्हे नापसन्द करते थे। लेकिन इतना नही कि उनका विरोध करे। शायद ये पिछले लोग यह समझते थे कि प्रस्ताव निरे तात्विक है, उनके मजूर होने न होने से कोई खास फर्क नही पडता, और उनसे पिण्ड छुडाने का सबसे अच्छा तरीका यही है कि उनको मजूर कर दिया जाय और और ज्यादा महत्व-पूर्ण काम की तरफ ध्यान दिया जाय। इस तरह उन दिनो आजादी का प्रस्ताव काग्रेस मे उठनेवाली एक सजीव और अदम्य प्रेरणा को व्यक्त नही करता था जैसा कि उसने एक या दो साल बाद किया। उस वक्त तो वह एक बहु-व्यापी और बढते जानेवाले भाव को ही प्रकट करता था।

गाधीजी उन दिनो मदरास मे ही थे। वह काग्रेस के खुले अधिवेशन मे आते थे, लेकिन उन्होने काग्रेस के नीति-निर्माण मे कोई हिस्सा नही लिया। वह जिस कार्य-समिति के मेम्बर थे। उसकी बैठको तक मे भी शामिल न हुए। जबसे काग्रेस मे स्वराज-पार्टी का जोर हुआ। तबसे काग्रेस के प्रति उनका अपना राजनैतिक रुख यही रहता था। लेकिन हा, उनसे समय-समय पर सलाह ली जाती थी और कोई भी महत्वपूर्ण बात उनको बताये बिना नही की जाती थी। मुझे नही मालम कि मैने काग्रेस मे जो

प्रस्ताव पेश किये उन्हे वह कहाँ तक पसन्द करते थे ? मेरा झुकाव तो इस खयाल की तरफ है कि वे उन्हे नापसन्द करते थे—उन प्रस्तावों मे जो कुछ कहा गया था उसकी वजह से उतना नही जितना उनकी आम प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की वजह से। लेकिन उन्होने किसी भी अवसर पर उनकी नुक्ताचीनी नही की। मेरे पिताजी तो उन दिनो यूरप ही मे थे।

आजादी के प्रस्ताव की अवास्तविकता तो काग्रेस की उसी बैठक मे उसी वक्त जाहिर हो गयी थी जबकि साइमन कमीशन की निन्दा और उसके वहिष्कार के लिए अपील करने सम्बन्धी दूसरे प्रस्ताव पर विचार हुआ। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप यह तजवीज की गई कि सब दलो की एक कान्फ्रेस बुलाई जाय, जो हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनावे। यह जाहिर था कि जिन माडरेट दलों का सहयोग लेने की कोशिश की गयी थी, वे आजादी की भाषा मे कभी विचार नही कर सकते थे। वे तो ज्यादा-से-ज्यादा उपनिवेशो के-से पद के किसी स्वरूप तक जा सकते थे।

मुझे फिर काग्रेस का सेक्रेटरी होना पडा। इसके कुछ कारण तो व्यक्तिगत थे। उस साल के प्रेसिडेट डाक्टर अन्सारी मेरे पुराने और प्यारे दोस्त थे। उनकी ख्वाहिश थी कि मै ही सेक्रेटरी बनूँ और मुझे भी यह ख्याल था कि जब मेरे इतने प्रस्ताव पास हुए है तब मेरा फर्ज है कि मै यह देख सकूँ कि उनके मुताबिक काम हो। यह सच है कि सर्वदल-सम्मेलन के सम्बन्ध मे जो प्रस्ताव हुआ था उसने कुछ हद तक मेरे प्रस्तावों के असर को मार दिया था, फिर भी बहुत कुछ रह गया था। इसके अलावा मेरे मन्त्रि-पद मजूर कर लेने का असली कारण तो यह डर था कि काग्रेस सब दलो की कान्फ्रेंस के जरिए या दूसरी वजह से कही माडरेट स्थिति की तरफ, राजीनामे और समझौते की तरफ, न झुक जाय। उन दिनों ऐसा मालूम होता था कि काग्रेस दुविधा मे पडी हुई है, कभी वह उग्रता की तरफ बढती तो कभी नरमी की तरफ हटती। मै चाहता था कि जहाँतक मुझसे हो सके वहाँतक इस दुविधा मे झूलती

हुई कांग्रेस को नरमी की तरफ न झुकने दूँ और उसे आजादी के ध्येय पर उठाये रहूँ।

कांग्रेस के सालाना जलसों के मौकों पर बहुत-से दूसरे जलसे भी हमेशा हुआ करते हैं। मदरास में इस तरह का एक जलसा 'रिपब्लिकन कान्फ्रेंस' नाम का हुआ। इसका पहला (व आखिरी) जलसा उसी साल वहीं हुआ। मुझसे कहा गया कि मैं उसका सभापति बन जाऊँ। मुझे यह खयाल पसन्द आया, क्योंकि मैं अपने को रिपब्लिकन (प्रजातन्त्रवादी) समझता हूँ। लेकिन मुझे झिझक इस बात की थी कि मुझे यह नहीं मालूम था कि इस कान्फ्रेन्स को करानेवाले साहब कौन हैं और मैं यों ही बरसाती मेढकों की तरह पैदा होनेवाली चीजों में अपना सम्बन्ध नहीं करना चाहता था। अखीर में जाकर मैं उसका सभापति बना। लेकिन बाद को मुझे इसके लिए पछताना पड़ा, क्योंकि ऐसे बहुत-से मामलों की तरह यह रिपब्लिकन कान्फ्रेन्स भी मरी हुई पैदा होनेवाली साबित हुई। कई महीनों तक मैंने इस बात की कोशिश की कि उसने जो प्रस्ताव पास किये थे उनकी प्रतियाँ मुझे मिल जायें। लेकिन मेरी सब कोशिश बेकार गयी। यह देखकर हैरत होती है कि हमारे कितने ही लोग नयी-नयी चीजें कायम करना पसन्द करते हैं और फिर उनकी तरफ से उदासीन होकर उन्हें उनके भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। इस समालोचना में बहुत-कुछ सचाई है कि हम लोग किसी काम को उठाकर उसे पूरा करना, उसपर डटे रहना, नहीं जानते।

कांग्रेस के बाद हम लोग मदरास से रवाना नहीं हो पाये थे कि खबर मिली कि दिल्ली में हकीम अजमलखाँ की मृत्यु हो गयी। कांग्रेस के भूतपूर्व सभापति की हैसियत से वह उसके बुजुर्ग राजनीतिज्ञों में से थे। लेकिन वह उसके अलावा कुछ और भी थे। कांग्रेस के नेताओं में उनकी अपनी खास जगह थी। यद्यपि जिस पुराने कट्टर तरीके से उनका लालन-पालन हुआ, उसमें नयेपन का तो कहीं पता तक न था और मुगलों के के जमाने की शाही दिल्ली की तहजीब में वह सराबोर थे, फिर भी उनकी शराफत को देखकर, उनकी आहिस्ता-आहिस्ता बातें सुनकर, और

उनके मजाकों को सुनकर तबीयत खुश हो जाती थी। अपने शिष्टाचार में वह पुराने जमाने के रईसों के नमूने थे। उनकी नजर और तौर-तरीके शाही थे। उनका चेहरा भी मुगल सम्राटों की मूर्त्तियों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। ऐसे शख्स मामूली तौर पर राजनीति की धक्का-मुक्की में शामिल नहीं होते और जबसे आन्दोलनकारियों की नयी नस्ल ने उन्हें परेशान करना शुरू किया तबसे हिन्दुस्तान में रहनेवाले अंग्रेज इस पुराने ढर्रे के लोगों की याद करके लम्बी साँसें लेते हैं। अपनी शुरू की जिन्दगी में हकीम अजमलखाँ का भी राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह हकीमों के एक नामी परिवार के मुखिया थे, इसलिए वह अपने पेशे में बहुत मशगूल रहते थे। लेकिन लड़ाई के पिछले सालों के जमाने की घटनाओं और उनके पुराने दोस्त और साथी डॉक्टर अन्सारी का असर उन्हें कांग्रेस की तरफ ढकेल रहा था। उसके बाद की घटनाओं ने, पंजाब के मार्शल-लॉ और खिलाफत के सवाल ने तो उनके दिल पर गहरा असर डाला और वह राजी-खुशी से गांधीजी के असहयोग के नये तरीके के हामी हो गये। कांग्रेस में अपने साथ वह एक निराला गुण तथा कई कीमती खूबियाँ लाये। वह पुराने और नये ढर्रे के लोगों के बीच दोनों को मिलानेवाली कड़ी बन गये, और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को पुराने ढर्रे के लोगों की मदद दिला दी। इस तरह उन्होंने नयों और पुरानों में एक तरह का मेल मिला दिया और आन्दोलन की आगे बढ़नेवाली टुकड़ी को ताकत और मजबूती पहुँचायी। हिन्दू और मुसलमानों को भी उन्होंने एक-दूसरे के बहुत नजदीक ला दिया, क्योंकि दोनों ही उनकी इज्जत करते थे और दोनों पर ही उनकी मिसाल का असर पड़ा था। गांधीजी के लिए तो वह एक ऐसे विश्वास-पात्र मित्र हो गये, जिनकी सलाह हिन्दू-मुसलमानों के मामले में उनके लिए 'ब्रह्म-वाक्य' थी। मेरे पिताजी और हकीमजी कुदरतन् एक-दूसरे के दोस्त हो गये।

पिछले साल हिन्दू-महासभा के कुछ नेताओं ने मुझपर यह इल्जाम लगाया था कि अपनी सदोष शिक्षा तथा फारसी संस्कृति के असर के

कारण मैं हिन्दुओ के भावो से अनभिज्ञ हूँ। मै किस सस्कृति से सम्पन्न हूँ या मेरे पास कोई सस्कृति है भी या नही, यह कहना मेरे लिए कुछ मुश्किल है। बदकिस्मती से फारसी जबान को तो मैं जानता भी नही। लेकिन यह सही है कि मेरे पिताजी हिन्दुस्तानी-फारसी सस्कृति की आबो-हवा मे बडे हुए थे। यह सस्कृति उत्तरी भारत को दिल्ली के पुराने दरबार से विरासत मे मिली थी और आज के इन बिगडे हुए दिनो मे भी दिल्ली और लखनऊ उनके खास केन्द्र है। कश्मीरी ब्राह्मणो में समय के अनुकूल हो जाने की अद्भुत शक्ति है। हिन्दुस्तान के मैदान मे आने पर जब उन्होने उन दिनों यह देखा कि ऐसी सस्कृति का बोलबाला है, तो उन्होने उसे अख्त्यार कर लिया और उनमे फारमी और उर्दू के भारी पण्डित पैदा हुए। उसके बाद उन्होने उतनी ही तेजी के साथ बढनेवाली व्यवस्था के भी अनुसार अपने को बदल लिया। जब अग्रेजी भापा का जानना और यूरोपियन सस्कृति के अशों को ग्रहण करना जरूरी हो गया तब उन्होंने इन्हे भी ग्रहण कर लिया। लेकिन अब भी हिन्दुस्तान मे कश्मीरियों मे फारसी के कई नामी विद्वान् है। इनमे से दो के नाम लिये जा सकते है, सर तेजबहादुर सप्रू और राजा नरेन्द्रनाथ।

इस तरह मेरे पिताजी और हकीमजी मे ऐमी बहुत-सी बाते थी जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती थी। इतना ही नही, उन्होने पुराने खानदानी रिश्ते भी ढूँढ निकाले। उन दोनो मे गहरी दोस्ती हो गयी। वे एक-दूसरे को 'भाई साहब' कहकर पुकारते थे। राजनीति तो उनके बहुत-से प्रेम-बन्धनो मे से सिर्फ एक और सबसे कम बन्धन था। अपनी घर-गृहस्थी की आदतो मे हकीमजी बहुत ही पुराने विचारो के थे। वह या उनके परिवार के लोग पुरानी आदतो को नही छोड सकते थे। उनके परिवार मे जैसा कडा परदा किया जाता था वैसा मैंने कभी कही नही देखा था। फिर भी हकीम साहब को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि जबतक किसी मुल्क की औरते अपनी आजादी हासिल न करले तबतक वह मुल्क हरगिज तरक्की नही कर सकता। मेरे सामने वह इस बात पर बहुत जोर देते थे और कहते थे कि टर्की की आजादी की लडाई मे वहाँकी

औरतो ने जो हिस्सा लिया है उसे मै बहुत ही काबिल-तारीफ समझता हूँ। उनका कहना था कि खास तौर पर टर्की की औरतो की बदौलत ही कमालपाशा को कामयाबी मिली।

हकीम अजमलखाँ की मौत से काग्रेस को भारी धक्का लगा। उसके मानी थे कि काग्रेस का एक सबसे ताकतवर मददगार जाता रहा। तबसे लेकर अबतक हम सब लोगो को दिल्ली जाने पर वहाँ किसी चीज़ की कमी मालूम होती है, क्योकि हमारी दिल्ली का हकीम साहब से और बल्लीमारान मे उनके मकान से बहुत गहरा सम्बन्ध था।

राजनैतिक दृष्टि से १९२८ का साल एक भरा-पूरा साल था। देशभर मे तरह-तरह की हलचलो की भरमार थी। ऐसा मालूम पडता था कि एक नयी प्रेरणा, एक नयी जिन्दगी जो तरह-तरह के सभी समूहों मे एक-सी मौजूद थी, लोगो को आगे की तरफ बढा रही है। जिन दिनो मैं देश से बाहर था शायद उन दिनो धीरे-धीरे यह तबदीली हो रही थी और मेरे लौटने पर मुझे वह बहुत बडी तबदीली मालूम हुई। १९२६ के शुरू मे हिन्दुस्तान पहले जैसा सुप्त और निष्कर्म बना हुआ था। शायद उस वक्त तक उसकी १९२१–२२ की मेहनत की थकान दूर नही हुई थी। १९२८ मे वह तरोताजा क्रियाशील और नयी शक्ति से पूर्ण है, इस बात का सबूत हर जगह मिलता था। कारखानो के मजदूरो मे भी और किसानो मे भी। मध्यमवर्ग के नौजवानो मे भी और आमतौर पर पढे-लिखे लोगो मे भी।

मजदूर-सघो की हलचल बहुत ज्यादा बढ गयी थी। सात-आठ साल पहले जो आल-इडिया ट्रेड-यूनियन काग्रेस कायम हुई थी वह एक मजबूत और प्रातिनिधिक जमात थी। न सिर्फ उसकी तादाद और उसके सगठन मे ही काफी तरक्की हुई थी, बल्कि उसके विचार भी ज्यादा लडाकू और ज्यादा गरम हो गये थे। हडताले अक्सर होती थी और मजदूरो मे वर्ग-चेतना जोर पकड रही थी। कपडे की मिलो और रेलो मे काम करनेवाले मजदूर सबसे ज्यादा सगठित थे और इनमे से भी सबसे ज्यादा मजबूत और सबसे ज्यादा सगठित सघ थे बम्बई की गिरनी-

कामगार-यूनियन और जी० आई० पी० रेलवे-यूनियन। मजदूरो के सगठन के बढने के साथ-साथ लाजिमी तौर पर पश्चिम से घरेलू लडाई-झगडो के बीज भी आये। हिन्दुस्तान के मजदूर-सघो की हलचल को कायम हुए देर न हुई कि वे आपस में होड करने और दुश्मनी रखनेवाले दलों मे बँट गये। कुछ लोग दूसरी इटरनेशनल के हामी थे, कुछ तीसरी इटरनेशनल के कायल। यानी एक दल का दृष्टिकोण नरमी की तरफ, सुधार-वादी, था और दूसरा दल वह था जो खुल्लम-खुल्ला क्रान्तिकारी था और आमूल परिवर्तन चाहता था। इन दोनो के बीच मे कई किस्म की राये थी, जिनमे मात्रा का भेद था, और जैसा कि आम जनता के सगठन मे होता है इसमे मौका-परस्त लोग भी आ घुसे थे।

किसान भी करवट बदल रहे थे। उनकी यह जाग्रति सयुक्तप्रान्त मे और खासतौर पर अवध मे दिखायी देती थी जहाँ अपने ऊपर होने-वाले अन्यायो का विरोध करने के लिए किसानो की बडी-बडी सभाये आये दिन होने लगी थी। लोग यह महसूस करने लगे थे कि अवध के जोत-सम्बन्धी जिस कानून ने किसानो को हीन-हयाती मौरूसी दी थी, और जिससे बहुत ज्यादा उम्मीद की जाती थी, उससे किसानो की दु खी जिन्दगी मे कोई फर्क नही पडा था। गुजरात के किसानो ने तो एक बडे पैमाने पर सघर्ष शुरू कर दिया, क्योकि गवर्नमेन्ट ने यह चाहा कि मालगुजारी बढा दी जाय। गुजरात मे किसान खुद अपनी जमीन के मालिक है, जहाँ सरकार सीधे किसानो से ताल्लुक रखती है। यह सघर्ष सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व मे हुआ बारडोली का सत्याग्रह था। इस लडाई में किसानो की बहादुरी के साथ विजय हुई, जिसे देखकर तमाम हिन्दुस्तान वाह-वाह करने लगा। बारडोली के किसानो को बहुत काफी कामयाबी मिली। लेकिन उनकी लड़ाई की असली कामयाबी तो इस बात मे थी कि उसने हिन्दुस्तान-भर के किसानो पर बडा अच्छा असर डाला। हिन्दुस्तान के किसानो के लिए बारडोली आशा, शक्ति और विजय का प्रतीक और चिन्ह हो गयी।

१९२८ के हिन्दुस्तान की एक और बहुत खास बात थी नौजवानो

के अन्दोलन की बढती । हर जगह युवक-सघ कायम हो रहे थे और युवक-कान्फ्रेसे की जा रही थी । ये सघ और कान्फ्रेन्स तरह-तरह के थे । कोई अर्द्ध-धार्मिक थे तो कोई क्रान्तिकारी विचारो और उनके शास्त्रो पर विचार करनेवाले । लेकिन उनकी उत्पत्ति कुछ भी हो, और उनका नियत्रण किसीके हाथ मे हो, युवको की ऐसी सभाये हमेशा अपने-आप आजकल की सजीव सामाजिक और आर्थिक समस्याओ पर विचार करने लगती थी और आम तौर पर उनका झुकाव यही था कि एकदम काया-पलट कर दिया जाय ।

महज राजनैतिक विचार से देखा जाय तो यह साल साइमन-कमीशन के बायकाट के लिए और (बायकाट के रचनात्मक-पहलू के नाम से पुकारे जानेवाले) सर्वदल-सम्मेलन के लिए मशहूर है । इस बायकाट मे नरम-दलवालो ने काग्रेस का साथ दिया और उसमे गजब की कामयाबी हुई । जहाँ-जहाँ कमीशन गया वहाँ-वहाँ विरोधी जन-समूहों ने "साइमन गो बैक" (साइमन लौट आओ) के नारे लगाकर उसका 'स्वागत' किया और इस तरह हिन्दुस्तान के तमाम लोगो की बहुत बडी तादाद न सिर्फ सर जॉन साइमन का नाम ही जान गयी बल्कि अग्रेजी के "गो बैक" ये दो शब्द भी उसे मालूम हो गये । बस, अग्रेजी के इन्ही दो शब्दो मे उनका ज्ञान खतम हो जाता है । ऐसा मालूम पडता है कि इन शब्दो से कमीशन के मेम्बरो के कान भकडते थे और अपनी उसी भडकन की वजह से वे चौक पडते थे । कहते है कि एक मर्त्तबा जब वे नयीदिल्ली के वेस्टर्न होटल मे ठहरे हुए थे तब उन्हे रात के अँधेरे मे 'साइमन गो बैक" का नारा सुनायी देने लगा । इस तरह रात मे भी पीछा किये जाने पर मेम्बर लोग बहुत चिढे, जबकि असल बात यह थी कि वह आवाज उन गीदडो की थी जो शाही राज-धानी के ऊजड प्रदेशो मे रहते है ।

विधान के खास-खास उसूलों के तय करने मे सर्व-दल-सम्मेलन को कुछ भी मुश्किल नही हुई । ये उसूल लोकतन्त्रीय पार्लमेन्टरी ढग के थे और कोई भी उनकी रूप-रेखा बना सकता था । असली मुश्किल और

एकमात्र कठिनाई तो साम्प्रदायिक या अल्पमतवाली कौमों के सवाल की वजह से पैदा हुई और चूँकि कान्फ्रेंस में भिन्न-भिन्न जातियों के तमाम कट्टर-से-कट्टर प्रतिनिधि थे उनमे किसी तरह का राजीनामा निहायत ही मुश्किल हो गया। असल में वह पुरानी और बेकार कान्फ्रेंसों की तरह ही थी। पिताजी जो उस वक्त यूरप से लौटे थे, उन्होंने इस सम्मेलन मे बड़ी दिलचस्पी ली। अन्त मे आखिरी तरकीब के तौर पर एक छोटी-सी कमिटी मुकर्रर कर दी गयी। पिताजी इस कमिटी के सभापति बनाये गये। इस कमिटी का काम था कि वह विधान का मसविदा तैयार करे और साम्प्रदायिक प्रश्न पर पूरी रिपोर्ट दे। इस कमिटी को लोग 'नेहरू-कमिटी' कहने लगे और कमिटी की रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से पुकारी जाने लगी। सर तेजबहादुर सप्रू भी इस कमिटी के मेम्बर थे, और वह उसकी रिपोर्ट के एक हिस्से के लिए जिम्मेदार भी थे।

मै इस कमिटी का मेम्बर नहीं था, लेकिन कांग्रेस के मन्त्री की हैसियत से मुझे इसके लिए बहुत काम करना पडा। मै बडे असमंजस मे था, क्योंकि मैं समझता था कि जब असली सवाल सत्ता को जीतने का हो तब तफसीलवार कागजी विधान तैयार करना बिलकुल बेकार बात है। मेरी दूसरी मुश्किल यह थी कि इस खिचडी कमिटी ने हमारा ध्येय लाजिमी तौर पर 'डोमीनियन स्टेटस' तक की ही महदूद कर दिया था, और दरअसल तो वह ध्येय इससे भी कम था। मेरी नजर मे तो कमिटी की असली खासियत इस बात मे थी कि वह साम्प्रदायिक उलझन मे से निकलने का कोई रास्ता ढूँढ निकाले। मुझे यह उम्मीद नहीं थी कि किसी पैक्ट या समझौते द्वारा यह सवाल हमेशा के लिए हल हो जायगा। यह सवाल हल तो तभी हो सकेगा जबकि लोगों का ध्यान इधर से हटकर सामाजिक और आर्थिक मसलो की तरफ लग जाय। लेकिन इस बात की सम्भावना थी कि अगर दोनों तरफ के लोगों की काफी तादाद थोड़े वक्त के लिए भी कोई पैक्ट करले तो हालत कुछ सुधर जाती और लोगों का ध्यान दूसरे मसलों की तरफ लग जाता। इसलिए

मैंने कमिटी के काम मे रोडे अटकाने के बजाय उसकी जितनी मदद मैं कर सकता था उतनी मदद की।

एक बार तो यह मालूम पडा कि अब कामयाबी मिली। सिर्फ दो-तीन बाते तय करने को रह गयी थी और इनमे असली महत्त्वपूर्ण सवाल पजाब का था, जहाँ हिन्दू-मुस्लिम और सिक्खो का तिकोना तनाव था। कमिटी ने अपनी रिपोर्ट मे पजाब के सवाल पर बिलकुल नये ढग से गौर किया और उसने इस मामले मे जो सिफारिशे की उनकी पुष्टि जन-सख्या के बँटवारे सम्बन्धी कुछ नये अको से की। लेकिन यह सब बिल्कुल बेकार था। दोनो तरफ डर और शक का राज रहा और दोनो मे जो थोडा-सा फर्क रह गया था उसे पूरा करने के लिए दो-एक कदम आगे तक नही बढा गया।

अपनी कमिटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सर्व-दल सम्मेलन लखनऊ मे हुआ। इसमे हम लोग फिर एक दुविधा मे पड गये, क्योंकि इधर तो हम यह चाहते थे कि हमारी वजह से साम्प्रदायिक सवाल के हल होने मे किसी किस्म की अडचन न पडे, बशर्ते कि वह सवाल हल हो सकता हो और उधर हम इस बातके लिए तैयार न थे कि आजादी के सवाल पर झुक जायँ। हमने अर्ज किया कि सम्मेलन इस सवाल के बारे मे अपने हरेक अग को पूरी आजादी दे दे, जिससे इस मामले मे जिसका जो जी चाहे सो करे। काग्रेस आजादी पर डटी रहे, और जो लोग उससे अपनी नीति के अनुसार काम लेना चाहते है वे 'डोमीनियन स्टेट्स' पर। लेकिन पिताजी रिपोर्ट को पास कराने पर तुले हुए थे। वह जरा भी दबने को तैयार न थे। शायद उन परिस्थितियों मे वह झुकना चाहते तो भी नही झुक सकते थे। सम्मेलन में आजादी चाहनेवालो का एक बडा दल था। इस दल ने मुझसे कहा कि मैं दल की तरफ से सम्मेलन मे एक बयान दूँ जिसमे यह कहूँ कि आजादी के ध्येय को कम करने के लिए जो कुछ भी किया जायगा उस सबसे हमारा कोई सरोकार न रहेगा। लेकिन हमने यह बात भी और साफ करदी कि हम सम्मेलन के रास्ते मे रोडे न अटकावेंगे,

क्योकि हम साम्प्रदायिक समझौते के रास्ते मे अडचने नही डालना चाहते थे।

ऐसे बडे सवाल पर इस तरह का रुख अख्त्यार करना बहुत कारगर नही साबित हो सकता था। ज्यादा-से-ज्यादा यह रुख नकारात्मक था। हमने उसी दिन हिन्दुस्तान का आजादी-सघ (इडिपेण्डेन्स फार इण्डिया लीग) कायम करके अपने इस रुख को क्रियात्मक स्वरूप भी दे दिया।

प्रस्तावित विधान मे जो मौलिक अधिकार कायम किये गये थे, उनमे अवध के ताल्लुकेदारो के कहने पर एक धारा यह भी रख दी गयी कि उनके ताल्लुको मे उनके स्थापित अधिकारो की गारण्टी रहेगी कि ये नही छीने जायँगे। सर्व-दल-सम्मेलन की इस बात से मुझे एक और ज्यादा बडा धक्का लगा। इसमे कोई शक ही नही कि तमाम विधान व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त की बुनियाद पर बनाया गया था, लेकिन बडी-बडी अर्द्ध-सामन्ती-सी रियासतो मे उनकी मिलकियत के हकूक को विधान की अटल धारा बना देना मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ। इससे यह बात साफ हो गयी कि काग्रेस के नेता और उनसे भी ज्यादा गैर-काग्रेसी अपने ही साथियों मे सामाजिक दृष्टि से जो ज्यादा आगे बढे हुए समूह थे उनके मुकाबिले मे बडे-बडे जमीदारो का साथ पसन्द करते थे। यह साफ था कि हमारे नेताओ के और हमारे बीच मे एक बहुत बडी खाई है। और ऐसी हालत मे मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बेहूदा मालूम होती थी कि मै प्रधान-मन्त्री का काम करता रहूँ। मैने इस बुनियाद पर अपना इस्तीफा दे देना चाहा कि मै हिन्दुस्तान की आजादी के लिए जो सघ कायम किया गया है उसके सचालकों मे से एक हूँ। लेकिन कार्य-समिति इस बात से सहमत न हुई। उसने मुझसे और सुभाष बाबू से, जिन्होने मेरे साथ-साथ उसी बिना पर इस्तीफा दे देना चाहा था, यह कहा कि हम लोग सघ का काम मजे से कर सकते है, उसमे और काग्रेस की नीति मे कोई विरोध नही है। सच बात तो यह है कि काग्रेस ने तो पहले ही आजादी के ध्येय का ऐलान कर

दिया है। इसपर मै फिर राजी हो गया। यह बात आश्चर्यजनक है कि उन दिनो मुझे अपना इस्तीफा वापस करने के लिए कितनी जल्दी राजी कर लिया जाता था। यह बात कई मर्तबा हुई और क्योकि कोई भी पार्टी वास्तव मे एक-दूसरे से अलग हो जाने के खयाल को पसन्द नही करती थी, इसलिए उससे बचने के लिए हमें जो बहाना मिलता उसी का हम आश्रय ले लेते।

गाधीजी ने इन तमाम पार्टियो की कान्फ्रेन्सो और कमिटियो की मीटिंगो मे कोई हिस्सा नही लिया था। यहॉतक कि वह लखनऊ-कान्फ्रेन्स के वक्त वहॉ मौजूद भी नही थे।

इस बीच मे साइमन कमीशन हिन्दुस्तान मे दौरा कर रहा था और काले झडे लिये हुए "गो-बैक" के नारे लगानेवाली मुखालिफ भीड हर जगह उसका स्वागत कर रही थी। कभी-कभी भीड और पुलिस मे मामूली झगडा भी हो जाता था। लाहौर मे बात बहुत बढ गयी और यकायक मुल्कभर मे गुस्से की लहर-सी दौड गयी। लाहौर मे साइमन-विरोधी जो प्रदर्शन हुआ वह लाला लाजपतराय के नेतृत्व मे हुआ। जब वह सडक के किनारे हजारों प्रदर्शन-कारियो के आगे खडे हुए थे तब एक नौजवान अग्रेज पुलिस अफसर ने उनपर हमला किया और उनकी छाती पर डडे लगाये। लालाजी का तो कहना ही क्या, भीड की तरफ से भी किसी किस्म का झगडा खडा करने की कोई कोशिश नही हुई थी। फिर भी जबकि वह एक तरफ शान्ति से खडे हुए थे तब पुलिस ने उनको और उनके कई साथियो को बहुत बुरी तरह मारा। गलियो मे अथवा सडको पर होनेवाले आम प्रदर्शनो मे हिस्सा लेनेवाले हर शख्स को यह खतरा रहता है कि पुलिस से मुठभेड हो जायगी और यद्यपि हमारे प्रर्शन करीब-करीब हमेशा ही सोलहो आने शान्त होते थे फिर भी लालाजी इस खतरे को जरूर जानते होगे और उन्होने जान-बूझकर वह खतरा उठाया होगा, लेकिन फिर भी जिस ढग से उनपर हमला किया गया उससे और उस हमले के वहशियाने ढग से हिन्दुस्तान के करोडों लोगों को धक्का लगा। वे दिन वे थे जब हम

पुलिस द्वारा लाठियो की मार खाने के आदी न थे। उस वक्त तक इस प्रकार वार-वार होनेवाली पाशविकता के आदी न होने के कारण हम उसे वहुत वुरा मानते थे। हमारे सवसे वडे नेता, पजाव के सवसे वडे और सवसे ज्यादा लोकप्रिय व्यक्ति के साथ ऐसे वुरे व्यवहार का होना विलकुल पैशाचिकता मालूम पडी और उस व्यवहार को देखकर हिन्दुस्तान-भर मे, खासकर उत्तरी हिन्दुस्तान मे, एक जवर्दस्त गुस्सा फैल गया। हम लोग कितने असहाय और कितने कमजोर है, कि हम अपने नेताओ की इज्जत की भी रक्षा नही कर सकते।

लालाजी को शारीरिक चोट भी कम भीषण नही लगी, क्योकि उनकी छाती पर लाठियाँ मारी गयी थी और वह वहुत दिनो से दिल की वीमारी से पीडित थे। अगर ये चोटे किसी तन्दुरुस्त नौजवान के लगी होती तो इतनी घातक न सावित होती। लेकिन लालाजी न तो नौजवान थे, न तन्दुरुस्त ही। कुछ हफ्तो वाद लालाजी की जो मौत हुई उसपर इन शारीरिक चोटो का क्या असर पडा, निश्चित रूप से यह वताना तो मुमकिन नही है, हालाँकि उनके डाक्टरो की यह राय थी कि इन चोटो के कारण उनकी मृत्यु जल्दी हो गयी। लेकिन मै समझता हूँ कि इस वात मे कोई शक नही है कि शारीरिक चोटो से लालाजी को जो मानसिक आघात पहुँचा उसका उनके ऊपर वहुत ज्यादा असर पडा। वह वहुत ही नाराज और सन्तप्त हो गये—इसलिए नही कि उनका जाती अपमान हुआ था, वल्कि इसलिए कि उनपर किये गये हमले मे राष्ट्रीय अपमान सम्मिलित था।

हिन्दुस्तान के मन मे इसी राष्ट्रीय अपमान का खयाल काम कर रहा था और जव उसके कुछ दिनो वाद ही लालाजी की मृत्यु हुई तव लोगो ने लाजिमी तौर पर उसका ताल्लुक उनपर किये गये हमले से जोडा और इस खयाल से लोगो के दिलो मे जो गुस्सा और रोष आया वह खुद-व-खुद एक प्रकार के अभिमान के रूप मे वदल गया। इस वात को समझ लेना जरूरी है, क्योंकि इस वात को समझकर ही हम पीछे होनेवाली वातो को, भगतसिह की कहानी, उत्तरी भारत मे भगतसिह

को एकाएक जो आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली, उसको समझ सकेंगे। उन कामों की तह मे जो मूल स्रोत होते है, उनको जो बाते प्रेरित करती है, उनको समझ लेने की कोशिश किये बिना किसी शख्स या किसी काम की निन्दा करना बहुत ही आसान और वाहियात है। इससे पहले भगतसिंह को लोग अच्छी तरह नही जानते थे, और उन्हे जो लोकप्रियता मिली वह कोई हिंसात्मक या आतकवाद का काम करने की वजह से नही मिली। आतकवादी तो हिन्दुस्तान मे करीब-करीब तीस बरस से रह-रहकर अपना काम कर रहे है, और बगाल में आतकवाद के शुरू के दिनो को छोड़कर और कभी किसी भी आतकवादी को भगतसिह को जो लोकप्रियता हासिल हुई उसका सौवाँ हिस्सा भी नही मिली। यह एक ऐसी जाहिर बात है जिससे कोई इन्कार नही कर सकता। इसे तो मानना ही पडेगा। इसी तरह साफ और जाहिर बात है कि यद्यपि आतकवाद बीच-बीच मे कभी-कभी ज़ोर पकड जाता है फिर भी हिन्दुस्तान के नौजवानो के लिए अब उसमे कोई आकर्षण नही रहा। पन्द्रह बरस तक अहिंसा पर जोर दिये जाने से हिन्दुस्तान का सारा वातावरण बदल गया है, जिसके फलस्वरूप अब जन-साधारण राजनैतिक लडाई के साधन के तौर पर आतकवाद के खयाल की तरफ पहले से कही ज्यादा उदासीन या विरोधी तक हो गये है। जिस दर्जे के लोगों पर, यानी निचली सतह के मध्यम श्रेणी के लोगो पर और पढे-लिखो पर भी, हिंसा के साधन के खिलाफ काग्रेस ने जो प्रचार किया है उसका भारी असर पडा है। उनकी वे क्रियाशील और उतावली शक्तियाँ जो क्रान्तिकारी काम करने की ही बाते सोचा करती है, अब यह पूरी तरह महसूस करने लगी है कि क्रान्ति आतकवाद के ज़रिये से नही हो सकती और आतकवाद तो एक ऐसा बेकार और जर्जरित तरीका है जो असली क्रान्तिकारी लडाई के रास्ते मे रोडे अटकाता है। हिन्दुस्तान मे और दूसरे मुल्कों में भी अब तो आतकवाद मरा-सा हो रहा है। और वह सरकारी दमन की वजह से नही, बल्कि आधारभूत कारणो और ससारव्यापी घटनाओ की वजहो से। सरकारी दमन तो सिर्फ दबाना

या बोतल मे बन्द कर देना भर जानता है, वह जड से उखाड कर नही फेंक सकता। मामूली तौर पर आतकवाद से किसी देश में होनेवाली क्रान्तिकारी प्रेरणा का बचपन जाहिर होता है। वह अवस्था गुजर जाती है और उसके साथ-साथ महत्वपूर्ण घटना के रूप मे आतकवाद भी गुजर जाता है, स्थानिक कारणो या व्यक्तिगत दमन के कारण कभी-कभी कुछ आतकवादी कार्य भले ही होते रहें। विलाशक हिन्दुस्तान की क्रान्ति का बचपन बीत चुका और इसमे कुछ शक नहीं कि उसके फलस्वरूप यहाँ कभी-कभी होजानेवाली आतकवादी घटनाये भी धीरे-धीरे बन्द हो जायेंगी। लेकिन इसके मानी यह नही है कि हिन्दुस्तान मे सब लोगो ने हिंसात्मक साधन मे विश्वास करना छोड दिया है। यह ठीक है कि उनमे से ज्यादातर लोग अब वैयक्तिक हिंसा और आतकवाद मे विश्वास नही करते, लेकिन इसमे भी कोई शक नही कि बहुत-से अब भी यह सोचते है कि एक समय ऐसा आ सकता है जब सगठित हिंसात्मक साधनों से काम लेना आज़ादी हासिल करने के लिए जरूरी हो जाये—ठीक वैसे ही जैसे कि दूसरे मुल्को मे जरूरी हो गया था। आज तो यह सवाल महज़ एक तात्त्विक विवाद का सवाल है। समय ही उसे कसौटी पर कस सकता है। जो हो, आतकवादी साधनो से इसका कोई सरोकार नहीं।

इस तरह भगतसिंह ने अपने हिंसात्मक कार्य से लोकप्रियता प्राप्त नही की, बल्कि इससे प्राप्त की कि कम-से-कम उस समय लोगो को ऐसा मालूम हुआ कि उसने लालाजी की और लालाजी के रूप मे राष्ट्र की इज्जत रक्खी है। भगतसिह एक प्रतीक बन गये। उनके काम को लोग भूल गये, केवल प्रतीक उनके मन मे रह गया, जिसके फलस्वरूप पजाब के हरेक गाँव व कस्बे मे और उससे कुछ कम बाकी के उत्तरी भारत मे उनका नाम घर-घर मे गूंजने लगा। उनके बारे मे बेशुमार गीत बने और उन्होने जो लोकप्रियता पायी वह सचमुच अजीब थी।

साइमन-कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन मे होनेवाली मार-पीट के कुछ दिनो बाद लाला लाजपतराय दिल्ली मे होनेवाली अखिल-भारतवर्षीय कांग्रेस-

कमिटी की एक बैठक मे शामिल हुए। उनके शरीर पर चोटो के निशान बने हुए थे और उनसे होनेवाली तकलीफो को वह भुगत रहे थे। वह मीटिग लखनऊ के सर्व-दल-सम्मेलन के बाद हुई थी और किसी-न-किसी रूप मे उसमें आज़ादी के सवाल पर बहस उठ खडी हुई थी। मुझे यह तो याद नही रहा कि ठीक-ठीक बहस किस बात पर उठ खडी हुई थी, लेकिन मुझे यह याद है कि मै वहाँ देर तक बोला और मैने यह कहा कि अब समय आगया है जब काग्रेस को यह तय कर लेना चाहिए कि वह उस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को पसन्द करती है जिसमे हमारे राजनैतिक और सामाजिक भवन मे कायापलट करने की जरूरत है, या सुधारवादियो के ध्येय और साधनो को। इस भाषण मे ऐसी कोई महत्त्व की बात नही थी। मै उस भाषण की बात को भूल भी गया होता, लेकिन उसकी इसलिए याद बनी रही कि लालाजी ने कमिटी मे मेरे उस भाषण का जवाब दिया और उसके कुछ हिस्सो की नुक्ताचीनी की। उन्होने एक चेतावनी इस आशय की दी थी कि हम लोगो को ब्रिटिश मजदूर दल से कोई उम्मीद न रखनी चाहिए। जहाँतक मुझसे ताल्लुक है, इस चेतावनी की कोई जरूरत न थी, क्योंकि मै ब्रिटिश-मजदूरो के जो अधिकारी नेता है, उनका प्रशसक नही हूँ। अगर मै उन्हे हिन्दुस्तान की आजादी की लडाई का समर्थन करते या साम्राज्यवाद-विरोधी कोई ऐसा कारगर काम करते देखता जो समाजवाद की तरफ ले जानेवाला होता तो मुझे आश्चर्य होता।

काग्रेस कमिटी की बैठक मे मैने जो भाषण दिया था, लाहौर लौटकर लालाजी ने उसकी समालोचना शुरू कर दी। उन्होने अपने हफ्तेवार अखबार 'पीपुल' मे मेरी स्पीच से उठनेवाली बहुत-सी बातो के सम्बन्ध मे एक लेखमाला लिखनी शुरू की। इस लेखमाला का सिर्फ एक ही लेख छपा था, दूसरा लेख दूसरे हफ्ते के अक मे छपने से पहले ही उनकी मृत्यु होगयी। उनका वह पहला अधूरा लेख, जो शायद छापने के लिए लिखा गया उनका अन्तिम लेख था, मेरे लिए एक शोकपूर्ण स्मृति छोड गया है।

: २५ :

लाठी-प्रहारों का अनुभव

लाला लाजपतराय पर हमला होने और बाद मे उनकी मृत्यु होजाने से साइमन-कमीशन आगे जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ उसके खिलाफ प्रदर्शनो का जोर और भी बढ गया। वह लखनऊ मे आनेवाला था, और वहाँ भी काग्रेस कमेटी ने उसके 'स्वागत' की भारी तैयारियाँ की थी। कई दिन पहले से ही बडे-बडे जुलूस, सभायें और प्रदर्शन किये गये, जो प्रचार के लिए और असली प्रदर्शन से पहले रिहर्सल के तौर पर थे। मै भी लखनऊ गया और इसमे से कई कार्यो मे मौजूद भी रहा। इस प्रारभिक प्रदर्शनो की, जो पूरी तरह से व्यवस्थित और शान्त थे, कामयाबी ने अधिकारियो को झुँझला दिया, और उन्होने खास-खास जगहो मे जुलूसो को रोकना और उनके निकाले जाने के खिलाफ हुक्म देना शुरू किया। इसी सिलसिले मे मुझे नया अनुभव हुआ, और मेरे शरीर पर भी पुलिस के डण्डों और लाठियो की मार पडी।

जुलूस, आमद-रफ्त मे रुकावट पडने न देने का सबब जाहिर करके, बन्द किये गये थे। हमने फैसला किया कि इस मामले मे शिकायत का कोई मौका न दिया जाय, और जहाँतक मुझे याद है, सोलह-सोलह आदमियो की छोटी-छोटी टुकडियाँ बनाकर उन्हे अलग-अलग एकान्त रास्तो से सभा की जगह पर भेजने का इन्तजाम किया। कानून की बारीकी से देखा जाय तो बेशक यह हुक्म का तोडना ही था, क्योकि झण्डा लेकर सोलह आदमियो का निकालना एक जुलूस ही था। सोलह आदमियो के एक झुण्ड के आगे-आगे मै था, और एक बडे फासले के बाद ऐसा ही एक और दल आया, जिसके नेता मेरे साथी गोविन्दवल्लभ पन्त थे। वह सडक सुनसान-सी थी। मेरा दल शायद दोसौ गज ही गया होगा, कि हमने अपने पीछे घोडों के टापो की टपटपाहट सुनी। जब हमने पीछे मुहँ किया तो देखा कि घुडसवारो का एक दल, जिसमे

शायद दो या तीन दर्जन व्यक्ति थे, हमारे ऊपर तेजी से चढा चला आ रहा है। वे फौरन ठीक हमारे पास आ पहुँचे, और उनके घोडो की जुडी हुई कतार ने सोलह आदमियो के हमारे छोटे-से झुण्ड को तितर-बितर कर दिया। फिर घुडसवारो ने हमारे स्वयसेवको के वडे डण्डों से मारना शुरू किया, और स्वयसेवक सहसा सडक की बाजू की तरफ हटे और कुछ तो छोटी दुकानो मे भी घुस गये। सवारो ने उनका पीछा किया, और उन्हे पीट-पीटकर गिरा दिया। जब मैने घोडो को ऊपर चढते हुए देखा, तब मेरी भी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे प्रेरित किया कि मै बच जाऊँ। वह हिम्मत तोडनेवाला दृश्य था। मगर फिर, मेरा खयाल है कि, किसी दूसरी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे अपनी जगह पर ही खडा रक्खा और मै पहले हमले को बरदाश्त कर गया, जिसे मेरे पीछे के स्वयसेवकों ने रोक लिया था। अचानक मैने देखा कि मै सडक के बीच मे अकेला हूँ, मुझसे कुछ ही गज की दूरी पर सब तरफ पुलिसवाले थे, जो हमारे स्वयसेवको को पीट गिराते थे। अपने आप ही मै, कम नुमायाँ होने की खातिर, सडक की बाजू की तरफ धीरे-धीरे चलने लगा। मगर मै फिर रुक गया और मैने अपने दिल मे कुछ विचार किया, और यह फैसला किया कि हट जाना मेरे लिए अच्छा न होगा। यह सब सिर्फ कुछ ही पलो मे होगया, मगर मुझे उस समय के विचार-सघर्ष और निर्णय का अच्छी तरह स्मरण है। यह निर्णय मेरी राय मे मेरे उस स्वाभिमान का परिणाम था जो मुझे कायर की तरह काम करते नही देख सकता था। फिर भी कायरता और हिम्मत के बीच की रेखा बहुत बारीक थी, और मै कायरता की तरफ भी जा सकता था। मैने ऐसा निर्णय किया ही था कि मैने मुडकर देखा कि एक घुडसवार मेरे ऊपर घोडा छोडता चला आ रहा है और अपना नया लम्बा डण्ड घुमा रहा है। मैने उससे कहा--'लगाओ', और अपना सिर जरा हटा लिया। यह भी सिर और मुहँ को बचाने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति ही थी। उसने मेरी पीठ पर धमाधम दो वार किये। मुझे चक्कर आने लगा और मेरा सारा शरीर थरथराने लगा,

मगर मुझे यह जानकर आश्चर्य और सतोष हुआ कि मै फिर भी खडा ही रहा। फौरन ही पुलिस-दल पीछे हटा लिया गया, और उसे हमारे सामने सडक रोकने को कहा गया। हमारे स्वयसेवक फिर इकट्ठे हो-गये, जिनमे से कई के खून निकल रहा था और कई की खोपडियाँ फूटी हुई थी। हमसे पन्त और उनका दल भी जा मिला, वह भी पीटा गया था। अव हम सब पुलिस के सामने बैठ गये। इस तरह लगभग एक घण्टे तक बैठे रहे और अँधेरा होगया। एक तरफ तो कई बडे-बडे अफसर इकट्ठे होगये, और दूसरी तरफ जैसे-जैसे खबर फैली वैसे-वैसे लोगो की वडी भीड इकट्ठी होने लगी। आखिरकार अधिकारी हमे अपने रास्ते से जाने देने पर राजी होगये, और उसी रास्ते से, हम गये, और हमारे आगे-आगे हमराह की तरह से पुलिस से घुडसवार भी चले, जिन्होने हमपर हमला किया था और हमे मारा था।

इस छोटी-सी घटना का हाल मैने कुछ तफसील से लिखा है, क्योकि इसका मुझपर खास असर हुआ। मुझे जो शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरी इस खुशी के खयाल के आगे याद ही नही रहा कि मै भी लाठी के प्रहारो को वरदाश्त करने और उनके सामने टिके रहने के लायक मजबूत हूँ। और जिस वात से मुझे ताज्जुब हुआ वह यह कि इस सारी घटना मे, और जवकि मै पीटा जा रहा था तव भी, मेरा दिमाग ठीक-ठीक काम करता रहा, और मै अपने अन्दर की भावनाओ का ज्ञानपूर्वक विश्लेषण करता रहा। इस रिहर्सल ने मुझे दूसरे दिन सवेरे वडी मदद दी, जवकि हमारा और भी सख्त इम्तिहान होनेवाला था, क्योकि दूसरे दिन सवेरे ही साइमन-कमीशन आनेवाला था, और उसी वक्त हम विरोधी प्रदर्शन करनेवाले थे।

उस समय मेरे पिताजी इलाहाबाद मे थे, और मुझे अदेशा था कि जव वह दूसरे दिन सवेरे अखवारो मे मुझपर होनेवाले हमले का हाल पढेगे तो वह और परिवार के दूसरे लोग भी चिन्तित होजावेगे। इस-लिए मैने रात को उन्हे टेलीफोन कर दिया कि सब खैरियत है और आप लोग किसी किस्म की फिक्र न करे। मगर उन्हे फिक्र तो हुई।

और जब वह चैन से न रह सके तो, आधी रात के करीब उन्होंने लखनऊ आना तय किया। आखरी ट्रेन छूट चुकी थी, इसलिए वह मोटर से रवाना हुए। रास्ते मे मोटर मे कुछ गडबड होगयी थी, और वह १४६ मील का सफर पूरा करके सवेरे करीब ९ बजे बिलकुल थके-माँदे लखनऊ पहुँचे।

यह करीब-करीब वह वक्त था जबकि हम जुलूस मे स्टेशन जाने की तैयारी कर रहे थे। हमारे कुछ भी करने से जितना लखनऊ उभड न सकता था, उतना कल की घटनाओं से उभड गया, और सूरज उगने से भी पहले बडी तादाद मे लोग स्टेशन पर पहुँच गये। शहर के मुख्तलिफ हिस्सो से बेशुमार छोटे-छोटे जुलूस आये, और कांग्रेस-आफिस से बडा जुलूस चार-चार की कतार मे रवाना हुआ, जिसमे कई हजार आदमी थे। हम बडे जुलूस मे थे। ज्योंही हम स्टेशन के पास पहुँचे, हमे पुलिस ने रोक दिया। वहाँ स्टेशन के सामने करीब आध मील लम्बा और इतना ही चौडा बडा भारी खुला मैदान था (यहाँ अब नया स्टेशन बन गया है) और उस मैदान की एक बाजू पर हमे कतार मे खडा कर दिया गया। हमारा जुलूस वही खडा रहा, हमने आगे बढने की बिलकुल कोशिश नही की। उस जगह सब तरफ पैदल और घुडसवार पुलिस और फौज भी आकर भर गयी थी। हमदर्दी रखनेवाले तमाशबीनो की भीड भी बढ गयी थी, और कई जगह दो-दो तीन-तीन आदमी विशाल मैदान मे जा खडे हुए थे। अचानक दूर पर हमें एक दल आता हुआ दिखायी दिया। वह घुडसवारो की दो या तीन लम्बी कतारे थी, जो सारे मैदान को घेरे हुए थी और हमारी तरफ दौड रही थी, और मैदान मे जो कई लोग जा खडे हुए उन्हे मारती-कुचलती हुई आ रही थी। घोडे को छोडते हुए सवारो का हमला करना एक बडा अच्छा दृश्य था, बशर्तेकि रास्ते मे खडे हुए बेचारे बेखबर तमाशबीनो के साथ, जो घोडो के पैरो-तले रौंदे गये थे, दर्दनाक वाकया न हो जाता। इन हमला करनेवाली लाइनो के पीछे वे लोग जमीन पर पडे हुए थे, जिनमें कुछ तो उठ भी नही सकते थे और कुछ दर्द से कराह रहे थे। उस मैदान

का सारा नज्जारा लडाई के मैदान का-सा होगया था। मगर उस दृश्य को देखने या कुछ सोच-विचार करने का हमे ज्यादा वक्त नही मिला, घुडसवार फौरन हमारे ऊपर आगये और उनकी आगे की कतार हमारे जुलूस के आगे खडे हुए लोगो से एक ही छलाग मे टकरा गयी। हम वही डटे रहे, और चूँकि हम हटते हुए नही दिखायी दिये, इसलिए उन्हे उसी दम घोडो को रोक देना पडा। घोडे पिछले पैरों पर खडे रह गये, उनके अगले पैर हमारे सिरो पर लटकते हुए हिल रहे थे। और फिर हमपर पैदल और घुडसवार दोनो की मार और लाठियाँ खटाखट पडने लगी। वह बहुत भयकर मार थी, और पिछले दिन जो मेरे दिमाग की विचार-शक्ति कायम रही थी वह जाती रही। मुझे सिर्फ इतना ही औसान रहा कि मुझे अपनी जगह पर ही खडा रहना चाहिए, और गिरना या पीछे हटना नही चाहिए। मार से मुझे अँधेरी आगई और कभी-कभी मन-ही-मन गुस्सा और उलटकर मारने का खयाल भी आया। मैने सोचा कि अपने सामने के पुलिस-अफसर को गिराकर घोडे पर खुद चढ जाऊँ। यह कितना आसान है। मगर लम्बे अर्से की तालीम और अनुशासन ने काम दिया, और मैने अपने सिर को मार से बचाने के सिवा हाथ तक नही उठाया। इसके अलावा, मै अच्छी तरह जानता था कि अगर हमारी तरफ से कुछ भी मुकाबिला हुआ तो एक भीषण दुर्घटना होजायगी, जिसमे हमारे आदमी बडी तादाद मे गोलियों से भून दिये जायँगे।

हमे वह समय भयकर रूप से लम्बा मालूम पडा, मगर शायद वह सिर्फ कुछ ही मिनटो का खेल था। उसके बाद धीरे-धीरे एक-एक कदम हमारी लाइन, टूटे बगैर पीछे हटने लगी। इससे मै कुछ-कुछ अलग और दोनो तरफ से ज्यादा खुला हुआ रह गया। मुझपर और मार पडी और फिर मै अचानक पीछे से उठा लिया गया और वहासे दूर ले जाया गया, जिससे मुझे बडी झुँझलाहट हुई। मेरे कुछ नौजवान साथियो ने, यह कयास करके कि मुझपर घातक हमला किया जा रहा है, मुझे इस तरह एकाएक बचा लेना तय कर लिया था।

हमारे जुलूस के लोग अपनी असली लाइन से करीब एक सौ फीट पीछे फिर कतार मे खडे होगये। पुलिस भी पीछे हट गयी और हमसे पचास फीट के फासले पर एक लाइन मे खडी होगयी। इस तरह हम खडे रहे, और साइमन-कमीशन, जो इस सारे झगडे की जड था, हमसे बहुत दूर करीब आध मील की दूरी पर स्टेशन से चुपचाप निकल गया। इतना करने पर भी वह काले झडो या प्रदर्शन करनेवालो से बचकर न निकल सका। इसके बाद ही, हम पूरा जुलूस बनाकर काग्रेस-दफ्तर आये, और वहाँसे अलग-अलग चले गये। मै अपने पिताजी के पास गया, जो बडी चिन्ता से मेरा इन्जार कर रहे थे।

अब जब सामयिक उत्तेजना चली गयी थी तो मुझे सारे शरीर मे दर्द और भारी थकान मालूम होने लगी। जिस्म का करीब-करीब हर हिस्सा दर्द करता था, और सब जगह अधी चोटो और मार के निशान होगये थे। मगर खैर थी कि मेरे किसी नाजुक जगह पर चोट नही आयी थी। परन्तु हमारे कई साथी इतने खुशकिस्मत न थे। उन्हे बुरी तरह चोट आयी थी। गोविन्दवल्लभ पन्त पर, जो मेरे पास खडे थे, ज्यादा मार पडी, क्योकि वह छ फीट से भी ज्यादा ऊँचे-पूरे थे, और उस वक्त जो चोटें उनके आयी उनके सबब से बहुत अर्से तक उन्हे इतना दर्द और तकलीफ रही कि वह कमर भी सीधी नही कर सकते थे और न कुछ ज्यादा काम-काज ही कर सकते थे। उसके बाद मुझे अपनी जिस्मानी हालत और बरदाश्त करने की ताकत का कुछ ज्यादा घमण्ड होगया। मगर मार पडने की याद से ज्यादा तो मुझे कई मारनेवाले पुलिसवालो, खासकर अफसरो के चेहरो की याद बनी हुई है। ज्यादातर असली ठोक-पीट तो यूरोपियन सारजेण्टों ने की, हिन्दुस्तानी मामूली सिपाही तो हलके-हलके ही काम चला रहे थे। उन चेहरो मे हिकारत और खून की प्यास करीब-करीब पागलपन की हद तक भरी हुई थी, और उनमे हमदर्दी या इन्सानियत का नामोनिशान भी न था। ठीक उसी वक्त, शायद, हमारी तरफ के चेहरे भी देखने मे उतने ही नफरत भरे होंगे. और हमारे ज्यादातर अहिंसात्मक होने से, हमारे विरोधियो के लिए

हमारे दिल और दिमाग मे कोई प्रेम भर नही गया होगा, और न हमारे चेहरो पर सद्‌भाव झलका होगा। लेकिन फिर भी एक-दूसरे के खिलाफ हमे कोई शिकायत न थी; हमारा कोई जाती झगडा न था, न कोई दुर्भाव था। उस वक्त हम अजीब और जबरदस्त ताकतों के प्रतिनिधि थे, जो हमे अपने अधीन बनाये हुए थी और जो हमे इधर और उधर फेकती जाती थी और जिन्होंने हमारे दिलो और दिमागो पर बडी खूबी से कब्जा करके हमारी अभिलाषाओं और राग-द्वेषो को उभाड दिया था और हमे अपना अन्धा हथियार बना लिया था। हम अन्धे की तरह जद्दोजहद करते थे, और यह नही जानते थे कि यह किसलिए करते हैं या कहाँ चले जा रहे है? काम की उत्तेजना ने हमें टिकाये रक्खा था, मगर जब वह चली गयी तो फौरन यह सवाल पैदा हुआ कि आखिर यह सब किसलिए किया जा रहा है?—किस मकसद के लिए?

: २६ :

ट्रेड यूनियन कांग्रेस

उस साल देश की राजनीति मे ज्यादातर साइमन-कमीशन के बायकाट और सर्वदल-सम्मेलन का ही बोलबाला रहा। लेकिन मेरी अपनी दिलचस्पी ज्यादातर दूसरी तरफ रही और मैंने काम भी ज्यादातर उन्ही दिशाओ मे किया। काग्रेस के कार्यवाहक प्रधान-मत्री की हैसियत से मै उसके सगठन की देखभाल करने और उसे मजबूत बनाने मे लगा रहा। खासतौर पर मेरी दिलचस्पी इस बात मे थी कि मै लोगो का ध्यान सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनो की तरफ खीचूँ। मुकम्मिल आजादी के सिलसिले मे मदरास मे हम जिस हदतक पहुँच गये थे उस स्थिति को भी मजबूत रखना था। खासतौर पर इसलिए कि सर्व-दल-सम्मेलन का तमाम झुकाव हम लोगो को पीछे खीचने की तरफ था। इस उद्देश्य को सामने रखकर मैंने देश मे बहुत सफर किया और कई बडी-बडी आम सभाओ मे व्याख्यान दिये। मेरा खयाल है कि १९२८ मे मै चार सूबो की राजनैतिक कान्फ्रेन्सो का सभापति बना। ये सूबे थे दक्षिण मे मलाबार और उत्तर मे पजाब, दिल्ली और सयुक्तप्रान्त। इसके अलावा बम्बई और बगाल मे मै युवक-सघो और विद्यार्थियों की कान्फ्रेन्सो का सभापति बना। समय-समय पर मै सयुक्तप्रान्त के देहात मे भी गया और कभी-कभी कारखानों के मजदूरो की सभाओ मे भी मैंने व्याख्यान दिये। मेरे व्याख्यानो मे सार तो हमेशा ज्यादातर एक ही रहता था, यद्यपि उसका रूप मुकामी हालतो के मुताबिक बदल जाता था, और जिन बातो पर मै जोर देता था वे उस तरह की होती थी कि जिस किस्म के लोग सभाओं मे आते थे। हर जगह मैंने राजनैतिक आजादी और सामाजिक स्वाधीनता पर जोर दिया और यह कहा कि राजनैतिक आजादी सामाजिक स्वाधीनता की सीढी है। यानी, आर्थिक स्वाधीनता हासिल करने के लिए यह जरूरी है कि पहले राजनैतिक आजादी हो। खासतौर से

काग्रेस के कार्यकर्ताओ और पढे-लिखे लोगो मे मै समाजवाद की विचार-धारा फैलाना चाहता था, क्योंकि ये लोग ही राष्ट्रीय आन्दोलन की असली रीढ थे और येही ज्यादातर निहायत सकुचित राष्ट्रीयता की बात सोचा करते थे। इनके व्याख्यानों मे प्राचीन काल के गौरव पर बहुत ज़ोर दिया जाता था, और इस बात पर भी कि विदेशी सरकार ने हमे क्या-क्या भौतिक और आध्यात्मिक हानियाँ पहुँचाई है। हमारे लोगो को घोर कष्ट सहने पड रहे है, हमारे ऊपर दूसरो का राज्य रहना बडी बेइज्जती की बात है, इसलिए हमारी कौमी इज्जत का तकाज़ा है कि हम आजाद हों और हमारे लिए आवश्यक है कि हम लोग मातृभूमि की वेदी पर अपनी बलि चढावे। ये बाते सुपरिचित थी। हर हिन्दुस्तानी के दिल मे उनकी आवाज गूँज उठती थी। मेरे मन मे भी राष्ट्रीयता का यह भाव भडक उठता था और मै उससे गद्गद् होजाता था—यद्यपि मै हिन्दुस्तान के ही नही, कहीके भी पुराने जमाने का अन्धा प्रशसक कभी नही रहा। लेकिन यद्यपि उसमे सच्चाई जरूर थी, फिर भी बार-बार इस्तैमाल मे आने की वजह से वे बासी और लचर होती जाती थी और उनको लगातार बार-बार दुहराते रहने का नतीजा यह होता था कि हम अपनी लडाई के सबसे ज्यादा ज़रूरी पहलुओं तथा दूसरे मसलों पर गौर नही कर पाते थे। इन बातो से जोश ज़रूर आता था, लेकिन इनसे विचारों को प्रोत्साहन नही मिलता था।

हिन्दुस्तान मे मै समाजवाद के मैदान मे सबसे पहले नही आया, बल्कि सच बात तो यह है कि मै कुछ पिछडा हुआ रहा। जहाँ बहुत-से लोग सितारे की तरह चमकते आगे बढ गये, वहाँ मै तो बहुत-सी तकलीफ के साथ कदम-कदम आगे बढ़ा। विचार-धारा की दृष्टि से मज़दूरो के ट्रेड यूनियनो का आन्दोलन निश्चित रूप से समाजवादी था और ज्यादातर युवक-सघो की भी यही बात थी। जब मै दिसम्बर १९२७ मे यूरप से लौटा तब एक किस्म का अस्पष्ट और गोल-मोल समाजवाद हिन्दुस्तान की आबोहवा का एक हिस्सा बन चुका था और व्यक्तिगत समाजवादी तो उससे भी पहले हिन्दुस्तान मे बहुत-से थे। ये लोग ज्यादातर सपने देखनेवाले

थे। लेकिन धीरे-धीरे उनपर मार्क्स[1] के उसूलों का असर बढ़ता जाता था और उनमे से कुछ तो अपनेको सौ फीसदी मार्क्सवादी समझते थे। यूरप और अमेरिका की तरह हिन्दुस्तान मे भी, सोवियट यूनियन मे जो कुछ हो रहा था उससे और खासकर पाँचसाला योजना से, इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला।

एक समाजवादी कार्यकर्त्ता की हैसियत से मेरा महत्त्व सिर्फ इस बात मे था कि मै एक मशहूर कांग्रेसी था और कांग्रेस के बडे ओहदो पर था। मेरे अलावा और भी बहुत-से कांग्रेसी थे जो मेरी ही तरह सोचने लग गये थे। यह प्रवृत्ति सबसे ज्यादा युक्तप्रान्त की सूबा कांग्रेस-कमिटी मे पायी जाती थी, जिसमे हमने १९२६ मे ही एक नरम समाजवादी कार्यक्रम बनाने की कोशिश की थी। हमारे सूबे में जमीदारी और ताल्लुकेदारी प्रथा है, इसलिए सबसे पहले हमे जिस सवाल का सामना करना पडा वह था जमीन का सवाल। हम लोगो ने ऐलान किया कि मौजूदा जमीदारी-प्रथा रद होनी चाहिए और सरकार और काश्तकार के बीच मे किसी दूसरे की कोई जरूरत नही है। हम लोगो को फूंक-फूंककर कदम रखना पडा, क्योंकि हमें एक ऐसी आबोहवा मे काम करना था

---

१. जीव-दया और मानवदया की दृष्टि से समाज-व्यवस्था को सुधारने की इच्छा रखनेवाले तो प्रत्येक युग में होते हैं। मार्क्स के पहले भी थे। वे यह कहते थे कि ग़रीबों पर दया करना अमीरों का कर्तव्य हैं। क्योंकि उन्हे ईश्वर ने धन-दौलत दी है। लेकिन मार्क्स ने बताया कि ग़रीबों की गरीबी में ही क्रान्ति के बीज है, इनकी गरीबी पूंजीवाद और मुट्ठीभर लोगों के धन को अन्यायी सिद्ध करती है। उनकी ग़रीबी ईश्वर की दी हुई नही है, बल्कि एक निश्चित सामाजिक परिस्थिति का परिणाम है। इस परिस्थिति में क्रान्ति भी की जा सकती है, जबकि ग़रीब वर्ग बलवा करदे। पुराने समाज-सुधारक आदर्शवादी समाज-सुधारक कहे जाते हैं; मार्क्स और उनके अनुयायी वैज्ञानिक समाजवादी कहलाते है।

जो उस वक्त तक इस तरह के खयालात की आदी नही थी।

इसके वाद, १९२९ मे, युक्तप्रान्त की सूवा काग्रेस-कमिटी एक क़दम और आगे बढ गयी और उसने निश्चित रूप से समाजवाद के ढग पर अ० भा० काग्रेस कमिटी से एक सिफारिश की, जिसके फल-स्वरूप जव १९२९ की गर्मियो मे वम्वई मे अ० भा० काग्रेस-कमिटी की वैठक हुई तव उसमे युक्तप्रान्त की तजवीज का दीवाचा मजूर कर लिया गया और इस तरह उस तजवीज़ मे समाजवाद का जो उसूल मौजूद था वह भी मजूर कर लिया गया। युक्तप्रान्त की तजवीज़ मे जो तफसीलवार कार्यक्रम दिया गया था उसपर विचार करने की वात अगली वैठको के लिए मुल्तवी करदी गयी। ऐसा मालूम पडता है कि ज्यादातर लोग अ० भा० काग्रेस-कमिटी और सयुक्तप्रान्तीय काग्रेस-कमिटी के इन प्रस्तावों को विलकुल भूल ही गये और वे यह समझ वैठे है कि पिछले एक-दो सालो से साम्यवाद की चर्चा काग्रेस मे एकाएक उठ खडी हुई है। फिर भी इतना तो सही ही है कि अ० भा० काग्रेस-कमिटी ने उस प्रस्ताव पर अच्छी तरह विचार किये विना ही उसे पास कर दिया था और ज्यादातर मेम्वर शायद यह महसूस नही कर पाये कि वे क्या कर रहे है?

'इण्डिपेण्डेन्स फॉर इण्डिया लीग' (भारत-स्वतन्त्रता-सघ) की सयुक्तप्रान्तवाली शाखा मे सूवे के खास-खास काग्रेसियो के अलावा और कोई न था और यह शाखा निश्चित रूप से समाजवाद को माननेवाली थी, इसलिए वह साम्यवाद की तरफ और काग्रेस-कमिटी से, जिसमें सव तरह के लोग थे, कुछ आगे चली गयी। वल्कि सच वात तो यह है कि 'स्वाधीनता-सघ' का एक ध्येय यह भी था कि सामाजिक स्वाधीनता होनी चाहिए। हम लोग हिन्दुस्तान-भर मे सघ को मजवूत वनाकर यह चाहते थे कि आजादी और समाजवाद का प्रचार करने मे उस सगठन से काम लिया जाय। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ हद तक सयुक्तप्रान्त को छोडकर और कही सघ का काम ठीक तौर से नही चला और इससे मुझे वहुत नाउम्मेदी हुई। इसका सवव यह नही था कि देश मे हमारे मददगारो की कमी थी, वल्कि वात यह थी कि हमारे ज्यादातर कार्यकर्त्ता

काग्रेस मे भी प्रमुख कार्य करनेवाले थे और चूँकि काग्रेस ने कम-से-कम उसूलन् तो आजादी को अपना ध्येय बना लिया था इसलिए वे अपना काम काग्रेस के सगठन के जरिये कर सकते थे। दूसरा सबब यह था कि जिन लोगो ने शुरू-शुरू मे आजादी-सघ कायम किया उनमे से कुछ ने गभीरतापूर्वक यह नही सोचा कि सस्था के रूप मे हमे इस सघ को मजबूत बनाना है; वे तो यह समझते थे कि यह सस्था तो महज इसलिए है कि काग्रेस-कार्य-समिति पर इसका दबाव पडता रहे और कार्य-समिति के चुनाव पर असर डालने के लिए भी इसका इस्तैमाल किया जाय। इसलिए 'स्वतन्त्रता-सघ' मुरझा गया और ज्यों-ज्यो काग्रेस ज्यादा लडाकू होती गयी त्यो-त्यो उसने तमाम गतिशील तत्वो को अपनी ओर खीच लिया और सघ कमजोर होता गया। १९३० मे जब सत्याग्रह की लडाई आयी तब यह सघ काग्रेस मे मिलकर गायब हो गया।

१९२८ के पिछले छ महीनों मे और १९२९ मे मेरी गिरफ्तारी की चर्चा अक्सर होती रहती थी। मुझे पता नही कि इस सिलसिले मे अखबारो में जो कुछ छपता था उसके पीछे, और जानकार दोस्तो से मुझे जो निजी चेतावनियाँ मिला करती थी उनके पीछे, असलियत क्या थी। लेकिन इन चेतावनियो ने मेरे दिल मे एक किस्म की अनिश्चितता पैदा कर दी, और मै यह महसूस करने लगा कि मै किसी भी वक्त गिरफ्तार किया जा सकता हूँ। मुझे खास तौर पर कोई दूसरी चिन्ता न थी, क्योकि मै यह जानता था कि भविष्य में मेरे लिए चाहे कुछ हो, लेकिन मेरी जिन्दगी रोजमर्रा के कामो की निश्चित जिन्दगी नही हो सकती। इसलिए मैं सोचता था कि मै अनिश्चितता का और एकाएक होनेवाले हेर-फेरो का तथा जेल जाने का जितनी जल्दी आदी हो जाऊँ उतना ही अच्छा है। और मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर मै इस खयाल का आदी होने मे सफल हुआ। मेरे घरवालो ने भी इस खयाल के आदी होने मे कामयाबी हासिल की, हालाँकि जितनी कामयाबी मुझे मिली उन्हे उससे बहुत कम मिली। इसलिए जब-जब मै गिरफ्तार हुआ, तब-तब मुझे उसमे कोई खास बात मालूम नही हुई। हाँ, अगर मै एका-

एक गिरफ्तार होने के खयाल का आदी न हो जाता तो ऐसा न होता। इस तरह गिरफ्तारी की खबरो मे नुकसान-ही-नुकसान न था, फायदा भी था। उन्होने मेरी रोजमर्रा की ज़िन्दगी मे कुछ उल्लास और एक लज्ज़त पैदा कर दी। आज़ादी का हरेक दिन बेशकीमती मालूम होने लगा, मानो वह एक दिन मुनाफे मे मिला हो। सच बात तो यह है कि १९२८ और १९२९ मे मैं जी भरकर काम करता रहा और अखीर मे मेरी गिरफ्तारी १९३० के अप्रैल मे जाकर हुई। उसके बाद जेल से बाहर जो थोडे-से दिन मैने कई बार बिताये उनमें अवास्तविकता की काफी मात्रा थी। मुझे ऐसा मालूम पडता था कि मै अपने ही घर मे एक अजनबी हूँ, जो थोडे दिनो के लिए वहाँ आया हूँ। इसके अलावा मेरे हर काम मे अनिश्चितता रहने लगी, क्योकि कोई यह नही कह सकता था कि मेरे लिए कल क्या होनेवाला है? यह आशका तो हर वक्त बनी रहती थी कि न जाने जेल मे वापस जाने का बुलावा कब आ जाय?

ज्यो-ज्यो १९२८ का अखीर आता गया, त्यो-त्यो कलकत्ता-काग्रेस नजदीक आती गयी। उसके सभापति मेरे पिताजी चुने गये थे। उनका दिलो-दिमाग उस वक्त सर्व-दल-सम्मेलन तथा उसके लिए उन्होने जो रिपोर्ट तैयार की थी उससे सराबोर था। वह चाहते थे कि उसे काग्रेस से पास करा लिया जाय। वह यह जानते थे कि मै उनकी इस बात से सहमत न था, क्योकि मै आज़ादी के प्रश्न पर कोई समझौता करने को राज़ी न था। इस बात पर वह नाराज़ थे। इस मामले पर हम लोगो ने बहुत बहस नही की। लेकिन हम दोनो के मन मे मानसिक सघर्ष का भाव निश्चित रूप से काम कर रहा था और हम लोग यह जानते थे कि हम एक-दूसरे के खिलाफ जा रहे है। मत-भेद तो हम लोगो में इससे भी पहले अक्सर हुआ करता था, ऐसा भारी मतभेद कि जिसके फल-स्वरूप हम अलग-अलग पक्षों में रहते थे, लेकिन मेरा खयाल है कि इससे पहले या इसके बाद भी और किसी भी मौके पर हम लोगो मे इतनी तनातनी नही हुई जितनी कि इस वक्त थी।

हम दोनो ही इस बात से कुछ हद तक दुखी थे। कलकत्ते मे तो

मामला इस हद तक बढ़ गया था कि पिताजी ने यह बात साफ-साफ कर दी कि अगर कांग्रेस में उनकी बात नहीं चली, यानी अगर कांग्रेस ने, सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट के पक्ष में जो तजवीज पेश की जायगी उसे, कसरत राय से मंजूर नहीं किया, तो वह कांग्रेस का सभापति रहने से इन्कार कर देंगे। यह बात बिल्कुल वाजिब थी और विधान की दृष्टि से उन्हें यह तरीका अख्तयार करने का पूरा हक था। फिर भी उनके बहुत-से उन विरोधियों के लिए वह बहुत-ही परेशानी की बात थी जो यह नहीं चाहते थे कि इस बात के लिए मामला इस हदतक बढ़ जाय। मेरा ख़याल है कि कांग्रेस में और दूसरी संस्थाओं में भी अक्सर यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि लोग नुक्ताचीनी और बुराई तो करते हैं, लेकिन खुद ज़िम्मेदारी लेने से जी चुराते हैं। हमें हमेशा यह उम्मीद बनी रहती है कि हमारी नुक्ताचीनी की वजह से दूसरी पार्टी हमारे माफिक अपनी नीति बदल देगी और नाव को खेने की ज़िम्मेदारी हमारे सिर नहीं पड़ेगी। जहाँ ज़िम्मेदारी हम लोगों को सौंपी ही नहीं जाती और जहाँ कार्यकारिणी को न तो हम हटा ही सकते हैं न उनसे जवाब ही तलब कर सकते हैं, जैसा कि आजकल हिन्दुस्तान की सरकार के मामले में है, वहाँ विनाशक सीधी मार को छोड़कर हमारे पास सिवा नुक्ता-चीनी करने के कोई मार्ग नहीं और वह नुक्ताचीनी ज़रूर खण्डनात्मक होगी; फिर भी अगर हम इस खण्डनात्मक आलोचना को कारगर बनाना चाहते हैं तो उसके पीछे हमारे मन में यह इरादा होना चाहिए, हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए, कि जब-कभी हमें मौका मिलेगा तब सब इन्तज़ाम और ज़िम्मेदारी हम अपने हाथ में ले लेंगे—फिर चाहे वे महकमे मुल्की हों या फौजी, भीतरी हों या बाहरी। महज़ थोड़े-से अख़्त्यार माँगना, जैसा कि लिबरल लोग फौज के मामले में करते हैं, इस बात का इकबाल करना है कि हम सरकार का काम नहीं चला सकते। इस इकबाल से हमारी नुक्ताचीनी का वज़न घट जाता है।

गांधीजी के आलोचकों में यह बात अक्सर पायी जाती है कि वे उनकी नुक्ताचीनी करते हैं, बुराई करते हैं, लेकिन जब उनसे उनके

फलस्वरूप यह कहा जाता है कि फिर लीजिए इस काम को आप ही चलाइए, तब उनके पैर उखड जाते है। काग्रेस मे ऐसे बहुत-से शख्स रहे है जो उनके बहुत-से कामो को नापसद करते है और इसलिए बडे ज़ोरों के साथ उनकी नुक्ताचीनी करते है, लेकिन वे इस बात के लिए तैयार नही है कि उन्हें काग्रेस से निकाल दें। यह रुख समझ मे तो आसानी से आ जाता है, लेकिन यह किसी भी पक्ष के साथ इन्साफ नही करता।

कलकत्ता-काग्रेस मे भी कुछ-कुछ इसी किस्म की मुश्किल पैदा हुई। दोनो दलों मे समझौते की बातचीत चली और यह ज़ाहिर किया गया कि समझौते का एक रास्ता निकल आया है, लेकिन अखीर मे वह गिर गया। ये सब बाते बडे गोलमाल मे डालनेवाली थी और इनमे शोभा भी नही थी। काग्रेस के खास प्रस्ताव मे, जैसाकि वह अखीर में पास हुआ, सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट को मजूर कर लिया गया, लेकिन उसमे ब्रिटिश सरकार से भी यह कह दिया गया कि अगर उसने एक साल के अन्दर इस विधान को मजूर नही किया तो काग्रेस फिर अपने आज़ादी के ध्येय को ग्रहण कर लेगी। असल मे इस प्रस्ताव ने सरकार को एक शाइस्ता चुनौती देकर उसे साल-भर की मियाद दी थी। इसमे कोई शक नही कि यह प्रस्ताव हमे आज़ादी के ध्येय से नीचे घसीट लाया था, क्योंकि सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट ने तो पूरे डोमिनियन स्टेटस की भी माँग नही की थी। फिर भी यह प्रस्ताव इस अर्थ में बुद्धिमत्तापूर्ण था कि उसने एक ऐसे वक्त में काग्रेस मे फूट नही होने दी जब कि कोई भी फूट के लिए तैयार न था और उसने, १९३० मे जो लडाई शुरू हुई उसके लिए, सब काग्रेसियो को एकसाथ रक्खा। यह बात तो बिलकुल साफ थी कि ब्रिटिश सरकार सालभर के अन्दर सब दलों द्वारा बनाये गये विधान को मजूर नही करेगी। सरकार से लड़ाई होना लाज़िमी था, और उस वक्त, मुल्क की जैसी हालत थी उसमे सरकार से किसी किस्म की लडाई उस वक्त तक कारगर नही हो सकती थी, जब-तक उसे गाधीजी की रहनुमाई न मिले।

मैंने कांग्रेस के खुले जलसे मे इस प्रस्ताव का विरोध किया था। यद्यपि यह मुखालफत मैंने कुछ-कुछ बेमन से की थी, तो भी इस बार भी मुझे प्रधानमत्री चुना गया। कुछ भी हो, मैं मत्री पद पर बना रहा और कांग्रेस के क्षेत्र मे ऐसा मालूम पडता था कि मैं वही काम कर रहा हूँ जो वह प्रसिद्ध[1] 'विकार आफ ब्रे' करता था। कांग्रेस की गद्दी पर कोई भी सभापति बैठे, मैं हमेशा उस सगठन को सम्हालने के लिए उसका मत्री बनाया जाता था।

झरिया कोयले की खानो के क्षेत्र के बीचो-बीच है। कलकत्ता-कांग्रेस से कुछ दिन पहले यही हिन्दुस्तान-भर की ट्रेड यूनियन कांग्रेस हुई। उसके पहले दो दिन मैंने उसमें हाजिर रहकर उसकी कार्रवाई मे भाग लिया और उसके बाद मुझे कलकत्ते चला आना पडा। मेरे लिए ट्रेड यूनियन-कांग्रेस मे शामिल होने का यह पहला ही मौका था और मैं दरअसल एक नया आदमी था, यद्यपि किसानो मे मैंने जो काम किया था और हाल ही मे मजदूरो मे जो काम मैंने किये थे उनकी वजह से मैं जनता मे काफी लोक-प्रिय हो गया था। वहाँ जाकर मैंने देखा कि

---

१ अपनी ही दिल्लगी उड़ाकर आनन्दित होने की पंडितजी की क्षमता का यह नमूना है। 'विकार आफ ब्रे' सोलहवीं सदी का एक ऐतिहासिक पात्र है। ब्रे के 'विकार' का अपना पद कायम रहे, इस शर्त पर चाहे जैसे विचार बनाने और रखनेवाले इस मजेदार 'विकार' के सबंध में अंग्रेजी भाषा में एक प्रशस्ति लिखी गयी है। आठवें हेनरी, छठे एडवर्ड, मेरी और एलिजाबेथ इन चारो के राजत्व-काल में यह 'विकार' रहा था। लेकिन तीन बार इसने अपने विचार बदले, दो बार यह रोमन कैथोलिक बना, दो बार प्रोटेस्टेण्ट हुआ। विकार को तो किसी भी दशा में अपना पद छोड़ना नहीं था, हलवा खाने के लिए वह श्रावक बनने को सदा तैयार था। पंडितजी को मत्रीपद की जरूरत न थी, परन्तु अध्यक्ष, नीति और परिस्थिति के बदलते हुए भी उन्हे नहीं छोड़ता था।

—अनु०

सुधारवादियो मे और उनसे आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी लोगो में पुरानी कशमकश जारी है। बहस की खास बाते ये थी कि किसी इन्टरनेशनल से तथा साम्राज्य-विरोधी सघ से और अखिल-विश्व-शान्ति सघ से अपना ताल्लुक जोडा जाय या न जोडा जाय और जिनेवा मे अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आफिस की जो कान्फ्रेन्स होने जा रही है उसमे अपने प्रतिनिधि भेजना मुनासिब होगा या नही ? इन सवालो से भी कही ज्यादा ज़रूरी यह बात थी कि काग्रेस के दोनो हिस्सो के दृष्टिकोण मे बहुत भारी फर्क था। एक हिस्सा तो मज़दूर-सघ के पुराने लोगो का था, जो राजनीति मे 'माडरेट' था और जो सचमुच इस बात को शक की निगाह से देखता था कि उद्योग-धधो के मजदूरो और मिल-मालिको के झगडो मे राजनीति को मिलाया जाये। उनका विश्वास था कि मज़दूरो को अपनी शिकायते दूर कराने से आगे नही जाना चाहिए और उसके लिए भी उन्हे फूंक-फूंककर कदम रखना चाहिए। इन लोगो का उद्देश्य यह था कि धीरे-धीरे मजदूरो की हालत को सुधारा जाय। इस दल के नेता थे एन० एम० जोशी, जोकि जिनेवा मे अक्सर हिन्दुस्तान के मजदूरो के प्रतिनिधि बनाकर भेजे जा चुके थे। दूसरा दल इनसे कही ज्यादा लडाकू था। राजनैतिक लड़ाई मे उसका विश्वास था और वह खुल्लमखुल्ला अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का ऐलान करता था। कुछ कम्यूनिस्टो का या कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते लोगो का इस दल पर असर था। हाँ, यह दल उनके नियंत्रण मे नही था। बम्बई मे कपडो के कारखानो के मज़दूर इस दल के हाथ मे थे। और उनकी रहनुमाई मे बम्बई के कपडे के कारखानों मे मजदूरो की एक बहुत बडी हडताल हुई थी, जो कुछ हद तक कामयाब भी हुई थी। बम्बई मे 'गिरनी कामगार यूनियन' नाम की एक नयी और ज़बरदस्त यूनियन कायम हुई थी जो बम्बई के मजदूरों पर हावी थी। आगे बढे हुए दल के असर मे एक और ताकतवर सघ जी० आई० पी० रेलवे के मज़दूरों का था।

जबसे ट्रेड यूनियन काग्रेस कायम हुई है तभी से उसकी कार्यकारिणी

और उसका दफ्तर एन० एम० जोशी और उनके नजदीकी साथियों के हाथ में रहा है और मजदूर-संघों के आन्दोलन को पैदा करने का श्रेय उन्हींको है। यद्यपि उग्र दल का मजदूर जनता पर ज्यादा जोर है, पर ऊपर से दल की नीति पर असर डालने का उन्हें कोई मौका नहीं मिला। यह हालत संतोषजनक नहीं कही जा सकती और न उससे सच्चे हालात का पता ही चल सकता है। इनमें आपस में बड़ा असन्तोष और झगड़ा था और उग्र दल के लोग चाहते थे कि वे ट्रेड यूनियन-कांग्रेस की ताकत को अपने काबू में करलें। इसके साथ ही साथ मामलों को बहुत ज्यादा बढ़ाने की अनिच्छा भी थी, क्योंकि लोगों को फूट हो जाने का डर था। ट्रेड यूनियन-आन्दोलन हिन्दुस्तान में अभी अपनी जवानी की तरफ बढ़ रहा था। वह कमजोर था और जो लोग उसे चला रहे थे उनमें से ज्यादातर खुद मजदूर नहीं थे। ऐसी हालतों में हमेशा बाहरवालों में यह प्रवृत्ति होती है कि मजदूरों को इस्तैमाल करके अपना मतलब गाँठें। हिन्दुस्तान की ट्रेड यूनियन कांग्रेस में और मजदूर-संघों में यह प्रवृत्ति साफ-साफ दिखायी देती थी। ताहम, सालों काम करके एन० एम० जोशी ने यह साबित कर दिया था कि वह मजदूर-संघों के सच्चे और उत्साही हितैषी हैं और जो लोग राजनैतिक दृष्टि से उन्हें नरम और फिसड्डी समझते थे वे भी यह मानते थे कि हिन्दुस्तान के मजदूरों के आन्दोलन में उन्होंने जो सेवायें की हैं वे कद्र के लायक हैं। नरम या आगे बढ़े हुए दोनों दलों में से बहुत ही कम आदमियों के लिए यह बात कही जा सकती थी।

झरिया में मेरी अपनी हमदर्दी आगे बढ़े हुए दल के साथ थी। लेकिन मैं नया-नया ही वहाँ पहुँचा था, इसलिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस की इस घरेलू लड़ाई में मेरा दिमाग चकराता था, अतएव मैंने यही तय किया कि मैं इन झगड़ों से अलग रहूँ। मेरे झरिया से चले आने के बाद ट्रेड यूनियन कांग्रेस के ओहदेदारों का सालाना चुनाव हुआ और कलकत्ते में मुझे यह मालूम हुआ कि अगले साल के लिए मैं उसका सभापति चुना गया हूँ। मेरा नाम नरम दलवालों ने पेश किया था, गालिबन

इसलिए कि जिस दूसरे उम्मीदवार का नाम उग्र दल ने पेश किया था उसको हराने का सबसे ज्यादा मौका मेरा नाम पेश करने मे ही था। इन महाशय ने रेलो के कर्मचारियों मे वास्तविक काम किया था, इसलिए अगर मै चुनाव के दिन झरिया मे मौजूद होता तो मुझे विश्वास है कि मै उन कार्यकर्त्ता उम्मीदवार के मुकाबले मे अपना नाम वापस ले लेता। मुझे यह बात खासतौर पर बेजा मालूम होती थी कि एक ऐसे शख्स को जिसने कुछ काम नही किया और नया-नया ही आया एकाएक सभापति की गद्दी पर डाल दिया जाये। यह बात खुद ही इस बात की सबूत थी कि हिन्दुस्तान मे मज़दूर-सघ का आन्दोलन अभी अपने बचपन मे है और कमज़ोर है।

१९२८ के साल में मजदूरो के झगडो और हडतालो की भरमार रही। १९२९ मे भी यही हाल रहा। बम्बई के कपडो के कारखानो के मज़दूर बहुत दुखी और लडाकू थे। उन्होने इन हडतालो की रहनुमाई की। बगाल के सन के कारखानो मे भी एक बहुत बडी हडताल हुई। जमशेदपुर के लोहे के कारखानो मे, और मेरा खयाल है कि रेलो के मज़दूरो मे भी हडताले हुई। जमशेदपुर की टीन की चद्दरो के कारखानों मे तो बहुत दिनो झगडा रहा। यह हडताल मजदूरो ने बहादुरी के साथ कई महीनो तक चलायी। यद्यपि इन मजदूरो से लोगों की बहुत ज्यादा हमदर्दी थी, फिर भी जो जबरदस्त कम्पनी इन कारखानो की मालिक थी उसने मजदूरों को कुचल दिया। इस कम्पनी का ताल्लुक बर्मा की तेल-कम्पनी से था।

सब मिलाकर ये दोनो साल मज़दूरो मे बेचैनी के साल थे और मज़दूरो की हडताल दिन-पर-दिन खराब होती जा रही थी। हिंदुस्तान मे लडाई के बाद के साल यहाँ के धन्धो के लिए मौज के साल थे। इन दिनो उन्होने अनाप-शनाप मुनाफा कमाया। सन या रुई के कारखानों ने पाँच या छ साल तक अपने हिस्सेदारो को जो मुनाफा बाँटा वह सौ फीसदी सालाना था—अक्सर वह डेढ सौ फीसदी तक पहुँचा। ये अनाप-शनाप मुनाफे सबके-सब कारखानों के मालिको और हिस्सेदारों की जेब

में गये। मज़दूरो की हालत जैसी-की-वैसी बनी रही। उनकी मज़दूरी मे जो थोडी-बहुत तरक्की हुई, वह आम तौर पर चीजो की कीमते बढ जाने से बराबर हो गयी। इन दिनों जब लोग धडा-धड कमा रहे थे तब भी ज्यादातर मजदूर बहुत ही बुरे घरो मे रहते थे और उनकी औरतो तक को कपडा भी पहनने को नही मिलता था। बम्बई के मजदूरों की हालत तो बहुत बुरी थी, लेकिन सन के कारखानो मे काम करनेवाले उन मज़दूरो की हालत तो बहुत बुरी थी, जिनके पास आप मोटर मे कलकत्ते के महलो से घटेभर के अन्दर पहुँच सकते थे। वहाँ बाल बिखरे और फटे-पुराने मैले-कुचैले कपडे पहने हुए अधनगी औरते महज रोटियों पर काम करती थी, इसलिए कि दौलत का एक लम्बा-चौडा दरिया लगातार ग्लासगो और डडी की तरफ बहता रहे और उसमे से कुछ हिस्सा थोडे-से हिन्दुस्तानियो की जेबो मे चला जाय।

तेजी के इन सालो मे कारखाने मजे से चलते रहे, यद्यपि मजदूरो की हालत पहले-जैसी बनी रही और उन्हे कुछ भी फायदा नही हुआ। लेकिन जब धूम का वक्त चला गया और अनाप-शनाप मुनाफा कमाना उतना आसान नही रह गया तब सारा बोझ मजदूरो के सिर पटक दिया गया। कारखाने के मालिक पुराने मुनाफे को भूल गये। उसे तो वे खा चुके थे और अब अगर उन्हे काफी मुनाफा नही होता है तो यह रोजगार किस तरह चले? इसीके फलस्वरूप मजदूरो में बेचैनी फैली झगडे खड़े हुए और बम्बई मे ऐसी भारी-भारी हडताले हुई कि देखने-वाले दग रह गये और जिनसे कारखानो के मालिक और सरकार दोनो ही डर गये। मज़दूरो के आन्दोलन मे वर्ग-चेतना आने लगी थी और विचार-धारा तथा सगठन दोनो ही दृष्टियो से वह लडाकू और खतरनाक होता जा रहा था। इधर राजनैतिक हालत भी तेजी के साथ बिगड रही थी और यद्यपि मजदूरो का आन्दोलन और राजनैतिक हलचल एक-दूसरे से अलग थे, उनका आपस में कोई सम्बन्ध न था, फिर भी कुछ हद तक वे एक-दूसरे के साथ-साथ चलते थे, इसलिए सरकार भविष्य को आशकारहित नही समझती थी।

मार्च १९२९ मे सरकार ने आगे बढे हुए दल मे से उनके कई सबसे ज्यादा नामी-नामी कार्यकर्त्ताओ को गिरफ्तार करके सगठित मजदूरो पर एकाएक हमला कर दिया। बम्बई की गिरनी कामगार यूनियन के नेता तथा बगाल, युक्तप्रान्त और पजाब के मजदूर-नेता गिरफ्तार कर लिये गये। इसमे से कुछ कम्यूनिस्ट थे, कुछ कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते और महज मजदूर-सघोंवाले थे। यह उस नामी मेरठ-केस की शुरुआत थी जो साढे चार वर्ष के करीब चला।

मेरठ के मुल्जिमो की मदद के लिए सफाई-कमिटी बनी। मेरे पिताजी इस कमिटी के सभापति थे तथा डाक्टर अन्सारी, मै तथा कुछ और लोग उसके मेम्बर थे। हमलोगो का काम मुश्किल था। मुकदमे के लिए रुपया इकट्ठा करना आसान न था। ऐसा मालूम होता था कि पैसेवाले लोगों को कम्यूनिस्ट समाजवादी आन्दोलन करनेवालो से कोई हमदर्दी नही थी, और वकील लोग पूरा महनताना लिये बिना काम करने को तैयार न थे, जो कि किसी का खून ही चूसकर दिया जा सकता था। हमारी कमिटी मे कई नामी वकील थे, जैसे पिताजी तथा दूसरे लोग। ये हर वक्त हमे सलाह देने और रास्ता दिखाने को तैयार थे। उसमे हमारा कुछ भी खर्च नही पडता था। लेकिन उनके लिए यह मुमकिन न था कि वे महीनो लगातार मेरठ मे ही बने रहे। उनके अलावा जिन वकीलों के पास हम गये, मालूम होता है, वे यह समझते थे कि यह मुकदमा हमारे लिए ज्यादा-से-ज्यादा रुपया कमाने का एक जरिया है।

मेरठ के मुकदमे के अलावा कुछ और डिफेस कमिटियो से भी मेरा ताल्लुक रहा है—जैसे एम० एन० राय के तथा दूसरे मुकदमों मे। हर मौके पर मुझे अपने पेशे के लोगों के लालचीपन को देखकर हैरत हुई है। इस सिलसिले मे मुझे सबसे पहला बडा धक्का उस वक्त लगा जब १९१९ मे पजाब मे फौजी क़ानून की रू से मुकदमे चल रहे थे। उन दिनो वकीलो के एक बहुत बडे लीडर ने इस बात पर ज़िद की कि उन्हे पूरी फीस दी जाय। यह रकम बहुत बडी थी। उन्होने इस बात का

कोई खयाल नही किया कि उनके मुवक्किल वे लोग है जो फौजी कानून के शिकार हुए है और उनमे उनका साथी एक वकील भी है। इनमे से बहुत-से लोगो को कर्ज़ लेकर या अपनी जायदादे बेच-बेचकर इन वकील साहब की फीस देनी पडी। इसके बाद मुझे जो तजुर्बे हुए वे तो और भी दु खदायी थे। हम लोगो को गरीब-से-गरीब लोगो के ताँबे के पैसे ले-लेकर रुपये इकट्ठे करने पडते थे। और वे बडे-बडे चैको के रूप मे वकीलो को दे देने पडते थे। यह बात हमे बहुत-ही अखरती थी। और फिर यह सब काम बिलकुल बेकार मालूम पड़ता था, क्योकि एक राजनैतिक मामले मे या मजदूरो के मामले मे हम सफाई दे या न दे, नतीजा गालिबन वही होता है। लेकिन मेरठ के मुकदमे जैसे मुकदमे मे, बिलाशक, सफाई देना कई दृष्टियो से लाजिमी था।

मेरठ-षड्यन्त्र-बचाव-कमिटी की मुल्जिमो के साथ आसानी से नही पटी। इन मुल्जिमो मे तरह-तरह के लोग थे, जिनकी सफाई भी अलग-अलग किस्म की थी, और कभी-कभी तो उनमें आपसी मेल कतई गायब रहता था। कुछ महीनो के बाद हमने बाकायदा कमिटी को तोड़ दिया और अपनी ज़ाती हैसियत से मदद करते रहे। राजनैतिक हालात जिस तरह बदलते जा रहे थे, उसकी तरफ हमारा ध्यान अधिकाधिक खिचने लगा और १९३० मे तो हम सब-के-सब जेल मे बन्द हो गये।

: २७ :

विक्षोभ का वातावरण

१९२९ की कांग्रेस लाहौर मे होनेवाली थी। वह दस साल के बाद फिर पंजाब मे आयी थी, और लोग दस वर्ष पहले की बाते याद करने लगे—१९१९ की घटनायें, जलियाँवालाबाग, फौजी कानून और उसके साथ होनेवाली बेइज्जतियाँ, अमृतसर का कांग्रेस-अधिवेशन, और उसके बाद असहयोग की शुरूआत। इन दस वर्षों मे बहुत-सी घटनाये हुई थी और हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गयी थी, मगर फिर भी उस और इस समय में समानताओ की कमी न थी। राजनैतिक विक्षोभ बढ रहा था, संघर्ष का वातावरण तेजी से बनता जा रहा था। आनेवाले संघर्ष की लम्बी छाया पहले से ही देश पर पड रही थी।

असेम्बली और प्रांतीय कौंसिलों मे बहुत समय से उन मुट्ठीभर लोगो के सिवा जो उनके चौके मे चक्कर काटा करते थे, लोगो की दिलचस्पी नही रही थी। ये असेम्बलियाँ और कौंसिले अपनी लकीर पीटा करती थी, जिनको सरकार को सत्तापरस्ती और स्वेच्छाचारी स्वरूप को ढकने के लिए एक टूटा-फूटा सहारा मिल जाता था, और लोगो को हिन्दुस्तान की पार्लमेण्ट होने और उसके मेम्बरो को भत्ता मिलने की बात करने का एक बहाना। असेम्बली का आखिरी सफल कार्य, जिसकी तरफ लोगों का ध्यान गया, १९२८ मे हुआ था, जबकि उसने साइमन-कमीशन से सहयोग न करने का प्रस्ताव पास किया था।

इसके बाद असेम्बली के प्रेसीडेण्ड और सरकार के बीच मे एक संघर्ष भी हुआ था। विट्ठलभाई पटेल, जो असेम्बली के स्वराजिस्ट प्रेसीडेण्ट थे, अपनी स्वतन्त्र वृत्ति के कारण सरकार के दिल मे काँटे की तरह खटकते थे और उनके पर काट देने की बहुत कोशिशें की गयीं। ऐसी बातो की तरफ ध्यान तो जाता था, मगर आम तौर पर जनता का ध्यान बाहर की घटनाओ की ही तरफ लगा हुआ था। मेरे पिताजी को अब कौंसिलों

के बारे मे कोई भ्रम नही रह गया था और वह अक्सर यह राय जाहिर करते थे कि इस अवस्था मे अब कौंसिलो से ज्यादा फायदा नही उठाया जा सकता। अगर कोई मुनासिब मौका आजावे तो वह उनमे से खुद भी वाहर निकल आना चाहते थे। हालाँकि उनका दिमाग वैधानिक था और कानूनी तरीको और ज़ाब्तो का आदी था, मगर हालत से मजबूरन उन्हे यही नतीजा निकालना पडा कि हिन्दुस्तान मे तो वैधानिक कहे जानेवाले तरीके बेकार और फिजूल है। वह अपने कानूनी दिमाग को यह कहकर तसल्ली दे देते थे कि हिन्दुस्तान में विधान ही नहीं है, और दरहकीहत यहाँ कानून की हुकूमत ही है, क्योकि यहाँ किसी एक व्यक्ति या दिल की मर्जी पर ही, जिस तरह जादूगर के पिटारे मे से अचानक कबूतर निकल पडते है उसी तरह आर्डिनेन्स वगैरा निकल पडते है। तबीयत और आदत से वह क्रान्तिकारी बिलकुल न थे, और अगर मध्यम-वर्गीय प्रजातन्त्रवाद जैसी कोई चीज़ होती तो वह बिलाशक विधान के वडे भारी स्तम्भ होते। मगर जैसी कि हालत थी, हिन्दुस्तान मे नकली पार्लमेण्ट का नाटक होने के कारण, यहाँ वैधानिक आन्दोलन करने की चर्चा से वह ज्यादा-ज्यादा चिढने लगे थे।

गाधीजी अब भी राजनीति से अलग ही रह रहे थे, सिवाय इसके कि कलकत्ता-काग्रेस मे उन्होने हिस्सा लिया था। मगर वह सब घटनाओ की जानकारी रखते थे, और काग्रेस-नेता उनसे अक्सर सलाह-मशवरा किया करते थे। कुछ वर्षो से उनका खास काम खादी-प्रचार हो गया था, और इसके लिए उन्होने सारे हिन्दुस्तान मे लम्बे-चौडे दौरे किये थे। उन्होने बारी-बारी से एक-एक प्रान्त को लिया, वह उसके हर ज़िले और करीब-करीब हर महत्त्वपूर्ण कस्बे मे गये, और दूर के और देहाती हिस्सो मे भी गये। हर जगह उनके लिए लोगो की भारी-भारी भीड जमा होती थी और उनका कार्यक्रम पूरा करने के लिए पहले से बहुत तैयारी करनी पडती थी। इस तरह से उन्होने बार-बार हिन्दुस्तान का दौरा किया है, और उत्तर से दक्षिण तक और पूर्वी पहाडो से पश्चिमी समुद्र तक इस विशाल देश के एक-एक कोने को उन्होने देख लिया है। मै

नही समझता कि और किसी मनुष्य ने कभी हिन्दुस्तान मे इतना सफर किया होगा।

प्राचीन काल मे बडे-बडे भ्रमण करनेवाले थे, जो हमेशा घूमते ही रहते थे और सैलानी तबीयत के यात्री थे, मगर उनके यात्रा के साधन बहुत धीमे थे। और इस तरह का जीवन-भर का भ्रमण भी एक साल के रेल और मोटर के सफर का मुकाबला नही कर सकेगा। गाधीजी रेल और मोटर से जाते थे, मगर वह सिर्फ उन्हीसे बँधे हुए नही थे, वह पैदल भी चलते थे। इस तरह उन्होने हिन्दुस्तान और यहाँ के लोगो का अद्भुत ज्ञान प्राप्त किया, और इसी तरीके से करोडो लोगो ने उन्हे देखा और उनके व्यक्तिगत सम्पर्क मे आये।

वह १९२९ मे अपने खादी-सबन्धी दौरे मे युक्तप्रान्त मे आये, और उन्होने निहायत गरम मौसम मे इस प्रान्त मे कई हफ्ते बिताये। मै कभी-कभी उनके साथ कई दिनों तक लगातार रहता, और हालाँकि उनके आने पर इससे पहले भी बडी-बडी भीड देख चुका था, मगर फिर भी उनके लिए इकठी हुई इन भीडो को देखकर ताज्जुब किये बगैर न रहता। यह हाल गोरखपुर जैसे पूर्वी जिलो मे खास तौर पर देखा जाता था, जहाँ कि आदमियो का मजमा देखकर टिड्डी-दल की याद आ जाती थी। जब हम देहात मे मोटर से गुजरते थे, तो कुछ-कुछ मीलो के फासले पर ही दस हज़ार से लेकर पच्चीस हजार तक की भीड हमे मिला करती थी, और सभाओं मे तो अक्सर लाख-लाख से भी ज्यादा तादाद हो जाती थी। सिवाय किसी-किसी बडे शहर के, सभाओं मे लाउड स्पीकरो का इन्तजाम न था, और ज़ाहिरा सब आदमियो को भाषण सुनायी देना नामुमकिन था। शायद वे कुछ सुनने की उम्मीद भी नही करते थे, वे तो महात्माजी के दर्शन करके ही सतुष्ट हो जाते थे। गाधीजी अपने पर अनावश्यक बोझ न पड़ने देते हुए, आम तौर पर, छोटा-सा भाषण देते थे। नही तो, इस तरह हर घण्टे और हर रोज काम चलाना बिलकुल असम्भव हो जाता।

मै सारे युक्तप्रान्त के दौरे मे उनके साथ नही रहा, क्योंकि मेरा

उनको कोई खास उपयोग नही हो सकता था, और दौरे के दल मे मेरे एक के और बढ जाने से कोई मतलब न था। यो मजमो से मुझे परहेज़ न था, मगर गाधीजी के साथ चलनेवालो का आम तौर पर जैसा हाल होता है, यानी धक्के खाना और अपने पैर कुचलवाना, ये मुझे ललचाने को काफी न थे। मेरे पास करने को दूसरा काम भी काफी था, और सिर्फ खादी के प्रचार मे ही, जो मुझे बढती हुई राजनैतिक हालत मे एक अपेक्षाकृत छोटा ही काम नजर आता था, लग जाने की मेरी इच्छा न थी। किसी हद तक मै गैर-राजनैतिक कामो मे लगे रहने से नाराज था, और मै गाधीजी विचारो का आधार कभी नही समझ सका। उन दिनो वह खादी-कार्य ले लिए धन इकट्ठा कर रहे थे, और वह अक्सर कहते थे कि मुझे 'दरिद्र-नारायण' अर्थात् 'गरीबो के नारायण' या 'गरीबो में रहनेवाले नारायण' के लिए धन चाहिए। उनका यही मतलब था कि उससे वह गरीबो की मदद करेगे, उन्हे घरेलू धन्धो द्वारा काम दिलायेगे। मगर इससे अप्रत्यक्ष रूप से दरिद्रता—गरीबी—का गौरव बढता दिखायी देता था, क्योंकि नारायण खासकर गरीबो का नारायण है, गरीब उसके प्यारे है। मै समझता हूँ कि सब जगह धार्मिक भावना यही है। मै इस बात को पसन्द नही कर सकता था, क्योंकि मुझे तो दरिद्रता एक घृणित चीज मालूम होती थी, जिससे लडकर उसे उखाड फेकना चाहिए, न कि उसे किसी तरह बढावा देना चाहिए। इसके लिए लाज़िमी तौर पर उस प्रणाली पर हमला करना चाहिए जो दरिद्रता को बरदाश्त करती और पैदा करती है, और जो लोग ऐसा करने से झिझकते है उन्हें मजबूरन दरिद्रता को किसी-न-किसी तरह उचित ठहराना ही पडता था। वे यही विचार कर सकते थे कि दुनिया मे सदा चीजों की कमी ही रहेगी, और ऐसी दुनिया की कल्पना नही कर सकते थे कि जिसमे सबको जीवन की आवश्यक चीज़े भरपूर मिल सके। शायद उनके विचारानुसार हमारे समाज मे गरीब और अमीर तो हमेशा ही बने रहेंगे।

जब कभी मुझे इस बारे मे गाधीजी से बहस करने का मौका मिला तभी वह इस बात पर ज़ोर देते थे कि अमीर लोगों को अपनी दौलत

जनता की धरोहर की तरह समझनी चाहिए। यह दृष्टिकोण काफी पुराना है और हिन्दुस्तान मे, मध्यकालीन यूरप मे भी, अक्सर पाया जाता है। किन्तु मै तो इस बात को बिलकुल नही समझ सका हूँ कि कोई भी शख्स ऐसा हो जाने की कैसे उम्मीद कर सकता है, या यह कैसे कल्पना कर लेता है, कि इसीसे समाज की समस्या हल हो जायगी ?

असेम्बली, जैसा कि मैने ऊपर कहा है, सुस्त और सोती रहनेवाली हो गयी थी और उसकी बेलुत्फ कार्रवाइयो मे शायद ही कोई दिलचस्पी लेता हो। जब भगतसिह और बी० के० दत्त ने दर्शकों की गैलरी से उस सभा-भवन के फर्श पर दो बम फेक दिये, तब एक दिन एक झटके की तरह एकाएक उसकी नीद खुली। किसीको सख्त चोट नही आयी, और शायद बम इसी इरादे से फेके गये थे, जैसे कि मुल्जिमो ने बाद मे बयान किया था, कि शोर और खलबली पैदा की जाय, न कि किसीको चोट पहुँचाई जाये।

उससे सचमुच असेम्बली मे और बाहर खलबली मच गयी। आतक-कारियो के दूसरे काम इतने निरापद न थे। एक नौजवान अग्रेज पुलिस अफसर को, जिसके बारे मे कहा गया था कि उसने लाला लाजपतराय को पीटा था, लाहौर मे गोली से मार दिया गया। बगाल और दूसरी जगहो पर ऐसा मालूम होने लगा कि आतककारियो की हलचले फिर से शुरू होगयी। षड्यन्त्र के बहुत-से मुकदमे चलने लगे, और नजरबन्दी की—यानी बगैर मुकदमा चलाये और सजा सुनाये जेल मे रक्खे जाने-वाले या दूसरी तरह से रोके हुए लोगो की—तादाद जल्दी बढ गयी।

लाहौर षड्यन्त्र के मुकदमे मे अदालत मे पुलिस ने कई असाधारण काम किये, और इस कारण भी इस मुकदमे की तरफ लोगो का ध्यान बहुत गया। अदालत और जेल मे मुल्जिमो के साथ जो बर्त्ताव किया जा रहा था, उसके विरोध-स्वरूप ज्यादातर कैदियो ने भूख-हडताल कर दी। यह ठीक किन कारणो से शुरू हुई, यह तो मै भूल गया हूँ, मगर अन्त मे यह बडा सवाल बन गया कि कैदियो, खासकर राजनैतिक कैदियो, के साथ आमतौर पर कैसा बर्त्ताव होना चाहिए। यह हडताल

हफ्तो तक बढती गयी, और इससे सारे देश मे खलबली मच गयी। मुल्जिमो की शारीरिक कमजोरी के सबब से उन्हे अदालत मे नही ले जाया जा सकता था, और बार-बार कार्रवाई मुल्तवी करनी पडती थी। इसपर भारत-सरकार ने ऐसा कानून बनाने का सूत्रपात किया, जिससे मुल्जिमो या उनके पैरोकारो की गैर-मौजूदगी मे भी अदालत अपनी कार्रवाई जारी रख सके। उन्हे जेल के बर्त्ताव के प्रश्न पर भी गौर करना पडा।

जब हडताल एक महीने तक चल चुकी थी, उस वक्त मै इत्तफाक से लाहौर पहुँचा। मुझे कुछ कैदियो से जेल मे मिलने की इजाजत दे दी गयी, और मैने इसका फायदा उठाया। भगतसिह से यह मेरी पहली मुलाकात थी। मै जतीन्द्रनाथ दास वगैरा से भी मिला। भगतसिह का चेहरा आकर्षक था और उससे बुद्धिमत्ता टपकती थी। वह निहायत गम्भीर और शान्त था। उसमे गुस्सा नही दिखायी देता था। उसकी दृष्टि और बातचीत मे बडी सुजनता थी। मगर मेरा खयाल है कि कोई भी शख्स जो एक महीने तक उपवास करेगा, आध्यात्मिक और सौजन्यपूर्ण दिखायी देने लगेगा। जतीनदास तो और भी मृदुल, एक कन्या की तरह कोमल और सुशील, मालूम पड़ा। जब मै उससे मिला, उसे काफी दर्द हो रहा था। बाद मे वह, उपवास से ही, भूख-हडताल के इकसठवे रोज मर गया।

भगतसिह की खास हसरत अपने चाचा सरदार अजीतसिह से, जो १९०७ मे लाला लाजपतराय के साथ निर्वासित कर दिये गये थे, मिलना या कम-से-कम उनकी खबर पाना मालूम हुई। वह कई बरसो तक विदेशो मे जिला-वतन रहे। कुछ-कुछ यह भी सुना गया था कि वह दक्षिण अमेरिका मे बस गये है, मगर मुझे खयाल नही है कि उनके बारे में कोई भी निश्चित खबर हो। मुझे यह भी पता नही कि वह मर गये है या जीते है।

जतीन दास की मृत्यु से सारे देश मे सनसनी पैदा होगयी। इससे राजनैतिक कैदियो के बर्त्ताव का सवाल आगे आगया, और इसपर

सरकार ने एक कमिटी मुकर्रर करदी। इस कमिटी के विचारो के फल-स्वरूप नये कायदे जारी किये गये, जिनसे कैदियो के तीन दर्जे कर दिये गये। इन कायदो से कुछ सुधार होने की सूरत नजर आयी, मगर असल मे कुछ भी फर्क नही पड़ा, और हालत अत्यन्त असन्तोषजनक ही रही, और अब भी है।

धीरे-धीरे गरमी और बरसात की ऋतु बीतकर ज्योही शरद-ऋतु आयी, प्रान्तीय काग्रेस कमिटियाँ काग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के लिए अध्यक्ष चुनने के काम मे लग गयी। इस चुनाव की एक लम्बी कार्रवाई होती है, जो अगस्त से अक्तूबर तक चलती रहती है। १९२९ मे गाँधीजी को अध्यक्ष बनाने के पक्ष मे करीब-करीब एकमत था। उन्हे दूसरी बार सभापति बनाने की इस इच्छा से, वास्तव मे, काग्रेत के नेताओ मे उनका पद और ऊँचा नही होजाता था, क्योकि वह तो कई बरसो से एक तरह के सभापतियो के भी दादा बने हुए थे। उस वक्त सबको यही लगा कि चूँकि लडाई अनकरीब है और उसकी सारी बागडोर यो भी उन्हीके हाथो मे रहनेवाली है, तो फिर काग्रेस के 'विधिवत्' नेता भी उस वक्त के लिए उन्हीको क्यो न बनाया जाये ? इसके सिवा, इतना बड़ा और कोई आदमी सामने न था जो उस समय सभापति बनाया जाता।

इसलिए प्रान्तीय कमिटियो ने सभापति-पद के लिए गाधीजी की सिफारिश की। मगर उन्होने मजूर न किया। हालाँकि उन्होने जोर के साथ इन्कार किया था, मगर उसमे दलील करने की गुजाइश मालूम हुई और यह उम्मीद की गयी कि वह उसपर दुबारा गौर कर लेगे। लखनऊ मे इसका आखिरी फैसला करने के लिए अखिल-भारतीय काग्रेस-कमिटी की मीटिंग की गयी, और आखिरी घडी तक करीब-करीब हम सभीका यह खयाल था कि वह राजी हो जायेगे। मगर ऐसा न हुआ और आखिरी घडी मे उन्होने मेरा नाम पेश किया और उसपर जोर दिया। उनके आखिरी इन्कार से अखिल-भारतीय काग्रेस-कमिटी के लोग तो कुछ-कुछ भौचक्के रह गये, और इस विषम स्थिति मे डाले

जाने से कुछ-कुछ नाराज़ भी हुए। किसी दूसरे शख्स के उपलब्ध न होने की दशा मे, बदर्जे लाचारी, उन्होने आखिर मुझको चुन लिया।

मुझे पहले कभी इतनी झुंझलाहट और जिल्लत महसूस नही हुई जितनी इस चुनाव पर। यह बात नही थी कि मुझे इस इज्ज़त बख्शे जाने का—क्योकि यह एक बडी भारी इज्जत की बात है—अहसास न हो, और अगर मै मामूली तरीके से चुना जाता तो मुझे खुशी भी हुई होती। मगर मुझे यह इज्जत तो सीधे रास्ते या बगल के रास्ते से भी नही मिली, मै तो गोया किसी छिपे रास्ते से आ खडा हुआ और अचानक लोगो को मुझे मजूर कर लेना पडा। उन्होने किसी तरह इसे बरदाश्त किया, और दवा की गोली की तरह मुझे निगल लिया। इससे मेरे स्वाभिमान को चोट पहुँची, और मुझे करीब-करीब यह महसूस हुआ कि मै इस इज्जत को लौटा दूं। मगर खुशकिस्मती से मैने अपने भावो को प्रकट करने से अपने-आपको रोक लिया, और भारी कलेजा लिये हुए वहाँसे चुपचाप चला आया।

इस फैसले पर जिसको सबसे ज्यादा खुशी हुई वह शायद मेरे पिताजी थे। वह मेरी राजनीति को पसन्द नही करते थे, मगर वह मुझे तो बहुत ज्यादा चाहते थे, और मेरे लिए कुछ भी अच्छी बात होने से उन्हे खुशी होती थी। अक्सर वह मेरी नुक्ताचीनी करते थे और मुझसे कुछ रुखाई से बोला करते थे, मगर कोई भी आदमी, जो उनकी सदिच्छा बनाये रखने की परवा करता हो, उनके सामने मेरे खिलाफ कुछ कह नही सकता था।

मेरा चुनाव मेरे लिए एक बडी इज्जत और ज़िम्मेदारी की बात थी; और यह चुनाव इसलिए महत्त्व रखता था कि अध्यक्ष-पद पर बाप के बाद फौरन ही बेटा आ रहा था। यह अक्सर कहा गया कि मै कांग्रेस का सबसे-कम उम्र का सभापति था—उस वक्त मेरी उम्र ठीक चालीस साल की थी। मगर यह गलत है। मेरा खयाल है कि गोखले की भी करीब-करीब यही उम्र थी, और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद की (हालाँकि वह मुझसे कुछ बडे है) उम्र तो शायद चालीस से भी कम थी

जबकि वह सभापति बने थे। मगर गोखले जबकि वह ३५-४० के अन्दर ही थे, तब भी योग्यता के लिहाज़ से बड़े राजनीतिज्ञो मे माने जाते थे, और अबुलकलाम आजाद की सूरत-शक्ल ऐसी बन गयी थी जो उनकी विद्वता के अनुकूल आदरणीय थी। अब चूँकि मुझमे राजनीतिज्ञता का गुण शायद ही कभी माना गया हो, और मुझपर कभी बडा विद्वान् होने का इलज़ाम भी किसीने नहीं लगाया, इसलिए मै बडी उम्र के होने के इलज़ाम से बच गया हूँ—भले ही मेरे बाल पक गये है और मेरा चेहरा भी उसकी चुगली खा देता है।

लाहौर-काग्रेस नज़दीक आती जाती थी। इस बीच घटनाये एक-एक करके ऐसी घटती जाती थी, जिनसे मालूम होता था कि वे खुद अपनी ही किसी ताकत से आगे बढती जा रही है। व्यक्ति कितने ही बडे क्यो न थे, मगर उनका बहुत ही थोडा हिस्सा था। व्यक्ति को यही मालूम होता था कि वह किसी बडी मशीन के अन्दर, जो बेरोक आगे बढ़ती हुई चली जा रही थी, सिर्फ एक पुर्जे की तरह ही है।

भाग्य की इस प्रगति को, शायद रोकने की आशा से ब्रिटिश सरकार एक कदम आगे बढी, और वाइसराय लार्ड अर्विन ने एक गोल-मेज-कान्फ्रेन्स करने की बाबत ऐलान किया। उस ऐलान के शब्द बडी चालाकी-भरे थे, जिनका मतलब 'बहुत कुछ' भी और 'कुछ नही' भी हो सकता था, और हम कई को तो यह साफ मालूम होता था कि 'कुछ नहीं' ही निकलेगा। और अगर उसमे ज्यादा मतलब भी होता, तो भी हम जो कुछ चाहते थे उसके करीब तक भी वह नही पहुँच सकता था। वाइसराय के इस ऐलान के निकलते ही फौरन, और बडी जल्दी से, दिल्ली में 'लीडरो की कान्फ्रेन्स' बुलाई गयी, और कई दलों के लोग उसमे बुलाये गये। उसमे गाधीजी, मेरे पिताजी और विट्ठलभाई पटेल भी (जो उस समय तक असेम्बली के प्रेसीडेण्ट ही थे) मौजूद थे, और तेजबहादुर सप्रू वगैरा नरम दल के नेता भी थे। सबकी सहमति से एक सयुक्त प्रस्ताव या वक्तव्य तैयार किया गया, जिसमें वाइसराय का ऐलान कुछ शर्तो के साथ, जिनके बारे में लिख दिया गया कि ये

ज़रूरी हैं और पूरी की जानी चाहिएँ, मंजूर किया गया। अगर इन शर्तों को सरकार मंजूर कर लेती तो सहयोग दिया जाता। ये शर्तें[1] काफी वजनदार थी, और उनसे कुछ तो फर्क होता ही।

नरम और प्रगतिशील सभी दलो के द्वारा ऐसा प्रस्ताव मंजूर किया जाना एक बडी विजय ही थी। मगर काग्रेस के लिए तो यह नीचे गिरना था। हाँ, सबके बीच मे एक सर्वसम्मत बात के रूप मे वह ऊँची चीज़ थी, मगर उसमे एक घातक पकड भी थी। उन शर्तों को देखने के कम-से-कम दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण थे। काग्रेस के लोग तो उन्हें सारभूत अनिवार्य मानते थे, जिनके पूरा हुए बिना कोई सहयोग नही हो सकता था। उनकी निगाह से वे कम-से-कम शर्तें थी। यह बात काग्रेस-कार्य-समिति की एक बाद की बैठक मे साफ कर दी गयी और उसमे यह भी कह दिया गया कि यह तजवीज सिर्फ अगली काग्रेस तक के लिए ही है। मगर नरम दलो के लिए ये ज्यादा-से-ज्यादा माँगें थी, जिनका बयान किया जाना अच्छा था, मगर जिनपर इतना जोर नही दिया जा सकता था कि सहयोग तक से इन्कार कर दिया जाय। उनकी दृष्टि से वे शर्तें महत्त्वपूर्ण कहलाते हुए भी वास्तव मे कोई शर्तें नही थी। और बाद में हुआ भी यह कि, जबकि इनमें से एक भी शर्त पूरी नही की गयी और हममे से ज्यादातर लोग बीसियो हजार दूसरे आदमियों के साथ जेल मे पडे थे, उस वक्त, हमारे नरमदली और सहयोगी मित्र,

---

[1] शर्तें ये थी:—

१—प्रस्तावित कान्फ्रेन्स में सारी बातचीत हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण औपनिवेशिक पद के आधार पर होनी चाहिए।

२—कान्फ्रेन्स में कांग्रेस के लोगो का सबसे ज्यादा प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

३—राजनैतिक क़ैदियों की आम रिहाई हो।

४—अभी से आगे हिन्दुस्तान का शासन, मौजूदा हालात में जहाँ-तक मुमकिन है, उपनिवेश-शासन की लाइन पर चलना चाहिए।

जिन्होंने उस वक्तव्य पर हमारे साथ दस्तखत किये थे, हमें जेल मे डालनेवालो को सहयोग दे रहे थे।

हममे से ज्यादातर लोगों को अन्देशा तो था कि ऐसी बात होगी—मगर यह उम्मीद नही थी कि इस हदतक होगी। लेकिन हमे कुछ-कुछ यह भी उम्मीद थी कि इस सयुक्त कार्य से, जिसमे काग्रेस के लोगो ने अपने-आपको इतना दबाया है, यह भी नतीजा होगा कि लिबरल और दूसरे लोग ब्रिटिश सरकार को मनमाना और एक-सा सहयोग देने की आदत से बाज़ आवेगे। हम कई लोगो की निगाह में तो, जो इस समझौते के प्रस्ताव को दिल से नापसन्द करते थे, इसका ज्यादा ज़बरदस्त कारण यह था कि इससे हमारे कांग्रेस के लोगो को आपस मे एक बनाये रखा जाय। एक बडी लडाई की शुरुआत मे हम काग्रेस मे फूट होना बरदाश्त नही कर सकते थे। यह तो अच्छी तरह मालूम था कि हमारी पेश हुई शर्तों को सरकार नही मान सकेगी, और इस तरह हमारी स्थिति और भी मजबूत हो जायगी, और हम अपने बहुमत को भी अपने साथ आसानी से ले चल सकेगे। यह सिर्फ कुछ ही हफ्तों का सवाल था। दिसम्बर आया, कि लाहौर-काग्रेस नजदीक आयी।

फिर भी वह सयुक्त वक्तव्य हममे से कुछ लोगो के लिए एक कडवी घूँट था। स्वाधीनता की मॉग को छोड देना, चाहे सिर्फ कल्पना मे ही और सिर्फ थोडी देर के लिए क्यो न हो, एक गलत और खतरनाक बात थी। इसका मतलब यह था कि स्वाधीनता की बात सिर्फ एक चाल थी, जिसकी बिना पर कुछ सौदा किया जा सके, वह कोई सारभूत चीज़ न थी, जिनके बगैर हमे कभी तसल्ली ही न हो सके। इसलिए मै दुविधा मे पड गया और मैंने वक्तव्य पर दस्तखत नही किये (सुभाष बोस ने तो निश्चित रूप से दस्तखत करने से इन्कार कर दिया); मगर, जैसा कि मुझसे अक्सर होता है, बहुत कहने-सुनने पर मै नरम पड गया और मैंने दस्तखत कर दिये। मगर फिर भी मैं बडी बेचैनी लेकर आया, और दूसरे ही दिन मैंने काग्रेस के सभापति-पद से अलग हो जाने का विचार किया और अपना यह इरादा गाधीजी को लिख भेजा।

मैं नहीं समझता कि मैंने यह गम्भीरता से लिखा था, हालांकि मैं विक्षुब्ध तो काफी हो गया था। फिर गांधीजी का एक तसल्ली का पत्र आने और तीन दिन तक सोचते रहने से आखिर मैं शान्त हो गया।

लाहौर-कांग्रेस से कुछ ही समय पहले, कांग्रेस और सरकार के बीच में समझौते का कोई आधार ढूंढने की एक आखिरी कोशिश की गयी। वाइसराय लार्ड इर्विन के साथ एक मुलाकात का इन्तज़ाम किया गया। मुझे नहीं मालूम कि इस मुलाकात के इन्तज़ाम में पहला कदम किसने उठाया, मगर मेरा अन्दाज़ है कि विट्ठलभाई पटेल ने ही यह खास तौर पर किया होगा। इस मुलाकात में गांधीजी और मेरे पिताजी कांग्रेस का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए मौजूद थे, और मेरे खयाल से जिन्ना साहब, सर तेजबहादुर सप्रू और प्रेसीडेण्ट पटेल भी थे। इस मुलाकात का कुछ नतीजा न निकला। सहमत होने का कोई सामान्य आधार हाथ न आया, और यह पाया गया कि दो खास पार्टियाँ, सरकार और कांग्रेस, एक-दूसरे से बहुत फ़ासले पर थीं। इसलिए अब इसके सिवा कुछ बाकी न रहा कि कांग्रेस अपना कदम आगे बढ़ावे। कलकत्ते में दी हुई एक साल की मियाद खतम हो रही थी, अब कांग्रेस का आदर्श हमेशा के लिए स्वाधीनता घोषित होने को था, और उसे प्राप्त करने के लिए ज़रूरी कार्रवाइयाँ करने को थीं।

लाहौर-कांग्रेस से पहले के इन आखिरी हफ़्तों में मुझे एक दूसरे क्षेत्र में भी ज़रूरी काम करना था। ट्रेड यूनियन कांग्रेस नागपुर में होनेवाली थी, और इस साल उसका प्रेसीडेण्ट होने के कारण मुझे उसका सभापतित्व करना था। यह बहुत ही गैरमामूली बात थी कि एक ही आदमी राष्ट्रीय कांग्रेस और ट्रेड-यूनियन कांग्रेस दोनों का ही कुछ हफ़्तों के अन्दर सभापतित्व करे। परन्तु मैंने यह उम्मीद की थी कि मैं दोनों कांग्रेसों को जोड़नेवाली कड़ी बन जाऊँगा, और दोनों को ज्यादा नज़दीक ले आऊँगा, जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस तो ज्यादा समाजवादी और ज्यादा श्रमिक-पक्षी हो जाये और संगठित मज़दूर-पक्ष राष्ट्रीय संग्राम में साथ दे।

मगर शायद यह उम्मीद झूठी थी, क्योंकि राष्ट्रीयता समाजवाद

और श्रमिकपक्षीय दिशा मे दूर तक तभी जा सकती है जब वह राष्ट्रीयता न रहे। फिर मुझे लगा कि हालाँकि काग्रेस का दृष्टिकोण मध्यमवर्गीय है, फिर भी देश मे वही एक कारगर क्रान्तिकारी ताकत है। इस हालत मे मजदूर-वर्ग को उसकी मदद करनी चाहिए, उसके साथ सहयोग करना चाहिए, और उसको अपने असर मे लाना चाहिए। मगर साथ ही उसको अपनी हस्ती और अपनी विचार-धारा अलग कायम रखनी चाहिए। मुझे उम्मीद है कि जैसे-जैसे घटनाये घटती जायेगी और काग्रेस सीधे सघर्ष में पडती जायगी, वैसे-वैसे वह अपने-आप लाजिमी तौर पर ज्यादा उग्र आदर्श या दृष्टिकोण पर आती जायगी। पिछले बरसों मे काग्रेस का काम किसानो और गाँवो की तरफ बढा है। अगर इसी तरफ इसका कदम बढता रहा तो किसी दिन यह किसानो का एक बडा सगठन बन जायगी, वर्ना ऐसा सगठन तो हो ही जायगा जिसमे किसान-वर्ग प्रधान हो। सयुक्तप्रान्त की कई जिला-कमिटियों मे इस वक्त भी किसानो के प्रतिनिधि तादाद मे बहुत थे, हालाँकि नेतृत्व मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगो ने अपने हाथ मे ले रक्खा था।

इस तरह से देहात और शहरों के निरन्तर सघर्ष का राष्ट्रीय काग्रेस के और ट्रेड-यूनियन काग्रेस के सम्बन्ध पर असर होने की सभावना थी। मगर वह सम्भावना दूर थी, क्योंकि मौजूदा राष्ट्रीय काग्रेस मध्यमवर्गीय लोगों के हाथ मे है और उसपर शहरवालो का कब्जा है, और जबतक राष्ट्रीय स्वाधीनता का सवाल हल नही हो जाता है तबतक उसकी राष्ट्रीयता ही मैदान में प्रधान रहेगी और वही देश की सबसे जबरदस्त भावना रहेगी। फिर भी मुझे यही दिखायी दिया कि काग्रेस को सगठित मजदूर-वर्ग के नजदीक लाना स्पष्ट तौर पर अच्छा है, और युक्तप्रान्त मे तो हमने प्रान्तीय काग्रेस कमिटी मे ट्रे० यू० का० की प्रान्तीय शाखा से प्रतिनिधि भी बुलाये थे। काग्रेस के कई लोगों ने भीमजदूरो की हलचलो मे बडा हिस्सा लिया था।

मगर मजदूरों के कुछ आगे बढे हुए दल राष्ट्रीय काग्रेस से झिझकते थे। वे इसके नेताओ पर अविश्वास करते थे और इसके आदर्श को

मध्यमवर्गीय और प्रतिगामी समझते थे, और मजदूर दृष्टिकोण से यह सचमुच ऐसा था भी। जैसाकि इसके नाम से ही जाहिर होता है, काग्रेस तो एक राष्ट्रीय सगठन था।

१९२९ ईस्वी भर हिन्दुस्तान के मजदूर-सघ एक नये सवाल पर, यानी हिन्दुस्तानी मजदूरो के विषय मे नियुक्त रायल कमीशन पर, जिसका नाम व्हिटले-कमीशन था, बहुत विक्षुब्ध रहे थे। बायाँ-पक्ष (Left wing) कमीशन का बहिष्कार करने की राय रखता और दाहिना (Right wing) सहयोग देने की तरफ था, और चूँकि दाहिने पक्ष के नेताओ को कमीशन मे मेम्बर बना दिया गया था, इसलिए यह कुछ व्यक्तिगत मामला भी बन गया था। और कई बातो की तरह इस बात मे भी मेरी हमदर्दी बाये-पक्ष की तरफ थी, और खासकर इसलिए कि यही राष्ट्रीय काग्रेस की नीति थी। जबकि हम सीधे हमले की लड़ाई चला रहे है या चलानेवाले है उस वक्त सरकारी कमीशनों से सहयोग करना निरर्थक बात मालूम हुई।

नागपुर ट्रेड यूनियन काग्रेस मे व्हिटले-कमीशन के बहिष्कार का यह सवाल एक बडा सवाल बन गया, और दूसरे भी कई बहसतलब सवालात पर बाये पक्ष को कामयाबी मिली। इस काग्रेस मे मैंने बहुत कम नुमायाँ हिस्सा लिया। मै मजदूर-क्षेत्र मे बिलकुल नया था। अभी मै रास्ता ढूँढता रहा था, इसलिए मै थोडा झिझकता रहा। आमतौर पर मै अपनी राय ज्यादा आगे बढे हुए दलो की तरफ जाहिर करता था, मगर मैंने किसी भी जमात के साथ होजाने से अपने को बचाया। मैंने सचालन करनेवाले अध्यक्ष की बनिस्बत एक एक निष्पक्ष 'स्पीकर' की तरह से ज्यादा काम किया। इस तरह ट्रे० यू० का० के टुकडे होजाने और एक नये नरम सगठन के कायम हो जाने मे मै प्राय. एक खामोश तमाशबीन बना रहा। ज़ाती तौर पर मुझे यह महसूस हुआ कि दाहिने पक्ष के दलो का अलग हो जाना मुनासिब न था, मगर बाये पक्ष के कुछ नेताओ ने ही इस काम को जल्दी करवा दिया और उन्हें अलग हो जाने का पूरा-पूरा बहाना दे दिया। दाहिने और बाये पक्षो के झगडों के बीच के बड़े

भारी दल को कुछ-कुछ बेबसी मालूम हुई। अगर इस दल का पथ-प्रदर्शन ठीक तरह किया गया होता तो शायद इसने उन दोनो दलो को सयम मे रक्खा होता और ट्रे० यू० का० मे फूट पड़ने से बचा ली होती, और अलग-अलग टुकडे भी होते तो उसके इतने खराब नतीजे न होते जितने कि हुए।

उस समय जो कुछ हुआ उससे मजदूर-सगठन के आन्दोलन को एक जबरदस्त धक्का लगा, जिससे वह अभीतक सम्हल नही सका है। सरकार ने मज़दूर-आन्दोलन के आगे बढे हुए दलो पर पहले ही से हमला शुरू कर दिया था, और उसका पहला फल हुआ मेरठवाला मुकदमा। सरकार का हमला जारी रहा। मालिको ने भी देखा कि अपने लाभ की पूर्त्ति के लिए यही ठीक मौका है। १९२९-३० के जाडे मे ससार-व्यापी मन्दी शुरू हो ही गयी थी। आर्थिक मन्दी के धक्के से, सब तरह से हमला किये जाने से, और अपने ट्रेड-यूनियन सगठन की हालत उस समय बहुत ही कमजोर होने के कारण, हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग के लिए बडी कठिनाई का ज़माना आगया। वे लाचार होकर देख रहे थे कि उनकी हालत दिन-ब-दिन गिरती जा रही है। इसके बाद भी या दूसरे साल एक और टुकडा—कम्यूनिस्ट हिस्सा—ट्रेड यूनियन-काग्रेस से अलहदा होगया। इस तरह उसूलन हिन्दुस्तान मे मजदूर-सघो के तीन सगठन बन गये—एक नरम दल, एक मुख्य टी० यू० काग्रेस दल, और एक कम्यूनिस्ट-दल। अमली शकल मे ये सभी कमजोर और बेकार हो गये, और उनके आपसी झगडो से आम कारीगर ऊब उठे थे। १९३० के बाद से मैं इन सबसे अलग था, क्योकि मै तो ज्यादातर जेल मे रहा, जब कभी बीच-बीच मे मै जेल से बाहर आता था तो मुझे मालूम होता था कि सबमे एकता होने की कोशिशे की जा रही है। मगर वे कामयाब न हुइ[1]। नरम दल के यूनियनों के साथ रेलवे कारीगरो के रहने

---

[1]. इसके बाद ट्रेड-यूनियनो में एकता पैदा करने की कोशिश ज्यादा कामयाब हुई है, और विभिन्न दल अब आपस में एक तरह के सहयोग से काम कर रहे हैं।

से उनकी ताकत बढ गयी। दूसरे दलो के मुकाबले मे उनको एक फायदा यह था कि सरकार उनको तसलीम करती थी, और जिनेवा की मजदूर-कान्फ्रेसो के लिए उनकी सिफारिशों को मजूर कर लेती थी। जिनेवा जाने के लालच से भी कुछ मजदूर-नेता उनकी तरफ खिच गये और वे अपने साथ अपनी यूनियन को भी उधर खीच ले गये।

उन्होने अपने लोगो को सगठित करना और उनमे नये ख़यालात फैलाना शुरू किया। उन्हे कामयाबी भी मिली, और सीमाप्रान्त के स्त्री-पुरुष, जोकि हिन्दुस्तान की लडाई-मे सबसे पीछे शामिल हुए थे, १९३० से नुमायाँ और बड़ा हिस्सा लेने लगे।

लाहौर-काग्रेस के बाद ही, और उसकी हिदायत के मुताबिक, मेरे पिताजी ने असेम्बली के काग्रेसी मेम्बरों को अपनी-अपनी जगहो से इस्तीफा दे देने को कहा। करीब-करीब सभी एकसाथ बाहर आगये। कुछ इने-गिने लोगो ने ही बाहर आने से इनकार किया, हालाँकि इससे उनके चुनाव से इकरारों की खिलाफ़वर्जी होती थी।

फिर भी आगे के बारे मे हमे कुछ साफ सूझता न था। हालाँकि काग्रेस-अधिवेशन मे बडा जोश दिखायी देता था, मगर किसीको मालूम न था कि देश लडाई के कार्यक्रम का कहाँतक साथ देगा। हम इतने आगे बढ गये थे कि अब पीछे नही जा सकते थे। मगर देश का रुख क्या होगा, इसका करीब-करीब बिलकुल पता न था। अपनी लडाई को शुरू करने के लिए और देश की नब्ज़ भी पहचानने की दृष्टि से २६ जनवरी को आज़ादी-दिवस मनाना तय हुआ। इस दिन देशभर मे आज़ादी की प्रतिज्ञा ली जानेवाली थी।

इस तरह अपने कार्यक्रम की बाबत शकाशील मगर कुछ-न-कुछ कारगर काम करने की इच्छा और उत्साह से हम घटनाओ के इन्तजार मे रहे। जनवरी के शुरू मे मै इलाहाबाद मे था, मेरे पिताजी ज्यादातर बाहर थे। यह एक बडे भारी सालाना मेले, माघ मेले, का वक्त था। शायद वह खास कुम्भ का साल था, और लाखो स्त्री-पुरुष लगातार इलाहाबाद मे, या यात्रियों की भाषा मे प्रयागराज मे, आ रहे थे। वे सब तरह के लोग थे। उनमे खासकर किसान थे, और मजदूर, दूकानदार, कारीगर, व्यापारी, औद्योगिक और ऊँचे पेशेवाले लोग भी थे। वास्तव मे हिन्दुओ मे से सभी तरह के लोग आये थे। जब मै इस बडी भीड को और नदी पर जाते और आते हुए लोगो की अटूट धारा को देखता तो मै सोचा करता कि ये लोग सत्याग्रह और शान्तिपूर्ण सीधे हमले की

पुकार का कितना साथ देगे ? इनमे से कितने लोग लाहौर के प्रस्तावों को जानते है या उनकी परवा करते है ? उनका वह विश्वास कितना आश्चर्यजनक और मजबूत था कि जिससे वे और उनके बुजुर्ग हज़ारो बरसो से हिन्दुस्तान के हर हिस्से से पवित्र गगा मे स्नान करने के लिए चले आते थे ! क्या वे इस बेहद ताकत को अपनी ही जिन्दगी सुधारने के लिए राजनैतिक और आर्थिक कार्य मे नही लगा सकते ? या क्या उनके दिमागो मे धर्म का वाह्याचार और दकियानूसीपन इतना भर चुका है कि उनमें दूसरे खयालात की गुजाइश ही नही रही ? मै तो यह जानता ही था कि ये दूसरे खयालात उसमें पहुँच चुके है, जिनसे सदियो की शान्त निश्चितता मे खलबली पैदा हो गयी है। इन अस्पष्ट विचारों और आकाक्षाओ की हलचल के जनता मे फैलने से ही पिछले बारह बरसों मे बडे-बडे उतार-चढाव आये थे, जिनसे हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गयी है। इन विचारो के अस्तित्व के विषय मे और उनकी बडी भारी ताकत के बारे मे तो कोई शक ही नही था। मगर फिर भी शक पैदा होता, और सवालात उठते थे, जिनका तत्काल कोई जवाब न था। ये खयालात कितने फैल चुके है ? उनके पीछे कितनी ताकत है ? सगठित काम करने की कितनी काबलियत है ? लम्बे धैर्य की कितनी शक्ति है ?

हमारे घर को देखकर यात्रियो के झुण्ड आ जाते थे। वह एक तीर्थ-स्थान, भारद्वाज-आश्रम, के पास ही पडता था, जहाँ पुराने ज़माने मे एक विद्यापीठ था। मेले के दिनो मे सुबह से शामतक बेशुमार लोग हमसे मिलने को आते रहते थे। मेरे खयाल से ज्यादातर लोग तो कौतूहल से, और जिन बडे आदमियो का नाम उन्होने सुन रखा है उन्हे, खासकर मेरे पिताजी को, देखने की इच्छा से आते थे। मगर आनेवालो मे ऐसे भी बहुत-से लोग थे जिनका झुकाव राजनीति की तरफ था, और वे काग्रेस के बारे मे, उसमे क्या तय हुआ, और आगे क्या होनेवाला है, ये सवालात पूछते थे। वे अपनी आर्थिक कठिनाइयाँ सुनाते थे और पूछते थे कि उनकी बाबत उन्हे क्या करना चाहिए ? हमारे राजनैतिक नारे उन्हे खूब याद थे, और सारे दिन मकान उन्हीसे गूँजता रहता था।

उस दिन मैंने पहले तो, जैसे-जैसे बीस, पचास या सौ आदमियों का झुण्ड एक के बाद एक आता था, हरेक से थोड़े शब्द कहना शुरू किया। मगर जल्दी ही यह काम असम्भव हो गया, और फिर वे जब आते थे तो मैं चुपचाप नमस्कार कर लेता था। मगर इसकी भी हद थी। फिर तो मैंने छिप जाने की कोशिश की। मगर यह सब फिजूल था। नारे ज्यादा-ज्यादा तेज लगने लगे, मकान के बरामदे इन मिलनेवाले लोगों से भर गये और हरेक दरवाजे और खिडकी में से बहुत-से लोग हमे झाँकने लगे। कुछ काम करना, बातचीत करना या भोजन करना तक मुश्किल हो गया। इससे सिर्फ परेशानी ही नही होती थी बल्कि झुंझलाहट और चिढ भी होती थी। मगर फिर भी वे लोग तो आते ही थे। वे अपनी प्रेम-भरी चमकती आँखो से जिनमे पीढियो की गरीबी और मुसीबते झलक रही थी, देखते हुए हमारे ऊपर अपनी श्रद्धा और अपना प्रेम बरसा रहे थे, और उसके बदले मे सिवा भ्रातृ-भाव और सहानुभूति के कुछ नही माँगते थे। इस प्रेम और श्रद्धा की प्रचुरता के प्रभाव से हृदय को अपनी अल्पता का अनुभव हुए बिना नही रह सकता था।

एक महिला, जो हमारी प्रिय मित्र थी, उस वक्त हमारे यहाँ ठहरी हुई थी। अक्सर उनसे बातचीत करना भी कठिन हो गया था, क्योकि चार-चार पाँच-पाँच मिनट मे मुझे आये हुए झुड को कुछ-न-कुछ कहने के लिए बाहर जाना पडता था, और बीच-बीच मे हमे बाहर के नारे और शोरगुल सुनायी देता था। मेरी परेशानी मे उन्हे कुछ हँसी-सी आयी, और साथ ही, मेरा खयाल है यह समझकर कि मै जनता मे बहुत लोक-प्रिय हूँ, वह प्रभावित भी हुई। (सच बात तो यह थी कि लोग खासकर मेरे पिताजी को देखने के लिए आते थे, मगर चूँकि वह बाहर गये हुए थे, मुझे ही लोगो के सामने जाना पडता था।) उन्होने अचानक मेरी तरफ मुडकर मुझसे पूछा कि मै इस वीर-पूजा को कैसा पसन्द करता हूँ और क्या इसका मुझे फख्र नही होता? जवाब देने से पहले मै थोडा झिझका और इससे उन्होंने समझा कि शायद इस बिलकुल व्यक्तिगत प्रश्न

से उन्होंने मुझे परेशानी मे डाल दिया। उन्होने इसके लिए माफी चाही। इनके सवाल से मुझे परेशानी बिलकुल नही हुई, मगर मुझे सवाल का जवाब ढूँढना बडा मुश्किल मालूम हुआ। मेरा दिमाग बहुत बाते सोचने लगा और मै अपनी भावनाओ और विचारो का विश्लेषण करने लगा। वे अनेक प्रकार के थे। यह सच था कि. प्राय इत्तफाक से ही, मै जनता मे बडा लोकप्रिय हो गया था। पढे-लिखे लोगो मे मेरी कदर होती थी। नौजवान स्त्री-पुरुषो के लिए तो एक प्रकार से मै वीर—सूरमा—बन गया था और उनकी निगाह मे मेरे आसपास कुछ वीरता की आभा दिखायी पडती थी। मेरे बारे मे गाने तैयार हो गये थे ओर ऐसी-ऐसी अनहोनी कहानियाँ गढ ली गयी थी जिन्हे सुनकर हँसी आती थी। मेरे विरोधी भी अक्सर मेरे लिए अच्छी राय जाहिर करते थे, और बुजुर्गाना ढग से कहते थे कि मुझमें काबलियत या ईमानदारी की कमी नही है।

शायद किसी महात्मा या बडे भारी हैवान पर ही इन सब बातो का असर नही हो सकेगा। मगर मै तो अपने को दोनों मे से एक भी नही मानता। बस, ये बाते मेरे दिमाग मे बैठ गयी। उन्होने मुझपर थोडा नशा वढा दिया और मुझको हिम्मत और ताकत दी। मेरा यह अन्दाज है, (क्योंकि बाहर से अपने-आपको समझ लेना मुश्किल काम है,) कि मै अपने काम-काज मे थोडा स्वेच्छाचारी और कुछ हाकिमाना बन गया। मगर फिर भी, मेरा खयाल है कि, मेरा गरूर कुछ ज्यादा नही बढा। मुझे खयाल हुआ कि मुझमे भी काफी बातो की लियाकत है और उनके सम्बन्ध मे मै ऐसा नाचीज नही हूँ। मगर मै यह भी खूब जानता था कि यह कोई विलक्षण बात नही है, और मुझे अपनी कमजोरियो का भी बहुत खयाल था। आत्म-निरीक्षण की आदत ने ही शायद मुझे ठिकाने रखने मे मदद दी और इसीसे मै अपने सम्बन्ध की कई घटनाओ पर अनासक्त दृष्टि से गौर कर सकता था। सार्वजनिक जीवन के तजुर्बे ने मुझे बता दिया कि लोकप्रियता तो अक्सर अवाञ्छनीय व्यक्तियों के पास रहती है, वह यकीनन भलाई या अक्लमन्दी का ही आवश्यक चिन्ह नही होती। तो मै अपनी कमजोरियो के सबब से लोकप्रिय था, या

अपने गुणों के सबब से ? सचमुच मैं लोकप्रिय किस कारण से था ?

इसका सबब मुझमे दिमागी कावलियत का होना नही था; क्योकि मुझमे दिमागी कावलियत कोई गैरमामूली नही थी और कम-से-कम इसीसे लोकप्रियता नही मिलती, और 'कुर्बानी' कहे जानेवाले कामों से भी मेरी लोकप्रियता नही थी, क्योकि यह सभी जानते है कि हमारे ही समय मे हिन्दुस्तान मे सैकडो-हजारो आदमियो ने मुझसे बेहद ज्यादा तकलीफे उठायी है और अन्तिम बलिदान तक किया है। मैं वडा वीर या सूरमा हूँ, यह शोहरत बिलकुल वाहियात है। मैं अपने-आपको वीरोचित बिलकुल नही समझता और जीवन मे वीरों का-सा ढँग या उसकी नकल और दिखावा करना मुझे वेवकूफी की वात मालूम होती है। प्रेमशौर्य की अद्भुतता का मुझमे नाम भी नही है। यह सही है कि मुझमे कुछ शारीरिक और दिमागी हिम्मत है, मगर उसकी बुनियाद तो है शायद अभिमान—अपना अपने खानदान का और अपने राष्ट्र का अभिमान, और किसीके भी दवाव से कुछ न करने की वृत्ति।

मुझे अपने सवाल का सन्तोपजनक जवाव नही मिला। तब मैं दूसरे ही तरह उसकी खोज मे लग गया। मुझे पता लगा कि मेरे पिताजी और मेरे वारे मे एक बहुत प्रचलित कहावत यह है कि हम हर हफ्ते अपने कपड़े पैरिस की किसी लॉण्ड्री मे धुलने को भेजते थे। हमने इसका कई वार खण्डन किया है, फिर भी यह वात प्रचलित ही है। इससे ज्यादा अजीव वाहियात वात की कल्पना भी मैं नही कर सकता। अगर कोई इतना मूर्ख हो कि वह ऐसे झूठे वडप्पन के लिए इस तरह की फिजूलखर्ची करे, तो समझता हूँ कि वह अव्वल दर्जे का उल्लू ही समझा जायगा।

इसी तरह से एक दूसरी दन्तकथा, जो कि इनकार करने पर भी प्रचलित है, यह है कि मैं प्रिंस ऑफ वेल्स के साथ स्कूल मे पढता था। यह भी कहा है कि जव १९२१ मे वह हिन्दुस्तान आये तव उन्होने मुझे वुलाया था, पर उस वक्त मै जेल मे था। सच वात तो यह है कि मैं न तो स्कूल मे ही उनके साथ पढा हूँ, न मुझे उनसे मिलने या वात करने का ही मौका हुआ है।

मेरे कहने का मतलब यह नही कि मेरी शौहरत या लोक-प्रियता इन या ऐसी कहानियों के बदौलत ही है। उसकी ज्यादा मजबूत बुनियाद भी हो सकती है। मगर इसमे शक नही कि इसमे बडप्पन की बात बहुत शामिल है, जैसा कि इन कहानियों से जाहिर है। कुछ भी हो। भावना यह है कि पहले मै बडे-बडे लोगो से मिलता-जुलता था, और बडे ऐश-आराम की ज़िन्दगी गुज़ारता था, और फिर मैने वह सब त्याग दिया। हिन्दुस्तानी दिमाग त्याग को बहुत अच्छा समझता है। मगर इस कारण से मेरी नामवारी हो, यह मुझे बिलकुल अच्छा नही लगता। मुझे निष्क्रिय गुणो की बनिस्बत सक्रिय गुण ज्यादा पसन्द है, और केवल त्याग और बलिदान को मै अच्छा नही समझता। मै उसकी दूसरी ही दृष्टि से कदर करता हूँ—यानी मानसिक और आध्यात्मिक तालीम के तौर पर, जैसे कि कसरती आदमी को अच्छी तन्दुरुस्ती रखने के लिए सादा और नियमित जीवन रखना जरूरी है। और जो लोग महान् कार्यो मे पडना चाहते है उनमे कठिन आघातो के होने पर भी सहन और धैर्य की क्षमता होना ज़रूरी है। मगर जीवन की त्यागमय दृष्टि, जीवन के निषेध, उसके आनन्दो और अनुभूतियो से भयपूर्वक दूर रहने की तरफ मुझे रुचि या आकर्षण नही है। मैंने किसी भी चीज का जिसका मैंने वास्तव मे महत्त्व समझा, जानबूझकर त्याग नही किया है, मगर हाँ, चीजों का मूल्य हमेशा समान नही रहा करता है।

उन महिला-मित्र ने मुझसे जो सवाल पूछा था उसका जवाब फिर भी नही मिला। क्या मैं भीड की इस वीर-पूजा से गर्व अनुभव नही करता ? मैं तो इसे नापसन्द करता था, और इससे दूर भाग जाना चाहता था। मगर फिर भी मैं इसका आदी हो गया था। और जब यह बिलकुल न होती थी तो इसका अभाव भी मालूम होता था। दोनों ही तरह से मुझे तसल्ली नही थी। मगर कुल मिलाकर, भीड ने मेरी एक अन्दरूनी ज़रूरत पूरी कर दी। मै उनपर असर डाल सकता हूँ, और उनसे काम करवा सकता हूँ, इस खयाल से मुझमे उनके दिल और दिमाग पर अधिकार होने की एक भावना आ गयी थी। इससे किसी हद

तक मेरी सत्ता की इच्छा पूरी होती थी। और वे लोग तो अपनी तरफ से मुझपर एक अजीब तरह का जुल्म करते थे, क्योकि उनके विश्वास और प्रेम से मेरा अन्तस्तल हिल जाता था, और उसके जवाब मे मेरे दिल मे भी भावुकता का सचार हो जाता था। हालाँकि मै व्यक्तिवादी हूँ, मगर कभी-कभी मेरे व्यक्तिवाद की दीवारे भी टूट-सी जाती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि इन दुखिया लोगो के साथ-साथ मुसीबतो मे रहना, अलग रहकर बचे रहने की बनिस्बत, अच्छा है। मगर वे दीवारे हटनेवाली न थी, और मै उन्हीके ऊपर से आश्चर्य-भरी आँखों से इस घटना की तरफ देखा करता था।

अभिमान की तह आदमी पर, चर्बी की तरह, धीरे-धीरे अनजाने चढती रहती है। यह जिस आदमी पर चढती है उसे पता नही पडता कि रोजाना कितनी चढती जाती है। मगर खुशकिस्मती से इस पागल दुनिया की सख्त चोटों से वह कम भी हो जाती है या बिलकुल उतर भी जाती है। हिन्दुस्तान मे तो पिछले वर्षो मे हमपर इन सख्त चोटों की कोई कमी नही रही है। ज़िन्दगी का स्कूल हमारे लिए बहुत सख्त रहा है, और कष्ट-सहन दरअसल बडा सख्त काम लेनेवाला मास्टर है।

एक दूसरी बात मे भी मै खुशकिस्मत रहा हूँ। मेरे परिवार के लोग, दोस्त और साथी ऐसे रहे है, जिन्होने मुझे ठीक निगाह रखने में और अपना दिमाग बिगडने न देने मे मदद दी है। सार्वजनिक उत्सवो, म्युनिसिपैलिटियो, स्थानिक बोर्डो और दूसरी सार्वजनिक सस्थाओ की तरफ से अभिनन्दनो और जुलूसो वगैरा से मेरे दिमाग, मेरी विनोद-प्रियता और वास्तविकता की भावना पर बडा बोझ पडता था। इन मौको पर बहुत लम्बी-चौडी और शानदार भाषा इस्तैमाल होती थी, और हरेक आदमी इतना गम्भीर और भला बनता था कि इस सबको देखकर मेरी यह जबरदस्त ख्वाहिश होती थी कि मै हँस पडूँ या अपनी जबान बाहर निकाल दूँ या सिर के बल उल्टा खडा हो जाऊँ, सिर्फ इस-लिए कि उस गम्भीर सम्मेलन मे लोगो के चेहरो पर इसका कैसा धक्का लगता और क्या असर होता है यह मै देखू और इसका मजा लूँ। मगर

खुशकिस्मती से अपनी नामवरी के कारण और इसलिए कि हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन मे गम्भीरता ही आदरणीय समझी जाती है, मै अपनी इस अनियन्त्रित इच्छा को रोक लेता था, और आमतौर पर ठीक औचित्य से ही बर्ताव करता था। मगर, हमेशा नही, किसी-किसी भारी मीटिंग मे, या ज्यादातर अक्सर जुलूसो मे, जिनसे मै बहुत परेशान हो जाता हूँ, मैने कभी-कभी कोई प्रदर्शन कर दिया है। कभी-कभी हमारे सम्मान मे निकाले जानेवाले जुलूसो को मै अचानक छोड देता था और भीड मे अनजाने शामिल हो जाता था। मै अपनी पत्नी को या और किसी को जुलूस की गाडी मे ही बैठा छोड देता था।

अपनी भावनाओ को हमेशा दबाये रखने और लोगो के सामने किसी खास ढँग से बर्ताव करने की इस कोशिश के कारण दिमाग पर बडा जोर पडता है, और नतीजा यह होता है कि सार्वजनिक मौकों पर आदमी गम्भीर चेहरा बनाये रहता है। शायद इसीलिए एक हिन्दी मासिक-पत्रिका के लेख मे एक दफा लिखा गया था कि मै हिन्दू-विधवा की तरह हूँ। हालाँकि मै पुराने ढँग की हिन्दू-विधवा की बड़ी इज्जत करता हूँ, फिर भी मुझे इस वर्णन से धक्का लगा। लेखक का ज़ाहिरा मतलब यह था कि उसके खयाल से मुझमे अपने-आपको नम्रतापूर्वक समर्पण, त्याग, और बिना कभी हँसी-मजाक किये हमेशा काम मे मे लगे रहने के कुछ गुण थे, जिनकी वह तारीफ करता था। मेरा तो खयाल था कि, मुझमे अधिक क्रियाशीलता और तेज़ी है, और मज़ाक करने और हँसने की योग्यता भी है। और नि सन्देह मै चाहता हूँ कि ये गुण हिन्दू-विधवाओं मे भी चाहिएँ। गाधीजी ने एक बार एक मिलने-वाले से कहा था, कि अगर मुझमे विनोद का माद्दा न होता तो शायद खुदकुशी या ऐसा ही कुछ कर गुज़रता। मै इतनी हद तक तो जाना नही चाहता, मगर जिन्दा रहना मेरे लिए तो प्रायः असह्य हो जाता, अगर मेरी जिन्दगी मे कुछ लोग हँसी-मज़ाक की कुछ मात्रा न डालते रहते।

मेरी लोकप्रियता पर और बडे-बडे मान-पत्रों पर, जो मुझे मिला करते थे, जिनमें (जैसा कि वास्तव मे हिन्दुस्तान के सभी मानपत्रों मे

होता है) बडी चुनी हुई और लच्छेदार भाषा और लम्बी-चौड़ी तारीफ भरी रहती थी, मेरे परिवार के और मित्र-मण्डली के लोग बडा मज़ाक उडाया करते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख आदमियों के लिए जैसे ऊँचे और शानदार लफ्ज़ और अलकाव अक्सर इस्तैमाल होते है, वैसे शब्दों को मेरी पत्नी और बहने और दूसरे लोग पकड लेते थे और उनका मौके-बेमौके मेरा किसी तरह लिहाज़ किये बिना प्रयोग करते रहते थे। वे मुझे 'भारत-भूषण' और 'त्याग-मूर्त्ति' आदि कहा करते थे, और इस विनोद-पूर्ण व्यवहार से मुझे भी तसल्ली मिलती थी, और उन गम्भीर सार्वजनिक सभाओ की थकावटजहाँ मुझे बहुत शिष्टता का बर्ताव दिखाना पडता था, धीरे-धीरे दूर हो जाती थी। इस मजाक़ मे मेरी छोटी-सी लड़की भी शामिल हो जाती थी। सिर्फ मेरी माताजी ही इस बात पर ज़ोर दिया करती थी कि मुझसे अदब का व्यवहार किया जाय। अपने प्यारे पुत्र के साथ ज्यादा मजाक या दिल्लगी होने का वह कभी पूरा समर्थन नही करती थी। इससे मेरे पिताजी का भी कुछ मनोरजन हो जाता था। वह अपने विचारो और भावो को चुपचाप प्रदर्शित करने का एक खास तरीका रखते थे।

मगर इन नारे लगानेवाले मजमों, बेलुत्फ और थकानेवाले सार्वजनिक उत्सवो और बेहद बहसो और राजनीति के धूम-धक्को का मुझपर सिर्फ ऊपरी असर होता था, हालाँकि यह असर कभी-कभी तेज और गहरा होता था। मगर मेरा असली सघर्ष मेरे अन्दर चल रहा था। मेरे विचारो और इच्छाओं और निष्ठाओं मे सघर्ष चल रहा था। मेरे मस्तिष्क की अन्तर्भावनाये बाहरी परिस्थितियो से झगड रही थी। मेरी आन्तरिक भूख बुझी न थी। मै एक लडाई का मैदान बन गया था, जहाँ तरह-तरह की ताकते एक-दूसरे को जीत लेने की कोशिश कर रही थी। मै इससे छुटकारा चाहता था। मैंने सामञ्जस्य और चित्त की समता ढूंढने की कोशिश की, और इसी प्रयत्न में लडाई मे कूद पडा। इससे मुझे शान्ति मिली। बाहरी सघर्ष ने भीतरी संघर्ष की तेज़ी को कम कर दिया।

मैं जेल में बैठा हुआ यह सब क्यों लिख रहा हूँ ? मैं चाहे जेल में होऊँ या जेल के बाहर, लेकिन मेरी तलाश फिर भी वही है और मैं अपने पिछले विचार और अनुभव इस आशा से लिख रहा हूँ कि इससे मुझे शान्ति और मानसिक संतोष मिल सके।

: २६ :

सविनय आज्ञा-भंग शुरू

स्वाधीनता-दिवस, २६ जनवरी १९३०, आया और विजली की चमक की तरह से उसने हमे वता दिया कि देश में सरगर्मी और उत्साह है। उस दिन हर जगह वडी-वडी सभायें हुई जिनमें वगैर भाषणो या विवेचनो के, शान्ति और गम्भीरता से, लोगो ने आज़ादी की प्रतिज्ञा[1] ली। सभाये और जुलूस वडे प्रभावशाली थे। गाधीजी को इस दिवस से आवश्यक वल मिल गया, और जनता की नब्ज की ठीक पहचान रखने के कारण उन्होने समझ लिया कि लडाई छेडने का यह ठीक वक्त है। इसके वाद तो घटनायें एक के वाद एक इस तरह घटित होने लगी, जैसाकि किसी नाटक मे रस की पराकाष्ठा होते समय होता है।

जैसे-जैसे सविनय भग नजदीक आता गया और लोगो मे जोश वढता गया, वैसे-वैसे हमारे खयालात इस वात की तरफ गये कि किस तरह १९२१-२२ का आन्दोलन चला था और चौरी-चौरा के वाद वह एकाएक मुल्तवी कर दिया गया था। तवसे अव देश में अनुशासन ज्यादा था और अव लोग ज्यादा साफ तौर पर समझ गये थे कि यह लडाई किस किस्म की है। उसका तरीका तो किसी हदतक समझ ही लिया गया था। मगर हर आदमी ने यह भी पूरी तरह महसूस कर लिया कि गाधीजी अहिंसा पर उत्कट रूप से ज़ोर देते है, और यह वात गाधीजी की दृष्टि से ज्यादा जरूरी थी। दस साल पहले कुछ लोगो के दिमागों में शायद इस वावत शक रहा हो, मगर अव तो वैसा शक नही हो सकता था। फिर भी, हमे इसका पक्का विश्वास कैसे हो सकता था कि किसी स्थान पर अपने-आप या किसी साजिश से हिंसा का कोई काण्ड न हो जायगा? और अगर ऐसी कोई घटना हुई, तो उसका हमारे सविनय भग-आन्दोलन पर क्या असर होगा? क्या वह पहले की

---

1 यह प्रतिज्ञा परिशिष्ट नं० १ में दी हुई है।

ही तरह अचानक बन्द कर दिया जायगा ? यही सम्भावना सबसे ज्यादा बेचैन कर रही थी।

गाधीजी ने भी शायद इस सवाल पर अपने खास ढग से विचार किया, हालाँकि जिस समस्या की उन्हे चिन्ता मालूम होती थी, जहाँ-तक मै कभी-कभी बातचीत करके समझ सका, वह दूसरे ही ढग से उनके सामने उपस्थित थी।

सुधार करने के लिए अहिंसात्मक ढंग की लडाई करना ही उनकी निगाह मे सच्चा तरीका था, और अगर ठीक तरह से उसपर अमल किया जाय तो वही अचूक भी है। तो क्या यह कहा जाना चाहिए कि इस तरीके को अमल मे लाने और कामयाब बनाने के लिए खास तौर पर कोई बहुत अनुकूल वातावरण चाहिए, और अगर बाहरी हालते इसके माफिक न हो तो इसको काम में नही लाना चाहिए ? इससे तो यह नतीजा निकलता है कि अहिंसात्मक तरीका हर हालत के लिए ठीक नही है, और इस तरह यह न तो सार्वभौम तरीका रह जाता है, न अचूक। मगर यह नतीजा गाधीजी के लिए असह्य था, क्योकि उनका पक्का विश्वास था कि यह तरीका सार्वभौम भी है और अव्यर्थ भी। इसलिए बाहरी हालत के नामाफिक होने पर भी, और झगडो और हिसा के होते रहते भी, यह तरीका अवश्य काम मे आ सकता है। बदलती हुई हालतो में उसके अमल का ढग भी बदलता रह सकता है, मगर उसका बन्द किया जाना तो खुद उस तरीके की विफलता को मान लेना होगा।

सम्भव है वह इस प्रकार से सोचते होगे, मगर मै उनके विचारों को निश्चय से नही कह सकता। उन्होंने हमे यह तो कुछ-कुछ बता ही दिया कि अब उनकी विचार-पद्धति में थोड़ा फर्क हो गया है, और जब सविनय भग आवेगा, तो किसी एकाध हिंसात्मक काण्ड से उसका बन्द किया जाना जरूरी नही है। मगर यदि हिसा किसी आन्दोलन का ही हिस्सा बन जायगी, तो वह शान्तिपूर्ण सविनय-भग-आन्दोलन न रहेगा और उसकी हलचलो को बन्द करना या बदलना पडेगा। इस आश्वासन

से हम वहुतेरो को वहुत हद तक सतोष हुआ। अव सवके सामने बडा सवाल यह था, कि यह किया कैसे जाय ? शुरुआत किस तरह हो ? किस प्रकार का सविनय-भग हम चलावे, जो कारगर हो, परिस्थिति के अनुकूल हो और जनता मे लोकप्रिय हो ? इतने ही मे गाधीजी ने इसकी तरकीव वतायी।

नमक अचानक एक रहस्यपूर्ण, वलपूर्ण शव्द वन गया। नमक-कर पर हमला होना था। नमक-कानून को तोडना चाहिए। हम हैरत मे पड गये। नमक का राष्ट्रीय सग्राम हमे कुछ अटपटा मालूम हुआ। दूसरी आश्चर्य मे डालनेवाली वात हुई गाधीजी की अपनी ग्यारह वातो[1] का प्रकाशित करना। कुछ राजनैतिक और सामाजिक सुधारो की, चाहे वे अच्छे ही क्यो न हो, फेहरिस्त उस समय पेश करना जवकि हम आजादी की दृष्टि से वात कर रहे थे, क्या मतलव रखता था ? गाधीजी जव 'आजादी' शव्द कहते थे तो क्या उनका वही अर्थ था जो हमारा था,

---

१. सविनयभंग के शुरू होने के पहले लार्ड अर्विन ने एक भापण दिया था, उसके जवाव में गाधीजी ने 'यग इडिया' में एक लेख लिखकर वताया था कि यदि सरकार कुछ शर्तो का पालन करे तो देश के लिए सविनय भंग करने का कारण न रह जाय। वे शर्त ही ये ग्यारह बाते हैं—

१—सम्पूर्ण मद्य-पान-निषेध।

२—रुपये की कीमत डेढ शिलिग के वदले एक शिलिंग चार पेंस की जाय।

३—लगान पचास फी सदी कम किया जाय और उसे सोलहो आना धारा-सभा के अंकुश में रक्खा जाय।

४—नमक-कर रद्द किया जाय।

५—सैनिक खर्च कम किया जाय, फिलहाल आधा कर दिया जाय।

६—लगान कमी की पूर्ति बडे अधिकारियो की तनख्वाह पचास फ़ी सदी कम करके की जाय।

७—दिदेशी कपडे पर बहिष्कार-कर लगाया जाय।

या क्या हम लोग अलग-अलग भाषाओ का प्रयोग कर रहे थे ? मगर हमे बहस करने का मौका न था, क्योंकि घटनाये तो आगे जा रही थी। वे हिन्दुस्तान मे तो हमारी निगाहो के सामने राजनैतिक रूप मे दिन-पर-दिन आगे बढ ही रही थी, मगर, शायद, हम नही जानते थे कि वे दुनिया मे भी तेजी से बढ रही थी और दुनिया को एक भयकर मन्दी मे जकडे हुए थी। चीजो के भाव गिर रहे थे, और शहर के रहनेवालों ने समझा कि अब खुशहाली का जमाना आ रहा है। मगर किसानों ने तो इसमे खतरा ही देखा।

इसके बाद गाधीजी का वाइसराय से पत्र-व्यवहार हुआ, और साबरमती-आश्रम से दाण्डी की नमक-यात्रा शुरू हुई। दिन-ब-दिन इस यात्रा-दल के बढने का हाल जैसे-जैसे लोग पढते थे, देश मे जोश का पारा बढता जाता था। अहमदाबाद मे अ० भा० काग्रेस कमिटी की बैठक इस लडाई की बाबत, जो प्राय हमारे सिरपर आ चुकी थी, आखिरी व्यवस्था करने के लिए हुई। इस बैठक मे हमारे सग्राम का नेता मौजूद नही था, क्योकि वह तो अपने यात्रा-दल के साथ समुद्र की ओर जा रहा था, और उसने वहाँसे लौटने से इन्कार कर दिया। अ० भा० का० कमिटी ने योजना बनायी कि अगर गिरफ्तारियाँ हो तो क्या-क्या किया जाना चाहिए, और यदि यह कमिटी फिर बैठक न

८—समुद्र-तट पर देशी जहाजों के चलने का कायदा बनाया जाय।

९—हिंसा-काण्ड के अपराध के सिवा शेष सब राजनैतिक क़ैदियों को छोड दिया जाय, तमाम राजनैतिक मुक़द्दमें वापिस लिये जायँ, १२४ अ धारा, और १८१८ का कानून रद्द किया जाय और जिन्हें देश निकाला दिया गया है उनका दरवाजा खोल दिया जाय।

१०—खुफिया विभाग बन्द कर दिया जाय या लोक-नियंत्रण में रक्खा जाय।

११—आत्मरक्षा के लिए बन्दूक आदि रखने का परवाना दिया जाय और इस विषय को लोक-नियंत्रण में रक्खा जाय। —अनु०

कर सके तो उसकी तरफ से कार्य-समिति के गिरफ्तार-शुदा लोगो की जगह खुद नये मेम्बर नियुक्त कर देने और अपने स्थान पर ऐसे ही अख्त्यारात रखनेवाले अपने अनुगामी को नामजद करदेने के बडे-बडे अधिकार सभापति को दिये गये। प्रान्तीय और स्थानीय काग्रेस-कमिटियो ने भी अपने-अपने सभापतियो को ऐसे ही अधिकार दे दिये।

इस तरह से वह जमाना शुरू हुआ जबकि 'डिक्टेटर' कहे जानेवाले लोग कायम हो गये और उन्होने काग्रेस की तरफ से सग्राम का सचालन किया। इसपर भारत-मत्री और वाइसराय और गवर्नरो ने बडी नफरत ज़ाहिर की और वे चीख-चीखकर कहने लगे कि काग्रेस कितनी खराब और पतित हो गयी है कि वह डिक्टेटरो को मानने लगी है, जबकि वे खुद तो मानो प्रजातन्त्रवाद के पक्के माननेवाले ही थे! कभी-कभी हिन्दुस्तान के नरम-दली अखबारो ने भी हमे प्रजातन्त्र के लाभो का उपदेश दिया। हम यह सब खामोशी से (क्योकि हम तो जेल मे थे) और हैरत मे होकर सुनते थे। बेशरमी और मक्कारी इससे ज्यादा क्या हो सकती थी? इधर तो हिन्दुस्तान पर एकतन्त्री डिक्टेटर द्वारा बल-पूर्वक शासन हो रहा था, जिसमे आर्डिनेन्स कानून बन रहे थे और हर तरह की नागरिक स्वतन्त्रता दबायी जा रही थी, और उधर हमारे शासक प्रजातन्त्रवाद की चिकनी-चुपडी बाते कर रहे थे! और क्या मामूली हालत मे भी, हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र की छाया भी कही थी? अग्रेजी हुकूमत अपनी ताकत और हिन्दुस्तान मे स्थापित स्वार्थों की हिफाजत करे और उसकी सत्ता को हटानेवालो का दमन करे, यह तो बेशक उसके लिए कुदरती बात थी। मगर उसका यह कहना कि यह सब प्रजातन्त्री तरीका था, ऐसी बात है जो अगली पीढियो के गौर करने और तारीफ करने के लिए लिखकर रख ली जाय!

काग्रेस ऐसी हालत मे जानेवाली थी कि जब उसका मामूली ढग पर काम करना गैर-मुमकिन हो जाय, जब वह गैर-क़ानूनी करार देदी जाय, और गुप्त रूप के सिवा और किसी ढग से उसकी कमिटियाँ किसी परा-मर्श या किसी काम के लिए इकट्ठा न हो सके। हमने छुपाव को बढावा

नही दिया, क्योंकि हम अपनी लडाई को बिलकुल खुली रखना चाहते थे, जिससे कि हमारा तर्ज ऊँचा रहे और हम जनता पर असर डाल सके। मगर छुपाव से भी ज्यादा काम नही चल सकता। केन्द्र मे, प्रान्तो मे और स्थानीय हल्को मे हमारे सब बडे-बडे स्त्री-पुरुष तो गिरफ्तार होनेवाले ही थे। फिर कौन आगे काम चलाता ? इस सूरत मे हमारे सामने एक ही रास्ता था, जिस तरह लडाई करती हुई फौज मे होता है, कि पुराने सेना-नायकों के हटते ही नये सेना-नायक बनाने की व्यवस्था करना। लडाई के मैदान मे बैठकर कमिटियो की बैठके करना हमारे लिए नामुमकिन था। वास्तव मे, कभी-कभी ऐसा हमने किया भी था, मगर इसका उद्देश्य और अनिवार्य नतीजा यह होता था कि सारी कमिटी एक-साथ गिरफ्तार हो जाती। हमे यह भी सुभीता नही था कि लडनेवाली लाइनों के पीछे जनरल स्टाफ सुरक्षित बैठा रहता, या कही दूसरी जगह और भी ज्यादा हिफाजत से मुल्की मन्त्रि-मण्डल बैठा रहता। यह लडाई ही इस तरह की थी कि हमारे कर्मचारियों और मन्त्रि-मण्डलो को अपने-आपको सबसे आगे और खुली जगहो मे रखना पडता था, और वे तो सब शुरू मे ही गिरफ्तार कर लिये गये। और हमने अपने 'डिक्टेटरो' को भी क्या सत्ता देदी थी ? राष्ट्रीय सग्राम चलाने को दृढ निश्चय के सकेत-रूप मे उन्हे यह सम्मान दिया जाता था। मगर असल में तो उन्हे ज्यादातर खुद जेल मे चले जाने की ही सत्ता मिली थी। वे तभी काम करते थे जबकि किसी बडी और अबाध सत्ता के कारण उनकी कमिटी, जिसके वह प्रतिनिधि थे, मीटिंग नही कर सकती थी, और जब या जहाँ उस कमिटी की बैठक हो सकती, तो डिक्टेटर को जो कुछ भी सत्ता थी वह अपने आप नही रहती थी। डिक्टेटर किसी बुनियादी सवाल या उसूल के बारे मे कुछ फैसला नही कर सकता था, वह तो आन्दोलन की छोटी-छोटी और ऊपरी बातो के विषय मे ही कुछ कर सकता था। काग्रेस की 'डिक्टेटरशिप' तो वास्तव मे जेल पहुँचने की सीढी थी। और रोज-रोज वही बात होती रही। पुराने लोग हटते जाते थे और उनकी जगह नये लोग आते जाते थे।

इस तरह अपनी आखिरी तैयारियाँ करके, अहमदाबाद मे हमने अ० भा० काग्रेस कमिटी के अपने साथियो से विदा माँगी, क्योकि यह किसीको मालूम न था कि आगे हम कब और कैसे इकट्ठे हो सकेगे, या इकट्ठे हो भी सकेगे या नही ? हम अपनी-अपनी जगहों पर जाकर अ० भा० काग्रेस कमिटी की हिदायतो के मुताबिक अपने-अपने मुकामी इन्तजाम को आखिरी तौर पर ठीक-ठीक करने और, जैसाकि सरोजिनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के लिए बिस्तर बाँधने को जल्दी-जल्दी चल दिये।

लौटते वक्त पिताजी और मै गाधीजी से मिलने गये। वह अपने यात्री-दल के साथ जम्बूसर में थे। वहाँ हम उनके साथ कुछ घण्टे रहे और फिर वह अपने दल के साथ समुद्र-यात्रा के दूसरे पडाव के लिए पैदल चल पडे। वह हाथ मे डण्डा लिये हुए, अपने अनुयायियो के आगे-आगे, जा रहे थे। उनके कदम मजबूत थे और चेहरे पर शान्ति तथा निर्भयता छिटकी पड़ती थी। इस तरह उस समय मैने उनके आखिरी दर्शन किये। वह एक दिल हिला देनेवाला दृश्य था।

जम्बूसर मे मेरे पिताजी ने गाधीजी से सलाह करके यह तय किया था कि वह इलाहाबाद का अपना पुराना मकान राष्ट्र को दान कर देंगे, और उसका नाम बदलकर 'स्वराज्य भवन' रख देंगे। इलाहाबाद लौट कर उन्होंने इसकी घोषणा कर दी, और काग्रेसवालो को उसका कब्जा भी दे दिया। उस बड़े मकान का हिस्सा अस्पताल बना दिया गया। उस वक़्त तो वह उसकी कानूनी कार्रवाई को पूरी न कर सके, पर डेढ साल बाद मैंने उनकी इच्छा के मुताबिक उस मकान का एक ट्रस्ट बना दिया।

अप्रैल आया। गाधीजी समुद्र तट पर पहुँच गये और हम नमक-कानून को तोड़कर सविनय भग करने की उनकी हिदायत का इन्तजार करने लगे। कई महीनों से हम अपने स्वयसेवको को कवायद की तालीम दे रहे थे, और कमला और कृष्णा (मेरी पत्नी और बहन) भी उनमे शामिल हो गयी थी और उन्होने इस काम के लिए मर्दाना ड्रेस पहन

लिया था। स्वयसेवकों के पास कोई भी हथियार, लाठियाँ तक, न थी। उनको तालीम देने का मकसद यह था कि वे अपने काम मे ज्यादा योग्य और कुशल हो जायँ और बडी-बडी भीडो को नियत्रण में रख सके। राष्ट्रीय सप्ताह, १९१९ के सत्याग्रह-दिवस से लेकर जलियाँवाला बाग तक की घटनाओ की यादगार मे हर साल मनाया जाता है, और छ अप्रैल इसी सप्ताह का पहला दिन था। इसी दिन गाधीजी ने दाडी मे समुद्र के किनारे नमक-कानून को तोडा, और तीन-चार दिन बाद सारे काग्रेस-सगठनों को इजाजत दे दी गयी कि वे भी नमक-कानून तोडे और अपने-अपने क्षेत्र मे सविनय भग शुरू करे।

ऐसा मालूम हुआ कि कोई बटन दबा दिया गया, और अचानक सारे देश मे शहरो मे और गाँवो मे, जिधर देखो रोज नमक बनाने की ही धूम फैल गयी। नमक बनाने के लिए कई अजीब-अजीब तरकीबे निकाली गयी। इस बारे मे हमारी जानकारी बहुत ही थोडी थी, इसलिए जहाँ इस बारे मे कुछ भी लिखा मिला वह हमने पढ डाला, और इस बाबत हिदायते देने के लिए कई पत्रिकाये प्रकाशित की, और बर्तन और कढाइयाँ इकट्ठी की और अन्त मे एक भद्दी-सी चीज बना ही डाली, जिसे हम बडी बहादुरी से उठाकर दिखाते और अक्सर बहुत ऊँची कीमत पर नीलाम भी करते थे। वह अच्छी चीज है या बुरी, इसका सचमुच कोई महत्त्व न था, क्योकि खास चीज तो उस बेहूदे नमक-कानून को तोडना था। इसमें हम जरूर कामयाब हुए, चाहे हमारा बनाया हुआ नमक कितना भी खराब क्यो न हो। जब हमने देखा कि लोगो मे उत्साह उमड रहा है, और नमक बनाना जगली आग की तरह चारो तरफ फैल रहा है, तो हमे कुछ शर्म मालूम हुई, क्योंकि जब गाधीजी ने इस तरीके की तजवीज पहले-पहल रखली थी तब हमने उसकी कामयाबी मे शक किया था। हमे ताज्जुब होता था कि इस व्यक्ति में लोगो पर असर डालने और उनसे सगठित रूप मे काम करवाने की कितनी अद्भुत सूझ है।

मै चौदह अप्रैल को गिरफ्तार हो गया, जबकि मै रायपुर (मध्यप्रात)

की एक कान्फ्रेन्स मे शामिल होने के लिए रेलगाडी मे सवार हो रहा था। उसी दिन जेल मे मेरा मुकदमा भी होगया, और मुझे नमक-कानून के मातहत छ महीने की सजा दी गयी। अपनी गिरफ्तारी की सभावना से मैंने (अ० भा० काग्रेस कमिटी द्वारा दी गयी नयी सत्ता के अनुसार) पहले ही मेरी गैरहाज़िरी मे काग्रेस के सभापति की जगह के लिए गाँधीजी को नामजद कर दिया था, मगर, अब वह मजूर न करे तो, मेरी दूसरी नामजदगी पिताजी के लिए थी। जैसा कि मेरा खयाल था, गाधीजी राजी न हुए, और इसलिए पिताजी ही काग्रेस के स्थानापन्न सभापति बने। उनकी तन्दुरुस्ती ठीक नही थी, फिर भी वह बडे जोर-शोर से लडाई मे कूद पडे। उन शुरू के महीनो मे उनके जबरदस्त सचालन और अनुशासन से आन्दोलन को बहुत लाभ हुआ। आन्दोलन को तो बहुत लाभ हुआ, मगर इससे उनकी रही-सही तन्दुरुस्ती और शक्ति बिलकुल चली गयी।

उन दिनों बडी सनसनी पैदा करनेवाले समाचार आया करते थे—जुलूसो का निकलना, लाठी-प्रहारो का होना और गोलियाँ चलना, नामी-नामी आदमियो की गिरफ्तारियो पर अक्सर हडताले होना, पेशावर-दिवस, गढवाली-दिवस आदि का ख़ासतौर पर मनाया जाना वगैरा। उस वक्त तो विदेशी कपडे और तमाम अग्रेजी माल का बहिष्कार पूरा-पूरा होगया था। जब मैंने सुना कि मेरी बूढी माताजी और बहने भी गरमी की तेज़ धूप मे विदेशी कपडे की दूकानो के सामने धरना देने के लिए खडी रहती है, तो इसका मेरे दिल पर बडा गहरा असर हुआ। कमला ने भी यह काम किया। मगर उसने कुछ और ज्यादा भी किया। मेरा खयाल था कि कितने बरसो से मै उसे बहुत अच्छी तरह जानता हूँ, मगर उसने इस आन्दोलन के लिए इलाहाबाद शहर और जिले मे इतनी शक्ति और निश्चय से काम किया कि मै भी दग रह गया। उसने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की बिलकुल परवा नही की। वह सारे दिन धूप मे घूमा करती थी और उसने संगठन की बड़ी योग्यता का परिचय दिया। मैंने इसका कुछ-कुछ हाल जेल मे सुना था। बाद मे जब पिताजी

भी वहाँ मेरे पास आगये तब उन्होंने मुझे बताया कि वह कमला के काम की, खासकर उसकी सगठन-शक्ति की कितनी ज्यादा कद्र करते थे। पिताजी मेरी माताजी का या लडकियो का तेज धूप मे इधर-उधर जाना पसन्द नही करते थे, मगर सिवा सिर्फ कभी-कभी ज़बानी मना करने के उन्होने उन्हे रोका नही।

उन शुरू के दिनो मे जो खबरे हमारे पास आया करती थी, उनमें से सबसे बडी खबर २३ अप्रैल की पेशावर की घटना और बाद मे सारे सीमाप्रान्त में होनेवाली घटनायें थी। हिन्दुस्तान मे कही भी मशीनगनो की गोलियो के सामने इस प्रकार अनुशासनपूर्ण और शान्तिपूर्ण हिम्मत बतायी जाती, तो उससे सारा देश थर्रा उठता। मगर सीमाप्रान्त के लिए तो यह घटना और भी ज्यादा महत्त्व रखती थी, क्योकि पठान लोग हिम्मत के लिए तो मशहूर थे मगर शान्तिपूर्ण स्वभाव के लिए मशहूर नही थे। इन्ही पठानो ने वह मिसाल कायम करदी जो हिन्दुस्तान मे अद्वितीय थी। सीमाप्रान्त मे ही वह मशहूर घटना हुई जिसमे गढवाली सिपाहियो ने निःशस्त्र जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने इसलिए इन्कार कर दिया कि सिपाहियो को निहत्थी भीड पर गोली चलाना नापसन्द होता है, और इसलिए भी कि लोगों से उन्हे हमदर्दी थी। मगर सिर्फ हमदर्दी ही आमतौर पर सिपाही को अपने अफसर की हुकुम-उदूली जैसी खतरनाक कार्रवाई के लिए प्रेरित नही कर सकती, क्योकि इसका बुरा नतीजा उसे मालूम रहता है। गढवालियों ने यह बात शायद इसलिए की कि उन्हे (और दूसरी भी कुछ रेजीमेण्टो को, जिनकी हुकुम-उदूली की खबर फैल नही पायी) यह गलत खयाल होगया था कि अग्रेजो की हुकूमत तो अब जाने ही वाली है। जब सिपाहियो में ऐसा खयाल पैदा हो जाता है तभी वे अपनी सहानुभूति और इच्छा के अनुसार काम करने की हिम्मत दिखाते है। शायद कुछ दिनो या हफ्तों तक आम हलचल और सविनय-भग से लोगो में यह खयाल पैदा होगया था कि अग्रेजी हुकूमत के आखिरी दिन आ गये है, और इसका असर कुछ फौज पर भी पडा, मगर जल्दी ही यह भी ज़ाहिर

होगया कि निकट-भविष्य मे ऐसा होने की सूरत नही है, और फिर फौज मे हुकुम-उदूली नही हुई। फिर तो इस बात का भी खयाल रक्खा गया कि सिपाहियो को ऐसी दुविधा मे डाला ही न जाय।

उन दिनो बडी-बडी आश्चर्यजनक बाते हुईं, मगर सबसे ज्यादा ताज्जुब की बात थी स्त्रियो का राष्ट्रीय सग्राम मे हिस्सा लेना। स्त्रियाँ वडी तादाद मे अपने घर के घेरो से बाहर निकल आयी, और हालाँकि उन्हे सार्वजनिक कार्यो का अभ्यास न था फिर भी वे लडाई मे पूरी तरह कूद पडी। विदेशी कपडे और शराब की दुकानो पर धरना देने का काम तो उन्होने बिलकुल अपना ही कर लिया। सभी शहरो मे सिर्फ स्त्रियो के ही भारी-भारी जुलूस निकाले गये, और आमतौर पर स्त्रियाँ पुरुषो की बनिस्वत ज्यादा मज़बूत साबित हुई। अक्सर प्रान्तों म या स्थानीय क्षेत्रों मे वे काग्रेस-'डिक्टेटर' भी बनती थी।

अकेला नमक-कानून ही नही तोडा गया बल्कि दूसरी दिशाओ मे भी सविनय-भग होने लगा। वाइसराय-द्वारा कई आर्डिनेन्स, जिनमे कई कामो की मुमानियत की गयी थी, निकाले जाने से भी इस काम मे मदद मिली। जैसे-जैसे ये आर्डिनेन्स और मुमानियते बढती गयी, वैसे-वैसे उन्हे तोडने के मौके भी बढते गये। और सविनय-भग की यह शक्ल हो गयी कि आर्डिनेन्स से जिस काम की मुमानियत की जाती थी वही काम किया जाता था। प्रारम्भिक सूत्रपात निश्चित रूप से काग्रेस और लोगो के हाथ मे रहा था, और जब एक आर्डिनेन्स से गवर्मेण्ट की निगाह मे परिस्थिति न सँभली तब वाइसराय ने और नये-नये आर्डिनेन्स निकाले। काग्रेस-कार्य-समिति के कई मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये थे, मगर उनकी जगह नये मेम्बर नियुक्त कर लिये गये, और इस तरह वह काम करती ही रही। हर सरकारी आर्डिनेन्स के मुकाबिले मे कार्य-समिति अपना प्रस्ताव पास करती थी, और उस आर्डिनेन्स के लिए क्या करना चाहिए इसके लिए हिदायते जारी करती थी। इन हिदायतो पर देश मे आश्चर्यजनक समानता से अमल होता था। हाँ, अलबत्ता, अखबारो की प्रकाशन-सम्बन्धी हिदायत पर पूरा अमल नही हुआ।

जब प्रेस को ज्यादा नियन्त्रित करने और अखबारो से ज़मानत माँगने के बारे मे आर्डिनेन्स निकला, तब कार्य-समिति ने राष्ट्रीय अख-बारों से यह कहा कि वे ज़मानत देने से इन्कार करदे और यदि आवश्यक हो तो प्रकाशन ही बन्द कर दे। अख़बारवालों के लिए तो यह एक कडवी घूंट थी, क्योंकि उसी समय तो लोगो मे ख़बरो की बहुत ज्यादा माँग थी। फिर भी कुछ नरम-दल के अख़बारो को छोड़कर ज्यादातर अख़बारो ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया, और नतीजा यह हुआ कि तरह-तरह की अफवाहे फैलने लगी। मगर वे ज्यादा वक़्त तक न टिक सके। प्रलोभन बहुत भारी था, और अपना धधा नरम-दल के अखबार छीन लिये जा रहे है यह देखकर उन्हे बुरा भी मालूम हुआ। इसलिए उनमे से ज्यादातर फिर अपना प्रकाशन करने लगे।

गाधीजी पाँच मई को गिरफ्तार कर लिये गये थे। उनकी गिरफ्तारी के बाद समुद्र के पश्चिम किनारे पर नमक के कारखानों और गोदामों पर धावे किये गये। इन धावो मे पुलिस की बेरहमी की बहुत दर्दनाक घटनायें हुईं। उन दिनो भारी-भारी हड़तालो, जुलूसो और लाठी-प्रहारों के कारण बम्बई सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हो रहा था। इन लाठी-प्रहारो के घायलो के इलाज के लिए कई आरजी अस्पताल कायम होगये थे। बम्बई मे कई बाते ऐसी हुईं जो मार्के की थी, और बडा शहर होने के कारण बम्बई मे प्रकाशन की सुविधा भी थी। छोटे कस्बों और देहाती हिस्सो मे भी ऐसी ही बाते हुईं, मगर वे सब प्रकाश मे न आ पायी।

जून के अन्त मे मेरे पिताजी बम्बई गये, और उनके साथ माताजी और कमला भी गयी। उनका बडा स्वागत किया गया। जब वह वहाँ ठहरे हुए थे, तभी कुछ बहुत जबरदस्त लाठी-प्रहार हुए। वास्तव मे यह तो बम्बई मे मामूली बात-सी होगयी थी। करीब दो हफ्ते बाद ही वहाँ सारी रात एक असाधारण अग्नि-परीक्षा हुई, जबकि मालवीयजी और कार्य-समिति के मेम्बर एक बडी भारी भीड के साथ पुलिस के सामने, जिसने कि उनका रास्ता रोक रखा था, सारी रात डटे रहे।

बम्बई से लौटने पर तीस जून को पिताजी गिरफ्तार कर लिये गये,

और उनके साथ सैयद महमूद भी पकडे गये। वे कार्य-समिति के, जो गैरकानूनी करार दे दी गयी थी, स्थानापन्न अध्यक्ष और मत्री की हैसियत से गिरफ्तार हुए। दोनो को छ-छः महीने की सजा मिली। मेरे पिताजी की गिरफ्तारी शायद एक बयान प्रकाशित करने पर हुई थी, जिसमे उन्होने सैनिको या पुलिसमैनो को निहत्थी जनता पर गोली चलाने की आज्ञा मिलने की सूरत मे उनका क्या फर्ज है यह बताया था। यह बयान सिर्फ कानूनी था, और उसमे बताया गया था कि मौजूदा ब्रिटिश इण्डियन कानून मे इस बाबत क्या लिखा है। मगर फिर भी वह भडकानेवाला और खतरनाक समझा गया।

बम्बई जाने से पिताजी को बहुत मेहनत करनी पडी। बडे सवेरे से बहुत रात तक उन्हे काम करना पडता था और हर जरूरी काम का फैसला उन्हे ही करना पडता था। वह बहुत दिनो से बीमार-से तो थे ही, अब वह बिलकुल थककर लौटे, और अपने डाक्टरो की जरूरी सलाह से उन्होने फौरन पूरी तरह आराम लेने का फैसला कर लिया। उन्होने मसूरी जाने की तैयारी की, और सामान वगैरा बँधवा लिया, मगर जिस दिन वह मसूरी जाना चाहते थे उससे एक दिन पहले ही वह नैनी सेण्ट्रल जेल की हमारी बैरक मे हमारे सामने आ पहुँचे।

: ३० :

नैनी-जेल में

मै करीब सात साल के बाद फिर जेल गया था, और जेल-जीवन की स्मृतियाँ कुछ-कुछ धुंधली हो गयी थी। मै नैनी सैण्ट्रल जेल में रखा गया था, जोकि प्रान्त का एक बडा जेलखाना है। वहाँ मुझे अकेले रहने का नया अनुभव मिला। मेरा अहाता बडे अहाते से, जिसमे कि बाईस सौ या तेईस सौ कैदी थे, अलग था। वह एक छोटा-सा गोल घेरा था, जिसका व्यास लगभग एक सौ फीट था और जिसके चारो तरफ करीब पन्द्रह फीट ऊँची गोल दीवार थी। उसके बीचोबीच एक मटमैली और भद्दी-सी इमारत थी, जिसमे चार कोठरियाँ थी। मुझे इनमे से दो कोठरियाँ, जो एक-दूसरे से मिली हुई थी, दी गयी। एक नहाने-धोने वगैरा की जगह थी। दूसरी कोठरियाँ कुछ वक्त तक खाली रही।

बाहर के विक्षोभ और दौड-धूप के जीवन के बाद, यहाँ मुझे कुछ अकेलापन और उदासी मालूम हुई। मै इतना थक गया था कि दो-तीन दिन तक तो मै बहुत सोता रहा। गरमी का मौसम शुरू हो गया था, और मुझे रात को अपनी कोठरी के बाहर, अन्दर की इमारत और अहाते की दीवार के बीच की तग जगह में, खुले में सोने की इजाजत मिल गयी थी। मेरा पलग भारी-भारी जजीरों से कस दिया गया था, ताकि मै कही उसे लेकर भाग न जाऊँ, या शायद इसलिए कि पलग कही अहाते की दीवार पर चढने की सीढी न बना लिया जाय। रातभर अजीब तरह की आवाजे आया करती थी। खास दीवार की निगरानी रखनेवाले कनविक्ट ओवरसियर अक्सर एक-दूसरे को तरह-तरह की आवाजे लगाया करते थे। कभी-कभी वे ऐसी लम्बी आवाजे लगाते थे जो अन्त मे दूर पर चलती हुई तेज हवा के कराहने की-सी आवाजे मालूम होती थी। बैरको के अन्दर से चौकीदार बराबर जोर-जोर से अपने कैदियो को गिनते थे और कहते थे कि सब ठीक है। रात मे कई

बार कोई-न-कोई जेल-अफसर अपना राउण्ड लगाता हुआ हमारे अहाते मे आ जाता था, और जो वार्डर ड्यूटी पर होता था उससे यहाँका हाल पूछता था। चूँकि मेरा अहाता दूसरे अहातो से कुछ दूर था, ये आवाज़े ज्यादातर साफ सुनायी न देती थी, और पहलेपहल मै समझ न सका कि ये क्या है। पहलेपहल तो मुझे ऐसा लगा कि मै किसी जगल के पास हूँ और किसान लोग अपने खेतों से जगली जानवरो को भगाने के लिए चिल्ला रहे है; और कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि मानो रात को जगल और रात के जानवर सब मिलकर अपने वृन्दगीत गा रहे है।

मै सोचता हूँ कि यह मेरा महज खयाल ही है, या यह सचाई है कि चौकोनी दीवार की बनिस्बत गोलाईदार दीवार मे आदमी को अपने कैद होने का ज्यादा भान होता है? कोनो और मोड़ों के न होने से यह भाव हमारे मन मे और भी बढ जाता है कि हम यहाँ दबाये जा रहे है। दिन के वक्त वह दीवार आस्मान को भी ढक लेती थी और उसके एक छोटे हिस्से को ही देखने देती थी। मै—

उस नन्हे नीले वितान पर
बदी जिसे कहे आकाश—
उडते हुए मेघ-खडो पर
जिनमे रजत-ऊर्मि-आभास,[1]

अपनी सजल सतृष्ण दृष्टि डाला करता था। रात को वह दीवार मुझे और भी ज्यादा घेर लेती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि मै किसी

---

१. ऑस्कर वाइल्ड के निम्न अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

"Upon that little tent of blue
Which prisoners call the sky,
And at every drifting cloud that went
With sails of silver by."

इस लेखक ने अपने जेल-जीवन में 'रेडिंग जेल-प्रशस्ति' नामक एक काव्य लिखा है। उसमें से ये पंक्तियाँ पंडितजी ने उद्धृत की है।—अनु०

कुएँ के तले मे हूँ। कभी-कभी तारो से भरा हुआ आस्मान का जितना हिस्सा मुझे दिखायी देता था वह मुझे असली नही मालूम होता था। वह नमूने के, बनावटी, तारामण्डल का हिस्सा लगता था।

मेरी बैरक और अहाता, आमतौर पर, सारे जेल मे कुत्ताघर कहलाता था। यह एक पुराना नाम था और इसका मुझसे कोई ताल्लुक नही था। यह छोटी बैरक, सबसे अलग, इसलिए बनायी गयी थी कि इसमे खासतौर पर खतरनाक अपराधी, जिन्हे अलग रखने की जरूरत हो, रखे जायँ। बाद मे वह राजनैतिक कैदियो, नजरबन्दो वगैरा को रखने के काम मे लिया जाने लगा, जोकि यहाँ सारे जेल से अलग रखे जा सकते थे। अहाते के सामने कुछ दूरी पर एक ऐसी चीज थी जिसे पहलेपहल अपनी बैरक से देखकर मुझे बडा धक्का-सा लगा। वह एक बडा भारी पिजरा-सा था, जिसके अन्दर आदमी गोल-गोल चक्कर काट रहे थे। बाद मे मुझे पता लगा कि यह पानी खीचने का पम्प था, जिसे आदमी चलाते थे और जिसमे एकसाथ सोलह आदमी लगते थे। देखते-देखते आदमी के लिए हर चीज मामूली हो जाती है। इसीलिए मै भी उसके देखने का आदी होगया। मगर हमेशा वह मुझे मनुष्य-शक्ति के उपयोग का बिलकुल मूर्खतापूर्ण और जगली तरीका मालूम हुआ है, और जब कभी मै उसके पास से गुजरता तो मुझे किसी पशु-प्रदर्शिनी की याद आजाती।

कुछ दिनो तक तो मुझे कसरत या दूसरे किसी मतलब से अपने अहाते के बाहर जाने की इजाज़त न मिली। बाद मे मुझे बडे सवेरे, जबकि प्राय अँधेरा ही रहता था, आधा घटा बाहर निकलने और मुख्य दीवार के सहारे-सहारे अन्दर घूमने या दौड लगाने की इजाजत मिल गयी। यह बडी सुबह का वक्त मेरे लिए इसलिए तजवीज किया गया था कि मै दूसरे कैदियो के सम्पर्क में न आ सकूँ, या वे मुझे देख न ले। मुझे उस समय बडी तरो-ताजगी आ जाती थी। मुझे मिले हुए इस थोडे-से वक्त मे ज्यादा-से-ज्यादा खुला व्यायाम करने की गरज़ से मै दौड लगाया करता था। दौड के अभ्यास को मैने धीरे-धीरे बढा लिया था, और मै रोज़ दो मील से ज्यादा दौड लिया करता था।

में सवेरे बहुत जल्दी, करीब चार या साढे तीन बजे ही जबकि बिलकुल अँधेरा रहता था, उठ जाया करता था। कुछ तो जल्दी सोने से भी जल्दी उठना होजाता था, क्योंकि मुझे जो रोशनी मिली थी वह ज्यादा पढने के लिए काफी नही थी। मुझे तारो को देखते रहना अच्छा लगता था, और कुछ प्रसिद्ध तारो की स्थिति देखकर मुझे समय का अन्दाज़ होजाता था। जहाँ मै लेटता था वहाँसे मुझे ध्रुव-तारा दीवार के ऊपर झाँकता हुआ दिखायी देता था, और उससे असाधारण शान्ति मिलती थी। उसके चारो तरफ का आसमान गोल चक्कर काटता था, मगर वह वही कायम था। वह मुझे प्रसन्नतापूर्ण और दीर्घ उद्योग का प्रतीक मालूम होता था।

एक महीने तक मेरे पास कोई साथी न था, मगर फिर भी मै अकेला नही था, क्योंकि मेरे अहाते मे वार्डर और कनविक्ट ओवरसियर व रसोई और सफाई करनेवाला एक कैदी थे। कभी-कभी किसी काम के लिए दूसरे कैदी, ज्यादातर कनविक्ट ओवरसियर—सी० ओ०—लोग भी, जो लम्बी सजाये भुगत रहे थे, आ जाते थे। इनमें जन्म-कैदी ज्यादा थे। आमतौर पर समझा जाता था कि जन्मकैद बीस साल या कम मे खत्म हो जाती है, मगर जेल मे ऐसे बहुत कैदी थे जिन्हे बीस साल से भी ज्यादा होगये थे। नैनी मे मैने एक बडी अजीब मिसाल देखी। कैदियो के कधों पर कपडो मे लगी हुई लकडी की एक पट्टी रहती है, जिनमे उनकी सजाओ का हाल और रिहाई की तारीख लिखी रहती है। एक कैदी की पट्टी पर मैने पढा कि उसकी रिहाई १९९६ मे होगी। १९३० मे ही उसको कई साल हो चुके थे, और उस समय वह अधेड़ था। शायद उसे कई सजाये दी गयी थी और वे सब एक के बाद एक जोड दी गयी थी। शायद कुल मिलाकर उसे पचहत्तर साल की सजा थी।

बरसों बीत जाते है और कई जन्म-कैदी तो किसी बच्चे या स्त्री या जानवरो को भी नही देख पाते। उनका बाहरी दुनिया से सम्बन्ध बिलकुल टूट जाता है, और कोई मानवी सम्पर्क नही रहता। वे मन-ही-मन

हमेशा कुछ घुटघुटाया करते है, और उनका दिमाग भय, बदले और नफरत के रोषपूर्ण विचारो से भर जाता है। दुनिया की भलाई, दयालुता और आनन्द को भूल जाते है, और सिर्फ बुराई मे ही जीवन विताते है। फिर धीरे-धीरे उनमें से द्वेष और वैर-भाव भी चला जाता है, और उनका जीवन एक जड यन्त्र-जैसा बन जाता है। अपनेआप चलने-वाले यन्त्रो की तरह वे अपने दिन गुज़ारते है, जोकि सब बिलकुल एक-से ही गुजरते है। उन्हे एक भय के सिवा और कोई भावना ही नही होती। वक्तन-फवक्तन कैदियों की तुलाई और नपाई होती है। मगर मस्तिष्क और हृदय की भावना को भी, जो अत्याचार के इस भयकर वातावरण मे मुरझाकर सूख जाती है, कोई तौलता है ? लोग मौत की सजा के खिलाफ दलीले देती है और वे मुझे बहुत जँचती है। मगर जब मै जेल का लम्बा सकटभरा जीवन देखता हूँ, तो सोचता हूँ कि आदमी को घुला-घुलाकर मारने के बजाय तो मौत की सजा ही अच्छी है। एक दफा एक जन्म-कैदी मेरे पास आकर मुझसे पूछने लगा—"हम जन्म-कैदियो का क्या होगा ? क्या स्वराज हमे इस नरक में से निकाल देगा ?"

और ये जन्म-कैदी कौन होते है ? इनमे से बहुतेरे तो मजमूई मुकदमों मे आते है, जिनमे कि उन लोगो को, कभी-कभी पचास-पचास या सौ-सौ आदमियों को, एकसाथ सजाये होती है। इनमे कुछ ही शायद कुसूरवार होते है, ज्यादातर लोग सचमुच कुसूरवार होते है इसमे मुझे सन्देह है। ऐसे मुकदमे मे लोगो को फँसा देना बडा आसान है। किसी मुखबिर की शहादत और थोडी शनाख्त होजानी चाहिए, बस इतना ही ज़रूरी है। आजकल डकैतियाँ वढ रही है, और जेल की आबादी हर साल ज्यादा हो जाती है। जबकि लोग भूखो मर रहे है, तो वे क्या करे ? जज और मजिस्ट्रेट लोग अपराधों की बढती पर टीका करते नही थकते। मगर उनकी निगाह उसके ज़ाहिरा आर्थिक कारणो पर नही जाती।

इसके अलावा काश्तकार लोग आते है। किसी ज़मीन के टुकडे की वावत गाँव मे झगडा होजाता है, लाठियाँ चल जाती है और कोई मर जाता है। नतीजा यह होता है कि जन्मभर या लम्बी मियादों के लिए

कई आदमी जेल भेज दिये जाते है। अक्सर किसी घर के सारे पुरुष कैद कर दिये जाते है और पीछे स्त्रियाँ रह जाती है, जो जैसे-तैसे करके पेट पालती है। इनमे एक भी व्यक्ति जरायमपेशा नही होता। साधारणत ये लोग शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से अच्छे युवक, औसत देहाती से कही ऊपर उठे हुए, होते है। यदि इन्हे थोडी तालीम मिले, और दूसरी बातो और कामो की तरफ इनकी रुचि थोडी बदल दी जाय, तो यही लोग देश के कीमती धन बन सकते है।

बेशक हिन्दुस्तान की जेलो मे पक्के मुजरिम भी है, जो जान-बूझकर समाज के शत्रु बनकर उसके लिए बहुत खतरनाक हो जाते है। मगर मुझे जेल मे ऐसे लडके और आदमी बहुत मिले है जो अच्छे नमूने के थे, और जिनपर मै बिना झिझके विश्वास कर सकता हूँ। मुझे यह नही मालूम कि असली जरायमपेशा और गैर-जरायमपेशा कैदी कितने-कितने अनुपात मे है, और शायद इस तरह विभाजन करने का खयाल तक जेल-महकमे मे किसी को नही आया होगा। न्यूयार्क के सिंगसिंग-जेल के वार्डन लुई ई० लोज़ ने इस विषय के कुछ दिलचस्प ऑकडे दिये है। वह अपनी जेल के कैदियों के बारे मे कहता है कि मेरी राय मे पचास फीसदी तो बिलकुल जरायम-वृत्ति के नही है; पचीस फीसदी परिस्थितियो और मजबूरियों के कारण अपराधी बने है, और बाकी पचीस फीसदी मे से शायद आधे, यानी साढे बारह फीसदी, ही समाज मे न रहने लायक है। यह तो सभी जानते है कि असली अपराधवृत्ति बडे शहरो और आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों मे ज्यादा होती है, और पिछडे हुए इलाकों मे कम होती है। अमेरिका की जरायमपेशा टोलियाँ तो मशहूर है, और सिंग-सिंग जेल भी खासतौर पर मशहूर है, जहाँ कुछ भयकर-से-भयकर मुजरिम भेजे जाते है। मगर, उनके वार्डन की राय के मुताबिक, उनके सिर्फ साढे बारह फी सदी कैदी ही सचमुच बुरे है। मेरे खयाल से यह बड़ी अच्छी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान की जेलो मे तो यह अनुपात इससे भी बहुत कम होगा। आर्थिक नीति थोड़ी और अच्छी हो जाय, लोगो को रोज़गार कुछ ज्यादा मिलने लगे, और शिक्षा कुछ बढ़

जाय, तो हमारी जेले खाली की जा सकती है। मगर इसको कामयाव वनाने के लिए विलकुल मौलिक योजना की, जिससे हमारी सारी सामाजिक रचना वदल जाय, जरूरत है। इसके सिवा दूसरा असली उपाय वही है जो ब्रिटिश-सरकार कर रही है—हिन्दुस्तान मे पुलिस की तादाद और जेलो का वढाना। हिन्दुस्तान मे कितनी तादाद मे लोग जेल भेजे जाते है, यह देखकर माथा ठनकने लगता है। अखिल-भारतीय कैदी-सहायक समिति के मत्री की एक हाल की रिपोर्ट मे कहा गया है कि १९३३ मे सिर्फ वम्वई प्रान्त मे ही १,२८,००० लोग जेल भेजे गये, और उसी साल वगाल की सख्या १,२४,००० थी।[१] मुझे सव प्रान्तो के आँकडे तो मालूम नही, किन्तु यदि दो प्रान्तो का जोड ढाई लाख है, तो वहुत सम्भव है कि सारे हिन्दुस्तान का जोड करीव दस लाख तो होगा। मगर इसे वास्तव मे जेल मे हमेशा रहनेवालों की तादाद नही कह सकते, क्योंकि वहुत लोगों को तो थोडी-थोडी सजाये मिलती है। स्थायी रहनेवालो की तादाद इससे वहुत कम होगी, मगर फिर भी वह एक वडी सख्या होगी। हिन्दुस्तान के कुछ वडे प्रान्तो की जेले ससार की वडी-वडी जेलो में समझी जाती है। युक्तप्रान्त भी ऐसे प्रान्तो मे माना जाता है, जिसे वह गौरव—यदि इसे गौरव कहा जाय—प्राप्त है। और, वहुत सभव है, यहाँ ससार का सवसे पिछडा हुआ और प्रतिगामी जेल-प्रवन्ध है या था। कैदी को एक व्यक्ति, एक मानव-प्राणी, समझने और उसके मस्तिष्क को सुधारने या उसकी चिन्ता रखने की कुछ भी कोशिश यहाँ नही की जाती। युक्तप्रान्त का जेल-प्रवन्ध जिस वात मे सवसे वढा-चढा है वह है अपने कैदियो को भागने न देना। वहाँ भागने की कोशिश वहुत ही कम होती है और दस हजार मे से शायद ही एकाध कोई भागने मे सफल होता होगा।

जेलखानो की एक अत्यन्त दुखजनक वात है, वहाँ पद्रह साल या इससे ज्यादा उम्र के लडको का वडी तादाद मे होना। इनमे से ज्यादा-

---

१. स्टेट्समैन, ११ दिसम्वर, सन् १९३४

तर तो तेज और होशियार दीखनेवाले लडके होते है, कि जो अगर मौका मिले तो वडी आसानी से अच्छे वन सकते है। कुछ अर्से से इन्हे मामूली पढना-लिखना सिखाने की कुछ शुरुआत की गयी है, मगर, जैसा कि हमेशा होता है, वह विलकुल ही नाकाफी और वेकार है। खेल-कूद या दिल-वहलाव का वहुत-कम मौका आता होगा, किसी किस्म के भी अखवार की इजाजत नही है, और न किताबे पढने का प्रोत्साहन दिया जाता है। वारह घण्टे या इससे भी ज्यादा देर तक सव कैदियो को उनकी वैरिको या कोठरियों मे ताले मे रक्खा जाता है, और लम्बी-लम्बी शामो का वक्त काटने के लिए उनके पास कोई काम नही रहता।

मुलाकाते तीन महीने मे एक दफा हो सकती है, और यही खतो का भी हाल है। यह मियाद अमानुषिक रूप से लम्बी है। इसपर भी, कई कैदी तो इससे भी लाभ नही उठा सकते। अगर वे अनपढ होते है, जैसे कि ज्यादातर होते ही है, तो वे किसी जेल-अफसर से ही चिट्ठी लिखवाते है, और ये लोग चूँकि अपना काम और वढाना नही चाहते इसलिए चिट्ठी लिखना अक्सर टालते रहते है, अगर चिट्ठी लिखी भी गई तो पता ठीक-ठीक नही दिया जाता, और वह ठिकाने पर नही पहुँचती। मुलाकात करना तो और भी मुश्किल है। करीव-करीब, लाजमी तौर पर, किसी-न-किसी-जेल कर्मचारी को कुछ नजराना-शुक्रियाना देने से ही मुलाकात हो सकती है। अक्सर कैदी दूसरी-दूसरी जेलो मे वदल दिये जाते है, और उनके घर के लोगो को उनका पता नही लगता। मुझे कई ऐसे कैदी मिले है जिनका ताल्लुक अपने कुटुव से वरसो से छूट चुका था, और उन्हे मालूम नही था कि उनका क्या हुआ? तीन या अधिक महीनो के वाद जव मुलाकाते होती भी है तो अजीब तरह से। जगले के दोनो तरफ आमने-सामने वहुत-से कैदी और उनके मुलाकाती खडे कर दिये जाते है, और वे सव एक-साथ बात-चीत करने की कोशिश करते है। एक-दूसरे से वहुत जोर से चिल्ला-चिल्लाकर वोलना पडता है, इससे मुलाकात मे जो थोडा-बहुत मानवी-सम्पर्क हो सकता है वह भी नही रहता।

हजार मे से किसी एकाध कैदी को (यूरोपियनो को छोडकर) अच्छा खाना मिलने या जल्दी-जल्दी मुलाकात करने या खत लिखने की खास सुविधा भी मिल जाती है। राजनैतिक आन्दोलनों मे जबकि लाखो राजनैतिक कैदी जेल जाते है, इन विशेष दर्जे के कैदियों की तादाद कुछ थोडी-सी बढ जाती है, मगर फिर भी वह बहुत थोडी ही रहती है। इन राजनैतिक स्त्री और पुरुष कैदियो मे से ९५ फीसदी के साथ मामूली ढग का ही बर्ताव किया जाता है और उन्हे ऐसी सुविधाये भी नही मिलती।

कई लोग, जिन्हे क्रान्तिकारी हलचलो के कारण आजन्म या लम्बी सज़ाये दी जाती है, लम्बे अर्से तक तनहाई कोठरियों मे रखे जाते है। मेरा खयाल है कि यू० पी० मे तो ऐसे सब लोग आम तौर पर सीधे तनहाई कोठरियो मे बन्द रखे जाते है। यो तो तनहाई जेल के किसी कुसूर के लिए सजा के तौर पर ही दी जाती है, मगर इन लोगो को तो, जो आम तौर पर कच्ची उम्र के नवयुवक होते है, शुरू से तनहाई मे ही रखा जाता है, चाहे उनका बर्ताव जेल मे बहुत अच्छा ही क्यो न हो। इस तरह अदालत की सजा के अलावा, जेल महकमा उसमे बिना किसी सबब के एक और भयकर सज़ा बढा देता है। यह बडी असाधारण बात है और कानून की किसी दफा के अनुसार नही है। यह थोडे वक्त के लिए तनहाई मे बन्द रखा जाना एक बडी दर्दनाक बात है, फिर जब यह बरसो तक रहे तब तो बडी खतरनाक हो जाती है। इससे दिमागी ताकत धीरे-धीरे लगातार घटती जाती है, और अन्त मे पागलपन की हद तक पहुँच जाती है, और कैदी का चेहरा विचार-शून्य या भयभीत पशु जैसा दिखने लगता है। यह मनुष्य की स्पिरिट को धीमे-धीमे खत्म करना या उसकी आत्मा को धीरे-धीरे हलाल करना है। अगर आदमी ज़िन्दा बचता भी है तो वह एक विलक्षण जीव और दुनिया के लिए बे-मौज़ूँ बन जाता है। और यह सवाल तो हमेशा उठता ही रहता है कि क्या वह व्यक्ति वास्तव मे किसी कार्य या अपराध का गुनहगार भी था? हिन्दुस्तान मे पुलिस के तरीके अर्से से सन्देह की

दृष्टि से देखे जाते है, और राजनैतिक मामलो में तो वे बहुत ही ज्यादा सन्देहास्पद है।

यूरोपियन या यूरेशियन कैदियो को, चाहे उन्होंने कोई भी अपराध किया हो या उनकी कैसी भी हैसियत हो, अपने-आप ऊँचे दर्जे में रख दिया जाता है, और उन्हे ज्यादा अच्छा भोजन, हलका काम और जल्दी-जल्दी खत और मुलाकात की सुविधाये दी जाती है। हर हफ्ते पादरी के आने से वे बाहर की बातो के सम्पर्क मे बने रहते है। पादरी उनके लिए सचित्र और हँसी-मजाकवाले विदेशी अखबार ले आता है, और जब जरूरत होती है तब उनके घरवालो से खतोकिताबत करता रहता है।

यूरोपियन कैदियो को ये सुविधाये क्यों मिली है, इसकी किसीको शिकायत नही है, क्योकि उनकी तादाद थोडी ही है, मगर दूसरे—स्त्री और पुरुष—कैदियो के प्रति व्यवहार मे मनुष्यता का बिलकुल अभाव देखकर जरूर रज होता है। कैदी को एक व्यक्ति, एक मानव प्राणी, नही समझा जाता, और इसलिए उसके साथ वैसा बर्ताव भी नही किया जाता। जेल को तो सरकारी तन्त्र द्वारा बुरे-से-बुरे दमन का अमानुषिक पहलू समझना चाहिए। यह एक ऐसा यन्त्र है जो बेरहमी से, विना सोचे, काम करता रहता है, और उसकी पकड मे जो कोई आ जाता है उसे कुचल डालता है। जेल के कायदे इसी यन्त्र को दिखाने के लिए खास तौर पर बनाये गये है। जब भावनाशील स्त्री या पुरुष यहाँ आते है, तो यह हृदय-हीन शासन उनके मन को एक यातना और पीडा जैसा लगता है। मैने देखा है कि कभी-कभी लम्बी मियाद के कैदी जेल की उदासी से ऊबकर बच्चे की तरह फूट-फूटकर रोने लगते है, और सहानुभूति और प्रोत्साहन के थोडे-से शब्दो से, जोकि इस वातावरण मे बहुत दुर्लभ होते है, उनके चेहरे खुशी और अहसानमन्दी से चमक उठते है।

इतना होने पर भी, कैदियों मे एक-दूसरे के प्रति उदारता और अच्छी मित्रता के कई हृदय-स्पर्शी उदाहरण भी दिखायी देते थे। एक वार एक अन्धा दुवारा कैदी तेरह साल के बाद रिहा हुआ। इस लम्बे

अर्से के बाद वह बाहर जा रहा था, जहाँ न उसके पास कोई साधन थे, न दोस्त। उसके साथी कैदी उसकी इमदाद करना चाहते थे, लेकिन वे ज्यादा नही कर सकते थे। एकने जेल-दफ्तर मे जमा की हुई अपनी कमीज दी, दूसरे ने कोई और कपडा दिया। एक तीसरे को उसी दिन सवेरे चप्पल की जोडी मिली थी, जिसे उसने अभिमान से मुझे दिखाया था। जेल मे यह चीज मिलना बडी भारी बात है। मगर जब उसने देखा कि उसका कई साल का साथी यह अधा नगे-पैर बाहर जा रहा है तो उसने खुशी से उसे अपने नये चप्पल दे दिये। उस समय मैने सोचा कि शायद जेल के अन्दर बाहर से ज्यादा उदारता है।

१९३० का वह साल आश्चर्यजनक परिस्थितियो और स्फूर्तिदायक घटनाओ से भरा हुआ था। गाधीजी की सारे राष्ट्र मे स्फूर्ति और उत्साह भर देने की अद्भुत शक्ति से मुझे सबसे ज्यादा आश्चर्य हुआ। उनकी शक्ति मे एक मोहिनी-सी मालूम होती थी, और उनके बारे में जो बात गोखले ने कही थी वह हमे याद आयी—उनमे मिट्टी से सूरमा बना लेने की ताकत है। शान्तिपूर्ण सविनय भग महान् राष्ट्रीय उद्देश्यो को पूर्ण करने के लिए, लडाई के शस्त्र और शास्त्र दोनो तरह से, काम मे आ सकता है, यह बात सच मालूम हुई। और देश मे, मित्रों और विरोधियो दोनो को बिलकुल भरोसा-सा होने लगा कि हम कामयाबी की तरफ जा रहे है। आन्दोलन मे क्रियात्मक रूप से काम करनेवालो मे एक अजीब उत्साह भर आया, और थोडा-थोडा जेल के भीतर भी आ पहुँचा। मामूली कैदी भी कहते थे कि **स्वराज** आ रहा है।" और इस उम्मीद से कि उससे उन्हे भी कुछ फायदा हो जायगा, वे आतुरता से उसका इन्तजार करते थे। बाजार की बातचीत सुन-सुनकर वार्डर लोग भी उम्मीद करते थे कि **स्वराज** नजदीक ही है। इससे जेल के छोटे-छोटे अफसर कुछ और घबराहट मे पड गये।

जेल मे हमे दैनिक अखबार नही मिलता था, मगर एक हिन्दी साप्ताहिक अखबार से हमे कुछ खबरे मिल जाया करती थी, और ये खबरे ही अक्सर हमारी कल्पनाओ को तेज कर दिया करती थी। रोजाना

लाठी-प्रहार होना, किसी-किसी दिन गोली चलना, शोलापुर मे फौजी कानून जारी होना, जिसमे राष्ट्रीय झण्डा ले जाने के लिए ही दस साल की सजा दी गयी थी ऐसी खबरे आती थी। सारे देश मे हमे अपने लोगों, खासकर स्त्रियो, पर बडा अभिमान होने लगा। मुझे तो मेरी माता, पत्नी और बहनों तथा दूसरी चचेरी बहनो और महिला-मित्रो के कार्यो के कारण विशेष सन्तोष हुआ और हालाँकि मै उनसे दूर था, और जेल मे था, फिर भी मुझे ऐसा लगा कि हम सब एक ही महान् कार्य मे साथ-साथ कार्य करने के नये नाते से एक-दूसरे के बहुत पास आगये है। ऐसा मालूम होने लगा मानो परिवार तो उससे भी बडे समुदाय मे समा गया है। मगर फिर भी उसमे पुरानी मधुरता और निकटता बनी रही। कमला ने तो मुझे आश्चर्य मे ही डाल दिया, क्योकि उसकी क्रिया-शीलता और उत्साह ने उसकी बीमारी को दबा दिया, और कम-से-कम कुछ समय के लिए तो वह बहुत ज्यादा काम-काज करते रहने पर भी चगी बनी रही।

जिस वक्त वाहर दूसरे लोग खतरे का मुकाविला कर रहे है, और कष्ट उठा रहे है, उस वक्त मै जेल मे आराम से समय बिता रहा हूँ, यह खयाल मुझे दिक करने लगा। मै बाहर जाने की इच्छा करता था, किन्तु नही जा सकता था। इसलिए मैने अपना जेल-जीवन बडा कठोर कार्यमय, बना लिया। मै अपने चर्खे पर रोजाना करीब तीन घटे सूत कातता था। इसके अलावा दो या तीन घटे मै निवाड बुनता, जो मैने जेल-अधिकारियो से खास तौर पर माँग ली थी। मै इन कामो को पसन्द करता था। इनमे न ज्यादा जोर पडता था न थकावट होती थी, और मेरा समय काम मे लग जाता था। इससे मेरे दिमाग का बुखार भी शान्त होजाता था। मै बहुत पढता रहता था, या सफाई करने या कपड़े धोने वगैरा मे लगा रहता था। मै मशक्कत अपनी खुशी से ही करता था, क्योकि मुझे सजा सादी मिली थी।

इस तरह, बाहर की घटनाओ और अपने जेल-कार्यक्रम का विचार करते-करते, मै नैनी-जेल मे अपने दिन गुजारने लगा। हिन्दुस्तान के इस

जेल की कार्य-प्रणाली देखकर मुझे यह प्रतीत हुआ कि वह हिन्दुस्तान में अंग्रेजी सरकार की प्रणाली से भिन्न नही है। सरकार का शासन-तन्त्र बहुत सुव्यवस्थित है, जिसके फलस्वरूप देश पर सरकार का कब्जा मजबूत होता है मगर जिसमें देश की मानव-सामग्री की चिन्ता बहुत थोडी, या बिलकुल नही, की जाती है। ऊपर से तो यही दिखना चाहिए कि जेल का प्रबन्ध सुचारु रूप से हो रहा है और यह किसी हद तक ठीक भी है। मगर शायद कोई भी यह खयाल नही करता कि जेल का खास लक्ष्य होना चाहिए, उसमें आनेवाले अभागे लोगो को सुधारना और उनकी सहायता करना। यहाँ तो बस यह खयाल है कि उनको कुचल डालो, ताकि जबतक वे बाहर निकले, तबतक उनमे जरा-सी भी हिम्मत बाकी न रहे। और जेल का प्रबन्ध सञ्चालन किस तरह होता है, कैदियो को कैसे काबू में रक्खा जाना है, और कैसे दण्ड दिया जाता है? यह बात ज्यादातर कैदियो की सहायता से ही होती है। कैदियो में से ही कुछ लोग कनविक्ट-वार्डर (सी० डब्ल्यू०) या कनविक्ट-ओवर-सियर (सी० ओ०) बना दिये जाते है, और वे खौफ से या इनामो या छूट के प्रलोभन से अधिकारियो के साथ सहयोग करने लगते है। तनख्वाहदार गैर-कनविक्टवार्डर वैसे थोडे-ही है। जेल के अन्दर की ज्यादातर हिफाजत और चौकीदारी कनविक्टर-वार्डर और सी० ओ० ही करते हैं। जेल मे मुखबिरी का भी खूब जोर रहता है। कैदियों को एक दूसरे की चुगली और मुखबिरी करने को उत्साहित किया जाता है, और कैदियो को एका करने या कोई भी सयुक्त कार्य करने की तो इजाजत ही नही रहती। यह सब आसानी से समझ मे आ सकता है, क्योकि उनमे फूट रखने से ही वे काबू मे रक्खे जा सकते है।

जेल से बाहर, हमारे देश के शासन मे भी, यही एक प्रणाली व्यापक लेकिन कम जाहिर रूप में दिखायी देती है। मगर यहाँ सी० डब्ल्यू और सी० ओ० लोगो का नाम बदल गया है। उनके बडे-बडे शानदार नाम है और उनकी वर्दियाँ ज्यादा तडक-भडकदार है और नियम-पालन कराने के लिए, जेल की ही तरह, उनके पीछे हथियारबन्द सशस्त्र दल रहता है।

आधुनिक राज्यो के लिए जेलखाना कितना जरूरी और लाजिमी है ? कम-से-कम कैदी तो यही सोचने लगता है। सरकार के प्रबंध आदि विषयक तरह-तरह के कार्य तो जेल, पुलिस और फौज के मौलिक कार्यो के मुकाबिले मे थोथे मालूम होने लगते हैं। जेल मे आदमी मार्क्स के इस सिद्धान्त की कदर करने लगता है, कि राज्य तो वास्तव मे उस दल की, कि जिसके हाथ मे शासन है, इच्छा को अमल मे लाने वाला एक जबरदस्ती का साधन है।

एक महीने तक मै अपनी बैरक मे अकेला ही रहा। फिर एक साथी—नर्मदाप्रसादसिंह—आ गये, और उनके मिलने से बडी राहत मिली। इसके ढाई महीने बाद, जून १९३० की आखिरी तारीख को, हमारे अहाते मे असाधारण खलबली मच गयी। अचानक बडे सवेरे मेरे पिताजी और डॉ० सैयद महमूद वहाँ लाये गये। वे दोनो आनन्द-भवन मे, जबकि अपने बिस्तरो मे सोये हुए थे गिरफ्तार किये गये थे।

: ३१ :

यरवडा में सन्धि-चर्चा

पिताजी की गिरफ्तारी के साथ ही, या उसके फौरन बाद ही, कार्य-समिति गैर-कानूनी करार दे दी गयी। इससे एक नयी स्थिति पैदा हो गयी---यदि कमिटी अपनी मीटिंग करे तो सब-के-सब मेम्बर एकसाथ गिरफ्तार हो सकते थे। इसलिए कार्यवाहक सभापतियों को जो अख्तियार दे दिया गया था उसके मुताबिक स्थानापन्न मेम्बर उसमे और जोडे गये और इस सिलसिले मे कई स्त्रियाँ भी मेम्बर बनी। कमला भी उनमे थी।

पिताजी जब जेल आये तो उनकी तन्दुरुस्ती निहायत खराब थी और वह जिन हालतो में वहाँ रक्खे गये थे उनमे उन्हे बडी तकलीफ थी। सरकार ने जान-बूझकर यह स्थिति पैदा नही की थी, क्योंकि वह अपनी तरफ से तो उनकी तकलीफ कम करने की भरसक कोशिश करने को तैयार थी, परन्तु नैनी-जेल में वह अधिक कुछ नही कर सकी। मेरी बैरक की ४ छोटी-छोटी कोठरियो मे हम चार आदमियो को एकसाथ रख दिया गया। जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने सुझाया भी कि पिताजी को किसी दूसरी जगह रख दें, जहाँ उन्हें कुछ ज्यादा जगह मिल जाय, लेकिन हम लोगो ने एक साथ रहना ही बेहतर समझा, क्योकि इससे हम कोई-न-कोई उनकी सम्हाल रख सकते थे।

वारिश शुरू ही हुई थी पर कोठरी के अन्दर की जमीन मुश्किल से सूखी रहती थी, क्योकि छत से पानी जगह-जगह टपकता रहता था। रात के वक्त रोज यह सवाल उठता कि पिताजी का बिछौना हमारी कोठरी से सटे उस छोटे-से वरामदे मे, जो १० फीट लम्बा और ५ फीट चौडा था, कहाँ लगाया जाय, जिससे पानी का बचाव हो सके ? कभी कभी उन्हे बुखार आ जाता था। आखिर जेल-अधिकारियो ने हमारी कोठरी से लगा हुआ एक और अच्छा वडा वरामदा बनवाना तय किया। वरामदा वन तो गया और उससे ज्यादा आराम भी मिलता, मगर

पिताजी को उसका कुछ फायदा न मिला, क्योकि उसके तैयार होने के बाद शीघ्र ही उन्हे रिहा कर दिया गया। तब हममे से जो लोग वहाँ पीछे रह गये थे उन्होने उससे पूरा फायदा उठाया।

जुलाई के अखीर-अखीर मे यह चर्चा बहुत सुनायी दी कि सर तेज-बहादुर सप्रू और जयकर साहब इस बात की कोशिश कर रहे है कि कांग्रेस और सरकार के बीच सुलह हो जाय। हमने यह खबर एक दैनिक अख-बार मे पढी जो पिताजी को खास तौर पर बतौर रिआयत के दिया जाता था। उसमे हमने वह सारी खतो-किताबत पढी जो वाइसराय लार्ड अर्विन और सर सप्रू तथा जयकर साहब के बीच हुई थी। और बाद मे हमे यह भी मालूम हुआ कि हमारे ये 'शान्तिदूत' गाधीजी से भी मिले थे। हमारी समझ मे यह नही आता था कि आखिर इनको सुलह की इतनी क्यो पडी है, या ये इससे क्या नतीजा निकालना चाहते है? बाद को हमे मालूम हुआ कि उन्हे इस बात का उत्साह मिला है पिताजी के एक छोटे-से बयान से, जो उन्होने बम्बई मे अपनी गिरफ्तारी से कुछ पहले दिया था। वक्तव्य का खर्रा मि० स्लोकॉम्ब (लन्दन के 'डेली हेरल्ड' के सम्वाददाता, जो उन दिनो हिन्दुस्तान मे थे) का बनाया हुआ था, जो पिताजी से बातचीत करके तैयार किया गया था और जिसे उन्होने पसन्द भी कर लिया था। इस वक्तव्य[1] मे यह बताया गया था कि अगर सरकार कुछ शर्तें मान ले तो सम्भव है कि कांग्रेस सत्याग्रह को वापस लेले।

---

१ यह वक्तव्य २५ जून १९३० को दिया गया था—"यदि किन्ही हालतो में ब्रिटिश-सरकार और भारत-सरकार, हालाँकि इसका पहले से अन्दाज नही किया जा सकता कि गोलमेज परिषद् अपनी खुशी से क्या सिफ़ारिशें करेगी या ब्रिटिश पार्लमेण्ट का उन सिफारिशो के बारे में क्या रुख़ रहेगा, खानगी तौर पर यह आश्वासन दें या किसी तीसरे जिम्मेदार शख्स के मार्फत यह इशारा मिले कि ऐसा आश्वासन मिल जायगा कि हम भारत के लिए पूर्ण उत्तरदायी शासन की माँग का सम-

यह एक गोल-मोल और कच्ची बात थी और उसमें भी यह साफ कह दिया गया था कि उन स्पष्ट शर्तों पर भी तबतक विचार नहीं किया जा सकेगा, जबतक पिताजी गांधीजी से और मुझसे मशवरा न कर ले। मुझसे जरूरत इसलिए पड़ती थी कि मैं उस साल कांग्रेस का सदर था। मुझे याद है कि अपनी गिरफ्तारी के बाद पिताजी ने इसका ज़िक्र नैनी में मुझसे किया था, और उन्हें इस बात पर दुख ही रहा कि उन्होंने जल्दी से ऐसा गोल-मोल वक्तव्य दे डाला और सम्भव था कि उसका ग़लत अर्थ लगाया जाय। और दरअसल ऐसा हुआ भी, क्योंकि जिन लोगों की विचार-धारा हमसे बिल्कुल जुदा है उनके द्वारा तो बिलकुल स्पष्ट और यथार्थ वक्तव्यों का भी गलत अर्थ लगाये जाने की सम्भावना रहती ही है।

२७ जुलाई को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर अचानक नैनी-जेल में हमसे मिलने आ पहुँचे। वे गांधीजी का एक पत्र साथ लाये थे। उस दिन तथा दूसरे दिन हम लोगों में बड़ी देर तक बातचीत हुई। पिताजी को हरारत थी। इस बातचीत से वह बहुत थक गये। हमारी

र्थन करेंगे, बशर्ते कि दोनों में आपसी घटा-बढ़ी से काम लिया जाय और सत्ता को हस्तान्तर करने की शर्तें वे हों जो हिन्दुस्तान की खास जरूरतों और अवस्थाओं के लिए और ग्रेटब्रिटेन के साथ उसका पुराना सम्बन्ध होने के कारण जरूरी हों और जिनका निर्णय गोलमेज-कान्फ्रेन्स करे, तो पण्डित मोतीलाल नेहरू यह जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं कि वह खुद इस तरह का आश्वासन गांधीजी या पं० जवाहरलाल नेहरू तक ले जावेंगे। यदि ऐसा आश्वासन मिला और मंजूर कर लिया गया तो इससे सुलह का रास्ता खुल जायगा, जिसके मानी यह होंगे कि इधर सविनय भंग आन्दोलन बन्द किया जायगा और साथ ही उधर सरकार की मौजूदा दमन-नीति भी ख़त्म हो जायगी, राजनैतिक क़ैदियों की आम रिहाई होगी और इसके बाद कांग्रेस उन शर्तों पर, जो आपस में तय हो जायेंगी, गोलमेज-कान्फ्रेंस में शरीक होगी।"

बातचीत और बहस घूम-घामकर वही आ जाती थी जहाँसे शुरू हुई थी। हम लोगो के राजनैतिक दृष्टि-बिन्दु इतने जुदा-जुदा थे कि हम मुश्किल से एक-दूसरे की भाषा और भावो को समझ पाते थे। हमे यह साफ दिखायी देता था कि मौजूदा हालत मे काग्रेस और सरकार के बीच सुलह होने का कोई मौका नही है। हमने अपने साथियो—कार्य-समिति के सदस्यो—और खासकर गाधीजी से सलाह किये बिना अपनी तरफ से कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया, और हमने इस आशय की एक चिट्ठी गाधीजी को लिख भी दी।

ग्यारह दिन बाद, ८ अगस्त को, डाक्टर सप्रू वायसराय का जवाब लेकर फिर हमसे मिलने आये। वायसराय को इस बात पर कोई ऐतराज़ न था कि हम लोग यरवडा जावे (यरवडा पूना के पास है और यहीकी जेल मे गाधीजी रखे गये), लेकिन वह तथा उनकी कौसिल हमे सरदार वल्लभभाई, मौलाना अबुलकलाम आजाद और कार्य-समिति के दूसरे मेम्बरो से मिलने की इजाजत नही दे सकती थी, जो कि बाहर थे और सरकार के खिलाफ क्रियात्मक आन्दोलन कर रहे थे। डाक्टर सप्रू ने हमसे पूछा कि ऐसी हालत मे आप लोग यरवडा जाने को तैयार है या नही ? हमने कहा कि हमे तो कभी भी गाधीजी से मिलने जाने मे कोई उज्र नही है, न हो सकता है, लेकिन जबतक हम अपने दूसरे साथियों से न मिल ले, तबतक किसी अतिम निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकेगा। इत्तिफाक से उसी दिन या शायद एक दिन पहले के अखबार मे यह खबर पढी कि बम्बई मे भयकर लाठी चार्ज हुआ और सरदार वल्लभभाई, मालवीयजी, तसद्दुक अहमद शेरवानी वगैरा कार्य-समिति के स्थायी या स्थानापन्न मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये है। हमने डाक्टर सप्रू से कहा कि इस घटना से मामला सुधरा नही है और हमने उनसे कह दिया कि वह सारी स्थिति वाइसराय के सामने साफ करदे। फिर भी डाक्टर सप्रू ने कहा कि गाधीजी से तो जल्दी मिलने मे हर्ज ही क्या है ? हमने उन्हे यह बात पहले ही कह दी थी कि यदि हमारा जाना यरवडा हुआ तो हमारे साथी डाक्टर सैयद महमूद भी, जो हमारे साथ नैनी मे ही थे,

बहैसियत कांग्रेस-सेक्रेटरी हमारे साथ चलेगे ।

दो दिन बाद, १० अगस्त को, हम तीनो—पिताजी, महमूद और मै—एक स्पेशल ट्रेन मे नैनी से पूना भेजे गये। हमारी गाडी बडे-बडे स्टेशनों पर नही ठहरी, हम उन्हे झपाटे से पार करते हुए चले गये, कही-कही छोटे और किनारे के स्टेशनो पर ट्रेन ठहरायी गयी। फिर भी हमारे जाने की खबरे हमसे आगे दौड गयी और लोगो की बडी भीड स्टेशनो पर—जहाँ हम ठहरे वहाँ भी और जहाँ नही ठहरे वहाँ भी—इकट्ठी हो गयी। हम ११ की रात को पूना के नजदीक खिडकी स्टेशन पर पहुँचे।

हमने उम्मीद तो यह की थी कि हम गाधीजी की ही बैरक मे ठहराये जायँगे, या कम-से-कम उनसे जल्दी ही मुलाकात हो जायगी। यरवडा के सुपरिटेडेन्ट ने तो यही तजवीज कर रक्खी थी, लेकिन ऐन वक्त पर उन्हे अपना प्रबन्ध बदल देना पडा। जो पुलिस अफसर हमारे साथ नैनी से आया था उसके द्वारा यरवडावालो को ऐसी ही कुछ हिदायत मिली थी। सुपरिटेडेन्ट कर्नल मार्टिन ने तो हमें इस रहस्य का पता न दिया, परन्तु पिताजी ने कुछ ऐसे मार्मिक प्रश्न किये जिनसे यह मालूम हो गया कि हमे गाधीजी से (कम-से-कम पहली बार तो) सप्रू और जयकर साहब के रोबरू ही मिलने दिया जायगा। यह अन्देशा किया गया था कि अगर हम पहले मिल लेगे तो हमारा रुख कडा हो जायगा और हम सब और भी मजबूत हो जायेगे। लिहाजा वह सारी रात और दूसरे दिनभर और रातभर हम दूसरी बैरक मे रखे गये। इसपर पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ। वहाँ ले जाकर गाधीजी से न मिलने देना, जिनसे मिलने के लिए हम इतनी दूर नैनी से लाये गये, गोया हमे तरसाना और तडपाना था। आखिर १३ को दोपहर के पहले हमे खबर की गयी कि सर सप्रू और जयकर साहब तशरीफ ले आये है और गाधीजी भी जेल के दफ्तर मे उनके साथ मौजूद है और आप सबको वही बुलाया है। पिताजी ने जाने से इन्कार कर दिया और जब जेलवालो की तरफ से बहुतेरी सफाइयाँ दी गयी और माफियाँ माँगी गयी और यह तय पाया

कि हम पहले अकेले गाधीजी से ही मिलाये जायँगे, तब वह वहाँ जाने को राजी हुए। आगे चलकर हम सबके सम्मिलित अनुरोध पर सरदार पटेल और जयरामदास दौलतराम, जो दोनो यरवडा ले आये गये थे, और सरोजनी नायडू भी, जो हमारे सामने ही स्त्री-बैरक मे रक्खी गयी थी, हमारे साथ बातचीत मे शरीक किये गये। उसी रात पिताजी, महमूद और मै तीनो गाधीजी के अहाते मे ले जाये गये और यरवडा से चलने तक हम वही रहे। वल्लभभाई और जयरामदास भी वहाँ लाये गये और वे भी वही रक्खे गये, जिससे हमारे आपस मे सलाह-मशवरा किया जा सके।

१३, १४ और १५ अगस्त तक सप्रू और जयकर साहब से हमारा मशवरा जेल के दफ्तर मे होता रहा और हमने आपस मे चिट्ठी-पत्री के द्वारा अपने-अपने विचार भी प्रदर्शित कर दिये, जिनमे हमारी तरफ से वे कम-से-कम शर्तें बता दी गयीं जिनके पूरा होने पर सविनय-भग वापिस लिया जा सकता था और सरकार के साथ सहयोग किया जा सकता था। बाद को ये चिट्ठियाँ अखबारो मे भी छाप दी गयी थी।[१]

इन बातचीतो का पिताजी के शरीर पर बुरा असर हुआ और १६ ता० को एकाएक उन्हें जोर का बुखार आ गया। इससे हमारा जाना रुक गया और हम १९ की रात को रवाना हो पाये—फिर उसी तरह स्पेशल ट्रेन से। बम्बई-सरकार ने सफर मे हर तरह से पिताजी के आराम का खयाल रक्खा और यरवडा-जेल में भी उनके आराम का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था। जिस रात हम यरवडा पहुँचे उस दिन एक मजेदार घटना हुई, जो मुझे अबतक याद है। सुपरिटेडेट कर्नल मार्टिन ने पिताजी से पूछा कि आप किस तरह का खाना पसन्द करेगे? पिताजी ने कहा कि मै बहुत सादा और हल्का खाना खाता हूँ, और उन्होने सुबह की चाय से लेकर रात के खाने तक की सब ज़रूरी चीज़ें गिना दी। (नैनी मे रोज़ हम लोगों के घर से खाना आता था) पिताजी

---

१. जिन चिट्ठियो में ये शर्तें दी गयी थी वे परिशिष्ट नं० २ में दी गयी है।

ने सरल भाव से जो-जो चीजे लिखायी वे थी तो सब सादी और हल्की ही, मगर उन्हे देखकर कर्नल मार्टिन दग रह गये। बहुत मुमकिन था कि रिज और सेवाय होटल मे वे चीजे सादा और हल्की समझी जाती हो, जैसा कि खुद पिताजी भी समझते थे; लेकिन यरवडा जेल मे ये अजीब और बेतुकी दिखायी दी। महमूद और मै बडी रगत के साथ उस समय कर्नल मार्टिन के चेहरे के उतार-चढाव देखते रहे, जबकि पिताजी भोजन की उन कई तरह की और खर्चीली चीजो के नाम सुनाते जा रहे थे क्योकि कई दिनो से उनके यहाँ भारत का सबसे बडा और बहुत नामी नेता रखा गया था और उसकी भोजन-सामग्री थी सिर्फ बकरी का दूध, खजूर और शायद कभी-कभी नारगियाँ। मगर जो यह नया नेता उनके सामने आया उसका ढग कुछ और ही था।

पूना से नैनी लौटते समय भी हम बडे-बडे स्टेशन छलाँगते गये और ऐसी-वैसी मामूली जगह गाडी ठहरती रही। मगर भीड अबकी और ज्यादा थी, प्लेटफार्म भरे हुए थे और कही-कही तो रेलवे लाइन पर भी भीड जमा हो गयी थी—खासकर हरदा, इटारसी और सुहागपुर मे। यहाँतक कि दुर्घटनाये होते-होते बची।

पिताजी की हालत तेजी से गिरने लगी। कितने ही डाक्टर उन्हे देखने गये—खुद उनके डाक्टर भी और प्रान्तीय सरकार की तरफ से भेजे हुए डाक्टर भी। जाहिर था कि जेल उनके लिए सबसे खराब जगह थी और वहाँ किसी तरह माकूल इलाज नही हो सकता था। मगर फिर भी जब किसी मित्र ने अखबार मे लिखा कि बीमारी के सबब से उन्हे रिहा कर देना चाहिए, तो पिताजी बहुत बिगडे और उन्होंने कहा कि लोग समझेगे कि मेरी तरफ से यह इशारा कराया गया है। यहाँतक कि उन्होने लार्ड इर्विन को तार दिया कि मै खास मेहरबानी कराके नही छूटना चाहता। लेकिन उनकी हालत दिन-ब-दिन खराब ही होती गयी। वजन तेजी से गिरता जा रहा था, और उनका शरीर एक छाया या ढाँचा मात्र रह गया था। आखिर ८ सितम्बर को, ठीक १० सप्ताह बाद, वह रिहा कर दिये गये।

उनके चले जाने से हमारी बैरक से मानो जीवन और आनन्द चला गया। जब वह हमारे पास थे तो उनके लिए न जाने क्या-क्या करना पडता था, उनके आराम के लिए छोटी-छोटी बातो का भी ध्यान रखना पडता था। और हम सब—महमूद, नर्मदाप्रसाद और मै—बडी खुशी-खुशी उनकी सेवा मे दिन बिताते थे। मैने निवाड बुनना छोड दिया था, कातना भी बहुत कम कर दिया था, और न किताबे पढने का ही वक्त मिलता था। जब वह चले गये तो हमे फिर उन्ही कामो को शुरू करना पडा, मगर दिल पर बोझ बना रहता था। और वह आनन्द नही रहा था। उनके रिहा होने पर तो दैनिक अखबार भी मिलना बन्द हो गया था। ४-५ दिन बाद मेरे बहनोई रणजीत पडित गिरफ्तार हुए और हमारी बैरक मे ही रखे गये।

१ महीने बाद, ११ अक्तूबर को, मेरी छ महीने की सजा पूरी हो जाने पर, मै छोड दिया गया। मै जानता था कि मै थोडे ही दिन आजाद रह सकूँगा, क्योकि लडाई बहुत जमती और तेज होती जा रही थी। 'शान्ति-दूतो'—सप्रू-जयकर साहबान—की कोशिशे बेकार हो चुकी थी। उसी दिन, जिस दिन मै छूटा, दो और आर्डिनेन्स जारी किये गये थे। ऐसे वक्त पर छूटने से मुझे खुशी हुई और मै इस बात के लिए उत्सुक था कि जितने दिन आज़ाद रहूँ कुछ अच्छा और जोरदार काम कर जाऊँ।

उन दिनों कमला इलाहाबाद थी और वह काग्रेस के काम मे जुट पडी थी। पिताजी मसूरी मे इलाज करा रहे थे और माँ तथा बहने उनके साथ थी। कमला को साथ लेकर मसूरी जाने से पहले कोई डेढ दिन तक मै इलाहाबाद मे ही मशगूल रहा। उन दिनो हमारे सामने जो बडा सवाल था वह यह कि देहात मे करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया जाय या नही? लगान-वसूली का वक्त नज़दीक आ रहा था और यो भी लगान वसूल होने मे दिक्कत आनेवाली थी, क्योकि नाज के भाव बुरी तरह गिर गये थे। ससारव्यापी मन्दी का प्रभाव हिन्दुस्तान-भर मे दिखायी दे रहा था।

लगानबन्दी-आन्दोलन के लिए इससे बढकर उपयुक्त अवसर नही

दिखायी देता था—दोनों तरह से, सविनय भंग-आन्दोलन के सिलसिले मे भी और यो स्वतन्त्र रूप से भी। यह ज़ाहिरा तौर पर असम्भव था कि ज़मीदार और काश्तकार उस साल की पैदावार से पूरा-पूरा लगान चुका दे। उन्हे या तो पिछले साल की बचत, अगर कुछ हो तो उसका, या कर्ज़ का सहारा लिये बिना चारा न था। ज़मीदार के पास तो यो भी कुछ-न-कुछ सहारा रहता ही है, और उसे कर्ज़ भी आसानी से मिल सकता है, मगर एक औसत किसान का तो, जो अमूमन् भूखा-नगा और कगाल होता है, कोई सहारा नही होता। किसी भी प्रजातन्त्री देश मे या उस जगह जहाँ किसानो का अच्छा सगठन और प्रभाव है, इन परि-स्थितियो मे, किसानो से ज्यादा वसूल करना असम्भव होता। लेकिन भारत मे उनका प्रभाव नाममात्र का है—सिवा इसके कि कही-कही काग्रेस उनकी हिमायत करती और उनका साथ देती है। हाँ, एक बात और भी है। सरकार को यह डर ज़रूर लगा रहता है कि जब किसानो के लिए हालत असहनीय हो जायगी, तो वे उठ खडे होगे और बुरी तरह उभड पडेंगे। लेकिन, उन्हे तो युगो से यह तालीम मिलती चली आ रही कि जो कुछ विपता आवे उसे बिना चूँ तक किये करम पर हाथ रखकर बरदाश्त करते चले जाओ।

गुजरात तथा दूसरे प्रान्तो मे उस समय करबन्दी-आन्दोलन चल रहे थे, लेकिन वे प्राय सब राजनैतिक स्वरूप के थे और सविनय भग-आन्दो-लन से जुडे हुए थे। ये वे प्रान्त थे जहाँ रैयतवारी तरीका था और किसानो का ताल्लुक सीधा सरकार से था। उनके लगान न देने का असर तुरन्त सीधा सरकार पर पडता था। मगर युक्तप्रान्त की हालत उनसे भिन्न थी, क्योकि हमारा इलाका जमीदारी और ताल्लुकेदारी है और काश्तकार तथा सरकार के बीच एक तीसरी जमात भी है। अगर काश्तकार लगान देना बन्द कर दे तो उसका सीधा असर ज़मीदार पर होता है, इससे वह एक वर्ग का प्रश्न बन जाता है। इधर काग्रेस कुल मिलाकर एक राष्ट्रीय सस्था है और उनमे कितने ही छोटे-मोटे तथा कुछ बडे ज़मीदार भी शामिल थे। उसके नेता इस बात से बुरी तरह भय

खाते थे कि कही कोई वर्ग-विग्रह का प्रश्न न बन जाय, या ज़मीदार लोग न विगड बैठें। इस कारण सविनय भग शुरू होने से ठेठ छ महीने तक वे देहात मे करवन्दी-आन्दोलन शुरू करने से बचते रहे, हालाँकि मेरी राय मे उसके लिए बहुत ही अनुकूल अवसर था। मैं इस वर्गवाद के सवाल से तो इस तरह या और किसी तरह कतई नही घबराता था, लेकिन मैं इतना ज़रूर महसूस करता था कि काग्रेस अपनी मौजूदा हालत मे वर्ग-सघर्ष को नही अपना सकती। हाँ, वह दोनो से—काश्तकार और ज़मीदार दोनो से—कह सकती थी कि लगान मत दो। फिर भी औसत जमीदार बहुत करके मालगुज़ारी दे देते, लेकिन उस दशा में कुसूर उनका होता।

अक्तूबर मे जब मैं जेल से छूटा तो क्या राजनैतिक और क्या आर्थिक दोनों दशाये मुझे ऐसी मालूम हुईं मानो वे देहात मे करबन्दी आन्दोलन छेड़ देने के लिए पुकार-पुकार के कह रही हो। किसानो की आर्थिक कठिनाइयाँ तो ज़ाहिर ही थी। राजनैतिक क्षेत्र मे, हमारा सविनय भग-आन्दोलन यद्यपि सब जगह फल-फूल रहा था, तो भी कुछ-कुछ धीमा पड़ गया था। हालाँकि लोग थोडे-थोडे करके और कही-कही बडे दल बनाकर भी जेल जाते थे, तो भी वातावरण मे वह तेज़ी और गर्मी नही दिखायी देती थी। शहर और मध्यम श्रेणी के लोग हडतालो और जुलूसो से कुछ थक-से गये थे। सरेदस्त यह दिखायी देता था कि कुछ ज़िन्दगी डालने की, नया खून लाने की, ज़रूरत है। किसान-समुदाय के अलावा यह और कहाँ से आ सकता था? और यह खजाना तो अभी अखूट भरा पडा है। यह फिर जनता का एक आन्दोलन हो जायगा, जिससे जनता के गहरे हितो का सम्बन्ध होगा, और मुझे जो सबके मार्के की बात मालूम होती थी वह तो यह कि इसके बदौलत समाज-व्यवस्था-सम्बन्धी प्रश्न उठ खडे होगे।

उस थोड़े समय मे जब मैं इलाहाबाद रहा, हमारे साथियो ने और मैंने इन विषयो पर खूब गौर किया। जल्द ही हमने प्रान्तीय काग्रेस की कार्यकारिणी की मीटिंग बुलायी और बहुत बहस-मुबाहसे के बाद करबन्दी-आन्दोलन की मजूरी देदी और हर ज़िले को उसे शुरू करने का अधिकार

दे दिया। हमने खुद सूबे के किसी हिस्से में उसे शुरू नहीं किया, और कार्यकारिणी ने उसे जमींदार और काश्तकार दोनों पर लागू किया, जिससे उसके वर्गवाद-सम्बन्धी प्रश्न बन जाने की सम्भावना न रह जाय। हाँ, यह तो हम जानते ही थे कि इसमें मुख्य सहयोग किसानों की ही तरफ से मिलेगा।

जब इस तरह आगे कदम बढ़ाने की छुट्टी मिल गयी, तो हमारे इलाहाबाद ज़िले ने पहला कदम उठाना चाहा। हमने एक सप्ताह बाद जिले के किसानों का एक सम्मेलन करके इस नये आन्दोलन को आगे ठेलने का निश्चय किया। मेरे मन को इस बात से तसल्ली हुई कि जेल से छूटते ही पहले दिन मैंने ठीक-ठीक काम कर लिया। सम्मेलन के साथ ही मैंने इलाहाबाद में एक बड़ी आम सभा का भी आयोजन किया। इसमें मैंने एक लम्बी तकरीर की। इसी तकरीर पर बाद को मुझे फिर सज़ा दी गयी थी।

इसके बाद १३ अक्तूबर को कमला और मैं तीन दिन के लिए पिताजी से मिलने मसूरी गये। वह कुछ-कुछ अच्छे हो रहे थे और मुझे यह देखकर तसल्ली हुई कि अब उन्होंने करवट बदली है और चंगे हो रहे हैं। वे तीन दिन बड़ी शान्ति और बड़े आनन्द में बीते और मुझे अबतक याद आते हैं। फिर से अपने परिवार के साथ आकर रहना कितना अच्छा लगता था! मेरी लड़की इन्दिरा और मेरी तीन नन्ही-नन्ही भानजियाँ भी वहीं थीं। मैं इन बच्चों के साथ खेलता, कभी-कभी हम एक शाही जुलूस बनाकर घर के आस-पास बड़ी शान से घूमते। सबसे छोटी लड़की जो शायद ३-४ साल की थी, हाथ में राष्ट्रीय झण्डा लिये 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' यह झण्डा-गीत गाती हुई सबके आगे-आगे चलती। पिताजी के साथ मेरे ये तीन दिन बस आखिरी दिन थे, क्योंकि इसके बाद उनकी बीमारी असाध्य हो गयी और उन्हें हमसे छीनकर ले ही गयी।

पिताजी ने एकाएक इलाहाबाद आने का निश्चय कर लिया—शायद इस अन्देशे से कि शीघ्र ही मेरी गिरफ्तारी हो जायगी, या इसलिए कि वह मेरी परिस्थिति को और अच्छी तरह देख सकें। १९ को इलाहाबाद

मे किसान-सम्मेलन होनेवाला था, इसलिए कमला और मै १७ को मसूरी से चलनेवाले थे। पिताजी ने हमारे जाने के दूसरे दिन, १८ को, और लोगो के साथ रवाना होने की तजवीज की।

कमला और मेरे दोनो के लिए यह यात्रा जरा घटनापूर्ण रही। देहरादून मे, ज्योंही मै रवाना होने लगा, जाब्ता फौजदारी की १४४ दफा के मुताबिक मुझपर एक नोटिस तामील किया गया। लखनऊ मे हम कुछ ही घण्टो के लिए ठहरे थे, कि मालूम हुआ कि वहाँ भी १४४ दफा का एक नोटिस हमारी राह देख रहा है। लेकिन वह तामील न हो सका, क्योंकि भीड के कारण पुलिस अफसर मुझतक पहुँच नही पाया। म्युनिसिपैलिटी की तरफ से मुझे एक मानपत्र दिया गया और फिर हम मोटर से इलाहाबाद चले गये। रास्ते मे जगह-जगह ठहरकर किसानो की सभाओ मे व्याख्यान भी देते जाते थे। इस तरह करते-करते १८ की रात को हम इलाहाबाद पहुँचे।

१९ को सुबह होते ही १४४ दफा का एक और नोटिस मुझे मिला। सरकार मेरे पीछे पडी थी, और मै कुछ घण्टो का ही मेहमान था। मैं उत्सुक था कि गिरफ्तारी के पहले किसान-सम्मेलन मे हो जाऊँ। इस सम्मेलन को हम खानगी कहते थे और इसमे सिर्फ प्रतिनिधियों को ही बुलाया गया था। और ऐसा ही यह था भी। किसी बाहरी आदमी के आने की इजाजत इसमे न थी। इलाहाबाद जिले के बहुत प्रतिनिधि इसमे आये थे, और जहाँतक मुझे याद है उनकी सख्या १६०० के लगभग थी। सम्मेलन ने बडे उत्साह के साथ अपने जिलों मे करबन्दी शुरू करने का फैसला किया। हाँ, कुछ मुख्य कार्यकर्त्ताओं को ज़रूर हिचकिचाहट थी। इस बात मे उन्हे कुछ शक था कि कामयाबी होगी या नही, क्योकि किसानो को डराने-दबाने के साधन जमीदारो के पास बहुत थे और सरकार उनकी पीठ पर थी। उन्हे यह भी अन्देशा था कि किसान इन सब कठिनाइयो मे कहाँतक टिक सकेगे। लेकिन उन भिन्न-भिन्न श्रेणी के १६०० प्रतिनिधियो के दिलों मे, जो वहाँ मौजूद थे, ऐसी कोई हिचक या सन्देह न था, कम-से-कम वहाँ तो दिखायी नहीं

देना था। सम्मेलन में मैंने भी एक भाषण दिया था। लेकिन मैं नहीं कह सकता कि मैंने १४४ दफा का उल्लंघन किया या नहीं, जोकि मुझपर सार्वजनिक सभा में न बोलने के लिए लगायी गयी थी।

वहाँ से मैं, पिताजी और घर के दूसरे लोगों को लिवाने के लिए स्टेशन गया। गाड़ी लेट थी और उनके उतरते ही मैं उन्हें वहीं छोड़कर एक सभा के लिए रवाना हो गया। इसमें शहर और आसपास के देहात के लोग भी आनेवाले थे। ८ बजे के बाद रात को मैं और कमला थके-माँदे सभा से घर लौट रहे थे। मैं पिताजी से बातें करने के लिए उत्सुक हो रहा था, और मैं जानता था कि वह भी मेरी राह देख रहे होंगे, क्योंकि उनके आने के बाद हमें शायद ही बातचीत करने का मौका मिला हो। पर रास्ते में हमारी मोटर रोक ली गयी—वहाँसे हमारा घर दिखायी दे रहा था, और मैं गिरफ्तार करके जमना-पार नैनी की अपनी पुरानी बैरक में पहुँचा दिया गया। कमला अकेली आनन्द-भवन गयी और उसने पिताजी तथा घर के दूसरे लोगों को इस नयी घटना की ख़बर सुनायी और उधर नौ का घण्टा बजते-बजते मैंने फिर उसी नैनी-जेल के फाटक में प्रवेश किया।

: ३२ :

युक्तप्रान्त में कर-बन्दी

आठ दिन की गैरहाज़िरी के बाद मै फिर नैनी आ गया और सैयदमहमूद, नर्मदाप्रसाद और रणजीत पण्डित के साथ उसी पुरानी बैरक मे आ मिला। कुछ दिनो के बाद जेल मे ही मेरा मुकदमा चला। मुझपर कई दफायें लगायी गयी थी, जिनका आधार था मेरा वह भाषण जो मैने अपने छूटने के बाद इलाहाबाद मे दिया था। उसीके अलग-अलग हिस्सो को लेकर अलग-अलग इलजाम लगाये गये थे। हस्ब-मामूल मैने कोई सफाई पेश नही की, सिर्फ थोडे मे अपना एक लिखित बयान अदालत मे पेश किया। दफा १२४ की रू से राजद्रोह के अपराध मे मुझे १८ मास की सख्त कैद और ५००) जुरमाने, १८८२ के नमक-कानून के मुताबिक ६ महीने की कैद और १००) जुरमाने तथा १९३० के आर्डिनेन्स ६ के मातहत (मै भूल गया हूँ कि यह आर्डिनेन्स किस विषय का था) ६ मास कैद और १००) जुरमाने की सजायें दी गयी। पिछली दोनो सजाये एक-साथ चलनेवाली थी, इसलिए कुल मिलाकर मुझे २ साल की कैद हुई और जुरमाना न देने की हालत मे ५ महीने और। यह मेरी ५वी बार जेल-यात्रा थी।

फिर से मेरी गिरफ्तारी और सजायाबी होने का सविनय-भग-आदोलन की गति पर कुछ समय के लिए अच्छा ही असर हुआ। उससे उसमे एक नया जीवन और अधिक बल आ गया। इसका अधिकाश श्रेय पिताजी को है। जब कमला से उनको मेरी गिरफ्तारी की खबर मिली तो उन्हे वेदना का एक धक्का लगा, मगर फौरन ही उन्होने अपनी शक्तियों को बटोरा और सामने पडी हुई मेज को ठोक कर कहा—अब मैने निश्चय कर लिया है कि इस तरह बीमार बनकर पडा नही रहूँगा, अब अच्छा होकर एक जवाँमर्द की तरह काम करूँगा और बीमारी को मुफ्त मे अपनेपर हावी न होने दूँगा। यह निश्चय तो जवाँमर्दो का-सा

ही था। मगर अफसोस है कि उनका यह सारा सकल्प-वल भी उस गहरी वीमारी को जो, उनके शरीर को कुतर-कुतरकर खा रही थी, न दवा पाया। फिर भी कुछ दिनो तक तो उनके स्वास्थ्य मे साफ-साफ तवदीली दिखायी देने लगी—इतनी कि जिसको देखकर लोगो को अचभा होता था। कुछ महीने पहले से, जवसे वह यरवडा गये, उनके वलगम मे खून आने लगा था। उनके इस निश्चय के वाद ही वह यकायक वन्द हो गया और कुछ दिन तक विलकुल नही दिखायी दिया। इससे उन्हे खुशी हुई थी, और जव वह मुझ से जेल मे मिलने आये तो उन्होने मुझसे इस वात का जिक्र कुछ फख्र के साथ किया। लेकिन वदकिस्मती से यह तसल्ली थोडे ही दिन रही और आगे चलकर वीमारी फिर बढ गयी और खून ज्यादा मिकदार मे आने लगा। इस अवधि मे उन्होंने अपने पुराने ही जोश-खरोश से काम किया और देशभर मे सविनय-भग आन्दोलन को एक जोर का वेग दिया। जगह-जगह के लोगों से वह वात-चीत करते और उन्हे व्यौरेवार हिदायते भेजते। उन्होने एक दिन मुकर्रर किया (यह नवम्बर मे मेरा जन्मदिन था) जो सारे हिन्दुस्तान मे उत्सव के रूप मे मनाया जाय और उस दिन मेरे भापण के वे अश सभाओ मे पढे जायँ जिनपर मुझे सजा दी गयी थी। उस दिन कई जगह लाठी चार्ज हुए, जुलूस और सभाये वलपूर्वक तितर-वितर की गयी और यह अन्दाज किया गया था कि उस दिन सारे देशभर मे कोई पाँच हजार गिरफ्ता-रियाँ हुईं। वह अपने ढग का एक अनोखा जन्मोत्सव था।

वीमार तो वह थे ही, तिसपर यह जिम्मेदारी और उसमे इतनी ज्यादा ताकत का सर्फ होना उनकी तन्दुरुस्ती के लिए वहुत मुजिर हुआ और मैंने उनसे आग्रह किया कि वह विलकुल आराम ही करे। मैंने सोचा कि हिन्दुस्तान मे तो उनको ऐसा विश्राम मिलेगा नही क्योकि यहाँ उनका दिमाग लडाई के उतार-चढाव मे लगा रहेगा और लोग उनके पास सलाह-मशवरा लेने के लिए आये विना न रहेगे, इसलिए मैंने उन्हे सुझाया कि वह रगून, सिंगापुर, और डच-इडीज की तरफ छोटी-सी समुद्र-यात्रा कर आवे और उन्हें यह विचार पसन्द भी आया था। यह

भी तजवीज की गयी थी कि कोई डाक्टर-मित्र यात्रा मे साथ रहे। इस गरज से वह कलकत्ता गये भी, मगर वहाँ उनकी तबीयत और भी खराब होती गयी और वह आगे न बढ सके। कलकत्ते से बाहर एक स्थान मे सात हफ्ते तक रहे। कमला को छोडकर हमारे घर के सब लोग उनके साथ थे। कमला इलाहाबाद मे बहुत अर्से तक कांग्रेस का काम करती रही।

मेरी गिरफ्तारी इतनी जल्दी शायद इसलिए हुई कि मै करबन्दी-आन्दोलन के सिलसिले मे काम कर रहा था। मगर सच पूछिए तो मेरी गिरफ्तारी से बढकर उस आन्दोलन को बढानेवाली और कोई घटना नही हो सकती थी—खासकर उस दिन गिरफ्तारी से जबकि किसान-सम्मेलन खतम ही हुआ था और उसके प्रतिनिधि इलाहाबाद मे ही मौजूद थे। इससे उनका उत्साह बहुत बढ गया और वे जिले के करीब-करीब हर गाँव मे सम्मेलन का फैसला अपने साथ लेते गये। दो-एक दिन मे ही ज़िले-भर मे खबर फैल गयी कि करबन्दी-आन्दोलन शुरू हो गया है और हर जगह लोग खुशी-खुशी उसमे शरीक होने लगे।

उन दिनो हमारी सबसे बडी मुश्किल खबर पहुँचाने की थी—लोगो को यह बतलाने की कि हम क्या कर रहे है और उनसे क्या कराना चाहते है। अख़बार हमारी ख़बरो को छापने के लिए तैयार नही थे, इस डर से कि सरकार उनको सजा देगी और दबा देगी, छापेख़ाने हमारे इश्तिहार और पत्रिकाये छापने को तैयार नही थे, चिट्ठियो और तारों को काट-छाँट दिया जाता था और अक्सर रोक भी लिया जाता था। खबरे पहुँचाने का भरोसे का तरीका जो हमारे पास बाकी था वह यह था कि हम हरकारो के मार्फत अपनी ख़बरे भेजे। इसमे भी हमारे हरकारों को कभी-कभी गिरफ्तार कर लिया जाता था। यह तरीका ख़र्चीला था, और इसमे बडे सगठन की भी जरूरत थी। लेकिन इसमे कुछ सफलता मिली। प्रान्तीय कार्यालय प्रधान कार्यालय के निरन्तर सम्पर्क मे रहते थे और अपने ख़ास-ख़ास ज़िला-केन्द्रो के सम्पर्क मे भी। शहरो मे कोई ख़बर फैलाना मुश्किल नही था। कई शहरो मे गैर-काननी

खबरें रोजाना या हफ्तेवार साइक्लोस्टाइल के ज़रिये प्रकाशित होती रहती थीं और ऐसी खबरों की माँग बहुत रहती थी। आम लोगों में इत्तिला करने के लिए शहर में डोंडी पिटवाने का भी एक तरीका था। इसमें अक्सर इत्तिला करनेवाले की गिरफ्तारी हो जाती थी, मगर इसकी कुछ परवा नहीं थी क्योंकि लोग गिरफ्तारी को तो पसन्द ही करते थे, उससे बचना नहीं चाहते थे। ये सब तरीके शहरों में अनुकूल पड़ते थे परन्तु गाँवों में आसानी के साथ काम में नहीं लाये जा सकते थे। हर-कारों और साइक्लोस्टाइल से छापे हुए इश्तिहारों के ज़रिये से खास-खास गाँवों के केन्द्रों से किसी-न-किसी तरह का ताल्लुक तो रक्खा ही जाता था, परन्तु यह सन्तोषजनक नहीं था, क्योंकि दूर के गाँवों में हमारी खबरों को पहुँचाने में काफी समय लग जाया करता था।

इलाहाबाद के किसान-सम्मेलन से यह मुश्किल दूर हो गयी। ज़िले के प्रायः हर-खास-खास गाँव से डेलीगेट आये थे और जब वे वापस गये तब अपने साथ किसानों से सम्बन्ध रखनेवाले ताज़ा फैसलों और उनके कारण हुई मेरी गिरफ्तारी की खबर को ज़िले के हरेक हिस्से में ले गये। वे लोग, जिनकी कि तादाद सोलह सौ थी, करबन्दी-आन्दोलन के प्रभावशाली और जोशीले प्रचारक बन गये। इस प्रकार आन्दोलन की प्रारम्भिक सफलता का विश्वास हो गया, और इसमें कोई शक नहीं था कि शुरू में उस प्रदेश के आम किसान लगान देना बन्द कर देंगे, और उस वक्त तक बिलकुल नहीं देंगे, जबतक कि उनको देने के लिए और दबाया-डराया नहीं जायगा। निस्सन्देह कोई नहीं कह सकता था कि ज़मींदारों और अहलकारों की हिंसावृत्ति और भय के मुकाबिले में उनकी सहन-शक्ति कितनी टिक सकेगी।

करबन्दी करने की अपील हमने ज़मींदारों और किसानों दोनों से की थी। सिद्धान्त की दृष्टि से वह अपील किसी एक वर्ग के लिए नहीं थी। मगर असली रूप में कई ज़मींदारों ने अपना कर दे दिया और राष्ट्रीय संग्राम के प्रति जिनकी सहानुभूति थी ऐसे भी कई लोगों ने कर दे दिया। उनपर दबाव बहुत भारी था और उनके बहुत नुकसान उठाने

की सम्भावना थी। जहाँतक किसानो का सवाल है, वे तो मजबूत रहे। उन्होंने लगान नही दिया और इस प्रकार हमारा आन्दोलन एक करबन्दी-आन्दोलन ही हो गया। इलाहाबाद ज़िले से वह सयुक्तप्रान्त के कुछ दूसरे जिलों मे भी फैल गया। कई जिलो मे उसको बाजाब्ता अख़्त्यार नही किया गया, न उसका ऐलान किया गया, परन्तु वास्तव मे किसानो ने कर देना रोक लिया और कई जगह तो भाव के गिर जाने के कारण वे दे ही नही सके। इसपर कई महीनो तक न तो सरकार ने और न बडे ज़मीदारो ने उन सरकश किसानो को भयभीत करने के लिए कोई बडी कार्रवाई की। उन्हे अपनी कामयाबी पर भरोसा नही था, क्योंकि एक तरफ तो सविनय-भग-आन्दोलन के सहित राजनैतिक सग्राम था और दूसरी तरफ आर्थिक मन्दी का प्रश्न था, जिससे कि किसान दु खी थे। इन दोनों कठिनाइयो का समावेश एक-दूसरे मे हो गया और सरकार को बराबर यह डर रहा कि कही किसानो मे कोई तूफान न उठ खडा हो। उधर लदन मे गोलमेज-कान्फ्रेन्स हो रही थी। इसलिए इधर भारतवर्ष में सरकार अपनी तकलीफे नही बढाना चाहती थी, और न "ज़ोरदार" हुकूमत का प्रभावशाली प्रदर्शन ही करना चाहती थी।

जहाँतक इस प्रान्त का सम्बन्ध है, करबन्दी-आन्दोलन का एक खास नतीजा दिखायी दिया। इससे हमारे सग्राम का आकर्षण-केन्द्र शहरी प्रदेश से हटकर देहाती प्रदेशो मे चला गया। इससे आन्दोलन मे नवजीवन आ गया और जिसने उसकी बुनियाद को अधिक व्यापक और मज़बूत बना दिया। यद्यपि हमारे शहरी लोग इससे हैरान हो गये और थक गये और हमारे मध्यम श्रेणी के लोग किसी हदतक नाउम्मीद हो गये, परन्तु सयुक्तप्रान्त मे आन्दोलन मज़बूत था और पहले किसी भी समय किये गये आन्दोलन से मज़बूत रहा। शहर से देहात की तरफ परिवर्त्तन और राजनैतिक से आर्थिक समस्याओ की तरफ परिवर्त्तन दूसरे प्रान्तो मे इतनी हदतक नही हुआ और नतीजा यह हुआ कि उनमे शहरो की प्रधानता बनी रही और वे मध्यमवर्ग के लोगो की थकावट से ज्यादा-से-ज्यादा नुकसान उठाते रहे। बम्बई शहर मे भी, जो कि

शुरू से अखीर तक आन्दोलन मे खूब भाग लेता रहा, कुछ-कुछ नाउम्मीदी फैलने लगी। बम्बई में और दूसरी जगह भी हुकूमत की अवहेलना और गिरफ्तारियाँ भी जारी रही, परन्तु यह सब किसी कदर बनावटी दिखायी देता था। उसका सजीव तत्त्व जाता रहा था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि जन-समूह को लम्बे समय तक किसी क्रान्ति की हालत मे रखना असम्भव है। आम तौर पर तो ऐसी स्थिति कुछ दिनो तक ही टिका करती है, परन्तु सविनय-भग की यह अद्भुत शक्ति है कि जिससे यह कई महीनो तक जारी रहे और उसके पश्चात् भी धीमी चाल से अमर्यादित समय तक चलता रह सकता है।

सरकारी दमन बढा। स्थानिक काग्रेस कमिटियाँ, यूथ-लीग आदि, जोकि अभीतक आश्चर्य के साथ चलती रही थी, गैर-कानूनी करार दी जाकर दबा दी गयी। जेलों मे राजनैतिक कैदियो के साथ ज्यादा बुरा बर्त्ताव होने लगा। सरकार खास करके इससे चिढ गयी, कि लोग जेल से छूट जाने के बाद तुरन्त ही फिर जेल मे चले जाते थे। सजा के बावजूद भी सत्याग्रहियो को झुकाने मे असफल होने के कारण शासकों का हौसला ढीला हो गया। जाहिरा तौर पर जेल-शासन-सम्बन्धी अपराधों के कारण सयुक्तप्रान्त मे नवम्बर या दिसम्बर १९३० के शुरू मे कुछ राजनैतिक कैदियों को बेत की सजा दी गयी थी। इसकी खबर हमारे पास नैनी-जेल मे पहुँची। उससे हम क्षुब्ध हो उठे—तबसे हम हिन्दुस्तान मे इसके तथा इससे भी खराब दृश्यो और घटनाओ के आदी हो गये है—क्योंकि बेत लगाना बुरे-से-बुरे और जेल-जीवन के आदी कैदियो के लिए भी मुझे एक अवाञ्छनीय यातना मालूम हुई, और नौजवान कोमल-हृदय बच्चो के लिए तो और सो भी नाममात्र के नियम-भग के कुसूर मे बेंत की सजा को बिलकुल जगली ही कहना चाहिए। हमारी बैरक के हम चारो ने सरकार को इसकी बाबत लिखा, और जब दो हफ्ते तक उसका कोई जवाब न आया तो हमने इस बेत लगाने के विरोध मे और इस बर्बरता के शिकार होनेवालो के प्रति हमदर्दी मे कोई निश्चित कार्रवाई करना तय किया। हमने तीन दिन—७२ घटे—

का पूरा उपवास किया। उपवास के लिहाज से यह कोई बडी बात न थी, मगर हमे उपवास का अभ्यास नही था और न यही जानते थे कि हम उसमे कितने टिक सकेगे ? इससे पहले २४ घटे से ज्यादा का उपवास मैने शायद ही कभी किया हो।

हमे उपवास के दिनो मे कोई ज्यादा तकलीफ नही हुई, और मुझे यह जानकर खुशी हुई कि उसमे वैसी सख्त तकलीफ की कोई बात नही थी जैसा कि डर था। मगर एक बेवकूफी मैने की। उपवास भर मैने अपनी कडी कसरत भी जारी रक्खी थी, जैसे दौडना और हाथ-पाँव को झटके देने की कसरत वगैरा। मै नही समझता कि उससे मुझे कोई ज्यादा फायदा हुआ। खासकर उस हालत मे जबकि मेरी तबीयत पहले से ही कुछ अलील थी। इन तीन दिनों मे हम सब का वजन ७ से ८ पौण्ड तक घटा। इससे पहले महीने मे कोई १५ से २६ पौण्ड तक वजन हम हरेक का घट चुका था सो अलग।

हमारे उपवास के अलावा, बाहर भी, बेत लगाने के खिलाफ खासा आन्दोलन हो रहा था, और मै समझता हूँ कि युक्तप्रान्तीय सरकार ने महकमा जेल को ऐसी हिदायते भेजी थी कि आयन्दा बेत न लगाये जाये। मगर ये आज्ञाये ज्यादा दिन कायम नही रहने को थी और कोई १ साल के बाद युक्तप्रान्त की और दूसरे प्रान्तो की जेलो मे बेतों की सजा फिर दी जाने लगी।

बीच-बीच मे यदि ऐसी उत्तेजक घटनाओं से खलल न पडा होता तो हमारा जेल-जीवन शान्तिपूर्ण रहता। मौसम अच्छा था और जाडा तो इलाहावाद मे वहुत ही मजेदार होता है। रणजीत पडित क्या आये, हमारी बैरक को दुर्लभ लाभ मिल गया; क्योकि वह वागवानी वहुत कुछ जानते थे और शीघ्र ही वह हमारा वीराना अहाता फूलो और तरह-तरह के रगो से गुलजार होगया। उन्होने तो उस तग और थोडी जगह मे छोटे पैमाने पर गॉल्फ खेलने की सुविधा भी कर दी थी।

नैनी-जेल मे हमारे सिर पर से हवाई-जहाज उडकर जाया करते थे और यह हमारे लिए एक आनन्द और मनोरजन का विपय होगया था।

पूर्व और पश्चिम को आने-जानेवाले बडे-बडे हवाई जहाजों के लिए इलाहाबाद एक खास स्टेशन है और आस्ट्रेलिया, जावा, और फ्रेंच इन्डो-चायना को जानेवाले बडे-बडे जहाज सीधे हमारे सिर पर से गुजरा करते थे। उनमे सबसे बडे और शाही थे डच जहाज, जो बटेविया आते-जाते थे। कभी-कभी इत्तिफाक से और हमारी खुशकिस्मती से जाडे में बडे तडके जबकि कुछ-कुछ अँधेरा रहता था और तारे चमकते दिखायी देते थे, कोई जहाज ऊपर से गुजरता था। उसमे खूब रोशनी की जगमगाहट रहती थी और उसके दोनो सिरो पर लाल रोशनी होती थी। प्रात काल के स्वच्छ नीले आसमान मे जब वह जहाज ऊपर उडता तो उसका दृश्य बडा ही सुन्दर मालूम होता था।

पण्डित मदनमोहन मालवीय भी, किसी दूसरी जेल से, नैनी भेज दिये गये थे। वह हमसे अलग दूसरी बैरक मे रक्खे गये थे, लेकिन हम रोज उनसे मिलते थे और शायद बाहर की बनिस्बत वहाँ मै उनसे अधिक परिचय कर पाया। वह बडे खुश-मिजाज साथी थे। जीवनी-शक्ति से भरे-पूरे और हर बात मे एक युवक की तरह दिलचस्पी लेनेवाले। रणजीत की सहायता से उन्होने जर्मन पढना शुरू किया और उस सिल-सिले मे उन्होने अपनी विलक्षण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया। जब यह बेंते लगाने की खबर मिली तब वह नैनी मे ही थे और यह खबर सुनकर बहुत बिगडे थे और उन्होने हमारे सूबे के कार्यवाहक गवर्नर को इसके विषय मे लिखा भी था। इसके बाद ही वह बीमार हो गये। जेल की सर्दी उन्हे बरदाश्त न हुई। उनकी बीमारी चिन्ताजनक होती गयी और वह शहर के अस्पताल में भेज दिये गये और कुछ दिन बाद मियाद से पहले ही वहाँ से रिहा कर दिये गये। खुशी की बात है कि अस्पताल जाकर वह चगे हो गये।

१ जनवरी १९३२ को अंग्रेजी साल के नये दिन, कमला की गिर-फ्तारी की खबर हमे मिली। मुझे इससे खुशी हुई, क्योंकि वह बहुत दिनों से अपने दूसरे साथियो की तरह जेल जाने को बहुत उत्सुक थी। यो तो अगर वह मर्द होती तो वह और मेरी बहन दोनो तथा और भी

दूसरी स्त्रियाँ बहुत पहले ही गिरफ्तार हो गयी होती, मगर उस वक्त सरकार जहाँतक हो सकता था स्त्रियो को गिरफ्तार करना टालती थी और इससे वह इतने अर्से तक बच रही और अब जाकर उसके मन की मुराद बर आयी। मैंने सोचा, सचमुच उसे कितनी खुशी हुई होगी! मगर साथ ही मुझे एक खौफ भी हुआ, क्योंकि उसकी तन्दुरुस्ती हमेशा खराब रहती थी। और मुझे अदेशा था कि जेल मे कही उसे बहुत ज्यादा तकलीफ न हो।

गिरफ्तारी के वक्त एक पत्र-प्रतिनिधि वहाँ मौजूद था और उसने उससे एक सदेश माँगा। उसी क्षण झट से उसने एक छोटा-सा सन्देश दिया, जो उसके स्वभाव के अनुकूल ही था—"आज मुझे बेहद खुशी है और मुझे फख्र है कि मैं अपने पति के पद-चिन्हो पर चल सकी हूँ। मुझे उम्मीद है कि आप लोग इस ऊँचे उठाये झडे को नीचे न झुकने देगे।" मुमकिन था कि अगर वह कुछ सोच पाती तो ऐसा सदेश न देती, क्योकि वह अपने को पुरुषो के जुल्मो से स्त्रियों के अधिकारो की रक्षा करने का बानी-मुबानी समझती थी। लेकिन उस समय हिन्दू-स्त्रीत्व के सस्कार उसमे प्रबल हो उठे और उनके प्रवाह मे मर्दो के जुल्म न जाने कहाँ बह गये?

पिताजी कलकत्ता थे और उनकी हालत सन्तोषजनक नही थी। लेकिन कमला की गिरफ्तारी और सजा के समाचार सुनकर वह बहुत बेचैन हो गये और उन्होने इलाहाबाद लौटना तय किया। फौरन ही मेरी बहन कृष्णा को उन्होने इलाहाबाद रवाना किया और खुद घर के और लोगो के साथ कुछ दिन बाद चले। १२ जनवरी को वह मुझसे मिलने नैनी आये। मैंने उन्हे कोई दो मास बाद देखा था, और उन्हे देखकर मेरे दिल को जो धक्का लगा उसे मै मुश्किल से छिपा सका। उनके चेहरे को देखकर मेरे दिल मे जो दहशत बैठ गयी उससे वह अनजान मालूम हुए, क्योकि उन्होने मुझसे कहा कि कलकत्ते की बनिस्बत अब तो मैं बहुत अच्छा हूँ। उनके चेहरे पर वरम आ गया था और वह शायद यह समझते थे कि यह तो यो ही आ गया है।

उनके उस चेहरे का मुझे रह-रहकर खयाल हो आता था। वह किसी तरह उनके चेहरे जैसा न रहा था। अब पहली मर्तबा मेरे दिल मे यह डर पैदा हुआ कि उनके लिए खतरा सामने खडा है। मैंने हमेशा उनकी कल्पना बल और स्वास्थ्य के साथ-साथ ही की थी और उनके सम्बन्ध मे मौत का खयाल कभी मन मे नही आता था। मौत के खयाल पर वह हमेशा हँस दिया करते थे—उसे हँसी मे उडा दिया करते थे, और हमसे कहा करते थे कि मै तो अभी बहुत दिन जीऊँगा। लेकिन इधर बाद मे मैं देखता था कि जब कभी कोई उनका जवानी का मित्र मर जाता, तब वह अपने को अकेला-सा, अटपटे साथियो और लोगो मे छूट गया-सा और मृत्यु के आने का इशारा-सा होता हुआ अनुभव करते थे। लेकिन आम तौर पर यह भाव आकर चला जाता था और उनकी ओत-प्रोत जीवनी-शक्ति अपना ज़ोर जमा लेती थी। हम परिवार के लोग उनके इस बहु-सम्पन्न व्यक्तित्व के और उनके सर्वव्यापी उत्साह-प्रद स्नेह-पान के कितने अभ्यस्त हो गये थे कि उनके बिना दुनिया की कल्पना करना हमारे लिए कठिन था।

उनके चेहरे को देखकर मुझे बडा दु ख हुआ और मेरे मन मे तरह तरह की आशकाये छा गयी। ताहम मुझे यह खयाल नही हुआ था कि खतरा इतना नजदीक आ पहुँचा है। ठीक उन्ही दिनो पता नही क्यो, खुद मेरी भी तन्दुरुस्ती अच्छी नही रहती थी।

पहली गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के वे आखिरी दिन थे और उसमे जो आलकारिक भाषण हुए और आडम्बरयुक्त भाव प्रदर्शित किये गये वे हमारे मनोरजन का विषय बन गये थे, और मुझे कहना होगा कि उस मनोरजन मे कुछ हिकारत का भाव भी था। वहाँ के भाषण और लबी-चौडी बाते और वादविवाद हमे अवास्तविक और व्यर्थ मालूम होते थे; पर हाँ, एक वास्तविकता साफ दिखायी पडती थी—वह यह कि देश की कठिन परीक्षा के अवसर पर और जबकि हमारे भाइयो और बहनों ने अपने आचरण से सबको इतना आश्चर्य मे डाल दिया, तबभी हमारे देश मे ऐसे लोग थे जो हमारे सग्राम की अवहेलना करते थे और हमारे विप-

क्षियो की तरफ अपना नैतिक बल लगाते थे। यह बात हमे पहले से भी ज्यादा साफ नज़र आ गयी कि राष्ट्रीयता की धोखे की टट्टी मे विरोधी आर्थिक हित अपना काम कर रहे है और किस तरह स्थापित स्वार्थ उसी राष्ट्र-धर्म के नाम पर भविष्य के लिए अपनी रक्षा करने की चेष्टा कर रहे है। गोलमेज़ कान्फ्रेन्स इन स्थापित स्वार्थो के प्रतिनिधियो का ही एक सम्मेलन था। उनमे से कितनो ही ने हमारे सग्राम का विरोध किया था, कुछ खामोश होकर एक तरफ खडे देखते थे—हाँ, समय-समय पर हम इस बात की याद भी दिलाया करते थे कि "जो खडे होकर इन्तज़ार करते है वे एक तरह की सेवा ही करते है।" लेकिन ज्योही लन्दन से डोर हिली इस इन्तजारी का एकाएक अन्त आगया और वे अपने विशेष हितो की रक्षा के लिए और जो कुछ टुकडे और मिल सकते है उनमे हिस्सा बाँटने के लिए एक-के-बाद एक दौड पडे। लन्दन मे यह जमीयत और भी जल्दी इसलिए की गयी कि काग्रेस तेजी के साथ बाये पक्ष की ओर जा रही थी और उसपर जनता का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जा रहा था। यह सोचा गया कि अगर भारत मे आमूल राजनैतिक परिवर्त्तन का दौर आ गया तो इसके मानी होगे जनता की भिन्न-भिन्न शक्तियो या अशो का प्राधान्य हो जाना, या कम-से-कम महत्त्वपूर्ण बन बैठना। और ये लाज़मी तौर पर आमूल सामाजिक परिवर्त्तन पर ज़ोर देगे और इस तरह स्थापित स्वार्थो को धक्का पहुँचा जावेंगे। हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थवाले इस आनेवाली आफत को देखकर सहम गये और इसके कारण उन्होने दूरगामी राजनैतिक परिवर्तनो का विरोध किया। उन्होने चाहा कि ब्रिटिश लोग यहाँ वर्तमान सामाजिक ढाँचे को और स्थापित स्वार्थो को कायम रखने के लिए अन्तिम निर्णायक-शक्ति के तौर पर कायम रहे। औपनिवेशिक पद पर जो इतना ज़ोर दिया गया उसके मूल मे यही धारणा काम कर रही है। एक दफा तो एक मशहूर हिन्दुस्तानी लिबरल नेता मुझपर इस बात के लिए बिगड पड़े कि मैंने ग्रेट ब्रिटेन के साथ होनेवाले समझौते के अग-रूप ब्रिटिश फौज के हिन्दुस्तान से तुरन्त हटा दिये जाने और उसकी जगह हिन्दुस्तानी

फौज के लोकतन्त्र के मातहत कर दिये जाने पर जोर दिया था। वह तो यहाँतक आगे बढ गये थे कि बोले—"अगर ब्रिटिश सरकार इस बात पर रजामन्द हो भी जाये, तो मै अपनी पूरी ताकत से इसका विरोध करूँगा।" किसी भी तरह की कौमी आजादी के लिए यह माँग बहुत जरूरी थी। फिर भी उन्होंने इसका जो विरोध किया वह इसलिए नही कि मौजूदा हालत मे वह पूरी नही की जा सकती थी, बल्कि इसलिए कि वह अवाञ्छनीय समझी गयी। इसका आशिक कारण तो शायद यह डर हो कि बाहरी शक्तियाँ हमारे देश पर धावा बोल देगी, और वह समझते थे कि ब्रिटिश फौज उस समय हमारी रक्षा के काम आवेगी। मगर ऐसे किसी हमले की सम्भावना हो या न हो, इसके अलावा भी किसी भी जानदार हिन्दुस्तानी के लिए यह खयाल ही कितना ज़लील करनेवाला है कि वह किसी बाहरी आदमी से अपनी रक्षा करने के लिए कहे। मगर अग्रेजो की सबल बाहु को हिन्दुस्तान में कायम रखने की ख्वाहिश की तह मे असली बात यह नही थी। अग्रेजो की जरूरत तो समझी गयी थी खुद हिन्दुस्तानियो से, लोकतन्त्र से और जनता की आगे बढती हुई लहर के प्रभाव से, हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए।

इसलिए गोलमेज के प्रसिद्ध प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ही नहीं बल्कि वे प्रतिनिधि भी जो अपने को उन्नतिशील और राष्ट्रवादी कहते थे, आपस मे तथा ब्रिटिश सरकार के और अपने बीच अपने समान-हित की बहुत बाते पाते थे। राष्ट्र-धर्म सचमुच मे बहुत व्यापक और भिन्न-भिन्न अर्थ रखनेवाला शब्द मालूम हुआ—एक तरफ उसमे जहाँ वे लोग शामिल थे जो आजादी की लडाई मे जूझते हुए जेल गये थे, वहाँ दूसरी तरफ उसमें उन लोगो का भी समावेश होता था जो हमे जेल भेजनेवालो से हाथ मिलाते थे, उनकी कतार मे खडे होते थे और उनके साथ बैठकर एक कार्य-नीति बनाने का आयोजन करते थे। एक दूसरे लोग भी हमारे देश मे थे—बहादुर राष्ट्रवादी, जो धारा-प्रवाह व्याख्यान झाडते थे, जो हर तरह से स्वदेशी-आन्दोलन को बढावा देते थे। वे हमसे कहते थे कि

इसीमे स्वराज का सार छिपा हुआ है। इसलिए कुरबानी करके भी स्वदेशी को अपनाओ, और तकदीर से इस आन्दोलन की बदौलत उन्हे कुछ त्याग नही करना पडा। उलटा उनकी तिजारत और मुनाफा बढ गया। और जब एक तरफ कितने ही लोग जेल गये और लाठी-प्रहार का मुकाबिला किया, तो दूसरी तरफ वे अपनी दुकानो मे बैठ-बैठकर रुपये गिन रहे थे। बाद को जब राष्ट्रवाद ने जरा उग्र रूप धारण किया और उसमे ज्यादा जोखिम दिखायी दी तो उन्होने अपने भाषणो का स्वर नीचा कर दिया, गरम दलवालो को बुरा कहने लगे और मुखालिफो के साथ राजीनामे और ठहराव कर लिये।

हमे सचमुच इसका कुछ ख़याल या परवा नही थी कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स ने क्या किया। वह हमसे बहुत दूर, अवास्तविक और खोखली थी और लडाई यहाँ हमारे कस्बो और गाँवो मे हो रही थी। हमे इस बात मे कोई भ्रम नही था कि हमारी लडाई जल्द ही खत्म हो जायगी, या खतरा सामने खडा है, मगर फिर भी १९३० की घटनाओ ने हमे अपने राष्ट्रीय बल और दमखम का इत्मीनान करा दिया और उस इत्मीनान के भरोसे हमने भावी का मुकाबिला किया।

दिसम्बर या जनवरी के शुरू की एक घटना से हमे दुख पहुँचा। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने एडिनबरा के (जहाँ मै समझता हूँ कि उन्हे 'शहर की आजादी' भेट की गयी थी) अपने एक भाषण मे उन लोगो के प्रति नफरत के भाव जाहिर किये जो सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन के सिलसिले मे जेल जा रहे थे। उस भाषण ने और खासकर जिस मौके पर वह दिया गया उसने हमारे दिलो को जख्मी कर दिया। क्योकि यद्यपि राजनीति मे शास्त्रीजी से हमारा बहुत मतभेद था, तो भी हम उनकी इज्जत करते थे।

रैम्जे मैकडानल्ड साहब ने, सदा की तरह, एक सद्भावपूर्ण भाषण के द्वारा गोलमेज-कान्फ्रेन्स का उपसहार किया। उसमे काँग्रेसियो से ऐसी अपील की हुई दिखायी दी कि वे बुरे मार्ग को छोड दे और भले आदमियो की टोली मे मिल जायँ। ठीक इसी समय—१९३१ की जनवरी

के बीच मे—इलाहाबाद मे काग्रेस की कार्य-समिति की एक बैठक हुई और दूसरी बातो के साथ-साथ इस भाषण और उसमे की गई अपील पर भी विचार किया। उस वक्त मै नैनी-जेल मे था और रिहा होने पर मैने उसकी कार्रवाई का हाल सुना। पिताजी उसी समय कलकत्ते से लौटे थे और हालाँकि वह बहुत बीमार थे तोभी उन्होने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि उनकी रोगशय्या के पास ही मेम्बर लोग आकर चर्चा करे। किसीने यह सुझाया कि मि० मैकडानल्ड की अपील के जवाब मे हमारी तरफ से भी कोई इशारा किया जाय और सविनय-भग कुछ ढीला कर लिया जाय। इससे पिताजी बहुत उत्तेजित हो गये, अपने बिछौने पर उठ बैठे और कहा कि मै तबतक समझौता न करूँगा जबतक कि राष्ट्रीय ध्येय प्राप्त नही हो जाता और अगर मै अकेला ही रह गया तो भी मै लड़ाई जारी रक्खूँगा। यह उत्तेजना उनके लिए बहुत बुरी थी। उनका तापमान बढ गया। आखिर डाक्टरो ने किसी तरह उन्हे राजी करके मेहमानो को वहाँ से हटाकर उन्हे अकेला रहने दिया।

बहुत कुछ उन्हीके आग्रह से कार्य-समिति ने बिलकुल न झुकने का प्रस्ताव पास किया था। उसके अखबारो मे छपने से पहले ही सर तेज-बहादुर सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री का एक तार पिताजी को मिला, जिसमे उनकी मार्फत काग्रेस से यह दरख्वास्त की गयी थी कि वह इस विषय पर तबतक कोई फैसला न करे, जबतक कि उन्हे बात-चीत करने का एक मौका न दिया जाय। वे लन्दन से विदा हो चुके थे। उन्हे इस आशय का जवाब दिया गया कि कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव तो पास कर दिया है, लेकिन जबतक आप दोनो यहाँ न आजायेंगे और आपसे बात-चीत न हो जायगी, तबतक वह प्रकाशित न किया जायगा।

बाहर यह जो कुछ हो रहा था उसका हमे जेल मे कुछ पता न था। हम इतना ही जानते थे कि कुछ होनेवाला है और इससे हम कुछ चिन्तित हो गये थे। हमे जिस बात का सबसे अधिक ख़याल था, वह तो था २६ जनवरी के स्वतन्त्रता-दिवस का प्रथम वार्षिकोत्सव, और हम सोचते थे कि देखे यह किस तरह मनाया जाता है। बाद को हमने

सुना कि वह सारे देश में मनाया गया। सभायें की गयीं और उनमें स्वाधीनता के प्रस्ताव का समर्थन किया गया और सब जगह वह एकसा पास किया गया, जिसे 'स्मारक प्रस्ताव' [1] कहा जाता था। इस उत्सव का संगठन एक तरह की करामात ही थी। क्योंकि न तो अखबार न छापेखाने ही सहायता करते थे, न तार व डाक से ही काम लिया जा सकता था। लेकिन फिर भी एक ही प्रस्ताव अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा में, कई बड़ी-बड़ी सभायें करके, करीब-करीब एक ही समय देशभर में, क्या देहात और क्या कस्बे सब जगह, पास किया गया। बहुतेरी सभायें तो कानून की अवहेलना करके की गयीं और पुलिस के द्वारा बलपूर्वक तितर-बितर की गयी थीं।

२६ जनवरी को हम नैनी-जेल में बीते हुए साल के कामों पर और सिंहावलोकन डाल रहे थे और आगामी वर्ष को आशा की दृष्टि से देख रहे थे। इतने ही में दोपहर को एकाएक मुझे कहा गया कि पिताजी की हालत बहुत नाजुक हो गयी है और मुझे फौरन घर जाना होगा। पूछने पर पता चला कि मैं रिहा किया जा रहा हूँ। रणजीत भी मेरे साथ थे।

उसी शाम को हिन्दुस्तान की कितनी ही जेलों से बहुत-से दूसरे लोग भी छोड़े गये। ये लोग थे कार्य-समिति के मूल और स्थानापन्न सदस्य। सरकार हमें आपस में मिलकर हालात पर गौर करने का मौका देना चाहती थी। इसलिए, मैं उसी शाम को हर हालत में छूट जाता। पिताजी की तबीयत की वजह से कुछ घण्टे पहले रिहाई होगयी। २६ दिन का जेल-जीवन बिताकर कमला भी उसी दिन लखनऊ-जेल से छोड़ दी गयी। वह भी कार्य-समिति की एक स्थानापन्न मेम्बर थी।

---

१ यह प्रस्ताव परिशिष्ट नं० ३ में दिया गया है।

: ३३ :

पिताजी का देहान्त

पिताजी को मैंने दो हफ्ते बाद देखा। १२ जनवरी को नैनी मे जब वह मिलने आये थे तब उनका चेहरा देखकर मेरे दिल को एक धक्का लगा था। तबसे अब उनकी तबीयत और ज्यादा खराब हो गयी थी और उनके चेहरे पर ज्यादा वरम आ गया था। बोलने मे कुछ तकलीफ होती थी और दिमाग पर पूरा-पूरा काबू नही रहा था, लेकिन फिर भी उनकी सकल्प-शक्ति वैसी ही कायम रही थी और वह उनके शरीर और दिमाग को काम करने मे ताकत देती रही।

मुझे और रणजीत को देखकर वह खुश हुए। एक या दो रोज बाद रणजीत (वह कार्य-समिति के सदस्यो की श्रेणी मे नही आते थे इसलिए) वापस नैनी भेज दिये गये। इससे पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ और वह बार-बार उनको याद करते थे और शिकायत करते थे, कि जब इतने सारे लोग मुझसे दूर-दूर से मिलने आते है तब मेरा दामाद ही मुझसे दूर रक्खा जाता है! उनके इस आग्रह से डॉक्टर लोग चिन्तित थे और यह जाहिर था कि उससे पिताजी को कोई फायदा नही हो रहा था। ३ या ४ दिन बाद, मै समझता हूँ डॉक्टरो के कहने से, युक्त-प्रान्त की सरकार ने रणजीत को छोड दिया।

२६ जनवरी को, उसी दिन जिस दिन मै छोडा गया, गाधीजी भी यरवडा-जेल से रिहा कर दिये गये। मै उत्सुक था कि वह इलाहाबाद आवे, और जब मैंने उनके छूटने की खबर पिताजी को दी तो मैंने देखा कि वह उनसे मिलने के लिए आतुर थे। एक जबरदस्त जन-समूह के द्वारा, जैसा कि बम्बई मे पहले कभी नही देखा गया, स्वागत हो जाने के बाद दूसरे ही दिन गाधीजी बम्बई से चल पडे। वह इलाहाबाद रात को देर से पहुँचे। लेकिन पिताजी उनसे मिलने की इन्तजारी मे जग रहे थे, और उनके आने से और उनके कुछ शब्द सुनने से पिताजी को बडी

शान्ति मिली। उनके आने से मेरी माँ को भी बहुत शान्ति और तसल्ली रही।

अब कार्य-समिति के जो मूल और स्थानापन्न मेम्बर रिहा किये गये थे। वे इसबीच में असमंजस में पड़े हुए मीटिंग के लिए सूचनाओं का इन्तजार कर रहे थे। कितने ही लोग पिताजी की बाबत चिन्तित थे और तुरन्त ही इलाहाबाद आ जाना चाहते थे। इसलिए यह तय हुआ कि उन सबको फौरन मीटिंग के लिए इलाहाबाद बुला लिया जाय। दो दिन के बाद ३० या ४० लोग आगये और हमारे मकान के पास ही स्वराज्य-भवन में उनकी मीटिंगें होने लगीं। कभी-कभी मैं उन मीटिंगों में चला जाता था। लेकिन मैं अपनी चिन्ताओं में इतना मुब्तिला रहता था कि उनमें कोई उपयोगी हिस्सा नहीं लेता था और इस समय मुझे कुछ याद नहीं है कि वहाँ क्या-क्या निर्णय हुए थे? मेरा खयाल है कि वे सविनय-भंग-आन्दोलन को जारी रखने के हक में हुए थे।

ये मित्र और साथी लोग जिनमें से बहुतेरे तो हाल ही जेल से छूटे थे और फिर शीघ्र ही जेल जाने की आशा लगाये बैठे थे, पिताजी से मिलना चाहते थे। और उनके अन्तिम दर्शन करके अन्तिम विदा लेना चाहते थे। सुबह-शाम उनमें से दो-तीन आते पिताजी को अपने इन पुराने साथियों का स्वागत करने लिए आराम-कुर्सी पर बैठने का आग्रह करते थे। उनका डीलडौल तो भव्य मगर चेहरा भावशून्य दिखायी देता था, क्योंकि वरम आ जाने के कारण चेहरे पर भाव प्रकट नहीं हो पाते थे। लेकिन जैसे-जैसे एक के बाद एक साथी आते और जाते थे वैसे-वैसे उन्हें पहचान-पहचानकर उनकी आँखों में चमक आ जाती थी। उनका सिर कुछ झुकता जाता था और नमस्कार के लिए हाथ जुड़ जाते थे। हालाँकि वह ज्यादा नहीं बोल सकते थे, कभी-कभी कुछ शब्द बोलते थे, मगर फिर भी उनका पुराना हँसी-मजाक कायम था। वह एक बूढ़े शेर की तरह, जिसका शरीर बुरी तरह जख्मी हो गया हो और जिसकी ताकत शरीर से करीब-करीब चली गयी हो, बैठे थे, लेकिन उस हालत में भी उनकी शान तो सिंहों या राजाओं जैसी ही थी। जब-जब मैं उनकी

तरफ देखता, तो मै सोचता कि उनके दिमाग मे क्या-क्या खयाल आते होगे ? क्या वह हम लोगो के काम-काज मे दिलचस्पी लेने की हालत मे नही रहे है ? यह साफ मालूम होता था कि वह अक्सर अपने-आपसे लडते थे। चीजे उनकी पकड से निकलना चाहती थी और वह उनपर काबू पाने की कोशिश करते थे। आखीर तक यह लडाई जारी रही। मगर वह हारे नही। जब-तब बडी ही स्पष्टता के साथ हमसे बाते करते थे—यहाँतक कि जब गले की सिकुडन से उनके मुहँ से शब्द निकला मुश्किल हो गया था तो वह कागज पर लिख-लिखकर अपना आशय जाहिर करते थे।

कार्य-समिति की बैठको मे, जो कि हमारे ही पडौस मे ही हो रही थी, कहना चाहिए कि उन्होने, कुछ भी दिलचस्पी नही ली। १५ रोज पहले इनसे उनका उत्साह जरूर बढा होता, मगर अब शायद उन्होने महसूस किया कि अब वह उससे बहुत दूर निकल गये है। उन्होने गाधीजी से कहा—"महात्माजी ! मैं जल्दी ही चला जानेवाला हूँ, स्वराज्य देखने के लिए जिन्दा नही रहूँगा। लेकिन मैं जानता हूँ कि आपने स्वराज्य फतह कर लिया है और जल्दी ही वह आपके हाथ मे आ जायगा।"

जो दूसरे शहरो और सूबो से लोग आये थे उनमे से बहुतेरे चले गये। गाधीजी रह गये। कुछ और घनिष्ठ मित्र, करीबी रिश्तेदार और तीन नामी डॉक्टर भी, जो उनके पुराने मित्र थे और जिनको वह कहा करते थे कि मैने अपना शरीर आपके हाथ मे महफूज रखने के लिए सौप दिया है। वे थे डॉक्टर अन्सारी, विधानचन्द्र राय और जीवराज मेहता। ४ फरवरी को उनकी हालत कुछ अच्छी दिखायी पडी और इसलिए यह तय किया कि उससे फायदा उठाकर उन्हे लखनऊ ले जाया जाय, जहाँ कि डीप एक्स-रे द्वारा इलाज की सुविधाये है। उसी दिन उन्हे हम मोटर से ले गये। गाधीजी और कुछ लोग भी साथ गये। हम गये तो धीरे-धीरे, लेकिन फिर भी वह बहुत थक गये। दूसरे दिन थकावट दूर होती हुई मालूम हुई लेकिन फिर भी कुछ चिन्ता-जनक

लक्षण दिखायी पडते थे। दूसरे दिन सुबह यानी छ फरवरी को मै उनके बिछौने के पास बैठा हुआ उन्हे देख रहा था। रात उनकी तकलीफ और बेचैनी मे बीती थी। एकाएक मैने देखा उनका चेहरा शान्त हो गया और लडने की शक्ति खत्म होगयी। मैने समझा कि उन्हे नीद लग गयी है और इससे मुझे खुशी भी हुई। मगर माँ की निगाह तेज थी। वह रो पडी। मैने उसकी तरफ देखा और कहा कि उन्हे नीद लग गयी है, वह जाग जायँगे। मगर वह नीद उनकी आखिरी नीद थी और उसके बाद फिर जगना नही हो सकता था।

उसी दिन हम उनके शव को मोटर से इलाहाबाद लाये। मै उसके साथ बैठा। रणजीत गाडी चला रहे थे और पिताजी का पुराना नौकर हरि भी साथ था। उसके पीछे दूसरी मोटर थी जिसमे माँ और गाँधीजी थे और उसके बाद दूसरी मोटरे थी। मै दिनभर भौचक्का-सा रहा। यह अनुभव करना मुश्किल था कि क्या घटना हुई है और एक के बाद एक हुई घटनाओं और बडी-बडी भीडो के कारण मै कुछ सोच ही न सका। इत्तिला मिलते ही लखनऊ मे बडी भीड जमा हो गयी। वहाँ से शव को लेकर इलाहाबाद आये। शव हमारे राष्ट्रीय झडे मे लपेटा हुआ था और ऊपर एक बडा झडा फहरा रहा था। मीलो तक ज़बरदस्त भीड उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पण करने को जमा हुई थी। घर पर कुछ अतिम विधियाँ की गयी और फिर गगा-यात्रा को चले। जबरदस्त भीड साथ थी। जाडे के दिन थे। सध्या की किरणे गगा-तट पर छिटक रही थी। और चिता की ऊँची-ऊँची लपटों ने उस शरीर को भस्म कर दिया जिसका हमारे लिए और उनके इष्ट मित्रो के लिए और हिन्दुस्तान के लाखो लोगो के लिए इतना मूल्य और महत्व था। गाधीजी ने छोटासा हृदयस्पर्शी भाषण दिया और फिर हम सब लोग चुपचाप घर चले आये। जब हम उदास और सुनसान लौट रहे थे, तब आकाश मे तारे तेज़ी से चमक रहे थे।

माँ को और मुझे हजारो सहानुभूति के सदेश मिले। लॉर्ड और लेडी अर्विन ने माँ को एक सौजन्यपूर्ण सदेश भेजा। इस बहुत भारी

सद्भावना और सहानुभूति ने हमारे दुख और शोक की तीव्रता को कम कर दिया था। लेकिन सबसे ज्यादा और आश्चर्य-जनक शान्ति और तसल्ली तो मिली गांधीजी के वहाँ मौजूद रहने से, जिसने कि माँ को और हम सब लोगों को हमारे जीवन के उस संकटकाल का सामना करने का बल दिया।

मेरे लिए यह अनुभव करना मुश्किल था कि पिताजी अब नहीं है। तीन महीने बाद मैं, अपनी पत्नी और लड़की सहित, लंका गया। हम लोग वहाँ नुवारा एलीया में शान्ति और आराम से कुछ दिन गुजारने लगे। वह जगह मुझे बहुत पसन्द आयी और मुझे एकाएक खयाल हुआ कि पिताजी को यह जगह जरूर माफिक होगी। तो उन्हें यहाँ क्यों न बुला लूं ? वह बहुत थक गये होंगे और यहाँ आराम से उनको जरूर फायदा होगा। मैं उन्हें इलाहाबाद तार देने लगा था।

लंका से इलाहाबाद लौटते समय डाक से मुझे एक अजीब चिट्ठी मिली। लिफाफे पर पिताजी के हस्ताक्षर से पता लिखा हुआ था और उसपर न जाने कितने निशान और डाकखानों की मोहरें लगी हुई थी। मैंने उसे खोला तो देखकर आश्चर्य हुआ कि वह सचमुच पिताजी का लिखा हुआ था, लेकिन तारीख उसपर पड़ी थी २८ फरवरी सन् १९२६ की। वह मुझे १९३१ की गर्मियों में मिला। इस तरह वह कोई साढे पाँच साल तक इधर-उधर सफर करता रहा। १९२६ में मैं जब कमला के साथ यूरोप रवाना हुआ तब पिताजी ने अहमदाबाद से यह खत लिखा था। इटालियन स्टीमर लॉयड के पते पर, जिससे कि मैं यात्रा करनेवाला था, वह बम्बई भेजा गया था। यह साफ है कि वह उस वक्त मुझे नहीं मिला और बहुतेरे स्थानों में भ्रमण करता रहा और शायद कितने ही डाकघरों में हवा खाता रहा। अन्त को किसी मनचले आदमी ने उसे मुझे भेज दिया। कैसा अजीब संयोग है कि वह विदाई का पत्र था।

: ३४ :

दिल्ली का समझौता

जिस दिन और जिस वक्त मेरे पिताजी की मृत्यु हुई, उसी दिन और प्राय उसी समय बम्बई मे गोलमेज-कान्फ्रेन्स के कुछ हिन्दुस्तानी मेम्बर जहाज से उतरे। श्री श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू और शायद दूसरे कुछ लोग, जिनका खयाल अब मुझे नही है, सीधे इलाहाबाद आये। गाधीजी तथा कार्यसमिति के कुछ और सदस्य वहाँ पहले ही मौजूद थे। हमारे मकान पर गुप्त बैठके हुई, जिनमे यह बताया गया कि गोलमेज-कान्फ्रेस मे क्या-क्या हुआ? मगर शुरू मे ही एक छोटी-सी घटना हुई। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने खुद-ब-खुद अपने एडिनबरावाले भाषण पर खेद प्रकट किया। उन्होने यह भी कहा कि अपने आसपास के वातावरण का मुझपर हमेशा असर हो जाता है और मै अत्युक्ति और शब्दाडम्बर मे बह जाता हूँ।

इन प्रतिनिधियो ने हमे गोलमेज-कान्फ्रेन्स के सम्बन्ध मे ऐसी कोई मार्के की बात नही कही, जिसे हम पहले से नही जानते हो। हाँ, उन्होने यह अलबत्ता बताया कि वहाँ परदे के पीछे कैसी-कैसी साज़िशे हुई, और फलाँ 'लार्ड' या फलाँ 'सर' ने खानगी मे क्या-क्या किया? हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त हमेशा सिद्धान्तो की और हिन्दुस्तान की परिस्थिति की वास्तविकताओ की बनिस्बत इस बात को ज्यादा महत्त्व देते हुए दिखायी देते है कि बडे अफसरो ने खानगी बातचीत मे या गप-शप मे क्या-क्या कहा? लिबरल नेताओ के साथ हमारी जो कुछ बात चीत हुई, उसका कोई नतीजा न निकला। हमारी पिछली राय ही और मज़बूत हो गयी कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स के निर्णयो की कुछ भी वकत नही है। किसीने—मै उनका नाम भूल गया हूँ—सुझाया कि गाधीजी वाइसराय को मुलाकात के लिए लिखे और उनके साथ खुलकर बात-चीत करले। वह इस पर रजामन्द हो गये। हालाँकि मै नही समझा

कि उन्होंने फल-प्राप्ति की कोई आशा की हो। मगर अपने उसूल को सामने रखते हुए वह हमेशा मुखालिफो के साथ, कुछ कदम आगे जाकर भी, मिलने और बातचीत करने को तैयार रहते है। उन्हे चूँकि अपने पक्ष की सच्चाई का पूरा विश्वास रहता है, इसलिए वह दूसरे पक्ष के लोगो को भी कायल करने की आशा रखते थे। मगर जो वह चाहते थे वह बौद्धिक विश्वास से शायद कुछ ज्यादा था। वह हमेशा मानसिक परिवर्त्तन की कोशिश करते है। राग-द्वेष के बन्धनो को तोडकर दूसरे की सदिच्छा और ऊँची भावनाओ तक पहुँचने की कोशिश करते है। वह जानते थे कि यदि यह परिवर्त्तन हो गया तो विश्वास का आना आसान हो जायगा, या अगर विश्वास न भी आ सका तो विरोध ढीला हो जायगा और सघर्ष की तीव्रता कम हो जायेगी। अपने व्यक्तिगत व्यवहारो मे अपने विरोधियो पर उन्होने इस तरह की बहुतेरी विजय प्राप्त की है, और यह ध्यान देने योग्य बात है कि वह महज़ अपने व्यक्तित्व के ज़ोर पर किसी विरोधी को कैसे अपनी तरफ कर लेते है। कितने ही आलोचक और निन्दक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके प्रशसक बन गये, और हालाँकि वह नुक्ताचीनी करते रहते है, मगर उसमे कही उपहास या खिल्ली उडाने का नामोनिशान नही रहता।

चूँकि गाधीजी को अपने सामर्थ्य का पता है, वह हमेशा उन लोगो से मिलना पसन्द करते है जो उनसे मत-भेद रखते है। मगर किसी व्यक्तिगत या छोटे मामलों मे व्यक्तियो से व्यवहार करना एक बात है और ब्रिटिश-सरकार जैसी, जो विजयी साम्राज्यवाद की 'प्रतिनिधि है, अमूर्त वस्तु से व्यवहार करना बिलकुल दूसरी बात है। इस बात को जानते हुए, गाधीजी कोई बडी आशा लेकर लार्ड अर्विन से मिलने नही गये थे। सविनय भग-आन्दोलन अब भी चल रहा था। मगर वह ढीला पड गया था, क्योकि उधर सरकार से 'सुलह' करने की बातो का बडा ज़ोर था।

बातचीत का इन्तज़ाम फौरन हो गया और गाधीजी दिल्ली रवाना हुए। हमसे कहते गये कि अगर वाइसराय से कामचलाऊ समझौते के

बारे मे कोई बातचीत सजीदा तौर पर हुई तो मै कार्य-समिति के मेम्बरो को बुला लूँगा। कुछ ही दिनो बाद हमे दिल्ली का बुलावा आया। तीन हफ्ते तक वहाँ रहे। रोज मिलते और लम्बी-लम्बी बहस करते-करते थक जाते। गाधीजी कई बार लार्ड अर्विन से मिले। मगर कभी-कभी बीच मे तीन-चार रोज़ खाली भी जाते। शायद इसलिए कि भारत-सरकार लन्दन मे इण्डिया-आफिस से सलाह-मशवरा किया करती थी। कभी-कभी देखने मे जरा-ज़रा-सी बात या कुछ शब्दो के कारण ही गाडी रुक जाती। एक ऐसा लफ्ज था सविनय-भग को स्थगित कर देना। गाधीजी बराबर इस बात को स्पष्ट करते रहे कि सविनय-भग आखिरी तौर पर न तो बन्द ही किया जा सकता है न छोड़ा ही जा सकता है, क्योंकि यही एक-मात्र हथियार हिन्दुस्तान के लोगो के हाथ मे है। हाँ, वह स्थगित किया जा सकता है। लार्ड अर्विन को इस बात पर आपत्ति थी। वह ऐसा शब्द चाहते थे जिसका अर्थ निकलता हो सविनय-भग छोड दिया गया। लेकिन यह गाधीजी को मजूर नही होता था। आखिर 'डिस्कन्टिन्यू' (रोक देना) शब्द इस्तैमाल किया गया। विदेशी कपडे और शराब की दूकानो पर धरना देने की बाबत भी लम्बी-चौडी बहस हुई। हमारा बहुतेरा समय समझौते की अस्थायी तजवीज़ो पर गौर करने मे लगा और मूलभूत बातो पर कम ध्यान दिया गया। शायद यह सोचा गया कि जब यह कामचलाऊ समझौता हो जायेगा और रोज-रोज़ की लडाई रोक दी जायगी, तब अधिक अनुकूल वातावरण मे बुनियादी बातो पर गौर किया जा सकेगा। हम उस बातचीत को एक आरजी सुलह तक लेजानेवाली मान रहे थे, जिसके बाद असली मुद्दों पर आगे और बातचीत की जायगी।

उन दिनो दिल्ली मे हर तरह के लोग खिच-खिचकर आते थे। बहुत से विदेशी, खासकर अमेरिकन अख़बारनवीस थे और वे हमारी खामोशी पर कुछ नाराज-से थे। वे कहते कि आपकी बनिस्बत तो हमे गाधी-अर्विन-बातचीत के बारे मे नयी दिल्ली के सेक्रेटेरियट से ज्यादा खबरे मिल जाती है। और यह बात सही थी। इसके बाद बडे-बडे

उल्काबधारी लोग थे जो गाधीजी के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए दौड आते थे, क्योकि अब तो महात्माजी का सितारा बुलन्द जो हो गया था। उन लोगो को, जो अबतक गाधीजी से और काग्रेस से दूर रहे और जबतब उनकी बुराई करते रहे, अब उसका प्रायश्चित्त करने के लिए आते देखना मजेदार लगता था। काग्रेस का बोलबाला होता हुआ दिखायी देता था, और कौन जाने आगे क्या-क्या होकर रहे, इस लिए बेहतर यही है कि काग्रेस और उसके नेताओ के साथ मेल-जोल करके रहा जाय। एक साल के बाद ही उनमे दूसरे परिवर्तन की लहर आयी दिखायी दी। वे काग्रेस के प्रति तथा उसके तमाम कार्यो के प्रति जोरो के साथ अपनी घृणा प्रदर्शित करते और कहते थे कि हमसे इनसे कोई वास्ता नही है।

सम्प्रदायवादी लोग भी इन घटनाओ से जगे और उन्हे यह आशका पैदा हुई कि कही ऐसा न हो कि आनेवाली व्यवस्था मे उनके लिए कोई ऊँचा स्थान न रह जाय, और इसलिए कई लोग गाधीजी के पास आये और उनको यकीन दिलाया कि कौमी मसले पर हम समझौता करने को बिलकुल रजामन्द है। अगर आप शुरुआत भी कर दे तो समझौते मे कोई दिक्कत पेश न आयगी।

ऊँची और नीची सभी श्रेणियो के लोगो का सतत प्रवाह डा० अन्सारी के बगले की ओर हो रहा था, जहाँकि गाधीजी और हममे से बहुतेरे लोग ठहरे थे, और फुरसत के वक्त हम उन्हे दिलचस्पी से देखते और फायदा भी उठाते थे। कुछ सालो से हम खास करके कस्बो मे और देहात मे रहने वाले गरीबो के और उन लोगो के जो जेलो मे ठूँस दिये गये थे, सपर्क मे आते रहते थे, लेकिन धनी-मानी और खुशहाल लोग जो गाधीजी से मिलने आते थे, मानव-प्रकृति का दूसरा पहलू सामने रखते थे। वह पहलू जो घटनाओं और स्थिति के साथ अपना मेल मिलाना जानता है, क्योकि जहाँ कही उन्हे सत्ता और सफलता दिखायी दी वे उसी तरफ झुक गये और अपनी मधुर मुस्कान से उसका स्वागत करने लगे। उनमे कितने ही हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार के मजबूत स्तम्भ थे। यह जानकर तसल्ली

होती थी कि वे भारत में जो भी अन्य कोई सरकार कायम होगी उसके भी उतने ही सुदृढ स्तम्भ बन जायँगे।

उन दिनों अक्सर मैं सुबह गांधीजी के साथ नयी दिल्ली घूमने जाया करता था। यही एक ऐसा वक्त था कि मामूली तौर पर कोई आदमी उनसे बात करने का मौका पा सकता था, क्योंकि उनका बाकी सारा वक्त बँटा हुआ था। एक-एक मिनट किसी काम या किसी व्यक्ति के लिए नियत था। यहाँतक कि सुबह के घूमने का वक्त भी किसीको बात-चीत के लिए, मामूली तौर पर किसी विदेश से आये हुए या किसी मित्र को, दे दिया जाता था जो उनसे व्यक्तिगत सलाह-मशवरे के लिए आते थे। हमने बहुत-से विषयों पर बात-चीत की। पिछले जमाने पर भी और मौजूदा हालत पर भी, और खासकर भविष्य पर भी। मुझे याद है कि उन्होंने मुझे किस तरह कांग्रेस के भविष्य के बारे में अपने एक विचार से अचभे में डाल दिया। मैंने तो खयाल कर रक्खा था कि आजादी मिल जाने पर कांग्रेस की हस्ती अपने-आप मिट जायगी। लेकिन उनका विचार था कि कांग्रेस बदस्तूर रहेगी—सिर्फ एक शर्त होगी, कि वह अपने लिए एक आर्डिनेन्स पास करेगी, जिसके मुताबिक उसका कोई भी मेम्बर राज्य में वैतनिक काम न कर सकेगा। और अगर राज्य में हुकूमत का पद ग्रहण करना चाहे तो उसे कांग्रेस छोड देनी होगी। मुझे इस समय यह तो याद नहीं है कि उन्होंने अपने दिमाग में उसका कैसा ढाँचा बैठाया था, मगर उसका तात्पर्य यह था कि कांग्रेस इस प्रकार अपनी अनासक्ति और निःस्वार्थ भाव के कारण सरकार के प्रबंध तथा दूसरे विभागों पर जबर्दस्त नैतिक दबाव डाल सकेगी और उन्हें ठीक रास्ते पर कायम रख सकेगी।

यह एक अनोखी कल्पना है, जिसे समझ लेना मुश्किल है और जिसमें बेशुमार दिक्कते पेश आती है। मुझे यह दिखायी पडता है कि यदि ऐसी किसी सभा की कल्पना की भी जाय तो किसी स्थापित स्वार्थ के द्वारा उसका दुरुपयोग किया जायगा। मगर उसकी व्यावहारिकता को एक तरफ रख दे, तो इससे गांधीजी के विचारों का कुछ

आधार समझने मे जरूर मदद मिलती है। यह आधुनिक दल-व्यवस्था की कल्पना के बिलकुल विपरीत है, क्योकि आधुनिक व्यवस्था तो किसी पूर्व-निश्चित कल्पना के मुताबिक राजनैतिक और आर्थिक ढाचे को बनाने के लिए राज्यसत्ता पर कब्जा करने के खयाल पर बनी हुई है। यह उस दल-व्यवस्था के भी विरुद्ध है, जोकि आजकल अक्सर पायी जाती है और जिसका कार्य श्री आर० एच० टानी के शब्दो मे "ज्यादा-से-ज्यादा गधो को ज्यादा-से ज्यादा गाजरे खिलाना" है।

गाधीजी के लोक-तन्त्र का खयाल निश्चित-रूप से आध्यात्मिक है। मामूली अर्थ मे उसका तादाद से या बहुमत से या प्रतिनिधित्व से कोई वास्ता नही। उसकी बुनियाद है सेवा और त्याग, और यह नैतिक दबाव से ही काम लेती है। हाल ही प्रकाशित अपने एक वक्तव्य मे (१७, सितबर १९३४) लोकतत्र की उन्होने व्याख्या दी है। वह अपने को 'पैदायशी लोकतन्त्र-वादी' मानते है और कहते है कि अगर 'मनुष्यजाति के निहायत गरीब-से-गरीब के साथ अपने-आपको बिलकुल मिला देने, उनसे बेहतर हालत मे अपनेको न रखने की उत्कठा से और उनके समतल तक पहुँचाने के जागृत प्रयत्न से किसीको इस दावे का अधिकार मिल सकता है, तो मै अपने लिए यह दावा करता हूँ।' आगे चलकर वह लोकतत्र की विवेचना इस प्रकार करते है —

"हमे यह बात जान लेनी चाहिए कि काग्रेस के अपने लोकतत्री-स्वरूप और प्रभाव की इज्जत उसके वार्षिक अधिवेशन मे खिच आने-वाले प्रतिनिधियो या दर्शको की तादाद के कारण नही, बल्कि उसकी की हुई सेवा के कारण है, जिसकी मात्रा रोज-ब-रोज बढती जा रही है। पश्चिमी लोकतत्र अगर अबतक विफल नही हुआ है तो कम-से-कम वह आजमाइश पर,जरूर है। ईश्वर करे कि हिन्दुस्तान मे प्रत्यक्ष सफलता के प्रदर्शन के द्वारा लोकतत्र के सच्चे विज्ञान का विकास हो।

"नीति-भ्रष्टता और दम्भ लोकतत्र के अनिवार्य फल होने चाहिएँ जैसे कि वे नि सन्देह हाल मे हो रहे है, और न बडी सख्या लोकतत्र की सच्ची कसौटी है। यदि थोडे-से व्यक्ति जिनके प्रतिनिधि बनने का दावा

करते है उनकी स्पिरिट, आशा और हौसले का प्रतिनिधित्व करते है, तो वह लोकतत्र के सच्चे भाव से असगत नही है। मेरा यह मत है कि लोकतत्र का विकास बल-प्रयोग करके नही किया जा सकता है। लोक-तत्र की भावना बाहर से नही लादी जा सकती, वह तो अन्दर से ही पैदा की जा सकती है।"

यह निश्चय ही पश्चिमी लोकतत्र नही है, जैसा कि वह खुद कहते है। बल्कि कौतूहल की बात तो यह है कि वह कम्यूनिस्टो के लोकतत्र की धारणा से मिलता-जुलता है, क्योंकि उसमे भी आध्यात्मिकता की झलक है। थोडे-से कम्यूनिस्ट जनता की असली आकाक्षाओ और आवश्यकताओ के प्रतिनिधित्व का दावा कर सकते है, चाहे जनता को उसका पता न भी हो। जनता उनके लिए एक आध्यात्मिक वस्तु हो जायगी और वे इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा करते है। फिर भी वह समानता थोडी ही है और हमको बहुत-दूर तक नही ले जाती है। जीवन को देखने और उसतक पहुँचने के साधनो मे बहुत ज्यादा मतभेद है—खुसूसन उसे प्राप्त करने के साधन और दल के सम्बन्ध मे।

गाधीजी चाहे लोकतत्री हो या न हो वह भारत की किसान-जनता के प्रतिनिधि अवश्य है। वह उन करोडो की जागी और सोयी हुई इच्छा शक्ति के सार-रूप है। यह शायद उनका प्रतिनिधित्व करने से कही ज्यादा है, क्योकि वह करोडो के आदर्शों की सजीव मूर्त्ति है। हाँ, वह एक औसत किसान नही है। वह एक बहुत तेज़-बुद्धि उच्च भावना और सुरुचि तथा व्यापक दृष्टि रखनेवाले पुरुष है—बहुत सहृदय, फिर भी आवश्यक रूप से एक तपस्वी, जिन्होने अपने विकारो और भावनाओ का दमन करके उन्हे दिव्य बना दिया है और आध्यात्मिक मार्गो मे प्रेरित किया है। उनका एक ज़बर्दस्त व्यक्तित्व है जो चुम्बक की तरह हरेक को अपनी ओर खीच लेता है और दूसरो के हृदय मे अपने प्रति आश्चर्यजनक वफादारी और ममता उमडाता है। यह सब एक किसान से कितना भिन्न और कितना परे है ? और इतना होने पर भी वह एक महान् किसान है जो बातो को एक किसान के दृष्टि-बिन्दु से देखते है और

जीवन के कुछ पहलुओ के बारे मे एक किसान की ही तरह अन्धे है। लेकिन भारत-किसान भारत है और वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते है और उसके हलके-से-हल्के कम्पनों का भी उनपर तुरत असर होता है। वह स्थिति को ठीक-ठीक और अक्सर सहज-स्फूर्ति से जान लेते है और ऐन मौके पर काम करने की अद्भुत सूझ रखते है।

ब्रिटिश सरकार ही के लिए नही, बल्कि खुद अपने लोगो और नजदीकी साथियो के लिए भी वह एक पहेली और एक समस्या बने हुए है। शायद दूसरे किसी भी देश मे आज उनका कोई स्थान न होता। मगर हिन्दुस्तान, आज भी ऐसा मालूम होता है, पैगम्बरो जैसे धार्मिक पुरुषो को, जो पाप और मुक्ति और अहिंसा की बाते करते है, समझ लेता है या कम-से-कम उनकी कदर करता है। भारत का धार्मिक साहित्य बडे-बडे तपस्वियो की कथाओ से भरा पडा है, जिन्होंने घोर तप और त्याग के द्वारा बडे भारी पुण्य का सचय करके छोटे-छोटे देवताओ की प्रधानता को हिला दिया तथा प्रचलित व्यवस्था को उलट-पलट दिया। जब कभी मैने गाधीजी की अक्षय आध्यात्मिक भण्डार से वहनेवाली विलक्षण कार्य-शक्ति और आन्तरिक बल को देखा है, तो मुझे अक्सर ये कथाये याद आ जाया करती है। वह स्पष्टत दुनिया के मामूली नमूने के आदमी नही है। वह तो बिरले और कुछ और ही तरह के साँचे मे ढाले गये है और अनेक अवसरो पर उनकी आँखो से मानो एक अज्ञात मूर्ति का दर्शन होता है।

हिन्दुस्तान पर, कस्बो के हिन्दुस्तान पर ही नही, नये औद्योगिक हिन्दुस्तान पर भी, किसानपन की छाप लगी हुई है और उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने इस पुत्र को अपने ही लायक और फिर भी अपनेसे इतना भिन्न एक देव-मूर्त्ति और एक प्रिय नेता बनावे। उन्होने पुरानी और धुंधली स्मृतियो को फिर ताजा किया और उसको अपनी आत्मा की झलक दिखलायी। इस ज़माने की घोर मुसीबतो से कुचली जाने के कारण उसे भूतकाल के असहाय गीत गाने और भविष्य के गोल-मोल स्वप्न देखने मे तसल्ली मालूम होती थी। मगर वह आया

और उसने हमारे दिलो की आशा और हमारे जीर्ण-शीर्ण शरीर को वल दिया और भविष्य हमारे लिए मनोमोहक वस्तु वन गया। इटली के दो-मुहे देवता जेनस की तरह भारत पीछे भूतकाल की तरफ और आगे भविष्यकाल की तरफ को देखने लगा और दोनो के समन्वय की कोशिश करने लगा।

हममे से कितने ही इस किसान-दृष्टि से कटकर अलग हो गये थे और पुराने आचार-विचार और धर्म हमारे लिए विदेशी-से वन गये थे। हम अपनेको नयी रोशनी का कहते थे और प्रगति, उद्योगीकरण, ऊँचे रहन-सहन और समष्टीकरण की भापा मे सोचते थे। किसान के दृष्टि-विन्दु को हम प्रतिगामी समझते थे और कुछ लोग, जिनकी सख्या वढ रही है, समाजवाद और कम्यूनिज्म को अनुकूल दृष्टि से देखते थे। ऐसी दशा मे यह प्रश्न है कि हमने कैसे गाधीजी की राजनीति मे उनका साथ दिया और किस तरह वहुतसी वातो मे उनके भक्त और अनुयायी वन गये? इस सवाल का जवाव देना मुश्किल है और जो गाधीजी को नही जानता है उसे उस जवाव से तसल्ली न हो सकेगी। वात यह है कि व्यक्तित्व एक ऐसी चीज है जिसकी व्याख्या नही हो सकती। वह एक अजीव वल है जिसका मनुष्य के अत करण पर अधिकार हो जाता है और गाधीजी के पास यह शक्ति वहुत वडे परिमाण मे है और जो लोग उनके पास आते है उन्हे वे अक्सर मुख्तलिफ रूप मे दिखायी पडते है। यह ठीक है कि वह लोगो को आकर्षित करते है, मगर लोग जो उनतक गये है और जाकर ठहर गये है सो तो अखीर मे अपने बौद्धिक विश्वास के कारण ही। यह ठीक है कि वे उनके जीवन-सिद्धान्त से या उनके कितने ही आदर्शों से भी सहमत न थे, कई वार तो वे उन्हे समझते भी न थे, मगर जिस कार्य को करने का उन्होने आयोजन किया वह एक मूर्त्त और प्रत्यक्ष वस्तु थी, जिसको बुद्धि समझ सकती थी और उसकी कदर कर सकती थी। हमारी निष्क्रियता और अकर्मण्यता की लम्वी परम्परा के वाद, जोकि हमारी मुर्दा राजनीति मे पोषित चली आ रही थी, किसी भी प्रकार के कार्य का स्वागत ही हो

क्योंकि मुझे तो मौजूदा समाज-व्यवस्था में हिंसा, बेइन्साफी, खराबी और नाश से बचने का दूसरा कोई रास्ता दिखायी नही देता था। मुमकिन है कि साधनो से उनका मतभेद हो, मगर आदर्श से नही। उस वक्त मैने यही खयाल किया था। मगर अब मै महसूस करता हूँ कि गाधीजी के आदर्शो मे और समाजवाद के ध्येय मे मूल भेद है।

अब हम फिर फरवरी १९३१ की दिल्ली मे चले। गाधी-अर्विन-बातचीत होती रहती थी। वह एकाएक रुक गयी। कई दिनो तक वाइ-सराय ने गाधीजी को नही बुलाया और हमे ऐसा लगा कि बात-चीत टूट गयी। कार्य-समिति के सदस्य दिल्ली से अपने-अपने सूबो मे जाने की तैयारी कर रहे थे। जाने से पहले हम लोगो ने आपस मे भावी कार्य की रूप-रेखाओ और सविनय भग पर (जोकि अभी उसूलन् जारी था) विचार-विनियम किया। हमे यकीन था कि ज्योही बातचीत के टूटने की बात पक्के तौर पर जाहिर हो जायगी त्योंही हमारे सबके लिए मिलकर बातचीत करने का मौका नही रह जायगा।

हम गिरफ्तारियो की अपेक्षा रखते थे। हमसे कहा गया था और यह सम्भव भी दीखता था कि अबकी बार सरकार काग्रेस पर जोर का धावा बोलेगी। वह अबतक के दमन से बहुत भयकर होगा। सो हम आपस मे आखिरी तौर पर मिल लिये और हमने आन्दोलन को भविष्य मे चलाने के विषय मे कई प्रस्ताव किये। एक प्रस्ताव खास तौर पर मार्के का था। अबतक रिवाज यह था कि कार्यवाहक सभापति अपने गिरफ्तार होने पर अपना वारिस मुकर्रर करदे और कार्य-समिति मे जो स्थान खाली हो उनके लिए भी मेम्बरो को नामजद करदे। स्थानापन्न कार्य-समितियो की शायद ही कभी बैठके होती थी और उन्हे किसी भी विषय मे नयी बात करने की बहुत कम सत्ता थी। वे सिर्फ जेल जाने भर को थी। और इसमे एक जोखिम हमेशा ही लगी रहती थी। वह यह कि लगातार स्थानापन्न बनाने की कार्रवाई से सम्भव था कि काग्रेस की स्थिति थोडी अटपटी हो जाय। इसमें स्पष्ट खतरे भी थे। इसलिए दिल्ली मे कार्य-समिति ने यह तय किया कि अब आगे से कार्यवाहक सभापति और

स्थानापन्न सदस्य नामजद न किये जाने चाहिएँ। जवतक मूल समिति के कुछ मेम्बर जेल के वाहर रहेंगे तवतक वही पूरी कमिटी की हैसियत मे काम करेंगे। जव सव मेम्बर जेल चले जायेंगे तव कोई समिति नही रहेगी, और हमने जरा आडम्बर के साथ कहा कि कार्य-समिति की सत्ता उस अवस्था मे देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुप के पास चली जायगी। और हम उनको आवाहन करते है कि वे विना झुके लडाई को जारी रखे।

यह प्रस्ताव क्या था, सग्राम को जारी रखने का वीरोचित मार्ग इसमे दिखाया गया था और इसमे समझौते के लिए कोई गली-कूँचा नही रखा गया था। इसके द्वारा यह वात भी मजूर की गयी थी कि वह देश के हर हिस्से से अपना सम्पर्क रखे और नियमित रूप से हिदायते भेजे। यह लाज़िमी था, क्योकि हमारे वहुतेरे कार्यकर्त्ता नामी स्त्री-पुरुप थे और वे खुल्लम-खुल्ला काम करते थे। वे कभी भी गिरफ्तार हो सकते थे। १९३० मे छिपे तौर पर हिदायते भेजने, रिपोर्ट मँगवाने और देखभाल करने के लिए कुछ आदमी भेजे जाते थे। व्यवस्था चली तो अच्छी और उसने यह दिखा दिया कि हम गुप्त खवरे देने के काम को वडी सफलता के साथ कर सकते है। लेकिन कुछ हद तक यह हमारे खुले आन्दोलन के साथ मेल नही खाती थी, और गाधीजी इसके खिलाफ थे। तो अव प्रधान कार्यालय से हिदायते मिलने के अभाव मे हमें काम की जिम्मेदारी मुकामी लोगो पर ही छोडनी पडी थी, वरना वे ऊपर से हिदायते आने की राह देखते बैठे रहते और कुछ काम नही करते। हाँ, जव-जव मुमकिन होता हिदायते भी भेजी जाती थी।

इस तरह हमने यह और दूसरे प्रस्ताव पास किये। (इनमें से कोई न तो प्रकाशित किया गया और न उनपर अमल ही किया गया। क्योकि वाद को हालात वदल गये थे) और जाने के लिए बिस्तर वाँध लिये। ठीक इसी वक्त लार्ड अर्विन की तरफ से वुलावा आया और वातचीत फिर शुरू हो गयी। ४ मार्च की रात को हम आधी रात तक गाधीजी के वाइसराय-भवन से लौटने का इन्तजार कर रहे थे। वह रात को कोई २ वजे आये, और हमे जगाकर कहा कि राजीनामा हो

गया है। हमने मसविदा देखा। बहुतेरी कलमो को तो मै जानता था, क्योकि अक्सर उनपर चर्चा होती रहती थी। लेकिन धारा न० २[१] जोकि ऊपर-ही-ऊपर थी और जो सरक्षण आदि के बारे मे थी, उसे देखकर मुझे जबरदस्त धक्का लगा। मै उसके लिए कतई तैयार न था, मगर मै उस वक्त कुछ न बोला और हम सब सो गये।

अब कुछ करने की गुजाइश भी कहाँ रह गयी थी ? बात तो हो चुकी थी। हमारे नेता अपना वचन दे चुके थे और अगर हम राजी न भी हो तो कर क्या सकते थे ? क्या उनका विरोध करे ? क्या उनसे अलहदा हो जायँ ? अपने मतभेद की घोषणा करदे ? हो सकता है कि इससे किसी व्यक्ति को अपने लिए सन्तोष हो जाय। परन्तु अन्तिम फैसले पर उसका क्या असर पड सकता था ? कम-से-कम अभी कुछ समय के लिए तो सविनय-भग आन्दोलन खतम हो चुका था। अब जबकि सरकार यह घोषित कर सकती थी कि गाधीजी समझोता कर कर चुके है, तो कार्य-समिति तक उसे आगे नही बढा सकती थी।

मै इस बात के लिए तो बिलकुल राजी था, जैसे कि मेरे दूसरे साथी भी थे, कि सविनय भग स्थगित कर दिया जाय और सरकार के साथ अस्थायी समझौता कर लिया जाय। हममे से किसीके लिए यह आसान बात न थी कि अपने साथियो को वापस जेल भेज दे या जो कई हजार

---

१ दिल्ली-समझौते की धारा न०२ (५ मार्च, १९३१) यह है —"विधान-सम्बन्धी प्रश्न पर, सम्राट्-सरकार की अनुमति से, यह तय हुआ है कि हिन्दुस्तान के वैध-शासन की उसी योजना पर आगे विचार किया जायगा जिसपर गोलमेज-कान्फ्रेन्स में पहले विचार हो चुका है। वहाँ जो योजना बनी थी, संघ-शासन उसका एक अनिवार्य अग है, इसी प्रकार भारतीय उत्तरदायित्व और भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक मामले, अल्प-सख्यक जातियो की स्थिति, भारत की आर्थिक साख और जिम्मेदारियों की अदायगी जैसे विषयो के प्रतिबन्ध या संरक्षण भी उसके आवश्यक भाग है।"

लोग पहले से जेलो मे पडे हुए है उनको वहीं पडा रहने देने के साधन बने। जेलखाना ऐसी जगह नही है जहाँ हम अपने दिन और रात गुजारा करे, हालाँकि हम बहुतेरे अपनेको उसके लिए तैयार रखते है और उसके कुचल डालनेवाले दैनिक क्रम के बारे मे बडे हलके दिल से बाते करते है। इसके अलावा तीन हफ्ते से ज्याद दिन गाधीजी और लार्ड अर्विन के बीच जो बाते चली उनसे लोगो के दिलो मे ये आशाये बँध गयी कि समझौता होनेवाला है और अब अगर उसके आखिरी तौर पर टूट जाने की खबर मिली तो उससे उनको निराशा होगी। यह सोचकर कार्य-समिति के हम सब मेम्बर अस्थायी समझौते के (क्योकि इससे अधिक वह हो भी नही सकता था) हक मे थे, बशर्ते कि उसके द्वारा हमे अपनी कोई अत्यन्त महत्व की बात न छोडनी पडती हो।

जहाँतक मुझसे ताल्लुक है, जिन दूसरी बातो पर काफी बहस-मुबाहिसा हुआ उनसे मुझे इतनी ज्यादा दिलचस्पी नही थी, मुझे सबसे ज्यादा खयाल दो बातो का था। एक तो यह कि हमारा स्वतत्रता का ध्येय किसी भी तरह नीचा न किया जाय, और दूसरा यह कि समझौते का युक्तप्रान्त के किसानो की स्थिति पर क्या असर होगा ? हमारा लगानबन्दी-आन्दोलन अबतक बहुत कामयाब रहा था, और कुछ इलाको मे तो मुश्किल से लगान वसूल होने पाया था। किसान खूब रग में थे। और ससार की कृषि-सम्बन्धी अवस्थाये और चीजो के भाव बहुत खराब थे, जिससे उनके लिए लगान अदा करना और मुश्किल हो गया था। हमारा करबन्दी-आन्दोलन राजनैतिक और आर्थिक दोनो तरह का था। अगर सरकार के साथ कोई आरजी समझौता हो जाता है तो सविनय-भग वापस ले लिया जायगा और उसका राजनैतिक आधार निकल जायगा। लेकिन उसके आर्थिक पहलू के, भावो की इतनी गिरावट के और किसानों की मुकर्ररा किस्त के मुकाबिले मे कुछ भी देने की असमर्थता के विषय मे क्या होगा ? गाधीजी ने लार्ड अर्विन से यह मुद्दा बिलकुल साफ कर लिया था। उन्होने कहा था करबन्दी-आन्दोलन बन्द कर दिये जाने पर, तो भी हम किसानो को यह सलाह

नही दे सकते कि वे अपनी ताकत या हैसियत से ज्यादा दे। चूँकि यह प्रान्तीय मामला था, भारत-सरकार के साथ इसकी ज्यादा चर्चा नही हो सकी थी। हमें यह यकीन दिलाया गया था कि प्रान्तीय-सरकार इस विषय में खुशी के साथ हमसे बातचीत करेगी और अपने बस-भर किसानो की तकलीफ दूर करने की कोशिश करेगी। यह एक गोलमोल आश्वासन था। लेकिन उन हालात मे इससे ज्यादा पक्की बात होना मुश्किल था। इस तरह यह मामला उस वक्त के लिए तो खत्म ही कर दिया गया था।

अब हमारी स्वाधीनता का अर्थात् हमारे मकसद का महत्वपूर्ण प्रश्न बाकी रहा और समझौते की धारा नम्बर २ से मुझे यह मालूम पडा कि यह भी खतरे मे जा पडा है। क्या इसीलिए हमारे लोगो ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखायी? क्या हमारी बडी-बडी जोरदार बातो और कामो का खात्मा इसी तरह होना था? क्या काग्रेस का स्वाधीनता-प्रस्ताव और २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इसलिए की गयी थी? इस तरह के विचारो मे डूबा हुआ मै मार्च की उस रातभर पडा रहा और अपने दिल मे ऐसी शून्यता महसूस करने लगा कि मानो उसमे से कोई कीमती चीज़ सदा के लिए निकल गई हो—

तरीका ये दुनिया का देखा सही—
गरजते बहुत वे बरसते नही।[१]

---

१ अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद

: ३५ :

कराची-कांग्रेस

गाधीजी ने किसीसे मेरी मानसिक व्यथा का हाल सुना और दूसरे दिन सुबह घूमने के वक्त अपने साथ चलने के लिए मुझे कहा। वडी देर तक हमने वात-चीत की, जिसमे उन्होने मुझे यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि न तो कोई अत्यन्त महत्व की वात खो दी गयी है और न कही सिद्धान्त ही छोडा गया है। उन्होने धारा नम्वर २ का एक खास अर्थ लगाया जिससे वह हमारी स्वतन्त्रता की माँग से मेल खा सके। उनका आधार था खासकर ये शब्द—"भारत के हित मे"। यह अर्थ मुझे खीचातानी का मालूम हुआ। मै उसका कायल तो न हुआ, लेकिन उनकी वात-चीत से मुझे कुछ तसल्ली जरूर हुई, तो भी मैने उनसे कहा कि समझौते के गुण-दोप को एक तरफ रख दे, एकाएक कोई नयी वात खडी कर देने के आपके तरीके से मै डरता हूँ। आपमे कुछ ऐसी अज्ञात वस्तु है जिसे चौदह साल के निकट-सम्पर्क के बाद भी मै कतई नही समझ सका हूँ और इसने मेरे मन मे भय पैदा कर दिया है। उन्होने अपने अन्दर ऐसे अज्ञात तत्त्व का होना तो स्वीकार किया, मगर कहा कि मै खुद भी इसके लिए जवावदेह नही हो सकता, न यही पहले से वता सकता हूँ कि वह मुझे कहाँ, किस ओर ले जायगा।

एक-दो दिन तक मै वडी दुविधा मे पडा रहा। समझ न सका कि क्या करूँ? अव समझौते के विरोध का या उसे रोकने का तो कोई सवाल ही नही था। वह वक्त गुजर चुका था और मै जो कुछ कर सकता था वह यह कि अमलन उसे मजूर करते हुए उसूलन अपने को उससे अलग रक्खूँ। इससे मेरे अभिमान को कुछ सान्त्वना मिल जाती लेकिन हमारे पूर्ण स्वराज्य के वडे प्रश्न पर इसका क्या असर पड सकता था? तव क्या यह अच्छा न होगा कि मै उसे खूबसूरती के साथ मजूर कर लूँ और उसका अधिक-से-अधिक अनुकूल अर्थ लगाऊँ, जैसाकि

गांधीजी ने किया ? समझौते के बाद ही फौरन अखबारवालो से बात-चीत करते हुए गांधीजी ने उसी अर्थ पर ज़ोर दिया था और कहा कि हम स्वतंत्रता के प्रश्न पर पूरे-पूरे अटल है। वह लॉर्ड अर्विन के पास गये और इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया जिससे कि उस समय या आगे कोई गलतफहमी न होने पावे। उन्होने उनसे कहा कि यदि कांग्रेस गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे अपना प्रतिनिधि भेजे, तो उसका आधार एकमात्र स्वतंत्रता ही हो सकता है और उसे पेश करने के लिए ही वहाँ जाया जा सकता है। अवश्य ही लॉर्ड अर्विन इस दावे को मान तो नही सकते थे, लेकिन उन्होने यह मंजूर किया कि हाँ, कांग्रेस को उसे पेश करने का हक है।

इसलिए मैंने समझौते को मान लेना और तहेदिल से उसके लिए काम करना तय किया। यह बात नही कि ऐसा करते हुए मुझे बहुत मानसिक और शारीरिक क्लेश न हुआ हो। मगर मुझे बीच का कोई रास्ता नही दिखायी देता था।

समझौते के पहले तथा बाद मे लॉर्ड अर्विन के साथ बातचीत के दर-मियान गांधीजी ने सत्याग्रही कैदियो के अलावा दूसरे राजनैतिक कैदियों की रिहाई की भी पैरवी की थी। सत्याग्रही कैदी तो समझौते के फल-स्वरूप अपने-आप रिहा हो जानेवाले ही थे। लेकिन दूसरे ऐसे हजारो कैदी थे जो मुकदमा चलाकर जेल भेजे गये थे और ऐसे नजरबन्द भी थे जो बिना मुकदमा चलाये, बिना इलज़ाम लगाये या सज़ा दिये ही जेलो मे ठूंस दिये गये थे। इनमे से कितने ही नजरबन्द वर्षों से वहाँ पड़े हुए थे और उनके बारे मे सारे देश मे नाराज़गी फैली हुई थी—खासकर बंगाल मे जहाँ कि बिना मुकदमा चलाये कैद कर देने के तरीके से बहुत ज्यादा काम लिया गया। पेनग्विन आइलैण्ड[1] के (या शायद ड्रेफस[2] के मामले मे) जनरल स्टाफ के मुखिया की तरह भारत-सरकार

१—२. 'पेनग्विन आइलैण्ड' आनातोल फ्रान्स नामक प्रसिद्ध फ्रेञ्च लेखक की कृति है जिसमें लोकशासन हीन, यंत्राधीन राज्य का चित्र

का भी मन्तव्य था कि सबूत का न होना ही बढिया सबूत का होना है। सबूत का न होना तो गैर-साबित किया ही नही जा सकता। नजरबन्दो पर सरकार का यह आरोप था कि वे हिंसात्मक प्रकार के असली या अप्रत्यक्ष क्रान्तिकारी है। गाधीजी ने समझौते के अग-स्वरूप तो नही, परन्तु इसलिए कि बगाल मे राजनैतिक तनातनी कम हो जाय और वातावरण अपनी मामूली स्थिति मे आजाय, उनकी रिहाई की पैरवी की थी। मगर सरकार इसपर रजामन्द न हुई।

भगतसिह की फाँसी की सजा रद कराने के लिए गाधीजी ने जो जोरदार पैरवी की उसको भी सरकार ने मजूर नही किया। उसका भी समझौते से कोई सम्बन्ध न था। गाधीजी ने इसपर भी अलहदा तौर पर जोर इसलिए दिया था कि इस विषय पर भारत मे बहुत तीव्र लोक-भावना थी। मगर उनकी पैरवी बेकार गयी।

उन्ही दिनो की एक कुतुहलवर्धक घटना मुझे याद है, जिसने हिन्दुस्तान के आतकवादियो की मन स्थिति का आन्तरिक परिचय मुझे कराया। मेरे जेल से छूटने के पहले ही, या पिताजी के मरने के पहले या बाद

खींचा गया है। ड्रेफस नामक एक फरासीसी सैनिक अफसर था जिसपर पिछली सदी के अन्त में सरकारी खबरें बेचने का झूठा इल्जाम लगाया गया था और लंबी सजा दी गयी थी। इसपर इल्जाम दोबार झूठा साबित हुआ, दो दफा उसपर फिर मुकद्दमा चलाया गया और अन्त में बहुत सालों तक कैद भोगने के बाद बेचारा निरपराध साबित हुआ। पडितजी का सकेत जिसकी तरफ है ऐसा पात्र तो 'पेनग्विन आइलेण्ड' में मुमकिन है; परन्तु 'सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत है' यह तो ड्रेफस के केस की याद दिलाती है। ड्रेफस के हाथ की सही का एक भी काग़ज मिलता नहीं था, इस सफाई के विरोध में यह कहा जाता था कि 'सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत है' क्योकि सबूत हो तो सच-झूठ प्रमाणित करना पडे! सबूत रक्खा ही नहीं, यह साबित करता है कि इसपर जुर्म साबित होता है। —अनु०

यह घटना हुई है। हमारे स्थान पर एक अजनबी मुझसे मिलने आया। मुझसे कहा गया कि वह चन्द्रशेखर आज़ाद है। मैंने उसे पहले तो कभी नही देखा था। हाँ, दस वर्ष पहले मैंने उसका नाम जरूर सुना था जबकि १९२१ मे असहयोग-आन्दोलन के जमाने मे स्कूल से असहयोग करके वह जेल गया था। उस समय वह कोई पन्द्रह साल का रहा होगा और जेल का नियम भग करने के अपराध मे जेल मे उसे वेत लगवाये गये थे। वाद को उत्तर-भारत मे वह आतकवादियो का एक मुख्य आदमी वन गया। इसी तरह का कुछ-कुछ हाल मैंने सुन रक्खा था। मगर इन अफवाहो मे मैंने कोई दिलचस्पी न ली थी। इसलिए वह आया तो मुझे ताज्जुव हुआ। वह मुझसे इसलिए मिलने को तैयार हुआ था कि हमारे छूट जाने से आम तौर पर ये आशाये वँधने लगी कि सरकार और काग्रेस मे कुछ-न-कुछ समझौता होनेवाला है। वह मुझसे जानना चाहता था कि अगर कोई समझौता हो तो हमारे दल के लोगो को भी कुछ शान्ति मिलेगी या नही ? क्या हमारे साथ अब भी विद्रोही का-सा वर्ताव किया जावेगा ? जगह-जगह हमारा पीछा इसी तरह किया जायगा ? हमारे सिर के लिए इनाम घोषित ही होते रहेगे और हमारे सामने फाँसी का तख्ता हमेशा लटकता रहा करेगा, या हमारे लिए शान्ति के साथ काम-धन्धे मे लग जाने की भी कोई सभावना होगी ? उसने कहा कि खुद मेरा तथा मेरे दूसरे साथियो का यह विश्वास हो चुका है कि आतकवादी तरीके बिलकुल बेकार है और उनसे कोई लाभ नही है। हाँ, वह मानने के लिए तैयार नही था कि शान्तिमय साधनो से ही हिन्दुस्तान को आजादी मिल जायगी। उसने कहा, आगे कभी सशस्त्र लडाई का मौका आ सकता है, मगर वह आतकवाद न होगा। हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए तो उसने आतकवाद को खारिज ही कर दिया था। पर उसने फिर पूछा, कि अगर मुझे शान्ति के साथ जमकर बैठने का मौका न दिया जाय, रोज-रोज मेरा पीछा किया जाय, तो मै क्या करूँगा ? उसने कहा—इधर हाल मे जो आतककारी घटनायें हुई है वे ज्यादातर आत्म-रक्षा के लिए की गयी है।

मुझे आज़ाद से यह सुनकर ख़ुशी हुई थी और बाद मे उसका और सबूत भी मिल गया कि आतकवाद पर से उन लोगो का विश्वास हट रहा है। एक दल के विचार के रूप मे तो वह अवश्य ही प्राय मर गया है, और जो कुछ व्यक्तिगत इक्की-दुक्की घटनाये हो जाती है वे या तो किसी वजह से या बदले मे या बचाव मे या किसी की लहर से हुई घटनाये है, न कि आम धारणा के फलस्वरूप। अवश्य ही इसके यह मानी नही है कि पुराने आतकवादी और उनके नये साथी अहिंसा के हामी बन गये है या ब्रिटिश सरकार के भक्त बन गये है। हाँ अब वे पहले की तरह आतकवादियो की भाषा मे नही सोचते। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि उनमे से तो बहुतो की मनोवृत्ति निश्चित रूप से फासिस्ट[१] बन गई थी।

मैने चन्द्रशेखर आजाद को अपना राजनैतिक सिद्धान्त समझाने की कोशिश की और यह भी कोशिश की कि वह मेरे दृष्टिबिन्दु का कायल हो जाय। लेकिन उसके असली सवाल का, कि 'अब मै क्या करूँ ?', मेरे पास कोई जवाब न था। ऐसी कोई बात होती हुई नही दिखायी देती थी कि जिससे उसको या उसके जैसो को कोई राहत या शान्ति मिले। मै जो कुछ उसे कह सकता था वह इतना ही कि वह भविष्य में आतकवादी कार्यों को रोकने की कोशिश करे, क्योकि उससे हमारे बड़े कार्य को तथा ख़ुद उसके दल को भी नुकसान पहुँचेगा।

दो-तीन हफ्ते बाद ही जब गाधी-अर्विन बातचीत चल रही थी, मैने दिल्ली मे सुना कि चन्द्रशेखर आज़ाद पर इलाहाबाद मे पुलिस ने गोली

---

१. फासिस्ट पद्धति आज मुसोलिनी की पद्धति समझी जाती है। लेकिन यहाँ फासिस्ट मनोवृत्ति का अर्थ है—'रक्षित हित रखनेवाले वर्ग के लाभ के लिए बलपूर्वक बनाई गई डिक्टेटरशाही।' ऐसी डिक्टेटरशाही आज इटली में चल रही है और जर्मनी में भी है। पण्डितजी का कहना यह है कि हिंसावादी भी आज इस तरह की डिक्टेटरशाही बनाने की तरफ झुक रहे हैं।—अनु०

चलायी और वह मर गया। दिन के वक्त किसी एक पार्क मे वह पहचाना गया और पुलिस के एक बड़े दल ने आकर उसे घेर लिया। एक पेड के पीछे से उसने अपने को बचाने की कोशिश की। दोनो तरफ से गोलियाँ चली। एक दो पुलिसवालो को घायल कर आखिर गोली लगने से वह मर गया।

आरज़ी सुलह होने के बाद शीघ्र ही मैं दिल्ली से लखनऊ पहुँचा। हमने सारे देश मे सविनयभग बन्द करने के लिए आवश्यक तमाम कार्रवाई की, और काग्रेस की तमाम शाखाओ ने हमारी हिदायतो का पालन बड़े ही नियम के साथ किया। हमारे साथियो मे से ऐसे कितने ही लोग थे जो समझौते से नाराज थे, और कितने ही तो आगबबूला भी थे। इधर उन्हे सविनय-भग से रोकने पर मजबूर करने के लिए हमारे पास कोई साधन न था। मगर जहाँतक मुझे मालूम है, बिना एक भी अपवाद के उस सारे विशाल सगठन ने इस नयी व्यवस्था को स्वीकार करके उसपर अमल भी किया, हालाँकि कितने ही लोगो ने उसकी आलोचना भी की थी। मुझे खास तौर पर दिलचस्पी इस बात पर थी कि हमारे सूबे मे इसका क्या असर होगा ? क्योंकि वहाँ कुछ क्षेत्रो मे करबन्दी-आन्दोलन तेज़ी से चल रहा था। हमारा पहला काम यह देखना था कि सत्याग्रही कैदी रिहा हो जायँ। वे हजारो की तादाद मे छूटते थे और कुछ समय बाद—सिर्फ वही लोग जेल मे रह गये जिनका मामला बहस-तलब था। उन हजारों नजरबन्दो के और उन लोगो के अलावा जो हिंसात्मक कार्यों के लिए सजा पाये हुए थे और जो रिहा नही किये गये थे।

ये जेल से छूटे हुए कैदी जो अपने गाँवो और कस्बो मे गये तो स्वभावत लोगो ने उनका स्वागत किया। कई लोगो ने सजावट भी की, बन्दनवारे लगवायी, जुलूस निकाले, सभाये की, भाषण हुए और स्वागत मे मानपत्र भी दिये गये। यह सबकुछ होना बहुत स्वाभाविक था और इसीकी आशा भी की जा सकती थी। मगर वह जमाना जबकि चारो ओर पुलिस की लाठियाँ-ही-लाठियाँ दिखायी देती थी, सभा और जुलूस जबर्दस्ती बिखेर दिये जाते थे, एकाएक बदल गया था। इससे पुलिसवाले

ज़रा बेचैनी अनुभव करने लगे और कदाचित् हमारे बहुतेरे जेल से आनेवालो मे विजय का भाव भी आगया था। यो अपनेको विजयी मानने का शायद ही कोई कारण था, लेकिन जेल से आने पर (अगर जेल मे स्पिरिट कुचल न दी गयी हो तो) हमेशा एक आनन्द और अभिमान की भावना पैदा होती है, और झुण्ड-के-झुण्ड लोगो के एक-साथ जेल से छूटने पर तो यह आनन्द और अभिमान और अधिक बढ जाता है।

मैंने इस बात का ज़िक्र इसलिए किया है कि आगे जाकर सरकार ने इस 'विजय के भाव' पर बडा ऐतराज किया था, और हम पर इसके लिए इल्ज़ाम लगाया गया था। हमेशा हुकूमत-परस्ती के वातावरण मे रहने और पाले-पोसे जाने के कारण और शासन के सवन्ध मे ऐसे फौजी स्वरूप की धारणा होने से, जिसको जनता का आधार या समर्थन प्राप्त नहीं होता, उनके नज़दीक उस चीज के कमज़ोर हो जाने से बढकर दुःख देनेवाली बात दूसरी नही हो सकती जिसे वे अपना रौब समझते है। जहाँतक मुझे पता है, हममे से किसीको इसका कोई खयाल न था और जब हमने बाद को यह सुना कि सरकारी अफसर ठेठ शिमला-शैल से लेकर नीचे मैदान तक लोगो की इस गुस्ताखी पर सिर से पैर तक आग-बबूला होने लगे और ऐसा अनुभव करने लगे मानो उनके अभिमान पर चोट पडी है, तो उसपर हम आश्चर्य से दग रह गये। जो अखबार उनके विचारो की प्रतिध्वनि करते है वे तो अबतक भी इससे बरी नही हुए है। अब भी वे, हालाँकि तीन-साढे तीन साल हो गये है, उन साहसिक और बुरे दिनो का ज़िक्र भय से काँपते हुए करते है जबकि उनके मतानुसार काग्रेसी इस तरह विजय-घोष करते फिरते थे कि मानो उन्होने कोई बडी भारी फतह हासिल की हो। अखबारो मे सरकार ने और उनके दोस्तो ने जो क्रोध उगला वह हमारे लिए एक नयी बात थी। उससे पता लगा कि वे कितने घबरा गये थे, उन्हे अपने दिल को कितना दबा-दबाकर रखना पडा था, जिससे उनके मन मे कैसी गाँठ पड गयी थी। यह एक अनोखी बात है कि थोडे-से जुलूसो ने और हमारे लोगों के कुछ भाषणो ने उनके यहाँ इतना तहलका मच गया।

सच पूछो तो काग्रेस के साधारण लोगो मे ब्रिटिश सरकार को 'हरा देने का कोई भाव नही था और नेताओ मे तो और भी नही। लेकिन हाँ, अपने भाइयो और बहनो के त्याग और साहस पर हम लोगो के अन्दर एक विजय की भावना जरूर थी। देश ने १९३० मे जो कुछ किया उस पर हमें फख्र जरूर है। उसने हमे अपनी ही निगाहो मे ऊँचा उठा दिया, हमे आत्म-विश्वास प्रदान किया, और इस बात के खयाल से हमारे छोटे-से-छोटे स्वयसेवक की भी छाती तन जाती और सिर ऊँचा हो जाता है। हम यह भी अनुभव करते थे कि इस महान आयोजन ने, जिसने सारी दुनिया का ध्यान अपनी तरफ खीच लिया था, ब्रिटश सरकार पर बहुत भारी दबाव डाला और हमको अपने मजिले-मकसूद के ज्यादा नज़दीक पहुँचाया। इन सबका 'सरकार को हराने' से कोई ताल्लुक न था, और वास्तव मे तो हममे से बहुतो को यही खयाल रहा कि दिल्ली-समझौते मे तो सरकार ही ज्यादा फायदे मे रही है। इसमे से जिन लोगो ने यह कहा कि अभी तो हम अपने ध्येय से बहुत दूर है और एक बडा और एक मुश्किल सग्राम सामने आने को है, वे सरकार के मित्रो के द्वारा लडाई को उकसाने और दिल्ली-समझौते की स्पिरिट को तोडने के दोषी बताये गये।

युक्तप्रान्त मे अब हमे किसानो के मसले का सामना करना था। हमारी नीति अब यह भी थी कि जहाँतक मुमकिन हो ब्रिटिश सरकार से सहयोग किया जाय और, इसलिए, हमने तुरन्त ही युक्तप्रान्तीय सरकार के साथ उसकी कार्रवाई शुरू कर दी। बहुत दिनो के बाद सूबे के कुछ आला अफसरो से—कोई बारह साल तक हमने इधर सरकारी तौर पर कोई व्यवहार नही रक्खा था—मै किसानो के मामले पर चर्चा-करने के लिए मिला। इस विषय मे हमारी लबी लिखा-पढी भी चली। प्रान्तीय कमेटी ने हमारे प्रान्त के एक प्रमुख व्यक्ति गोविन्दवल्लभ पन्त को एक मध्यस्त के तौर पर नियत किया कि जो लगातार प्रान्तीय सरकार के सपर्क मे रहे। सरकार की तरफ से ये बाते मान ली गयी कि हाँ, किसान वाकई सकट मे है, अनाज के भाव बहुत बुरी तरह गिर

गये है, और एक औसत किसान लगान देने मे असमर्थ है। सवाल सिर्फ यह था कि कितनी छूट दी जाय; लेकिन इस विषय मे कुछ कार्रवाई करना प्रान्तीय सरकार के हाथ मे था। मामूल के मुताबिक तो सरकार जमींदारो से ही ताल्लुक रखती है, सीधा काश्तकारो से नहीं, और लगान कम करना या उसमे छूट देना जमींदारो का ही काम था। लेकिन जमींदारो ने तबतक ऐसा करने से इन्कार कर दिया, जबतक सरकार भी उनको उतनी ही छूट न दे दे। और उन्हे तो किसी भी सूरत मे अपने काश्तकारो को छूट देने की ऐसी पड़ी नही थी। इसलिए फैसला तो आखिर सरकार को ही करना था।

प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने किसानो से कह दिया था कि कर-बन्दी की लड़ाई रोक दी गयी है और जितना हो सके उतना लगान दे दो। मगर उनके प्रतिनिधि की हैसियत से उसने काफी छूट चाही थी। बहुत दिनो तक सरकार ने कुछ भी कार्रवाई नही की। गालिबन् गवर्नर सर माल्कम हेली के छुट्टी या स्पेशल ड्यूटी पर चले जाने से वह दिक्कत महसूस कर रही थी। इसमे तुरत और व्यापक परिणाम लानेवाली कार्रवाई करने की जरूरत थी। ताहम कार्यवाहक गवर्नर और उनके साथी कार्रवाई करने मे हिचकते थे, और सर माल्कम हेली के आने तक (गर्मियो तक) मामले को आगे धकेलते रहे। इस देरी और टील-पोल ने उस मुश्किल हालत को और भी खराब बना दिया, जिससे काश्तकारो को बहुत नुकसान बर्दाश्त करना पड़ा।

दिल्ली-समझौते के बाद ही मेरी तन्दुरुस्ती कुछ खराब होगयी। जेल मे भी मेरी तबीयत अच्छी न्ही थी। उसके बाद पिताजी की मृत्यु ने धक्का लगा और फिर फौरन ही दिल्ली मे सुलह की चर्चा का जोर पड़ा। यह सब मेरे स्वाथ्य के लिए हानिकर साबित हुए। लेकिन कराची-कांग्रेस जाने तक मै कुछ-कुछ ठीक हो चला था।

कराची हिन्दुस्तान के ठेठ उत्तर-पश्चिम कोने मे है, जहाँ की यात्रा मुश्किल होती है। बीच में बड़ा रेतीला मैदान है, जिससे वह हिन्दुस्तान के शेष हिस्सो से बिल्कुल जुदा पड़ जाता है। लेकिन फिर भी वहाँ

दूर-दूर के हिस्सो से बहुत लोग आये थे और वे उस समय देश का जैसा मिजाज था उसको सही तौर पर जाहिर करते थे। लोगो के दिलो मे शान्ति के भाव थे और राष्ट्रीय आन्दोलन की जो ताकत देश मे बढ रही थी उसके प्रति गहरा सतोष था। काग्रेस-सगठन के प्रति, जिसने कि देश की भारी पुकार और माँग का बडी योग्यता-पूर्वक जवाब दिया था और जिसने अनुशासन और त्याग के द्वारा अपने अस्तित्व की पूरी सार्थकता दिखलायी थी, उसके मन मे अभिमान था। अपने लोगो के प्रति विश्वास का भाव था और उसके उत्साह मे सयम दिखलायी पडता था। इसके साथ ही आगे आनेवाले जबर्दस्त प्रश्नो और खतरो के प्रति जिम्मेदारी का गहरा भाव भी था। हमारे शब्द और प्रस्ताव अब राष्ट्रीय पैमाने पर किये जानेवाले कार्यो के मगलाचरण थे और वे यो ही बिना सोचे, विचारे न बोले जाते थे, न पास किये जाते थे, दिल्ली-समझौता यद्यपि बडे बहुमत से पास हो गया था, तो भी वह लोकप्रिय नही था, और न पसन्द ही किया गया था, और लोगो के अन्दर यह भय काम कर रहा था कि यह हमे तरह-तरह की भद्दी और विषम स्थितियो में लाकर डाल देगा। कुछ ऐसा दिखायी पडता था कि देश के सामने जो सवाल है उनको यह अस्पष्ट कर देगा। काग्रेस अधिवेशन के ठीक पहले ही एक और देश की नाराजगी का बाइस पैदा हो गया था---भगतसिंह का फाँसी पर लटकाया जाना। उत्तर-भारत मे इस भावना की लहर तेज थी और कराची उत्तर मे ही होने के कारण वहाँ पजाब से बडी तादाद मे लोग आये थे।

पिछली किसी भी काग्रेस की बनिस्वत कराची-काग्रेस मे तो गाधीजी की और भी बडी निजी विजय हुई थी। उसके सभापति सरदार वल्लभ भाई पटेल हिन्दुस्तान के बहुत ही लोकप्रिय और जोरदार आदमी थे और उन्हे गुजरात के सफल नेतृत्व की सुकीर्ति प्राप्त थी। फिर भी उसमे दौरदौरा तो गाधीजी का ही था। अब्दुलगफ्फारखा के नेतृत्व मे सीमाप्रान्त से भी लालकुर्तीवालो का एक अच्छा दल वहाँ पहुँचा था। लालकुर्तीवाले बड़े लोकप्रिय थे। जहाँ कही भी जाते लोग तालियो से

उनका स्वागत करते, क्योंकि अप्रैल १९३० से गहरी उत्तेजना दिखायी जाने पर भी उन्होंने असाधारण शान्ति और साहस की छाप हिन्दुस्तान पर छोडी है। लालकुर्ती नाम से कुछ लोगो को यह गुमान हो जाता था कि वे कम्युनिस्ट या वाम-पक्षीय मजदूर-दल के थे। सच पूछो तो उनका नाम 'खुदाई खिदमतगार' था और वह सगठन काग्रेस के साथ मिलकर काम करता था (बाद को १९३१ मे काग्रेस का एक अभिन्न अग बना लिया गया था)। वे लालकुर्ती वाले महज इसलिए कहलाते थे कि उनकी वर्दी जरा पुराने ढग की लाल थी। उनके कार्य-क्रम मे कोई आर्थिक नीति शामिल न थी, वह तो राष्ट्रीय था और उसमे सामाजिक सुधार भी शामिल था।

कराची के मुख्य प्रस्ताव मे दिल्ली-समझौता और गोलमेज-कान्फ्रेन्स का विषय था। कार्य-समिति ने जिस अन्तिम रूप मे उसे पास किया था उसे मैने अवश्य ही मजूर कर लिया था। मगर जब गाधीजी ने मुझे खुले अधिवेशन मे उसे पेश करने के लिए कहा, तो मै जरा हिचकिचाया। यह मेरी तबीयत के खिलाफ था। पहले मैने इन्कार कर दिया, मगर बाद को यह मुझे अपनी कमजोरी और असन्तोषजनक स्थिति दिखायी दी। या तो मुझे इसके हक मे होना चाहिए या इसके खिलाफ, यह मुनासिब न था कि ऐसे मामले मे टालमटोल करूँ और लोगो को अट-कले बाँधने के लिए खुला छोड दूँ। अत बिल्कुल आखिरी पल मे खुले अधिवेशन मे प्रस्ताव आने के कुछ ही मिनट पहले मैने उसे पेश करने का निश्चय किया। अपने भाषण मे मैने अपने हृदय के भाव ज्यो-के-त्यो उस विशाल जन-समूह के सामने रख दिये और उनसे पैरवी की कि वे उस प्रस्ताव को तहेदिल से मजूर करले। मेरा वह भाषण जो ऐन मौके पर अन्त स्फूर्ति से दिया गया और जो हृदय के अन्तस्तल से निकला था, जिसमे न कोई अलकार था न सुन्दर शब्दावली, कदाचित् मेरे उन कई भाषणो से ज्यादा सफल रहा जिसके लिए ज्यादा ध्यान देकर तैयारी करने की जरूरत हुई थी।

मै और प्रस्तावों पर भी बोला था। इनमे भगतसिह, मौलिक

अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव उल्लेखनीय है। आखिरी प्रस्ताव मे मेरी खास दिलचस्पी थी, क्योंकि एक तो उसका विषय ही ऐसा था और दूसरे उसके द्वारा काग्रेस मे एक नये दृष्टिकोण का प्रवेश होता था। अवतक काग्रेस सिर्फ राष्ट्रीयता की ही दिशा मे सोचती थी और आर्थिक प्रश्नो के मुकाबिले से बचती रहती थी। जहाँतक ग्राम-उद्योगो से और आमतौर पर स्वदेशी को बढावा देने से ताल्लुक था, उसको छोडकर कराचीवाले इस प्रस्ताव के द्वारा मूल उद्योगो और नौकरियों के राष्ट्रीयकरण और ऐसे ही दूसरे उपायो के प्रचार के द्वारा गरीबो का बोझा कम करके अमीरो पर बढाने के लिए एक बहुत छोटा कदम, समाजवाद की दिशा मे उठाया गया, लेकिन वह समाजवाद कतई न था। पूंजीवादी राज्य भी उसकी प्राय हर बात को आसानी से मजूर कर सकता है।

इस बहुत ही नरम और नि सार प्रस्ताव ने भारत-सरकार के बडे-बडे लोगो को भारी और गहरे विचार मे डाल दिया। कदाचित् उन्होने अपनी सदा की अन्तर्दृष्टि के मुताबिक यह भी कल्पना की कि बोलशेविको का रुपया लुक-छिपकर कराची जा पहुँचा है और काग्रेस के नेताओ को नीति भ्रष्ट कर रहा है। एक तरह के राजनैतिक अन्त पुर मे रहते-रहते, बाहरी दुनिया से कटे-हटे, गुप्त वातावरण से घिरे हुए उनके दिमाग को रहस्य और भेद की कहानियाँ और कल्पित कथाओ के सुनने का बडा शौक रहता है। और फिर ये किस्से एक रहस्यपूर्ण ढग से थोडा-थोडा करके अपने प्रीति-प्राप्त अखबारों मे दिये जाते है और साथ मे यह झलकाया जाता है कि यदि परदा खोल दिया जाय तो और भी कई गुल खिल सकते है। उनके इस मान्य प्रचलित तरीके से मौलिक अधिकार वगैरा सम्बन्धी कराची के प्रस्तावों का वार-वार जिक्र किया गया है और मै उनसे यही नतीजा निकाल सकता हूँ कि वे इस प्रस्ताव पर सरकारी सम्मति क्या है, यह वतलाते है। किस्सा यहाँतक कहा जाता है कि एक छिपे व्यक्ति ने जिसका कम्यूनिस्टो से ताल्लुक है, प्रस्ताव का या उसके ज्यादातर हिस्से का ढाँचा वनाना है और उसने

कराची में वह मेरे मत्थे मढ दिया। उसपर मैंने गांधीजी को चुनौती दे दी कि या तो इसे मंजूर कीजिए या दिल्ली-समझौते पर मेरी मुख़ालिफत के लिए तैयार रहिए। और गांधीजी ने मुझे चुप करने के लिए यह रिश्वत दे दी तथा आखिरी दिन जबकि विषय-समिति और कांग्रेस थकी हुई थी, उन्होंने इसे उनके सिर पर लाद दिया।

उस छिपे व्यक्ति का नाम, जहाँतक मुझे पता है, यों साफ-साफ लिया नहीं गया है। लेकिन तरह-तरह के इशारों से मालूम हो जाता है कि उनकी मंशा किनसे है। मुझे छिपे तरीकों और घुमाव-फिराव से बात कहने की आदत नहीं, इसलिए मैं सीधे ही कह दूं कि उनकी मंशा शायद एम० एन० राय से है। शिमला और दिल्ली के ऊँचे आसनवालों के लिए यह जानना दिलचस्प और शिक्षाप्रद होगा कि एम० एन० राय या दूसरे 'कम्यूनिस्ट-प्रवृत्ति रखनेवाले' कराची के उस सीधे-सादे प्रस्ताव के बारे में क्या ख़याल करते हैं। उन्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि उस तरह के आदमी तो उस प्रस्ताव को कुछ घृणा की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार तो यह मध्यम वर्ग के सुधारवादियों की मनोवृत्ति का एक ख़ासा उदाहरण है।

जहाँतक गांधीजी से ताल्लुक है, उनसे मेरी घनिष्ठता पिछले १७ बरसों से है और मुझे उन्हें बहुत नज़दीक से जानने का सौभाग्य प्राप्त है। यह ख़याल कि मैं उन्हें चुनौती दूं, या उनसे सौदा करूं, मेरी निगाह में भयानक है। हाँ, हम एक-दूसरे का ख़ूब लिहाज़ रखते हैं और कभी किसी विशेष मसले पर अलग-अलग भी हो सकते हैं, लेकिन हमारे आपस के व्यवहारों में बाज़ारू तरीकों से हरगिज़ काम नहीं लिया जा सकता।

कांग्रेस में इस तरह के प्रस्ताव को पास कराने का ख़याल पुराना है। कुछ सालों से युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी इस विषय में हलचल मचा रही थी और कोशिश कर रही थी कि अ० भा० कां० कमिटी समाजवादी प्रस्ताव को स्वीकार कर ले। १९२९ में उसने अ० भा० कां० कमिटी से कुछ हद तक उसके सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। उसके बाद सत्याग्रह आ गया। दिल्ली में, फरवरी १९३१ में, जबकि मैं गांधीजी

के साथ सुबह घूमने जाया करता था, मैंने उनसे इस मामले का जिक्र किया था और उन्होने आर्थिक विषयो पर एक प्रस्ताव रखने के विचार का स्वागत किया था। उन्होंने मुझसे कहा था कि कराची मे इस विषय को उठाना और इस विषय मे एक प्रस्ताव बनाकर मुझे दिखाना। कराची मे मैंने मसविदा बनाया और उन्होने उसमें बहुतेरे परिवर्तन सुझाये और सूचनायें की। वह चाहते थे कि कार्य-समिति मे पेश करने के पहले हम दोनो उसकी भाषा पर सहमत हो जायँ। मुझे कई मसविदे बनाने पड़े और इससे इस मामले मे कुछ दिन की देरी हो गयी। आखिर गाधीजी और मै दोनो एक मसविदे पर सहमत हो गये और तब वह कार्य-समिति मे और उसके बाद विषय-समिति मे पेश किया गया। यह बिलकुल सच है कि विषय-समिति के लिए यह एक नया विषय था और कुछ मेम्बरो को उसे देखकर ताज्जुब हुआ था। फिर भी वह कमिटी मे और काग्रेस मे आसानी से पास हो गया और बाद मे अ० भा० का० कमिटी को सौप दिया गया कि वह निर्दिष्ट दिशा मे उसको और विशद और व्यापक बनावे।

हाँ, जब मै इस प्रस्ताव का खर्रा बना रहा था तब कितने ही लोगो से, जो मेरे डेरे पर आया करते थे, इसके बारे मे मै कभी-कभी कुछ सलाह ले लिया करता था। मगर एम० एन० राय से इसका कतई कोई ताल्लुक नही था, और मै यह अच्छी तरह जानता था कि वह इसको बिलकुल पसन्द नही करेगे और इसकी खिल्ली तक उडावेगे।

अलबत्ता कराची आने के कुछ दिन पहले इलाहाबाद मे एम० एन० राय से मेरी मुलाकात हुई थी। वह एक रोज शाम को अकस्मात हमारे घर आये। मुझे पता नही था कि वह हिन्दुस्तान मे है। ताहम मैंने उन्हे फौरन पहचान लिया, क्योंकि उनको मैंने १९२७ मे मास्को में देखा था। कराची में वह मुझसे मिले थे, मगर शायद पाँच मिनट से ज्यादा नही। पिछले कुछ सालो मे राजनैतिक दृष्टि से मेरी निन्दा करते हुए मेरे खिलाफ उन्होने बहुत-कुछ लिखा है, और अकसर मुझे चोट पहुँचाने मे कामयाब भी हुए हैं। गो उनके और मेरे बीच बहुत मतभेद है,

ताहम मेरा आकर्षण उनकी ओर हुआ, और बाद को जब वह गिरफ्तार हुए, और मुसीबत मे थे, तब मेरा जी हुआ कि जो-कुछ मुझसे हो सके (और वह बहुत थोडी थी) उनकी मदद करूँ। मै उनकी तरफ आकर्षित हुआ उनकी विलक्षण बौद्धिक क्षमता को देखकर। मै उनकी तरफ इस-लिए भी खिचा कि मुझे वह सब तरह अकेले मालूम हुए, जिनको हर आदमी ने छोड दिया था। ब्रिटिश सरकार उनके पीछे पड़ी हुई थी ही। हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय दल के लोगो को उनकी ओर दिलचस्पी नही थी। और जो लोग हिन्दुस्तान मे अपनेको कम्यूनिस्ट कहते है वे विश्वासघाती समझकर उनकी निन्दा करते थे। मुझे मालूम हुआ कि सालो तक रूस मे रहने और कोमिण्टर्न के साथ घनिष्ठ सहयोग करने के बाद वह उन-से जुदा पड गये थे, या जुदा कर दिये गये थे। ऐसा क्यो हुआ इसका मुझे पता नही है, और सिवा कुछ आभास के न अबतक यही जानता हूँ कि उनके मौजूदा विचार क्या है और पुराने कम्यूनिस्टो मे किस बात मे उनका मतभेद है। लेकिन उनके जैसे पुरुष को इस तरह प्राय हरेक के द्वारा अकेला छोडे जाते देखकर मुझे पीडा हुई और अपनी आदत के खिलाफ मै उनके लिए बनायी गयी डिफेस कमिटी मे शामिल हुआ। १९३१ की गर्मियो से, अबसे कोई तीन वर्ष पहले से, वह जेल मे है, बीमार है और प्राय तनहाई मे रह रहे है।

कराची मे कांग्रेस अधिवेशन का एक आखिरी काम था कार्य-समिति का चुनाव। यो तो उसका चुनाव अ० भा० का० कमिटी द्वारा होता है मगर ऐसा रिवाज पड गया था कि उस साल का सभापति (गाधीजी और कभी-कभी दूसरे साथियो की सलाह से) नाम पेश करता और वे अ० भा० का० कमिटी मे मजूर कर लिये जाते। लेकिन कराची मे हुए कार्य-समिति के चुनाव का बुरा नतीजा निकला, जिसका पहले किसी को खयाल नही हुआ था। अ० भा० का० कमिटी के कुछ मुसलमान मेम्बरो ने इस चुनाव पर ऐतराज किया था। खास तौर पर एक (मुस्लिम) नाम पर। शायद उन्होने उसमे अपनी तौहीन समझी थी कि उनके दल का कोई भी आदमी नही था। एक ऐसी अ० भा०

कमिटी मे जिसमे केवल पद्रह ही मेम्बर हो, यह सरासर असभव था कि सभी हितो के प्रतिनिधि उसमे रहे। और असली झगडा था, जिसके बारे मे हमे कुछ भी इल्म नही था, बिलकुल जाती और पजाब का मुकामी। लेकिन उसका नतीजा यह हुआ कि जिन लोगों ने विरोध की आवाजे उठायी थी वे (पजाब मे) काग्रेस से हटकर मजलिसे अहरार[1] मे शरीक हो गये। काग्रेस के कुछ बहुत ही मुस्तैद और लोकप्रिय कार्यकर्ता उसमे शामिल हो गये और पजाब के कितने ही मुसलमानो को उसने अपनी ओर खीच लिया निचले मध्यमवर्ग के लोग उसमे थे और मुस्लिम जनता से उसका बहुत सम्पर्क था। इस तरह वह एक ज़बर्दस्त सगठन बन गया। उच्च श्रेणी के मुस्लिम साम्प्रदायिक लोगों के, जो कि या तो हवा मे या दीवानखाने मे या कमिटियों के कमरो मे इकट्ठा होते थे, लुज सगठन की बनिस्बत यह कही ज्यादा मज़बूत था। अहरार लोग वैसे तो फिरकापरस्ती की तरफ चले गये, मगर मुस्लिम जनता के साथ उन्होने अपना सिलसिला बाँध रक्खा था। इसलिए वे एक जिन्दा जमात बने रहे, जिसका एक धुँधला-सा आर्थिक दृष्टिकोण है। देशी राज्यो के मुसलमान आन्दोलन मे, खासकर कश्मीर मे, उन्होने बडा काम किया है जिनमे कि आर्थिक कष्ट और फिरका-परस्ती दोनो अजीब तरह से और बदकिस्मती से घुल-मिल गये है। काग्रेस से अहरार पार्टी के कुछ नेताओ का कट जाना पजाब मे काग्रेस के लिए बहुत ही हानिकर हुआ। मगर कराची मे इसका हमे क्या पता था ? बाद मे जाकर धीरे-धीरे हमे इसका अहसास होने लगा। लेकिन यह न समझना चाहिए कि कार्य-समिति के चुनाव के कारण ही वे लोग काग्रेस से अलग हो गये हो। वह तो एक तिनका था जिसने हवा के रुख को बताया। उसके असली कारण तो और ही है, और वे गहरे है।

हम सब कराची मे ही थे कि कानपुर के हिंदू-मुसलिम दगे की खबर हमे मिली। इसके बाद ही दूसरा समाचार यह मिला कि गणेशशकर

---

१ अहरार के मानी है आत्म सम्मान रखनेवाले।

विद्यार्थी को कुछ मजहबी दीवाने लोगो ने, जिनकी मदद के लिए वह वहाँ गये थे, कत्ल कर डाला। वे भयकर और पाशविक दगे ही क्या कम बुरे थे ? लेकिन गणेशजी की मृत्यु ने हमे उनकी भयकरता की वीभत्सता जिस तरह हमारे हृदय पर अकित कर दी वैसी और कोई चीज नही कर सकती थी। उस काग्रेस-कैम्प मे हजारो आदमी उन्हे जानते थे और युक्त प्रात के हम सब लोगो के वह निहायत प्यारे साथी और दोस्त थे। जवाँमर्द और निडर, दूरदर्शी और निहायत अक्लमन्द सलाहकार, कभी हिम्मत न हारनेवाले, चुपचाप काम करनेवाले, नाम, शोहरत, पद और प्रकाशन से दूर भागने वाले। अपनी जवानी के उत्साह मे झूमते हुए वह हिंदू-मुसलिम एकता के लिए, जो उन्हे इतनी प्यारी थी और जिसके लिए उन्होने अबतक कार्य किया था, अपना सिर हथेली पर लेकर खुशी-खुशी आगे बढे थे कि बेवकूफ हाथो ने उन्हे जमीन पर मार गिराया और कानपुर को और सूबे को एक अत्यत उज्जवल रत्न से महरूम कर दिया। जब यह खबर पहुँची तो कराची के यू० पी० कैम्प मे शोक की घटा छा गयी और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी शान चली गयी। लेकिन फिर भी उसके दिल मे यह अभिमान था कि गणेशजी ने बिना पीछे कदम उठाये मौत का मुकाबिला किया और उन्हे ऐसी गौरव-पूर्ण मौत नसीब हुई।

: ३६ :

लङ्का में विश्राम

मेरे डाक्टरो ने मुझपर ज़ोर दिया कि मुझे कुछ आराम लेना चाहिए, और आव-हवा वदलनी चाहिए। मैने लका द्वीप मे एक महीना गुज़ारना तय किया। हिन्दुस्तान वडा भारी देश होने पर भी, इसमे स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की असली सभावना दिखायी न दी, क्योकि मै जहाँ भी जाता वहाँ राजनैतिक साथी मिलते ही, और वही समस्याये भी मेरे पीछे-पीछे वहाँ आ जाती। लका ही हिन्दुस्तान से सवसे नज़दीक की जगह थी, इसलिए हम लका ही गये—कमला, इन्दिरा और मै। १९२७ मे यूरप से लौटने के वाद यही मेरी पहली तातील थी, यही पहला मौका था जव मेरी पत्नी, कन्या और मैने एक-साथ शान्ति से कही विश्राम किया हो, और हमे कोई चिन्ताये न रही हो। ऐसा विश्राम फिर नही मिला है, और मै समझता हूँ शायद मिलेगा भी या नही।

फिर भी, दरअसल, हमे लका मे सिवा नुवाया एलीया के दो हफ्तो के ज्यादा विश्राम मिला ही नही। वहाँके सभी वर्गो के लोगो ने हमारे प्रति वहुत ही आतिथ्य और मित्र-भाव प्रदर्शित किया। यह इतनी सद्‌भावना लगती तो वहुत अच्छी थी, मगर परेशानी मे भी डाल देती थी। नुवाया एलीया में वहुत-से श्रमिक, चाय-वागों के मजदूर और दूसरे लोग रोज़ कई मील चलकर आया करते थे, और अपने साथ अपनी प्रेम-पूर्ण भेट की चीज़े—जगल के फूल, सब्ज़ियाँ, घर का मक्खन—भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्राय. वात भी नही कर सकते थे, एक-दूसरे की तरफ देख भर लेते थे और मुस्करा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेट की इन कीमती चीज़ो से, जो वे अपनी दरिद्र अवस्था में भी हमे दे जाते थे, भर गया था। ये चीज़ें हम वहाँ के अस्पतालो और अनाथालयों को भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीज़ो और ऐतिहासिक खडहरों, बौद्ध मठो और घने जगलों को देखा। अनुराधापुर मे मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्त्ति बहुत पसन्द आयी। एक साल बाद जब मै देहरादून जेल मे था, तब लका के एक मित्र ने इस मूर्त्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मै अपनी कोठरी मे अपने छोटे-से-टेबल पर रक्खे रहता था। यह चित्र मेरा बडा मूल्यवान साथी बन गया था, और बुद्ध की मूर्त्ति के गभीर शान्त भावो से मुझे बडी शान्ति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे कई बार उदासी के मौकों पर बड़ी मदद मिली।

बुद्ध हमेशा मुझे बहुत आकर्षक प्रतीत हुए है। इसका कारण बताना तो मुश्किल है, मगर वह धार्मिक नही है, क्योंकि बौद्ध-धर्म के आसपास जो मताग्रह जम गये है उनमे मुझे कोई दिलचस्पी नही है। उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे आर्कषित किया है। इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बडा आकर्षण है।

मैंने मठो मे और सडको पर बहुत-से 'भिक्षुओ' को देखा, जिन्हे हर जगह, जहाँ कही वे जाते थे, सम्मान मिलता था। करीब-करीब सभी के चेहरों पर शान्ति और निश्चलता का, तथा दुनिया की फिक्रो से एक विचित्र वैराग्य का, मुख्य भाव था। आम तौर पर उनके चेहरे से बुद्धिमत्ता नही झलकती थी; उनकी सूरत से दिमाग के अन्दर होनेवाला भयकर सघर्ष नही मालूम पड़ता था। जीवन उन्हे महासागर की ओर शान्ति से बहती हुई नदी के समान दिखायी देता था। मै उनकी तरफ कुछ रश्क के साथ, आँधी और तूफान से बचानेवाला शान्त बन्दरगाह पाने की एक हलकी उत्कण्ठा के साथ, देखता था। मगर मै तो जानता था कि मेरी किस्मत मे और ही कुछ है, उसमे तो आधी और तूफान ही है। मुझे कोई शान्त बन्दरगाह मिलनेवाला नही है, क्योंकि मेरे भीतर का तूफान भी उतना ही तेज़ है जितना बाहर का। और अगर मुझे कोई ऐसा बन्दरगाह मिल भी जाय, जहाँ इत्तिफाक से आँधी की प्रचडता न हो, तो भी क्या वहाँ मै सन्तोष और सुख से रह सकूँगा?

कुछ समय के लिए तो वह बन्दरगाह खुशनुमा ही था। वहाँ आदमी

पड़ा रह सकता था, स्वप्न देख सकता था, और उष्ण-कटिबन्ध का शान्तिप्रद और जीवनदायी आनन्द अपने अन्दर भर सकता था। लंका-द्वीप उस समय मेरी भी वृत्ति के अनुकूल था, और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया। विश्राम का हमारा महीना जल्दी ही खत्म हो गया, और दिली अफसोस के साथ हम वहाँ से विदा हुए। उस भूमि और वहाँ के लोगों की कई बातो की याद मुझे अब भी आया करती है, जेल के मेरे लम्बे और सूने दिनो मे भी यह मीठी याद मेरे साथ रही। एक छोटी-सी घटना मुझे याद है। वह शायद जाफ़ना के पास हुई थी। एक स्कूल के शिक्षको और लडको ने हमारी मोटर रोक ली, और अभिवादन के कुछ शब्द कहे। दृढ और उत्सुक चेहरे लिये लडके खडे रहे, और उनमे से एक मेरे पास आया। उसनें मुझसे हाथ मिलाया। बिना कुछ पूछे या दलील किये उसने कहा—"मैं कभी लड-खड़ाऊँगा नहीं।" उस लडके की उन चमकती हुई आँखो की, उस आनन्दपूर्ण चेहरे की, जिसमे निश्चय की दृढता भरी हुई थी, छाप मेरे मन पर अब भी पडी हुई है। मुझे पता नहीं कि वह कौन था, उसका कोई पता-ठिकाना मेरे पास नहीं है; मगर किसी-न-किसी प्रकार मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दो का पक्का रहेगा, और जब जीवन की विषम समस्याओं का मुकाबिला उसे करना होगा तब वह लड़खड़ायेगा नहीं, पीछे नहीं रहेगा।

लंका से हम दक्षिण भारत, ठीक कुमारी अन्तरीप के पास, दक्षिणी सिरे पर गये। वहाँ आश्चर्यजनक शान्ति थी। इसके बाद हम त्रावणकोर, कोचीन, मालाबार, मैसूर, हैदराबाद में होकर गुज़रे, जो ज्यादातर देशी रियासते है। इनमें से कुछ दूसरो से बहुत प्रगतिशील है, कुछ बहुत पिछड़ी हुई हैं। त्रावणकोर और कोचीन शिक्षा में ब्रिटिश-भारत से भी बहुत आगे बढ़े हुए है। मैसूर शायद उद्योग-धन्धो मे आगे बढ़ा हुआ है, और हैदराबाद क़रीब-करीब पूरी तरह पुराने सामन्त-तन्त्र का स्मारक है। हमे हर जगह, जनता से भी और अधिकारियों से भी, आदर और स्वागत मिला। मगर इस स्वागत में अधिकारियों की यह चिन्ता भी

छिपी हुई थी कि हमारे वहाँ आने से कही लोगों के खयालात खतरनाक न हो जायें। मालूम होता है, उस वक्त मैसूर और त्रावणकोर ने राजनैतिक कार्य के लिए कुछ नागरिक स्वतन्त्रता और अवसर दिया था। हैदराबाद मे इतनी आजादी न थी। और, हालाँकि हमारे साथ आदर का वर्ताव किया जा रहा था, फिर भी मुझे वह वातावरण दम घोटने और साँस रोकनेवाला मालूम हुआ। बाद मे मैसूर और त्रावणकोर की सरकारो ने उतनी नागरिक स्वतत्रता और राजनैतिक कार्यो की सुविधा भी छीन ली, जो उन्होने पहले दे रक्खी थी।

मैसूर रियासत के बगलोर शहर में, एक बडे मजमे के अन्दर, मैंने लोहे के एक ऊँचे खम्भे पर राष्ट्रीय झण्डा फहराया था। मेरे जाने के थोडे दिनों बाद ही वह खम्भा तोड़कर टुकडे-टुकड़े कर दिया गया, और मैसूर-सरकार ने झण्डे का प्रदर्शन जुर्म करार दे दिया। मैंने जिस झण्डे को फहराया था उसकी इतनी खराबी और बेइज्जती होने से मुझे बड़ा रज हुआ।

आज त्रावणकोर मे कॉंग्रेस ही गैरकानूनी सस्था करार दे दी गयी है और कॉंग्रेस का मेम्बर भी कोई नही बन सकता, हालाँकि ब्रिटिश भारत मे सविनय भग रुक जाने के बाद से वह कानूनी हो गयी है। इस तरह मैसूर और त्रावणकोर दोनों मामूली शान्तिपूर्ण राजनैतिक हलचल को भी कुचल रही है, और उन्होने वे सुभीते भी छीन लिये है जो पहले दे रक्खे थे। ये रियासते पीछे हट रही है। किन्तु हैदराबाद को पीछे जाने या सुविधायें छीनने की जरूरत ही न हुई, क्योकि वह आगे कभी बढी ही न थी और न उसने इस किस्म की कोई सुविधायें दी थी। हैदराबाद मे राजनैतिक सभायें कभी नही होती, और सामाजिक और धार्मिक सभायें भी सन्देह की दृष्टि से देखी जाती है, और उनके लिए भी खास इजाजत लेनी पड़ती है। वहाँ कोई भी अच्छे अखबार नही निकलते; और बाहर से बुराई के कीटाणु न आने देने के लिए हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों मे छपनेवाले बहुत-से अखबारों की रियासत मे रोक कर दी गयी है। बाहर के असर से दूर रहने की यह नीति इतनी सख्त है कि नरम

नीति के अखवारों की भी वहाँ मुमानियत है।

कोचीन मे हम 'सफेद यहूदी' कहानेवाले लोगो का मुहल्ला देखने गये, और उनके पुराने मन्दिर मे उनकी एक प्रकार की पूजा देखी। यह छोटा-सा समाज बहुत प्राचीन और बहुत अजीब है। इसकी तादाद घटती जा रही है। हमसे कहा गया कि कोचीन के जिस हिस्से मे वे रहते है, वह जेरूसलेम के समान था। निश्चय ही वह पुरानी बनावट का तो मालूम हुआ।

मलाबार के किनारे हमने कुछ ऐसे कस्बे देखे जिनमे ज्यादातर सीरियन मत के ईसाई बसे हुए थे। शायद इसका बहुत कम लोगो को खयाल होगा कि ईसाई-धर्म हिन्दुस्तान मे ईसा के बाद पहली सदी मे ही आ गया था, जबकि यूरप ने भी उसे नही ग्रहण किया था. और दक्षिण हिन्दुस्तान मे खूब मजबूती से जम गया था। हालाँकि इन ईसाइयो का बडा धर्माध्यक्ष सीरिया के एण्टियोक या और किसी कस्बे में है, मगर इनकी ईसाइयत ज्यादातर हिन्दुस्तानी चीज ही है और उसका वाहर से ज्यादा ताल्लुक नही है।

दक्षिण मे नेस्टेरियन मत के लोगों को भी एक बस्ती देखकर मुझे बडा ताज्जुब हुआ। उनके पादरी ने मुझे वताया कि उनकी तादाद दस हजार है। मेरा तो यह खयाल था कि ये लोग कभी के दूसरे मतो मे मिल चुके होगे, और मुझे यह पता न था कि कभी वे हिन्दुस्तान मे भी मौजूद थे। मगर मुझसे कहा गया कि एक समय हिन्दुस्तान मे उनके अनुयायी वहुत थे, और वे उत्तर मे बनारस तक फैले हुए थे।

हम हैदराबाद खासकर श्रीमती सरोजनी नायडू और उनकी लड-कियों, पद्मजा और लीलामणि, से मिलने गये थे। जिन दिनो हम उनके यहाँ ठहरे हुए थे, एक वार मेरी पत्नी से मिलने के लिए कुछ पर्दानशीन स्त्रियाँ उन्हीके मकान पर इकट्ठी हो गयी और शायद कमला ने उनके सामने भापण दिया। उसका भाषण सम्भवत पुरुषो के वनाये हुए कानूनो और रिवाजो के खिलाफ स्त्रियो के युद्ध के (जो उसका एक खास प्यारा विषय था) वारे मे था, और उसने स्त्रियों से कहा कि वे

पुरुषों से बहुत न दबे। इसके दो या तीन हफ्ते बाद इसका एक बड़ा दिलचस्प नतीजा निकला। एक परेशान हुए पति ने हैदराबाद से कमला को खत लिखा कि, आपके यहाँ आने के बाद से मेरी पत्नी का बर्ताव अजीब हो गया है। पहले की तरह वह मेरी बात नही सुनती, न मेरी बात मानती है; बल्कि मुझसे बहस करती है और कभी-कभी सख्त रुख भी अख्त्यार कर लेती है।

बम्बई से लका को रवाना होने के सात हफ्ते बाद हम फिर बम्बई आ गये, और मै फौरन ही काँग्रेस की राजनीति के भँवर मे कूद पडा। कार्य-समिति की बैठके कई जरूरी मामलों पर विचार करने के लिए होनेवाली थी—हिन्दुस्तान की स्थिति तेजी से बदलती और गभीर होती जाती थी, यू० पी० के किसानो का प्रश्न जटिल हो गया था, खान अब्दुल-गफ्फार खाँ के नेतृत्व मे सीमा-प्रान्त मे लालकुर्ती-दल की आश्चर्य-जनक प्रगति हुई थी, बगाल मे अत्यन्त विक्षोभ की दशा हो गयी थी, और उसमे क्रोध और सन्तोष अन्दर-ही-अन्दर बढ़ गया था, सदा मौजूद साम्प्रदायिक समस्या तो थी ही, और काग्रेस के लोगो और सरकारी अफसरों के बीच मे कई तरह के मामलो मे छोटे-छोटे कई स्थानीय झगडे खडे हो गये थे, जिनमे दोनों पक्ष एक-दूसरे पर दिल्ली-समझौते को तोडने का इलज़ाम लगाते थे। इसके अलावा यह सवाल भी बार-बार उठता था कि क्या काग्रेस गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे शामिल होगी? क्या गाधीजी को वहाँ जाना चाहिए?

: ३७ :

समझौता-काल में दिक्कतें

गाधीजी को गोलमेज-कान्फ्रेस के लिए लन्दन जाना चाहिए या नही ? यह सवाल बराबर उठता रहता था, और इसका कोई निश्चित जवाब नही मिलता था। आखिरी मिनट तक कोई भी नही जाता था, कॉंग्रेस-कार्य-समिति और खुद गाधीजी भी नही जानते थे। क्योंकि, जवाब का आधार तो कई बातो पर था, और नयी-नयी घटनाये परिस्थिति को निरन्तर बदल रही थी। इस सवाल और जवाब की तह मे असली और मुश्किल समस्याये खडी थी।

ब्रिटिश सरकार और उसके दोस्तों की तरफ से हमसे बराबर कहा गया कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स ने तो विधान की रूप-रेखा निश्चित कर ही दी है, चित्र की मोटी-मोटी रेखाये खिच चुकी है, और अब तो इनमे रग भरना ही बाकी रहा है। मगर काग्रेस ऐसा नही समझती थी और उसकी निगाह मे तो अभी सारी तस्वीर ही बनना बाकी थी, सो भी करीब-करीब कोरे कागज़ पर। यह तो सच था कि दिल्ली मे समझौते के द्वारा सघ-स्वरूप को आधार मान लिया गया था, और सरक्षणो या प्रतिबन्धो का विचार भी मजूर कर लिया था। मगर हममे से बहुत-से तो पहले से ही हिन्दुस्तान के लिए सघ-स्वरूप का विधान ही सबसे ज्यादा उपयुक्त समझते थे। और इस विचार को हमारे मान लेने का यह मतलब नही था कि हमने खास उस तरह का सघ भी मान लिया जिसकी रचना पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स ने की थी। राजनैतिक स्वाधीनता और सामाजिक-परिवर्तन के साथ भी सघ-स्वरूप पूरी तरह मेल खा सकता है। हॉं, सरक्षणों या प्रतिबन्धो के विचार का मेल बैठाना ज्यादा मुश्किल था और मामूली तौर पर उनके होने से स्वाधीनता मे काफी कमी आ जाती थी। मगर 'भारत के हित की दृष्टि से' इन शब्दों से हम इस कठिनाई से कम-से-कम थोडी हद तक तो निकल

सकते थे, फिर भी अच्छी तरह नही। कुछ भी हो, कराची-काग्रेस ने यह साफ कर दिया था कि हमे वही विधान मजूर हो सकेगा जिसमें फौज, वैदेशिक मामलों और राजस्व तथा आर्थिक नीति पर पूरा अधिकार दिया गया हो, और हिन्दुस्तान को विदेशों की (अर्थात् अधिकाश ब्रिटिशो की) देनदारी मजूर करने से पहले अपने कर्जे के प्रश्न की जाच करने का हक हो। इसके अलावा मौलिक अधिकारों सम्बन्धी प्रस्ताव ने भी बता दिया था, कि हम किन-किन राजनैतिक और आर्थिक तबदीलियो को करना चाहते हैं। ये सब बाते गोलमेज-काफ्रेंस के कई निश्चयों और हिन्दुस्तान की हुकूमत के मौजूदा ढाँचे के भी खिलाफ पडती थी।

काग्रेस और ब्रिटिश-सरकार के दृष्टिकोण मे भारी फर्क था, और अब इस अवस्था मे उनका दूर होना बहुत ही नामुमकिन मालूम होता था। करीब-करीब सभी काग्रेसवालों को गोलमेज-काफ्रेंस मे काग्रेस और सरकार के बीच किसी-भी बात पर एक-राय होने की उम्मीद नही थी, और गाधीजी को भी, हालाँकि वह हमेशा बडे आशावादी रहे हैं, कोई ज्यादा आशा न हो सकी। फिर भी वह कभी नाउम्मीद नही होते थे, और आखिरी हद तक कोशिश करने का इरादा रखते थे। हम सब महसूस करते थे, कि चाहे सफलता मिले या न मिले, मगर दिल्ली-समझौते के कारण एक बार प्रयत्न तो करना ही चाहिए। मगर दो जरूरी बाते थी, जिनके कारण हमारा गोलमेज काफ्रेंस मे हिस्सा लेना रुक सकता था। हम तभी जा सकते थे जबकि हमे गोलमेज-कान्फ्रेन्स के सामने अपना सम्पूर्ण दृष्टिबिन्दु रखने की पूरी आजादी रहे, और इसके लिए हमे यह कहकर कि यह मामला तो पहले ही तय हो चुका है, या और किसी सबब से, रोका न जाय। हिन्दुस्तान मे भी ऐसी परस्थिति हो सकती थी कि जिससे गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे हमारा प्रतिनिधि न जा पाता। यहाँ ऐमी हालत पैदा हो सकती थी कि जिससे सरकार से सघर्ष खडा हो जाता, या जिसमे हमे कठोर दमन का मुकाबिला करना पडता अगर हिन्दुस्तान मे ऐसा हो, और हमारा घर ही जल रहा हो, तो हमारे

किसी भी प्रतिनिधि के लिए यह बिलकुल नामुनासिब होता कि इस आग का खयाल न करके वह लन्दन मे जाकर विधान आदि पर कोरे पण्डितों की तरह बहस करे।

हिन्दुस्तान मे परिस्थिति तेजी से बदल रही थी। सारे देश मे ऐसा हो रहा था, खासकर बगाल, युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त मे। बगाल में तो दिल्ली के समझौते से कोई खास फर्क नही पडा, और तनाव जारी रहा, बल्कि और भी ज्यादा हो गया। सविनय-भग के कुछ कैदी छोड दिये गये। लेकिन हजारो राजनैतिक कैदी, जो नाम के लिए सविनय-भग के कैदी नही समझे जा सकते थे, जेल मे ही रहे। नजरबन्द भी जेलो या नजरबन्द-कैम्पो मे ही सडते रहे। राजद्रोहात्मक भाषणों या दूसरी राजनैतिक प्रवृत्तियो के कारण नयी गिरफ्तारियाँ अकसर हो जाती थी, और आमतौर पर यही महसूस हो रहा था कि सरकार की तरफ से हमला अब भी बन्द नही हुआ है, वह जारी है। काग्रेस के लिए आतकवाद के कारण बगाल की समस्या हमेशा बहुत ही कठिन रही है। काग्रेस की सामान्य प्रवृत्तियों और सविनय भग के मुकाबिले मे आतक-वादी हलचले तो बहुत थोडी और बहुत छोटी-सी रही है। मगर उनसे शोर ज्यादा मचता था, और उनकी तरफ ध्यान बहुत खिच जाता था। इन हलचलो से दूसरे प्रान्तो की तरह काग्रेस का काम होना मुश्किल हो गया था। क्योकि आतकवाद से ऐसा वातावरण पैदा हो जाता था कि जो शान्ति-पूर्ण लडाई के लिए माफिक न था। लाजिमी तौर पर इसके कारण सरकार ने सख्त-से-सख्त दमन किया, जोकि आतकवादी और गैर-आतकवादी बहुत-कुछ दोनो पर निष्पक्ष समानता से पडा।

पुलिस और मुकामी इन्तजामी अफसरो के लिए यह मुश्किल था कि वे खास कानूनो और आर्डिनेन्सो का (जो आतकवादियो के लिए बनाये गये थे) काग्रेसवालो, मजदूरो और किसानो के कार्यकर्ताओ और दूसरे लोगों पर, जिनकी प्रवृत्तियो को वे नापसन्द करते थे, उपयोग न करे। यह मुमकिन है कि कई नजरबन्दो का, जिन्हें अभीतक कई वर्षों से बगैर इलजाम लगाये, मुकदमा चलाये या सजा दिये बन्द रखा गया था,

असली कुसूर आतंकवादी प्रवृत्तियाँ नहीं थी, बल्कि दूसरी ही कोई प्रबल राजनैतिक प्रवृत्ति हो। उन्हें इसका मौका तक नही दिया गया कि वे अपनी सफाई दे सके, या कम-से-कम अपना अपराध तक मालूम कर सके। उनपर अदालतो मे मुकदमे इसलिए नही चलाये जाते कि कदाचित पुलिस के पास उन्हे सजा दिलाने लायक काफी सबूत नही है, हालाँकि यह सभी जानते है कि सरकार-विरोधी जुर्मो के लिए ब्रिटिश भारत के कानून आश्चर्यजनक रूप से व्यापक और भरे-पूरे है और उनके घने जाल मे से बच सकना मुश्किल है। यह अकसर होता है कि कोई आदमी अदालतों से बरी कर दिया जाता है, मगर फिर फौरन ही गिरफ्तार कर लिया जाता है और नजरबन्द बना लिया जाता है।

बगाल के एक पेचीदा सवाल के सबब से कांग्रेस-कार्य समिति के लोग अपनेको बडा लाचार अनुभव करते थे। वे हमेशा इससे परेशान रहते थे और किसी-न-किसी शकल मे बगाल का कोई-न-कोई मामला जरूर उनके सामने आता ही रहता था। जितना उनसे बनता था उतना उस बारे मे वे जरूर करते थे, मगर वे अच्छी तरह जानते थे कि इससे असली सवाल हल न होगा। इसलिए कुछ कमजोरी ही समझिए, वे जो-कुछ वहाँ होता था उसे वैसा ही ही चलने देते थे। और यह कहना भी मुश्किल है कि, उनकी जैसी परिस्थिति मे वे और कर भी क्या सकते थे? बगाल मे कार्य-समिति के इस रवैये पर बडा रोष रहा था, और वहाँ यह खयाल पैदा हो गया कि कांग्रेस-कार्य-समिति और दूसरे सब प्रान्त बगाल की परवा नही करते। मालूम होता था कि मुसीबत के वक्त मे सबने बगाल का साथ छोड दिया है। मगर यह खयाल बिलकुल गलत था, क्योकि सारे हिन्दुस्तान मे बगाल के प्रति सहानुभूति थी, लेकिन उसे यह नही सूझता था कि इस सहानुभूति को अमली मदद की शकल में कैसे जाहिर करे? इसके अलावा, हर प्रान्त के सामने अपने-अपने कष्टो का भी तो सवाल था।

युक्तप्रान्त मे किसानो की स्थिति खराब होती जा रही थी। प्रान्तीय सरकार इस सवाल पर टालमटोल करने की कोशिश कर रही

थी। उसने लगान और मालगुजारी के छूट के फैसले को आगे धकेल दिया, और जबरदस्ती लगान वसूली शुरू करदी। सामूहिक बेदखलियाँ और कुर्कियाँ होने लगी। जब हम लका मे थे तभी, जबरदस्ती लगान-वसूली की कोशिश के कारण, दो या तीन मुकामो पर किसानों के दगे हो गये थे। ये दगे थे तो मामूली-से ही, मगर वदकिस्मती से उनमे जमींदार या उनके कारिन्दे मर गये थे। गाधीजी युक्तप्रान्त के गवर्नर सर मालकम हेली से किसानो की परिस्थिति पर वातचीत करने नैनीताल गये थे (उस वक्त भी मै लका में ही था), मगर उसका कोई अच्छा नतीजा नहीं निकला। जब सरकार ने छूट की घोषणा की, तो वह उम्मीद से बहुत कम थी। देहात में लगातार चिरल-पों मचनें और बढनें लगी। ज्यो-ज्यो जमींदार और सरकार दोनो का मिलाकर दबाव बढता गया, और हजारो किसान अपनी जमीन से बेदखल किये जाने लगे, और उनकी छोटी-छोटी मिल्कियत छीनी जाने लगी, त्यो-त्यो ऐसी स्थिति पैदा होती गयी कि जिससे किसी भी दूसरे देश मे एक वडा किसान-विप्लव खडा हो सकता था। मेरा खयाल है कि यह काग्रेस की कोशिश का ही नतीजा था कि जिससे किसानो ने कोई हिंसात्मक कार्य नही किये। मगर खुद उनपर जो वल-प्रयोग हुआ उसका क्या पूछना!

किसानो के इस उभाड़ और मुसीवत में एक वात अच्छी थी। खेती की पैदावारो के भाव वहुत कम हो जाने से गरीव लोगो के पास, जिनमें किसान भी शामिल थे, अगर उनकी सम्पत्ति छिनी नही थी तो, पिछले कई सालो की वनिस्वत, ज्यादा खाद्य-सामग्री मौजूद थी।

वगाल की ही तरह, सीमाप्रान्त मे भी दिल्ली के समझौते से कोई शान्ति नहीं हुई। वहाँ विक्षोभ का वातावरण निरन्तर वना रहा। वहाँ की हुकूमत विशेष क़ानूनो और आर्डिनेन्सो और छोटे-छोटे कुसूरो पर भारी-भारी सजाओ के कारण एक फौजी हुकूमत के समान ही हो रही थी। इस हालत का विरोध करने के लिए खान अब्दुलगफ्फारखाँ ने वडा आदोलन उठाया, जिससे सरकार की निगाह में वह वहुत खटकने लगे। वह छ. फीट तीन इच ऊँचे पूरे पठान, अपनी मर्दानगी के साथ, गाँव-गाँव पैदल

जाते थे, और जगह्-जगह् 'लाल-कुर्ती' दल के केन्द्र कायम करते थे। जहाँ कही वह या उनके खास-खास साथी जात थे वहाँ-वहाँ वह लाल-कुर्ती-दल का एक सिलसिला बनाकर छोड़ जाते थे, और जल्दी ही सारे प्रान्त मे 'खुदाई खिदमतगार'की शाखाये फैल गयी। वे बिलकुल शातिपूर्ण थे, और उनके खिलाफ गोल-मोल आरोप लगाये जाने पर भी, आजतक हिंसा का कोई एक भी निश्चित अभियोग नही ठहर सका है। मगर चाहे वे शान्तिपूर्ण रहे हो या नही, उनका पूर्व-इतिहास तो युद्ध और हिंसा का रहा था, और वे उपद्रवी सीमाप्रदेश के पास बसे हुए थे इसलिए इस अनुशासन-युक्त आन्दोलन के, जिसका हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय-आन्दोलन से गहरा ताल्लुक था, तेज़ी से बढने के कारण सरकार घवरा गयी। मेरा खयाल है कि उसने इस आन्दोलन के शान्ति और अहिंसा के दावे पर कभी विश्वास नही किया। मगर, यदि उसने विश्वास भी कर लिया होता, तो भी उसके हृदय मे इसके कारण दशहत और झुँझलाहट ही पैदा हुई होती। इसमे उसे इतनी असली और भीतरी शक्ति दिखायी दी कि वह इसे शान्ति से देखती नही रह सकती थी।

इस बडे आन्दोलन के मुखिया, विला उज्र, खान अब्दुलगफ्फारखा ही थे—जिन्हें 'फख्रे-अफगान', 'फख्रे-पठान, 'गाधी-ए-सरहद' वगैरा नामो से याद किया जाने लगा। उन्होने सिर्फ अपने चुपचाप और एक-निष्ठ काम के वल पर, जिसमे न वह मुश्किलो से डरे न सरकारी दमन से, सीमाप्रान्त मे आश्चर्यजनक लोकप्रियता पा ली थी। जैसे कि राजनीतिज्ञ आम तौर पर हुआ करते हे उस तरह के राजनीतिज्ञ न वह थे, न है, वह सियासी चालाकियों और पैतरेवाज़ियो को नही जानते। वह तो एक ऊँचे और सीधे, शरीर और मन दोनों मे सीधे आदमी है। वह शोर-गुल और बहुत वकवास से नफरत करते है। वह हिन्दुस्तान की आजादी के ढाँचे के अन्दर अपने सीमाप्रान्तीय लोगो के लिए भी आज़ादी चाहते है, मगर विधानो और कानूनी वातों के वारे मे उनका दिमाग सुलझा हुआ नहीं है और न उनमे उन्हें कोई दिलचस्पी ही है। किसी भी चीज़ को पाने के लिए ज़ोरदार काम की ज़रूरत है,

और गाधीजी ने ऐसे शान्तिपूर्ण काम का एक बढिया तरीका, जो उन्हे जँच गया, बता ही दिया था। इसलिए ज्यादा बहस मे न पडते हुए, और अपने सगठन के लिए कायदो के मसविदे के फेर मे न पडते हुए उन्होने सीधा सगठन करना ही शुरू कर दिया और उसमे उन्हे खूब कामयाबी मिली।

गाधीजी की तरफ उनका रुझान खास तौर पर हो गया। पहले तो अपने-आपको पीछे ही रखने के लजीले स्वभाव के कारण वह उनसे दूर-दूर रहे। बाद मे कई मामलो पर बहस करने के लिए उन्हे उनसे मिलना पडा और उनका ताल्लुक बढा। यह ताज्जुब की बात है कि इस पठान ने अहिसा को उसूलन हममे से कई लोगो की बनिस्बत ज्यादा कैसे मान लिया ? और चूँकि उनका अहिसा पर पक्का यकीन था, इसी कारण वह अपने लोगो को समझा सके कि उभाडे जाने पर भी शान्ति रखने का बडा भारी महत्त्व है। यह कहना तो बिलकुल गलत ही होगा कि सीमा-प्रान्त के लोगों ने कभी भी या छोटी भी हिसा करने का विचार पूरी तरह से छोड दिया है, जैसा कि किसी भी प्रान्त के लोगो के बारे मे आम तौर पर यह कहना बिलकुल गलत होगा। आम जनता तो भावुकता की लहरो मे बहा करती है, और जब इस तरह की लहर उठ खडी हो तब वह क्या करेगी यह पहले से नही कहा जा सकता। मगर अपने-आप पर काबू और जब्त रखने की जो मिसाल सीमा-प्रान्त के लोगो ने १९३० मे और बाद के बरसो मे पेश की थी वह विलक्षण ही थी।

सरकारी अधिकारी और हमारे कई निहायत डरपोक देशवासी 'सरहदी गाधी' को शक की निगाह से देखते है। वे उनकी बातो का यकीन नही करते। उन्हे उनमे कोई छिपा हुआ षड्यन्त्र ही दिखायी देता है। मगर पिछले कुछ बरसों से वह और सीमा-प्रान्त के दूसरे साथी हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सो के काग्रेसी कार्यकर्ताओ के बहुत नजदीक आ गये है, और उनके बीच मे गहरा भाईचारा और परस्पर आदर और कद्रदानी का भाव पैदा हो गया है। खान अब्दुलगफ्फारखाँ को काग्रेस के लोग कई बरस से जानते और चाहते है। मगर वह महज

एक साथी ही नही है, उससे कुछ ज्यादा है। दिन-ब-दिन हिन्दुस्तान के बाकी हिस्सों मे लोग उनको एक बहादुर और निडर लोगों के, जो हमारे सर्व-सामान्य युद्ध में हमारे साथी है, साहस और बलिदान का प्रतीक समझने लगे है।

खान अब्दुलगफ्फारखाँ से पहचान होने के बहुत पहले ही मै उनके भाई डाक्टर खानसाहब को जानता हूँ।.जब मै केम्ब्रिज मे पढता था, तब वह लन्दन के सेण्ट टॉमस अस्पताल मे शिक्षा पाते थे, और बाद मे जब मै इनर टेम्पल के कानूनी विद्यालय मे पढता था तब मेरी-उनकी गहरी दोस्ती हो गयी थी। जब मै लन्दन मे रहता था, तो शायद ही कोई ऐसा दिन जाता हो जब हम आपस मे न मिलते हों। मै तो हिन्दुस्तान चला गया, मगर वह इग्लैण्ड में ही रह गये और महायुद्ध के जमाने मे डाक्टर की हैसियत से काम करते हुए कई बरसो तक वही रहे। इसके बाद मैने उन्हे नैनी-जेल मे देखा।

सीमा-प्रान्त के लालकुर्तीवालों ने काग्रेस के साथ सहयोग तो किया, लेकिन उनका अपना संगठन अलग ही था। यह एक विचित्र स्थिति थी। दोनो को जोडनेवाली कड़ी तो अब्दुलगफ्फारखॉ थे। १९३१ की गर्मियो मे इस सवाल पर कार्य-समिति ने सीमा-प्रान्त के नेताओ के परामर्श से यह तय किया कि लालकुर्तीवालो को काग्रेस का ही अग बना लिया जाय। इस तरह वे काग्रेस के एक जुज़ बन गये।

गाधीजी की इच्छा कराची-काग्रेस के बाद फौरन सीमा-प्रात मे जाने की थी, मगर सरकार ने ऐसा न होने दिया। बाद के महीनों मे जब सरकारी अधिकारियो ने लालकुर्ती दल की कार्रवाइयो की शिकायत की, तो उन्होंने ज़ोर दिया कि उनको वहाँ इन बातो का ख़ुद पता लगाने के लिए जाने की इजाज़त दी जाय, मगर उन्हे नही जाने दिया गया। न वहाँ मेरा जाना ही पसन्द किया गया। दिल्ली के समझौते को देखते हुए, हमने यह ठीक नही समझा कि हम सरकार की स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध सीमा-प्रान्त मे चले जायँ।

इन सवालो के अलावा, कार्य-समिति के सामने एक और मसला था,

साम्प्रदायिक। यह कोई नयी समस्या न थी, हालाँकि बार-बार यह नयी और अजीव शक्ल में सामने आती थी। गोलमेज़ कान्फ्रेन्स के सबब से इसे और भी महत्त्व मिल गया। क्योकि यह तो जाहिर था कि ब्रिटिश-सरकार इसीको सबसे आगे रक्खेगी, और दूसरी सब समस्याओ को इससे कम महत्त्व देगी। इस कान्फ्रेन्स के मेम्बर, जो कि सभी सरकार के नामजद किये हुए थे, खासकर इस तरह पसन्द किये गये थे कि जिससे साम्प्रदायिक और सामुदायिक स्वार्थों को महत्त्व दिया जा सके। सरकार ने खास तौर पर, और जोर के साथ, राष्ट्रीय मुसलमानो के किसी भी नेता को नामजद करने से ही इनकार कर दिया। गाधीजी ने महसूस किया कि अगर ब्रिटिश-सरकार के कहने से कान्फ्रेन्स बिलकुल शुरू मे ही साम्प्रदायिक सवाल मे उलझ गयी, तो असली राजनैतिक और आर्थिक सवालो पर काफी विचार न हो सकेगा। इस परिस्थिति मे उनके लन्दन जाने से कोई फायदा न होगा। इसलिए उन्होने कार्य-समिति के सामने यह बात पेश की कि लन्दन तभी जाना चाहिए जबकि सब सम्बन्धित दलो के बीच मे साम्प्रदायिक समस्या पर कोई समझौता हो जाय। उनकी यह सहज-बुद्धि बिलकुल ठीक थी, मगर कमिटी ने यह बात न मानी, और यह फैसला किया कि सिर्फ इसी आधार पर कि हम साम्प्रदायिक समस्या को तय नही कर पाये है, उन्हे जाने से इनकार न करना चाहिए। कमिटी ने विविध सम्प्रदायों के प्रतिनिधियो की सलाह से इस समस्या का हल ढूँढने की कोशिश भी की। मगर इसमे ज्यादा कामयाबी न मिली।

१९३१ की गर्मियो मे, छोटे-मोटे कई मसलो के अलावा, यही कुछ बडे प्रश्न हमारे सामने थे। सारे देश की मुकामी काग्रेस-कमिटियो से हमारे पास बराबर शिकायते आ रही थी कि मुकामी अफसरो ने फलाँ-फलाँ बात मे दिल्ली के समझौते को तोड दिया है। हमने उनमे से कुछ बडी-बडी शिकायते सरकार के पास भी भेज दी, और उधर सरकार ने भी काग्रेसवालों के खिलाफ समझौता तोडने के अपराध लगाये। इस तरह से एक-दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप किये गये, और बाद मे वे

अखबारो मे भी छाप दिये गये। यह कहने की ज़रूरत नही है कि इससे भी काग्रेस और सरकार के ताल्लुकात सुधरे नही।

फिर भी, इन छोटे-छोटे कई मसलो के सम्बन्ध मे सघर्ष खुद कोई बडा महत्त्व नही रखता था। इसका महत्त्व यही था कि इससे एकदूसरे बडे और मौलिक सघर्ष के बढने का पता लगता था। यह मौलिक सघर्ष व्यक्तियो पर निर्भर नही करता था, बल्कि हमारे राष्ट्रीय सग्राम के स्वरूप के कारण और हमारे ग्रामों की आर्थिक व्यवस्था मे असामञ्जस्य होने के कारण उत्पन्न हुआ था। इस सघर्ष को बिना बुनियादी परिवर्तन किये हटाना या कम करना मुमकिन नही था। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन मूल मे इसलिए शुरू हुआ था कि हमारे ऊपरी तह के मध्यम-वर्गों मे अपनी उन्नति और विकास का साधन प्राप्त करने की इच्छा पैदा हुई, और इसकी जड़ मे राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणा थी। यह आन्दोलन निचले मध्यम वर्गो मे फैल गया, और देश मे एक ताक़त बन गया; और फिर उसने देहात के लोगों को भी उठाना शुरू किया, जिन्हे आम तौर पर यह भी मुश्किल हो रहा था कि अपना सबसे निचली कोटि का दरिद्रतापूर्ण जीवन भी किसी तरह कायम रख सके। पुराने ज़माने की स्वावलम्बी ग्रामीण व्यवस्था कभी की मिट चुकी थी। सहायक घरेलू धन्धे भी, जो खेती के सहायक थे और जिनसे ज़मीन का बोझ कुछ कम हो जाता था, बर्बाद हो गये थे, कुछ तो सरकारी नीति के सबब से, मगर खासकर इस कारण कि वे मशीनो के व्यवसायो का मुकाबला नही कर सके। ज़मीन का बोझ बढने लगा, और हिन्दुस्तान के कारखानों की तरक्की इतनी धीमी हुई कि वह इसमे कुछ फर्क न कर सकी। और फिर ये गाँव, जो सब तरह से साधन-हीन और तरह-तरह के बोझो से लदे हुए थे, सहसा ससार के बाज़ारों के मुकाबिले मे डाल दिये गये, और इधर-से-उधर धक्के खाने लगे। बराबरी के नाते से विदेशो का मुकाबला कर नही सकते थे। उनकी उत्पत्ति के औजार पुराने ढग के थे, और जमीन के बँटवारे का तरीका उनका ऐसा था जिससे खेत बराबर छोटे-छोटे टुकड़ो मे बँटते जाते थे। कोई भी

आमूल सुधार होना नामुमकिन था। इसलिए कृषि करनेवाले वर्ग—जमीदार और काश्तकार दोनो ही—सिवा उन दिनो के जबकि भाव बहुत ऊँचे हो जाते थे, नीचे ही गिरते गये। जमीदारो ने अपने बोझ को काश्तकारों पर उतारने की कोशिश की, और किसानों के, छोटे जमीन-मालिको और काश्तकारो दोनो ही के, मुफलिस हो जाने के कारण वे राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ खिच आये। खेत-मजदूर भी, अर्थात् देहातो के ऐसे लोग जिनके पास जमीन नही थी और जिनकी तादाद बडी थी, इस तरफ आकर्षित हुए। इन देहाती वर्गों के लिए तो 'राष्ट्रीयता' या 'स्वराज' का मतलब यही था कि जमीन के बँटवारे की प्रणाली मे मौलिक परिवर्तन किया जाय, जिससे कि उनका बोझ दूर या कम हो जाय और भूमिहीन को भूमि मिल जाय। मगर राष्ट्रीय आन्दोलन मे पडे हुए किसानो या मध्यम-वर्गीय नेताओ मे किसीने भी इनकी इच्छाओ को साफ तौर पर जाहिर नही किया।

१९३० का सविनय-भग आन्दोलन, उद्योग-धन्धो और कृषि की बडी ससार-व्यापी मदी के बिलकुल मुआफिक बैठ गया, और इसका पता पहले तो उसके नेताओ को भी न लगा। इस मन्दी का असर देहाती जनता पर भी बहुत ज्यादा पडा था, इसलिए वे भी काँग्रेस और सविनय-भग की तरफ झुक पडे। उनका यह लक्ष्य नही था कि लन्दन मे या दूसरी किसी जगह बैठकर कोई अच्छा-सा विधान तैयार किया जाय, मगर उनका लक्ष्य, खासकर जमीदारी प्रदेश में, यह था कि भूमि-प्रथा मे बुनियादी तब्दीली की जाय। वास्तव मे यह मालूम होने लगा कि जमीदारी तरीका अब इस जमाने के लिए पुराना पड गया है, और उसमे कोई स्थिरता बाकी नही रही थी। मगर ब्रिटिश सरकार, अपनी मौजूदा परिस्थिति मे, इस भूमि-प्रणाली मे कोई बुनियादी तब्दीली करने की हिम्मत नही दिखा सकती थी। जब उसने एक शाही कृषि-कमीशन मुकर्रर किया था, तब भी उसके निर्देशो मे जमीन की मिल्कियत और भूमि-प्रणाली के परिवर्तन पर विचार करने की मनाई कर दी गयी थी।

इस तरह, उस समय सघर्ष मानों हिन्दुस्तान की परिस्थिति मे ही

छिपा था, और वह किसी प्रकार के लुभावने शब्दो या समझौते से दूर नही किया जा सकता था। दूसरे आवश्यक राष्ट्रीय प्रश्नो के अलावा ज़मीन के सवाल का बुनियादी हल निकालने से ही यह सघर्ष बच सकता था। यह हल ब्रिटिश-सरकार के मार्फत निकले, इसकी कोई सम्भावना न थी। आरजी इलाजो से बीमारी चाहे थोडी देर के लिए कम हो सके, और सख्त दमन के डर से चाहे लोग उसका इजहार करना बन्द कर दे, मगर दोनों बातो से सवाल का हल नही निकल सकता था।

मगर, मेरा खयाल है कि, ज्यादातर सरकारो की तरह ब्रिटिश-सरकार का भी यह विचार है कि हिन्दुस्तान मे ज्यादा गडबड 'आन्दोलनकारियों' के कारण है। मगर यह बिलकुल ही वाहियात खयाल है। पिछले पन्द्रह बरसो से हिन्दुस्तान के पास एक ऐसा नेता तो रहा है, जिसने अपने करोडो देशवासियों का स्नेह, श्रद्धा और भक्ति पायी है, और जो उससे कई तरह अपनी इच्छा भी मनवा लेता है। उसने उसके वर्तमान इतिहास मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है, मगर फिर भी उससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण तो वे आम लोग ही रहे है जो उसके आदेशो को मानो आँख बन्द करके मानते रहे है। आम लोग ही मुख्य अभिनेता थे, और उनके पीछे, उन्हे आगे धकेलने वाली, बडी-बडी ऐतिहासिक प्रेरणाये थी, जिन्होने लोगों को तैयार कर दिया और अपने नेता की बाँसुरी सुनने को मजबूर कर दिया। उस ऐतिहासिक परिस्थिति, और राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणाओ के अभाव मे, कोई भी नेता या आन्दोलनकारी उन्हे कोई भी काम करने की स्फूर्ति नही दे सकते थे। गाधीजी मे नेतृत्व का यही खास गुण था कि वह अपनी सजह-बुद्धि से आम लोगो की नब्ज पहचान सकते थे, और जान लेते थे कि किस प्रगति और काम के लिए कब परिस्थिति ठीक अनुकूल है?

१९३० मे हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ वक्त के लिए देश की बढती हुई सामाजिक शक्तियो के बिलकुल अनुकूल बैठ गया, जिससे उसे बडी ताकत मिल गयी। उसमे वास्तविकता मालूम होने लगी, और ऐसा लगने लगा कि मानो वह सचमुच इतिहास के साथ कदम-ब-कदम

आगे बढ रहा है। काग्रेस उस राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिनिधि थी, और उसकी प्रतिष्ठा बढनेसे मालूम होता था कि उसकी शक्ति और सत्ता बढ रही है। यह कुछ-कुछ अस्पप्ट, कुछ बे-अन्दाज, कुछ जवान से न वयान किया जाने जैसा तो था, किन्तु फिर भी वहुत-कुछ मौजूद तो था ही। नि सन्देह किसान लोग काग्रेस की तरफ झुके, और उन्होने ही उसकी असली शक्ति वनायी। निचले मध्यम-वर्ग ने उसे सबसे मजबूत सैनिक दिये। ऊपरी मध्यम-वर्ग ने भी, इस वातावरण से घबराकर, काग्रेस से दोस्ती वनाये रखने मे ही ज्यादा भलाई देखी। ज्यादातर सूती मिलो ने काग्रेस के वनाये इकरारनामो पर दस्तखत कर दिये, और वे ऐसे काम करने से डरने लगी जिनसे काग्रेस उनपर नाराज हो जाय। जब कुछ लोग लदन मे वैठे पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे अच्छे-अच्छे कानूनी मुद्दों पर वातचीत कर रहे थे, उस वक्त मालूम हो रहा था कि आम लोगो के प्रतिनिधि की हैसियत से काग्रेस के पास ही धीरे-धीरे और अनजान में असली ताकत जा रही है। दिल्ली के समझौते के वाद भी यह भ्रम बढता ही रहा; किन्ही अभिमान-भरे भापणो के कारण नही, वल्कि १९३० और वाद की घटनाओं के कारण। इसमे शक नही कि शायद काग्रेस के नेताओ को ही सवसे ज्यादा यह पता था कि सामने क्या-क्या कठिनाइयाँ और खतरे आनेवाले है, और इसलिए उनको मामूली न समझने की उन्होने पूरी फिक्र रक्खी।

देश मे वढनेवाली वरावर की दो समान सत्ताओं की हस्ती का अस्पष्ट भान कुदरती तौर पर सरकार को वहुत ही चुभनेवाला था। असल मे, इस धारणा के लिए कोई असली वुनियाद तो थी नही, क्योकि दृश्य सत्ता तो सोलहों आना सरकारी अधिकारियों के हाथ में ही थी, फिर भी लोगो के दिमागो मे उसका अस्तित्व था, इसमें तो शक नही। सत्तावादी और अ-परिवर्तनीय शासन-तन्त्र के लिए तो यह स्थिति चलने देना असम्भव था, और इसी विचित्र वातावरण से अधिकारी वेचैन हो गये, न कि ग्रामो के कुछ ऐसे-वैसे भापणो या जुलूसो से, जिनकी कि उन्होने वाद में शिकायत की। इसलिए सघर्प होना लाजमी ही दीखने लगा। काग्रेस

अपनी खुशी से आत्मघात नही कर सकती थी, और सरकार भी इस दुहेरी सत्ता के वातावरण को बरदाश्त नही कर सकती थी, और काग्रेस को कुचल डालने पर तुली हुई थी। यह सघर्ष दूसरी गोलमेज-कांफ्रेंस के सबब से रुका रहा। किसी-न-किसी कारण से, ब्रिटिश-सरकार गाधीजी को लदन बुलाने को बहुत उत्सुक थी, और इसीसे जहाँतक हो सके कोई भी ऐसा काम नही करती थी जिसमे उनका लन्दन जाना रुक जाय।

इसके बावजूद सघर्ष की भावना बढती ही गयी, और हमे दीखने लगा कि सरकार का रुख सख्त हो रहा है। दिल्ली के समझौते के बाद ही लार्ड अर्विन हिन्दुस्तान से चले गये और लार्ड विलिंगडन उनकी जगह वाइसराय बनकर आये। यह खबर फैलने लगी कि नया वाइसराय बडा सख्त और करारा आदमी है, और पिछले वाइसराय की तरह समझौते करनेवाला नही है। हमारे कई राजनैतिक पुरुषो मे, राजनीति के उसूलों की निगाह से न देखकर व्यक्तियो की निगाह से देखने की लिबरलो की तरह, आदत हो गयी है। वे यह नही समझते कि ब्रिटिश-सरकार की सामान्य साम्राज्यवादी नीति वाइसरायों की व्यक्तिगत रायो पर निर्भर नही रहती। इसलिए वाइसरायो के बदल जाने से कोई फर्क नही पड़ा, न पड सकता था। मगर, अमल मे यह हुआ कि परिस्थिति की गति-विधि के कारण सरकार की नीति भी धीरे-धीरे बदलती गयी। सिविल-सर्विस के उच्च अधिकारियो को काग्रेस के साथ समझौते या व्यवहार करने की बात पसन्द नही थी। शासन के सम्बन्ध मे उनकी सारी तालीम और सत्तावादी धारणाये इसके खिलाफ थी। उनके दिमाग मे यह खयाल था कि उन्होंने गाधीजी के साथ बिलकुल बराबरी का-सा बर्त्ताव करके काग्रेस के प्रभाव और गाधीजी के रुतबे को बढा दिया है, और अब यह वक्त है कि जब उनको थोडा-सा नीचा गिराया जाय। यह खयाल बडी बेवकूफी का था; मगर, हिन्दुस्तान की सिविल-सर्विस मे विचारों की मौलिकता तो कभी मानी ही नही गयी है। खैर, कुछ भी कारण हो, सरकार सख्ती से तन गयी और उसने अपना पजा और भी मजबूती से जमाया, और पुराने पैगम्बर के शब्दो मे मानो उसने हमसे

कहा कि 'मेरी छोटी अँगुली भी मेरे बाप की कमर से मोटी है; उसने तुम्हे कोडे लगवाये थे, तो मै तुम्हे बिच्छू से कटवाऊँगा।'[1]

मगर अ^ तोवा करने का वक्त नही आया था। अभी तो यही जरूरी समझा गया कि अगर मुमकिन हो, तो काग्रेस का प्रतिनिधि दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे जरूर जाय। वाइसराय और दूसरे अधिकारियो से लम्बी-लम्बी बातचीत करने के लिए गाधीजी दो बार शिमला गये। उन्होने उस समय उपस्थित कई सवालो पर बातचीत की, और बगाल के अलावा, जो सरकार को सबसे ज्यादा चिन्तित कर रहा मालूम पडता था, खासकर सीमा-प्रात के लालकुर्त्ती-दल-आन्दोलन और युक्तप्रान्त के किसानो की स्थिति इन दो विषयो पर बातचीत हुई।

शिमला मे गाधीजी ने मुझे भी बुलवा लिया था, और मुझे भारत-सरकार के कुछ अधिकारियो से मिलने के भी मौके मिले। मै सिर्फ युक्तप्रान्त के बारे में ही बातचीत करता था। बडी साफ-साफ बाते हुई और छोटे-छोटे आरोपो और प्रत्यारोपो की तह मे जो असली सघर्ष की बाते छिपी हुई थी उनपर भी बहस हुई। मुझे याद है कि मुझसे कहा गया, कि फरवरी १९३१ में ही सरकार की ऐसी स्थिति थी कि वह

---

१. ये शब्द बाइबिल के पुराने अहदनामे (१ किंग्ज, १२-१०) से लिये गये है। ये शब्द पैगम्बर के नहीं है, बल्कि प्राचीन यहूदी बादशाह के सलाहकार के है। सुलेमान बादशाह का लडका जब गद्दी पर बैठा तो प्रजा ने उससे जाकर प्रार्थना की—"हम आपके वफादार है, आपके वालिद के जमाने में जो जूआ हमारे कंधे पर था उसे बराय मेहरबानी हलका कर दीजिए।" बादशाह के पिता के वृद्ध सलाहकारो ने सलाह दी कि यह बात मजूर कर लेनी चाहिए। मगर उसके युवक सलाहकारों ने कहा ये लोग यो सीधे न होगे। इनसे आप कहिए—"मेरे बाप की कमर से मेरी छोटी अंगुली भी ज्यादा मोटी है। मेरे पिता के समय जूआ भारी था तो मै उसे और भारी कर दूंगा। उन्होनें तुम्हे कोडे लगवाये थे तो मैं तुम्हे बिच्छू से कटवाऊंगा।" —अनु०

ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने के अन्दर सविनय-भग के आन्दोलन को दवा सकती थी। उसने अपना सारा यत्र तैयार कर लिया था, और सिर्फ उसे चला भर देने की जरूरत थी, सिर्फ बटन दवा देने की आवश्यकता थी। मगर उसने यह सोचकर कि, अगर हो सके तो, बल-प्रयोग के बजाय आपस मे मिलकर समझौता कर लेना अच्छा होगा, आपसी बातचीत करके देखना तय किया था, और इसीका नतीजा था कि दिल्ली का समझौता हो गया। अगर समझौता न हुआ होता, तो बटन तो मौजूद था ही, और एक पल-भर मे दबाया जा सकता था। और इसमे यह भी इशारा मालूम होता था कि अगर हमने ठीक बर्ताव न किया तो फिर जल्दी ही बटन दबा देना पडेगा। यह सारी बात बड़ी आजिजी से और साफ-साफ कही गयी थी, और हम दोनों ही जानते थे कि हमारे बावजूद, और चाहे हम कुछ भी कहे या करे, सघर्ष होना तो लाजिमी था।

एक दूसरे ऊँचे अधिकारी ने काग्रेस की तारीफ भी की। उस वक्त हम ज्यादा व्यापक गैर-राजनैतिक ढग की समस्याओ पर विचार कर रहे थे। उसने मुझसे कहा कि, राजनीति के सवाल को छोड दे तो भी काग्रेस ने हिन्दुस्तान की वडी भारी सेवा की है। हिन्दुस्तानियों के खिलाफ आम तौर पर यह इलज़ाम लगाया जाता है कि वे अच्छे सगठन-कर्त्ता नही है, मगर १९३० मे काग्रेस ने भारी कठिनाइयो और विरोध के होते हुए भी एक आश्चर्यजनक सगठन कर दिखाया था।

जहाँतक गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे जाने का सवाल था, गाधीजी की पहली शिमला-यात्रा[1] का कोई नतीजा न निकला। दूसरी यात्रा[2] अगस्त के आखिरी हफ्ते मे हुई। जाने या न जाने का आखिरी फ़ैसला तो करना ही था, मगर फिर भी उन्हें हिन्दुस्तान छोड़ने का निश्चय करना मुश्किल हो गया। वगाल मे, सीमा-प्रान्त मे और युक्तप्रात मे उन्हे मुसीबत आती हुई दीख रही थी और जबतक उन्हे हिन्दुस्तान मे शान्ति रहने का आश्वासन न मिल जाय, वह जाना नही चाहते थे। अन्त मे[3] एक तरह

१-३ समझौते के बाद सन्धि-भंग के बारे में तीन बार गांधीजी शिमला गये थे—दुबारा शिमला जाने के बाद गांधीजी ने शिमला जाने का

का समझौता सरकार के साथ हो गया, जो एक वक्तव्य और परस्पर के पत्र-व्यवहार के रूप में था। यह बिलकुल ही आखिरी घडी में किया गया, ताकि वह उस जहाज से जा सके जिसमें गोलमेज-कान्फ्रेन्स के प्रतिनिधि जा रहे थे। वास्तव मे यह, एक तरह से बिलकुल ही अखिरी घडी में हुआ था, क्योंकि आखिरी ट्रेन छूट चुकी थी, शिमला से कालका तक एक स्पेशल ट्रेन तैयार करायी गयी, और कालका से छूटनेवाली गाडी पकडने के लिए दूसरी गाडियाँ रोक दी गयी।

मैं उनके साथ शिमले से वम्बई तक गया। और वहाँ अगस्त के एक सुन्दर प्रभात में मैंने उन्हे विदाई दी, और वह अरवी समुद्र और सुदूर पश्चिम की तरफ वढ चले। वस अगले दो साल तक के लिए मुझे यह उनका अन्तिम दर्शन था।

निश्चय किया। समझौते की शर्तें तोडी जा रहीं थीं, मगर शर्तें तोडी गयीं या नहीं इसका फैसला करनेवाली कोई निष्पक्ष अदालत तो थी नहीं। गांधीजी यह चाहते थे कि यदि शर्तें तोडी गई हो तो उनका परिमार्जन किया जाय, या ऐसी कोई अदालत नियुक्त की जाय। समझौते की शर्तों के खिलाफ युक्तप्रान्त और वारडोली में कर वसूल किया जा रहा था। दोनो जगह अन्याय और अत्याचार की घटनायें हुई थीं। आखिरकार तीसरी वार की शिमला-यात्रा में सरकार ने वारडोली के अत्याचारो की जाँच के लिए एक कमिटी मुकर्रर की और आगे के लिए कांग्रेस को यह छूट दी कि जहाँ कहीं ऐसी घटनायें हो वहाँ वह उसका प्रतिकार करे।

—अनु०

: ३८ :

गोलमेज़-परिषद्

एक अंग्रेज़ पत्रकार ने हाल ही में एक किताब लिखी है और उसका दावा है कि उसने गाधीजी को हिन्दुस्तान मे और लन्दन मे गोलमेज़-परिषद् मे बहुत काफ़ी देखा है। अपनी किताब मे उसने लिखा है—

"मुलतान नाम के जहाज़ मे जो लीडर बैठे हुए थे वे यह जानते थे कि गाधीजी के खिलाफ कार्य-समिति के भीतर एक साज़िश की गयी है और वे यह भी जानते थे कि वक्त आते ही कांग्रेस उन्हे निकाल फेंकेगी। लेकिन कांग्रेस गाधीजी को निकालकर गालिबन अपने आधे के करीब मेम्बरों को निकाल देगी। इन आधे मेम्बरों को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब लिबरल-पार्टी मे मिला लेना चाहते थे। वे इस बात को कभी नही छिपाते थे। उन्हीके लफ्जों मे गाधीजी का दिमाग साफ नही है, लेकिन अगर कोई मट्ठे दिमागवाला नेता अपने साथ दस लाख मट्ठे दिमागवाले अनुयायी आपको दे तो उनको अपनी तरफ करना अच्छा ही है।"[1]

---

१. ग्लोर्ने बोल्टन की The Tragedy of Gandhi नामक पुस्तक का यह उदाहरण मैंने उस किताब की एक आलोचना से लिया है, क्योंकि खुद किताब को पढ़ने का मौका अभीतक नहीं मिल पाया है। मुझे उम्मीद है कि मै ऐसा करके किताब के लेखक या जिन शख्सो का नाम उसमें आया है उनके साथ कोई ज्यादती नहीं कर रहा हूँ।

इतना लिखने के बाद मैंने किताब भी पढ़ ली। मि० बोल्टन के बहुत-से बयान और उन्होंने जो नतीजे निकाले हैं वे मेरे विचार से बिलकुल बेबुनियाद हैं। इसके अलावा कई वाकयात भी गलत दिये गये हैं। खासकर कमिटी ने दिल्ली-पैक्ट की बातचीत के दौरान में और उसके बाद क्या किया और क्या नहीं किया इस संबंधी घटनायें।

मुझे पता नही कि इस उद्धरण मे जो बाते कही गयी है वे सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब या गोलमेज-कान्फ्रेन्स के दूसरे मेम्बर के विचारो को, जो सन् १९३१ में लन्दन जा रहे थे, कहाँतक प्रकट करती है ? लेकिन मुझे यह बात जरूर आश्चर्यजनक मालूम होती है कि हिन्दुस्तान की राजनीति से थोडी-सी जानकारी रखनेवाला कोई शख्स, फिर चाहे वह अखबारनवीस हो या नेता, इस तरह की बात कह सकता है ! मै तो उसे पढकर दग रह गया, क्योकि, इससे पहले मैने किसीको इशारे में भी इस तरह की बात कहते हुए नही सुना । लेकिन इसमे ऐसी

उन्होने एक अजीब बात यह भी मान ली है कि १९३१ में सरदार वल्लभभाई पटेल को कांग्रेस की सदारत और उसके जरिये से उसकी रहनुमाई गांधीजी की प्रतिस्पर्धा में मिली, जबकि सच बात यह है कि पिछले पन्द्रह बरसो में कांग्रेस में और निस्सन्देह देश में भी गांधीजी की हस्ती कांग्रेस के किसी भी सदर से कही ज्यादा बडी हस्ती रही है । वह सभापति बनानेवाले रहे है और उनकी बात हमेशा लोगो ने मानी है । उन्होने खुद बार-बार सदर होने से इन्कार किया और यह पसन्द किया कि उनके कुछ साथी और लेफ्टिनेन्ट सदारत करे । मै तो कांग्रेस का सदर महज उन्हीकी बदौलत हुआ । वास्तव में वह चुन लिये गये थे, लेकिन उन्होंने अपना नाम वापस लेकर जबरदस्ती मुझे चुनवाया । वल्लभभाई का चुनाव भी मामूली तरीके से नहीं हुआ । हम लोग अभी-अभी जेल से निकले थे । अभी तक कांग्रेस-कमिटियाँ ग़ैर-कानूनी जमाते थी । वे मामूली तरीको पर काम नहीं कर सकती थीं इसलिए कराची-कांग्रेस के लिए सभापति चुनने का काम कार्य-समिति ने अपने ऊपर ले लिया । वल्लभभाई समेत सारी कमिटी ने गाधीजी से अर्ज की कि वह सदारत मंजूर कर लें और इस तरह जहाँ वह कांग्रेस के असली प्रधान है वहाँ पद के द्वारा भी प्रधान हो जायँ; खासकर आगामी नाजुक साल के लिए । लेकिन वह राजी नही हुए और इस बात पर जोर देते रहे कि वल्लभभाई को सदारत मंजूर कर लेनी चाहिए । मुझे याद है कि

कोई बात नही है जो समझ मे न आये, क्योंकि तभी से मै ज्यादातर जेल मे रह रहा हूँ ।

तो ये साज़िश करनेवाले शख्स कौन है और इनका मकसद क्या है ? कभी-कभी यह कहा जाता था कि मै और काग्रेस के सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल कार्य-समिति के मेम्बरों मे सबसे ज्यादा गरम स्वभाव के है, और मेरा खयाल है, इसलिए, साज़िश के नेताओं मे हम लोगो की भी गिनती होगी । लेकिन शायद गाधीजी का वल्लभभाई से ज्यादा सच्चा भक्त हिन्दुस्तान-भर मे दूसरा कोई न होगा । अपने काम मे वह

उस वक़्त उनसे यह कहा गया था कि आप हमेशा मुसोलिनी रहना चाहते है और दूसरों को, थोडे वक़्त के लिए, बादशाह यानी बराय-नाम अधिकारी बना देते है ।

एक छोटे-से फुटनोट में मिस्टर बोल्टन की दूसरी भी बहुत-सी वाहियात बातो का जवाब देना मुमकिन नहीं है, लेकिन एक मामले की बाबत, जो कुछ-कुछ ज़ाती-सा है, मै जरूर कुछ कहना पसन्द करूँगा । उनको इस बात का इत्मीनान-सा हो गया मालूम होता है कि मेरे पिताजी के राजनैतिक जीवन को पलट देनेवाली बात एक यूरोपियन क्लब में उनका मेम्बर न चुना जाना ही है, और एक इसी बात से न सिर्फ वह उग्र तरीकों के ही हामी हो गये बल्कि अंग्रेजो की सोसाइटी से भी वह दूर रहने लगे । यह कहानी जो अक्सर बार-बार दुहराई गई है, कतई ग़लत है । असली वाकयात की कोई ख़ास अहमियत नहीं, लेकिन उस रहस्य को दूर करने के लिए मै उन्हें यहाँ दिये देता हूँ । वकालात के शुरू दिनों में पिताजी को सर जान एज बहुत चाहते थे । वह उन दिनो इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे । सर जान ने पिताजी से कहा कि आप इलाहाबाद की यूरोपियन क्लब में शामिल हो जायें । उन्होंने कहा, मै खुद मेम्बरी के लिए आपके नाम का प्रस्ताव करूँगा । पिताजी ने उनकी इस मेहरबानी के लिए उनका शुक्रिया अदा किया, लेकिन साथ में यह भी कहा कि इसमें बखेड़ा ज़रूर होगा, क्योकि बहुत-से

कितने ही कडे और मज़बूत क्यो न हों, लेकिन गाधीजी के आदर्शो, उनकी नीति और उनके व्यक्तित्व के प्रति उनकी वडी भक्ति है। मैं जरूर इस वात का दावा नही कर सकता कि मैंने भी उसी तरह से इन आदर्शो को माना है, लेकिन मुझे वहुत नज़दीक रहकर गाधीजी के साथ काम करने का सौभाग्य मिला है। मेरे लिए उनके खिलाफ साज़िश करने का खयाल ही राक्षसी है। सच वात तो यह है कि कार्य-समिति के सभी मेम्वरो के वारे में यही वात सही है। वह कमिटी असल मे गाधीजी की वनाई हुई थी। अपने कुछ साथियों के सलाह-मशवरे से उन्होने इस

अंग्रेज मेरे हिन्दुस्तानी होनें की वजह से ऐतराज़ करेंगे और मुमकिन है कि मेरे ख़िलाफ वोट दें। कोई भी मामूली अफसर इस तरह मेरा नाम रद करा सकेगा, और ऐसी हालत में मैं चुनाव के झगडे में पड़ना नहीं पसन्द करूँगा। इसपर सर जान नें यह भी कहा कि मैं इलाहावाद रकवे की फ़ौज के कमाण्डर व्रिग्रेडियर जनरल से आपके नाम की ताईद करा दूंगा। लेकिन अख़ीर में यह ख़याल छोड़ दिया गया। मेरे पिताजी का नाम क्लव में नहीं पेश किया गया, क्योंकि उन्होंने यह वात साफ कर दी कि मैं वेइज्ज़ती का खतरा मोल लेने के लिए तैयार नहीं हूँ। इस घटना की वदौलत वह अग्रेजो के ख़िलाफ होने के वजाय सर जान एज के एहसानमन्द वन गये और उसके वाद के सालों में ही वहुत-से अंग्रेजो से उनकी दोस्ती तथा मेल मुहव्वत पैदा हुई। और यह सव तो हुआ १८९० से लेकर १८९९ के दर्म्यान, और पिताजी इसके कोई पच्चीस वर्ष वाद उग्र राजनैतिक और असहयोगी वनें। उनकी यह तवदीली एकाएक नहीं हुई, लेकिन पंजाव के फौजी कानून ने इस विधि को पूरा कर दिया। और ऐन मौके पर पडे गांधीजी के असर ने तो हालत वहुत ही वदल दी। इतनें पर भी अग्रेजो से मिलना-जुलना छोड़ने का, उनसे सव ताल्लुकात छोड़ने का उनका कोई इरादा नहीं था। लेकिन जहाँ ज्यादातर अंग्रेज अफसर हो वहाँ असहयोग और सविनय-भग से लाज़िमी तौर पर मिलना-जुलना वन्द हो जाता है।

कमिटी को नामजद किया था। उसके चुनाव की तो सिर्फ रस्म पूरी की गई थी। कमिटी के ज्यादातर मेम्वर तो उसके स्तम्भ-रूप थे—ऐसे जो उसमे सालों से रह चुके थे और करीव-करीव उसके हमेशा मेम्बर खयाल किये जाते थे। उनमें राजनैतिक मतभेद था, लेकिन वह स्वभाव व दृष्टि-कोण का मतभेद का था। और सालों तक एकसाथ और कधे-से-कधा मिलाकर काम करते-करते तथा एकसे खतरों का सामना करते हुए वे एक-दूसरे से हिलमिल गये थे। उनमे आपस मे दोस्ती, भाईचारा और एक-दूसरे के लिए आदर पैदा हो गया था। वे 'सयुक्त-मण्डल' न होकर एक इकाई, एक शरीर, थे और उनमे से किसीकी वावत यह सोचा तक नही जा सकता कि वह दूसरों के खिलाफ साज़िश करेगा। कमिटी मे गाधीजी की चलती थी और सब लोग रहनुमाई के लिए उन्हीकी तरफ देखते थे कई सालों से यही होता आ रहा था और सन् १९३० और उसके बाद १९३१ मे हमारी लडाई को जो बडी कामयावी मिली थी उसमे तो यह वात और भी ज्यादा बढ़ गयी थी। कार्य-समिति के गरम खयाल के मेम्बरो को उन्हे निकालने की कोशिश करने मे क्या मकसद हो सकता था? शायद यह सोचा जाता है कि उन्हे जल्दी समझौता करने के लिए राजी हो जानेवाला और इसलिए एक किस्म का वोझा समझा जाता हो। लेकिन उनके विना लडाई का क्या होता? असहयोग और सत्याग्रह का क्या होता? वह तो इस जीवित आन्दोलन के अग थे। वल्कि सच वात तो यह है कि वह खुद ही आन्दोलन थे। जहाँतक उस लड़ाई से ताल्लुक है, सब-कुछ उन्हींपर मुनहसिर था। विलाशक कौमी लड़ाई उनकी पैदा की हुई नही थी, न वह किसी शख्स पर मुनहसिर थी। उसकी जडे इससे ज्यादा गहरी थी। लेकिन लडाई का वह खास पहलू, जिसकी निशानी सविनय-भग थी, खास तौर पर उन्ही पर अवलम्वित था। उनके अलग होने के मानी थे इस आन्दोलन को वन्द करना और नयी नीव पर नये सिरे से इमारत खडी करना। यह काम किसी भी वक़्त काफी मुश्किल सावित होता, लेकिन १९३१ मे तो कोई उसका खयाल भी नही कर सकता था।

यह खयाल बडा ही मजेदार है कि कुछ लोगो की राय मे हम कुछ लोग १९३१ मे गाधीजी को काग्रेस से निकालने की कोशिश कर रहे थे। जब उनको जरा-सा इशारा करने से ही काम चल सकता था, तो फिर हमे उनके खिलाफ साजिश करने की क्या जरूरत थी ? ज्योही गाधीजी कभी ऐसी बात कहते कि मै काग्रेस से अलग होना चाहता हूँ त्योही तमाम कार्य-समिति और तमाम मुल्क मे तहलका मच जाता था। वह हमारी लडाई के एक ऐसे अग बन गये थे कि हम इस खयाल को भी बरदाश्त नही कर सकते थे कि वह हम से अलग हो जायँ। बल्कि हम लोग तो उन्हे लन्दन भेजने से हिचकिचाते थे, क्योकि उनकी गैरहाजिरी मे हिन्दुस्तान के काम का तमाम बोझ हमारे ऊपर आकर पडता था, और यह बात ऐसी न थी जिसको हम पसन्द करते। हम लोग उनके कन्धो पर तमाम बोझ डाल देने के आदी हो गये थे। कार्य-समिति के मेम्बरो को ही नही, उससे बाहर के बहुत-से लोगों को भी जो बन्धन गाधीजी से बाँधे हुए थे, वे ऐसे थे कि उनसे अलग होकर थोडे वक्त के लिए कुछ फायदा उठाने के बजाय वे उनके साथ रहकर नाकामयाब होना ज्यादा पसन्द करते थे।

गाधीजी का दिमाग साफ है या नही, इसका फैसला तो हम अपने लिबरल दोस्तो के लिए ही छोड देते है। हाँ, यह बात बिलकुल सच है कि कभी-कभी उनकी राजनीति बहुत आध्यात्मिक होती है। जो मुश्किल से समझ मे आती है। लेकिन उन्होने यह दिखा दिया है कि वह कर्मवीर है, उनमे आश्चर्यजनक साहस है और वह एक ऐसे शख्स है जो अकसर अपनी जिम्मेदारी को पूरा करके दिखा सकते है। और अगर 'दिमाग के साफ न होने' से इतने अमली नतीजे निकलते है तो शायद वह उस अमली राजनीति के मुकाबले मे बुरा साबित न होगा, जिसकी शुरुआत और जिसका खात्मा पुस्तके पढने और चुने हुए हलकों मे ही हो जाता है। यह सच है कि उनके करोडो अनुयायियो का दिमाग साफ नही था। वे राजनैतिक और शासन-विधानो की बाबत कुछ नही जानते। वे तो सिर्फ अपनी इनसानी, जरूरतो, खाना, घर, कपडों और

ज़मीन की बाते ही सोच सकते है।

मुझे यह बात हमेशा ही अचम्भे की मालूम हुई है कि मानव प्रकृति को देखने की विद्या को भली-भाँति सीखे हुए नामी विलायती अखबारनवीस किस तरह हिन्दुस्तान के मामलों मे गलती खा जाते है। क्या यह उनके बचपन की उस अमिट धारणा की वजह से है कि पूर्व तो बिलकुल दूसरी चीज है और उसको आप मामूली पैमानों से नही नाप सकते? या, अग्रेज़ो के लिए, यह साम्राज्य का वह पीलिया रोग है, जो उनकी आँखों को खराब कर देता है? कोई चीज कैसी भी अनहोनी क्यों न हो, उसपर वे करीब-करीब फौरन ही इत्मीनान कर लेगे, बिना किसी तरह का अचम्भा किये, क्योंकि वे समझते है कि रहस्य-भरे पूर्व मे हर बात मुमकिन हो सकती है। कभी-कभी वे ऐसी किताबे छापते है, जिनमे काफी योग्यतापूर्ण निरीक्षण होता है और तीव्र अवलोकन-शक्ति के नमूने भी, लेकिन बीच-बीच मे विलक्षण गलतियाँ भी होती है।

मुझे याद है कि जब गाधीजी १९३१ मे यूरप रवाना हुए तब, उसके बाद फौरन ही, मैंने पैरिस के एक मशहूर सवाददाता का एक मज़मून पढा। उन दिनों वह लन्दन के एक अखबार का सवाददाता था और वह लेख हिन्दुस्तान के बारे मे था। उस लेख मे एक ऐसी घटना का जिक्र था जो उसके कहने के मुताबिक १९२१ मे उस वक्त हुई जब असहयोग के दौरान मे प्रिंस ऑफ वेल्स ने दौरा किया था। उस लेख मे कहा गया था कि किसी जगह (गालिबन वह देहली थी), महात्मा गाँधी एकाएक, जैसे नाटक मे होता है, बिना इत्तिला किये हुए, युवराज के सामने जा पहुँचे और उन्होने अपने घुटने टेककर यूवराज के पैर पकड लिये तथा ढाड मार-मारकर रोते हुए उनसे विनती की कि इस अभागे देश को शान्ति दीजिए। हम किसीने, गाँधीजी ने भी, यह मजेदार कहानी कभी नही सुनी। इसलिए मैंने उस अखबारनवीस को एक खत लिखा[१]। उसने अफसोस ज़ाहिर किया, लेकिन साथ मे यह भी लिखा कि

---

१ यह अखबारनवीस है 'डेली हेरल्ड' के प्रतिनिधि श्री स्लोकोम्ब। गाँधीजी जब विलायत गये तब फ्रान्स में वह उनसे मिले थे और उन्होने

मैने यह कहानी बड़े विश्वस्त सूत्र से सुनी। जिस बात पर मुझे आश्चर्य हुआ वह यह थी कि उसने बिना किसी तरह की जाँच की कोशिश किये एक ऐसी कहानी पर इत्मीनान कर लिया जो जाहिरा तौर पर बिलकुल गैरमुमकिन थी और जिसका कोई भी शख्स, जो गाँधीजी, काँग्रेस या हिन्दुस्तान के बारे मे कुछ भी जानता था, इत्मीनान नही कर सकता था। बदकिस्मती से यह बात सही है कि हिन्दुस्तान मे बहुत-से ऐसे अग्रेज है जो यहाँ बहुत दिनो तक रहने के बाद भी काग्रेस या गाधीजी या मुल्क की बाबत कुछ नही जानते। कहानी कतई इत्मीनान के काबिल नही थी। वह बिलकुल बेहूदा थी उतनी ही बेहूदा जितनी यह कहानी होती कि केण्टरबरी के बड़े पादरी साहब एकाएक मुसोलिनी के सामने जा पहुँचे और सिर के बल खड़े होकर, हवा मे अपने पैर हिलाकर, उनको सलाम करने लगे।

हाल ही में एक अखबार में जो रिपोर्ट छपी है उसमें एक दूसरी किस्म की कहानी दी हुई है। उसमे कहा गया है कि गाधीजी के पास अपार दौलत है, जो कई करोड होगी। वह उनके दोस्तो के पास छिपी रक्खी है। काग्रेस उस रुपये को हड़पना चाहती है। काग्रेस को डर है कि अगर गाधीजी काग्रेस से अलहदा हो जायेगे तो वह दौलत उसके हाथ से निकल जायगी। यह कहानी भी सरासर बेहूदा है, क्योकि गाधीजी कभी किसी फण्ड को न अपने पास रखते है और न छिपाकर रखते है। जो कुछ रुपया वह इकट्ठा करते है, उसे सार्वजनिक सस्थाओं को दे देते है। ठीक-ठीक हिसाब रखने के मामले मे उनमें बनियों की-सी सहज-बुद्धि है, और उन्होने जितने चन्दे किये उनको खुलेआम आडिट कराया गया है।

काग्रेस ने सन् १९२१ मे एक करोड का जो मशहूर चन्दा किया था यह अफवाह गालिबन उसीकी कहानी पर हसर रखती है। यह रकम वैसे तो बहुत बड़ी मालूम होती है, लेकिन अगर हिन्दुस्तान-भर पर

गाधी से कुबूल किया था कि यह बात बिलकुल मनगढ़न्त थी और उसके लिए माफी भी माँगी थीं।

फैलायी जाय तो ज्यादा नही मालूम होगी। इस रकम को इस्तैमाल भी विश्वविद्यालय और स्कूल कायम करने, घरेलू धधों को तरक्की देने और खास तौर पर खद्दर की तरक्की के लिए, अछूत उद्धार के कार्यो मे तथा ऐसे ही दूसरी किस्मो के रचनात्मक कार्यो में किया गया था। उसमे से काफी तादाद ख़ास-खास स्कीमो के लिए कर दी गयी थी। फण्ड अवतक मौजूद है और जिन ख़ास कार्यो के लिए वे तय किये गये थे उन्हीमे लगाये जा रहे हैं। बाकी जो रुपया इकट्ठा हुआ था, वह मुकामी कमिटियों के पास छोड दिया गया था और वह काग्रेस के सगठन के काम मे तथा राजनैतिक कामो मे खर्च किया गया। असहयोग-आन्दोलन का काम इसी फण्ड से चला था और कुछ साल बाद तक काग्रेस का काम उसीसे चलता रहा। गाधीजी ने और मुल्क की गरीबी ने हमे यह सिखा दिया है कि बहुत थोडे-से रुपयों से भी अपना राजनैतिक आन्दोलन कैसे चलाना चाहिए ? हमारा ज्यादातर काम तो लोगो ने अपनी खुशी से विना कुछ लिये ही किया है। और जिस किसीको कुछ देना भी पडा है, तो सिर्फ उतना ही जितना पेट भरने को काफी हो। हमारे अच्छे-से-अच्छे ऐसे कार्य-कर्त्ताओं को, जो विश्व-विद्यालयो के ग्रेज्युएट है और जिन्हे अपने परिवार का पालन करना पडता है, जो तनख्वाहें दी गयीं वे उस भत्ते से भी कम है जो इग्लैण्ड मे वेकारो को दिया जाता है। पिछले पन्द्रह सालो के दौरान मे काग्रेस का आन्दोलन जितने कम रुपये से चला है, उतने कम रुपये से बड़े पैमाने पर और कोई राजनैतिक या मज़दूरों का आन्दोलन, मुझे शक है कि, किसी भी मुल्क मे शायद ही चलाया गया हो। और काग्रेस के तमाम फण्ड और उसका तमाम हिसाव खुलेआम हर साल आडिट होते रहे, उनका कोई हिस्सा गुप्त नही है। हाँ, उन दिनो की वात विलकुल दूसरी है जव सत्याग्रह की लडाई चल रही थी और काग्रेस गैर-कानूनी जमात थी।

गांधीजी गोलमेज़-परिपद् मे शामिल होने के लिए काग्रेस के एक-ात्र प्रतिनिधि की हैसियत से लन्दन गये थे। वड़ी लम्वी वहस के वाद ुम लोगो ने यही तय किया था कि किसी दूसरे प्रतिनिधि की ज़रूरत

नही। यह बात कुछ हद तक तो इसलिए की गयी कि हम यह चाहते थे कि हम ऐसे नाजुक वक्त मे अपने सब अच्छे आदमियो को हिन्दुस्तान मे ही रक्खे। उन दिनो हालात को बहुत होशियारी के साथ सम्हालते रहने की सख्त जरूरत थी। हम लोग यह महसूस करते थे कि लन्दन मे गोल-मेज़-कान्फ्रेन्स होने के बावजूद आकर्षण का केन्द्र तो हिन्दुस्तान मे ही था और हिन्दुस्तान मे जो कुछ होगा लन्दन मे उसकी प्रतिध्वनि जरूर होगी। हम चाहते थे कि अगर मुल्क मे कोई गडबड हो तो हम उसे देखे और अपने सगठन को ठीक हालत मे बनाये रक्खे। लेकिन सिर्फ एक प्रतिनिधि भेजने का हमारा असली कारण यही न था। अगर हम वैसा करना ज़रूरी और मुनासिब समझते तो हम बिलाशक दूसरे को भी भेज सकते थे, लेकिन हम लोगो ने जान-बूझकर ऐसा नही किया।

हम गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे इसलिए शामिल नही हो रहे थे कि हम विधान-सम्बन्धी छोटी-मोटी बातो पर ऐसी बाते और बहस करे जिनका कभी खात्मा ही न हो। उस अवस्था मे हमे इन तफसीलो मे कोई दिल-चस्पी नही थी। उनपर तो तभी गौर किया जा सकता था जब कि खास-खास बुनियादी मामलो मे ब्रिटिश-सरकार के साथ हमारा कोई सम-झौता हो जाता। असली सवाल तो यह था कि लोकतन्त्रीय हिन्दुस्तान को कितनी ताकत सौंपी जाने को थी। यह बात तय हो जाने के बाद राज़ीनामे का मसविदा बनाने और उसकी तफसीले तय करने का काम तो कोई भी वकील कर सकता था। इन मूल बातो पर काग्रेस की स्थिति बहुत साफ और सीधी थी और उसपर बहस करने का भी ऐसा ज्यादा मौका न था। हम लोगो को यह मालूम होता था कि हम लोगो के लिए यही गौरवपूर्ण रास्ता है कि हमारा सिर्फ एक ही प्रतिनिधि जाय और वह प्रतिनिधि हमारा लीडर हो। वह वहाँ जाकर हमारी स्थिति को साफ कर दे। यह बतावे कि हमारी स्थिति कितनी युक्ति सगत है और किस तरह उसको मजूर किये बिना गति नही है। अगर हो सके तो ब्रिटिश-सरकार को इस बात के लिए राजी करले कि वह काग्रेस की बात मान ले। हम जानते थे कि यह बात तो बहुत मुश्किल

थी, और उस वक़्त जैसी हालत थी उसको देखते हुए तो वह बिलकुल मुमकिन नही थी; लेकिन हमारे पास भी तो इसके सिवा कोई चारा न था। हम अपनी उस स्थिति को नही छोड़ सकते थे। न हम उन उसूलो और आदर्शों को ही छोड सकते थे जिनसे हम बँधे हुए थे और जिनमें हमें पूर्ण विश्वास था। अगर हमारी तकदीर सिकन्दर हो और इन बुनियादी बातो मे राज़ीनामे की कोई सूरत निकल आती तो बाकी बाते अपने-आप आसानी से तय हो जाती। बल्कि सच बात तो यह है कि हम लोगों मे आपस मे यह तय हो गया था कि अगर किसी तरह से ऐसा राजीनामा हो जाय तो गाधीजी हम कुछ को या कार्य-समिति के तमाम मेम्बरो को फौरन लन्दन बुला लेगे, जिससे कि हम वहाँ जाकर समझौते की तफसील तय करने का काम कर सके। हम लोगों को वहाँ जाने के लिए तैयार रहना था और ज़रूरत पडती तो हम लोग हवाई जहाजों मे उड़कर भी जाते। इस तरह हम बुलाये जाने पर दस दिन के अन्दर उनके पास पहुँच सकते थे।

लेकिन अगर बुनियादी बातो मे शुरू-शुरू मे कोई राज़ीनामा नही होता, तो आगे और तफसील मे, समझौते की बाते करने का सवाल ही नही पैदा होता। न काग्रेस के दूसरे प्रतिनिधियो को गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे जाने की कोई ज़रूरत पडती। इसीलिए हमने सिर्फ गाधीजी को ही वहाँ भेजना तय किया। कार्य-समिति की एक और सदस्य श्रीमती सरोजिनी नायडू भी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे शामिल हुई, लेकिन वह वहाँ काग्रेस की प्रतिनिधि होकर नही गयी थी। उनको तो वहाँ हिन्दुस्तानी स्त्रियों के प्रतिनिधि-स्वरूप बुलाया गया था और कार्य-समिति ने उन्हे इजाज़त दे दी कि वह इस हैसियत से उस कान्फ्रेन्स मे शामिल हो सकती है।

लेकिन ब्रिटिश सरकार का इस तरह का कोई इरादा न था कि इस मामले मे वह हमारी मर्ज़ी के मुताबिक काम करे। उसकी कार्य पद्धति तो यह थी कि परिषद् गौण और बेमतलब की छोटी-छोटी बातो पर चर्चा करके थक जाय तबतक मूल और असली सवालों पर विचार करने का काम टलता रहे। जब कभी बड़े-बड़े सवालो पर गौर भी हुआ तब सरकार

ने चुप्पी साध ली। उसने हाँ या ना करने से साफ इन्कार कर दिया और सिर्फ यह वादा किया कि सरकार अपनी राय बाद को अच्छी तरह सोच-विचार कर देगी। असल मे उसके पास तुरप का पत्ता तो था साम्प्रदायिक सवाल, और उसका उसने पूरा-पूरा इस्तैमाल किया। कान्फ्रेन्स में इसी सवाल का बोलबाला था।

कान्फ्रेन्स के ज्यादातर हिन्दुस्तानी मेम्बर सरकार की इन चालों के जाल मे फँस गये। ज्यादा तो राजी-खुशी से और कुछ थोडे-से मजबूरी से। कान्फ्रेस क्या थी, भानमती का कुनबा था। उसमे शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने अलावा किसी दूसरे का प्रतिनिधि हो। कुछ आदमी काबिल थे और मुल्क मे उनकी इज्जत भी थी, लेकिन बाकी बहुत-से लोगो की बाबत यह बात भी नहीं कही जा सकती। कुल मिलाकर राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से वे हिन्दुस्तान मे राजनैतिक उन्नति के सबसे ज्यादा विरोधी फिरको के प्रतिनिधि थे। ये लोग इतने फिसड्डी और प्रगति-विरोधी थे कि हिन्दुस्तान के लिबरल, जो हिन्दुस्तान मे बहुत ही माडरेट और फूँक-फूँककर कदम रखनेवाले माने जाते है, इनकी जमात मे वही तरक्की के बडे भारी हामी बनकर चमके। ये लोग हिन्दुस्तान मे ऐसे स्थापित स्वार्थ रखनेवालों के प्रतिनिधि थे जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से बँधे हुए थे और तरक्की और रखवाली के लिए उसीका भरोसा रखते थे। सबसे ज्यादा मशहूर प्रतिनिधि तो साम्प्रदायिक झगडों के सिलसिले मे जो 'छोटी' और 'बडी' जातियाँ थी उनके थे। ये टोलियाँ उन उच्च वर्गवालो की थी जो कुछ भी मानने को तैयार न थे और जो आपस मे कभी मिल ही नही सकते थे। राजनैतिक दृष्टि से वे हर किस्म की तरक्की के कतई मुखालिफ थे और उनकी महज़ एक दिलचस्पी थी कि किसी तरह अपने फिरके के लिए कुछ फायदे की बात हासिल करले, फिर चाहे ऐसा करने में हमे अपनी राजनैतिक उन्नति को भी छोडना पडे। बल्कि सच बात तो यह है कि उन्होंने खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान कर दिया था कि जबतक उनकी साम्प्रदायिक माँगे पूरी नही की जायँगी, तबतक वे राजनैतिक आज़ादी लेने को राजी

न होंगे। यह एक गैर-मामूली दृश्य था और उससे हमें बडे दु.ख के साथ यह बात साफ-साफ दिखायी देती थी कि एक गुलाम कौम किस हद तक गिर सकती है और वह साम्राज्यवादियो के खेल मे किस तरह शतरज का मोहरा बन सकती है। यह सही था। हाईनेसों, लार्डों, सरों और दूसरे बडे-बड़े अलकाबवाले लोगो की उस भीड़ की बाबत यह नही कहा जा सकता कि वह हिन्दुस्तान के लोगों के प्रतिनिधि है। गोलमेज-कान्फ्रेन्स के मेम्बर ब्रिटिश सरकार के नामज़द थे और अपनी दृष्टि से सरकार ने जो चुनाव किया था वह बहुत अच्छा किया था। फिर भी महज यह बात कि ब्रिटिश-अधिकारी हम लोगों का ऐसा इस्तैमाल कर सकते है, यह दिखाती है कि हम लोगो मे कितनी कमज़ोरियाँ है और हम लोग कैसी अजीब आसानी के साथ असली बातो से हटाकर एक-दूसरे की कोशिशो को बेकार करने के काम मे लगाये जा सकते है। हमारे उच्चवर्ग के लोग अभीतक हमारे साम्राज्यवादी शासकों की विचार-धारा से अभिभूत थे और वे उन्हीका खेल खेलते थे। क्या यह इसलिए था कि वे उनकी चालों को समझ नही पाते थे? या वे उसके असली मानों को समझते हुए, जानबूझकर उसे इसलिए मजूर कर लेते थे कि उन्हे हिन्दुस्तान मे आज़ादी और लोकतत्र कायम होने से डर लगता था?

यह तो ठीक ही था कि साम्राज्यवादी, माडलिकवादी, महाजन, व्यवसाय, और धार्मिक और साम्प्रदायिक लोगों के स्थापित स्वार्थो के इस समाज मे ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि-मडल का नेतृत्व हमेशा के मुताबिक आगाखाँ के हाथ मे रहे; क्योंकि वह कुछ हद तक इन सब स्वार्थो से स्वय सम्पन्न थे। कोई एक पुश्त से ज्यादा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से और ब्रिटिश शासक-श्रेणी से उनका बहुत नज़दीकी सम्बन्ध रहा है। वह ज्यादातर इग्लैण्ड में ही रहते है। इसलिए वह हमारे शासकों के स्वार्थो और उनके दृष्टिकोण को पूरी तरह समझ सकते है और उनका प्रतिनिधित्व कर सकते है। उस गोलमेज-कान्फ्रेंस मे साम्राज्यवादी इग्लैण्ड के वह बहुत काबिल प्रतिनिधि हो सकते थे। लेकिन आश्चर्य तो यह था कि वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि समझे जाते थे!

कान्फ्रेंस में हमारे खिलाफ पलडा बुरी तरह से लदा हुआ था, और यद्यपि हमे उससे कभी कोई उम्मीद न थी फिर भी उसकी कार्रवाइयो को पढ-पढकर हमे हैरत होती थी और दिन-दिन उससे हमारा जी ऊबता जाता था। हमने देखा कि राष्ट्रीय और आर्थिक समस्याओ की सतह को खरोचने की कैसे दयनीय और वाहियात ढग से मामूली कोशिश की जा रही है ? कैसे-कैसे पैक्ट और कैसी-कैसी साजिशे हो रही है ? कैसी कैसी चाले चली जा रही है ? हमारे ही कुछ देश-भाई ब्रिटिश अनुदार दल के सबसे ज्यादा प्रतिगामी लोगो से मिल गये है। टुच्चे-टुच्चे मामलो पर वाते चलती थी और सो भी खत्म ही न होती थी। जो असली वाते है उनको जानबूझकर टाला जा रहा है। ये प्रतिनिधि बडे बडे स्थापित स्वार्थों के और खासकर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के हाथ की कठपुतली बने हुए है। वे कभी तो आपस मे लडते-झगडते है और कभी एक-साथ बैठकर दावते खाते तथा एक-दूसरे की तारीफ करते है। शुरू से लेकर अखीर तक सब मामला नौकरियों का था। छोटे ओहदे, बडे ओहदे, हिन्दुओ के लिए कितनी नौकरियाँ और मेम्बरियाँ है तथा सिक्खो और मुसलमानो के लिए कितनी ? और एग्लो-इडियनों तथा यूरोपियनो के लिए कितनी ? लेकिन ये सब ओहदे ऊँचे दरजे के अमीर लोगो के लिए थे, जन-साधारण के लिए उनमे कुछ न था। समय साधुता (मौकापरस्ती) का दौर-दौरा था और ऐसा मालूम पडता था कि नये शासन-विधान मे टुकडे- पी जो शिकार था उसकी फिराके मे भिन्न-भिन्न गिरोह भूखे भेडियो की तरह घात लगाये फिरते थे। उनकी आजादी की कल्पना ने भी तो बडे पैमाने पर नौकरियाँ तलाश करने का रूप धारण कर लिया था। इसे ये लोग "भारतीयकरण" के नाम से पुकारते थे। फौज मे, मुल्की नौकरियों मे और दूसरी जगहो मे हिन्दुस्तानियो को ज्यादा नौकरियाँ मिले यही इनकी पुकार थी। कोई यह नही सोचता था कि हिन्दुस्तान के लिए आजादी की, असली स्वतन्त्रता की, भारत को लोकतन्त्री सत्ता सौपे जाने की, हिन्दुस्तान के लोगो के सामने जो भारी और जरूरी आर्थिक मसले मौजूद है उनके हल करने

की भी कोई ज़रूरत है ? क्या इसीके लिए हिन्दुस्तान में इतनी मर्दानगी से लड़ाई लडी गयी थी ? क्या हम सुन्दर आदर्शवाद और त्याग की दुर्लभ मलय-समीर को छोड़कर इस गन्दी हवा को ग्रहण करेगे ?

उस सुनहले भवन में और इतने लोगों की भीड में गाधीजी बिलकुल अकेले मालूम होते थे। उसकी पोशाक से, या उनकी कोई पोशाक ही न होने की वजह से, बाकी सब लोगो मे उन्हे आसानी से पहचाना जा सकता था। लेकिन उनके आस-पास अच्छे सजे-धजे लोगो की जो भीड बैठी हुई थी उसके विचार और दृष्टि-कोण मे तथा गाधीजी के ख़याल और उनके दृष्टि-विन्दु मे और भी ज्यादा फर्क था। उस कान्फ्रेन्स मे उनकी स्थिति निहायत ही मुश्किल थी। इतनी दूर बैठे-बैठे हम इस बात पर अचरज करते थे कि वह इसे कैसे बरदाश्त कर रहे है ? लेकिन आश्चर्य-जनक धीरज के साथ वह अपना काम करते रहे, और राज़ीनामे की कोई-न-कोई बुनियाद ढूंढने के लिए उन्होने कई कोशिशें कीं। एक विलक्षण बात उन्होने ऐसी की जिसने फौरन यह दिखला दिया कि किस तरह साम्प्रदायिक भाव ने दरअसल राजनैतिक प्रतिगामिता को अपनी ओट मे छिपा रखा था। मुसलमान प्रतिनिधियों की तरफ से कान्फ्रेन्स मे जो साम्प्रदायिक माँगे पेश की गयी थी उनको गाधीजी पसन्द नही करते थे। उनका खयाल था, और उनके साथी कुछ राष्ट्रीय विचार के मुसलमानो का भी यही खयाल था, कि इनमे से कुछ माँगे तो आजादी और लोकतत्र के रास्ते मे रोड़ा अटकानेवाली है। लेकिन फिर भी उन्होने कहा कि मै इन सब माँगों को 'विना किसी ऐतराज के मानने को तैयार हूँ, बशर्ते कि मुसलमान प्रतिनिधि राजनैतिक माँग यानी आज़ादी के मामले मे मेरा तथा काग्रेस का साथ दे।"

उनका यह प्रस्ताव ख़ुद अपनी तरफ से था; क्योंकि उनकी जैसी हालत थी, उसमे काग्रेस को वह किसी बात से नही बाँध सकते थे। लेकिन उन्होंने वादा किया कि मै काग्रेस मे इस बात के लिए ज़ोर दूंगा कि ये माँगे मान ली जायँ। और कोई भी शख़्स जो काग्रेस मे उनके असर को जानता था, इस बात में कोई शक नहीं कर सकता था कि

वह काग्रेस से उन माँगो को मनवाने मे कामयावी हासिल कर सकते थे। लेकिन मुसलमानों ने गाधीजी के इस प्रस्ताव को मजूर नही किया। सचमुच इस वात की कल्पना करना जरा मुश्किल है कि आगाखाँ साहव हिन्दुस्तान की आजादी के हामी हो जायँगे। लेकिन इससे इतनी वात साफ-साफ दिखायी दे गयी कि असली झगडा साम्प्रदायिक नही था, यद्यपि कान्फ्रेन्स मे साम्प्रदायिक प्रश्न की ही धूम थी। असल मे तो राजनैतिक प्रतिगामिता ही सब तरह की तरक्की के रास्ते को रोक रही थी और वही साम्प्रदायिक प्रश्न की आड मे छिपी हुई टट्टी की ओट से शिकार करती रही। कान्फ्रेन्स के लिए अपने नामजद प्रतिनिधियो का चुनाव वडी चालाकी से करके ब्रिटिश-सरकार ने इन उन्नति-विरोधी लोगो को वहाँ जमा किया था और कान्फ्रेन्स की कार्रवाई की गति-विधि अपने हाथ मे रखकर उसने साम्प्रदायिक सवाल को अहम और एक ऐसा सवाल वना दिया था जिसपर, आपस मे कभी न मिल सकनेवाले जो लोग वहाँ इकट्ठे हुए थे उनमे, कभी कोई राजीनामा नही हो सकता था।

इस कोशिश मे ब्रिटिश सरकार को कामयावी मिली और इस कामयावी से उसने यह सावित कर दिया कि अभीतक उसमे न सिर्फ अपने साम्राज्य को कायम रखने की वाहरी ताकत ही है, वल्कि कुछ दिनो तक और साम्राज्यवादी परम्परा को चला ले जाने के लिए चालाकी और कूटनीति भी उसके पास है। हिन्दुस्तान के लोग नाकामयाव रहे, यद्यपि गोलमेज-कान्फ्रेन्स न तो उनकी प्रतिनिधि ही थी, और न उसकी ताकत से हिन्दुस्तान के लोगो की ताकत का अन्दाजा ही लगाया जा सकता था। उनके नाकामयाव होने की खास वजह यह थी कि उनके पास उनके उद्देश्य के पीछे कोई विचार-धारा न थी, इसलिए उन्हे आसानी से अपनी असली जगह से हटाया तथा गुमराह किया जा सकता था। वे इसलिए असफल हुए कि वे अपने में इतनी ताकत नही महसूस करते थे कि वे उन स्थापित स्वार्थ रखनेवालो को धता वता दे जो उनकी तरक्की के लिए भार-स्वरूप वने हुए थे। वे असफल रहे, क्योकि उनमें मजहवी

पन की अति थी और उनके साम्प्रदायिक भाव आसानी से भडकाये जा सकते थे। थोड़ेसे में वे इसलिए असफल हुए कि अभीतक इतने आगे नही वढे हुए थे, न इतने मजवूत ही थे, कि कामयाव होते।

असल मे इस गोलमेज-कान्फेन्स मे तो सफलता या विफलता का सवाल ही न था। उससे तो कोई उम्मीद ही नही की जा सकती थी। फिर भी उसमे पहले से कुछ फर्क था। पहली गोलमेज-कान्फ्रेस थी तो अपने किस्म की सवसे पहली कान्फ्रेस, लेकिन हिन्दुस्तान मे वहुत ही कम लोगो का खयाल उसकी तरफ गया, और वाहर भी यही वात रही; क्योंकि उन दिनों सव लोगों का ध्यान सविनय भग की लडाई की तरफ था। व्रिटिश सरकार द्वारा जो नामजद उम्मीदवार १९३० मे कान्फेन्स मे शामिल होने गये, अक्सर उनके साथ-साथ काले झण्डे निकाले गये और विरोधी नारे लगाये गये। लेकिन १९३१ मे सव वाते वदल गयी थीं। क्यो? इसलिए कि उसमे गावीजी काग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से, जिसके पीछे करोड़ों लोग चलते है, उसमे शामिल हुए, इस वात से कान्फेन्स की शान जम गयी और हिन्दुस्तान ने दिलचस्पी के साथ रोज-वरोज उसकी कार्रवाइयों पर ध्यान दिया। और वजह जो कुछ भी हो, यह ज़रूर है कि इस कान्फ्रेस में जितनी असफलता हुई उससे हिन्दुस्तान की वदनामी हुई। अव हम लोगों की समझ मे यह वात साफ-साफ आ गयी कि व्रिटिश-सरकार गांधीजी के उसमे शामिल होने को इतना महत्त्व क्यों देती थी?

जहाँतक कान्फ्रेन्स से ताल्लुक है वहाँतक वह, जिसमें वहाँ होनेवाली साज़िशे, मौकापरस्ती और जाल-साज़ियाँ शामिल थीं, हिन्दुस्तान की विफलता नही कहला सकती। वह तो वनायी ही ऐसी गयी थी, जिससे असफल होती। उसकी नाकामयावी का कुसूर हिंदुस्तान के लोगों के मत्थे नही मढा जा सकता। लेकिन उसे इस वात में ज़रूर सफलता मिली कि उसने हिन्दुस्तान के असली सवालो से दुनिया का ध्यान हटा दिया और खुद हिन्दुस्तान मे उसकी वजह से लोगों की आँखे खुल गयी, उनका उत्साह मर गया तथा उन्होंने उससे अपनी ज़िल्लत-सी महसूस की।

उसने प्रतिगामी लोगो को फिर अपना सिर उठाने का मौका दे दिया।

हिन्दुस्तान के लोगो के लिए तो सफलता या असफलता खुद हिन्दुस्तान मे होनेवाली घटनाओ से हो सकती थी। हिन्दुस्तान मे जो मजबूत राष्ट्रीय हलचल हो रही थी वह लन्दन मे होनेवाली चालबाजियो से ठण्डी नही पड सकती थी। राष्ट्रीयता मध्यमवर्ग के लोगो और किसानो की असली और तत्कालिक जरूरतो को दिखलाती थी। उसीके जरिये वे अपने मसलो को हल करना चाहते थे, इसलिए उस हलचल की दो ही सूरते हो सकती थी—एक तो यह कि वह कामयाब होती, अपना काम पूरा कर देती और किसी ऐसी दूसरी हलचल के लिए जगह खाली कर देती जो लोगो को प्रगति और आजादी की सडक पर और भी आगे ले जाती, दूसरी यह कि कुछ वक्त के लिए उसे जबर्दस्ती दबा दिया जाता। असल मे कान्फ्रेन्स के बाद फौरन हिन्दुस्तान मे लडाई छिडने को थी और होनहार यह था कि वह कुछ वक्त के लिए बेबस बनकर खत्म हो। दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स का इस लडाई पर कोई ऐसा ज्यादा असर नही पड सका, पर उसने कुछ हदतक हमारी लडाई के खिलाफ आबोहवा जरूर बना दी।

: ३९ :

युक्तप्रान्त के किसानों में अशान्ति

कांग्रेस के एक प्रधानमंत्री और कार्यसमिति के एक मेम्बर की हैसियत से अखिल-भारतीय राजनीति से मेरा ताल्लुक रहता था, और कभी-कभी मुझे कुछ दौरा भी करना पडता था. हालाँकि जहाँतक हो सकता मै उसे टालता ही रहता था। जैसे-जैसे हमारा बोझ और जिम्मेदारियाँ ज्यादा-ज्यादा बढने लगी, वैसे-वैसे कार्यसमिति की बैठके भी ज्यादा-ज्यादा लम्बी होने लगी। यहातक कि वे लगातार दो-दो हफ्ते तक होती थी। अब सिर्फ नुकताचीनी के प्रस्ताव पास करना नही था, बल्कि एक बड़ी भारी, और कई तरह की प्रवृत्तियोवाली सस्था के अनेक और भिन्न-भिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यो का नियत्रण करना था, और दिन-ब-दिन मुश्किल सवालो का फैसला करना था, जिनके ऊपर देशभर की व्यापक लड़ाई या शान्ति निर्भर थी।

मगर मेरा खास काम तो युक्तप्रान्त मे ही था, जहाँ कि कांग्रेस का ध्यान किसानो की समस्या पर लगा हुआ था। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटि मे डेढ़सौ से ज्यादा मेम्बर थे, और उसकी बैठक हर दो या तीन महीने मे हुआ करती थी। उसकी कार्यकारिणी कौंसिल की, जिसमे पन्द्रह मेम्बर थे, बैठके अकसर होती रहती थी, और उसीके हाथ मे किसानो का महकमा था।

१९३१ के पिछले हिस्से मे इस कौंसिल ने किसान-संबंधी एक खास कमिटी मुकर्रर कर दी। यह जानने लायक बात है कि इस कौंसिल और इस कमिटी मे कई जमीदार बराबर शामिल रहे थे, और सब कार्रवाई उनकी राय से की जाती थी। वास्तव में, उस साल के हमारे प्रान्तीय कमिटी के सभापति (और इसलिए जो कार्यकारिणी कौंसिल और किसान कमिटी के अध्यक्ष भी थे) तसद्दुक अहमदखाँ शेरवानी थे, जो एक मशहूर ज़मीदार खानदान के थे। प्रधानमंत्री श्रीप्रकाशजी और कौंसिल के

दूसरे भी कई बडे-बडे मेम्बर ज़मीदार थे, या जमीदार घराने के थे। बाकी ऊँचा पेशा करनेवाले मध्यमवर्ग के लोग थे। हमारी प्रान्तीय कार्य-कारिणी मे एक भी काश्तकार या गरीब किसान प्रतिनिधि न था। हमारी ज़िला-कमिटियो मे किसान पाये जाते थे, मगर जिन कई चुनावो मे जाकर प्रान्त की कार्यकारिणी कौसिल बनती थी उनमे वे शायद ही कभी कामयाब हो पाते थे। इस कौसिल मे मध्यमवर्ग के पढे-लिखे लोगो की ही तादाद बहुत ज्यादा थी, और जमीदारो का भी बहुत प्रभाव था। इस तरह यह कौसिल किसी तरह भी 'गरम' नही कही जा सकती थी, और किसानो के सवाल पर तो निश्चय ही नही।

प्रान्त में मेरी हैसियत सिर्फ कार्यकारिणी कौसिल और किसान-कमिटी के एक मेम्बर की थी, इससे ज्यादा कुछ भी नहीं। सलाह-मशविरो या दूसरे काम-काज में मै खास हिस्सा लेता था, मगर किसी भी मानी मे सबसे प्रमुख भाग नही लेता था। वास्तव मे, किसीके भी बारे मे यह नही कह जा सकता था कि वह प्रमुख भाग लेता है, क्योकि सामूहिक और इकट्ठा कार्य करने की हमारी पुरानी आदत हो गयी थी, और व्यक्ति पर नही, सकट पर ही हमेशा ज़ोर दिया जाता था। हमारा सभापति हमारा तात्कालिक मुखिया रहता था, और हमारा प्रतिनिधि होता था, मगर उसे भी विशेष अधिकार न थे।

मुकामी तौर पर मै इलाहाबाद जिला काग्रेस कमिटी का भी मेम्बर था। इस कमिटी ने, अपने अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के नेतृत्व मे, किसान-समस्या की प्रगति में महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था। १९३० मे इस कमिटी ने ही प्रान्त में सबसे पहले करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया था। इसका कारण यह नही था कि इलाहाबाद जिले मे किसानो की हालत, भाव की मन्दी से सबसे ज्यादा खराब हो गयी थी, क्योकि अवध के तालुकेदारी हिस्से और भी ज्यादा खराब थे। मगर इलाहाबाद जिले का सगठन अच्छा था, और इसमें राजनैतिक चेतना ज्यादा थी, क्योकि इलाहाबाद शहर राजनैतिक हलचलो का एक केन्द्र था और आसपास के देहात मे बडे-बड़े कार्यकर्त्ता अक्सर जाया करते थे।

मार्च १९३१ के दिल्ली समझौते के बाद फौरन ही हमने देहात मे कार्यकर्त्ता और नोटिस भेज दिये थे, और किसानो को इत्तिला दे दी थी कि सविनय-भग और उसका आन्दोलन बन्द कर दिया गया है। राजनैतिक दृष्टि से उनके लगान अदा कर देने मे अब कोई रुकाट न थी, और हमने उन्हे सलाह भी दी थी कि वे अदा कर दे। मगर साथ ही हमने यह भी कह दिया कि इस भारी सस्ताई को देखते हुए हमारी राय यह है कि उन्हे काफी छूट हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। मामूली हालत मे भी लगान अक्सर एक असह्य बोझ ही होता था, फिर भारी मन्दी के ज़माने मे तो पूरा लगान या पूरी के करीब रकम देना तो बिलकुल ही असम्भव था हमने किसानों के प्रतिनिधियो के साथ सलाह-मशविरा किया, और आरजी तजवीज़ की कि आमतौर पर छूट पचास फीसदी होनी चाहिए, और कही-कही तो इससे भी ज्यादा।

हमने किसानों के सवाल को सविनय-भग के प्रश्न से बिलकुल अलग करने की कोशिश की। कम-से-कम १९३१ मे तो, हम उसपर आर्थिक दृष्टि से ही विचार करना चाहते थे, और उसे राजनैतिक-क्षेत्र से अलग रखना चाहते थे। मगर यह मुश्किल था, क्योकि दोनों किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे से गहरे जुड गये थे, और पहले से दोनो का गहरा साथ हो गया था। और काग्रेस-सगठन के रूप मे, हम लोग तो निश्चितरूप से राजनैतिक थे ही। कुछ समय के लिए तो हमने कोशिश की कि हमारी सस्था एक किसान-यूनियन (जिसपर नियन्त्रण गैर-किसानों और ज़मीदारो तक का था!) की तरह ही काम करे, मगर हम अपना राजनैतिक स्वरूप नही छोड सके, और न हमने छोडने की ख्वाहिश ही की और सरकार भी जो-कुछ हम करते थे उसे राजनैतिक ही समझती थी। सविनय-भग फिर होने की सभावना भी हमारे सामने थी, और अगर ऐसा हुआ तो इसमे शक नही कि अर्थ-नीति और राजनीति दोनों साथ-साथ मिलकर चलेगी।

इन ज़ाहिरा मुश्किलो से बावजूद, दिल्ली-समझौते के वक्त से हमेशा हमारी यह कोशिश रही कि किसानों के सवाल को राजनैतिक लड़ाई से

अलग रक्खा जाय। इसका असली सवव यह था कि दिल्ली-समझौते ने इसे वन्द नहीं कर दिया था, और यह वात हम सरकार और'आम लोगों को विलकुल साफ वता देना चाहते थे। दिल्ली की वातचीतो मे, मेरा खयाल है, गाँधीजी ने लॉर्ड अर्विन को यह भरोसा दिला दिया था कि अगर वह गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे न भी गये, तो भी जवतक कान्फ्रेन्स की वैठके होती रहेंगी, तवतक वह सविनय-भग फिर शुरू नही करेगे, वह काग्रेस से सिफारिश करेगे कि कान्फ्रेन्स को हर तरह का मौका दिया जाना चाहिए, और उसके नतीजे का इन्तजार करना चाहिए। मगर, तव भी गाधीजी ने यह साफ वता दिया था कि अगर किसी मुकामी आर्थिक लडाई के लिए हमे मजवूर किया जायगा, तो उसपर यह वात लागू न होगी। युक्तप्रान्त के किसानो की समस्या उस वक्त हम सवके सामने थी क्योकि वहा सगठित कार्य किया गया था। दर-असल तो सारे हिन्दुस्तान भर के किसानों की वैसी ही हालत थी। शिमला की वात-चीतो में भी गाधीजी ने इस वात को दोहराया था और उनके प्रकाशित पत्र-व्यवहार[1]

---

१. शिमला के २७ अगस्त १९३१ के समझौते में नीचे के खत भी शामिल थे:—

भारत-सरकार के होम सेक्रेटरी श्री इमरसन के नाम गांधीजी का पत्र

शिमला,

प्रिय श्री इमरसन, २७, अगस्त, १९३१

आपके आज की तारीख के खत के लिए, जिसके साथ नया मसविदा नत्थी है, धन्यवाद। सर कावसजी ने भी आपकी वताई तरमीमें भेजनें की कृपा की है। मेरे साथियो ने व मैंने संशोधित मसविदे पर खूब ग़ौर किया है, नीचे लिखे स्पष्टीकरण के साथ हम आपके संशोधित मसविदे को मंजूर करने को तैयार हैं—

पैरेग्राफ ४ में सरकार ने जो पोजीशन अख्तियार की है उसे काग्रेस की तरफ से मजूर करना मेरे लिए नामुमकिन है। क्योकि हम यह

मे भी इसका ज़िक्र किया गया था। यूरप रवाना होने के ठीक पहले ही उन्होंने साफ कर दिया था, कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स और राजनैतिक सवालों के बिलकुल अलावा भी कांग्रेस के लिए यह ज़रूरी हो सकता है कि वह आर्थिक लडाइयो मे लोगों के, और खासकर किसानों के, अधिकारो की रक्षा करे। ऐसी किसी लड़ाई में फँसने की उनकी इच्छा नही है। वह उसे टालना चाहते हैं; मगर यदि यह अनिवार्य ही हो

महसूस करते हैं कि जहां कांग्रेस की राय में समझौते के अमल में पैदा हुई शिकायत दूर नही की जाती वहाँ जाँच करना जरूरी हो जाता है। क्योंकि सविनय-भग आन्दोलन उसी वक्त के लिए मुल्तवी किया गया है, जबतक दिल्ली का समझौता जारी है। लेकिन अगर भारत-सरकार और दूसरी प्रांतीय सरकारे जाँच कराने को तैयार नही हैं, तो मेरे साथी और मै इस जुमले के रहने देने पर कोई ऐतराज न करेगे। इसका नतीजा यह होगा कि कांग्रेस अब से उठायें गये दूसरे मामलों के बारे में जाँच के लिए ज़ोर नहीं देगी, लेकिन अगर कोई शिकायत इतनी तीव्रता से महसूस की जा रही हो कि जाँच के अभाव में उसे दूर करने के लिए रक्षात्मक सीधी लड़ाई लड़ना जरूरी हो जाय, तो कांग्रेस, सविनय-भंग आन्दोलन के मुल्तवी रहते हुए भी, उसे करने के लिए स्वतन्त्र होगी।

मै सरकार को यह यकीन दिलाने की जरूरत नहीं समझता कि कांग्रेस की हमेशा यही कोशिश रहेगी कि सीधी लड़ाई से बचे और आपसी बातचीत और समझाने-बुझाने आदि उपायो से शिकायत दूर कराये। कांग्रेस की पोज़ीशन का ज़िक्र करना यहाँ इसलिए जरूरी हो गया है कि आगे कोई सम्भावित गलतफ़हमी या कांग्रेस पर समझौता उल्लंघन का आरोप न हो सके। मौजूदा बातचीत के सफल होने की हालत में मेरा ख़याल है कि यह विज्ञप्ति, यह पत्र और आपका जवाब एक साथ प्रकाशित कर दिये जायँ।

आपका

मो० क० गाधी

जाय, तो उसे हाथ मे लेना ही पडेगा। हम जनता को अकेला नही छोड सकते थे। वह यह मानते थे कि दिल्ली के समझौते से, जो सामान्य और राजनैतिक सविनय-भग से ताल्लुक रखता था, इसकी रोक नही की गयी है।

मै इसका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूँ कि युक्तप्रान्तीय काग्रेस-कमिटी और उसके नेताओ पर यह दोष बार-बार लगाया जाता रहा है कि उन्होंने करबन्दी-आन्दोलन फिर शुरू करके दिल्ली के समझौते को तोड दिया। आरोप करनेवालो को सुभीता यह था कि यह आरोप तब

गांधीजी के नाम श्री इमरसन का पत्र

शिमला

प्रिय गाधीजी, २७ अगस्त, १९३१

आज की तारीख के पत्र के लिए धन्यवाद, जिसमें आपने अपने पत्र में लिखे स्पष्टीकरण के साथ कम्यूनिक के मसविदे को मंजूर कर लिया है। कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल ने इस बात को नोट कर लिया है कि अब आगे से उठाये गये मामलो में जाँच पर जोर देने का इरादा काग्रेस का नहीं है। लेकिन जहां-आप यह आश्वासन देते हैं कि काग्रेस हमेशा सीधी लडाई से बचने और आपसी बातचीत, समझाने-बुझाने आदि तरीकों से ही अपनी शिकायत दूर करने की हमेशा कोशिश करेगी, वहां आप, आगे अगर कांग्रेस कोई कार्रवाई करने का निश्चय करे तो उसकी पोज़ीशन भी साफ कर देना चाहते हैं। मुझे यह कहना है कि कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल आपके साथ इस उम्मीद में शामिल है कि सीधी लड़ाई का कोई मौका नहीं आयगा। जहाँतक सरकार की आम पोज़ीशन की बात है मैं वाइसराय के १९ अगस्त के आपको लिखे हुए पत्र का निर्देश करता हूँ। मुझे कहना है कि उक्त कम्यूनिक, आपका आज की तारीख का पत्र और यह जवाब सरकार एक-साथ प्रकाशित कर देगी।

आपका

एच० डबलू० इमरसन

लगाया गया जब वे सब लोग जिनपर यह लगाया गया और जो इसका जवाब दे सकते थे, जेल में बन्द कर दिये गये थे और हर अखबार और प्रेस पर कडा सेन्सर बैठा हुआ था। इस हकीकत के अलावा कि युक्तप्रान्तीय कमिटी ने १९३१ मे कभी करबन्दी-आन्दोलन शुरू ही नही किया, मैं इस बात को साफ कर देना चाहता हूँ कि आर्थिक उद्देश्य से, सविनय-भग से अलग रहते हुए, ऐसी लडाई लड़ना भी दिल्ली के समझौते का भग नही होता। वह उसके कारणो को देखते हुए उचित था या नही, यह तो दूसरी बात थी; लेकिन जिस तरह किसी कारखाने के मजदूरो को अपने किसी आर्थिक कष्ट के कारण हड़ताल शुरू करने का हक होता है, उसी तरह किसानो को भी आर्थिक कारण से हडताल करने का अधिकार था। दिल्ली से शिमला तक बराबर हमारी यह स्थिति रही, और सरकार ने इसे समझ ही नही लिया था, बल्कि उसे वह ठीक भी मालूम हुई थी।

१९२९ और उसके बाद की कृषि-सम्बन्धी मन्दी से निरन्तर बिगड़ी हुई परिस्थिति हद दर्जे को पहुँच गयी थी। पिछले कई वर्षो से दुनियाभर में कृषि-सम्बन्धी भाव ऊँचे की तरफ चढते जा रहे थे, और हिन्दुस्तान की कृषि ने भी, जो दुनिया के बाजार से बँध चुकी थी, इस चढ़ाव मे हिस्सा लिया था। दुनियाभर के कारखानो और खेतों की तरक्की मे कोई तारतम्य न रहने के कारण सभी जगह कृषि-सम्बन्धी चीजो के भाव चढ गये थे। हिन्दुस्तान मे जैसे-जैसे भाव बढ़ते गये, सरकार की मालगुजारी और जमींदार का लगान भी बढता गया, जिससे कि असली खेती करनेवाले को इससे कुछ भी फायदा न हुआ। कुल मिलाकर किसानों की हालत, कुछ खासतौर पर अच्छे हिस्से को छोड़कर खराब ही हो गयी। युक्तप्रान्त मे लगान मालगुजारी की बनिस्बत बहुत तेजी से बढा; इन दोनो की सीधी वृद्धि, इस शताब्दी के पहले तीस वर्षो मे करीब-करीब (मै अपनी याद्दाश्त से ही कहता हूँ) ५ · १ थी। इस तरह हालाँकि जमीन से सरकार की आमदनी काफी बढ गयी, लेकिन जमीदार की आमदनी तो उससे भी बहुत ज्यादा

वढी और काग्तकार हमेशा की तरह रोटी का मोहताज ही रहा। यदि कही भाव गिर भी जाते थे. या कही वारिश न होना, वाढ आजाना, ओले और टिड्डी वगैरा जैसी मुकामी मुसीवते आ पडती, तव भी मालगुजारी और लगान की रकम वही रहती थी। अगर कुछ छूट भी हुई तो वहुत हिचकिचाहट के वाद थोडी-सी, सिर्फ उस फसलभर के लिए। अच्छी-से-अच्छी फसलो के वक्त भी लगान की दर वहुत ऊँची मालूम होती थी, तव दूसरे वक्त में तो साहूकार से कर्ज लिये विना उसकी अदायगी होना मुश्किल था। फलत किसानो का कर्जा वढता जा रहा था।

खेती से ताल्लुक रखनेवाले सभी वर्ग, जमीदार, मालिक, किसान और काश्तकार सभी वोहरो के, जो कि मौजूदा हालतों मे गाँवो की आदिम-कलीन व्यवस्था का एक आवश्यक कार्य कर रहे थे, फदे मे फँस गये। इस काम से साहूकारो ने खूव निजी फायदा उठाया, और उनका जाल जमीन पर और जमीन से सम्वन्ध रखनेवाले सभी लोगो पर फैल गया। उनपर वन्धन कोई नही थे। कानून उनकी मदद पर था, और अपने इकरारनामे के एक-एक लफ्ज को पकडकर वे अपने आसामियों को जरा भी नही वख्शते थे। धीरे-धीरे छोटे जमीदार, और मालिक-किसान दोनो के पास से जमीन उनके हाथो में आने लगी, और साहूकार ही वड़े पैमाने पर जमीन के मालिक, वडे जमीदार—जमीदार-वर्गीय—वन गये। मालिक-किसान, जो अभी तक अपनी ही जमीन पर खेती करता था, अव वनिया-जमीदारों या साहूकारो का करीव-करीव दास-किसान वन गया, जो केवल काश्तकार था उसकी हालत तो और भी खराव हो गयी। वह तो साहूकार का भी दास वन गया था, या वेदखल किये हुए भूमि-हीन मजदूरों की वढती हुई जमात में शामिल हो गया। ऋण-दाता—लेन-देन करनेवाले व्यक्तियो—का जो अव इस तरह जमीन-मालिक भी वन गये, जमीन से या काश्तकारो से कोई सजीव सम्पर्क नही था। वे आमतौर पर शहर के रहनेवाले थे, जहाँ वे अपना लेन-देन करते थे, और उन्होने लगान-वसूली का काम अपने

कारिन्दो के सुपुर्द कर दिया, जो इस काम को मशीनों की-सी सग-दिली और वेरहमी से करते थे।

किसानो की वढती हुई कर्ज़दारी ही खुद इस वात का सवूत थी कि जमीन की मिल्कियत की प्रणाली गलत और अस्थिर है। ज्यादातर लोगो के पास किसी किस्म की वचत न थी, न शारीरिक न आर्थिक-उनकी वरदाश्त करने की ताकत विलकुल न थी और वे हमेशा भूखे-नगे ही रहते थे। प्रतिकूल रूप की किसी भी असाधारण घटना के सामने वे टिक नही सकते थे। कोई आम बीमारी आ जाती, तो लाखो मर जाते थे। १९२९ और १९३० मे सरकार-द्वारा नियुक्त प्रान्तीय वैंकिग जाँच कमिटी ने अन्दाजा लगाया था कि (वर्मा-सहित) हिन्दुस्तान का कृषि-सम्वन्धी कर्ज़ा ८६० करोड रुपया था। इस आकडे मे जमीदारो, मालिक-किसानो और काश्तकारो का कर्ज़ा शामिल था, मगर मुख्यत. यह असली काश्तकारो का ही कर्ज़ा था। सरकारी आर्थिक नीति विलकुल साहूकारो के ही हक मे रही है, और इससे भी भारी कर्ज़े मे और वढती हुई है। इस तरह रुपये का अनुपात, हिन्दुस्तान का ज़वरदस्त विरोध होते हुए भी सोलह पेन्स के वजाय १८ पेन्स कर देने से किसानो का कर्ज़ १२½ फी सदी या लगभग १०७ करोड़ वढ गया[1]।

---

१. हिन्दुस्तान की कृषि-सम्वन्धी कर्ज़दारी ८६० करोड है; यह भी सम्भवतः वहुत कम अन्दाज़ा है और कम-सेकम, पिछले चार या पाँच वर्षो में, यह काफी ज्यादा वढ गया होगा। पंजाव प्रान्तीय वैंकिग-जाँच-कमिटी ने, १९२९ में, पंजाव का आँकड़ा १३५ करोड़ वताया था। लेकिन पंजाव ऋण-मुक्ति विल की सिलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट में (जो १९३४ में पेश की गयी थी) लिखा है कि "कृषको के कर्ज़े का वोझा वहुत भारी है, वहुत ही कम अन्दाज़ लगावे तो करीव २०० करोड रुपया होगा।" यह नया आँकड़ा वैंकिग-जाँच-कमिटी की रिपोर्ट के आँकडे से लगभग ५० फ़ीसदी ज्यादा है। अगर दूसरे प्रान्तों के लिए भी इसी हिसाव से वढ़ती मानी जाय तो सारे भारत की मौजूदा (१९३४ कृषि-कर्ज़दारी १२०० करोड़ से ज्यादा होगी।

लडाई के बाद के अचानक चढाव के बाद भाव धीरे-धीरे लेकिन लगातार गिरते ही चले गये, और देहात की हालत और खराब हो गयी। और इस सबके ऊपर १९२९ और बाद के वर्षों का सकट आ गया सो अलग।

१९३१ मे युक्तप्रान्त मे हमारा कहना यह था कि लगान चीजो के भावो के मुताबिक रहना चाहिए। यानी, पहले जिस समय १९३१ के बराबर भाव थे, उस वक्त के लगान के बराबर ही अब भी लगान हो जाना चाहिए। ये भाव लगभग तीस साल पहले, करीब १९०१ मे थे। यह एक मोटी कसौटी थी, और इससे परखना भी आसान नही था, क्योकि काश्तकार भी कई तरह के थे—जैसे, मौरूसी, गैर-मौरूसी, शिकमी वगैरा, और सबसे नीचे दर्जे के काश्तकारो पर ही मन्दी का सबसे ज्यादा असर पडा था। दूसरी कसौटी सिर्फ यही हो सकती थी, और यही सबसे मुनासिब भी थी कि खेती का खर्चा और निर्वाह-योग्य मजदूरी निकालकर कितनी रकम देने की ताकत काश्तकार की रहती है। मगर इस पिछली कसौटी से जाचने पर जीवन-निर्वाह के खर्च कितने भी कम क्यो न माने जायँ, हिन्दुस्तान मे बहुत ज्यादा खेत ऐसे निकलेगे जो बे-मुनाफा है, और जैसा कि हमने १९३१ में युक्तप्रान्त मे मिसालो से साबित किया था, कई काश्तकार तो अपना लगान अदा कर ही नही सकते थे, जबतक कि वे अगर उनके पास बेचने को कुछ जायदाद हो तो अपनी जायदाद न बेचे या ऊँची दरो पर कर्ज न ले।

हमारी युक्तप्रान्तीय काग्रेस कमिटी की पहली और आरजी तजवीज यह थी कि सब मौरूसी काश्तकारो के लिए ५० फीसदी आम छूट होनी चाहिए, और जिन काश्तकारो की हालत और भी खराब है उनके लिए इससे भी ज्यादा छूट दी जाय। जब मई १९३१ में गाधीजी युक्तप्रान्त मे आये थे और गवर्नर सर मालकम हेली से मिले, तो उनमे मतभेद पाया गया, और उनकी राय एक न हो सकी। इसके बाद ही उन्होंने युक्तप्रान्त के जमीदारो और काश्तकारो के नाम अपीले निकाली थी। पिछली अपील में उन्होने काश्तकारो से कहा कि, उनसे

जितना बन सके वे अदा करदें। उन्होंने एक आँकड़ा भी बताया, जोकि हमारे पहले बताये आँकड़ो से कुछ ऊँचा था। हमारी प्रान्तीय कमिटी ने गांधीजी का ही आँकडा मंजूर कर लिया, मगर इससे मामला सुलझा नही, क्योकि सरकार उसपर राज़ी नही हुई।

प्रान्तीय सरकार एक कठिन परिस्थिति मे थी। मालगुज़ारी ही उसकी आमदनी का बडा ज़रिया था, और अगर वह इसे बिलकुल उड़ा देती है या बहुत कम कर देती है तो उसका दिवाला ही निकल जाय। मगर, साथ ही उसे किसानो के उभड पडने का भी काफी अन्देशा था, और जहाँतक हो सके वह उन्हे काफी लगान की छूट देकर तसल्ली भी देना चाहती थी। लेकिन दोनो तरफ फायदे मे रहना आसान न था। सरकार और किसानो के बीच में ज़मीदारवर्ग खडा था, जोकि आर्थिक दृष्टि से बेकार और गैर-ज़रूरी वर्ग था, और यदि इस वर्ग को नुकसान पहुँचाना गवारा किया जाय तो सरकार और किसान दोनो को रक्षण और सहायता मिल सकती थी। मगर ब्रिटिश-सरकार अपनी मौजूदा परिस्थिति मे राजनैतिक कारणों से उस वर्ग को नाराज़ नही कर सकती थी, क्योंकि जो वर्ग उसका पल्ला पकड़े हुए थे, उनमें एक वह भी है।

आखिर प्रान्तीय सरकार ने ज़मीदार और काश्तकार दोनों के लिए ही छूट की घोषणा की। यह छूट कुछ बड़े पेचीदा तरीके पर दी गयी थी, और पहले तो यही समझना मुश्किल था कि कितनी छूट दी गयी है। मगर यह तो साफ ज़ाहिर था कि यह बहुत ही नाकाफी थी। इसके अलावा छूट चालू किस्त के लिए ही घोषित की गयी, और किसानो के पिछले बकाया कर्ज़ के बारे मे कोई भी बात नही कही गयी। यह तो ज़ाहिर था, कि अगर काश्तकार मौजूदा आधे वर्ष का लगान देने मे असमर्थ है, तो वह पिछला बकाया या कर्ज़ा चुकाने मे तो और भी ज्यादा असमर्थ होगा। हमेशा ही ज़मींदारों का कायदा यह रहा था कि जितनी भी वसूली होती थी, वे पिछले बकाये में जमा किया करते थे। काश्तकार की दृष्टि से यह तरीका खतरनाक था, क्योंकि किस्त का कुछ-न-कुछ हिस्सा बाकी रह जाने की बिना पर उसके खिलाफ, चाहे

जब, मुकदमा दायर किया जा सकता था, और उसकी जमीन जब चाहे छीनी जा सकती थी।

प्रान्तीय काग्रेस-कार्यकारिणी बहुत ही कठिन स्थिति मे पड़ गयी। हमे विश्वास था कि काश्तकारो के साथ बहुत अनुचित बर्ताव हो रहा है, मगर हम कुछ न कर सकते थे। हम किसानो से यह कहने की ज़िम्मेदारी नही लेना चाहते थे कि वे अदायगी न करे। हम बराबर यही कहते रहे कि उनसे जितना बन सके उतना वे अदा कर दें, और आम तौर पर उनकी मुसीबतो मे उनके साथ हमदर्दी दिखाते और उन्हे हिम्मत बँधाने की कोशिश करते रहे। हम उनकी इस बात से सहमत थे, कि छूट कम करने पर भी किस्त की रकम उनकी ताकत के बाहर है।

अब बल-प्रयोग की मशीन, कानूनी और गैरकानूनी दोनो तरह से, चलने लगी। हजारों की तादाद मे बेदखली के मुकदमे दायर होने लगे; गाय, बैल और ज़ाती मिल्कियत कुर्क होने लगी; जमीदारो के कारिन्दे मारपीट करने लगे, बहुत से किसानो ने किस्त का कुछ हिस्सा जमा करा दिया। उसकी राय मे, उनकी इतना ही देने की ताकत थी। बहुत मुमकिन है कि कुछ लोग थोडा और दे सकते हो, लेकिन यह बिलकुल ज़ाहिर था कि ज्यादातर किसानो के लिए तो यह भी भारी बोझ था। मगर इस थोडी-सी अदायगी के कारण वे बच नही सके। कानून का एंजिन तो आगे बढता और रास्ते मे जो कुछ आया उसे कुचलता ही गया। हालांकि किस्तो का थोडा हिस्सा चुका दिया गया था, फिर भी इजराय डिग्री जारी हो गयी और पशुओ और व्यक्ति-गत सम्पत्ति की कुर्की और नीलाम जारी रहा। अगर काश्तकार कुछ भी न देते, तो भी उनकी हालत इससे ज्यादा खराब न हो सकती थी। बल्कि, उतना रुपया बचा लेने से उनकी हालत कुछ अच्छी ही रहती।

वे बडी तादाद मे हमारे पास ज़ोरदार शिकायत करते हुए आते थे, और कहते थे कि हमने आपकी सलाह मान ली और जितना हमसे बन सकता था उतना हमने अदा कर दिया, फिर भी यह नतीजा हुआ है। अकेले इलाहाबाद ज़िले में ही कई हज़ार काश्तकार बेदखल कर दिये

गये थे, और कई हजारो के खिलाफ कोई-न-कोई मुकदमा दायर कर दिया गया था। जिला कांग्रेस कमिटी का दफ्तर दिनभर परेशान काश्तकारो से घिरा रहता था। मेरा घर भी इसी तरह घिरा रहता था, और अक्सर मुझे लगता था कि मै यहाँ से भाग जाऊँ और कही छिप जाऊँ, जहाँ यह भयकर दुर्दशा दिखाई न दे। कई काश्तकारो पर, जो हमारे यहाँ आते थे, चोट के निशान थे, जो जमीदारो के कारिन्दो की मार के थे। हमने उनका अस्पताल मे इलाज करवाया। वे क्या कर सकते थे? और हम क्या कर सकते थे? और हमने युक्त-प्रान्तीय सरकार के पास बडे-बडे पत्र भेजे। हमारी कमिटी ने नैनीताल या लखनऊ मे प्रान्तीय-सरकार से सम्पर्क रखने के लिए श्री गोविन्दवल्लभ पन्त को अपनी तरफ से मध्यस्थ बनाया था। वह सरकार को निरन्तर लिखते रहे, हमारे प्रांतीय अध्यक्ष, तसद्दुक अहमदखाँ शेरवानी भी लिखते रहे, और मै भी लिखता था।

जून-जुलाई की बारिश नजदीक आने से एक और कठिनाई सामने आयी। यह खेत जोतने और बोने का मौसम था। क्या बेदखल किसान बेकार बैठे रहें और अपने सामने अपनी जमीन खाली पडी देखते रहे? किसान के लिए यह बडा मुश्किल था। यह तो उसकी आदत के खिलाफ था। कई लोगो की बेदखली सिर्फ कानूनी लिहाज से हो गयी थी, उन्हे दरअसल हटा नही दिया था। सिर्फ अदालत का फैसला हो गया था, इसके अलावा और कुछ नही हुआ था। इस हालत में क्या वे जमीन जोत डाले और इस तरह मदाखलत बेजा का जुर्म कर ले, जिसमे शायद छोटे-मोटे दगे की भी सभावना हो जाय? यह देखना भी किसान के लिए मुश्किल था कि उसकी पुरानी जमीन को कोई दूसरा जोत ले। वे सब हमसे सलाह माँगने को आते थे। हम उन्हें क्या सलाह दे सकते थे?

गर्मियो में जब मै गाधीजी के साथ शिमला गया तो, मैने यह कठिनाई भारत-सरकार के एक ऊँचे अधिकारी के सामने रक्खी, और उनसे पूछा कि अगर वह हमारी स्थिति मे होते तो क्या सलाह देते? उनका जवाब आँखें खोल देनेवाला था। उन्होने कहा कि 'अगर कोई किसान,

जिसकी ज़मीन छिन गयी है, यह सवाल मुझसे पूछे तो मै जवाब देने से इन्कार कर दूंगा ।' हालाँकि ज़मीन पर से किसान का कब्ज़ा कानूनन हटाया गया था; फिर भी वह उसको सीधा यह कहनें को भी तैयार नही थे कि वह अपनी ज़मीन न जोते । शिमला के पहाड पर बैठकर मिसलो पर इस तरह हुक्म देना, मानो वह गणित की किसी अमूर्त्त समस्या पर विचार कर रहे हो, उनके लिए तो आसान था । उन्हें या नैनीताल के प्रान्तीय आकाओ को आदमियो से साबका नही पडता था, और न वे आदमियो की मुसीबतो को ही अपनी आँखो से देखते थे ।

शिमला मे हमसे यह भी कहा गया कि हम किसानो को सिर्फ एक ही सलाह दे कि उन्हे पूरी किस्त दे देनी चाहिए, या वे जितनी दे सकें उतनी दे देना चाहिए । हमें करीब-करीब जमीदारो के कारिन्दों के जैसे ही काम करना चाहिए । दरअसल, कुछ ऐसी ही बात हमने उनसे तभी कह दी जबकि हमने उनसे कहा था कि जितना बन सके उतना अदा कर दो । लेकिन, बेशक, हमने साथ ही यह कहा था कि उन्हे अपने पशु नही बेंचने चाहिएँ, या नया कर्जा नही करना चाहिए । और इसका नतीजा भी जो कुछ हुआ सो हम देख चुके थे ।

यह गरमी हम सबके लिए बडी विकट थी, और हम मुश्किल से उसे सह रहे थे । हिन्दुस्तान के किसानो में मुसीबत सहने की अद्भुत शक्ति है, और उनपर हमेशा जरूरत से ज्यादा मुसीबते आती भी रही है—अकाल, बाढ, बीमारी और निरन्तर कुचलनेवाली गरीबी—और जब वे अधिक सह नही सकते, तो चुपचाप, और मानो बिना शिकायत किये, हजारो की तादाद मे, मर जाते है । उनका मुसीबतो से बचने का मार्ग ही यह रहा है । उनपर समय-समय पर आनेंवाली पिछली मुसीबतों से बढकर १९३१ मे कोई नयी बात नही हुई थी । मगर, किसी कारण, १९३१ की घटनाये उन्हे ऐसी न लगी कि जो कुदरत की तरफ से आ गयी हों और जिन्हे चुपचाप बरदाश्त करना ही चाहिए । उन्होने विचार किया कि ये तो मनुष्य की लायी हुयी है, और इसलिए उनका उन्होनें विरोध किया । जो नयी राजनैतिक शिक्षा उन्हे मिली थी, वह अपना

असर दिखा रही थी। हमारे लिए भी १९३१ की ये घटनाये खासतौर पर कष्टकर थीं, क्योंकि किसी हद तक हम अपने आपको उनके लिए जिम्मेदार समझते थे। क्या इस मामले मे किसानो ने बहुत-कुछ हमारी सलाह नही मानी थी? लेकिन, फिर भी, मेरा तो पूरा विश्वास है कि अगर उन्हे हमारी निरन्तर सहायता न मिली होती तो किसानो की हालत और भी बदतर हो गयी होती। हम उनको सगठित करके रखते थे, और उनकी अपनी एक ताकत हो गयी थी, जिसकी उपेक्षा नही हो सकती थी और इसी कारण उन्हे इतनी छूट भी मिल गयी जितनी शायद और तरह उन्हे न मिलती और इन अभागे लोगो पर जो मारपीट और सख्ती की गयी, वह खराब जरूर थी मगर उनके लिए कोई नयी बात न थी। हाँ, इस बार कुछ तो उनकी मात्रा मे अन्तर था (क्योंकि इस बार पहले से अधिक मात्रा मे की गयी थी), और कुछ उसका प्रकाशन भी बढ़कर हुआ था। आमतौर पर, गाँवो मे जमींदारों के कारिन्दों का काश्तकारों से दुर्व्यवहार करना या उन्हे बहुत त्रास देना भी साधारण बात समझी जाती है, और पिटनेवाले की मौत ही न हो जाय तो, वहाँ को छोडकर बाहर किसीको उसकी खबर तक नही होती। मगर हमारे सगठन और किसानो की जागृति के कारण अब ऐसा नही हो सकता था, क्योंकि इससे किसानों मे खूब एका हो गया था और वे हर बात की रिपोर्ट काग्रेस के दफ्तर में करते थे।

जैसे-जैसे गरमी का मौसम बीतता गया, जबरदस्ती वसूल करने की कोशिश कुछ ढीली हो गयी और बल-प्रयोग की कार्रवाइयाँ कम पडने लगी। अब हमे बहुसख्यक बेदखल किसानो की फिक्र थी। उनके लिए क्या करना चाहिए? हम सरकार पर जोर डाल रहे थे कि वह उन्हे उनके खेत वापस दिलाने मे मदद करे, जोकि ज्यादातर खाली ही पड़े थे। उनसे भी ज्यादा जरूरी प्रश्न भविष्य का था। जो छूट मिली थी वह पिछली फसल के लिए ही थी, और भविष्य के लिए अभीतक कुछ भी तय नही हुआ था। अक्तूबर मे अगली किस्त की वसूली का वक्त आ जायगा। तब क्या होगा? क्या हमे इसी भयकर घटना-चक्र मे से

फिर गुज़रना पडेगा ? प्रान्तीय सरकार ने इसपर विचार करने के लिए एक छोटी-सी कमिटी नियुक्त की, जिसमें उसीके अधिकारी और प्रान्तीय कौंसिल के कुछ जमीदार मेम्वर थे। उसमें किसानो की तरफ से कोई प्रतिनिधि न था। अन्तिम क्षण, जवकि कमिटी ने काम भी शुरू कर दिया, सरकार ने हमारी तरफ से गोविन्दवल्लभ पन्त से उसमें शामिल होने को कहा। उन्होंने इस आखिरी वक्त में उसमे शामिल होने में कुछ फायदा न देखा, क्योंकि महत्त्वपूर्ण मामलो के निर्णय तो किये ही जा चुके थे।

युक्तप्रान्तीय काग्रेस कमिटी ने भी किसानो सम्वन्धी पिछली और तात्कालिक कई हकीकतें इकट्ठा करने और सामयिक परिस्थिति पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए एक छोटी-सी कमिटी विठायी थी। इस कमिटी ने एक वड़ी रिपोर्ट पेश की, जिसमें युक्तप्रान्त के किसानों और खेती की परिस्थिति का वडा योग्यतापूर्ण निरीक्षण किया गया था। और भावों की भारी कमी के कारण आयी हुई दुर्दशा का विश्लेपण किया गया था। उनकी सिफारिशे वडी व्यापक थी। उस रिपोर्ट में जो पुस्तक-रूप में प्रकाशित की गयी थी, गोविन्दवल्लभ पन्त, रफी अमद किदवई और वेंकटेशनारायण तिवारी के दस्तखत थे।

इस रिपोर्ट के निकलने के वहुत पहले ही गाधीजी गोलमेज़ परिपद् के लिए लन्दन जा चुके थे। वह वडी हिचकिचाहट के वाद गये थे, और इस हिचकिचाहट का एक कारण युक्तप्रान्त के किसानो की परिस्थिति भी थी। वास्तव में उन्होने प्राय यह तय कर लिया था कि अगर वह गोल-मेज़ परिपद् के लिए लन्दन न गये. तो यू० पी० आयेंगे और इस पेचीदा सवाल को हल करने मे जुट पडेंगे। सरकार के साथ शिमला मे जो आखिरी वातचीत हुई थी, उसमें और वातों के साथ युक्तप्रान्त की वात भी शामिल थी। उनके इंग्लैण्ड रवाना हो जानें के वाद भी हम उन्हें परिस्थितियों में होनेवाले नये-नये परिवर्तनो की पूरी-पूरी सूचना देते रहते थे। पहले एक या दो महीने तक तो मैं उन्हे हर सप्ताह हवाई और मामूली, दोनों डाक से पत्र लिखा करता था। उनके प्रवास के

अन्तिम समय मे मै इतने नियमितरूप से नही लिखता था, क्योंकि हमे आशा थी कि वह जल्दी ही लौट आयेगे। उन्होने हमसे कहा था कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने मे, यानी नवम्वर मे किसी वक्त, लौट आयेगे, और हमे उम्मीद थी कि तवतक हिन्दुस्तान मे कोई सकट खड़ा न होगा। सवसे वडी वात तो यह थी कि उनकी गैर-हाज़िरी मे हम सरकार के साथ सघर्ष या संकट मोल लेना नही चाहते थे। मगर, जव उनके आने मे देर लग गयी और किसानो की समस्या तेज़ी से वढती चली, तव हमने उन्हे एक लम्वा तार भेजा, जिसमें ताज़ी-से-ताजी घटनाये लिखी और उन्हे सूचित किया कि किस तरह हम कुछ-न-कुछ करने के लिए मजवूर हो रहे है। उन्होने तार से जवाव दिया, कि इस मामले मे मै लाचार हूँ और इस समय कुछ नही कर सकता और यह भी कह दिया जैसा कि हम लोगों को ठीक मालूम हो वैसा ही करते जाये।

प्रान्तीय कार्यकारिणी, अखिल भारतीय कार्य-समिति को भी हर वात की इत्तिला देती रही। मै खुद उसमे अपनी जानकारी से वाते वताने को मौजूद था ही, मगर चूँकि मामला गभीर होता जाता था, कमिटी ने हमारे प्रान्तीय सदर तसद्दुक अहमद खाँ शेरवानी और इलाहावाद ज़िला कमिटी के प्रेसिडेण्ट पुरुषोत्तमदास टण्डन से भी वातचीत की।

सरकार की किसान-सम्वन्धी कमिटी ने अपनी रिपोर्ट निकाली, और कुछ शिफारिशे भी की, जो पेचीदा और गोलमोल थी और उसमें वहुत वाते मुकामी अफसरो के ऊपर छोड़ दी गयी थी। कुल मिलाकर उसमें जिस छूट की तजवीज़ की गयी थी, वह पिछले मौसम की छूट से ज्यादा थी, मगर हमे मालूम हुआ कि यह छूट भी काफी नही है। जिन आधारों पर उसमे सिफारिशे की गयी थी उनपर, और सिफारिशों के स्वरूप पर भी, हमने एतराज़ किया। इसके सिवा, रिपोर्ट मे सिर्फ आगे का ही विचार किया गया था, मगर पिछले वकाया, कर्ज़, और वहुसख्यक वेदखल किसानों के सवाल पर कुछ नहीं कहा गया था। अव, हम क्या करते ? जिस तरह हमने पिछले चैत-वैसाख में किसानो से कहा था कि वे जितना वने उतना अदा कर दें, क्या अव भी हम किसानों को वही

सलाह दे, और फिर वही नतीजे देखे ? हमने देख लिया था कि वह सलाह सबसे ज्यादा बेवकूफी की थी, और फिर से नही दी जा सकती थी। या तो किसानो को चाहिए कि अगर वे दे सके तो पूरी रकम अदा करे जो अब छूट काटकर उनसे माँगी जा रही है, या वे कुछ भी न दे और देखे कि क्या होता है। रकम का कुछ हिस्सा दे देने से वे न इधर के रहते न उधर के। काश्तकारो का जितना वे निकाल सकते है, सारा रुपया वगैरा भी चला जाता है, और उनकी जमीन भी छिन जाती है।

हमारी प्रान्तीय कार्य-कारिणी ने परिस्थिति पर बहुत समय तक और गभीरता के साथ विचार किया और निश्चय किया कि सरकार की तजवीजे हालाकि पिछली गरमी की छूट से ज्यादा है, लेकिन इतनी मुआफिक नही है कि उन्हे इस रूप मे स्वीकार कर लिया जाय। उनमे परिवर्तन करके उन्हे किसानो के लिए हितकर बनाये जाने की फिर भी सम्भावना थी, और इसलिए हमने सरकार पर ज़ोर डाला। मगर हमें मालूम हो रहा था कि अब कोई आशा नही है, और जिस सघर्ष को हम टालना चाहते थे, वह कुछ तेज़ी से आ रहा है। प्रान्तीय-सरकार और भारत-सरकार का काग्रेस-सगठन की तरफ लगातार रुख बदलता और सख्त होता जा रहा था। हमारे बडे-बडे पत्रों का हमे ज़रा-ज़रा सा जवाब मिल जाया करता था, जिसमें कह दिया जाता था कि हम मुकामी अफसरो से लिखापढी करे। यह स्पष्ट था कि सरकार की नीति हमे किसी प्रकार से भी प्रोत्साहित करने की नही थी। सरकार की एक मुसीबत और मुश्किल यह भी थी कि अगर किसानो को छूट दे दी जाती तो काग्रेस की प्रतिष्ठा बढ जाने की सभावना थी। पुरानी आदत के कारण वह सिर्फ प्रतिष्ठा की भाषा में ही सोच सकती थी, और यह खयाल उसे असह्य हो रहा था कि शायद जनता छूट दिलाने की नामवरी काग्रेस को देने लगे, और वह इससे जहाँतक होसके बचना चाहती थी।

इस बीच हमारे पास दिल्ली और दूसरी जगहो से ये रिपोर्टे आ रही थी कि भारत-सरकार सारे काग्रेस-आन्दोलन पर जल्दी ही एक ज़बरदस्त हमला शुरू करनेवाली है। उस मशहूर यहूदी कहावत के

अनुसार अब सरकार की छोटी-सी अगुली ज्यादा जोर से काम करने-वाली है, और विच्छू के डक हमसे तोवा करानेवाले है। काग्रेस के खिलाफ क्या-क्या करने की तजवीज है, इसकी वहुत-सी तफसील भी, हमे मिल गई। मेरी समझ मे शायद नवम्बर मे किसी वक्त, डाक्टर अन्सारी ने मेरे पास और कांग्रेस के सदर वल्लभभाई पटेल के पास भी अलग से एक खवर भेजी, जिससे हमे पहले मिले हुए समाचारों की पुष्टि होती थी, और जिसमे खासकर सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त के लिए प्रस्ताविक आर्डिनेन्सों का व्यौरा भी था। मेरा खयाल है कि उस समय तक शायद वगाल को एक नये आर्डिनेन्स की सौगात मिल चुकी थी, या मिलने ही वाली थी। कई हफ्ते वाद जव नये आर्डिनेन्स निकले, मानो वे किसी नई परिस्थिति का एक दम सामना करने के लिए निकले हो, तव डाक्टर अन्सारी की खवरे और उनकी तफसीले भी वहुत हद तक सच्ची निकली। आमतौर से यही माना गया कि सरकार ने गोलमेज़ कान्फ्रेंस के आशा से अधिक वढ जाने के कारण अपना हमला रोक रक्खा था। ऐसे समय मे जवकि गोलमेज-कान्फ्रेन्स के मेम्वर आपस मे मीठी-मीठी वेमतलव की काना-फूसी कर रहे थे, सरकार हिन्दुस्तान मे आम दमन को टालना चाहती थी।

इसलिए तनातनी वढती गयी, और हम सभी को महसूस हो रहा था कि घटनाये हम जैसे छोटे-छोटे लोगो की उपेक्षा करती हुई अपने-आप आगे वढ रही है, और होनहार को कोई रोक न सकेगा। हम तो इतना ही कर सकते थे कि हम उनका मुकाविला करने के लिए, और जीवन के उस नाटक मे, जो शायद दुखान्त होनेवाला था, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अपना हिस्सा ठीक तरह से वँटाने के लिए अपने-आपको तैयार कर ले। मगर हमे उम्मीद थी कि परस्पर विरोधिनी शक्तियो के सघर्ष का यह नाटक शुरु होने से पहले गाधीजी लौट आयेंगे और वह लडाई या सुल्ह की जिम्मेदारी अपने कन्धो पर उठा लेगे। उनकी गैरहाजिरी मे इस वोझ को उठाने के लिए हममे से कोई भी तैयार नही था।

युक्तप्रान्त मे सरकार ने एक और काम किया जिसमे देहाती हलको

मे हलचल मच गयी। काश्तकारो को छूट की पर्चिया बाँट दी गयी, जिनमें छूट की रकम बतायी गयी थी और यह धमकी शामिल थी कि अगर इसमे दिखायी हुई रकम एक महीने मे (किसी-किसी पर्ची मे इससे भी कम वक्त दिया गया था), जमा न की जायगी तो छूट रद कर दी जायगी और पूरी रकम कानूनी तरीके से, जिसका मतलब होता है बेदखली, कुर्की, वगैरा से, वसूल कर ली जायगी। मामूली वरसो मे तो काश्तकार अपना लगान दो या तीन महीनो मे किस्तो से अदा कर देते है। अवकी यह मामूली मियाद भी नही दी गयी। सारे देहात के सामने एकदम नया सकट खडा हो गया, और पर्चियाँ हाथ मे लेकर काश्तकार इधर-उधर उसका विरोध और शिकायत करते हुए, सलाह पूछने के लिए, दौड़ने लगे। सरकार या उसके मुकामी अफसरों की तरफ से यह मूर्खता भरी धमकी थी। वाद को हमसे कहा गया था कि इसको सचमुच अमल मे लाने का कोई इरादा नही था। मगर इससे शान्तिपूर्ण समझौते का मौका बहुत कम रह गया, और अनिवार्य सघर्ष एक के वाद दूसरा पग धरता पास आने लगा।

अव तो किसानो को और काग्रेस को जल्दी ही फैसला करना ज़रूरी था। हम गाधीजी के लौटने तक अपना फैसला नही रोक सकते थे। हमें अव क्या करना चाहिए ? क्या सलाह देनी चाहिए ? हम यह जानते थे कि कई किसान इस छोटी-सी मियाद में अपनी रकम अदा नही कर सकते तो क्या यह उचित वात होती कि हम उन किसानो से कह देते कि वे अपनी रकम अदा करदें ? और फिर जो वकाया उनकी तरफ था, उसके वारे मे क्या होगा ? अगर उनसे माँगी हुई रकम भी चुका दे, जो वकाया में जमा कर ली जायगी, तो भी क्या वे वेदखल किये जाने के खतरे से वच जायेंगे ?

इलाहावाद काग्रेस कमिटी ने अपनी मजबूत किसान-सेना के साथ लडाई की तैयारी की। उसने फैसला किया कि उसके लिए किसानो को अदायगी करने की सलाह देना सम्भव नही है। मगर यह कह दिया गया कि प्रान्तीय कार्यकारिणी और अखिल-भारतीय कार्य-समिति की

बाकायदा मजूरी के बिना वह कोई आक्रामक कार्य नही कर सकती। इसलिए मामला कार्य-समिति के सामने पेश किया गया, और प्रान्त और ज़िले की तरफ से अपना मामला समझाने के लिए तसद्दुक अहमद खाँ शेरवानी और पुरुषोत्तमदास टण्डन दोनो ही मौजूद रहे। हमारे सामने जो सवाल था वह सिर्फ इलाहाबाद ज़िले से ही वास्ता रखता था और वह शुद्ध आर्थिक मामला था, मगर हम जानते थे कि उस समय जैसी राजनैतिक तनातनी हो रही थी उसमे उसका परिणाम व्यापक हो सकता था। क्या इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमिटी को यह इजाजत दे दी जाय कि वह फिलहाल, जबतक कि आगे समझौते की बातचीत न हो ले और ज्यादा अच्छी शर्तें न मिल जायँ तबतक के लिए, लगान या मालगुजारी जमा न करने की सलाह किसानो को दे। यह एक छोटा मामला था और हम उसकी मर्यादा मे ही रहना भी चाहते थे, लेकिन क्या हम ऐसा कर सकते थे? कार्य-समिति गाधीजी के लौटने से पहले सरकार से लड़ पडने की स्थिति से बचने के लिए अपनी शक्ति-भर कोशिश करना चाहती थी, और खासकर वह एक ऐसी आर्थिक समस्या पर तो लड़ाई को टालना चाहती ही थी जिसके वर्ग-समस्या बन जाने की संभावना थी। हाँ, कमिटी हालाँकि राजनैतिक दृष्टि से आगे बढ़ी हुई थी, लेकिन सामाजिक दृष्टि से तो आगे बढी हुई नही थी, और उसे किसान और ज़मीदारों का आपसी झगडा खडा होना पसन्द न था।

चूँकि मेरा झुकाव समाजवाद की तरफ था, मुझे आर्थिक और सामाजिक मामलो मे सलाह देने के लिए अधिक भरोसे का आदमी न समझा गया। मुझे खुद यह अनुभव हो रहा था कि कार्य-समिति को यह मालूम हो जाना चाहिए कि युक्तप्रान्त की परिस्थिति ही ऐसी है कि हमारे ज्यादा नरम पक्ष के मेम्बर भी, सघर्ष करने की पूरी अनिच्छा रखते हुए भी, घटनाओं से मजबूर होकर संघर्ष करना चाहते हैं, इसलिए मैंने हमारी कमिटी की मीटिंग मे हमारे प्रान्त से तसद्दुक अहमद खाँ शेरवानी और दूसरे लोगो के आने को बहुत अच्छा समझा, क्योकि शेरवानी, जो हमारे प्रान्त के सभापति थे, किसी भी प्रकार उग्र नहीं थे। स्वभाव से, राज-

नैतिक और सामाजिक दोनो रूप मे वह काग्रेस मे नरम पक्ष के समझे जाते थे, और साल के शुरू में उनके विचार युक्तप्रान्तीय काग्रेस कमिटी की किसानो-सम्बन्धी नीति के विरुद्ध हो गये थे। मगर जब वह खुद कमिटी के सदर बन गये और उन्हे खुद बोझ उठाना पड़ा, तो उन्होंने समझ लिया कि हमारे लिए दूसरा चारा ही नही है। प्रान्तीय काग्रेस कमिटी ने बाद मे जो-जो भी कदम उठाया वह उनके घने-से-घने सहयोग के साथ, और अक्सर प्रधान की हैसियत से उन्हीकी मार्फत, उठाया।

इसलिए कार्य-समिति के सामने तसद्दुक अहमद खाँ शेरवानी की बहस से मेम्बरो पर बडा असर पडा—मै जितना असर डाल सकता था, उससे कही ज्यादा। बहुत हिचकिचाहट के बाद, लेकिन यह महसूस करके कि वह उससे इन्कार नही कर सकते है, उन्होने युक्तप्रान्तीय कमिटी को अधिकार दे दिया कि वह अपने किसी भी इलाके मे लगान और मालगुजारी की अदायगी को स्थगित करने की इजाजत दे सकती है। मगर साथ ही उन्होने युक्तप्रान्त के लोगो पर जोर दिया कि हो सके तो वे इस कदम को न उठाये, और प्रान्तीय सरकार से समझौते की बातचीत चलाते रहे।

कुछ समय तक यह बातचीत चलायी गयी, लेकिन नतीजा कुछ भी नही हुआ। मेरा खयाल है कि इलाहाबाद जिले की छूट मे थोडा-सा इजाफा कर दिया गया। साधारण परिस्थिति मे शायद वह सभव होता कि आपस मे समझौता हो जाता या खुला सघर्ष रुक जाता। सरकार और किसानो का मतभेद कम होता जा रहा था। मगर परिस्थिति बहुत ही असाधारण थी, और सरकार और काग्रेस दोनो ही तरफ से यह भावना थी कि जल्दी ही सघर्ष होना लाजिमी है, और हमारी निपटारे की बातचीत की तह मे कोई असलियत नही थी। दोनो तरफ से जो-जो कदम उठाया जाता, उसमे ऐसा ही दिखता था कि यह अपने लिए अच्छी स्थिति पैदा कर लेने की इच्छा से उठाया जा रहा है। इसके लिए सरकार की तैयारियाँ तो गुप्तरूप से हो सकती थी, और दरअसल सोलहो आना हो भी गयी थी। लेकिन हमारी शक्ति तो बिलकुल लोगो के नैतिक बल पर ही टिकी हुई थी, और इसकी तैयारी गुप्त कार्रवाइयो

से नहीं हो सकती थी। हममें से कुछ लोगों ने तो और मैं भी उन्हीं अपराधियों में से था, सार्वजनिक भाषणों में यह बार-बार कहा था कि आजादी की लड़ाई हरगिज खत्म नहीं हुई है, और हमें निकट-भविष्य में कई परीक्षाओं और कठिनाइयों से गुजरना पड़ेगा। हमने लोगों से कहा कि वे इसके लिए हमेशा तैयार रहें, और इसी कारण हमें लड़ाई छेड़नेवाला कहकर हमारी आलोचना की गयी थी। वास्तव में मध्यम-वर्ग के कांग्रेसी-कार्यकर्त्ताओं में वस्तुस्थिति का मुकाबिला करने की साफ अनिच्छा मालूम होती थी, और उन्हें आशा थी कि किसी-न-किसी तरह संघर्ष टल जायगा। गांधीजी का लन्दन में रहना भी अखबार पढ़नेवाले लोगों को चक्कर में डाले हुए था। मगर पढ़े-लिखे लोगों की इस निष्क्रियता के होते हुए भी घटनायें आगे ही बढ़ती गयीं, खासकर बंगाल, सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त में—और नवम्बर में कई लोगों को यह दीखने लगा कि संकट निकट आ ही रहा है।

युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने, इस डर से कि अचानक न जाने कैसी घटनायें हो जायें, लड़ाई शुरू होने की अवस्था के लिए कुछ आन्तरिक व्यवस्था कर डाली। इलाहाबाद-कमिटी ने एक बड़ी किसान कान्फ्रेन्स बुलायी, जिसमें एक आरजी ठहराव किया गया कि अगर ज्यादा अच्छी शर्तें न मिल सकेंगी, तो उन्हें किसानों को लगान और मालगुजारी रोक लेने की सलाह देनी पड़ेगी। इस प्रस्ताव से प्रान्तीय-सरकार बहुत नाराज हुई, और इसीको 'लड़ाई का पर्याप्त कारण' समझकर उसने हमारे साथ आगे कोई भी बातचीत करने से इन्कार कर दिया। इस रुख का प्रान्तीय कांग्रेस पर भी असर पड़ा, और उसने इसको आनेवाले तूफान का इशारा समझा और जल्दी-जल्दी अपनी तैयारियाँ करना शुरू किया। इलाहाबाद में एक और किसान-कान्फ्रेन्स हुई, जिसमें पहले से भी ज्यादा तेज और निश्चित प्रस्ताव पास किया गया। इसमें किसानों से कहा गया कि वे आगे और निपटारे की बातचीत होने और ज्यादा अच्छी शर्तें मिलने तक के लिए अदायगी रोक लें। उस समय भी, और अन्त तक, हमारी लड़ाई का रुख यह नहीं था कि 'लगान न दिया जाय'

मगर यह था कि 'मुनासिब लगान दिया जाय,। और हम लगातार बातचीत करने की दरख्वास्त देते ही रहे, हालाँकि दूसरा पक्ष ऐंठ मे दूर हट गया था। इलाहाबाद का प्रस्ताव जमींदारो और काश्तकारो दोनों पर लागू होता था, मगर हम जानते थे कि अमल मे वह काश्तकारों और कुछ छोटे जमींदारों पर ही लागू होगा।

नवम्बर १९३१ के अन्त और दिसम्बर के आरम्भ में युक्तप्रान्त में यह परिस्थिति थी। इस बीच बगाल और सीमा-प्रान्त में भी घटनाये हद तक पहुँच चुकी थीं, और बगाल में एक नया और भयकर रूप से व्यापक ऑर्डिनेन्स जारी कर दिया गया था। ये सब लड़ाई के लक्षण थे, समझौते के नहीं, और प्रश्न उठता था कि गांधीजी कब लौटेंगे? सरकार ने जिस बड़े प्रहार की तैयारी बहुत अर्से से कर रक्खी थी, उसके शुरू किये जाने से पहले क्या गाधीजी हिन्दुस्तान आ पहुँचेगे? या वह यहाँ पहुँचकर यह देखेंगे कि उनके कई साथी जेल जा चुके है और लड़ाई चालू हो गयी है? हमें मालूम हुआ कि वह इंग्लैण्ड से चल चुके है और साल के अन्तिम हफ्ते में बम्बई आ पहुँचेगे। हममें से हरेक मुख्य कार्यालय का या प्रान्तों का हर प्रमुख कार्यकर्त्ता, उनके लौटने तक लड़ाई को टालना चाहता था। और लडाई की दृष्टि से भी हमारे लिए यह उचित था कि हम उनसे मिल ले, और उनकी सलाह और हिदायते पा लें। पर यह एक ऐसी दौड़ थी, जिसमें हम मजबूर थे। इसको रोक रखना या शुरू करना तो ब्रिटिश सरकार के हाथ में था।

: ४० :

सुलह का खात्मा

युक्तप्रान्त मे मेरे व्यस्त रहते हुए भी बहुत दिनो से मेरी यह इच्छा थी कि मैं दूसरे दोनों तूफानी केन्द्रो, सीमाप्रान्त और बगाल मे भी हो आऊँ। मैं उस जगह जाकर वहाँकी परिस्थिति का अध्ययन करना, और अपने पुराने साथियों से, जिनमे अनेक को मैने करीब दो साल से नहीं देखा था, मिलना चाहता था। मगर, सबसे ज्यादा, मैं यह चाहता था कि मैं उन प्रान्तो के लोगो की स्पिरिट और हिम्मत के, और राष्ट्रीय सग्राम मे उनकी कुर्बानियो के प्रति, अपनी तरफ से सम्मान प्रकट करूँ। सीमा-प्रान्त मे तो कुछ समय के लिए मैं जा ही नही सकता था, क्योंकि भारत-सरकार यह पसन्द नहीं करती थी कि कोई प्रमुख काग्रेसी वहाँ जाय, और उसके इस रुख को देखते हुए हम वहाँ जाने और अडचन पैदा करने की कोई इच्छा नही रखते थे।

बगाल में स्थिति बिगड़ती जा रही थी, और हालाँकि उस प्रान्त की तरफ मुझे बहुत आकर्षण था, फिर भी जाने के पहले मुझे हिचकिचा-हट हुई। मैं अनुभव करता था कि मैं वहाँ असहाय-सा रहूँगा, और कुछ भी फायदा न पहुँचा सकूँगा। उस प्रान्त मे काग्रेसी लोगो के दो दलो के शोचनीय और लम्बे झगडों के सबब से बाहरी काग्रेसवाले बहुत अर्से से डर गये थे; और दूर-दूर रह रहे थे, क्योंकि उन्हे भय था कि वे भी किसी-न-किसी दल मे शामिल समझ लिये जायँगे। यह बड़ी कमजोर और बिगाड़ू नीति थी, और इससे बगाल की समस्या के सरल होने या हल होने मे मदद नही मिली। गाधीजी के लन्दन जाने के कुछ वक्त बाद ही दो घटनायें अचानक ऐसी हुई जिनसे सारे हिन्दुस्तान का ध्यान बगाल की स्थिति पर केन्द्रित हो गया। ये दोनो घटनायें हिजली और चटगांव मे हुई थी।

हिजली नजरबन्दो के लिए खास तौरपर बनाया हुआ एक डिटेंशन

कैम्प-जेल था। सरकारी तौर पर यह घोषित किया गया कि कैम्प के अन्दर एक दगा हो गया और नजरबन्दो ने जेल के अधिकारियो पर हमला कर दिया, इसलिए उनपर मजबूरन् जेलवालो को गोली चलानी पडी थी। इस गोलीकाण्ड से एक नजरबन्द मारा गया और कई घायल हुए। स्थानीय सरकार द्वारा की गयी जाँच मे जो उसके बाद ही फौरन हुई थी, जेलवालो को इस गोलीकाण्ड और इसके नतीजो से बिलकुल बरी कर दिया। मगर इस घटना मे कई विचित्र बाते हुईं, और कई तथ्य ऐसे प्रकट हो गये, जो सरकारी बयान से मेल नही खाते थे, और जगह-जगह से इसकी ज्यादा जाँच करने की जोरदार और जबरदस्त माँग की गयी। हिन्दुस्तान के आम सरकारी रिवाज के खिलाफ बगाल-सरकार ने एक ऐसी जाँच-कमिटी बैठाई, जिसमें सब ऊँचे-ऊँचे जुडिशियल अफसर ही थे। वह शुद्ध सरकारी कमिटी थी, लेकिन उसने शहादते ली और मामले पर पूरा विचार किया, और उसकी रिपोर्ट नजरबन्दी जेल के मुलाजिमों के खिलाफ हुई। यह तसलीम किया गया कि कुसूर ज्यादातर जेल के अधिकारियो का ही था, और गोलीकाण्ड बिलकुल अनुचित था। इस तरह सरकार की जो पहले विज्ञप्तियाँ (कम्यूनिक) निकली थी वे बिलकुल झूठी साबित हुईं।

हिजली की घटना कोई बहुत असाधारण घटना नही थी। बद-किस्मती से ऐसी घटनाएँ हिन्दुस्तान में कम नही होती और जेल के अन्दर दगों के होने की और जेल मे हथियार-बन्द वार्डरो और दूसरे लोगो द्वारा निहत्थे और बेबस कैदियो के बहादुरी से दबाये जाने की खबरे अक्सर पढने को मिला करती है। हिजली मे असाधारण बात यही हुई कि उससे ऐसी घटनाओ के बारे मे सरकारी कम्यूनिको के बिलकुल एकतर्फापन और झूठेपन की पोल खुल गयी और वह भी सरकारी रिपोर्ट से ही। पहले ही सरकार के कम्यूनिको का कोई भरोसा नही किया जाता था, मगर अब तो उनका पूरा-पूरा भण्डाफोड ही हो गया।

हिजली काण्ड के बाद तो जेल की घटनायें, जिनमे जेलवालो द्वारा कही गोली चलायी जाती थी और कही दूसरे प्रकार का कोई बल-प्रयोग

किया जाता था, सारे हिन्दुस्तान-भर मे बडी तादाद मे होने लगी। अचरज की बात यह है कि इन जेल के दगों मे चोट सिर्फ कैदियों को ही लगती मालूम होती थी। करीव-करीव हर मामले मे एक सरकारी वक्तव्य निकलता था, जिसमें कैदियो पर कई वेजा हरकतों का इलजाम लगाया जाता था, और जेल के अधिकारियो को वचाया जाता था। वहुत ही कम उदाहरण ऐसे होगे जिनमे जेलवालों को महकमे की तरफ से कोई सजा दी गयी होगी। पूरी जाँच करने की तमाम मांगों के लिए विलकुल इन्कार कर दिया गया सिर्फ महकमे की एक तरफ की जाँच ही काफी समझी गयी। साफ जाहिर था कि सरकार ने हिजली से अच्छी तरह सवक सीख लिया था कि उचित और निष्पक्ष जाँच कराने मे खतरा रहता है और दोष देनेवाला ही खुद अपने इलजाम का सबसे अच्छा जज होता है। तो फिर इसमे भी क्या ताज्जुव है कि लोगो ने भी हिजली मे सवक सीख लिया हो, कि सरकारी कम्यूनिको में वही वात कही जाती है जो सरकार हमसे कहना चाहती है, न कि वह जो दरअसल हुई होती है?

चटगाँव की घटना तो इससे भी वहुत ज्यादा गम्भीर थी। एक आतकवादी ने किसी एक मुसलमान पुलिस-इन्सपेक्टर को गोली से मार डाला। इसके वाद ही एक हिन्दू-मुस्लिम दगा हो गया, या उसे ऐसा नाम दिया गया। मगर यह तो जाहिर था कि मामला इससे कुछ वहुत ज्यादा था और वह मामूली दगों से कुछ भिन्न था। यह साफ था कि आतकवादी के काम का साम्प्रदायिकता से कोई सम्बन्ध न था; वह हमला तो हिन्दू या मुसलमान का खयाल न रखते हुए एक पुलिस अफसर पर हुआ था। फिर भी यह तो सही ही है कि वाद मे हिन्दू-मुसलमानों में कुछ झगडा भी होगया। यह झगडा कैसे शुरू हुआ, इसके होने का कारण कौन-सा था, यह साफ नहीं बताया गया, हालाँकि जिम्मेदार सार्वजनिक व्यक्तियों ने इस मामले मे वहुत सगीन इलजाम लगाये है। इस दगे की एक और विशेषता यह थी कि उसमे दूसरी जातियों के निश्चित समुदायो ने, एंग्लो-इण्डियनों ने खासकर रेलवे के मुलाजिमो ने या दूसरे सरकारी

मुलाज़िमों ने भी, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने बड़े पैमाने पर बदला लेने के कार्य किये—हिस्सा लिया। जे० एम० सेनगुप्त और बंगाल के दूसरे मशहूर नेताओं ने चटगाँव की घटनाओं के सम्बन्ध में कई निश्चित आरोप लगाये, और उन्होंने जाँच करने या मानहानि का मुक़दमा चलाने तक की चुनौती दी मगर फिर भी सरकार ने कोई कर्रवाई न करना ही मुनासिब समझा।

चटगाँव की इन कुछ असाधारण घटनाओं से दो खतरनाक संभावनाओं की तरफ विशेष ध्यान गया। आतंकवाद की कई दृष्टियों से निंदा की गई थी, और आधुनिक क्रान्तिकारी पद्धति भी उसको बुरा बताती थी। मगर उसका एक फल ऐसा भी हो सकता था, जिससे मुझे खासकर भय लगता था। वह संभावना थी हिन्दुस्तान में इक्के-दुक्के और साम्प्रदायिक हिंसा-काण्डों का फैलाना। हालाँकि मैं हिंसा-काण्डों को नापसन्द करता हूँ लेकिन मैं उनसे डर जानेवाला 'डरपोक हिन्दू' नहीं हूँ। मगर मैं यह जरूर महसूस करता हूँ कि हिन्दुस्तान में फूट फैलनेवाली ताकतें असीनक भी बहुत बड़ी-बड़ी हैं, और अगर ऐसे इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड होने लगेंगे तो उनसे उन ताकतों को मदद मिल जायगी, और एक संयुक्त और अनुशासन-युक्त राष्ट्र बनाने का काम आज से भी ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जब लोग मजहब के नाम पर या बहिश्त (स्वर्ग) जाने के लिए कत्ल करते हैं, तो ऐसे लोगों को आतंककारी हिंसा का अभ्यास करा देना बड़ी खतरनाक बात होगी। राजनैतिक खून करना बुरा है। लेकिन राजनैतिक आतंकवादी को समझाकर अपनी राय का बना लिया जा सकता है, क्योंकि शायद उसका लक्ष्य सांसारिक है, और व्यक्तिगत नहीं बल्कि राष्ट्रीय है। मगर मजहबी (धर्म के नाम पर) खून करना तो और भी बुरा है, क्योंकि उसका सम्बन्ध इस लोक से नहीं, परलोक में सद्गति पाने से है, और ऐसे मामलों में दलील से समझाने की भी कोई कोशिश नहीं कर सकता। कभी-कभी तो दोनों के बीच में फर्क बहुत ही बारीक रहता है और करीब-करीब मिट-सा जाता है, और राजनैतिक हत्या, एक आध्यात्मिक प्रक्रिया से, आधी-धार्मिक बन जाती है।

चटगाँव में एक आतंकवादी द्वारा एक पुलिस-अफसर की हत्या किये जाने और उसके नतीजों से हरेक को बहुत साफ़-साफ यह अनुभव होने लगा कि आतंककारी हलचल से बड़ी ख़तरनाक बातें पैदा हो सकती हैं और हिन्दुस्तान की एकता और आज़ादी के काम को बेहद नुकसान पहुँच सकता है। इसके बाद जो बदला लेने की घटनायें हुईं उनसे भी हमें मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान में फासिस्ट तरीके पैदा हो चुके हैं। तब से ऐसी बदला लेने की घटनायें, खासकर बंगाल में बहुत हुई हैं और यह फासिस्ट मनोवृत्ति यूरोपियन और एंग्लो-इंडियन जातियों में तो निःसन्देह फैल चुकी है। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कई पिछलग्गुओं में भी यह मनोवृत्ति घर कर चुकी है।

यह एक विचित्र बात है, लेकिन ख़ुद आतंककारियों का या उनमें से कई लोगों का भी यही फासिस्ट दृष्टिकोण है, लेकिन उसकी दिशा दूसरी है। उनका राष्ट्रीय फासिस्ट-वाद यूरोपियनों, एंग्लो-इण्डियनों और कुछ ऊंची श्रेणीवाले हिन्दुस्तानियों के साम्राज्यवादी फासिस्टवाद का जवाब है।

नवम्बर १९३१ में मैं कुछ दिनों के लिए कलकत्ता गया। वहाँ मेरा कार्यक्रम बहुत भरा-पूरा रहा, और घरू तौर पर व्यक्तियों और गिरोहों से मिलने के अलावा मैंने कई सार्वजनिक सभाओं में भाषण भी दिये। इन सब सभाओं में मैंने आतंकवाद के प्रश्न पर भी चर्चा की और यह बताने की कोशिश की कि हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए वह कितना गलत बेकार और हानिकारक है। मैंने आतंकवादियों को बुरा नहीं कहा, न मैंने हमारे कुछ ऐसे देशवासियों की तरह उन्हें 'कायर' ही कहा, जिन्होंने शायद ही कभी पराक्रम या ख़तरे का कोई काम करने का साहस किया हो। मुझे हमेशा यह बड़ी बेवकूफी की बात मालूम हुई है कि ऐसे स्त्री या पुरुष को जोकि लगातार अपनी जान को हथेली पर लिये रहता है, 'कायर' कहा जाय। और इसका असर उस आदमी पर यह होता है कि वह अपने उन्हीं समालोचकों से, जो दूर खड़े रहकर ही चिल्लाते हैं लेकिन कर कुछ भी नहीं सकते, कुछ ज्यादा तिरस्कार करने लगता है।

कलकत्ते से रवाना होने के लिए स्टेशन पर जाने से थोडी देर पहले वहाँ शाम को मेरे पास दो युवक आये। वे बहुत ही कम उम्र के, करीब बीस-बीस साल के, नौजवान थे। उनके चेहरे फीके थे और उन-पर घबराहट झलक रही थी। उनकी आँखे चमकदार थी। मुझे मालूम नही था कि वे कौन है, लेकिन मै अटकल से समझ गया कि उनका काम क्या था। वे मेरे आतकवादी हिंसा के विरुद्ध प्रचार करने के कारण मुझपर बहुत गुस्सा थे। उन्होंने कहा कि उससे नवयुवको पर बहुत बुरा असर पड रहा है, और इस तरह मेरा हस्तक्षेप करना वे पसन्द नही करते है। हमने थोडी-सी बहस भी की, लेकिन वह बडी जल्दी-जल्दी मे हुई, क्योकि मेरे रवाना होने का समय पास आ रहा था। मेरा खयाल है कि उस समय हमारी आवाज और हमारा मिजाज कुछ तेज़ हो गया था, और मैने उनसे कुछ कडी बाते भी कह दी थी; और जब मै उन्हे वही छोडकर चलने लगा, तो उन्होने मुझे अन्तिम चेतावनी दी कि "अगर आगे भी आपका यही रुख रहा तो हम आपके साथ भी वही बर्ताव करेगे जैसा कि हमने दूसरो के साथ किया है।"

मै कलकत्ते से चल तो दिया, मगर रात को गडी मे अपनी बर्थ पर लेटे लेटे, मेरे दिमाग मे उन्ही दोनो लडको के उत्तेजित चेहरे बहुत देर तक चक्कर काटते रहे। उनमे जीवन और जोश भरा हुआ था, अगर वे ठीक रास्ते पर लग जाते तो कितने अच्छे बन सकते थे! मुझे दुख हुआ कि मै उनके साथ जल्दी-जल्दी मे और कुछ रूखा व्यवहार किया था। काश मुझे लम्बी बातचीत करने का मौका मिलता! शायद मै उन्हे दूसरी दिशाओ मे हिन्दुस्तान की सेवा और आज़ादी के रास्ते मे, जिसमे कि साहस और आत्मत्याग के मौकों की भी कमी न थी, अपने होनहार जीवन को लगाने की बात समझा सकता। उस घटना के बाद भी मै अक्सर उन लोगों का विचार किया करता हूँ। मुझे उनके नाम मालूम न हो सके, और न उनका मुझे बाद मे भी कुछ पता लगा। मै कई बार सोचता हूँ कि न जाने वे मर चुके है, या अण्डमन के टापुओ की किन्ही कोठरियों मे बन्द है!

दिसम्बर का महीना था। इलाहाबाद में दूसरी किसान-कान्फ्रेन्स हुई, और फिर मैं हिन्दुस्तानी-सेवा-दल के अपने पुराने साथी डॉक्टर एन० एस० हार्डीकर को दिये अपने पिछले वादे को पूरा करने के लिए जल्दी में कर्नाटक गया। सेवा-दल राष्ट्रीय आन्दोलन का एक स्वयंसेवक अंग था। वह हमेशा कांग्रेस का सहायक रहा, यद्यपि उसका संगठन बिलकुल अलग ही था। लेकिन १९३१ की गर्मियों में कार्य-समिति ने उसे बिलकुल कांग्रेस में शामिल करने और उसे कांग्रेस का ही स्वयंसेवक-विभाग बना लेने का निश्चय कर लिया। ऐसा हो भी गया, और वह विभाग हार्डिकर को और मुझे सौंपा गया। दल का हेडक्वार्टर कर्नाटक प्रदेश के हुबली शहर में ही रहा, और हार्डीकर ने मुझे दल सम्बन्धी कई समारोहों के लिए वहाँ बुलाया था। फिर वह मुझे कुछ दिन के लिए कर्नाटक में दौरा करने को ले गये। वहाँ सब जगह लोगों में जबरदस्त जोश देख कर मैं दंग रह गया। वहाँ से लौटते हुए मैं शोलापुर भी गया, जिसका नाम फौजी कानून (मार्शल लॉ) के दिनों में मशहूर हो चुका था।

कर्नाटक के उस दौरे ने मेरे लिए विदाई के समारोह का रूप धारण कर लिया। मेरे भाषण विदाई के गीत जैसे थे, लेकिन उनमें संगीत की बनिस्बत लड़ाई भरी थी। युक्तप्रान्त से जो खबर मिली वह निश्चित और स्पष्ट थी। सरकार ने वार कर दिया था, और सख्त वार किया था। इलाहाबाद से कर्नाटक जाते हुए मैं कमला के साथ बम्बई गया था। वह फिर बीमार हो गयी थी। मैंने बम्बई में उसके इलाज की व्यवस्था कर दी। बम्बई में ही, और लगभग हमारे इलाहाबाद से वहाँ पहुँचने के बाद ही, हमें यह पता लगा कि भारत-सरकार ने युक्तप्रान्त के लिए एक खास 'ऑर्डिनेन्स' निकाल दिया है। सरकार ने निश्चय कर लिया था कि वह गांधीजी के आने की बाट न देखेगी, हालांकि गांधीजी जहाज पर चल दिये थे, और जल्दी ही बम्बई आजानेवाले थे। कहने को तो यह ऑर्डिनेन्स किसानों के आन्दोलन के ही लिए निकाला गया था, लेकिन वह इतना ज्यादा फैला हुआ और दूरगामी था कि उसने हर

प्रकार की राजनैतिक या सार्वजनिक प्रवृत्ति असम्भव हो गयी। उसमे बच्चों या नाबालिगो के अपराधों के लिए माता-पिताओ या सरक्षको को सजा देने का विधान भी किया गया। यह इजील की प्राचीन प्रथा की ठीक उलटी आवृत्ति था।[१]

लगभग इन्ही दिनों हमने गाधीजी की उस बातचीत की खबर पढी, जो रोम मे 'ग्योरनेल दि इटैलिया' के प्रतिनिधि से हुई बताई गयी थी। इसे पढकर हम अचम्भे मे पड गये, क्योकि इस तरह रोम मे राह चलते 'इटरव्यू' दे देना उनकी आदत के खिलाफ था। ज्यादा गौर से जाँच करने पर कई शब्द और वाक्य ऐसे मिले जो उनके प्रयोग मे नही आते थे, और उसका खण्डन आने से पहले ही हमे साफ तौर से मालूम होगया था कि जिस तरह की 'इटरव्यू' प्रकाशित हुई है वह उनकी दी हुई नही हो सकती। हमारा खयाल हुआ कि उन्होने जो कुछ भी कहा होगा, उसको बहुत ज्यादा तोड-मरोडकर बनाया गया है। बाद मे तो गाधीजी का जोरदार खण्डन भी निकला और यह वक्तव्य भी निकला कि उन्होंनें रोम में कोई इटरव्यू ही नही दी। हमे तो स्पष्ट मालूम था ही कि किसीने उनके साथ यह चालाकी की है। मगर हमे आश्चर्य इस बात से हुआ कि ब्रिटिश अखबारो और सार्वजनिक लोगो ने उनकी बात पर विश्वास नही किया और तिरस्कार के साथ उन्हे झूठा बतलाया। इससे हमे चोट पहुँची और गुस्सा भी आया।

मै इलाहाबाद वापस जाने और कर्नाटक का दौरा बन्द कर देने को

---

१. यहाँ थोडा व्यंग है। बाइबिल (इंजील) में एक जगह पैगम्बर मूसा ईश्वर के दस आदेश (Ten Commandments) गिनाते है, जिसमें एक जगह पर वह कहते है—"होशियार ! तुम बुरे देवो को मत पूजना क्योकि ईश्वर तो ईर्ष्यालु देव है, दूसरे देवताओ की पूजा सहन नहीं कर सकता। माता-पिताओ के पापों के फल तीसरी-चौथी पीढ़ी तक उनकी सन्तानों को भोगने पडते है (ड्यूटे पृ० ९)"—इसकी उलटी आवृत्ति अर्थात् सन्तानो के कुकर्म के फल माता-पिता भोगें। —अनु०

उत्सुक था। मुझे लगा कि मुझे तो अपने सूबे में अपने साथियों के साथ रहना चाहिए, और जब अपने घर-आँगन में इतनी घटनायें हो रही हों, तब उनसे बहुत दूर रहना मेरे लिए एक कठोर कसौटी ही थी। फिर भी मैंने निश्चय किया कि मैं कर्नाटक के कार्यक्रम को पूरा ही कर डालूं। मेरे बम्बई आने पर कुछ मित्रों ने मुझे सलाह दी कि मैं गांधीजी की वापसी तक ठहरा रहूँ। वे एक ही सप्ताह बाद आनेवाले थे। मगर यह असम्भव था। इलाहाबाद से पुरुषोत्तमदास टण्डन और दूसरे लोगों की गिरफ्तारी की खबर आयी। इसके अलावा हमारी प्रान्तीय कान्फ्रेन्स भी इटावा में उसी हफ्ते में होनेवाली थी। इसलिए मैंने तय किया कि मैं पहले इलाहाबाद जाऊँ और फिर एक हफ्ते बाद, अगर आजाद रहा तो, गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की की बैठक में सम्मिलित होने को बम्बई लौट आऊँ। कमला को मैंने रोग-शय्या पर बम्बई में ही छोड़ा।

मुझे इलाहाबाद पहुँचने से पहले ही, छिउकी स्टेशन पर नये आर्डि-नेन्स के अनुसार एक हुक्म मिला। इलाहाबाद स्टेशन पर उसी हुक्म की दूसरी नकल मुझे देने की कोशिश की गयी। और मेरे मकान पर भी एक तीसरे व्यक्ति ने ऐसा ही तीसरा प्रयत्न किया। जाहिरा था कि सरकार कोई भी जोखिम उठाना नहीं चाहती थी। उस हुक्म के मुता-बिक मैं इलाहाबाद म्युनिसिपल हद के अन्दर नजरबन्द कर दिया गया, और मुझसे कहा गया कि मुझे किसी सार्वजनिक सभा या समारोह में शामिल नहीं होना चाहिए, किसी सभा में भाषण न करना चाहिए। किसी अखबार, पत्रिका या पर्चे में कोई लेख नहीं लिखना चाहिए। और भी कई पाबन्दियां लगा दी गयी थीं। मुझे मालूम हुआ कि मेरे साथियों के नाम भी, जिनमें सरदुल अहमद खाँ शेरवानी भी थे, इसी प्रकार के हुक्म जारी किये गये थे। दूसरे दिन सवेरे ही मैंने जिला-मजिस्ट्रेट को (जिसने हुक्म जारी किये थे) लिख दिया कि मुझे क्या करना चाहिए या क्या न करना चाहिए इसकी बाबत मैं आपसे हुक्म लेना नहीं चाहता; मैं अपना मामूली काम हस्बमामूल करूँगा, और अपने काम के सिल-

सिले मे इस हफ्ते मे मैं गाधीजी से मिलने और कार्य-समिति की, जिसका मैं सेक्रेटरी हूँ, बैठक मे शरीक होने बम्बई जल्दी जानेवाला हूँ।

एक नयी समस्या भी हमारे सामने खडी हो गयी। हमारी युक्त-प्रान्तीय-कान्फ्रेन्स उसी हफ्ते इटावे में होनेवाली थी। बम्बई से मैं इस कान्फ्रेन्स को स्थगित करवाने की तजवीज़ पेश करने के इरादे से आया था, क्योकि एक तो वह गाधीजी के आने के दिनो मे ही होनेवाली थी, और दूसरे सरकार से अभी सघर्ष भी टालना था। लेकिन मेरे इलाहाबाद आने से पहले ही यू० पी० सरकार की तरफ से हमारे प्रधान शेरवानी साहब के पास एक ताकीदी खत आया था, जिसमे पूछा गया था कि क्या आपकी कान्फ्रेन्स में किसानो की समस्या पर भी विचार किया जायेगा ? क्योकि अगर ऐसा होनेवाला हो, तो सरकार कान्फ्रेन्स को ही बन्द कर देगी। यह तो साफ जाहिर था कि कान्फ्रेन्स का खास उद्देश्य ही किसानो की समस्या पर विचार करना था, जिससे कि सारे प्रान्त मे खलबली मच रही थी। कान्फ्रेन्स करना और उसमे इस सवाल पर गौर न करना तो मूर्खता की हद थी और अपने-आपकी हँसी कराना ही था। कुछ भी हो, हमारे प्रधान को या और किसी को भी यह अख्त्यार न था कि वह कान्फ्रेन्स को किसी बात के लिए पहले से ही बाँध दे। सरकार की धमकी के बिना भी हम कुछ लोगो का यह इरादा तो था ही कान्फ्रेस स्थगित की जाये, मगर इस धमकी से तो बात ही और होगयी। हममे से कई लोग ऐसे मामलो मे तो कुछ-कुछ आग्रही थे, और सरकार-द्वारा हमें ऐसा हुक्म दिया जाना किसीको अच्छा न लगा। फिर भी, बडी बहस के बाद, हमने तय कर लिया कि इस वक्त अपने स्वाभिमान को पी जाना चाहिए और कान्फ्रेन्स को स्थगित कर देना चाहिए। हमने यह फैसला इसलिए किया कि हम गाधीजी के आने तक लडाई को, जो शुरू तो हो ही चुकी थी, किसी भी हालत में ज्यादा बढाना नही चाहते थे। हम उन्हें ऐसी परिस्थिति के अन्दर नही डाल देना चाहते थे, जिसमे वह बागडोर अपने हाथ में न ले सकें। हमारे प्रान्तीय कान्फ्रेंस को स्थगित देने पर भी इटावा में पुलिस और फौज का खूब प्रदर्शन

किया गया, कुछ भूले-भटके प्रतिनिधि, जो वहाँ पहुँच गये थे, वे गिरफ्तार कर लिये गये, और वहाँ लगी स्वदेशी-प्रदर्शिनी पर फौज ने कब्ज़ा कर लिया।

शेरवानी ने और मैंने २६ दिसम्बर की सुबह को इलाहाबाद से बम्बई रवाना होना तय किया। शेरवारी को कार्य-समिति की मीटिंग मे यू० पी० की स्थिति पर विचार करने के लिए खासतौर पर बुलावा दिया गया था। हम दोनों को ही ·आर्डिनेन्स के मुताबिक यह हुक्म मिल चुके थे कि हम इलाहाबाद शहर न छोडे। कहा गया था कि आर्डिनेन्स यू० पी० के इलाहाबाद और दूसरे ज़िलों मे लगानबन्दी की हालचलों के खिलाफ जारी किया गया है। यह समझना तो सरल था ही कि सरकार को हमारा इन देहाती हिस्सो मे जाना बन्द करना ही चाहिए। मगर यह भी साफ था कि हम बम्बई शहर मे जाकर किसानो का आन्दोलन नही चला सकते थे और अगर वास्तव मे आर्डिनेन्स किसानों की परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए ही जारी किया गया था, तो उसे हमारे प्रान्त से दूर चले जाने का तो स्वागत ही करना चाहिए। आर्डिनेन्स के जारी हो जाने के समय से हमारी आम नीति उससे बचते रहने की ही रही, और हम सघर्ष को टालते ही रहे, हाँलाकि बाज़-बाज लोगो ने हुक्म-उदूली करदी थी। जहाँतक यू० पी० काग्रेस का सम्बन्ध था, यह बात साफ थी कि वह, कम-से-कम फिलहाल, सरकार से लड़ाई करने से बचना या उसे टालना चाहती थी। शेरवानी और मै बम्बई जा रहे थे, जहाँकि गाधीजी और कार्य-समिति इन मामलो पर गौर करते, और यह किसीको मालूम नही था, और मुझे तो बिलकुल ही निश्चय नही था कि उनके आखिरी फैसले क्या होते।

इन सब विचारो से मुझे खयाल होता था कि हमे बम्बई जाने दिया जायगा, और, कम-से-कम उस समय के लिए ही सही, हमारी शहर की नजरबन्दी के कानूनी आज्ञा-भग को सरकार सह लेगी। लेकिन, मेरा दिल कुछ और ही कह रहा था।

ज्योंही हम रेल में बैठे, हमने सबेरे के अखबारो मे नये सीमाप्रान्तीय

आर्डिनेन्स और अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ तथा डाक्टर ख़ानसाहब वगैरा की गिरफ्तारी का हाल पढ़ा। बहुत जल्दी ही हमारी गाड़ी, बम्बई-मेल, रास्ते के एक छोटे-से स्टेशन इरादतगंज पर, जहाँ आमतौर पर वह नहीं ठहरा करती थी, अचानक ठहर गयी, और हमें गिरफ्तार करने को पुलिस अफ़सर आगये। रेलवे लाइन के पास ही एक 'ब्लैक मैरिया' (जेल की मोटर) गाड़ी खड़ी थी, और कैदियों की इस लारी में मैं और शेरवानी दाखिल हुए। वह तेज़ी से चली और हम नैनी-जेल में जा पहुँचे। वह 'बॉक्सिंग दिवस' का प्रातःकाल था और वह पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो हमें गिरफ्तार करने आया था, अंग्रेज़ था; वह दुःखी और उदास दिखायी दिया। मुझे दुःख है कि हमने उसका क्रिसमस त्यौहार बिगाड़ दिया था।

और इस तरह हम जेल में आ पहुँचे —

'एक घड़ी भर तू सारा आल्हाद भुलादे,
और, वेदना में ही अब तो कुछ काल बितादे।'[१]

---

१. शेक्सपियर के अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

: ४१ :

गिरफ्तारियाँ, आर्डिनेन्स और ज़ब्तियाँ

हमारी गिरफ्तारी के दो दिन बाद ही गाधीजी बम्बई मे उतरे, और तभी उन्हे यहाँकी नयी और ताजी घटनाओ का हाल मालूम हुआ। उन्होंने लन्दन मे ही बगाल-आर्डिनेन्स की खबर सुन ली थी, और वह उससे बहुत दु खी हुए थे। अब उन्हे मालूम हुआ कि उनके लिए यू० पी० और सीमा-प्रान्तीय आर्डिनेन्सों के रूप मे बडे दिन की भेट तैयार थी, और सीमा-प्रान्त और यू० पी० मे उनके कुछ सबसे घनिष्ठ साथी गिरफ्तार हो चुके थे। अब तो पासा पड़ चुका दीखता था, और शान्ति की सारी आशा मिट चुकी थी, फिर भी उन्होंने रास्ता ढूँढने की कोशिश की, और इसके लिए वाइसराय लार्ड विलिंग्डन से मुलाकात चाही। उन्हे नयी दिल्ली से बताया गया कि मुलाकात कुछ खास शर्तो पर ही हो सकेगी। वे शर्ते ये थी कि वह बगाल, युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त की ताजी घटनाओ, और नये आर्डिनेन्सो और उनके मुताबिक हुई गिरफ्तारियो के बारे मे बातचीत न करे। (यह बात मै अपनी याद से लिख रहा हूँ, क्योकि मेरे सामने वाइसराय के जवाब की नकल नही है) यह समझना मुश्किल है कि सरकार की निगाह मे इन विषयो के अलावा जो कि देश मे खलबली मचा रहे थे, और जिनपर बात करने का निषेध कर दिया गया था गाधीजी या काग्रेस का कोई भी नेता और किस विषय पर बातचीत कर सकता था। अब यह बिलकुल साफ प्रकट होगया कि भारत-सरकार ने काग्रेस को कुचल डालने का निश्चय कर लिया है और वह उससे कोई नाता नही रखना चाहती थी। कार्य-समिति के पास सविनय आज्ञा-भग फिर चालू कर देने के सिवा और कोई रास्ता न रहा। कार्य-समितिवालो को किसी भी समय अपने गिरफ्तार हो जाने की आशका हो गयी थी, और वहाँ से विदा होने के पहले वे देश को आगे के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर देना चाहते थे। इसी दृष्टि से आरज़ी

तौर पर सविनय-भग का प्रस्ताव पास किया गया, और गाधीजी ने वाइसराय से मुलाकात करने की दुबारा कोशिश की। उन्होने वाइसराय को बिना शर्त के मुलाकात देने के लिए तार दिया। सरकार का जवाब गाधीजी और काग्रेस के सभापति[1] की गिरफ्तारी के रूप मे मिला और साथ ही वह डोरी भी हिला दी गयी जिससे कि सारे देश मे भयकर दमन का नाटक शुरू हो गया। यह तो स्पष्ट ही था, कि चाहे दूसरा कोई लडाई चाहता हो, या न चाहता हो, लेकिन सरकार तो लडाई के लिए बेचैन थी और पहले ही जरूरत से ज्यादा तैयार बैठी थी।

हम तो जेल मे ही थे और ये सारी खबरे हमारे पास गोलमोल और तितर-बितर होकर आयी। हमारा मुकदमा नये साल के लिए स्थगित कर दिया गया, इसलिए हमे हवालाती कैदी होने के कारण सजायापता कैदियो की अपेक्षा ज्यादा मुलाकाते करने का मौका मिला। हमने सुना कि वाइसराय को मुलाकात मजूर करनी चाहिए थी या नही ...र अखबारो मे बहुत वाद-विवाद चल रहा है, मानों इससे कोई बडा ...क पडनेवाला था। यह मुलाकात का प्रश्न ही और सब बतो से बढ कर चर्चा का विषय हो रहा था। यह कहा गया कि अगर लार्ड अर्विन होते तो वह मुलाकात जरूर मजूर कर लेते, और अगर उनमे और गाधीजी मे मुलाकात हुई होती तो निश्चय ही सब कुछ ठीक हो जाता। मुझे अचरज हुआ कि परिस्थिति के बारे मे हिन्दुस्तान के अखबार कितनी ज्यादा सरसरी निगाह से काम लेते है, और असलियत की ओर कैसे आँख उठाकर नही देखते है। क्या हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद का, जिनमे सूक्ष्म विचार करने से मालूम होगा कि कभी मेल नही हो सकता, अवश्यम्भावी सघर्ष किन्ही व्यक्तियो की व्यक्तिगत इच्छाओं पर ही निर्भर है? क्या इतिहास की दो विरोधी शक्तियो का सघर्ष मीठी मुसकान और आपसी शिष्टता दिखाने-मात्र से हट सकता है? गांधीजी को एक खास दिशा मे ही जाना पडा, इसलिए कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता अपने ही सिद्धान्तो

---

१. सरदार वल्लभभाई पटेल

का त्याग करके अपनी आत्म-हत्या नही कर सकती थी, और न महत्त्व-पूर्ण मामलो मे विदेशी फरमानो के सामने खुशी से झुक सकती थी। तथा हिन्दुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को दूसरी ही विशेष दिशा मे जाना पडा, क्योकि उन्हे इस राष्ट्रीयता का सामना करना था, और ब्रिटिश स्वार्थो की रक्षा करनी थी और उस समय वाइसराय कोई भी हो इस बात मे जरा भी फर्क नही पड सकता था। लॉर्ड अर्विन भी ठीक वही काम करते जो लॉर्ड विलिंग्डन ने किया, क्योंकि दोनो ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के अस्त्र थे, और वे तँशुदा दिशा मे कुछ बहुत ही मामूली-सा फर्क कर सकते थे। और, बाद मे तो लॉर्ड अर्विन भी ब्रिटिश शासन-तन्त्र के सदस्य होगये, और हिन्दुस्तान मे जो-जो सरकारी कार्रवाइयाँ की गयी उन सबमें उन्होने पूरा-पूरा साथ दिया। हिन्दुस्तान मे प्रचलित ब्रिटिश नीति के लिए किसी खास वाइसराय की तारीफ या बुराई करना मुझे तो बिलकुल ही अनुचित बात मालूम होती है, और हमारे ऐसा करने की आदत का कारण सिर्फ यही हो सकता है कि या तो हम असली सवालो को नही समझते, या उन्हे जान-बूझकर टालना चाहते है।

४ जनवरी सन् १९३२ एक महत्त्वपूर्ण दिन था। उसने बातचीत और बहस का अन्त कर दिया। उस दिन सबरे ही गाधीजी और काग्रेस के अध्यक्ष वल्लभभाई गिरफ्तार कर लिये गये और बिना मुकदमा चलाये, शाही कैदी बना लिये गए। चार नये आर्डिनेन्स जारी कर दिये गये जिसके द्वारा मजिस्ट्रेटो और पुलिस अफसरो को व्यापक-से-व्यापक, अधिकार मिल गये। नागरिक स्वतन्त्रता की हस्ती मिट गयी और जन और धन दोनो पर ही आधिकारी चाहे जब कब्जा कर सकते थे। सारे देश पर मानो कब्जा कर लेने की हालत की घोषणा कर दी गयी और इसको किस-किसपर और कितना-कितना लागू किया जाय, यह मुकामी अफसरो की मर्जी पर छोड दिया गया।[1]

---

१ भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होर नें २४ मार्च १९३२ को कामन-

४ जनवरी को ही नैनी-जेल मे यू० पी० इमर्जेन्सी पावर्स आर्डिनेन्स के मुताविक हमारा मुकदमा हुआ। शेरवानी को छ महीने की सख्त कैद और १५० रुपये जुर्माने की सजा हुई, मुझे दो साल की सख्त कैद और ५०० रुपये जुर्माने (या वदले में छ महीने की कैद और) की सजा दी गयी। दोनो के अपराध विलकुल एक-से थे। हम दोनो को इलाहाबाद शहर मे नजरवन्दी के एक-से हुक्म दिये गये थे। हम दोनो ने ही वम्बई जाने की कोशिश करके उनका एक ही तरह से भग किया था। हम दोनो को एक ही धारा मे गिरफ्तार किया गया, और दोनों का एक साथ ही मुकदमा चला। फिर भी हमारी सजाओ मे वडा अन्तर था। लेकिन एक फर्क जरूर हुआ था। मैने जिला मजिस्ट्रेट को लिखकर सूचना दी थी कि मै हुक्म की खिलाफ-वर्जी करके वम्वई जाना चाहता हूँ; शेरवानी ने ऐसा कोई वाकायदा नोटिस नही दिया था, लेकिन वह भी जाना चाहते है यह वात भी समान-रूप से सव जानते थे और अखवारो मे भी छपी थी। सजा सुनाने के वाद ही शेरवानी ने मजिस्ट्रेट से पूछा कि मुसलमान होने के खयाल से तो मुझे कम सजा नही दी गयी है? उनके इस सवाल से वहाँके मौजूद लोगों को वडा लुत्फ रहा और मजिस्ट्रेट कुछ परेशानी में पड गया।

उस स्मरणीय दिन, ४ जनवरी को देशभर में वहुत-सी घटनायें हुई। इलाहावाद शहर मे, हमारे स्थान से पास ही वडी-वडी भीडो की पुलिस और फौज से मुठभेड हो गई, और वही लाठी-प्रहार हुए, जिसमें कुछ लोग मरे और कुछ घायल हुए। सविनय आज्ञा भग के कैदियो से जेले भरने लगी। पहले तो ये कैदी जिला-जेलों में भेजे गये, और जव वहाँ जगह न रहती तव ही कैदी नैनी आदि सेण्ट्रल जेलो मे आते थे। वाद मे सभी जेले भर गयी, और वडी-वडी स्थायी कैम्प-जेले कायम करनी पडी।

सभा में कहा था कि, "मै मंजूर करता हूँ कि जिन आर्डिनेन्सो का हमने समर्थन कर दिया है वे वडे व्यापक और सख्त है; वे हिन्दुस्तान के जीवन की लगभग हरेक प्रवृत्ति पर असर डालते है।"

नैनी के हमारे छोटे-से अहाते मे बहुत थोड़े लोग आये। मेरे पुराने साथी नर्मदाप्रसाद हमारे पास आ गये। रणजीत पडित और मेरे चचेरे भाई मोहनलाल नेहरू भी आ गये। बेरक न० ६ की हमारी छोटी-सी मित्र-मण्डली मे लका के युवक-मित्र बर्नार्ड एलूबिहारी भी अचानक आगये, जो कि बैरिस्टर बनने के बाद इग्लैण्ड से अभी-अभी लौटे थे। मेरी बहन ने उनसे कहा था कि आप हमारे जुलूस आदि मे शामिल न हों। लेकिन जोश मे आकर वह काग्रेस के एक जुलूस मे शरीक हो ही गये, और एक 'ब्लैक मरिया' गाड़ी उन्हे जेल मे ले आयी।

काग्रेस, जिसमे सबसे ऊपर कार्य-समिति और फिर प्रान्तीय कमिटियाँ और अनगिनती स्थानिक कमिटियाँ शामिल थी, गैर-कानूनी घोषित करदी गयी थी। काग्रेस के साथ-साथ सब तरह से सम्बन्धित या सहानुभूति रखनेवाले या प्रगतिशील सगठन जैसे, किसान-सभाये, किसान सघ, युवक-सघ, विद्यार्थी-मण्डल, प्रगतिशील राजनैतिक-सगठन, राष्ट्रीय-विश्व-विद्यालय और स्कूल, अस्पताल, स्वदेशी दुकाने, पुस्तकालय आदि भी—गैर-कानूनी करार देदिये गये। इनकी सूचियाँ बड़ी लम्बी-लम्बी थी, प्रत्येक बडे प्रान्त के सैकड़ो नाम इनमे शामिल थे सारे हिन्दुस्तान भर का जोड कई हज़ार तक पहुँच गया होगा। इन गैर-कानूनी घोषित सस्थाओ की यह सख्या ही मानों काग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्व और प्रभाव दिखाती थी।

बम्बई मे कमला बिछौने पर बीमार पड़ी थी और आन्दोलन मे हिस्सा न ले सकने के कारण छटपटा रही थी। मेरी माँ और दोनों बहने जोशख़रोश के साथ आन्दोलन मे कूद पडी। मेरी दोनो बहनों को जल्दी ही एक-एक साल की सज़ा मिल गयी और वे जेल पहुँच गयी। नये आनेवालो के ज़रिये या हमे मिलनेवाले स्थानीय साप्ताहिक पत्र द्वारा हमे कुछ अनोखी खबरे मिल जाया करती थी। जो कुछ हो रहा था उसकी हम ज्यादातर कल्पना कर लिया करते थे, क्योंकि सब दूर सेन्सर की बडी सख़्ती थी, और समाचार-पत्रों और समाचार एजेन्सियो को भारी-भारी जुर्मानो का डर हमेशा बना रहता था। कुछ

प्रान्तो मे तो गिरफ्तारशुदा या सजायाब व्यक्ति का नाम लिख देना भी जुर्म था।

इस तरह हम नैनी-जेल मे बाहर के झगडों से अलग पडे हुए, फिर भी उनमे सैकडों तरह से उलझे हुए, रह रहे थे। हमने अपने को कातने, पढने या दूसरे कामो मे मशगूल कर रक्खा था, और कभी-कभी हम दूसरे मामलो पर भी वातचीत करते थे, लेकिन हमलोग यही सोचते रहते थे कि जेल की चहार दीवारी के बाहर क्या हो रहा है ? उससे हम अलग भी थे और फिर भी उसमे शामिल थे। कभी-कभी किसी काम की उम्मीद करते-करते वहुत थक जाते थे और कभी-कभी किसी काम के विगड जाने पर गुस्सा आता था, और किसी कमजोरी या भद्देपन पर तवियत झुंझला उठती थी। लेकिन कभी-कभी हम अजीव ढग से तटस्थ से हो जाते थे और सारे दृश्य को शान्ति और अनासक्ति से देख सकते थे, और यह अनुभव करते थे कि जव वडी-वडी ताकते अपना काम कर रही है और दैवी तन्त्र लोगों को पीस रहा है, तव व्यक्तियो की छोटी-छोटी गलतियाँ या कमजोरियाँ कोई महत्व नही रखती। हम सोचा करते थे कि इस झगडे और शोर-गुल का और इस पराक्रमपूर्ण उत्साह, निर्दयता भरे दमन और घृणित कायरता का भविष्य क्या होने वाला है ? इसका क्या नतीजा होगा ? हम किस तरफ जा रहे है ? भविष्य हमारी आँखो से छिपा हुआ था; और अच्छा ही था कि वह छिपा हुआ था, और जहाँतक हमसे सम्वन्ध था, वर्तमान भी एक परदे से कुछ-कुछ छिपा हुआ था। लेकिन हम एक वात जानते थे कि हमारा रास्ता तो आज भी और कल भी, सघर्प, और कष्ट-सहन और वलिदान मे से होकर ही जाता है—

"कल फिर से आरम्भ युद्ध हाँ हो जायेगा,
जेन्थस[1] सारा अहो रक्त से रँग जायेगा,
हेक्टर[2] तथा अजेक्स[3] पुन होंगे समुपस्थित
हेलन[4] भी खुद दृश्य लखेगी हो उच्चस्थित।

१-२-३-४. अजेक्स, हेक्टर, और हेलन यूनानी कवि होमर के

तब हम या परदे मे होगे या चमकेगे रण मे,
अन्धी आश-निराशाओं मे झूलेगे क्षण-क्षण मे,
तब सोचा हमने यह जीवन-बल ला होमा सारा,
किन्तु न जाना आत्मा का क्या होगा हाल हमारा।[५]

'ईलियड' काव्य के पात्र है। (यूनान की सुन्दरी)के हरण होने पर यूनान नें ट्रॉय पर चढ़ाई की थी और दस वर्ष तक ट्रॉय का घेरा चलता रहा। हेक्टर ट्रॉय का योद्धा था और अजेक्स यूनान का। जैन्थस ट्रॉय की एक नदी है।

५. मेथ्यू एरनॉल्ड के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद। —अनु०

: ४२ :

ब्रिटिश शासकों की छेड़छाड़

१९३२ के उन शुरू के महीनो मे, और बातो के अलावा, खास बात यह हुई कि ब्रिटिश हाकिमों ने मारे खुशी के खूब हा-हा-हू-हू की। छोटे और बडे सभी हाकिम चिल्ला-चिल्लाकर यह कहने लगे कि देखो, हम कितने भले और शान्ति-प्रिय है और काग्रेसवाले कितने बुरे और झगडालू है। हम लोग लोकतन्त्र के हामी है जबकि काग्रेस को डिक्टेटर-शिप भाती है। वह देखो काग्रेस का सभापति डिक्टेटर के नाम से पुकारा जाता है। एक धर्म-कार्य के लिए अपने इस जोश मे हाकिम आर्डिनेन्सो, तमाम आजादी के दमन, अखबारो और छापेखानो की मुँहबन्दी बिना मुकदमा चलाये लोगो की जेल-बन्दी, जायदाद और रुपयो की जब्ती और रोज़-ब-रोज़ होनेवाली बहुत-सी दूसरी अद्भुत चीजो-जैसी न-कुछ बातो को भूल गये थे। इसके अलावा वे, हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश राज का जो मूल स्वरूप है, उसको भी भूल गये। सरकार के वे मिनिस्टर, जो हमारे ही देशभाई थे, इस विषय पर बडे धारा-प्रवाह व्याख्यान देने लगे, कि जेलों मे बन्द काग्रेसी किस तरह अपना मतलब गाँठ रहे है जबकि हम कुछ हजार रुपये महीनो की न-कुछ-सी मजदूरी पर पब्लिक की भलाई मे दिन-रात जुटे रहते है। छोटे-छोटे मजिस्ट्रेट हम लोगो को भारी-भारी सज़ाये तो देते ही थे, लेकिन सजा देते वक्त हमे उपदेश भी देते थे, और उन उपदेशो के साथ-साथ कभी-कभी वे काग्रेस और काग्रेस मे काम करनेवाले लोगो को गालियाँ भी देते थे। भारत-मन्त्री के ऊँचे ओहदे की गम्भीर प्रतिष्ठावाले पद से सर सैम्युअल होर तक ने यह ऐलान किया कि, "हाँ, कुत्ते भौक रहे है, मगर हमारा कारवाँ चला जा रहा है।" उस वक्त वह यह भूल गये थे कि कुत्ते जेलो मे बन्द थे, वहाँ से वे आसानी से भौक नही सकते थे और जो कुत्ते बाहर रह गये थे उनके मुँह बिलकुल बन्द कर दिये गये थे।

सबसे ज्यादा अचरज की बात तो यह थी कि कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दगे का दोष काग्रेस के माथे मढा जा रहा था। यह दगा सच-मुच बहुत ही बीभत्स था, लेकिन उसकी बीभत्सता बार-बार जतलाई गई और बराबर ही यह बताया गया कि उसकी बीभत्सता के लिए काग्रेस ज़िम्मेदार थी, जबकि असली बात जो हुई वह यह थी कि उस दगे मे काग्रेस ने वही किया जो कि करना ठीक था। यहाँ तक कि काग्रेस का एक सर्वश्रेष्ठ सेवक[1] उसमे बलि चढ गया, जिसके बलिदान पर कानपुर के हर कौम और दल ने आँसू बहाकर शोक प्रकट किया। दगो की खबर पाते ही काग्रेस ने अपने कराची के अधिवेशन मे फौरन ही एक जाँच-कमिटी बिठादी और इस कमिटी ने एक बहुत मुकम्मिल जाँच की। कई महीने मेहनत करने के बाद कमिटी ने एक बड़ी रिपोर्ट छपाई। सरकार नें फौरन ही इस रिपोर्ट को ज़ब्त कर लिया। उसकी छपी हुई कापियाँ उठा ली गई, और मेरी समझ मे वे नष्ट कर डाली गई। जाँच के नतीजो को इस तरह दबा देने के बाद भी हमारे सरकारी आलोचक और वे अखबार जिनके मालिक अग्रेज है हर बार यह बात दुहराते नही थकते कि दगा काग्रेस की वजह से हुआ। इसमे कोई शक नही कि इस मामले मे ही नही, दूसरे और मामलो मे भी, अन्त मे जीत सचाई की होगी; लेकिन कभी-कभी झूठ बहुत दीर्घजीवी हो जाती है। एक कवि के शब्दो मे:—

"यह असत्य निश्चय ही जग मे नष्ट एक दिन होगा,
पर तब तक वह बुरी तरह से क्षत-विक्षत करदेगा।
सत्य महान्, उसीकी जग मे विजय अत मे होगी,
पर उस क्षण तक उसे देखने बैठा कौन रहेगा ?"[2]

मेरा खयाल है कि हिस्टीरिया जैसी युद्ध-मनोवृत्ति का यह प्रदर्शन बिलकुल स्वाभाविक था और ऐसी हालत में कोई भी इस बात की

---

१. श्री गणेशशंकर विद्यार्थी।

२. अंगेजी पद्य का भावानुवाद

उम्मीद नही कर सकता था कि सच्चाई से या सयम से काम लिया जायगा, लेकिन फिर भी ऐसा मालूम पडता था कि उसमे आशातीत झूठ और छूट से काम लिया गया। उसकी गहराई और झूठ को देखकर अचम्भा होता था इससे हमे इस बात का पता चल जाता है कि हिन्दुस्तान के शासक-दल की प्रवृत्ति कैसी थी और पिछले दिनों मे वे अपने को कितना दबाये रखते थे। सम्भवत उनको यह गुस्सा हमारे किसी काम पर या हमारी किसी बात की वजह से नही आया, बल्कि इस विचार से आया कि अपने साम्राज्य से हाथ धो बैठने का उ हे जो डर पहले था वह सच होता दीखता है। जिन शासको की अपनी ताकत का भरोसा होता है वे इस तरह हिम्मत नही हारते। शासको की इस मनोवृत्ति मे और उधर दूसरी तरफ की तस्वीर में जमीन-आसमान का फर्क था। क्योकि काग्रेस की तरफ बिलकुल खामोशी छायी हुई थी। मगर यह खामोशी सयम की—स्वेच्छा-पूर्वक और गौरवपूर्ण सयम की—सूचक नही थी, वल्कि इसलिए थी कि काग्रेसवाले जेलो मे वन्द थे और बाकी के लोग डरे हुए थे तथा अखवारवालो को भी सर्व-व्यापी सेसर का डर था। इसमे कोई शक नही कि अगर काग्रेसवालो का मुँह इस तरह मजबूरी से वन्द न होता तो वे भी मनमानी बकवास करते बढा-चढाकर वाते कहते और गालियाँ देने मे शासको को मात करते। मगर, हाँ, काग्रेसवालो के लिए भी एक रास्ता तो था। वह था गैर-कानूनी अखबारो का, जो कई शहरो मे समय-समय पर निकाले जाते थे।

हिन्दुस्तान मे अधगोरो के जो अखबार निकलते है और जिनके मालिक अग्रेज है वे भी बडे रस के साथ इस हा-हा, हू-हू मे शामिल हुए और उन्होने ऐसे बहुत-से विचार प्रकट किये और फैलाये जो शायद बहुत दिनो से उनके दिलों मे दबे हुए पडे थे। यों आमतौर पर उन्हे अपनी बात कुछ समझ-बूझकर कहनी पडती है, क्योकि बहुत-से हिन्दुस्तानी उनके अखबारो के ग्राहक है; लेकिन जब नाजुक वक्त आ गया तब यह सब सयम बह गया और हमे अग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनो ही के मन झलक मिल गयी। अब हिन्दुस्तान मे अधगोरे अखवार

बहुत कम रह गये है, वे एक-एक करके बन्द हो गये है, लेकिन जो बाकी बचे है, उनमे कई ऊँचे दरजे के है—खबरो के लिहाज़ से भी और आकार-प्रकार की सुन्दरता के लिहाज से भी। दुनिया की समस्याओ पर उनके जो अग्रलेख होते है, यद्यपि वे हमेशा अनुदार लोगो के दृष्टिकोण से लिखे जाते है फिर भी, उनमे लिखनेवालो की योग्यता झलकती है, और इस बात का पता चलता है कि उन्हे अपने विषय का ज्ञान है और उसपर पूरा अधिकार है। इसमे कोई शक नही कि अखबारो की दृष्टि से सभवत वे सबसे अच्छे है, लेकिन हिन्दुस्तान के राजनैतिक मामलो मे वे अपने पद से गिर जाते है। उनके एकपक्षी विचारो को देखकर ताज्जुब होता है। और जब कभी आन-बान का मौका आता है तब तो उनकी वह हिमायत प्राय बकवास और गँवारूपन का रूप धारण कर देती है। वे सच्चाई के साथ भारत-सरकार की राय को प्रकट करते है और इस सरकार के हक मे वे लगातार जो प्रचार करते है उसमे अपनी बात किसी पर जबरदस्ती न थोपने का गुण नही होता।

इन कुछ गिने-चुने अधगोरे अखबारो के मुकाबिले मे हिन्दुस्तानी अखबार नीचे दरजे के है। उनके पास आर्थिक साधन बहुत कम होते है और उनके मालिक उनकी तरक्की करने की बहुत कम कोशिश करते है। वे अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी मुश्किल से चला पाते है और विचारे दुखी सम्पादकीय-विभाग को बडी मुसीबत का सामना करना पडता है। उनका आकार-प्रकार भद्दा है, उनमे छपनेवाले विज्ञापन अक्सर बहुत आपत्तिजनक होते है और क्या राजनीति और क्या सामान्य जीवन दोनों मे वे बहुत बढी-चढी भावुकता का परिचय देते है। मै समझता हूँ कि कुछ तो इसकी वजह यह है कि हम लोगो की जाति ही भावुकतामय है और कुछ यह कि जिस भाषा मे (यानी अँग्रेजी मे) वे निकलते है वह विदेशी भाषा है और उसमे सरलता से और साथ ही ज़ोर के साथ लिखना आसान नही है। लेकिन असली कारण तो यह है कि हम सब लोग कई किस्म के ऊँचे-नीचे विचारों से ग्रस्त है जो बहुत

दिनों के दमन और गुलामी की वजह से पैदा हुए है, इसलिए इन भावो को बाहर निकालने की हमारी प्रत्येक विधि भावुकता से भरी हुई होती है।

अंग्रेजी मे निकलनेवाले हिन्दुस्तानी मालिकों के अखबारो में जहाँतक बहिरंग की सुन्दरता और समाचार-सपादन से सबध है, मदरास का 'हिंदू' संभवत. सबसे अच्छा है। उसे पढ़कर मुझे हमेशा किसी अविवाहित वृद्धा की याद आ जाती है, जो हमेशा मर्यादा और औचित्य को पसन्द करती है और अगर उसके सामने बेअदबी का एक हरुफ भी कह दिया जाय तो उसे बहुत बुरा मालूम होता हो। यह अखबार खासतौर पर मध्यम श्रेणीवालो का अखबार है, जिनकी जिन्दगी चैन से गुजरती है जिंदगी के नकली या ऊपरी पहलुओ से जीवन के सघर्षों और उसकी धक्का-मुक्की का, उसका कोई पता नही। नरम-दल के और भी कई अखबारों का स्टैंडर्ड यही अविवाहित वृद्धाओ का-सा है। इस स्टैंडर्ड तक तो वे पहुँच जाते, लेकिन उनमें वह खूबी नही आ पाती जो 'हिंदू' में है और इसलिए वे हर लिहाज से बहुत नीरस हो जाते है।

यह साफ था कि सरकार ने वार करने की तैयारी बहुत पहले से कर रक्खी थी और वह यह चाहती थी कि शुरू ही में उसकी चोट जहाँतक हो सके पूरी कसकर बैठे और उसे खानेवाला चक्कर खाकर गिर पड़े। १९३० में वह हमेशा इस कोशिश में रहती थी कि दिन-पर-दिन जो हालत बिगड़ती जा रही है उसे नये-नये आर्डिनेन्सों से सम्हाले। उन दिनो वार का सूत्रपात हमेशा कांग्रेस की तरफ से होता था, लेकिन १९३२ की पद्धति बिल्कुल दूसरी थी। १९३२ में सरकार ने सब तरफ से हमला करके लड़ाई शुरू की। अखिल-भारतीय और प्रान्तीय आर्डि-नेन्सो के द्वारा हाकिमो को जितने अधिकार सौंपे जा सकते थे सभी दे दिये गये। संस्थायें गैरकानूनी करार दे दी गयीं। इमारतो पर, जायदाद पर, सवारियों, मोटरो वगैरा पर और बैंको में जमा रुपयो पर कब्जा कर लिया गया। आम जलसो और जुलूसो की मनाही करदी गयी और अखबारों और छापेखानो पर पूरी तरह नियन्त्रण कर लिया गया। दूसरी तरफ, १९३० के बिलकुल विरुद्ध, गांधीजी निश्चितरूप से यह

चाहते थे कि उस वक्त सत्याग्रह न किया जाय। कार्य-समिति के ज्यादातर मेम्बरों की भी यही राय थी। उनमे से कुछ, जिनमे से मै भी एक था, यह समझते थे कि हम कितना ही नापन्द करे लेकिन लड़ाई हुए विना नही रहेगी और हमे उसके लिए तैयार रहना चाहिए। इसके अलावा सयुक्तप्रान्त मे और सरहदी सूबे में जो तनातनी वढ रही थी उससे लोगों का ध्यान भावी लडाई की तरफ लग रहा था। लेकिन कुल मिलाकर मध्यम श्रेणी के और पढे-लिखे लोग लडाई की वात नहीं सोच रहे थे, हालाँकि वे लडाई की सभावना की पूरी अपेक्षा नही कर सकते थे। किसी तरह हो, उन्हे यह उम्मीद थी कि गाधीजी के आने पर यह लड़ाई टल जायगी और जाहिर है कि इस मामले मे उनकी लडाई से वचने की इच्छा ने ही उनके हृदयो मे यह आशा पैदा कर दी थी।

इस तरह १९३२ के शुरू मे निश्चितरूप से पहला हमला सरकार की तरफ से होता था और काग्रेस हमेशा अपना वचाव करने मे लगी रहती थी। आर्डिनेन्सो को और सत्याग्रह-सग्राम को पैदा करनेवाली जो घटनाये अचानक हो गई उनकी वजह से कई जगह के स्थानिक नेता तो भौचक्के रह गये। लेकिन ये सव वाते होते हुए भी काग्रेस की पुकार का लोगों ने जो जवाव दिया वह ऐसा-वैसा नही था। सत्याग्रहियों की कमी नही रही। वल्कि सच वात तो यह है और मेरे खयाल से इस वात मे कोई शक नही हो सकता कि १९३२ मे ब्रिटिश सरकार का जो मुकाविला किया गया वह १९३० मे किये जानेवाले मुकाविले से वहुत कडा और भारी था। यद्यपि १९३० मे खासतौर पर वडे-वडे शहरो मे धूमधाम और शोरगुल ज्यादा थे परन्तु साथ ही यद्यपि १९३२ मे लोगों ने सहन-शक्ति पहले से ज्यादा दिखाई और वे पूरी तरह शान्त रहे, किन्तु इन वातो के होते हुए भी स्फूर्ति की प्रारम्भिक लहर का जोर १९३० से वहुत कम था। ऐसा मालूम होता था मानो हम अनिच्छा से लडाई मे शामिल हुए थे। १९३० में हमारी लडाई में हम एक तरह का गौरव महसूस करते थे जो दो साल वाद अव कुछ-कुछ मुरझा गया था। सरकार ने उसके पास जितनी ताकत थी सव लगाकर काग्रेस का मुका-

बिला किया। उन दिनो हिन्दुस्तान एक तरह से फौजी कानून के अधीन रहा और कांग्रेस असल मे कभी भी पहला हमला न कर सकी, और न उसे काम करने की आजादी ही मिली। वह पहले ही प्रहार मे बेहोश हो गयी। उसके उन धनी-मानी हमदर्दों मे से, जो पिछले दिनो मे उसके खास मददगार रहे थे, बहुत से इस बार घबरा गये। उनके धन-माल पर आ बनी। यह बात साफ दीखती थी कि जो लोग सत्याग्रह-सग्राम मे शामिल होगे या और किसी तरह से उसकी मदद करेगे, न सिर्फ उनकी आजादी ही छीन ली जा सकती थी बल्कि शायद उनकी सारी जायदाद भी जब्त कर ली जासकती थी। इस बात का हम लोगो पर युक्तप्रान्त में तो कोई खास असर नही पडा, क्योकि यहाँ तो कांग्रेस गरीबो ही की थी। लेकिन बम्बई जैसे बडे शहरों मे इस बात का बडा भारी असर पडा। व्यापारियों के लिए तो इसका अर्थ था पूरा सत्यानाश। पेशेवर लोगों (जैसे वकीलों-डाक्टरो) को भी उससे भारी नुकसान पहुँचता था। इसकी धमकी भर से—कभी-कभी तो वह धमकी पूरी करके भी दिखायी गयी—शहर के अमीर श्रेणी के लोगो को लकवा-सा मार गया। पीछे मुझे मालूम हुआ कि एक डरपोक मालदार व्यापारी को पुलिस ने यह धमकी दी थी कि तुम्हे लम्बी कैद की सजा देने के साथ तुम पर पाँच लाख का जुर्माना किया जायगा। इस व्यापारी का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही था, सिवा इसके कि कभी-कभी राजनैतिक कामो के लिए चन्दा दे दिया करता था। ऐसी धमकियाँ एक आम बात हो गयी थी, और ये कोरी बातों की धमकियाँ ही न थी, क्योकि उन दिनो पुलिस सर्वशक्तिमान थी और लोगो को हर रोज़ इन धमकियो के पूरे होने के उदाहरण मिलते रहते थे।

मेरा विचार है कि किसी कांग्रेसी को इस बात का अधिकार नही है कि सरकार ने जो तरीका अख्तियार किया उसपर ऐतराज करे—यद्यपि एक सोलहो आने अहिंसात्मक आन्दोलन का दमन करने लिए सरकार ने जिस जोर-जबरदस्ती से काम लिया वह किसी भी शाइस्ता पैमाने से बहुत आपत्तिजनक थी। अगर हम लोग सीधी लडाई के

क्रान्तिकारी साधनों से काम लेते है तो हमे हर तरह के विरोध के लिए तैयार रहना चाहिए, फिर चाहे हमारे साधन कितने भी अहिंसात्मक क्यो न हो ? हम लोग अपने बैठकखाने मे बैठे-बैठे क्रान्ति का खेल नही खेल सकते, यद्यपि कुछ लोग इन दोनो का फायदा साथ-साथ ही उठाना चाहते है। अगर कोई क्रान्ति की ओर कदम बढाना चाहते है, तो उन्हे उनके पास जो कुछ है उस सबको खो बैठने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसीलिए धन-दौलत और पैसेवाले अमीर लोगो मे से तो बिरले ही क्रान्तिकारी मिलेगे। हाँ, उन व्यक्तियो की बात दूसरी है जो व्यवहार-चतुर लोगों की दृष्टि मे मूर्ख और अपनी जाति के घातक कहलाते है।

लेकिन आम लोगो के पास न तो मोटरे थी, न बैंकों मे उनका कोई हिसाब था, न जब्त करने लायक जायदाद, और उन्ही लोगो पर लडाई का असली बोझ था। इसलिए अवश्य ही उनके लिए सरकार ने दूसरे तरीके अख्तियार किये। सरकार ने चारों तरफ जिस बेरहमी से काम लिया उसका एक मजेदार नतीजा यह हुआ कि उन लोगों का दल उठ खडा हुआ जिनको हाल ही मे छपी एक किताब के अनुसार 'सरकार-परस्तों' (Governmentarians) के नाम से पुकारा जा सकता है। इन लोगो को यह तो पता नही था कि भविष्य मे क्या होनेवाला है, इसलिए ये लोग काग्रेस के आगे-पीछे चक्कर काटने लगे थे। लेकिन सरकार इस बात को बरदाश्त करने को तैयार न थी। वह निष्क्रिय राजभक्त को काफी नही समझी थी। गदर के समय मे मशहूर हुए फ्रेडरिक कूपर के शब्दों मे शासक लोग, 'पूरी, क्रियाशील और प्रत्यक्ष वफादारी से कम किसी बात को सह नही सकते। सरकार इतना नीचे उतरने को तैयार नही हो सकती थी कि वह अपनी रिआया के सद्भाव मात्र पर कायम रहे।' अपने पुराने साथियो, ब्रिटिश-लिबरल (उदार) दल के उन नेताओं के विषय मे, जो राष्ट्रीय सरकार मे जा मिले थे, एक साल पहले श्री लॉयड जार्ज ने कहा था कि "वे उन गिरगिटों के नमूने है जो अपने देश-काल की अवस्था देखकर अपना रग बदल लेते

है।" हिन्दुस्तान की नई देशकालावस्था मे न्यारे रगो के लिए गुजाइश नही थी, इसलिए हमारे कुछ देश-भाई सरकार की पसन्द के अत्यन्त चमकीले रग मे रगकर बाहर निकले और दावतें खाते तथा गीत गाते हुए उन्होने शासको के प्रति अपना प्रेम और आदर दिखाया। जो आर्डिनेन्स जारी किये गये थे उनसे, तरह-तरह की जो पाबन्दियाँ, मनाहियाँ और रोके लगी हुई थी उनसे, और दिन छिपे बाद घरो से बाहर न निकलने के हुक्म जारी किये गये थे उनसे उन्हे डरने की कोई ज़रूरत न थी, क्योकि सरकार की ओर से यह बात कह दी गई थी कि यह सब तो राजद्रोहियो और अ-राजभक्तो ही के लिए है, राजभक्तो के लिए उनसे डरने का कोई कारण नही है। इसलिए जिस डर ने हमारे बहुत से देश-भाइयो को जकड रक्खा था वह उनके पास तक नही फटका और वे अपने चारो तरफ होनेवाले हलचल और कशमकश सघर्ष को समदृष्टि से देखते थे। पतिव्रता ग्वालिन (The Faithful Shepherdess) नाम की कविता में शायद वे भी क्लो से सहमत होते, जब उसने यह कहा कि —

"भय क्यो हो, सर्वथा मुक्त हूँ मै तो भय से,
बलात्कार क्यो, राजी हूँ जब स्वय हृदय से ?[१]"

न जाने कैसे सरकार को यह ख़याल हो गया कि काग्रेस जेलो को औरतो से भरकर अपनी लडाई मे उनका लाभ उठाना चाहती है। क्योकि काग्रेसवाले समझते होगे कि औरतो के साथ अच्छा वर्ताव किया जायगा य उनको थोडी सजा दी जयागी। यह धारणा बिलकुल निराधार थी। ऐसा कौन है जो यह चाहता हो कि हमारे घर की औरतें जेलो मे धकेली जायँ ? मामूली तौर पर लडकियो और स्त्रियो ने हमारी लडाई मे क्रियात्मक भाग अपने पिताओ और भाइयो या पतियो की इच्छा के विरुद्ध ही लिया, किसी भी हालत में उन्हे अपने घर के पुरुषो का पूरा सहयोग नही मिला। फिर भी सरकार ने यह तय किया कि लम्बी-

---

१ फ्लेचर कवि के एक 'प्रहसन' से।

लम्बी सज़ायें देकर और जेलों में बुरा बर्ताव करके स्त्रियों को जेल जाने से रोका जाये। मेरी बहनों की गिरफ्तारी के बाद शीघ्र ही कुछ युवती लड़कियाँ, जिनमें से अधिकांश पन्द्रह या सोलह वर्ष की थीं, इलाहाबाद में इस बात पर ग़ौर करने के लिए इकट्ठी हुईं कि अब क्या करना चाहिए। उन्हें कोई अनुभव तो था नहीं। हाँ, उनमें जोश भरा हुआ था और वे यह सलाह लेना चाहती थीं कि हम क्या करें। लेकिन जब वे एक प्राइवेट घर में बैठी हुई बातें कर रहीं थीं, गिरफ्तार करली गईं और हरेक को दो-दो साल की सख्त क़ैद की सज़ा दी गयी। यह तो उन बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाओं में से एक थी जो उन दिनों आये दिन हिन्दुस्तान-भर में हो रही थीं। जिन लड़कियों व स्त्रियों को सज़ा मिली उनमें से ज्यादातर को बहुत कठिनाई उठानी पड़ी। उन्हें मर्दों तक से भी ज्यादा तकलीफ़ें भुगतनी पड़ीं। यों मैंने ऐसी कई दुःखदायी मिसालें सुनीं, लेकिन मीरा बहन (मिस मेडलीन स्लेड) ने बम्बई की एक जेल में अपने तथा अपने साथी क़ैदी, दूसरी सत्याग्रही स्त्रियों, के साथ होनेवाले जिस व्यवहार का वर्णन किया वह उन सबको मात करनेवाला था।

संयुक्तप्रान्त में हमारी लड़ाई का केन्द्र देहाती रक़बों में ही रहा। किसानों के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस ने जो लगातार ज़ोर डाला उसकी वजह से सरकार ने काफ़ी छूट देने का वादा किया लेकिन हम उसे भी काफ़ी नहीं समझते थे। हमारी गिरफ्तारी के बाद फ़ौरन ही और भी छूट का ऐलान किया गया। विचित्र बात तो यह थी कि इस छूट का ऐलान पहले से नहीं किया गया; क्योंकि अगर यह पहले हो जाता तो हालत में काफ़ी अन्तर पड़ जाता। हम लोगों के लिए यह मुश्किल हो जाता कि हम उसे यों ही ठुकरादें। लेकिन उस वक़्त तो सरकार को यह चिन्ता थी कि इस छूट की नामवरी कांग्रेस को न मिलने पावे। इसलिए एक तरफ़ तो वह कांग्रेस को कुचलना चाहती थी और दूसरी तरफ़ किसानों को जितनी छूट वह दे सकती थी उतनी देती थी कि जिससे वे चुपचाप अपने घर बैठे रहें। यह बात तो साफ़ तौर पर दिखाई देती थी कि जहाँ-जहाँ कांग्रेस का ज़ोर ज्यादा था वहीं-वहीं ज्यादा छूट मिली थी।

यद्यपि ये छूटे ऐसी-वैसी न थी, फिर भी उनसे किसानो की समस्या हल न हुई। हाँ, उनसे स्थिति बहुत-कुछ सभल जरूर गई इन छूटो ने किसानो की लडाई की तेजी कम करदी और हमारी व्यापक लडाई की दृष्टि से इन छूटो ने उस समय हमे कमज़ोर कर दिया। उस लडाई से युक्तप्रात मे बीसियो हज़ार किसानो को दु ख झेलने पडे। उनमे से कई तो उसकी वजह से बिलकुल बर्बाद हो गये। लेकिन उस लडाई के ज़ोर से लाखो किसानो को मौजूदा प्रणाली मे ज्यादा-से-ज्यादा जितनी छूट संभव हो सकती थी करीब-करीब उतनी मिल गई और उस लडाई ने तरह-तरह की तँगियो से भी उनकी जान बचा दी। सत्याग्रह-सग्राम या उसके पुछल्लो की वजह से बहुतों को जो तकलीफ उठानी पडी वह अलग ही। किसानो को कभी-कभी जो ये थोडे से फायदे होगये वे ऐसे कुछ है नही, लेकिन इस बात मे कोई शक नही है कि वे जैसे कुछ थे प्राय उस लगातार कोशिश के फल थे जो युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी ने किसानो की तरफ से की थी। और किसानो को उस लडाई से कुछ दिनो के लिए फायदा ही हुआ, लेकिन उनमे जो सबसे अधिक बहादुर थे, वे उस लडाई मे काम आ गये।

दिसम्बर १९३१ में जब युक्तप्रॉंत का विशेष आर्डिनेस जारी हुआ तब उसके साथ-साथ एक विवरणात्मक वक्तव्य निकाला गया था। इस बयान मे और दूसरे आर्डीनेसो के साथ-साथ जो बयान निकाले गये, उनमे बहुत सी असत्य और अर्ध सत्य बाते भरी हुई थी, जो प्रचार के मतलब के लिए कही गई थी। यह सब शुरू-शुरू की हू-हा का हिस्सा था और हमे उसका जवाव देने या उनकी स्पष्ट गलतियो के खडन करने का कोई मौका नही मिला। शेरवानी के मत्थे खासतौर पर एक झूठा दोप मढने की कोशिश की गयी थी। यह झूठ साफ-साफ चमकता था और शेरवानी ने गिरफ्तारी से कुछ ही पहले उसका खडन कर दिया था। ये तरह-तरह के बयान और सरकार की सफाइयाँ बडी अजीब होती थी। उनसे मालूम होता था कि सरकार कितनी बर्राती थी और कितनी हडबडा गयी थी। उस दिन जब मै वह आज्ञापत्र पढ रहा

था, जो स्पेन के बोरबन चार्ल्स तीसरे ने अपने राज्य से जेसुइट्स को निकालते हुए जारी किया था, तो उसे पढते-पढते मुझे उन हुक्मनामो और आर्डिनेसो की तथा उन्हे निकालने के लिए दिये गये कारणो की याद आये बिना न रही जो ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान मे प्रकाशित किये। चार्ल्स का वह हुक्मनामा फरवरी १७६७ को निकला था। बादशाह ने यह कहकर अपने हुक्म को ठीक ठहराया था कि इसको निकालने के लिए हमारे पास 'अपनी प्रजा मे अपना शासन, शांति और न्याय की रक्षा करने के लिए मेरा जो कर्त्तव्य है उससे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ही गम्भीर कारण है और इन कारणो को छोडकर दूसरे बहुत जरूरी उचित और आवश्यक कारण भी है, जिन्हे मै अपने दिल मे सुरक्षित रख रहा हूँ।"

तो आर्डिनेन्स निकालने के जो असली कारण थे वे तो वाइसराय के दिल मे या उनके सलाहकारो के साम्राज्यवादी दिलो मे ही बन्द रहे, यद्यपि वे साफ-साफ दीख पडते थे। सरकार की तरफ से आर्डिनेन्सों को निकालने के लिए जो कारण बताये गये, उनसे हमे सरकारी प्रचार की उस विद्या को समझने का मौका मिला जिसे ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान मे पूर्णता पर पहुँचा रही थी। कुछ महीने बाद हमे यह भी मालूम हुआ कि कुछ अर्द्ध-सरकारी परचे व पैम्फलेट हजारो की तादाद मे सब गावो मे बाँटे जा रहे है, और जिनमे गलत बातो की तादाद काफी आश्चर्यजनक है और जिनमे खासतौर पर यह बात भी कही गई थी कि किसानो को नाज की जिस मन्दी से नुकसान पहुँचा है, वह कांग्रेस ने ही कराई है। कांग्रेस की ताकत की इससे ज्यादा तारीफ और क्या हो सकती है कि वह ससारव्यापी सकट पैदा कर सकती लेकिन यहाँ झूठ लगातार काफी होशियारी के साथ इस आशा से फैलाई गई कि उससे कांग्रेस की धाक को धक्का लगेगा।

इन सब बातो के होते हुए भी युक्तप्रान्त के कुछ खास-खास जिलो के किसानो ने सत्याग्रह की लडाई मे जो हिस्सा लिया था, वह प्रशसनीय है। सत्याग्रह की यह लडाई लाजिमीतौर पर उचित लगान और छूट की लडाई में मिल गई थी। इस लडाई मे किसानो ने १९३० की लडाई

से कही ज्यादा तादाद मे और ज्यादा अनुशासन के साथ हिस्सा लिया। शुरू-शुरू मे इस लडाई मे कुछ विनोद भी हुआ। हम लोगो को एक मजेदार कहानी यह सुनायी गयी कि पुलिस की एक पार्टी रायबरेली जिले के बाकुलिया गाव मे गई। वे लोग लगान अदा न होने पर माल कुडक करने के लिए गये थे। इस गाँव के लोग दूसरे लोगो को देखते हुए कुछ खुशहाल और जीवट के आदमी थे। उन्होने माल और पुलिस के अफसरो का खूब स्वागत-सत्कार किया और अपने-अपने घरो के किवाड खोलकर उनसे कहा कि चले जाइए और जो चाहे उठा लाइए। इन लोगो ने मवेशी वगैरा कुडक किये। इसके बाद गाँववालो ने पुलिस और माल-विभाग के हाकिमो को पान सुपारी नजर की। वे बेचारे निहायत शर्मिन्दा होकर नीचे को निगाह डालकर वहाँ से चले गये। लेकिन यह तो एक बिरली और गैर-मामूली घटना थी। लेकिन बाद को फौरन ही यह चुहलबाजी या उदारता या मनुष्योचित दया कही भी न दिखाई दी। चुहलबाजी की वजह से बेचारा बाकुलिया गाव उस सजा से नही बच सका जो उसे ऐसा जीवट दिखाने के लिए मिली।

इन कई खास-खास जिलो मे कई महीनो तक किसानो ने लगान रोक रक्खा था। उसकी अदायगी शायद गरमी के शुरू मे शुरू होने लगी। इसमे कोई शक नही कि बहुत से लोग गिरफ्तार किये गये लेकिन ये गिरफ्तारियाँ तो सरकार को अपनी कार्य-नीति के खिलाफ करनी पडी। साधारणतौर पर गिरफ्तारियाँ तो खास-खास कार्यकर्त्ताओ तथा गाँवो के नेताओ की ही की जाती थी। दूसरो को तो केवल मार-पीटकर छोड दिया जाता था। मार-पीट की यह पद्धति जेल में ले जाने और गोली मारने से अच्छी पाई गई। क्योकि लोगो को जब जी चाहे तभी मारा-पीटा जा सकता है और दूर देहात मे होनेवाली मार-पीट की तरफ वहाँ से दूर के लोगो का ध्यान प्राय नही जाता है। इसके अलावा उससे कैदियो की तादाद भी नही बढती, जोकि वैसे ही बढती जाती थी। हाँ बेदखलियाँ, कुडकियाँ और जानवर तथा जायदाद की नीलामियाँ बहुत हुईं। किसान तकलीफ से तडफते हुए यह देखते थे कि उनके पास जो

कुछ थोडा-सा बचा-खुचा था वह भी उनसे छीनकर मिट्टी के मोल बेचा जा रहा है।

देशभर मे जिन बहुत-सी इमारतो पर सरकार ने अपना कब्जा कर लिया था उनमे स्वराज भवन भी था। स्वराज-भवन मे काग्रेस का जो अस्पताल काम कर रहा था उसका भी कीमती सामान और माल सरकार के कब्जे मे ले लिया गया। कुछ दिनो तक तो अस्पताल बिलकुल ही बन्द हो गया, लेकिन उसके बाद पडोस मे एक पार्क की खुली जगह मे ही दवाखाना खोल दिया गया। इसके बाद वह अस्पताल—या कहना चाहिये दवाखाना—स्वराज-भवन से लगे हुए एक छोटे-से मकान मे रक्खा गया और वही वह कोई ढाई बरस तक चलता रहा।

हमारे रहने के घर 'आनन्द-भवन' की बाबत भी कुछ बात चली कि सरकार उसपर भी अपना कब्ज़ा कर लेना चाहती है, क्योकि मैंने इनकम-टैक्स की एक बड़ी बकाया रकम को अदा करने से इनकार कर दिया था। यह टैक्स १९३० मे पिताजी की आमदनी पर लगाया गया था और उन्होने सत्याग्रह की लडाई की वजह से उस साल उसे जमा नही किया। दिल्ली पैक्ट के बाद १९३१ मे उस टैक्स के बारे मे इनकम-टैक्स के हाकिमो से मेरी बहस हुई लेकिन अन्त मे मै उसे देने को राजी हो गया और उसकी एक किस्त दे भी दी। ठीक इसी समय आर्डिनेस जारी हुए और मैंने तय कर लिया कि अब मै टैक्स नही दूंगा। मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बुरी, बुरी ही क्यो, अनीतिपूर्ण भी, मालूम हुई कि मै किसानो से तो यह कहूँ कि तुम लगान और मालगुज़ारी देने से रुक जाओ और ख़ुद अपना इनकम-टैक्स जमा करदूँ। इसलिए मै यह आशा करता था कि सरकार हमारे मकान को कुडक कर लेगी। मुझे अपने मकान की कुडकी की बात बहुत ही बुरी लगती थी। क्योकि उसका अर्थ यह होता है कि मेरी माँ उससे निकाल दी जाती और हमारी किताबे, कागज़ात तथा जानवर और बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ जिनका, निजी उपयोग तथा ममत्व के कारण हमारी दृष्टि मे महत्व

था, पराये लोगो के हाथो मे चली जाती और उनमें से कई तो कदाचित खो भी जाती। हमारा राष्ट्रीय झडा उतार दिया जाता और उसकी जगह यूनियन जैक फहरा दिया जाता। इसके साथ ही, मकान को खो बैठने का विचार मुझे बहुत अच्छा भी मालूम होता। क्योंकि मै अनुभव करता था कि मेरा मकान कुडक हो जाने पर मैं उन किसानों के ज्यादा नजदीक आ जाऊँगा, जो अपनी चीज़े खो बैठे है और इससे उनके दिल भी बढेगे। हमारे आन्दोलन की दृष्टि से तो सचमुच यह बात बहुत ही अच्छी होती। लेकिन सरकार ने दूसरी ही बात तय की। उसने मकान पर हाथ नही डाला, शायद इसलिए कि उसे मेरी माँ का खयाल था, या शायद इसलिए कि उसने ठीक-ठीक यह बात जानली कि मेरे मकान को कुडक करनें से सत्याग्रह-आन्दोलन की तेज़ी बढ जायगी। कई महीने बाद मेरे कुछ रेलवे के शेयरो (हिस्सो) का उसे पता लगा और इनकम-टैक्स वसूल करने के लिए उन्हे ज़ब्त कर लिया गया। सरकार नें मेरी और मेरी बहन की मोटर तो पहले ही कुडक करके बेच डाली थी।

इन शुरू के महीनो की एक बात से तो मुझे बहुत ज्यादा वेदना हुई। यह बात थी कई म्युनिसिपैलिटियो और सार्वजनिक सस्थाओ-द्वारा हमारे राष्ट्रीय झडे का उतार डालना, खासकर कलकत्ता कार्पोरेशन-द्वारा, जिसके मेम्बरो में काग्रेसियो का बहुमत बताया जाता था। झण्डे सरकार और पुलिस के दबाव से लाचार होकर उतारे गये थे, क्योंकि यह धमकी दी गई थी कि अगर वे न उतारे गये तो सरकार सख्ती से पेश आयगी। यह सख्ती सम्भवत म्यूनिसिपैलिटी को तोडने या उसके मेम्बरो को सजा देने के रूप मे होती। जो सस्थाये स्थापित स्वार्थ रखती है वे अक्सर डरपोक होती है और शायद उनके लिए यह अनिवार्य था कि वे झण्डे उतार डालती। फिर भी इस बात से बडा दु ख हुआ। हमारे लिए, वह झण्डा जिन बातों को हम बहुत प्यार करते है उनका, प्रतीक हो गया था और उसकी छाया मे हमने उसके गौरव की रक्षा करने की अनेक प्रतिज्ञायें ली थी। खुद अपने ही हाथो उसे उतार

फेकना या अपने हुक्म से उसे उतरवाना सिर्फ अपनी प्रतिज्ञाओ का तोडना ही नही बल्कि एक दूषित कर्म-सा मालूम होता था। यह अपनी आत्मा को दबा कर अपने भीतर की सचाई की अवहेलना करना था—ज्यादा शारीरिक-बल के सामने झूठ को कुबूल करना था। और जो लोग इस तरह दब गये उन्होने कौम की बहादुरी को बट्टा लगाया और उसकी इज्जत को हल्का किया।

यह बात नही है कि हम उनसे यह उम्मीद करते थे कि वे वीरों की तरह काम करते और आग मे कूद पडते। किसीको इसलिए दोष देना कि वह अगली पक्ति मे नही है या जेल नही जाता या दूसरी तरह की तकलीफे या नुकसान नही सह सकता, गलत और व्यर्थ है। हरेक को बहुत से कर्त्तव्य पूरे करने पडते हैं और कई प्रकार की जिम्मेदारियाँ उठानी पडती है। और दूसरों को इस बात का कोई हक नही है कि वे उनके जज बनकर बैठे। लेकिन पीछे घरों मे बैठे रहना या काम न करना एक बात है और सचाई से या जिसे हम सचाई समझते है उसे न मानना बिलकुल दूसरी बात है—और बहुत ही बुरी बात है। जब म्यूनिसिपैसिटी के मेम्बरो से कोई ऐसी बात करने के लिए कही गई जो राष्ट्रीय हितो के खिलाफ थी तब उनके लिए यह रास्ता खुला हुआ था कि वे अपनी मेम्बरी से इस्तीफा दे देते। मगर, इन लोगों ने तो मेम्बर बने रहना ही पसन्द किया। टॉमस मूर ने कहा है—

पुष्पासन पाकर मधु-मक्खी तज देती गुन्जन सुन्दर,
त्यों कौसिल-कुर्सी पाते ही चुप हो जाते है मेम्बर।[1]

शायद उस काम के लिए किसीकी आलोचना करना अन्याय है जो उन्होने एक ऐसे आकस्मिक सकट मे किया जिससे वे बुरी तरह दब गये थे। जैसा कि पिछला ससारव्यापी युद्ध कई बार दिखा चुका है, कभी-कभी बड़े-से-बडे बहादुरो के भी छक्के छूट जाते हैं। उससे भी पहले

---

१. टॉमस मूर के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

१९१२ मे टाइटैनिक[1] जहाज सम्बन्धी जो भारी दुर्घटना हुई थी उसमें ऐसे-ऐसे नामी आदमियों ने, जिनकी बाबत कभी भी यह खयाल नही किया जा सकता था कि वे कायर है जहाज़ के कर्मचारियो को रिश्वत देकर अपनी जान बचाई और दूसरे लोगो को डूबता छोड दिया। अभी हाल मे मॉरो कैसिल जो आग लगी उससे बहुत ही शर्मनाक हालात मालूम हुए। कोई नही कह सकता कि ऐसा ही सकट आने पर जबकि सहज-स्फूर्त्ति बुद्धि और सयम को दबा लेती है, तब वे खुद क्या करे ? इसलिए हमे किसीको दोष नही देना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नही है कि हम इस बात पर गौर न करे कि हमने जो कुछ किया वह ठीक नही था और भविष्य मे इस बात का खयाल रक्खे कि कौम की नैया का पतवार ऐसे लोगो के हाथ मे न दिया जाय, जो ऐसे वक्त पर, जब सबसे ज्यादा धीरज की जरूरत होती है, काँपने लगे और बेकार हो जाये। अपनी इस असफलता को उचित ठहराने की कोशिश करना और उसे ठीक काम बताना तो और भी बुरा है। सचमुच यह तो इस असफलता से भी ज्यादा बडा अपराध है।

लडनेवाली ताकतो की हरेक कश्मकश ज्यादातर दिलेरी और धीरज पर निर्भर होती है। खूनी-से-खूनी लडाई भी इन्ही दो गुणो पर मुनहसर रहती है। मार्शल फोक ने कहा था—"अत मे जाकर लडाई वही जीतता है जो कभी घबडाता नही और हमेशा धीरज धरे रहता है।" अहिंसात्मक लडाई मे तो कर्तव्य पर डटे रहने और धीरज रखने की और भी ज्यादा ज़रूरत है। और जो कोई अपने आचरण से राष्ट्र के इस सत्व को नुकसान पहुँचाता है तथा उसका धीरज छुटाता है वह अपने उद्देश्य को भयकर हानि पहुँचाता है।

महीने बीतते गये, और हमे हर रोज़ कुछ अच्छी खबरे मिलती

---

[1] विलायत का एक स्टीमर अपनी अमेरिका की पहली ही यात्रा में एक बरफीली चट्टान से टकराकर टूट गया था–(१४ अप्रैल १९१२) और २००० यात्रियो में से केवल ७०६ बच पाये थे। —अनु०

गई और कुछ बुरी। हम लोग अपनी-अपनी जेलों की अपनी नीरस और एकसी जिन्दगी के आदी हो गये। ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह आया। हम लोग यह जानते थे कि इस सप्ताह मे बहुत-सी नयी नयी घटनाये घटित होंगी। सचमुच उस हफ्ते मे बहुत सी बाते हुई भी। लेकिन मेरे लिए एक घटना के सामने बाकी सब बाते फीकी पड गई। इलाहाबाद में मेरी माँ उस जुलूस मे थी जिसे पुलिस ने पहले तो रोका और फिर लाठियो से मारा। जिस वक्त जुलूस रोक दिया गया था उस वक्त किसीने उनके लिए एक कुर्सी ला दी। वह जुलूस के आगे उस कुर्सी पर सडक पर बैठी हुई थी। कुछ लोग, जिनमे मेरे सेक्रेटरी वगैरा शामिल थे और जो खासतौर पर उनकी देखभाल कर रहे थे। गिरफ्तार करके उनसे अलग कर दिये गये और इसके बाद पुलिस ने हमला किया। मेरी माँ को धक्का देकर कुर्सी से नीचे गिरा दिया गया और उनके सर पर लगातार बेंत मारे गये जिससे उनके सर मे घाव हो गया और खून आने लगा और वह बेहोश हो कर सडक पर गिर गईं। सडक से उस वक्त तक जुलूसवाले तथा दूसरे लोग भगा दिये गये थे। कुछ देर के बाद किसी पुलिस अफसर ने उन्हे उठाया और वह उन्हे अपनी मोटर मे बिठाकर आनन्द-भवन पहुँचा गया।

उस रात को इलाहाबाद मे यह अफवाह उड गयी कि मेरी माँ का देहान्त हो गया है। यह सुनते ही क्रोधित लोगो की भीड ने इकट्ठे होकर पुलिस पर हमला कर दिया। वे शान्ति और अहिंसा की बात भूल गये। पुलिस ने लोगो पर गोली चलायी जिससे कुछ लोग मर गये।

इस घटना के कुछ दिन बाद जब इन सब बातो की खबर मेरे पास पहुँची—क्योकि हमे उन दिनो एक साप्ताहिक अखबार मिला करता था—तो अपनी कमजोर बूढी माँ को सडक की धूल मे खून से लथपथ पडने का खयाल मुझे रह रहकर आने लगा। मै यह सोचने लगा कि अगर मै वहाँ होता तो क्या करता? मेरी अहिंसा कहाँ तक मेरा साथ देती? मुझे डर है कि वह ज्यादा हद तक मेरा साथ नही देती। क्योकि वह दृश्य मुझे उस पाठ को बिलकुल भुला देता जिसे सीखने की कोशिश

मैंने वारह वरस से भी ज्यादा समय से की थी और उसका मुझ पर या मेरी कौम पर क्या परिणाम होता इसकी रत्तीभर भी परवा न करता।

धीरे-धीरे वह चँगी हो गई और जव वह दूसरे महीने वरेली जेल में मुझसे मिलने आईं तव उनके सिर पर पट्टी वँधी थी। लेकिन उन्हे इस वात की वडी भारी खुशी और महान् गर्व था कि वह अपने स्वय-सेवक लडको और लडकियो के साथ वेंतो और लाठियो की मार खाने के विशेष लाभ से वचित न रही। लेकिन उनका चगापन उतना असली नही था जितना दिखावटी और ऐसा मालूम होता है कि इतनी वडी उमर में इन्हें जो भारी झकझोरे झेलने पडे उनसे उनका शरीर अस्त-व्यस्त हो गया और उन गहरी तकलीफो को उभाड दिया जिन्होने एक साल वाद भीषण रूप धारण कर लिया।

श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू

: ४३ :

बरेली और देहरादून जेलों में

छ. हफ्ते नैनी-जेल मे रहने के बाद मेरा तबादला बरेली ज़िला जेल मे कर दिया गया। मेरी तन्दुरुस्ती फिर गडवड रहने लगी। मुझे रोज़ बुखार हो आता था, जो मुझे बहुत नागवार मालूम होता था। चार महीने बरेली जेल मे बिताने के बाद, जब गर्मी बहुत सख्त हुई तब फिर मेरा तबादला कर दिया गया। लेकिन इस मर्तबा मुझे बरेली की अपेक्षा एक ठडी जगह, हिमालय की छाया मे, देहरादून जेल मे भेजा गया। मै वहाँ लगातार कोई साढे चौदह महीने, लगभग अपनी दो साल की सज़ा के अखीर तक रहा। इस बीच मे मेरा तबादला किसी दूसरी जगह नही हुआ। इसमे कोई शक नही कि जो लोग मुझसे मिलने आते थे उनसे और खतो तथा उन गिने-चुने अखबारो के जरिये से, जो मुझे पढ़ने को दिये जाते थे, मेरे पास खबरे पहुँच जाती थी, फिर भी बाहर जो कुछ हो रहा था उससे ज्यादातर मै अपरिचित ही रहा और खास-खास घटनाओ के बारे मे मेरी धारणाये बहुत धुँधली थी।

इसके बाद जब मै छूटा तब अपने जाती मामलो मे और उस राजनैतिक परिस्थिति को ठीक करने मे जो मुझे छूटने पर मिली, लगा रहा। कोई पाँच महीने से कुछ ज्यादा की अजादी के बाद मै फिर जेल मे बन्द कर दिया गया और अबतक यही हूँ। इस तरह पिछले तीन सालों मे मै ज्यादातर जेल मे ही—और इसीलिए घटनाओं से बिलकुल दूर, अलग—रहा हूँ। इस बीच मे जो-कुछ हुआ उस सबका तफसीलवार परिचय प्राप्त करने का मुझे बहुत ही कम, नही के बराबर, मौका मिला है। जिस दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे गाधीजी शरीक हुए थे उसमे परदे के पीछे क्या-क्या हुआ इसकी बाबत मेरी जानकारी अबतक बहुत ही धुँधली है। इस मामले पर गाधीजी से बातचीत करने का अबतक मुझे कोई मौका ही नही मिला और न इसी बात का मौका मिला कि

अबतक जो-कुछ हुआ है उसके बारे मे उनके या दूसरे साथियो के साथ बैठकर विचार करलूँ।

१९३२ और १९३३ के सालो के बारे मे मेरी जानकारी इतनी काफी नही हैं कि मै अपने राष्ट्रीय-सग्राम के विकास का इतिहास लिख सकूँ। लेकिन चूँकि मै रगमच को उसकी पृष्ठभूमि को और अभिनेताओ को अच्छी तरह जानता था, इसलिए जो बहुत-सी छोटी-छोटी बाते भी हुयी उनको मै अपने सहज ज्ञान से अच्छी तरह समझ सका। इस तरह मैं उस संग्राम की साधारण प्रगति के विषय मे ठीक राय कायम कर सकता हूँ। पहले चार महीने के करीब तो सत्याग्रह की लडाई काफी ज़ोर और हल्ले के साथ चली लेकिन उसके बाद धीरे-धीरे वह गिरती गई। बीच-बीच मे वह फिर भडक उठती थी। सीधी मार की लडाई क्रान्ति की पराकाष्ठा पर तो थोड़ी देर के लिए ही ठहर सकती है। वह एक जगह स्थिर नही रह सकती, वह या तो तेज़ होगी या नीचे गिरेगी। पहले आवेश के बाद सत्याग्रह-सग्राम धीरे-धीरे ढीला पडता गया, लेकिन उस हालत मे भी वह बहुत काल तक चलता रहा। यद्यपि कॉंग्रेस गैर-कानूनी करार दे दी गयी थी, फिर भी अखिल भारतीय कांग्रेस का सगठन काफी सफलता के साथ अपना काम करता रहा। अपने-अपने प्रान्त के कार्य-कर्त्ताओ के साथ उसका नाता बना रहा। वह अपनी सूचनाये भेजता रहा, सूबो से रिपोर्ट हासिल करता रहा और कभी-कभी उसने सूबो को आर्थिक मदद भी दी।

सूबे के सगठन भी कम-ज्यादा कामयाबी के साथ अपना काम चलाते रहे। जिन सालो मे मै जेल मे बन्द था उनमे दूसरे सूबो मे क्या हुआ इस बात का मुझे ज्यादा पता नही, लेकिन अपने छूटने के बाद मुझे युक्तप्रान्त के काम की बाबत बहुत-सी बाते मालूम हो गयी। युक्त-प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी का दफ्तर १९३२ मे पूरे सालभर और १९३३ के बीच तक नियमित रूप से अपना काम करता रहा। यानी वह उस वक्त तक अपना काम चलाता रहा जब गाँधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस के तत्कालीन कार्यवाहक सभापति ने पहली बार सत्याग्रह को

स्थगित किया। इस डेढ साल मे जिलो को अक्सर हिदायते भेजी जाती रही। छपी हुई या साइक्लोस्टाइल से लिखी हुई पत्रिकाये नियम से जारी होती रही। समय-समय पर ज़िलो के काम की निगरानी होती रही और राष्ट्र-सेवा-सघ के कार्यकर्त्ताओ को भत्ता मिलता रहा। इस काम का अधिकाश ज़रूरतन गुप्त रूप से किया गया था। लेकिन प्रान्तीय कॉंग्रेस-कमिटी के जो सेक्रेटरी दफ्तर आदि को सँभाले हुए थे, वह खुलेआम सेक्रेटरी की हैसियत से उस वक्त तक काम करते रहे, जबतक उन्हे गिरफ्तार करके हटा न दिया गया। उनके बाद दूसरे ने उनकी जगह ले ली।

१९३० और १९३२ के अपने अनुभव से हमने जाना कि हिन्दुस्तान भर मे छिपे-छिपे खबरे लेने-देने के लिए सगठन का जाल-सा बिछाने का काम आसानी से किया जा सकता है। कुछ विरोध होते हुए भी, बिना किसी खास कोशिश के बहुत अच्छा परिणाम निकला। लेकिन हममे से बहुतो को इस बात का भी खयाल था कि छिपे-छिपे काम करने की बात सत्याग्रह की भावना से मेल नही खाती और सार्वजनिक जाग्रति पर उसका निराशाजनक असर पडता है। बडे और खुले जन-आन्दोलन के एक छोटे-से अश के तौर पर यह काम उपयोगी था, लेकिन उसमे हर वक्त यह खतरा बना रहता था कि कही छोटे-से और प्राय. व्यर्थ के गुप्त काम ही जन-आन्दोलन की जगह न ले ले। यह खतरा उस समय खासतौर पर बढ जाता था जब आन्दोलन गिर रहा हो। जुलाई १९३३ मे गाधीजी ने सब तरह के छिपे कार्य को बुरा बताया।

किसानों की लगानबन्दी की लड़ाई युक्तप्रान्त के अलावा, कुछ समय तक गुजरात और कटर्नाक मे भी चलती रही। गुजरात और कर्नाटक, दोनो प्रान्तों मे ऐसे बहुत-से किसान थे जिन्होने अपनी धरती के मालिक होते हुए भी सरकार को मालगुज़ारी देने से इन्कार कर दिया और इसकी वजह से काफी नुकसान उठाया। बेदखलियो और जायदाद की ज़ब्तियों से किसानो को जो तकलीफ पहुँची उसे कम करने और पीडितों की मदद करने के लिए कॉंग्रेस की तरफ से कुछ कोशिश की गयी लेकिन वह अवश्य ही नाकाफी रही। युक्तप्रान्त मे तो यहाँ की कॉंग्रेस-कमिटी

ने इस तरह सकटग्रस्त किसानों की मदद करने के लिए कोई कोशिश नही की। यहाँ की समस्या वहाँ से कही ज्यादा वडी थी। आसामी किसानो की तादाद किसान-ज़मीदारो से कही ज्यादा है। यहाँ का रकवा भी बहुत वडा था, और सूवे की कमिटी के आर्थिक साधन भी दूसरे सूवो के मुकाविले मे वहुत ही सकुचित थे। लडाई की वजह से जिन वीसियो हज़ार किसानो को नुकसान पहुँचा उनकी मदद करना हमारे लिए विलकुल असम्भव था और इसके अलावा हमारे लिए यह तय करना भी वहुत मुश्किल था कि हम इन्ही लोगो की मदद क्यो करे और इन लोगो मे तथा उन लाखो लोगों मे भेद-भाव कैसे करे जिन्हे हमेशा भूखो मरने का डर वना रहता है। सिर्फ कुछ हज़ार लोगो को मदद करने से मुसीवत और आपसी रजिश खडी हो जाती। इसलिए हम लोगो ने यही तय किया कि हम किसीको रुपये-पैसे की मदद न दे। हमने आन्दोलन के शुरू में ही यह वात सवको वता दी थी और किसान लोग हमारी वात के महत्त्व को अच्छी तरह समझते थे। किसी प्रकार की शिकायत या आपत्ति किये विना उन्होने जितनी तकलीफे सही उन्हे देख-कर आश्चर्य होता था। जहाँतक हमसे हो सका वहाँतक हमने कुछ व्यक्तियो की अलवत्ते मदद करने की कोशिश की—खासतौर पर उन कार्यकर्त्ताओ की पत्नियो और वच्चो की जो जेल गये थे। इस दुखी देश की दरिद्रता का यह हाल है कि एक रुपये महीने की मदद भी इन लोगो के लिए ईश्वरीय देन थी।

इस लडाई के दौरान मे युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी, यद्यपि वह गैर-कानूनी करार दे दी गयी थी फिर भी, अपने वैतनिक कार्यकर्त्ताओ को जो थोडी वहुत वृत्ति देती थी वरावर देती रही और जव वे जेल चले गये,—जेल तो अपनी-अपनी वारी आने पर सभी गये थे–तव उनके परिवारों की मदद करती रही। हमारे वजट मे इस मद का खर्च वहुत वडा था। इसके वाद परचो और पत्रिकाओ को छापने और उनकी कई हज़ार कापियाँ निकालने का खर्च था। यह खर्च भी वहुत वडा था। सफरखर्च भी खर्च की एक खास मद थी। इसके अलावा जो ज़िले

ज्यादा ग़रीब थे उन्हें भी कुछ मदद दी जाती थी। एक ज़बरदस्त और सब तरह से मोरचाबन्द सरकार के खिलाफ़ जनता की घमासान लड़ाई के इस काल में इन सब खर्चों के और दूसरे खर्चों के होते हुए युक्तप्रान्त की काँग्रेस कमिटी का जनवरी १९३२ से लेकर १९३३ के अगस्त के अखीर तक का यानी बीस महीने का कुल खर्च सिर्फ़ ६३०००) था; यानी क़रीब-क़रीब ३१५०) रुपया महीना। इस रक़म में वह खर्च शामिल नहीं है जो इलाहाबाद, आगरा, कानपुर, लखनऊ जैसी ज्यादा साधनसम्पन्न और ज्यादा मज़बूत ज़िलों की कमेटियों ने अलग किया। प्रांत की हैसियत से १९३२ और १९३३ भर युक्तप्रान्त लड़ाई के मैदान में आगे ही रहा और मेरे विचार से हमने जो-कुछ कर दिखाया उसे देखते हुए यह बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि उसने बहुत कम खर्च किया। इस छोटी-सी रक़म की तुलना उस रक़म से करना बड़ा दिलचस्प होगा जो सूबे की सरकार ने सत्याग्रह को कुचलने के लिए ख़ासतौर पर खर्च की। यद्यपि मुझे ठीक-ठीक तो नहीं मालूम है फिर भी मेरा ख़याल है कि काँग्रेस के कुछ दूसरे बड़े-बड़े सूबों ने हमारे सूबे से कहीं ज्यादा खर्च किया। लेकिन बिहार तो, कांग्रेस की दृष्टि में, अपने पड़ौसी युक्तप्रान्त से भी ज्यादा ग़रीब सूबा था; फिर भी लड़ाई में उसने जो हिस्सा लिया वह बहुत ही शानदार था।

अस्तु, धीरे-धीरे सत्याग्रह आन्दोलन कमज़ोर पड़ता गया फिर भी वह चलता रहा और वह भी बिना विशेषताओं के नहीं। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों वह सर्वसाधारण का आन्दोलन नहीं रहा। सरकारी दमन की सख़्ती के अलावा इस आन्दोलन पर सबसे पहला ज़बरदस्त प्रहार उस वक़्त हुआ जब सितम्बर १९३२ में गांधीजी ने पहले-पहल हरिजनों की समस्या पर अनशन किया। इस अनशन ने जनता में जाग्रति ज़रूर पैदा की लेकिन उसने उसे दूसरी तरफ़ मोड़ दिया। जब मई १९३३ में सत्याग्रह की लड़ाई स्थगित की गयी तब तो व्यावहारिक रूप में आखिरी तौर पर उसका अन्तर हो गया। यों उसके बाद वह जारी तो रही लेकिन प्रायः विचार में ही, आचार में नहीं। इसमें कोई शक नहीं

कि अगर वह स्थगित न की जाती तो भी वह धीरे-धीरे समाप्त हो जाती। हिन्दुस्तान दमन की उग्रता और कठोरता के कारण सुन्न होगया था। कम-से-कम उस वक्त तो तमाम राष्ट्र का धैर्य चला गया था और नये उत्साह का सचार नही हो रहा था। व्यक्तिगतरूप मे तो अब भी ऐसे बहुत से लोग थे जो सत्याग्रह करते रह सकते थे। लेकिन उन लोगो को कुछ-कुछ बनावटी वातावरण मे काम करना पडता था।

हम लोगो को जेल में रहते हुए यह बात रुचिकर नही लगती थी कि हमारा महान् आन्दोलन इस तरह धीरे-धीरे गिरता जाय। फिर भी हममे से शायद ही कोई यह समझता हो कि हमे झट कामयाबी हो जायगी। यह जरूर है कि इस बात का कुछ-न-कुछ अवसर हमेशा ही था कि अगर आमलोग इस तरह उठ खडे हो कि उन्हे कोई दवा ही न सके तो चमत्कारिक विजय हो जाती। लेकिन हम ऐसे देवयोग पर भरोसा नही कर सकते थे। इसलिए हम लोग तो एक ऐसी लम्बी लडाई के लिए ही तैयार थे जो कभी तेज होती, कभी धीमी पडती और बीच-बीच मे कई भूलावो मे पड जाती। इस लडाई से जनता अनुशासन सिखाने मे तथा एक विचारधारा का लगातार प्रचार करने मे ज्यादा सफल हुई। १९३२ के उन शुरू के दिनो मे तो मैं कभी-कभी इस विचार से डर जाता था कि कही हमे फौरन ही दिखावटी सफलता न मिल जाय, क्योंकि अगर ऐसा होता तो उसमे अनिवार्यत कोई राजीनामा होता जिससे राज की बागडोर सरकार-पक्षी और अवसरवादी (मौका-परस्त) लोगो के हाथ मे पहुँच जाती। १९३१ के अनुभव ने हमारी आँखे खोल दी थी। कामयाबी तो काम की तभी हो सकती है जब वह ऐसे वक्त पर आवे जबकि लोग प्राय काफी समर्थ हो और उसके बारे मे उनके विचार स्वच्छ हो जिससे वे उस विजय का लाभ उठा सके। यदि ऐसा न होगा तो सर्वसाधारण तो लडेगे और कुर्बानी करेगे और जब कामयाबी का वक्त आवेगा तब ऐन मौके पर दूसरे लोग बडी खूबी से आकर जीत के लाभ हडप लेगे। इस बात का भारी खतरा था क्योंकि खुद कांग्रेस के इस बारे मे निश्चित विचार नही थे कि हम लोगो को

किस तरह की सरकार या समाज स्थापित करना चाहिए। न इस बारे मे लोगों को साफ-साफ कुछ सूझता ही था। सचमुच कुछ काग्रेसी तो कभी यह सोचते ही न थे कि सरकार की मौजूदा प्रणाली में कोई ज्यादा हेर-फेर किया जाय। वे तो केवल यह चाहते थे कि मौजूदा सरकार मे ब्रिटिश या विदेशी अश को निकालकर उसकी जगह 'स्वदेशी' छाप दे दी जाय।

शुद्ध प्रकार के 'सरकार-पूजक' लोगों से तो हमे कुछ डर नही था क्योकि उनके धर्म की सबसे पहली बात यह थी कि राज की ताकत जिस किसीके हाथ मे हो उसीके सामने सिर झुकाया जाय। लेकिन यहाँ तो लिबरलो (मध्यमार्गियों) और प्रतिसहयोगियो तक ने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा को लगभग सोलहों-आने मजूर कर लिया था। समय-सयय पर वे जो थोडा-बहुत छिद्रान्वेषण कर देते थे वह इसीलिए बिलकुल बेकार और दो कोडी का होता था। यह बात सबको अच्छी तरह मालूम थी कि ये लोग तो हर हालत मे कानून के पोषक थे और उसकी वजह से वे कभी सत्याग्रह का स्वागत नही कर सकते थे। लेकिन वे तो इससे कही ज्यादा आगे बढ गये और बहुत-कुछ सरकार की ओर जा खडे हुए। हिन्दुस्तान मे सब प्रकार की नागरिक स्वतन्त्रता का जो दमन हो रहा था उसे प्राय चुप-चाप खडे हुए और यों कहिए कुछ-कुछ डरे हुए दर्शको की तरह दूर से देख रहे थे। असल में दमन का यह सवाल महज सरकार-द्वारा सत्याग्रह का मुकाबिला किये जाने और उसके कुचले जाने का ही सवाल नही था। वह तो तमाम राजनैतिक जीवन और सार्वजनिक हलचलो को बन्द करने का सवाल था। लेकिन उसके खिलाफ शायद ही किसीने कोई आवाज़ उठायी हो। जो लोग मामूली-तौर पर इन आजादियो के हामी थे, वे सबके सब लडाई मे जुटे हुए थे और उन लोगो ने राज की जबरदस्ती के सामने सिर झुकाने से इन्कार करके उसकी सजा भोगी। लेकिन बाकी के लोग तो बुरी तरह दब गये। उन्होने सरकार की नुक्ताचीनी मे चूँ तक नही की। जब कभी उन्होंने बहुत ही नरम टीका-टिप्पणी की भी तो ऐसे लहजे से मानों

अपने कूसूर की माफी माँग रहे हो और उसके साथ-साथ वे कांग्रेस की और उन लोगो की, जो सत्याग्रह की लडाई लड रहे थे, कडी निन्दा भी करते थे।

पश्चिमी देशो मे नागरिको की आजादी के पक्ष मे मजबूत लोकमत वन गया है। इसलिए वहाँ ज्योही इनमे कमी की जाती है त्योही लोग विगडकर उसका विरोध करते है। (शायद अब यह वहाँ भी इतिहास की पुरानी वात हो गयी है।) उन देशो मे ऐसे लोगो की तादाद वहुत काफी है जो खुद तो वडी और सीधी लडाई मे हिस्सा लेने को तैयार नही होते लेकिन इस वात का वहुत काफी ध्यान रखते है कि वोलने और लिखने की स्वतत्रता मे, सभा और सगठन स्थापित करने की स्वतन्त्रता मे, तथा व्यक्तिगत और छापेखानो की स्वतन्त्रता में किसी तरह की कमी न होने पावे। इनके लिए वे निरतर आन्दोलन करते रहते है और इस तरह सरकार द्वारा उनके भग किये जाने की कोशिशों को रोकने में सहायक होते है। हिन्दुस्तान के मध्यममार्गियो (लिवरलो) का दावा है कि वे लोग कुछ हद तक व्रिटिश लिव्ररलों की परम्परा पर चल रहे है (हालाँकि इन दोनो मे नाम के अलावा और कोई वात एक-सी नही है)। फिर भी उनसे यह उम्मीद की जा सकती थी कि इन आजादियो के इस तरह दवाये जाने पर वे कम-से-कम कुछ वौद्धिक विरोध तो जरूर करेगे क्योकि दमन का असर उनपर भी पडता था। लेकिन उन्होने ऐसी कोई वात नही की। उन्होने वॉल्टेयर की तरह यह नही कहा कि "आप जो कुछ कहते है उससे मै कतई सहमत नही हूँ, लेकिन आपको अपनी वात कहने का हक है और आपके इस हक को मै अपनी जान पर खेलकर वचाऊँगा।"

शायद उनको इस वात के लिए दोप देना मुनासिव नही है क्योकि उन लोगो ने लोकतत्र या आजादी के रक्षक होने का दावा कभी नही किया और उन्हे एक ऐसी हालत का सामना करना पडा जिससे एक शब्द इधर-उधर होजाने पर वे मुसीवत मे फँस सकते थे। हिन्दुस्तान मे होनेवाले दमन का आजादी के उन पुराने आशिको यानी व्रिटिश

लिबरलों और ब्रिटिश मजदूर-दल के नये साम्यवादियों पर जो असर पड़ा उसे देखना ज्यादा मुनासिब मालूम होता है। हिन्दुस्तान में जो कुछ हो रहा था वह काफी तकलीफदेह था। लेकिन वे उस सबको काफी मजे के साथ देखते रहे और कभी-कभी तो "मैंचेस्टर गार्जियन" नाम के अखबार के संवाददाता के शब्दों में हिन्दुस्तान में "दमन के वैज्ञानिक प्रयोग" की कामयाबी पर उनकी खुशी जाहिर हो जाती। हाल ही में ग्रेटब्रिटेन की राष्ट्रीय सरकार ने एक राजद्रोह बिल पास करने की कोशिश की है। खास तौर पर लिबरलों और मजदूर दलवालों ने इस बिल के खिलाफ और बातों के साथ इस आधार पर बहुत वावैला मचाया है कि वह बोलने की आजादी को कम करता है और मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार देता है कि वे तलाशी के वारण्ट निकालें। जब-जब मैं इन टीका-टिप्पणियों को पढ़ता तो मैं उनके साथ हमदर्दी करता था लेकिन साथ ही मेरी आँखों के सामने हिन्दुस्तान की तस्वीर नाच उठती और मुझे यह दिखायी देता कि यहाँ तो वास्तव में जो कानून जारी है वे करीब-करीब उस कानून से सौ गुने ज्यादा बुरे हैं जिसे 'ब्रिटिश-राजद्रोह-बिल' बनाने की कोशिश कर रहा है। मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता था कि जिन ब्रिटिश लोगों के गले में इंग्लैण्ड में मच्छर भी अटक जाता है वे हिन्दुस्तान में बिना चीं-चपड़ किये ऊँट को किस तरह निगल जाते हैं। सचमुच मुझे ब्रिटिश लोगों की इस अद्भुत खूबी पर हमेशा आश्चर्य हुआ है जिससे वे अपने नैतिक पैमानों को अपने भौतिक स्वार्थों के अनुकूल बना लेते हैं और जिन कामों से उनके साम्राज्य बढ़ाने के इरादों को मदद मिलती है उन सब में उन्हें धर्म-ही-धर्म दिखायी देता है। आजादी और लोकतन्त्र के ऊपर मुसोलिनी और हिटलर जो कुछ हमला कर रहे हैं उसपर उन्हें बड़ा क्रोध आता है और वे निहायत ईमानदारी के साथ उनकी निन्दा करते हैं लेकिन उतनी ही ईमानदारी के साथ वे हिन्दुस्तान में आजादी का छीना जाना जरूरी समझते हैं और इस बात लिए ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक कारण पेश करते हैं कि इस आजादी के छीनने के काम में उनका अपना कोई स्वार्थ बिल्कुल नहीं है,

जब हिन्दुस्तान में चारो तरफ आग लग रही थी और मर्दो तथा औरतो की अग्नि-परीक्षा हो रही थी, तब यहाँ से बहुत दूर लन्दन में छँटे-चुने हज़रात हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनाने को इकट्ठे हुए। १९३३ में तीसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स हुई और उसके साथ-साथ कई कमिटियाँ बनी। यहाँ असेम्बली के बहुत से मेम्बरो ने इन कमिटियो की मेम्बरी के लिए डोरे डाले जिससे वे निजी आनन्द के साथ सार्वजनिक कर्तव्य का भी पालन कर सके। सार्वजनिक खर्चे से हिन्दुस्तान से लन्दन को काफी भीड गयी। बाद को १९३३ मे वह ज्वाइण्ट-पार्लामेण्टरी कमिटी बैठी जिसमें हिन्दुस्तानियों ने असेसरो की तरह काम किया और इस बार भी जो लोग गवाह बनकर गये उनको दयालु सरकार ने सफर खर्च अपने खजाने से दिया। बहुत से लोग फिर, हिन्दुस्तान की सेवा करने के सच्चे भावो से प्रेरित होकर सार्वजनिक खर्च पर समुद्र पार गये और कहा जाता है कि इनमे से कुछ ने तो ज्यादा सफर खर्च मिलने के लिए कश्मकश भी की।

हिन्दुस्तान के जन-आन्दोलन का क्रियात्मक स्वरूप देखकर डरे हुए स्थापित स्वार्थों के इन प्रतिनिधियो को, साम्राज्यवाद की छत्रछाया मे, लन्दन में इकट्ठा देखकर कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। लेकिन हमारे अन्दर जो राष्ट्रीयता है उसको यह देखकर ज़रूर वेदना हुई कि जब मातृभूमि इस तरह की जीवन और मरण के संघर्ष में लगी हुई हो तब कोई हिन्दुस्तानी इस तरह की हरकत करे। लेकिन एक दृष्टि से हममे से बहुतो को यह जान पडा कि यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि उसने हिन्दुस्तान मे प्रगति-विरोधी लोगो को हमेशा के लिए प्रगतिशील लोगों से अलग कर दिया। (उस समय हम यही सोचते थे लेकिन अब मालूम पडता है कि हमारा यह खयाल गलत था।) इस छँटनी से जनता को राजनैतिक शिक्षा देने मे मदद मिलती और सब लोगो के लिए यह बात और भी स्पष्ट हो जाती कि सिर्फ आज़ादी के द्वारा ही हम सामाजिक समस्याओ को हल कर सकते है और जनता के सिर का बोझ हटा सकते है।

लेकिन इस बात को देखकर अचरज होता था कि इन लोगो ने अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी मे ही नही, बल्कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी अपने को हिन्दुस्तान की जनता से कितना अलग कर दिया है। ऐसी कोई कडी न थी जो इनको जनता से जोडती। ये न तो जनता को ही समझते थे न उसकी उस भीतरी प्रेरणा को ही जो उन्हे कुर्बानी करने और तकलीफे झेलने के लिए स्फूर्ति दे रही थी। इन नामी राजकाजियो की राय मे असलियत सिर्फ एक बात मे थी। वह थी ब्रिटिश साम्राज्य की वह ताकत जिससे लडकर उसे हराना गैर-मुमकिन है और इसलिए, जिसके सामने हमे खुशी से या बेबसी से अपना सिर झुका देना चाहिए। इन लोगों को यह बात सूझती ही न थी कि भारत की जनता के सद्भाव को अपने साथ लिय बिना हिन्दुस्तान के प्रश्न को हल करना या उसके लिए कोई वास्तविक जीवित विधान बनाना बिलकुल अनहोना था। मि० जे० ए० स्पेडर ने हाल ही मे "हमारे समय का सक्षिप्त इतिहास" (Short History of Our Times) नामक जो किताब लिखी है उसमे १९१० की उस आयरिश ज्वॉइण्ट कान्फ्रेन्स की असफलता की चर्चा की गयी है जिसने वैधानिक सकट को मिटाने की कोशिश की थी। उनका कहना है कि जो राजनैतिक नेता सकट-काल के बीच मे विधान तलाश करने की कोशिश करते है, उनकी दशा उन लोगों की सी होती है, जो, जब मकान मे आग लगी हुई है तब, उसका बीमा कराने की कोशिश करते हैं। १९३२ और १९३३ मे हिन्दुस्तान मे जो आग लगी हुई थी वह उस आग से कही ज्यादा थी जो आयर्लैण्ड मे १९१० मे लगी हुई थी और यद्यपि उस आग की ज्वालाये भले ही बुझ जाएँ फिर भी उसके धधकते हुए अँगारे वहुत दिन तक रहेगे और वे हिन्दुस्तान मे स्वाधीनता के सकल्प की तरह गरम और कभी न बुझनेवाले होगे।

हिन्दुस्तान के शासकवर्ग मे हिंसा-भाव की जो बढती हो रही थी उसे देखकर आश्चर्य होता था। इस हिंसा की परम्परा पुरानी थी, क्योकि ब्रिटिश लोगो ने हिन्दुस्तान पर राज ज्यादातर पुलिस-राज की तरह किया है। दीवानी हाकिमों का भी सबसे जबर्दस्त दृष्टिकोण फौजी

ही रहा है। उनकी हुकूमत में यह बात प्राय हमेशा रही है जो विजित देश पर कब्ज़ा करके पडी हुई शत्रु की फौज की हुकूमत मे रहती है। अपनी मौजूदा व्यवस्था को गम्भीर चुनौती मिलते ही उनकी यह मनोवृत्ति और भी ज्यादा बन गयी। बगाल मे और दूसरी जगह आतकवादियो ने जो काण्ड किये उनसे इस हिंसा को और भी खुराक मिली और शासको को अपने हिंसात्मक कार्यो के लिए थोडा-बहुत बहाना मिल गया। सरकार की नीति ने और तरह-तरह के आर्डिनेन्सो ने सरकारी अफ़सरो और पुलिस को इतने असीम अधिकार दे दिये कि हिन्दुस्तान असल मे एक 'पुलिसराज' ही हो गया, जिसमे पुलिस के लिए न कोई रोक थी न पूछ।

थोडी या बहुत मात्रा मे हिन्दुस्तान के सभी प्रातो को इस भीषण दमन की आग मे होकर निकलना पडा, लेकिन सरहदी सूबे और बगाल को सबसे ज्यादा तकलीफे झेलनी पडी। सरहदी सूबा तो हमेशा से मुख्यत फौजी सूबा रहा है। उसका इन्तजाम अर्ध-फौजी कायदो के मुताबिक होता है। युद्ध-कार्य की दृष्टि से उसका बहुत महत्त्व पहले ही से था। अब लालकुर्ती-आन्दोलन से तो सरकार एकदम घबडा गयी। इस सूबे में 'शातिस्थापन करने के लिए' और 'तूफानी गाँवो को' दुरुस्त करने के लिए फौजो की टुकडियाँ छोडी गयी थी। हिन्दुस्तान-भर मे यह आम पद्धति हो गयी थी कि सरकार गाँव-के-गाँवो पर जुर्माना ठोक देती थी और कभी-कभी (खासतौर पर बगाल मे) नगरो पर भी सजा के तौर पर पुलिस अक्सर गाँवो मे डाल दी जाती थी और जब पुलिस को अनाप-शनाप अधिकार मिले हुए थे और उन्हे रोकनेवाला कोई न था तब पुलिस की ओर से ज्यादतियाँ होना लाजिमी था। हम लोगो को कानून और व्यवस्था के नाम पर अनियमितता और अव्यवस्था के आदर्श उदाहरण खूब देखने को मिले।

बगाल के कुछ हिस्सो मे तो बहुत ही असाधारण बाते दिखायी देती थी। सरकार तमाम आबादी के—सही बात तो यह है कि हिन्दुओ की आबादी के—साथ दुश्मनो का-सा बर्ताव करती और बारह से लेकर

पच्चीस बरस तक के हर शख्स को फिर चाहे वह मर्द हो या औरत, लडका हो या लडकी 'शनाख्त' का कार्ड लेकर चलना पडता था। लोगो के झुड-के-झुड को देश निकाला दिया जाता था या नजरबन्द कर दिया जाता था। उनकी पोशाक पर बन्धन था और उनके स्कूलों का नियमन सरकार करती थी या जब चाहती स्कूलो को बन्द कर देती थी। साइकिलो पर चढने की मनाही थी और कही आते-जाते वक्त पुलिस को अपने आने-जाने की इत्तिला देनी पडती थी। इसके अलावा दिन-छिपे बाद घर मे न निकलने के लिए और रात के लिए तथा दूसरी बातो के लिए कायदे और कानूनो की भरमार थी। फौजे पेट्रोल करती थी। ताजीरी पुलिस तैनात कर दी जाती थी और गाँव-भर पर जुर्माने होते थे। बडे-बडे भूमिखण्ड ऐसे मालूम पडते थे मानो उनपर हमेशा के लिए घेरा डाल दिया गया हो। इन कसबो मे रहनेवाले स्त्री-पुरुषो की ऐसी कडी निगरानी होती थी कि उनकी हालत उन लोगो से बेहतर न थी जो छुट्टी के टिकिट लिये बिना आ-जा नही सकते। इस बात का निर्णय देना मेरा काम नही है कि आया ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण से यह सब अद्भुत कायदे-कानून जरूरी थे या नहीं। अगर वे जरूरी नहीं थे तो सरकार पर यह भारी इल्जाम आता है कि उसने सारे प्रदेश की स्वतन्त्रता को अपमानित करने, उसपर जुल्म करने और उसे भारी नुकसान पहुँचाने का महान् अपराध किया। अगर वे जरूरी थे तो निस्सदेह हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश शासन के बाबत यह अन्तिम फैसला है जिससे उसकी नीव का पता लग जाता है।

सरकार की इस हिंसावृत्ति ने जेलो में भी हमारे लोगो का पीछा किया। कैदियो का अलग-अलग श्रेणियो मे बँटवारा एक मजाक-सा था और अक्सर उन लोगो को अत्यन्त तकलीफ होती थी जो ऊँचे दर्जो मे रक्खे जाते थे। ये ऊँचे दर्जे बहुत ही कम लोगो को मिले और बहुत से मानी तथा मृदुल स्वभाव के पुरुषो और स्त्रियो को ऐसी हालत मे रहना पडा जो लगातार एक यन्त्रणा थी। ऐसा मालूम पडता है कि सरकार की यह निश्चित नीति थी कि वह राजनैतिक कैदियो को मामूली कैदियो

से भी ज्यादा बुरी तरह रक्खे। जेलो के इन्सपेक्टर जनरल ने तो यहाँ तक किया कि सब जेलों को नाम एक गुप्त गश्ती-चिट्ठी जारी की जिसमे यह कहा गया कि सत्याग्रही कैदियो के साथ 'कड़ाई का वर्ताव' होना चाहिए।[१]

वेतो की सजा जेल की आम सजा होगयी। २७ अप्रैल १९३३ को भारत के उप-सचिव ने कामन-सभा में कहा कि "सर सेम्युअल होर को यह बात मालूम है कि हिन्दुस्तान में १९३२ के सत्याग्रह से सम्बन्धित जुर्मों के सिलसिले में कोई पाँचसौ व्यक्तियों के वेंत लगे है।" इसमे यह वात साफ नही है कि उसमें वे लोग भी शामिल है या नही जिनको जेलों में जेल के कायदे तोडने के लिए वेतो की सजा दी गयी। १९३२ में जेलों मे वेत लगने की खवरे जब हमारे पास अक्सर आने लगी, तब मुझे याद आयी कि हम लोगो ने दिसम्बर १९३० मे बेतो की सजा की एक या दो फुटकर मिसालो के विरोध मे तीन दिन तक उपवास किया था। उस वक्त इस सजा की पाशविकता से मुझे भारी चोट पहुँची थी और इस वक्त भी मुझे बार-बार चोट पहुँचती थी और मेरे दिल में बडी टीस उठती थी लेकिन मूझे यह नही सूझा कि इस वार फिर उसके विरोध में अनशन करना चाहिए, क्योकि मैने इस वार इस मामले में अपनेको पहले से कही ज्यादा बेबस पाया। कुछ समय के बाद मन पाशविकता के प्रति जड-सा हो जाता है। किसी बुरी बात को आप ज्यादा देर तक जारी रखिए और दुनिया उसकी आदी हो जायगी।

---

१. इस गश्ती-चिट्ठी पर ३० जून १९३३ की तारीख पडी थी और उसमें यह लिखा हुआ था:—"जेल के सुपरिन्टेन्डेन्टो और उसके मातहत कर्मचारियों के लिए इन्सपेक्टर जनरल इस बात पर जोर देते हैं कि सत्याग्रही कैदियों के साथ उनके महज सत्याग्रही होने की वजह से रिआयती बर्ताव करने की कोई वजह नहीं है। इस दर्जे के कैदियो को अपनी-अपनी जगहों में रखना चाहिए और उनके साथ खूब सख्ती से पेश आना चाहिए।"

हमारे आदमियो को जेल मे कडी-से-कडी मशक्कत (मेहनत) दी गयी—जैसे—चक्की, कोल्हू वगैरा और उनसे माफी मँगवाकर तथा सरकार के सामने यह प्रण कराकर, कि हम आगे ऐसा नही करेंगे, उन्हे छुडवाने के लिए, जहाँ तक हो सका वहाँ तक उनकी ज़िन्दगी भाररूप करने की कोशिश की गयी। कैदियों से इस तरह माफी मँगवाना जेल के हाकिमों के लिए बडे गोरव की बात मानी जाती थी। जेल मे ज्यादातर सजाये उन लडकों और नौजवानों को भोगनी पड़ी जो धौस, दबाव और बेइज्जती बरदाश्त करने को तैयार न थे। ये लड़के निहायत अच्छे और जीवटवाले थे। स्वाभिमान, जिन्दादिली तथा साहसीवृत्ति से भरे हुए इग्लैड के पब्लिक स्कूलो मे इस तरह के लड़कों की बेहद तारीफे होती, उन्हे हर तरह की शाबाशी दी जाती। लेकिन यहाँ हिन्दुस्तान मे उनकी युवकोचित आदर्शवादिता और उनके स्वाभिमान ने उनके हाथो मे हथकडियाँ पडवायी, उन्हे काल-कोठरियो मे बन्द करवाया और बेत लगवाये।

जेलो में हमारी महिलाओ की ज़िन्दगी तो ख़ासतौर पर दुख मय थी। ऐसी दु खमय कि उसका ख़याल करने मे भी तकलीफ होती है। ये स्त्रियाँ ज्यादातर मध्यम-श्रेणी की थी जो छत्रछाया के जीवन मे रहने की आदी थी और उन तरह-तरह के दमनों और रिवाजों से सताई हुई, जो पुरुषों ने अपने आधिपत्यवाले समाज मे अपने फायदे के लिए बनाये है। इन स्त्रियों के लिए आज़ादी की पुकार हमेशा दुहरे मानी रखती थी और इस बात मे कोई शक नही कि जिस जोश और जिस ताकत के साथ वे आजादी की लडाई मे कूदी उनका स्रोत उस धुधली और लगभग अज्ञात, लेकिन फिर भी उत्कट, आकाक्षा मे था जो उनके मन मे घर की गुलामी से अपने को मुक्त करने के लिए बसी हुई थी। इनमें से बहुत कम को छोडकर बाकी सबको मामूली कैदियो के दर्जे मे रखा गया और उनको बहुत ही पतित साथियों के साथ और अक्सर उन्ही की-सी भयानक हालत मे रखा गया। एक बार मै एक ऐसी बैरक में रखा गया जो औरतों की बैरक से सटी हुई थी। दोनों के बीच मे एक

दीवार ही थी। औरतो के अहाते मे, दूसरी कैदिनो के साथ-साथ कुछ राजनैतिक कैदिने भी थी और इनमे एक महिला वह भी थी जिसके घर मे मै एक बार ठहरा था और जिसने मेरा आतिथ्य-सत्कार किया था। यद्यपि एक ऊँची दीवार हमे एक दूसरे से अलग कर रही थी तो भी वह उन बातो और गालियो को सुनने से नही रोक पाती थी, जो हमारी साथिनो को कैदी-नम्बरदारिनो से सुननी पडती थी। इन्हे सुनकर मुझे बडा रज होता था।

यह बात खास तौर पर ध्यान देने लायक है कि १९३२ और १९३३ के राजनैतिक कैदियो के साथ जो बर्ताव किया गया वह उससे कही ज्यादा बुरा था, जो दो बरस पहले सन् १९३० मे किया गया था। यह बात केवल जेल हाकिमो की धुन की वजह से ही नही हो सकती थी। इसलिए इसके सम्बन्ध मे एकमात्र उचित परिणाम यही निकलता है कि यह सब सरकार की निश्चित नीति की वजह से हुआ। राजनैतिक कैदियो के प्रश्न को छोडकर भी युक्तप्रान्तीय सरकार के जेल के महकमे की यह तारीफ थी। कि वह कैदियो के साथ मनुष्यो का-सा बर्ताव करने की हर बात के सख्त खिलाफ होने के लिए प्रसिद्ध था। इस बात की हमे एक ऐसी मिसाल मिली जिसके बारे मे कोई शक हो ही नही सकता। एक मर्तबा एक बहुत नामी जेल-निरीक्षक हम लोगो के पास जेल में आये। यह महाशय बागी या हम लोगो की तरह राजद्रोह फैलानेवाले न थे बल्कि 'सर' थे। उनको सरकार ने खुश होकर खिताब बख्शा था। उन्होने हमसे कहा कि "कुछ महीने पहले मैने एक दूसरी जेल का निरीक्षण किया था, और अपने निरीक्षण के नोट मे यह लिख दिया था कि जेलर हुकूमत रखते हुए भी इन्सानियत से काम लेता है। उस जेलर ने मुझसे प्रार्थना की कि मेरी इन्सानियत की बाबत कुछ न लिखिए क्योकि सरकार की मण्डली मे 'इन्सानियत' अच्छी निगाह से नही देखी जाती। लेकिन मै अपनी बात पर अडा रहा, क्योकि मै कभी यह खयाल ही नही कर सकता था कि इस बात के पीछे जेलर को कुछ नुकसान पहुँच सकता है। नतीजा क्या हुआ ? फौरन ही एक बहुत दूर कही कोने

मे पड़ी हुई एक जेल मे उस जेलर का तवादला कर दिया गया, जो उसके लिए एक किस्म की सज़ा ही थी।"

कुछ जेलर खासतौर पर खूँखार थे और न्याय-नीति की परवा न करते थे। उनको खिताव दिये गये तथा उनकी तरक्की की गयी। जेलों मे वेईमानी और रिश्वतखोरी तो इतनी चलती है कि शायद ही कोई उससे पाक साफ रहता हो। लेकिन मेरा अपना और मेरे वहुत से दोस्तो का तजुर्वा है कि जेल के कर्मचारियो मे वही लोग सवसे ज्यादा वेईमान और रिश्वतख़ोर होते है जो आमतौर पर अनुशासन के वहुत ज़वरदस्त और सख़्त हामी वनते है।

जेल मे और जेल से वाहर मै खुशकिस्मत रहा हूँ, और लगभग जितने लोगों से मेरा वास्ता पड़ा उन सवने मेरे साथ इज्ज़त व शराफत का वर्ताव किया, उस हालत मे भी जव कि शायद मै उसका पात्र न था। लेकिन जेल की एक घटना से मुझे और मेरे स्वजनों को वहुत दुख हुआ। मेरी माँ, कमला और मेरी लड़की इंदिरा इलाहावाद ज़िला जेल मे मेरे वहनोई रणजीत पण्डित से मिलने के लिए गयी और वहाँ विना कुसूर ही जेलर ने उनका अपमान किया और उन्हें जेल से वाहर धकेल दिया। जव मैंने यह वात सुनी तो मुझे वडा रंज हुआ और जव मुझे यह मालूम हुआ कि प्रांतीय-सरकार का रुख भी इस मामले मे अच्छा नही है तव मुझे भारी धक्का लगा। अपनी मा को जेल-अधिकारियों द्वारा अपमानित किये जाने की सम्भावना से वचाने के लिए मैंने तय कर लिया था कि मै किसीसे मुलाकात नही करूँगा। और करीव सात महीने तक, जव तक मै देहरादून जेल मे रहा, मैंने किसीसे मुलकात नही की।

: ४४ :

जेल में मानसिक उतार-चढ़ाव

हममे से दो का, मेरा और गोविन्दवल्लभ पन्त का, तबादला बरेली-जेल से देहरादून को साथ-साथ किया गया। कोई प्रदर्शन न होने पावे, इस बात का ध्यान रखने के लिए हम लोगो को बरेली मे गाडी पर नही बिठाया गया। बल्कि वहाँ से ५० मील की दूरी पर एक छोटे-से स्टेशन पर ले जाकर वहाँ गाडी मे बिठाया गया। हम लोग रात को चुपचाप मोटर मे ले जाये गये। कई महीने तक अलग जेल मे बन्द रहने के बाद रात की उस ठडी हवा मे मोटर के सफर से हमे अनोखा आनन्द आया।

बरेली-जेल से जाने के पहले एक छोटी-सी घटना हुई, जिसने उस वक्त तो मेरे हृदय पर असर डाला ही था लेकिन अबतक भी वह मेरी याद मे तरोताजा है। बरेली-पुलिस का सुपरिन्टेन्डेन्ट जो कि एक अग्रेज़ था, वहाँ मौजूद था और ज्योही मै कार मे बैठा त्योही उसने कुछ-कुछ सकुचाते हुए मुझे एक पैकेट दिया जिसमे, उसने मुझे बताया कि, वे जर्मनी के पुराने सचित्र मासिक पत्रो की कापियाँ थी। उसने कहा कि मैने सुना है कि आप जर्मन सीख रहे है, इसलिए मै एक मासिक पत्र आपके लिए ले आया हूँ। इससे पहले मेरी उसकी मुलाकात कभी नही हुई थी और न उस दिन के बाद मै आजतक उससे कभी मिला। मै उसका नाम भी नही जानता। लेकिन मेरे दिल पर उसके स्वेच्छा-प्रेरित सौजन्य का और उस कृपा-भाव का, जिसने उसे इसकी प्रेरणा की, बहुत असर पडा और अपने मन मे मै उसके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हुआ।

आधी-रात के उस लबे सफर मे मै अग्रेजो और हिन्दुस्तानियो के, शासको और शासितो के, सरकारी और गैर-सरकारी लोगो के, तथा सत्ताधारियो और उन लोगो के कि जिन्हे उनके हुक्म मानने पडते है, आपसी सम्बन्धो के बारे में तरह-तरह की बाते सोचता रहा। इन दोनो

वर्गों के बीच ने कैसी गहरी खाई है, और ये दोनों एक-दूसरे पर कितना शक कर रहे है तथा एक-दूसरे को कितना नापसद करते है। लेकिन इस अविश्वास और अरुचि से भी ज्यादा बडी बात एक-दूसरे की बाबत अज्ञान है। इसी गैरजानकारी की वजह से दोनों एक दूसरे से डरते है और एक-दूसरे की मौजूदगी मे हर वक्त चौकन्ने रहते है। हरेक को दूसरा शख्स कुछ अनमना, खिचा हुआ और मित्र-भाव से हीन मालूम होता है और दोनो मे से एक भी यह नही अनुभव करता कि इस आवरण के अन्दर शिष्टता और सौजन्य भी है। अग्रेज हिन्दुस्तान पर राज करते है और लोगो को सहायता तथा सहारा देने के साधनो की उन्हे कमी नही है। इसलिए उनके पास समय-साधु और नौकरियो की तलाश मे गिडगिडाते फिरनेवाले लोगो की भीड पहुँचा करती है। हिन्दुस्तान के बारे मे अपनी राय वे इन्ही भद्दे नमूनों को लेकर बनाते है। हिन्दुस्तानियो ने अग्रेजो को सिर्फ हाकिमों की ही हैसियस से काम करते देखा है और इस हैसियत से काम करते हुए उनमे सोलहो आने मशीन की-सी हृदयहीनता होती है और वे सब मनोविकार होते है जो स्थापित स्वाथ रखनेवालो मे अपनी रक्षा करने की कोशिश करते समय होते है। एक व्यक्ति की हैसियत से और अपनी इच्छा के मुताबिक काम करनेवाले व्यक्ति के बर्ताव मे और उस बर्ताव मे, जिसे एक शख्स, हाकिम की या सेना की एक इकाई की हैसियत से, करता है, कितना फर्क होता है? फौजी जवान तो अकडकर अटेन्शन होते वक्त अपनी मनुष्यता को दूर धर देता है और एक मशीन की तरह काम करते हुए उन लोगो पर निशाना ताककर उन्हे मार गिराता है, जिन्होने उसका कभी कोई नुकसान नही किया। मैंने सोचा कि यही हाल उस पुलिस अफसर का है, जो एक शख्स की हैसियत से बेरहमी का कोई काम करते हुए झिझकेगा लेकिन दूसरे ही दिन निरपराध लोगो पर लाठी-चार्ज करा देगा। उस वक्त वह अपने को एक व्यक्ति के रूप मे नही देखता और न वह उस भीड को ही व्यक्तियो की शक्ल मे देखता है जिन्हे वह डडो से मारता है या जिनपर वह गोली चलाता है।

ज्योंही कोई व्यक्ति दूसरे पक्ष को भीड या समूह के रूप मे देखने लगता है, त्योही दोनो को जोडनेवाली मनुष्यता की कडी गायब हो जाती है। हम लोग यह भूल जाते है कि भीड़ मे वही शख्स, मर्द और औरत और बच्चे होते है, जिनमे प्रेम और नफरत के भाव होते है तथा जो कष्ट अनुभव करते है। एक औसत अग्रेज अगर साफ-साफ बात कहे तो यह मजूर करेगा कि हिन्दुस्तानियो मे कुछ आदमी काफी भले भी है; लेकिन वे लोग तो अपवाद-स्वरूप है, और कुल मिलाकर तो हिन्दुस्तानी एक घृणास्पद लोगो की भीड-भर है। औसत हिन्दुस्तानी भी यह मजूर करेगा कि कुछ अग्रेज जिन्हे वह जानता है तारीफ के काबिल हैं, लेकिन इन थोडे-से लोगो को छोडकर बाकी के अग्रेज बडे ही घमडी, पाशविक और सोलहो आने बुरे आदमी है। यह बात कैसी अजीब है कि हर शख्स दूसरी कौम की बाबत अपनी राय किस तरह बनाता है? उन लोगो के आधार पर नही जिनके वह ससर्ग मे आता है, बल्कि उन दूसरे लोगो के आधार पर जिनके बारे मे या तो वह कुछ नही जानता या 'कुछ नही' के बराबर ही जानता है।

व्यक्तिगत-रूप से तो मै बडा सौभाग्यशाली रहा हूँ और लगभग हमेशा ही मेरे प्रति सब लोग सौजन्य दिखाते रहे है, फिर चाहे वे अग्रेज हो या मेरे अपने ही देश-भाई। मेरे जेलरों और पुलिस के उन सिपाहियो ने भी, जिन्होने मुझे गिरफ्तार किया या जो मुझे कैदी के रूप मे एक जगह से दूसरी जगह ले गये, मेरे साथ मेहरबानी का बर्ताव किया और इस इन्सानियत की पुट की वजह से मेरे जेल-दीवान के सघर्ष की कटुता और तीव्रता बहुत कुछ कम हो गयी थी। यह कोई अचरज की बात नही है कि मेरे अपने देश-भाइयो ने मेरे साथ अच्छा बर्ताव किया, क्योकि उनमे तो एक हदतक मेरा नाम हो गया था और मै उनमे लोकप्रिय था। पर अग्रेजो के लिए भी मै एक व्यक्ति था, भीड मे से एक व्यक्तिमात्र ही नही। मेरा खयाल है कि इस बात ने कि मैंनें अपनी तालीम इग्लैण्ड में पायी और खासतौर पर इस बात ने कि मै इग्लैण्ड के एक पब्लिक स्कूल में रहा, मुझे उनके नजदीक लादिया और इन कारणो से वे मुझे

कम-बढ अपने ही नमूने का सभ्य आदमी समझे बिना नही रह सकते थे, फिर चाहे उन्हे मेरे सार्वजनिक काम कैसे ही उलटे क्यो न मालूम पड़े। जब मै अपने इस बर्ताव की तुलना उस जिन्दगी से करता हूँ जो मेरे ज्यादातर साथियो को भोगनी पडती थी, तब मुझे अपने साथ होनेवाले इस विशेष अच्छे बर्ताव पर कुछ शर्म और जिल्लत-सी मालूम होती है।

ये जितने सुभीते मुझे मिले हुए थे उन सबके होते हुए भी जेल तो आखिर जेल ही थी और कभी-कभी तो उसका दु खद वातावरण प्राय असह्य हो उठता था। उसका वातावरण खुद हिंसा, कमीनेपन, रिश्वत-खोरी और झूठ से भरा हुआ था। वहाँ कोई गालियाँ देता था तो कोई गिडगिडाता था। नाजुक मिज़ाजवाले हर शख्स को वहाँ लगातार मानसिक सन्ताप मे रहना पड़ता था, कभी-कभी जरा-ज़रासी बातो से ही लोग उखड जाते। चिट्ठी मे कोई खराब खबर आ जाती या अखबार मे ही कोई बुरी खबर निकलती तो हम लोग कुछ देर के लिए गुस्से या फिक्र से बडे परेशान हो जाते थे। बाहर तो हम लोग हमेशा काम मे लगकर अपने दु खो को भूल जाते थे। वहाँ तो तरह-तरह की दिलचस्प बातो और कामो की वजह से शरीर और मन की समतोलता बनी रहती थी। जेल मे ऐसा कोई रास्ता नही था। हम लोग ऐसा महसूस करते थे मानो हम बोतल मे बन्द कर दिये गये हों और दबाकर रख दिय गये हों और इसलिए जो कुछ होता उसकी बाबत लाजिमीतौर पर हमारी राय एकागी और कुछ हद तक तोडी-मरोडी हुई होती थी। जेल मे बीमारी खासतौर से दु खदायी होती है।

फिर भी मैने अपने को जेल-जीवन की दिनचर्य्या का अभ्यस्त बना लिया, और शारीरिक कसरत तथा कड़ा मानसिक काम करके मैंने अपने को ठीक-ठीक रक्खा। काम और कसरत की बाहर कुछ भी कीमत हो, जेल मे तो वे लाज़िमी थे। क्योंकि उनके बिना वहाँ कोई अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को कायम नही रख सकता। मैने अपना एक कार्यक्रम बना लिया था, जिसका मै कडाई के साथ पालन करता था। मिसाल के लिए, अपने को बिलकुल ठीक रखने के लिए, मै रोज़ हजामत

वनाता था (हजामत के लिए मुझे सैफ्टी रेज़र मिला हुआ था) । मैंने इस छोटी-सी वात का जिक्र इसलिए किया है कि आमतौर पर लोगो ने इन आदतो को छोड दिया और वे कई वातो मे ढीले पड गये थे । दिन-भर कडा काम करने के वाद शाम को मै खूव थक जाता और मजे से नीद का स्वागत करता ।

इस तरह दिनो के वाद दिन, हफ्तो के वाद हफ्ते और महीनों के वाद महीने निकल गये । कभी-कभी ऐसा मालूम पडता था कि महीना वुरी तरह चिपक गया है और वह खतम ही नही होना चाहता । और कभी-कभी तो मै हर चीज और हर शख्स से ऊव जाता, सवपर गुस्सा करता, सवसे खीझ उठता, फिर वे चाहे जेल के मेरे साथी हो और चाहे जेल के कर्मचारी । ऐसे वक्त पर मै वाहर के लोगो पर भी इसलिए खीझ उठता था कि उन्होने यह काम क्यो किया या यह काम क्यो नही किया ? व्रिटिश-साम्राज्य से तो हमेशा ही खीझा रहता था । लेकिन ऐसे वक्त पर औरो के साथ-साथ और सवसे ज्यादा, मै अपने ऊपर भी खीझ उठता था । इन दिनों मे वहुत चिडचिडा भी हो जाता, और जेल की ज़िन्दगी मे होनेवाली ज़रा-ज़रा-सी वातो पर विगड उठता था । खुशकिस्मती यह थी कि मेरा मिज़ाज ज्यादा दिनो तक ऐसा नही रहता था ।

जेल में मुलाकात का दिन वडे उल्लास का दिन होता था । हम लोग मुलाकात के दिनो को कैसा चाहते थे । उनके लिए कैसा इन्तजार करते थे तथा उनके लिए कैसे दिन गिना करते थे ! लेकिन मुलाकात की खुशी के वाद उसकी अवश्यम्भावी प्रतिक्रिया भी होती और फिर शून्यता और अकेलेपन का राज हमारे दिल मे छा जाता । अगर, जैसा कि कभी-कभी होता था, मुलाकात कामयाव नही हुई, इसलिए कि मुझे कोई ऐसी खवर मिली जिससे मै विगड गया या और कोई अन्य ऐसी ही वात हुई, तो मै वाद को वहुत ही दुखी हो जाता था । हाँ, मुलाकात के वक्त जेल के कर्मचारी तो मौजूद रहते ही थे । लेकिन वरेली मे तो दो या तीन मर्तवा उनके साथ-साथ सी० आई० डी० का आदमी भी हाथ

मे कागज और पेन्सिल लिये मौजूद रहा, जो हमारी बातचीत के करीब-करीब हरेक हरुफ को बड़े उत्साह से लिख रहा था। इस बात से मुझे बहुत ही चिढ़ होती थी और ऐसी मुलाकाते बिलकुल बेकार गयी।

पहले इलाहाबाद-जेल मे मुलाकात करते हुए और उसके बाद सरकार की तरफ से मेरी माँ और पत्नी के साथ जो दुर्व्यवहार हुआ था उसकी वजह से मैने मुलाकाते करना बन्द कर दिया था। करीब-करीब सात महीने तक मैने किसीसे मुलाकात नही की। मेरे लिए यह वक्त बहुत ही मनहूस रहा और जब इस वक्त के बाद मैने यह तय किया कि मुझे मुलाकात करना शुरू कर देना चाहिए और उसके फलस्वरूप जब मेरे लोग मुझसे मिलने आये तब मै आनन्द से झूमने लगा था। मेरी बहन के छोटे-छोटे बच्चे भी मुझसे मिलने को आये थे। उनमे से एक छोटे से बच्च्चे को मेरे कन्धों पर चढने की आदत थी। यहाँ भी जब उसने मेरे कन्धे पर चढना चाहा तो मेरे भावों का बॉध टूट गया। मानवी ससर्ग के लिए एक लम्बी चाह के बाद गृह-जीवन के इस स्पर्श से मै अपने को सम्हाल न सका।

जव मैने मुलाकात करना बन्द कर दिया था तब घर से या दूसरी जेलो से आनेवाले खत (क्योकि मेरी दोनो बहने जेल मे थी) जो हमे हर पन्द्रहवे दिन मिलते थे और भी कीमती हो गये, और मै उनकी बाट बडी उत्सुकता से देखा करता था। निश्चित तारीख को कोई खत न आता तो मुझे बडी चिन्ता सवार हो जाती। लेकिन साथ ही जब खत आते तब मुझे उन्हे खोलते हुए डर-सा लगता था। मै उनके साथ उसी तरह खिलवाड़ करता जिस तरह कोई इत्मीनान के साथ आनन्द की चीज से करता है। साथ ही मेरे मन मे कुछ-कुछ यह डर भी रहता था कि कही खत मे कोई ऐसी खबर या बात न हो कि मुझे दु ख हो। जेल मे खतो का आना या जेल मे खत लिखना दोनो ही वहाँ के शान्तिमय और स्थिर जीवन मे बाधा डालते थे। वे मन मे भावो को जगाकर बेचैनी पैदा करते थे और उसके बाद एक या दो दिन तक मन अस्तव्यस्त होकर भटकने लग जाता और उसे रोजमर्रा के काम मे

जुटाना मुश्किल हो जाता था।

नैनी और बरेली जेल मे तो मेरे बहुत-से साथी थे। देहरादून में शुरू-शुरू मे हम सिर्फ तीन ही थे। मै, गोविन्दवल्लभ पन्त और काशीपुर के कुँवर आनन्दसिंह। लेकिन पन्तजी तो कोई दो महीने वाद छोड दिये गये, क्योंकि उनकी छ महीने की सजा खत्म हो गयी थी। इसके वाद हमारे दो और साथी हमसे आ मिले थे। लेकिन जनवरी १९३३ लगी ही थी कि मेरे सब साथी चले गये और मै अकेला ही रह गया। अगस्त के अखीर मे जेल से छूटने तक, करीब-करीब आठ महीने तक, देहरादून जेल मे मै बिलकुल अकेला रहता था। हर रोज कुछ मिनट तक किसी जेल कर्मचारी के अलावा कोई ऐसा न था जिससे मै वातचीत भी कर लिया करता। कानून के अनुसार तो यह एकान्त सजा न थी, लेकिन उससे मिलती-जुलती ही थी। इसलिए ये वडी मनहूसी के दिन रहे। सौभाग्य से इन दिनों मैंने मुलाकात करना शुरू कर दिया था। उनसे मेरा दु ख कुछ हलका हो गया था। मेरा खयाल है कि मेरे साथ यह खास रिआयत की गयी थी जो मुझे बाहर से भेजे हुए ताजे फूल लेने की और कुछ फोटो रखने की इजाज़त थी। इन वातो से मुझे काफी तसल्ली मिलती थी। मामूली तौर पर कैदियों को फूल या फोटो रखने की इजाजत नही है। कई मौको पर मुझे वे फूल नही दिये गये जो बाहर से मेरे लिए लाये गये थे। अपनी कोठरियो को खुशनुमा बनाने की हमारी कोशिशे रोकी जाती थी। मुझे याद है कि मेरे एक साथी ने, जो मेरे पडोस की कोठरी मे रहता था, अपने शीशे, कघे वगैरा चीज़ो को जिस तरह सजाकर रक्खा था उसपर जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने ऐतराज़ किया था। उनसे कहा गया कि वह अपनी कोठरी को आकर्षक और 'विलासिता-पूर्ण' नही बना सकते। और वे विलासता की चीजे क्या थी?—दाँतो का एक ब्रश, दाँतो का एक पेस्ट, फाउण्टेनपेन की स्याही, सिर मे लगाने के तेल की शीशी, एक ब्रश और कघी, शायद एक या दो छोटी-छोटी चीजें और!

जेल में हम लोग जिन्दगी की छोटी-छोटी चीज़ो की कीमत को

समझने लगे थे। वहाँ हमारा सामान इतना कम होता था और उसे हम न तो आसानी से बढा ही सकते थे न उसकी जगह दूसरी चीजे ही मँगा सकते थे, इसलिए हम उसे बडी होशियारी से रखते थे, और ऐसी इक्की-दुक्की छोटी-छोटी चीजों को बटोर कर रखते थे जिन्हे जेल से बाहर की दुनिया मे हम रद्दी की टोकरी मे फेका करते थे। इस प्रकार जब हमारे पास मिलकियत रखने की कोई चीज नही होती तब भी तो जायदाद और मिलकियत का ख़याल हमारा पीछा नही छोडता !

कभी-कभी ज़िन्दगी की कोमल वस्तुओ के लिए शरीर अकुला उठता, शारीरिक सुख-भोग, आनन्दप्रद अडोस-पडोस, मित्रों के साथ दिलचस्प बातचीत और बच्चों के साथ खेलने की इच्छा जोर पकड़ जाती थी। किसी अखबार मे किसी तस्वीर या फोटो को देखकर पुराना जमाना सदेह सामने आ खडा होता—उन दिनों की बाते सामने आजाती जब जवानी मे किसी बात की फिकर न थी। ऐसे वक्त पर घर की याद की बीमारी बुरी तरह जकड लेती और वह दिन बडी बेचैनी के साथ कटता !

मै हर रोज थोडा-बहुत काता करता था, क्योकि मुझे हाथ का कुछ काम करने से तसल्ली मिलने के साथ-साथ बहुत ज्यादा दिमागी काम से कुछ छुट्टी भी मिल जाती थी। लेकिन मेरा खास काम लिखना और पढ़ना ही था। मै जिन-जिन किताबों को पढना चाहता था वे सब तो मुझे मिल नही पाती थी, क्योकि उनपर रोक थी और वे सेसर होती थी। किताबो को सेसर करनेवाले लोग हमेशा अपने काम के योग्य नही होते थे। स्पैगलर की Decline of the West (पश्चिम का पतन) नामक किताब इसलिए रोक ली गयी थी कि उसका नाम खतरनाक और राजद्रोहात्मक मालूम हुआ था। लेकिन मुझे इस सबध की किसी प्रकार की शिकायत नही करनी चाहिए क्योंकि कुल मिलाकर मुझे तो सभी किस्म की किताबे मिल जाती थी। ऐसा मालूम पडता है कि इस मामले मे भी मेरे साथ खास रिआयत होती थी, क्योकि मेरे बहुत से साथियो को, जो 'ए' क्लास मे रखे गये थे, प्रचलित विषयो पर किताबे मँगाने मे बड़ी मुश्किलो का सामना करना पडा था। मुझसे कहा गया है कि बनारस

की जेल मे तो सरकार का श्वेत-पत्र (White paper) भी नही दिया गया, जिसमे खुद सरकार की विधान-सम्बन्धी योजनाये थी, क्योकि उसमें राजनैतिक बाते थी। ब्रिटिश अधिकारी धार्मिक पुस्तको और उपन्यासो की तहेदिल से सिफारिश करते थे। यह बात आश्चर्यजनक है कि धर्म का विषय ब्रिटिश सरकार को कितना प्यारा लगता है और वह हर तरह से मजहब को कितनी निष्पक्षता के साथ आगे बढाती है।

हिन्दुस्तान मे जब कि मामूली-से-मामूली नागरिक-स्वतत्रता भी छीन ली गयी हो तब कैदियो के हको की बात करना बिलकुल अनुचित मालूम होता है। फिर भी यह मामला ऐसा है जिसपर गौर किया जाना चाहिए। अगर कोई अदालत किसी आदमी को कैद की सजा दे देती है तो क्या उसके मानी यह है कि उसके शरीर ही नही उसका मन भी जेल मे ठूँस दिया जाय? चाहे कैदियो के शरीर भले ही आज़ाद न रहे पर क्या वजह है कि उनका दिमाग भी आज़ाद न रहे? हिन्दुस्तान की जेलो का इन्तजाम जिन लोगो के हाथ में है वे तो अवश्य ही इस बात को सुनकर घबरा जावेंगे, क्योकि नये विचारों को जानने और लगातार विचार करने की उनकी शक्ति साधारणतया सीमित हो जाती है। यो तो सेंसर का काम हर वक्त बुरा होता है और साथ ही पक्षपातपूर्ण तथा बेहूदा भी, लेकिन हिन्दुस्तान मे तो वह बहुत-से आधुनिक साहित्य और आगे बढी हुई पत्र-पत्रिकाओ से हमे वचित रखता है। जब्त की हुई किताबो की सूची बहुत बडी है और वह दिन-पर-दिन बढती ही जा रही है। इस सबके अलावा कैदी को तो एक और सेंसरशिप का भी सामना करना पडता है। और इस तरह उसके पास वे बहुत-सी किताबें तथा अखबार भी नही पहुँच पाते जिन्हे वह कानून के मुताबिक बाहर खरीदकर पढ सकता है।

कुछ दिनो पहले यह प्रश्न सयुक्तराज्य अमेरिका के न्यूयॉर्क नगर की मशहूर सिगसिग-जेल के सिलसिले में उठा था। वहाँ कुछ कम्यूनिस्ट अखबार रोक दिये गये थे। अमेरिका के शासकवर्ग मे कम्यूनिस्टो के खिलाफ बहुत ज़ोर के भाव है, लेकिन यह सब होते हुए भी वहाँ की

जेल के अधिकारी इस बात के लिए राज़ी हो गये कि जेल निवासी जिस किताब व अख़बार को चाहे मँगाकर पढ सकते हैं, चाहे ये अख़बार व पत्रिकाये कम्यूनिस्ट मत की ही क्यो न हो ? वहाँ की जेल के वार्डन ने सिर्फ व्यगचित्रों को रोका, जिन्हे वह भडकानेवाला समझता था।

हिन्दुस्तान की जेलों मे मानसिक स्वतन्त्रता पर गौर करने का यह सवाल कुछ हद तक बेहूदा मालूम होता है जबकि, जैसा कि हो रहा है, ज्यादातर कैदियो को कोई भी अख़बार या लिखने की सामग्री नही दी जाती। यहाँ तो सवाल सेसरशिप या देखभाल का नही है बल्कि बिलकुल इनकारी का है। कायदो के मुताबिक तो सिर्फ 'ए' क्लास के और बंगाल मे पहले डिवीज़न के कैदियो को ही लिखने की सामग्री दी जाती है। इनमे से भी सबको रोजाना अख़बार नही दिया जाता। जो रोजाना अख़बार दिया जाता है वह भी सरकार की पसन्द का है। 'बी' और 'सी' क्लास के कैदियो के लिए लिखने के सामान की कोई ज़रूरत नही समझी जाती, चाहे वे राजनैतिक हों या गैर-राजनैतिक। 'बी' क्लास वालो को कभी-कभी बहुत ख़ास रिआयत दिखाकर लिखने का सामान दे दिया जाता है और यह रिआयत अक्सर वापस ले ली जाती है। शायद दूसरे कैदियो की तुलना मे 'ए' क्लास के कैदियों की तादाद हजार पीछे एक बैठेगी। इसलिए हिन्दुस्तान मे कैदियो की तकलीफो पर गौर करते हुए उनका ख़याल न किया जाय तब भी कोई हर्ज नही। लेकिन यह बात याद रखनी चाहिए कि इन ख़ास रिआयतवाले 'ए' क्लास के कैदियों को भी किताबो और अख़बारो के मामले मे उतने हक नही मिले हुए हैं जितने कि ज्यादातर सभ्य देशो मे मामूली कैदियो को प्राप्त हैं।

बाकी लोगों को एक हज़ार मे ९९९ को एक वक्त मे दो या तीन किताबे ही दी जाती है, लेकिन हालत ऐसी है कि वे इस रिआयत से भी पूरा-पूरा फायदा नही उठा पाते। कुछ लिखना या जो-कुछ किताब पढ़ी जाय उसके नोट लेना तो ऐसा खतरनाक मन-बहलाव समझा जाता है जो उन्हे हरगिज़ न करना चाहिए। मानसिक उन्नति का इस तरह जान-बूझकर रोका जाना एक अजीब और मजेदार बात है। किसी

कैदी को सुधारने और योग्य नागरिक बनाने के खयाल से तो उसके दिमाग पर ध्यान देकर उसे दूसरी तरफ लगाना उचित है। पढा-लिखाकर उसे कोई धन्धा सिखा देना चाहिए। लेकिन शायद हिन्दुस्तान में जेल के हाकिमो को यह बात सूझी ही नही और युक्तप्रान्त मे तो उसका खासतौर पर अभाव ही दिखायी देता है। हाल में जेलों में लड़कों और नौजवानो को थोडा लिखना-पढना सिखाने की कुछ कोशिशे की गयी है। लेकिन वे बिलकुल व्यर्थ है और जिन लोगों के सुपुर्द यह काम किया गया है वे उसे पूरा करने के बिलकुल अयोग्य है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि कैदी लोग लिखना-पढना पसन्द नही करते। लेकिन मेरा अपना अनुभव इसके बिलकुल खिलाफ है और कई लोग जो मेरे पास लिखने-पढ़ने की गरज से आते थे उनमें मैंने पढने-लिखने का पूरा-पूरा चाव देखा। जो कैदी हमारे पास आ पाते थे उन्हें हम पढाते थे। वे लोग बडी मेहनत से पढते थे, और जब कभी मै रात में जग पडता तो यह देखकर आश्चर्य करता कि उनमें से एक या दो अपनी बैरक की धुंधली लालटेन के पास बैठे हुए अगले दिन के अपने पाठ को याद कर रहे है।

मै अपनी किताबो मे ही जुटा रहा। कभी एक प्रकार की किताबे पढता तो कभी दूसरे किस्म की। लेकिन आमतौर पर मै ठोस विषय की किताबें पढता था। उपन्यास पढने से दिमाग में एक ढीलापन-सा मालूम होने लगता है। इसलिए मैंने ज्यादातर उपन्यास नही पढे। जब-कभी पढते-पढ़ते मेरा जी ऊब उठता तब मै लिखने बैठ जाता। अपनी सजा के दो सालो में तो मै उस 'ऐतिहासिक पत्रमाला'[1] मे लगा रहा, जो मैंने अपनी पुत्री (इन्दिरा) के नाम लिखी। उन्होंने मुझे अपने दिमाग को ठीक-ठीक रखने में बहुत मदद दी। कुछ हद तक तो मै उस पुराने जमाने में रहने लगा, जिसकी बाबत मै लिख रहा था और इसलिए

---

१. यह हिंदी में 'विश्व-इतिहास की झलक' (Glimpses of the World History) के नाम से 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित हो चुकी है।-अनु०

इन दिनो करीब-करीब यह भूल-सा गया कि मै जेल के भीतर रह रहा हूँ।

यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों का मै हमेशा स्वागत करता था, खासतौर पर पुराने यात्रियों के यात्रा-वर्णन का—जैसे ह्यूएनत्साग, मार्कोपोलो और इब्नबतूता वगैरा। आजकल के यात्रियों की यात्राओ का वर्णन भी अच्छा मालूम होता था—जैसे स्वेन हेडन ने मध्य-एशिया के जगलों मे जो सफर किया उसका और रोरिक को तिब्बत मे जो अजीब बाते मिली उनका वर्णन। चित्रो की पुस्तके भी—खासकर पहाड़ो, हिम-प्रपातो और मरुस्थलो की तस्वीरे भी अच्छी लगती थी, क्योंकि जेल मे विशाल मैदानो और समुद्र और पहाडो को देखने की चाह बढ जाती है। मेरे पास माउन्ट ब्लेक, आल्प्स पर्वत, और हिमालय की कुछ सुन्दर चित्रोवाली पुस्तके थी और अक्सर मै उन्हे देखा करता था। जब मेरी कोठरी या बैरक की गरमी एक सौ पन्द्रह डिग्री या उससे भी ज्यादा होती थी, तब मै हिम-प्रपातो को एकटक होकर देखता। एटलस को देखकर तो बड़ा जोश पैदा होता था। उसे देखकर सब तरह की पुरानी बातो की याद आ जाती थी—उन जगहो की याद जहाँ हम हो आये है और उन जगहों की भी जहाँ हम जाना चाहते थे। और कभी-कभी मन मे यह उत्कण्ठा पैदा होती कि पिछले दिनों जिन जगहों को हम देख आये है उन्हे फिर देखे। एटलस मे बडे-बडे शहरों को बतानेवाले जितने निशान है वे मानो हमको बुला रहे हों और हमे वहाँ जाने की इच्छा होती थी। एटलस में पहाडो को देखकर और समुद्र के नीले चिन्हों को देखकर भी उन्हे पार करने की इच्छा होती। दुनिया के सौन्दर्य को देखने की, बदलती हुई मनुष्य-जाति के सघर्षो और सग्रामो को देखने की, और खुद भी इन सब कामों को करने की उमगे हमको तग करती और हमारा पल्ला पकड लेती और हम बड़े दु ख के साथ झटपट एटलस को उठाकर रख देते और अच्छी तरह जानी-पहचानी हुई उन दीवारो को देखने लग जाते, जो हमे घेरे हुए थी, और जो नीरस ढर्रा हमे रोज़मर्रा पूरा करना पडता था उसमे जुत जाते।

: ४५ :

जेल में जीव-जन्तु

कोई साढे चौदह महीने तक मै देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी मे रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मै उसीका एक हिस्सा हूँ। उसके जर्रे-जर्रे से मै परिचित हो गया। उसकी सफेद दीवारो पर लगे हरेक निशान और खुरदरी फर्श, हरेक खरोच और दबोच को और उसके शहतीरो पर लगे घुन के छेदो को मै जान गया था। बाहर के छोटे-से आँगन मे उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढे-मेढे टुकडे मुझे पुराने दोस्त-से लगते थे। मै अपनी कोठरी मे अकेला था सो बात नही। क्योकि वहाँ कितने ही ततैयों और बर्रों के उपनिवेश थे और कितनी ही छिपकलियो ने शहतीरों के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश मे बाहर निकला करती थी। यदि विचार और भावना भौतिक चीजों पर अपने चिन्ह छोड सकती है, तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे जरूर भरा हुआ था और उस सैकडो जगह में जो-जो भी चीजे थी उन सबपर वे अकित हुए बिना न रहे होगे।

कोठरी तो मुझे दूसरी जेलो मे इससे अच्छी मिली थी, मगर देहरादून में मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशकीमत था। असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारो के बाहर एक पुरानी हवालात मे रखे गये थे। लेकिन थी वह आहाते मे ही। यह जगह इतनी छोटी थी कि उसमें आस-पास घूमने की कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज़ तक घूमनें की छुट्टी थी। हम रहते तो थे जेल के अहाते मे ही, लेकिन उन दीवारो के बाहर आजाने से पर्वतमालाओ, खेतों और कुछ दूर की आम सडक के दृश्य दिखाई पड जाते थे। यह विशेष लाभ खास मुझे अकेले ही को नही मिला था, बल्कि देहरादून के हरेक 'ए' क्लास के कैदी को

मिलता था। इसी तरह जेल की दीवार के बाहर लेकिन अहाते के अन्दर, एक और छोटी इमारत थी जिसे यूरोपियन हवालात कहते थे। इसके चारों ओर कोई दीवार न थी, जिससे कोठरी के अन्दर का आदमी पर्वत-श्रेणियो और वाहर के जीवन के सुन्दर दृश्य देख सकता था। इसमे जो यूरोपियन कैदी या दूसरे लोग रखे जाते थे उन्हे भी जेल के फाटक के पास सुवह-शाम घूमने की इजाज़त थी।

वही कैदी, जो लम्बे अर्से तक इन ऊँची दीवारो के अन्दर कैद रहे हो, इन वाहर सैर करने और खुले दृश्यो के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को पहचान सकते है। मै इस तरह बाहर घूमने का वड़ा शौक रखता था और बारिश मे भी मैने इस सिलसिले को नही छोड़ा था, जबकि ज़ोर से पानी की झडी लगती थी और मुझे टखने-टखने तक पानी मे चलना पड़ता था। यों तो किसी भी जगह वाहर सैर करने का मैने सदा ही स्वागत किया होता, लेकिन यहाँ तो अपने पडोसी गगनचुम्वी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी खुशी को वढाने वाला था, जिससे कि जेल की उदासी वहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी वहुत वडी खुश-किस्मती थी कि जव लम्वे अर्से तक मैने कोई मुलाकात नही की थी और जव कितने ही महीने तक अकेला रहा, तव मै इन प्यारे सुहावने पहाडो को एक-टक निहार सकता था। हाँ, अपनी कोठरी से तो मै इस गिरिराज के दर्शन नही कर सकता था, मगर मेरे मन मे सदैव ही उसका ध्यान आता था और वह हमेशा समीप ही मालूम होता था और जान पड़ता था कि मानों अन्दर-ही-अन्दर हम दोनों के वीच एक घनिष्ठता वढ़ रही थी।

पक्षी-गण ये उड-उड ऊँचे निकल गये है कितनी दूर !
जलद-खड भी इसी तरह वह नभ-पथ से होगया विलीन;
एकाकी मै, सम्मुख मेरे पर्वतशृग खड़ा है शान्त—
मै उसको, वह मुझे देखता दोनो ही हम थके कभी न।[1]

---

१. अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

मैं समझता हूँ कि इस कविता के कवि ली ताई पो की तरह मैं यह नही कह सकता कि मैं इस नगाधिराज से कभी नही थकता। मगर हाँ, ऐसा तो कभी-कभी ही अनुभव होता था; और साधारणतया तो मैं उसकी निकटता से सदा बहुत सुख का अनुभव करता था। उसकी दृढता और स्थिरता मानो लाखो वर्षो के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे गिरी निगाह से देखती है और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढाव की दिल्लगी उडाती है और मेरे अशान्त मन को सान्त्वना देती है।

देहरादून मे वसन्त-ऋतु वडी सुहावनी होती है और नीचे के मैदानो की वनिस्वत ज्यादा समय तक रहती है। जाडे ने प्राय सब पेडो का पतझड कर दिया है और वे विलकुल नग-धडग हो गये है। जेल के फाटक के सामने जो चार विशाल पीपल के पेड है, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने करीब-करीब सब पत्ते नीचे गिरा दिये है और खखड और उदास वनकर वे वहाँ खडे है। फिर वसन्त-ऋतु आती है और उसकी जीवनदायिनी वायु उन्हे अनुप्राणित करती है और उनके ठेठ अन्दर के एक-एक परमाणु को जीवन का सदेश भेजती है। तव सहसा, क्या पीपल और क्या दूसरे पेडो मे, एक हलचल होती है और उनके आसपास कुछ रहस्य-सा दिखायी पडता है, जैसे परदे के अन्दर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही है और मैं तमाम पेडों पर हरे-हरे अकुरो और कोपलो को उझक-उझक कर झाँकते हुए देखकर चकित रह जाता। वह वडा ही उल्लासमय और आनन्दायी दृश्य था। फिर वडी तेज़ी के साथ लाखों पत्ते उमड आते, सूर्य की किरणो में चमकते और हवा के साथ अठखेलियाँ करते। एक अखुए से लेकर पत्ते तक में यह रूपान्तर कितना जल्दी हो जाता है और कितना आश्चर्यजनक !

मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्ख़ी लिये गेहुँवाँ रँग के होते है, ठीक वैसे कि जैसे कश्मीर के पहाडों पर शरद् ऋतु में हलके रँग की छाया छा जाती है, लेकिन जल्दी ही वे अपना रँग वदलकर हरे हो जाते है।

वारिश का वहाँ हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि उससे ग्रीष्म-

ऋतु की गर्मी का अन्त आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज़ की भी आखिर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानों इन्द्र महराज की प्रिय लीला-भूमि ही समझिये। बरसात शुरू होते ही पाँच हफ्तो तक ऐसी झड़ी लगती है कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता है और उस छोटी-सी तग जगह मे खिड़कियो से आती हुई बौछारो से अपने को बचाते हुए सिकुड़-मुकुड कर कुप्पा बने बैठे रहना अच्छा नहीं लगता।

हाँ, शरद्ऋतु मे फिर आनन्द उमड़ने लगता है और इसी तरह शिशिर मे भी, उन दिनों को छोडकर जबकि मेह बरसता हो। एक तरफ बिजली कड़क रही है, दूसरी तरफ वर्षा हो रही है और तीसरी तरफ चुभती हुई ठण्डी हवा बह रही है। ऐसी हालत मे हर आदमी को उत्कठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमे सर्दी से बचाव हो सके और ज़रा आराम मिले। कभी-कभी बरफ का तूफान आता और बड़े-बड़े ओले गिरते और वे टीन की छतों पर से गिरते हुए बड़े ज़ोर की आवाज़ करते, मानों दनादन तोपे छूट रही हो।

एक दिन मुझे ख़ास तौर पर याद है। वह २४ दिसम्बर १९३२ का दिन था। बड़ी ज़ोर की बिजली कड़क रही थी और दिन-भर पानी बरसता रहा। जाड़ा इतना सख्त कि कुछ मत पूछो। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन मे मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पड़े है। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गये और जब मैंने देखा कि पर्वतश्रेणियो पर और पहाड़ियों पर बरफ-ही-बरफ जमी हुई है तो मेरी सारी तकलीफ न जाने कहाँ चली गयी? दूसरा दिन क्रिसमस-डे था, बहुत निर्मल और मनोरम और बरफ के आवरण मे पर्वत-श्रेणियाँ बहुत ही सुन्दर दिखाई देती थीं।

जब साधारण रोजमर्रा के कामो से हम रोक दिये गये तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के दर्शन की ओर ज्यादा गया। जो-जो जीवधारी या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते उनको हम ध्यान से देखने लगे। ज्यो-ज्यों मै ज्यादा ध्यान से देखने लगा त्यों-त्यों मैने देखा कि मेरी

कोठरी में और बाहर के छोटे-से आँगन मे हर तरह के जीव-जन्तु रहते है। मैने मन मे कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिकायत है, और दूसरी ओर उस आँगन को देखो जो खाली और सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमे जीवन उमडा पडता है। ये तमाम किस्म के रेंगनेवाले, सरकनेवाले और उडनेवाले जीवधारी मेरे काम मे जरा भी दखल दिये बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पडी थी कि मैं उनके जीवन मे बाधा पहुँचाता ? लेकिन हाँ, खटमलो, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियो से मेरी लडाई बराबर रहती थी। ततैयो और बर्रों को तो मै सह लेता था। मेरी कोठरी मे वे हजारो की तादाद मे थे। हाँ, एक बार उनकी-मेरी झडप हो गयी थी, जब कि एक ततैये ने, शायद अनजान मे, मुझे काट खाया था। मैने गुस्सा होकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चन्दरोजा घरो को भी बचाने के लिए उन्होने खूब डटकर सामना किया। छतो में शायद उनके अडे थे। आखिर को मैने अपना इरादा छोड दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छोडें तो मै भी उन्हे आराम से रहने दूँगा। कोई एक साल तक उसके बाद मै उन बर्रों और ततैतो के बीच रहा। मगर उन्होने फिर कभी मुझपर हमला नहीं किया और हम दोनो एक-दूसरे का आदर करते रहे।

हाँ, चमगीदडो को मै पसन्द नही करता था, लेकिन उन्हे मै मन मसोसकर बर्दास्त करता था। वे सन्ध्या के अँधेरे में चुपचाप उड जाती और आसमान की अँधेरी नीलिमा में उडती दिखायी पडती। वे बडे मनहूस जीव लगते थे और मुझे उनसे बडी नफरत और कुछ भय-सा मालूम होता था। वे मेरे चेहरे के एक इच दूरी से उड जाती और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कही मुझे झपट्टा न मार दें। ऊपर आकाश मे दूर बडी-बडी चमगीदडे उडा करती थीं।

मै चीटियों, दीमको और दूसरे कीडों को घटो देखता रहता था। छिपकलियो को भी, जब वे शाम को अपने शिकार चुपके से पकड लेती और अपनी दुम को एक अजीव हँसी आने लायक ढँग से हिलाती हुई

एक-दूसरे को लपेटती। मामूली तौर पर वे ततैयो को नही पकडती थी, लेकिन दो बार मैने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी और सावधानी से मुह की तरफ से उसको चुपके से झपटकर पकडा। मै नही कह सकता कि उन्होने जान-बूझकर उनके डक को बचाया था या वह एक दैवयोग था।

इसके बाद, अगर कही आसपास में पेड़ हों तो, झुण्ड-की-झुण्ड गिलहरियाँ होती थी। वे बहुत ढीठ और नि.शक होकर हमारे बहुत पास आ जातीं। लखनऊ जेल मे मै बहुत देर तक एक-सा बैठे-बैठे पढा करता था। एक गिलहरी मेरे पैर पर चढकर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारो तरफ देखा करती। फिर वह मेरी आखों की ओर देखती. तब समझती कि मै पेड या जो कुछ उसने समझा हो वह नही हूँ। एक क्षण के लिए तो वह सहम जाती, पर फिर दुबककर खिसक जाती। कभी-कभी गिलहरियो के बच्चे पेड से नीचे गिर पडते। उनकी माँ उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको ले जाकर सुरक्षित जगह मे रख देती। कभी-कभी बच्चे 'खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने नन्हे-नन्हे थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हे दाना कैसे दे? लेकिन यह सवाल वड़ी तरकीव से हल किया गया। फाउन्टेनपेन के फिलर में ज़रा-सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढिया 'फीडिंग बोतल' हो गयी।

अल्मोडा की पहाड़ी जेल को छोड़कर और सब जेलों मे जहाँ-जहाँ मै गया कबूतर खूब मिले। और हजारो की तादाद मे वे शाम को उडकर आकाश मे छा जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हाँ, मैनाये भी थी। वे तो सब जगह मिलती है। देहरादून मे उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी के दरवाजे के ऊपर ही अपना घोसला वनाया था। मै उन्हे दाना दिया करता। वे वहुत पालतू हो गयी थी और जब कभी उनके सुवह या शाम के दाने मे देर हो जाती तो वे मेरे नज़दीक आकर वैठ जाती और ज़ोर-ज़ोर से ची-ची करके खाना मागती। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर

पुकार देखते और सुनते ही बनती थी।

नैनी मे हजारो तोते थे। उनमे से वहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवार की दरारों मे रहते थे। उनकी प्रणयोपासना और प्रणय-लीला आकर्षक वस्तु होती थी। वह देखनेवाले को मोहित कर लेती थी। कभी-कभी दो तोतों मे एक तोती के लिए बडे जोर की लडाई होती। तोती शान्ति के साथ उनके झगडे के नतीजे का इन्तजार करती और विजेता पर अपनी प्रणयवृष्टि करने के लिए प्रस्तुत रहती थी।

देहरादून मे तरह-तरह के पक्षी थे और उनके कलरव करने और जोर-जोर से चिंचियाने, चहचहाने और टे-टे करने से एक अजीब समा बँध जाता था। और सबसे बढकर कोयल की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या ? बारिश मे और उसके ठीक पहले पपीहा आता। सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' रटना देखकर दग रहजाना पडत था। चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप ही चाहे मेह, उसकी रट नही टूटती थी। इनमे से बहुतेरे पक्षियो को हम देख नही पाते थे, सिर्फ उनकी आवाज सुनायी पडती थी। क्योकि हमारे छोटे-से आँगन मे कोई पेड नही था। लेकिन गिद्ध और चीले बडी धज के साथ आसमान मे ऊँची उडती और उन्हे मै देख सकता था। वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आती और फिर हवा के झोके के साथ ऊपर चढ जाती। कभी-कभी जगली बतख भी हमारे सिर पर मँडराया करते थे।

बरेली-जेल मे बदरो की आबादी खासी थी। उनकी कूद-फाद, मुह बनाना वगैरा हरकते देखने लायक होती थी। एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है। एक बन्दर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अन्दर आगया। वह दीवार की ऊँचाई तक उछल नही सकता था। वार्डर, कुछ नबरदारो और दूसरे कैदियो ने मिलकर उसे पकडा और उसके गले मे एक छोटी-सी रस्सी दाँध दी। दीवार पर से उसके (मै समझता हूँ) माँ-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से लाल हो गये। अचानक उनमे से एक बडा बदर नीचे कूदा और सीधा भीड मे उस जगह गिरा जहाँ कि वह बच्चा था। निस्सदेह यह बडी बहादुरी का

काम था, क्योंकि वार्डर वगैरा सबके पास डडे और लाठियाँ थी। वे उन्हे चारो तरफ घुमा रहे थे और वे काफी तादाद मे भी थे। लेकिन निधडक साहस की विजय हुई और मनुष्यो की वह भीड मारे डर के भाग निकली। उनके डडे और लाठियाँ वही पड़ी रह गई और बच्चा उनसे छुडा लिया गया।

अक्सर ऐसे जीव-जन्तु भी दर्शन देते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच्छू हमारी कोठरियो में बहुत आया-जाया करते थे। खासकर तब, जब बिजली जोरों से कडका करती। ताज्जुब है कि मुझे किसीने भी नही काटा, क्योंकि वे अक्सर बेढब जगह मिल जाया करते थे। मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठायी उसपर भी। मैंने एक खासतौर पर काले और जहरीले-से बिच्छु को कुछ दिन तक एक बोतल में रख छोडा था और मक्खियाँ वगैरा उसको खिलाया करता था। फिर मैंने उसे एक रस्सी से बाँधकर दीवार पर लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह भाग निकला। मुझे यह ख्वाहिश नही थी कि वह फिर कहीं घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाय। इसलिए मैंने अपनी कोठरी को खूब साफ किया और चारों ओर उसे ढूंढा। मगर कुछ पता न चला।

तीन-चार साँप भी मेरी कोठरी में या उसके आस-पास निकले थे। एक की खबर जेल के बाहर चली गई और अखबारों मे मोटी-मोटी लाइनों मे छापी गयी। मगर सच पूछिए तो मैंने उस घटना को पसन्द किया था। जेल-जीवन योंही काफी रूखा और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसकी नीरसता को कोई चीज भग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नही कि मैं साँपो को अच्छा समझता हूँ या उनका स्वागत करता हूँ। मगर हाँ, औरो की तरह मुझे उनसे डर नही लगता। बेशक, उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी साँप को देखूं तो उससे अपने को बचाऊँ भी, लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि नही होती और न उनसे डरकर भागता ही हूँ। हाँ, कानखजूरे से मुझे बहुत नफरत और डर लगता है। डर तो इतना नही मगर अपने-आप उसे देखकर नफरत होती है। कलकत्ते की अलीपुर-जेल मे कोई आधी

रात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि कोई चीज़ मेरे पाँव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कानखजूरा बिस्तर पर है। एकाएक और बड़ी तेज़ी से बिना आगा-पीछा सोचे मैंने बिस्तर से ऐसे ज़ोर की छलाँग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते हुए बचा। उस समय मैंने अच्छी तरह जाना कि रूस के प्रसिद्ध जीव-शास्त्री पेवलोव के 'रिफ्लेक्सेस'—स्वयं-स्फूर्त क्रियायें क्या होती हैं।

देहरादून मे एक नया जन्तु देखा; या यों कहूँ कि ऐसा जन्तु देखा जो मेरे लिए अपरिचित था। मैं जेल के फाटक पर खड़ा हुआ जेलर से बात-चीत कर रहा था कि इतने मे बाहर से एक आदमी आया जो एक अजीब जन्तु लिये हुए था। जेलर ने उसे बुलवाया। मैंने देखा कि वह एक गोह और मगर के बीच का कोई जानवर है जो दो फीट लम्बा था। उसके पंजे थे और छिलकेदार चमड़ी। वह भद्दा और कुडौल था और बहुत कुछ जीवित था। एक अजीब तरह से उसने गाँठ की तरह एक गोल कुण्डल बना लिया था और लानेवाला उसे एक बाँस मे पिरोकर बड़ी ख़ुशी से उठाता हुआ लाया था। वह उसे 'बो' कहता था। जब जेलर ने उससे पूछा कि इसका क्या करोगे? तो उसने ज़ोर से हँसकर कहा भुज्जी—सालन—बनायेंगे! वह जंगली आदमी था। बाद को एफ० डबल्यू० चेपियन की 'दि जगल इन सनलाइट एण्ड शेडो' (धूप-छाँह मे जंगल) पढ़ने से मुझे पता लगा कि वह पेंगोलिन था।

क़ैदियों की, ख़ासकर लम्बी सज़ावाले क़ैदियो की, भावनाओं को जेल मे कोई भोजन नही मिलता। कभी-कभी वे जानवरो को पाल-पोसकर अपनी भावनाओं को तृप्त किया करते हैं। मामूली क़ैदी कोई जानवर नही रख सकता। नम्बरदारो को उनसे ज्यादा आज़ादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए एतराज़ नही करते। आमतौर पर वे गिलहरियाँ पालते हैं और सुनकर ताज्जुब होगा कि नेवले भी। कुत्ते जेल मे नही आने दिये जाते, मगर बिल्ली को, जान पड़ता है, उत्साहित किया जाता है। एक छोटी पुसिया ने मुझसे दोस्ती करली थी। वह एक जेल-अफसर की थी, जब उसका तबादला हुआ तो वह

उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव खलता रहा। हालाँकि जेल मे कुत्तों की इजाज़त नही है, लेकिन देहरादून मे इत्तिफाक से कुत्तों के साथ मेरा नाता हो गया था। एक जेल-अफसर कुतिया लाये थे। बाद को उनका तबादला हो गया और वह उसे वही छोड गये। बेचारी बेघर की होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलो और मोरियों मे रहती हुई वार्डरो के दिये टुकडे खाकर अपने दिन काटती थी। वह प्राय. भूखों मरती थी। मै जेल के बाहर हवालात मे रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती। मै उसे रोज़ खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी मे बच्चे दिये। कुछ तो और लोग ले गये मगर तीन बच रहे और मै उन्हे खाना देता रहा। इसमे से एक पिल्ली बीमार हो गयी। बुरी तरह छटपटाती थी। उसे देखकर मुझे बडी तकलीफ होती थी। मैंने बडी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १० १२ बार मुझे उठकर उसको सम्हालना पडता था। वह बच गयी और मुझे इस बात पर खुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आगयी।

बाहर की अपेक्षा जेल मे जानवरों से मेरा ज्यादा साबका पडा। मुझे कुत्तो का बडा शौक रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे, मगर दूसरे कामो मे लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल मे मै उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था। हिन्दु-स्तानी आमतौर पर घर मे जानवर नही पालते। यह ध्यान देने लायक बात है कि जीवदया के सिद्धान्त के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते है। यहाँतक कि गाय के साथ भी, जो हिन्दुओ को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दगों का कारण बनती है, दया का बर्ताव नही होता। मानो पूजाभाव और दयाभाव दोनो का साथ नही हो सकता।

भिन्न-भिन्न देशवालों ने भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियो को अपनी महत्त्वा-काक्षा या अपने चारित्र्य का प्रतीक बनाया है। उकाब सयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का, सिह और 'बुलडॉग' इग्लैण्ड का, लड़ते हुए मुर्गे फ्रास का और भालू पुराने रूस का प्रतीक है। सवाल यह है कि

ये संरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रीय चारित्र्य को किस तरफ ले जायँगे ? इनमें से ज्यादातर तो हमलाऊ और लड़ाका जानवर हैं और शिकारी पशु हैं। ऐसी दशा में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि जो लोग इन नमूनों को सामने रखकर अपना जीवन-निर्माण करते हैं वे, जान-बूझकर अपना स्वभाव वैसा ही बनाते हैं, आक्रामक रुख अख्तियार करते हैं, दूसरों पर गुर्राते हैं, गरजते हैं और झपट पड़ते हैं। और यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दू नरम और अहिंसक हैं, क्योंकि उनका आदर्श पशु है गाय।

: ४६ :

संघर्ष

बाहर सघर्ष चलता रहा, और वीर स्त्रियाँ और पुरुष, यह जानते हुए भी कि वर्त्तमान मे या निकट-भविष्य मे सफलता पाना उनके भाग्य मे नही है, एक ताकतवर और सुसज्जित सरकार का शान्ति के साथ मुकाबिला करते रहे। निरन्तर तथा ज्यादातर तीव्र होता हुआ दमन हिन्दुस्तान मे अग्रेजी शासन के आधार का प्रदर्शन कर रहा था। अब इसमे कोई धोखा-धडी नही थी, और कम-से-कम यही हमारे लिए कुछ सन्तोष की बात थी। सगीने कामयाब हुई, लेकिन एक बडे योद्धा ने एक बार कहा था कि—"तुम संगीनो से सब कुछ कर सकते हो, लेकिन उन्ही के ऊपर (आधार पर) बैठ नही सकते।" हमने सोचा कि इसके बजाय कि हम अपनी आत्माओ को बेचे और आत्मिक व्यभिचार करे, यही अच्छा है कि हम इसी तरह शासित होना पसन्द करे। जेल मे हमारा शरीर बेबस था, लेकिन हम समझते थे कि वहाँ रहकर भी हम अपने कार्य से सेवा ही कर रहे है और बाहर रहनेवाले कई लोगो से ज्यादा अच्छी सेवा कर रहे है। तो क्या हमे, अपनी कमजोरी के कारण, भारत के भविष्य का वलिदान कर देना चाहिए—इसलिए कि हमारी जान बची रहे? यह तो सच था कि इन्सान की ताकत और सहन-शक्ति की भी हद होती है, और कई व्यक्ति शरीर से बेकार हो गये, या मर गये, या काम से अलग हो गये, गद्दारी तक कर गये, मगर इन बाधाओ के होते हुए भी कार्य आगे बढता ही गया। लेकिन अगर आदर्श स्पष्ट दीखता रहता और हिम्मत ज्यो-की-त्यो बनी रहती तो हार नही हो सकती थी। असली असफलता तो है अपने सिद्धान्तो को छोड़ देना, अपने हक से इन्कार कर देना, और बेइज्जती के साथ बे-इन्साफी के आगे झुक जाना। अपने-आप लगाये हुए ज़ख्म दुश्मन के लगाये हुए ज़ख्मों से ज्यादा देर मे अच्छे होते है।

कभी-कभी अपनी कमज़ोरियो पर और भटक जानवाली दुनिया पर हमारा मन उदास हो जाया करता था, मगर फिर भी हमे जितनी सफलता मिली थी उसीपर हमे कुछ अभिमान था। क्योकि हमारे लोगों ने बहुत ही वीरतापूर्ण काम किया था, और उस बहादुर सेना मे हम भी शामिल है, इस खयाल से जी को आनन्द मालूम होता था।

सविनय भग के उन बरसों मे काग्रेस के खुले अधिवेशन करने की दो बार कोशिश की गयी, एक दिल्ली मे और दूसरी कलकत्ते मे। यह ज़ाहिर था, कि गैरकानूनी सस्था मामूली ढँग और शान्ति से अधिवेशन नही कर सकती थी, और खुला अधिवेशन करने की कोशिश का अर्थ था पुलिस के सघर्ष मे आना। वस्तुत दोनो सम्मेलनो को पुलिस ने लाठियों के बल, जबरदस्ती. तितर-बितर कर दिया, और बहुतसे लोग गिरफ्तार कर लिये गये। इन सम्मेलनों की विशेषता यह थी कि इन कानून-विरुद्ध सम्मेलनों में प्रतिनिधि बनकर शामिल होने के लिए हिन्दुस्तान के तमाम हिस्सो से हज़ारो की गिनती मे लोग आये थे। मुझे यह जानकर बडी खुशी हुई कि इन दोनो अधिवेशनो मे युक्तप्रान्त के लोगो ने एक प्रमुख भाग लिया था। मेरी माँ ने भी मार्च १९३३ के कलकत्ता-अधिवेशन मे जाने का आग्रह किया। लेकिन वह कलकत्ता जाते हुए, रास्ते मे मालवीयजी और दूसरे लोगो के साथ गिरफ्तार कर ली गयी और आसनसोल की जेल मे कुछ दिनो तक बन्द रक्खी गयी। उन्होने जो आन्तरिक उत्साह और जीवन-शक्ति दिखलायी उसे देखकर मै दग रह गया, क्योकि वह कमजोर और बीमार थी। वह जेल की परवा नही करती थी, वह तो उससे भी ज्यादा कडी अग्नि-परीक्षा में से गुज़र चुकी थी। उनका लडका, उनकी दोनों लडकियाँ. और दूसरे भी कई लोग जिन्हें वह बहुत चाहती थी, जेल में लम्बे-लम्बे अर्से तक रह चुके थे, और वह सूना घर, जिसमें वह रह रही थी, उनके लिए एक डरावनी जगह हो गयी थी।

जैसे-जैसे हमारी लडाई धीमी पडने लगी, और उसकी रफ्तार हल्की हो गयी, वैसे-वैसे उसमे जोश और उत्साह की कमी आती गयी—

हाँ, बीच-बीच मे लम्बे अर्से के वाद कुछ उत्तेजना हो जाया करती थी। मेरे खयालात दूसरे मुल्को की तरफ ज्यादा जाने लगे, और जेल मे जितना भी हो सका, मै विश्व-व्यापी मन्दी से ग्रस्त दुनिया की हालत का निरीक्षण और अध्ययन करने लगा। इस विपय की जितनी भी किताबे मुझे मिली उन्हे मै पढता गया, और मै जितना-जितना पढता जाता था उतना-उतना ही उसकी तरफ आकर्षित होता जाता था। मुझे दिखायी दिया कि, हिन्दुस्तान तो अपनी खास समस्याओ और सघर्षो को रखते हुए भी इस ज़वरदस्त विश्व-नाटक का, राजनैतिक और आर्थिक शक्तियो की उस लडाई का, जो कि आज सव राष्ट्रों के अन्दर और सव राष्ट्रो के आपस मे हो रही है, सिर्फ एक हिस्सा ही है। उस लड़ाई मे मेरी अपनी सहानुभूति कम्यूनिज्म (साम्यवाद) की तरफ ही ज्यादा-ज्यादा होती गयी।

समाजवाद और कम्यूनिज्म की तरफ मेरा वहुत समय से आकर्षण था, और रूस मुझे वहुत पसन्द आता था। रूस की वहुत-सी वाते मुझे नापसन्द भी है—जैसे सव तरह की विरोधी राय का निरकुशता से दमन कर देना, सवको सैनिक वना डालना, और अपनी कई व्यवस्थाओं को अमल मे लाने के लिए (मेरे मतानुसार) अनावश्यक वल-प्रयोग करना वगैरा। मगर पूँजीवादी दुनिया मे भी तो वल-प्रयोग और दमन कम नही है, और मुझे ज्यादा-ज्यादा यह अनुभव होने लगा कि हमारे सग्रहशील समाज का और हमारी सम्पत्ति का तो आधार और वुनियाद ही वल-प्रयोग है। वल-प्रयोग के विना वह ज्यादा दिन टिक नही सकता। जवतक भूखो मरने का डर सव जगह अधिकाश जनता को, थोडे लोगों की इच्छा के अधीन होने के लिए, हमेशा मजवूर कर रहा है, जिसके फलस्वरूप उन थोड़े लोगो का ही धन-मान वढता जाता है, तवतक राजनैतिक स्वतन्त्रता होने का भी वास्तव मे कुछ अर्थ नही है।

दोनो व्यवस्थाओ मे वल-प्रयोग मौजूद है। पूँजीवादी व्यवस्था का वल-प्रयोग तो उसका अनिवार्य अग ही मालूम होता है। लेकिन रूस के वल-प्रयोग का, यद्यपि वह वुरा ही है, लक्ष्य यह है कि शान्ति और सहयोग पर अवलम्वित जनता को असली स्वतन्त्रता देनेवाली नयी

व्यवस्था कायम हो जाय। सोवियट रूस ने कितनी भी भयकर भूले की हों तो भी वह भारी-भारी कठिनाइयो पर विजय पा चुका है और इस नयी व्यवस्था की तरफ लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ बहुत आगे बढ गया है। जब ससार के दूसरे मुल्क मन्दी में जकडे हुए है, कई दशाओं में पीछे की तरफ जा रहे है, तब सोवियट देश मे, हमारी आँखों के सामने, एक नयी ही दुनिया बनायी जा रही है। महान् लेनिन के पदचिन्हो पर चलकर रूस भविष्य पर निगाह रखता है, और केवल इसी बात का विचार करता है कि आगे क्या होना है। लेकिन ससार के दूसरे देश तो भूतकाल के प्रहार से सुन्न हुए पडे है, और बीते हुए युग के निरर्थक स्मृति-चिन्हो को अक्षुण्ण रखने मे ही अपनी ताकत लगा रहे है। अपने अध्ययन में मुझपर उन विवरणो का बडा असर पडा, जिनमे सोवियट शासन के पिछडे हुए मध्य-एशियाई प्रदेशो की बडी भारी तरक्की का हाल दिया गया था। इसलिए कुल मिलाकर मेरी राय तो सब तरह से रूस के पक्ष में ही रही, और मुझे सोवियट-तन्त्रो की मौजूदगी और मिसाल अँधेरी और दु खपूर्ण दुनिया मे, एक प्रकाशमय और उत्साह देनेवाली चीज़ मालूम हुई।

हालाँकि कम्यूनिस्ट राज्य स्थापित करने के व्यावहारिक प्रयोग के रूप मे सोवियट रूस की सफलता या असफलता का बहुत बडा महत्त्व है, फिर भी उससे कम्यूनिज्म के सिद्धान्त के ठीक होने या न होने पर कोई असर नही पडता। राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय कारणो से बोलशेविक लोग बडी-बडी गलतियाँ कर सकते है, या असफल भी हो सकते है, लेकिन फिर भी कम्यूनिज्म का सिद्धान्त सही हो सकता है। उस सिद्धान्त के आधार पर रूस में जो-कुछ हुआ है उसकी अन्धे की तरह नकल करना भी मूर्खता ही होगी, क्योकि उसका प्रयोग तो प्रत्येक देश मे उसकी खास परिस्थितियो और उसके ऐतिहासिक विकास की अवस्था पर निर्भर है। इसके अलावा, हिन्दुस्तान या दूसरा कोई देश बोलशेविको की सफलताओ से और अनिवार्य गलतियों से भी सबक ले सकता है। शायद बोलशेविकों ने ज़रूरत से ज्यादा तीव्र गति से जाने की कोशिश

की, क्योकि उनके चारों तरफ दुश्मन-ही-दुश्मन थे, और उन्हे बाहरी आक्रमण का भी डर था। शायद इससे धीमी चाल से चला जाता तो गाँवो मे हुई बहुत-सी तकलीफे नही आती। लेकिन प्रश्न यह उठता था, कि क्या परिवर्तन की गति कम कर देने से वास्तव मे मौलिक परिणाम निकल भी सकते थे या नही ! किसी नाजुक वक्त पर, जबकि आधार-भूत बुनियादी ढाचा ही बदलना हो, किसी आवश्यक समस्या को सुधारवाद से हल करना असम्भव होता है, और बाद मे रफ्तार चाहे कितनी ही धीमी रहे लेकिन पहला कदम तो ऐसा उठाना चाहिए जिससे कि तत्कालीन व्यवस्था से, जो अपना उद्देश्य पूरा कर चुकी हो और अब भविष्य की प्रगति के लिए बाधक बन रही हो, कोई नाता न रह जाय।

हिन्दुस्तान मे भूमि और कल-कारखाने दोनो से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नो का और देश की हर बडी समस्या का हल सिर्फ किसी क्रान्तिकारी योजना से ही हो सकता है। जैसा कि 'युद्ध के सस्मरणो' मे श्री० लॉयड जार्ज कहते है—"किसी खाई को दो छलागो मे कूदने से बढकर कोई गलती नही हो सकती।"

रूस के अलावा भी मार्क्सवाद के सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान ने मेरे दिमाग को कई विषयों मे प्रकाश दिया, मुझे इतिहास मे बिल्कुल नया ही अर्थ दिखायी पड़ने लगा। मार्क्सवाद की अर्थ-शैली ने उसपर बड़ी रोशनी डाली, और वह मेरे लिए एक के बाद दूसरा दृश्य दिखानेवाला एक नाटक ही हो गया, जिसके घटनाचक्र की बुनियाद मे कुछ-न-कुछ व्यवस्था और उद्देश्य मालूम हुआ, फिर चाहे वह कितना ही अज्ञात क्यों न हो। यद्यपि भूतकाल मे और वर्तमान समय मे समय और शक्ति की भयकर बरबादी और तकलीफे रही है और है, लेकिन भविष्य तो आशापूर्ण ही है, चाहे उसके बीच मे कितने ही खतरे आते रहे। मार्क्स-वाद मे मौलिक रूप से किसी रूढ-मत का न होना और उसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही मुझे पसन्द आया। लेकिन यह सही है कि रूस मे और दूसरे देशो मे प्रचलित कम्यूनिज्म मे बहुत-से रूढ-मत है, और

अक्सर 'काफ़िरो' यानी मिथ्या-मतवादियों पर सगठित रूप से धावा बोला जाता है। मुझे यह निंदनीय मालूम हुआ, हालाँकि सोवियट प्रदेशो में भारी-भारी परिवर्तन वडी तेज़ी से हो रहे हो और विरोधी लोगो के कारण वडी मुसीवतो और असफलताओ के हो जाने की आगका हो तव ऐसी वात का होना आसानी से समझ में आ सकता है।

ससार-व्यापी महान् सकट और मन्दी से भी मुझे मार्क्सवादी विश्लेपण सही मालूम हुआ। जवकि दूसरी सव व्यवस्थायें और सिद्धान्त सिर्फ अपनी अटकल लगा रहे थे, तव अकेले मर्क्सवाद ने ही वहुत-कुछ सतोपजनक रूप से उसका कारण वताया और उसका असली हल सामने रखा।

जैसे-जैसे मुझमे यह विश्वास जमता गया, वैसे-वैसे मुझमे नया उत्साह भरता गया, और सविनय भग की असफलता से पैदा हुई मेरी उदासी वहुत कम हो गयी। क्या दुनिया तेज़ी से इस वाञ्छनीय लक्ष्य या स्थिति की तरफ नही जा रही है? हाँ, महायुद्ध और घोर आपत्ति के वडे-वड़े खतरे मौजूद है, लेकिन हर हालत में हम आगे ही वढ रहे है। हम एक ही जगह में पडे हुए सड नहीं रहे है। मुझे मालूम हुआ कि हमारे इस वड़े सफर के रास्ते में हमारी राष्ट्रीय लड़ाई तो एक पड़ाव मात्र है, और यह अच्छा है कि दमन और कष्ट-सहन से हमारे लोग आगामी लडाइयो के लिए तैयार हो रहे है और उन विचारो पर गौर करने के लिए मजवूर हो रहे है जिससे दुनिया मे खलवली मची हुई है। कमज़ोर लोगो के निकलजाने से हम और भी ज्यादा मज़वूत, ज्यादा अनुशासन-युक्त और ज्यादा ठोस वन जायेंगे। ज़माना हमारे पक्ष में है।

इस तरह मैंने, रूस, जर्मनी, इग्लैण्ड, अमेरिका, जापान, चीन, फ्रास, इटली, और मध्य-यूरोप में क्या-क्या हो रहा है, इसका अध्ययन किया, और प्रचलित घटनाओ की गुत्थियो को समझने की कोशिश की। इस मुसीवत को पार करने के लिए हरेक देश अलग-अलग और सव मिलकर एकसाथ क्या कोशिशें कर रहे है, इसको भी मैंने दिलचस्पी से पढा।

राजनैतिक और आर्थिक बुराइयों को दूर करने और निःशस्त्री-करण की समस्या हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सो की बारबार असफलता होती देखकर मुझे अपने यहाँ की साम्प्रदायिक समस्या की—जोकि छोटी-सी लेकिन काफी कष्टप्रद है—बरबस याद आगयी। अधिक-से-अधिक सद्‌भावना के होते हुए भी हम अभीतक इस समस्या को हल नही कर सके है; और यह व्यापक विश्वास होते हुए भी कि अगर यूरोप और अमेरिका के राजनीतिज्ञ अपनी समस्याओ को सुलझाने मे विफल होंगे तो एक संसार-व्यापी आपत्ति आजायगी, वे उन्हे हिलमिल कर नहीं सुलझा पाये है। दोनों उदाहरणो मे समस्या को सुलझाने का तरीका गलत रहा है, और सम्बन्धित लोग सही रास्ते जाने से डरते रहे है।

संसार की मुसीबतो और सघर्षो का विचार करते हुए, मै किसी हद तक अपनी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मुसीबतों को भी भूल गया। कभी-कभी मुझे इस बात पर बड़ा उल्लास होता था कि ससार के इतिहास के इस क्रान्तिकारी युग मे मै भी जीवित हूँ। शायद दुनिया के इस कोने मे, जहाँ मे हूँ, मुझे भी उन आनेवाली क्रातियो के लाने मे कुछ थोडा-सा हिस्सा लेना पड़ेगा। कभी-कभी मुझे सारी दुनिया मे सघर्ष और हिंसा का वातावरण बड़ा उदास बना देता था। इससे भी खराब यह दृश्य था कि पढे-लिखे स्त्री-पुरुष भी मानवी पतन और गुलामी को देखते-देखते उसके इतने आदी हो गये है कि उनके दिमाग अब कष्ट-सहन, गरीबी और अमानुषिकता का विरोध भी नही करते। दम घोंटनेवाले इस नैतिक वातावरण में शोरगुल मचानेवाला ओछापन और संगठित पाखण्ड फल-फूल रहा है, और भले लोग चुप्पी साधे बैठे है। हिटलर की विजय और उसके अनुयायियो के 'आतंक-वाद' ने मुझे बड़ा आघात पहुँचाया, हालाकि मैंने अपने दिल को तसल्ली दे ली कि यह सब क्षणिक ही हो सकता है। यह देखकर मन मे ऐसी भावना आ जाती थी, कि इन्सान की कोशिश बेकार है। जबकि मशीन अन्धाधुन्ध चल रही हो, तब उसमे पहिये का एक छोटा-सा दाँत बेचारा क्या कर सकता है?

फिर भी, जीवन सम्बन्धी कम्यूनिस्ट तत्त्वज्ञान से मुझे शान्ति और

आशा मिली। तो इसका हिन्दुस्तान मे कैसे प्रयोग हो सकता है ? हम तो अभीतक राजनैतिक स्वतन्त्रता की समस्या को भी हल नही कर पाये है, और हमारे दिमागो मे राष्ट्रवाद ही बैठा हुआ है। क्या हम इसके साथ-ही-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता की तरफ भी कूद पडे, या इन दोनों को बारी-बारी से हाथ में ले, फिर चाहे इनके बीच मे अन्तर कितने ही थोडे समय का क्यो न हो ? ससार की घटनायें और हिन्दुस्तान के भी वाकयात सामाजिक समस्या को सामने ला रहे है, और मुझे लगा कि अब राजनैतिक आजादी उससे अलग नही रखी जा सकती।

हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश सरकार की नीति का यह नतीजा हुआ है कि राजनैतिक आजादी के विरुद्ध मे सामाजिक-प्रतिगामी-वर्ग खडे हो गये है। यह अनिवार्य ही था, और हिन्दुस्तान मे भिन्न-भिन्न वर्गो और समुदायों के ज्यादा साफतौर पर अलग-अलग दिखाई दे जाने को मैंने पसन्द किया। लेकिन मै सोचता था कि क्या इसको दूसरे लोग भी अच्छा समझते है ? स्पष्ट है कि बहुत लोग नही। यह सही है कि कई बड़े शहरो मे मुट्ठीभर कट्टर कम्यूनिस्ट लोग है, और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी है और उसकी कडी आलोचना करते है। खासकर बम्बई में, और कुछ हद तक कलकत्ते मे, सगठित मजदूर भी समाजवादी थे मगर ढीले-ढाले ढग के। उनमे भी फूट पडी हुई थी, और वे मन्दी से दुख पा रहे थे। कम्यूनिज्म के और समाजवाद के धुधले-से विचार पढ़े-लिखे लोगो में, और समझदार सरकारी अफसरो तक मे, फैल चुके है। काग्रेस के नौजवान स्त्री और पुरुष, जो पहले लोकतन्त्र पर ब्राइस और मॉरले, कीथ और मैजिनी के विचार पढ़ा करते थे, अब अगर उन्हे किताबे मिल जाती है तो कम्यूनिज्म के और रूस पर लिखा साहित्य पढते है। मेरठ-षड्यन्त्र-केस ने लोगो का ध्यान इन नये विचारो की तरफ फेरने मे बडी मदद दी, और ससारव्यापी सकट-काल ने इस तरफ ध्यान देने की मजबूरी पैदा करदी। हर जगह प्रचलित सस्थाओ के प्रति शंका, जिज्ञासा और चुनौती की नयी भावना दिखाई देती है। मानसिक वायु की साधारण दिशा तो साफ जाहिर हो रही है, लेकिन फिर भी वह हलका-सा

झोका ही है जिसको अपने-आप पर अभी कोई विश्वास नही है। कुछ लोग फासिस्ट विचारों के आसपास मँडराते है। लेकिन कोई भी साफ और निश्चित आदर्श नही है। अभीतक तो राष्ट्रीयता ही यहाँ की प्रमुख विचारधारा है।

मुझे यह तो साफ मालूम हुआ, कि जवतक किसी अंश तक राजनैतिक आजादी न मिल जायगी तवतक राष्ट्रीयता ही सवसे वडी प्रेरक-भावना रहेगी। इसी कारण काग्रेस हिन्दुस्तान मे सबसे ज्यादा शक्तिशाली सस्था होने के साथ ही सवसे आगे वढी हुई संस्था भी रही है, और अव भी (कुछ खास मजदूर-क्षेत्रों को छोडकर) है। पिछले तेरह वरसो मे, गांधीजी के नेतृत्व मे इसने जनता मे आश्चर्यजनक जाग्रति पैदा कर दी है और इसके अस्पष्ट मध्यम-वर्गी आदर्श के होते हुए भी इसने एक क्रान्तिकारी काम किया है। अवतक भी इसकी उपयोगिता नष्ट नही हुई है, और हो भी नही सकती, जवतक कि राष्ट्रवादी प्रेरणा की जगह समाजवादी प्रेरणा न आ जाय। भविष्य की प्रगति—आदर्श सम्वन्धी भी और कार्य-सम्वन्धी भी—अव भी कॉंग्रेस के द्वारा ही होगी, हालाँकि दूसरे मार्गों से भी काम लिया जा सकेगा।

इस तरह मुझे कॉंग्रेस को छोड देना, राष्ट्र की आवश्यक प्रेरक-शक्ति से अलग हो जाना. अपने पास के सवसे जवरदस्त हथियार को कुन्द कर देना, और एक निरर्थक साहस मे अपनी शक्ति वरवाद करना मालूम हुआ। लेकिन फिर भी, क्या काग्रेस, अपनी मौजूदा स्थिति को रखते हुए, कभी भी वास्तव मे मौलिक सामाजिक हल को अपना सकेगी? अगर उसके सामने ऐसा सवाल रखा दिया जाय, तो उसका नतीजा यही होगा कि उसके दो या ज्यादा टुकडे हो जायँगे, या कम-से-कम वहुत लोग उससे अलग हो जायँगे। ऐसा हो जाना भी अवाञ्छनीय या वुरा न होगा, अगर समस्याये ज्यादा साफ हो जायँ, और काग्रेस मे एक मजवूत-सगठित दल, चाहे वह वहुमत मे हो या अल्पमत मे हो, एक मौलिक समाजवादी कार्यक्रम को लेकर खड़ा हो जाये।

लेकिन इस समय तो काग्रेस का अर्थ है गाधीजी। वह क्या करना

चाहेगे ? विचारधारा की दृष्टि से कभी-कभी वह आश्चर्यजनक रूप से पिछडे हुए रहे है, लेकिन फिर भी काम और व्यवहार के ख़याल से वह हिन्दुस्तान मे इस वक्त के सबसे बडे क्रान्तिकारी रहे है। वह एक अनोखे व्यक्ति है, और उन्हे मामूली पैमानों से नापना या उनपर तर्कशास्त्र के मामूली नियम लगाना भी मुमकिन नही है। लेकिन चूंकि वह हृदय मे क्रान्तिकारी है और हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतत्रता की प्रतिज्ञा किये हुए है, इसलिए जबतक वह स्वतन्त्रता मिल नही जाती, तबतक तो वह इसपर अटल रहकर ही अपना काम करेगे और इसी तरह कार्य करते हुए वह जनता की प्रचण्ड कार्य-शक्ति को जगा देगे, और, मुझे आधी-सी उम्मीद थी कि वह खुद भी सामाजिक ध्येय की तरफ एक-एक कदम आगे बढते चलेगे।

हिन्दुस्तान के और बाहर के कट्टर कम्यूनिस्ट पिछले कई वरसो से गाधीजी और काग्रेस पर भयकर हमले करते रहे है, और उन्होंने काग्रेस-नेताओ पर सब तरह की दुर्भावनाओ के आरोप लगाये है। काग्रेस की विचार-धारा पर उनकी बहुत-सी सैद्धान्तिक समालोचना योग्यतापूर्ण और स्पष्ट थी और बाद की घटनाओं से वह किसी अश तक सही भी साबित हुई। हिन्दुस्तान की साधारण राजनैतिक हालत के बारे मे कम्यूनिस्टो के शुरू के कुछ विश्लेषण बहुत-कुछ सही निकले। मगर जब वह साधारण सिद्धान्तों को छोड़कर तफसीलों मे आते है, और खासकर जब वह देश मे काग्रेस के महत्त्व पर विचार करते है, तो वे बुरी तरह भटक जाते है। हिन्दुस्तान मे कम्यूनिस्टो की सख्या और असर कम होने का एक कारण यह भी है कि कम्यूनिज्म का वैज्ञानिक ज्ञान फैलाने और लोगो के दिमाग मे उसका विश्वास जमाने की कोशिश करने के बदले उन्होने दूसरो को गालियाँ देने मे ही ज्यादातर अपनी ताकत लगायी है। इसका उन्ही पर उलटा असर पडा है, और उन्हे नुकसान पहुँचा है। इनमे से अधिकाश लोग मजदूरो के हलकों मे काम करने के आदी है, जहाँ कि मजदूरो को अपनी तरफ मिला लेने के लिए सिर्फ थोडे-से नारे ही काफी होते है। लेकिन बुद्धिमान लोगो के लिए तो सिर्फ नारे ही काफी नही

हो सकते और उन्होने इस वात को अनुभव नही किया है कि आज हिन्दुस्तान मे मध्यम-वर्ग का पढ़ा-लिखा दल ही सवसे ज्यादा क्रान्तिकारी दल है। कट्टर कम्यूनिस्टों के इच्छा न करने पर भी कई पढ़े-लिखे लोग कम्यूनिज्म की तरफ खिच आये है, लेकिन फिर भी उनके वीच मे एक खाई है।

कम्यूनिस्टों की राय के मुताबिक, कांग्रेस के नेताओ का मकसद रहा है, सरकार पर जनता का दबाव डालना और हिन्दुस्तान के पूँजीवादियों और ज़मीदारो के हित के लिए कुछ औद्योगिक और व्यापारिक सुविधाये पा लेना। उनका मत है कि कांग्रेस का काम है—"किसानो, निचले मध्यम-वर्ग और कारखानो के मज़दूर-वर्ग के आर्थिक और राजनैतिक असन्तोष को वम्वई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल-मालिको और लखपतियों की गाडी के सामने खड़ा कर देना।" यह खयाल किया जाता है कि हिन्दुस्तानी पूँजीपति टट्टी की ओट मे कांग्रेस-कार्यसमिति को हुक्म देते है कि पहले तो वह सार्वजनिक आन्दोलन चलावे और जव वह बहुत व्यापक और भयकर हो जाय तव उसे स्थगित करदे, या किसी छोटी-मोटी वात पर वन्द कर दे। और, कांग्रेस के नेता सचमुच अँग्रेज़ो का चला जाना पसन्द नही करते, क्योकि भूखी जनता का शोषण करने के लिए आवश्यक नियन्त्रण करने को उनकी जरूरत है, और मध्यम-वर्ग अपने मे यह काम करने की ताकत नही मानता।

यह अचरज की बात है कि कम्यूनिस्ट इस अजीब विश्लेषण पर भरोसा रखते है। लेकिन चूँकि प्रकट रूप से उनका विश्वास इसी पर है इसीलिए, आश्चर्य नही कि, वे हिन्दुस्तान मे इतनी बुरी तरह से असफल हुए है। उनकी वुनियादी गलती यह मालूम होती है कि वे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोपियन मजदूरों के पैमानो से नापते है, और चूँकि उन्हे यह देखने का अभ्यास है कि बार-बार मज़दूर-नेता मज़दूर-आन्दोलन के साथ विश्वासघात करते रहे है, इसलिए वे उसी मिसाल को हिन्दुस्तान पर लगाते है। यह तो स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कोई मज़दूरो या श्रमिको का आन्दोलन नही है। जैसा कि

उसके नाम से ही जाहिर होता है, वह एक मध्यमवर्गी जनता का आन्दोलन है और अभीतक उसका मकसद समाज-व्यवस्था को बदलना नही बल्कि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही रहा है। इसपर कहा जा सकता है कि यह ध्येय काफी दूरगामी नही है, और राष्ट्रीयता भी आजकल के जमाने की चीज कहला सकती है। लेकिन आन्दोलन के मौलिक आधार को मानते हुए यह नही कहा जा सकता कि नेता लोग भूमि-प्रणाली या पूंजीवादी प्रणाली को उलट देने की कोशिश ही नही करते। इसलिए वे जनता के साथ विश्वासघात करते है,'क्योकि उन्होंने ऐसा करने का कभी दावा ही नही किया। हाँ, काग्रेस मे कुछ लोग ऐसे जरूर है, और उनकी गिनती बढती जा रही है, जो भूमि-प्रणाली और पूंजीवादी व्यवस्था को बदल देना चाहते है, लेकिन वह काग्रेस के नाम पर नही बोल सकते।

यह सच है कि हिन्दुस्तान के पूंजीवादी वर्गो ने (बडे-बडे ज़मीदारों या ताल्लुकेदारो ने नही) ब्रिटिश और दूसरे विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के बढावे के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन से बडा फायदा उठाया है। लेकिन, यह तो लाजिमी ही था; क्योकि हर राष्ट्रीय आन्दोलन देश के उद्योग-धन्धो को बढावा देता है, और दूसरो का बहिष्कार कराता है। लेकिन, असल मे, बम्बई के मिल-मालिको ने तो सविनय भग के चालू रहने के वक्त ही और जबकि हम ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रचार करते रहे थे तभी एक गैरवाजिब तरीके से लकाशायर से एक समझौता करने का भी दु साहस कर डाला था। काग्रेस की निगाह मे यह राष्ट्र के साथ भारी विश्वासघात था, और यही नाम उसको दिया भी गया था। बडी धारासभा मे बम्बई के मिल-मालिको के प्रतिनिधियो ने, जब कि हममे से ज्यादातर लोग जेल मे थे, लगातार काग्रेस और गरम दल के लोगो की निन्दा की थी।

पिछले कुछ बरसो मे कई पूंजीपति-दलो ने हिन्दुस्तान मे जो-जो काम किये है वे काग्रेस की और राष्ट्रीय दृष्टि से भी कलक-रूप है। ओटावा के समझौते से शायद कुछ लोगो को फायदा हो गया होगा,

लेकिन हिन्दुस्तान के सारे उद्योग-धन्धो की दृष्टि से वह बुरा था, और उससे वे ब्रिटिश पूंजी और कारखानो की ज्यादा अधीनता मे आगये। वह समझौता जनता के लिए हानिकर था, और तब किया गया था जबकि हमारी लडाई चालू थी और कई हजार लोग जेलो मे थे। हर उपनिवेश ने इंग्लैण्ड से अपनी कडी-से-कड़ी शर्तें मनवा ली, लेकिन हिन्दुस्तान को तो मानो उसने अपनेको करीव-करीव लुटा देने का सौभाग्य ही मिल गया। पिछले कुछ बरसो मे कुछ वड़े धनिको ने हिन्दुस्तान को नुकसान मे डालकर भी सोने और चादी का व्यापार किया है।

और वडे-वडे जमीदार ताल्लुकेदार तो गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे काग्रेस के विलकुल खिलाफ ही खडे हो गये थे, और ठीक सविनय भग के वीचोबीच उन्होने खुले तौर पर और आगे वढकर अपने-आपको सरकार के पक्ष का घोषित कर दिया था। इन्ही लोगो की मदद से सरकार ने भिन्न-भिन्न प्रान्तो में उन दमनकारी कानूनो को पास किया, जो आर्डि-नेन्सों मे आ जाते थे और युक्तप्रान्त की कौसिल मे ज्यादातर जमीदार मेम्वरों ने सविनय-भग के कैदियो की रिहाई के विरोध मे राय दी थी।

यह खयाल भी विलकुल गलत है कि, गाधीजी ने १९२१ और १९३० मे तीव्र दीखनेवाले आन्दोलन जनता के आग्रह से मजबूर होकर ही किये थे। आम जनता मे हलचल वेशक थी। लेकिन दोनों आन्दो-लनो मे कदम गांधीजी ने ही आगे वढाया था। १९२१ मे वह करीव-करीव अकेले ही सारी काग्रेस की डोर हिलाते थे और उसे असहयोग के पथ पर चढ़ा ले गये थे। १९३० मे भी अगर उन्होने किसी तरह भी विरोध किया होता, तो कोई भी आक्रमणकारी और प्रभावशाली लड़ाई का आन्दोलन कभी नही उठ सकता था।

यह वड़े दुर्भाग्य की वात है कि मूर्खतापूर्ण और विना जानकारी के व्यक्तिगत नुक्ताचीनी की जाती है, क्योंकि उससे ध्यान असली सवालो से दूसरी तरफ हट जाता है। गाधीजी की सचाई ईमानदारी पर हमला करने से तो अपने-आपका और अपनें काम का ही नुकसान होता है,

क्योंकि हिन्दुस्तान के करोडो आदमियो के लिए तो वह सत्य के ही मूर्त रूप है, और उन्हे जो कोई पहचानते है, वे जानते है कि वह हमेशा सत्य के मार्ग पर चलने के लिए कितने व्याकुल रहते है।

हिन्दुस्तान मे कम्यूनिस्टो का ताल्लुक बडे शहरो के कारखानो के मजदूरो के साथ ही रहा है। देहाती हलको की जानकारी या सम्पर्क उनके पास नही है। हालाँकि कारखानो के मजदूरो का भी एक महत्व है, और भविष्य मे और भी उनका ज्यादा महत्त्व होगा, लेकिन उनका किसानों के सामने दूसरा ही दर्जा रहेगा, क्योकि हिन्दुस्तान मे आज तो किसानो की समस्या ही मुख्य है। इधर कांग्रेसी-कार्यकर्त्ता इन देहाती हलको मे सर्वत्र फैल चुके है, और समय पर अपने-आप काग्रेस किसानों का एक बडा सगठन बन जायगी। अपना निकट-लक्ष्य प्राप्त करने के बाद किसान कभी भी क्रान्तिकारी नही रह जाते और यह मुमकिन है कि भविष्य मे किसी समय शहर बनाम देहात और मजदूर बनाम किसान का आम मसला हिंदुस्तान मे भी खडा हो जाये।

मुझे काग्रेस के बहुत-से नेताओं और कार्यकर्त्ताओं के गहरे सम्पर्क में आने का मौका मिला है, और इनसे ज्यादा अच्छे स्त्री-पुरुषो की मै ख्वाहिश भी नही कर सकता था। लेकिन फिर भी आवश्यक समस्याओ मे मेरा उनसे मतभेद रहा है, और कई बार मै यह देखकर उकता गया हूँ कि जो बात मुझे साफ-सी दिखायी देती है उसकी वे कद्र भी नही कर सकते या उसे समझ भी नही सकते। इसका कारण समझ की कमी नही है, बल्कि इसका मतलब यह है कि हम विचारो की अलग-अलग पग-डडियो पर चल रहे है। मैने महसूस किया कि इन सीमाओ को अचानक पार कर जाना कितना मुश्किल है। इनमे जीवन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान ही भिन्न-भिन्न है, और वह हम पर धीरे-धीरे और अनजान मे असर डालता रहता है। परस्पर एक-दूसरे दल को दोष देना बेकार है। समाजवाद के लिए जीवन और उसकी समस्याओ पर एक खास मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण होनें की जरूरत है। वह केवल युक्तिवाद से कुछ अधिक है। इसी तरह, दूसरे दृष्टिकोण भी परम्परा, शिक्षण और भूत और वर्तमान

परिस्थितियो के अज्ञात प्रभाव पर निर्भर है। जीवन की कठिनाइयों और उसके कडुवे अनुभव ही हमे नये रास्तो से चलने को मजबूर करते है, और अन्त मे, जोकि इससे बहुत ज्यादा कठिन काम है, हमारा दृष्टिकोण बदल देते है। सम्भव है इस प्रक्रिया मे हम भी थोड़े सहायक हो सके और शायद मशहूर लेखक ला फोंतेन के शब्दो मे--

"मनुष्य अपने भवितव्य पर उसी रास्ते से पहुँच जाता है जिस पर वह उससे बचने के लिए चलता है।"

: ४७ :

धर्म क्या है ?

हमारे शान्त और एक-ढर्रे के जेल-जीवन मे सितम्बर १९३२ के बीच मे मानो अचानक एक वज्र-सा गिरा ! एक खलबली मच गयी। खबर मिली कि मि० रेम्ज़े मैकडॉनल्ड के साम्प्रदायिक 'निर्णय' मे यहाँ की दलित जातियो को अलग चुनाव के अधिकार दिये जाने के विरोध में गाधीजी ने 'आमरण अनशन' करना तय किया है। लोगो पर अचानक चोट पहुँचाने की उनमे कितनी अद्‌भुत क्षमता है ! सहसा सभी तरह के विचार मेरे दिमाग में उत्पन्न होने लगे, सब तरह की भावी सम्भावनाओ के चित्र मेरे सामने आने लगे, और उन्होने मेरे स्थिर चित्त को बिलकुल उद्विग्न कर दिया। दो दिन तक मुझे बिलकुल अँधेरा-ही-अँधेरा दिखायी दिया, और कोई रास्ता नही सूझा। जब मै गाधीजी के काम के कुछ नतीजो का खयाल करता तो मेरा दिल बैठ जाता था। उनके प्रति मेरी व्यक्तिगत भावना काफी प्रबल थी, और मुझे ऐसा लगता था कि अब शायद मै उन्हे नही देख सकूंगा। इस खयाल से मुझे बहुत ही पीडा होती थी। पिछलीबार लगभग एक साल से कुछ ज्यादा हुए मैने उन्हे इग्लैण्ड जाते समय जहाज पर देखा था। क्या वही मेरा उनका अतिम दर्शन रहेगा ?

और फिर मुझे उनपर झुंझलाहट भी आयी कि उन्होने अपने अतिम बलिदान के लिए एक छोटा-सा, सिर्फ चुनाव का, मामला लिया है। हमारे आजादी के आन्दोलन का क्या होगा ? क्या अब, कम-से-कम थोडे वक्त के लिए ही सही, बड़े सवाल पीछे नही पड जायँगे ? और, अगर वह अपनी अभी की बात पर कामयाब भी हो जायँगे, और दलित जातियो के लिए सम्मिलित चुनाव प्राप्त भी कर लेंगे, तो क्या इससे एक प्रतिक्रिया न होगी, और यह भावना न फैल जायगी कि कुछ-न-कुछ तो प्राप्त कर ही लिया गया है, और कुछ दिन तक अब कुछ भी न करना चाहिए ?

और क्या उनके इस काम का यह अर्थ नही हुआ कि वह साम्प्रदायिक 'निर्णय' को मानते और सरकार की तैयार की हुई आम तजवीज़ को किसी अश तक मजूर करते है ? क्या यह असहयोग और सविनय-भंग से मेल खाता है ? इतने बलिदान और साहसपूर्ण प्रयत्न के बाद क्या हमारा आन्दोलन इस नगण्य प्रश्न पर आकर अटक जायगा ?

वह राजनैतिक समस्या को धार्मिक और भावुकतापूर्ण दृष्टि से देखते है और समय-समय पर ईश्वर को बीच मे लाते है, यह देखकर मुझे उन पर गुस्सा भी आया। उनके वक्तव्य से तो ऐसी ध्वनि निकलती थी कि शायद ईश्वर ने उन्हे अनशन की तारीख तक सुझा दी थी। ऐसी मिसाल पेश करना कितना भयकर होगा।

और अगर बापू मर जायें! तो हिन्दुस्तान की क्या हालत हो जायगी ? और उसकी राजनीतिक प्रगति का क्या होगा ? मुझे भविष्य सूना और भयकर दीखने लगा, और जब मै उसपर विचार करता था तो मेरे दिल मे एक निराशा छा जाती थी।

इस तरह मै लगातार विचारो ही विचारो मे डूबता रहा। मेरे दिमाग मे गडबड़ी मच गयी, और गुस्सा, निराशा और जिस व्यक्ति ने इतनी बडी उथल-पुथल पैदा कर दी उसके प्रति प्रेम से वह सराबोर हो गया। मुझे नही सूझता था कि मैं क्या करूँ, और सबसे ज्यादा अपने-आपके प्रति मै चिडचिडा और बद-मिजाज हो गया।

और फिर मुझमे एक अजीब तब्दीली हुई। मुझपर भावनाओं का ऐसा दौर शुरू हुआ था कि एक सकट-काल ही आ उपस्थित हुआ था, पर अन्त मे जाकर मुझे कुछ शान्ति मालूम हुई, और भविष्य भी इतना अन्धकार-पूर्ण दिखाई नही दिया। बापू मे ऐन मौके पर ठीक काम कर डालने की अजीब सूझ है, और मुमकिन है कि उनके इस काम के भी—जो मेरे दृष्टि-विन्दु से बिलकुल अयोग्य ठहरता था—कोई बड़े नतीजे हो, और वह केवल उसी काम के छोटे-से सीमित क्षेत्र मे नही बल्कि हमारी राष्ट्रीय लड़ाई के व्यापक स्वरूपों मे भी। और अगर बापू मर भी गये, तो हमारी स्वतन्त्रता की लडाई चलती रहेगी। इसलिए, कुछ

-भी नतीजा हो, इन्सान को हर हालत के कटिवद्ध और मुस्तैद रहना चाहिए। गाधीजी की मृत्यु तक को विना हिचकिचाहट के सह लेने का सकल्प करके मैने शान्ति और धीरज धारण किया, और दुनिया और दुनिया की हर घटना का सामना करने को तैयार हो गया।

इसके वाद सारे देश मे एक भयकर उथल-पुथल मचने और हिन्दू-समाज मे उत्साह की एक जादूभरी लहर आजाने की खवरे आयी, और मालूम होने लगा कि छुआँछूत का अव अन्त ही होनेवाला है। मै सोचने लगा कि यरवड़ा-जेल मे वैठा हुआ यह छोटा-सा आदमी कितना वडा जादूगर है! और लोगो के दिलो मे खलवली मचा देनेवाले धागे का हिलाना वह कितनी अच्छी तरह जानता है!

उनका एक तार मुझे मिला। मेरे जेल आने के वाद यह उनका पहला ही सदेश था, और इतने लम्वे अर्से के वाद उनका सदेश पाना मुझे वहुत अच्छा लगा। इस तार मे उन्होंने लिखा—:

"इन वेदना के दिनों मे मुझे हमेशा तुम्हारा ध्यान रहा है। तुम्हारी राय जानने को मै वहुत ज्यादा उत्सुक हूँ। तुम्हे मालूम है, मै तुम्हारी राय की कितनी क़दर करता हूँ! इन्दु और सरूप के वच्चे मिले। इन्दु खुश और कुछ तगडी दीखती थी। तवीयत वहुत ठीक है। तार से जवाव दो। स्नेह।"

यह एक असाधारण वात थी, लेकिन उनके स्वभाव के अनुसार ही थी, कि उन्होने अपने अनशन की पीड़ा और अपने काम-काज के वीच भी मेरी लड़की और मेरी वहन के वच्चो के आने का जिक्र किया, और यह भी लिखा कि इन्दिरा तगडी हो गयी है। उस समय मेरी वहन भी पूना की जेल मे थी, और ये सव वच्चे पूना के स्कूल मे पढते थे। वह ज़ीवन मे छोटी दीखनेवाली वातो को कभी नही भूलते, जिनका असल मे वडा महत्व भी होता है।

ठीक उसी वक्त मुझे यह खवर भी मिली कि चुनाव के मामले पर कोई समझौता भी हो गया है। जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कृपा करके मुझे गाधीजी को जवाव देने की इजाज़त दे दी, और मैनें उन्हे यह तार भेजा –

कुमारी इंदिरा नेहरू

"आपके तार और यह संक्षिप्त समाचार मिलने से कि कोई समझौता हो गया है, मुझे बडी राहत और खुशी हुई। पहले तो आपके अनशन के निश्चय से मानसिक क्लेश और बडी दुविधा पैदा हुई, पर आखिर में आशावाद की विजय हुई और मुझे मानसिक शान्ति मिली। दलित वर्गों के लिए बडे-से-बड़ा बलिदान भी कम ही है। स्वतन्त्रता की कसौटी सबसे छोटे की स्वतन्त्रता से करनी चाहिए, मगर खतरा मालूम होता है कि कही हमारे एक-मात्र लक्ष्य को दूसरी समस्यायें ढक न लें। मैं धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूँ यह भी खतरा है कि दूसरे लोग आपके तरीको का दुरुपयोग करेंगे। लेकिन एक जादूगर को मैं कैसे सलाह दे सकता हूँ ? सप्रेम !"

पूना मे जमा हुए भिन्न-भिन्न लोगो ने एक समझौते पर दस्तखत किये और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने उसे चटपट मजूर कर लिया और उसके अनुसार अपना पिछला 'निर्णय' वदल दिया। अनशन भी तोड़ दिया गया। मै ऐसे समझौतो और इकरारनामो को बहुत नापसन्द करता हूँ, लेकिन पूना के समझौते मे क्या-क्या तय हुआ इसका खयाल न करते हुए भी मैने उसका स्वागत किया।

उत्तेजना खत्म हो चुकी थी, और हम जेल के अपने मामूली कार्यक्रम मे लग गये। हरिजन-आन्दोलन और जेल मे से गाधीजी की प्रवृत्तियो की खबरे हमे मिलती रहती थी। लेकिन उनसे मुझे खुशी नही होती थी। इमे शक नही कि छूतछात के भाव को मिटाने और दु खी दलित जातियो को उठाने के आन्दोलन को उससे बडे गजब का बढावा मिला, लेकिन वह समझौते के कारण नही, वल्कि देशभर मे जो एक जेहादी जोश फैल गया था उसके कारण। यह तो अच्छी वात थी। लेकिन इसीके साथ-साथ यह भी स्पष्ट था कि इससे सविनय भग आदोलन को नुकसान पहुँचा। देश का ध्यान दूसरे सवालो पर चला गया, और काग्रेस के कई कार्यकर्त्ता हरिजन-कार्य मे लग गये। शायद उनमे से ज्यादातर तो कम खतरे के कामो मे लगने का बहाना चाहते ही थे, जिनमे जेल जानें, या इससे

भी ज्यादा लाठी खाने और सम्पत्ति ज़ब्त कराने का डर न हो। यह स्वाभाविक ही था, और हमारे हज़ारों कार्यकर्त्ताओं में से हरेक से यह उम्मीद करना ठीक भी न था कि वह घोर कष्ट सहने और अपने परिवार के भंग और नाश के लिए हमेशा तैयार रहे। लेकिन फिर भी हमारे बड़े आन्दोलन का इस तरह धीरे-धीरे पतन होता देखकर दिल में दर्द होता था। फिर भी, सविनय भंग तो चलता ही रहा, और मौके-मौके पर मार्च-अप्रैल १९३३ की कलकत्ता-कांग्रेस जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन हो ही जाते थे। गांधीजी यरवडा-जेल में थे, मगर उन्हें लोगों से मिलने और हरिजन-आन्दोलन के लिए हिदायतें भेजने की कुछ सुविधायें मिल गयी थी। कुछ भी हो, इससे उनके जेल में रहने के कारण लोगों के मन में हुई टीस का तीखापन कम हो गया था। इन सब बातों से मुझे बड़ी निराशा हुई।

कई महीने बाद, मई १९३३ में, गांधीजी ने फिर अपना इक्कीस दिन का उपवास शुरू किया। पहले तो इसकी खबर से भी मुझे फिर बड़ा धक्का लगा, लेकिन होनहार ऐसा ही था, यह समझकर मैंने उसे मंजूर कर लिया और अपने दिल को समझा लिया। वास्तव में मुझे उन लोगों पर ही झुंझलाहट आयी, जो उनके उपवास का संकल्प कर लेने और घोषित कर देने के बाद उसे छोड़ देने का ज़ोर उनपर डाल रहे थे। उपवास मेरी तो समझ के बाहर था और निश्चय कर लेने के पहले अगर मुझसे पूछा जाता तो मैं उसके विरोध में जोर की राय देता, लेकिन मैं गांधीजी की प्रतिज्ञा का बड़ा महत्त्व समझता था, और किसी भी व्यक्ति के लिए मुझे यह गलत मालूम होता था कि वह किसी भी व्यक्तिगत मामले में, जिसे वह सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझते थे, उनकी प्रतिज्ञा को तुड़वाने की कोशिश करे। इस तरह हालाँकि मैं खिन्न था, फिर भी उसको सहता रहा।

अपना उपवास शुरू करने से कुछ दिन पहले उन्होंने मुझे अपने खास ढंग का एक पत्र भेजा, जिससे मेरा दिल बहुत हिल गया। चूँकि उन्होंने जवाब माँगा था, इसलिए मैंने नीचे लिखा तार भेजा

"आपका पत्र मिला। जिन मामलो को मै नहीं समझता उनके बारे में मै क्या कह सकता हूँ ? मै तो एक विचित्र देश में भूला हुआ-सा, जहाँ आप ही एक-मात्र परिचित मीनार की तरह है, अपना कही पता ही नहीं पाता हूँ; अँधेरे में अपना रास्ता टटोलता हूँ; लेकिन ठोकर खाकर गिर जाता हूँ। नतीजा जो कुछ हो, मेरा स्नेह और मेरे विचार हमेशा आपके साथ होगे।

एक ओर उनके कार्य को मै बिलकुल नापसन्द करता था, और दूसरी ओर उन्हे चोट न पहुँचाने की भी मेरी इच्छा थी। इस दुविधा का मुझे सामना करना पड़ा था। मगर फिर भी मैने महसूस किया कि मैने उन्हे प्रसन्नता का सन्देश नही भेजा, और अब जबकि वह अपनी भयकर अग्नि-परीक्षा मे से, जिसमे उनकी मृत्यु भी हो सकती थी, निकलने का निश्चय कर ही चुके है, मुझे चाहिए कि मुझसे जितना बन सके उतना मै उन्हे प्रसन्न बनाऊँ। छोटी-छोटी बातो का भी मन पर बडा असर होता है, और उन्हें जीवन बनाये रखने के लिए अपना सारा मनोबल लगा देना पडेगा। मुझे ऐसा भी लगा कि अब जो कुछ भी होकर रहे, चाहे दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु भी हो जाय, तो उसे भी बड़े दिल से सह लेना चाहिए। इसलिए मैने उन्हे दूसरा तार भेजा :—

'अब तो जब आपने अपना महान् कार्य शुरू कर ही दिया है, तो मै फिर अपना स्नेह और अभिनन्दन आपको भेजता हूँ, और मै आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अब मुझे यह ज्यादा स्पष्ट दिखायी देता है कि जो कुछ होता है वह अच्छा ही होता है, और परिणाम कुछ भी हो आपकी विजय ही है।"

उनका उपवास पूरा हो गया और वह जीवित रहे। उपवास के पहले ही दिन वह जेल से रिहा कर दिये गये, और उनके कहने से छ हफ्तो के लिए सविनय भग स्थगित कर दिया गया।

मैने देखा कि उपवास के बीच मे देश मे भावना का फिर एक उभाड आया। मै ज्यादा-ज्यादा सोचने लगा कि क्या राजनीति मे यह उचित मार्ग है ? मुझे तो लगने लगा, कि यह केवल पुनरुद्धार-वाद है

और इसके सामने स्पष्ट विचार करने का तरीका विलकुल नही ठहर सकता। सारा हिन्दुस्तान, या उसका अधिकाश श्रद्धा से महात्माजी की तरफ निगाह गडाये हुए था, और उनसे उम्मीद करता था कि वह चमत्कार-पर-चमत्कार करते चले जायँ, अस्पृश्यता का नाश कर दे, और स्वराज्य हासिल करले, इत्यादि, और आप कुछ भी न करे। गाधीजी भी दूसरो को विचार करने के लिए वढावा नही देते थे, उनका आग्रह पवित्रता और वलिदान पर था। मुझे लगा कि हालाँकि मै गाधीजी पर वडी भावुकतापूर्ण आसक्ति रखता हूँ फिर भी मानसिक दृष्टि से मै उनसे दूर होता चला जा रहा हूँ। अक्सर वह अपनी राजनैतिक हलचलो मे अपनी कभी न चूकनेवाला—सहज आत्मप्रेरणा से, काम लेते थे। श्रेयस्कर और लाभप्रद काम करने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है, लेकिन क्या राष्ट्र को तैयार करने का रास्ता श्रद्धा का ही है ? कुछ वक्त के लिए तो यह लाभदायक हो सकता है, मगर अन्त में क्या होगा ?

और मै यह नही समझ सका कि वह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को, जिसकी नीव हिंसा और सघर्प पर है, कैसे मान लेते है, जैसा कि वह मजूर करते हुए दीखते है ? मुझ मे ज़ोर से सघर्ष चलने लगा, और मै दो प्रतिस्पर्द्धी निप्ठाओ (व्यक्ति-निष्ठा और तत्व-निष्ठा) की चक्की मे पिसने लगा। मैने जान लिया कि जव मै जेल की चहार-दीवारी से वाहर निकलूँगा, तव भविष्य मे मेरे सामने मुसीवत ही खडी मिलेगी। मुझे प्रतीत होने लगा कि मै अकेला और निराश्रय हूँ, और हिन्दुस्तान, जिसे मैनें प्यार किया और जिसके लिए मैने इतना परिश्रम किया, मुझे एक पराया और किंकर्त्तव्यविमूढ कर देनेवाला देश मालूम होने लगा। क्या यह मेरा दोष था कि मै अपने देशवासियो की भावना और विचार-प्रणाली से अपना मेल न वैठा सका ? मुझे मालूम हुआ कि अपने गहरे-से-गहरे साथियो और मेरे वीच मे एक अप्रत्यक्ष दीवार खडी हो गयी है, और उसको पार करने में अपने आपको असमर्थ पाकर मै दुखी हो गया और मन मसोस कर वैठ गया। उन सव पर मानो पुरानी दुनिया ने, पुरानी विचारधाराओ, पुरानी आशाओ और पुरानी

इच्छाओं की दुनिया ने अपना परदा डाल रक्खा था। नयी दुनिया का निर्माण होना तो अभी वहुत दूर था।

दो लोकों के वीच भटकता
आश्रय की कुछ आस नही;
मरी पडी है एक, दूसरे मे,
उठने की शक्ति नही।[1]

हिन्दुस्तान, सव वातो से ज्यादा, धार्मिक देश समझा जाता है, और हिन्दू और मुसलमान और सिक्ख और दूसरे लोग अपने-अपने मतो का अभिमान रखते है, और एक-दूसरे के सिर फोडकर उनकी सच्चाई का सुबूत देते है। हिन्दुस्तान मे और दूसरे देशो मे मज़हव के, और कम-से-कम मौजूदा रूप मे सगठित मज़हव के, दृश्य ने मुझे भयभीत कर दिया है, मैने उसकी कई वार निन्दा की है, और उसको जड-मूल से मिटा देने तक की इच्छा की है। मुझे तो लगभग हमेशा यही मालूम हुआ कि अन्धविश्वास और प्रगतिविरोध, जड (प्रमाण रहित) सिद्धान्त और कट्टरपन, अन्धश्रद्धा और शोपणनीति और (न्याय अथवा अन्याय से) स्थापित स्वार्थों के सरक्षण का ही नाम 'धर्म' है। मगर यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है कि धर्म मे और भी कुछ है, उसमे कुछ ऐसी चीज़ भी है जो मनुष्यो की गहरी आन्तरिक आकाक्षा को भी पूरा करती है। नही तो उसका इतनी जवरदस्त शक्ति वनना जैसा कि वना हुआ है, कैसे सम्भव था, और उससे अनगिनती पीडित आत्माओ को सुख और शान्ति कैसे मिल सकती थी ? क्या वह शान्ति केवल अन्ध विश्वास को शरण देने और शकाओं पर परदा डालनेवाली ही थी ? क्या वह वैसी ही शान्ति थी जैसी खुले समुद्र को तूफानो से वचकर किसी वन्दरगाह में मिलती है, या उससे कुछ ज्यादा थी ? कुछ वातों मे तो सचमुच वह इससे कुछ ज्यादा ही थी।

लेकिन इसका भूतकाल कैसा भी रहा हो, आजकल का संगठित

---

१. अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

धर्म तो ज्यादातर एक खाली ढोल ही रह गया है, जिसके अन्दर कोई तथ्य और तत्त्व नही है। श्री जी० के० चेस्टरटन[1] ने इसकी (स्वयम् अपने खास तरह के धर्म की नही, मगर दूसरो के धर्म की।) भूगर्भ में पाये जानेवाले ऐसे 'फासिल' की उपमा दी है, जो किसी ऐसे जानवर या सजीव वस्तु का सिर्फ ढाँचामात्रा है कि जिसके अन्दर से उसका अपना जीवित तत्त्व तो पूरी तरह से निकल चुका है, लेकिन जिसका ऊपरी पञ्जर रह गया है और जिसके अन्दर कोई बिलकुल दूसरी ही चीज भर दी गयी है। और, अगर किसी धर्म मे कोई महत्त्वपूर्ण चीज रह भी गयी है तो, उसपर और दूसरी हानिकर चीजो का लेप चढ गया है।

मालूम होता है कि यही बात हमारे पूर्वीय धर्मो मे, और पश्चिमी धर्मों मे भी, हुई है। चर्च आफ इग्लैण्ड ऐसे धर्मो का एक स्पष्ट उदारहण है, जो किसी भी अर्थ मे मजहब नही है। किसी हद तक, यही बात सारे सगठित प्रोटेस्टेण्ट धर्मो के बारे में सही है; लेकिन इसमें सबसे आगे बढा हुआ चर्च आफ इग्लैण्ड ही है, क्योंकि वह बहुत अर्से से एक सरकारी राजनैतिक महकमा बन चुका है।[2]

---

१. यह कैथलिक सम्प्रदाय का था। —अनु०

२ हिन्दुस्तान में चर्च आफ इंग्लैण्ड तो प्राय: सरकार से अलग मालूम ही नहीं होता है। जिस तरह ऊँचे सरकारी नौकर साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतीक हैं उसी तरह (हिन्दुस्तान के खजानें से) सरकार की तरफ़ से तनख्वाह पानेवाले पादरी और चेपलेन भी है। हिन्दुस्तान की राजनीति में चर्च कुल मिलाकर एक रूढ़िवादी और प्रतिगामी शक्ति रही है और आमतौर पर सुधार या प्रगति के विरुद्ध रही है। सामान्य ईसाई मिशनरी हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास और सस्कृति से आमतौर पर बिलकुल नावाकिफ होते हैं और वे यह जानने की जरा भी तकलीफ नहीं उठाते कि वह कैसी थी या कैसी है। वे ग़ैरईसाइयो के पापों और कमजोरियो को दिखाते रहने में ज्यादा दिलचस्पी लेते है। बेशक, कई

उसके बहुत-से अनुयायियों का चारित्र्य बेशक ऊँचे-से-ऊँचा है मगर यह मार्के की बात है कि किस तरह इस चर्च ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उद्देश्य को पूरा किया है, और पूँजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों को किस तरह नैतिक और ईसाई जामा पहना दिया है। इस धर्म ने एशिया और अफ्रीका में अंग्रेजों की लुटेरी नीति का समर्थन करने की कोशिश की है, और अंग्रेजों में एक असाधारण और ईर्षा करने योग्य भावना भर दी है कि हम हमेशा ठीक ही और सही काम करते हैं। इस बडप्पन-भरी सत्कार्य-भावना को इस चर्च ने पैदा किया है या वह खुद उससे पैदा हुई है, यह मैं नहीं जानता। यूरोपियन महाद्वीप के और अमेरिका के दूसरे देश, जो इंग्लैण्ड के बराबर भाग्यशाली नहीं हुए हैं, अक्सर कहते हैं कि अंग्रेज मक्कार हैं। "विश्वासघाती इंग्लैण्ड" यह एक पुराना ताना है। लेकिन शायद यह इलजाम तो अंग्रेजों की कामयाबी से उत्पन्न हुई ईर्ष्या से लगाया जाता है, और निश्चय ही कोई दूसरा देश

लोग इनमें बहुत ऊँचे अपवाद-रूप हुए हैं। चार्ली एण्डरूज से बढ़कर हिन्दुस्तान का दूसरा सच्चा मित्र नहीं हुआ, जिनमें प्रेम और सेवा की भावना और उमड़ती हुई मैत्री खूब लबालब भरी हुई थी। पूना के क्राइस्ट सेवा-संघ में भी कुछ अच्छे अंग्रेज हैं जिनके मजहब ने उन्हें दूसरों को समझना और उनकी सेवा करना, न कि अपना बड़प्पन दिखाना, सिखलाया है और जो अपनी सारी बडी-बडी योग्यताओं के साथ हिन्दुस्तान की जनता की सेवा में लग गये हैं। दूसरे भी कई अंग्रेज पादरी हुए हैं, जिनको हिन्दुस्तान याद करता है।

१२ दिसम्बर १९३४ को लार्ड-सभा में बोलते हुए केण्टरबरी के धर्माध्यक्ष ने १९१९ के माण्टेगु चेम्सफ़ोर्ड-सुधारों की प्रस्तावना का जिक्र करते हुए कहा था कि "कभी-कभी मुझे ख़याल आता है कि यह बडी घोषणा कुछ जल्दबाजी से कर दी गई है, और मेरा अनुमान है कि महायुद्ध के बाद एक उतावलेपन का और उदारता-पूर्ण प्रदर्शन कर दिया गया है, लेकिन जो ध्येय निश्चित कर दिया गया है उसे वापस

भी इंग्लैण्ड के दोष नही निकाल सकता क्योंकि उसके भी कारनामे इतने ही खराब है। जो राष्ट्र जानता हुआ भी मक्कारी करता है, उसके पास हमेशा इतना शक्ति-सग्रह नहीं रह सकता, जैसा कि अग्रेजो ने बार-बार दिखलाया है; और इसमें उसके खास तरह के 'धर्म' ने जहाँ अपना स्वार्थ सधता हो वहाँ नीति-अनीति की चिन्ता करने की भावना को भोथरा करके उसे मदद दी है। दूसरी जातियों और राष्ट्रो ने अक्सर अग्रेजो से भी बहुत खराब काम किये है, लेकिन अग्रेजों के बराबर वे अपना स्वार्थ साधनेवाले कार्यों को पूर्ण बनाने में सफल नही हुए है। हम सभी के लिए यह बहुत आसान है कि हम दूसरों के 'जर्रे' के बराबर दोष को 'पहाड' के बराबर बता दें और खुद अपने 'पहाड' के बराबर दोष को 'ज़र्रे' के बराबर समझें लेकिन शायद इस करतब में भी अग्रेज ही सबसे ज्यादा बढकर है।[1]

नहीं लिया जा सकता।" यह गौर करनें लायक बात है कि इंग्लिश चर्च का धर्माध्यक्ष हिन्दुस्तान की राजनीति के बारे में ऐसा अनुदार दृष्टि-कोण रखता है। जो चीज भारतीय लोकमत के अनुसार बिलकुल ही नाकाफी समझी गई, और इसी कारण जिसके लिए असहयोग और बाद की तमाम घटनायें हुईं, उसको धर्माध्यक्ष साहब 'उतावलेपन का और उदारता-पूर्ण' प्रदर्शन कहते है। इंग्लैण्ड के शासकवर्ग के दृष्टिकोण से यह एक सन्तोष-प्रद सिद्धान्त है, और इसमें शक नहीं कि अपनी उदारता के सम्बन्ध में उनका यह विश्वास, जो कि अविवेक की हद तक पहुँच जाता है, उनके अन्दर सन्तोष की एक सात्विक ज्योति जगाये बिना न रहता होगा।

१. चर्च आफ इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान की राजनीति पर किस तरह अपना अप्रत्यक्ष असर डालता है, इसकी हाल ही में एक मिसाल मेरे देखनें में आई है। ७ नवम्बर १९३४ को कानपुर में युक्तप्रान्तीय हिन्दु-स्तानी ईसाई कान्फ्रेन्स में स्वागताध्यक्ष श्री ई० डी० डैविड ने कहा था कि "ईसाई की हैसियत से, हमारा यह धार्मिक कर्तव्य है कि हम सम्राट के राजभक्त रहें, जो कि हमारे धर्म के 'संरक्षक' है।" लाजिमी

प्रोटेस्टेण्ट-मत ने नयी परिस्थिति के अनुकूल बन जाने की कोशिश की, और लोक-परलोक दोनो का ही ज्यादा-से-ज्यादा फायदा उठाना चाहा। जहाँतक इस दुनिया का सम्बन्ध था वहाँतक तो वह खूब ही सफल रहा, लेकिन धार्मिक दृष्टि से वह सगठित धर्म के रूप मे 'न घर का रहा न घाट का।' और धीरे-धीरे धर्म की जगह भावुकता और व्यवसाय आ गया। रोमन कैथलिक मत इस दुष्परिणाम से बच गया। क्योकि वह पुरानी जड़ को ही पकडे रहा. और जबतक वह जड़ कायम रहेगी तबतक वह भी फूलता-फलता रहेगा। पश्चिम मे आज वही एक अपने सीमित अर्थ मे 'जीवित धर्म' रह गया है। एक रोमन कैथलिक मित्र ने जेल मे मेरे पास कैथलिक-मत पर कई पुस्तके और धार्मिक पत्र भेज दिये थे, और मैने उन्हे बडी दिलचस्पी से पढा था। उन्हे पढने पर मुझे मालूम हुआ कि लोगो पर उसका कितना बडा प्रभाव है। इस्लाम और प्रचलित हिन्दू-धर्म की तरह ही उससे भी सन्देह और मानसिक द्वन्द से राहत मिल जाती है और भविष्य के जीवन के बारे मे एक आश्वासन मिल जाता है, जिससे इस जीवन की कसर पूरी हो जाती है।

मगर, मेरी समझ मे इस तरह की सुरक्षिता चाहना मेरे लिए तो असभव है। मै खुले समुद्र को ही ज्यादा चाहता हूँ, जिसमे चाहे जितनी आँधियाँ और तूफान हो। न मुझे परलोक की या मृत्यु के बाद क्या होता है इसके बारे मे कोई दिलचस्पी है। इस जीवन की समस्याये ही मेरे दिमाग को व्यस्त करने के लिए काफी मालूम होती है। मुझे तो चीनियो की परम्परा से चली आयी जीवन-दृष्टि, जो कि मूल मे

तौर पर इसका अर्थ हुआ हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन। श्री डेविड ने आई० सी० एस०, पुलिस और सारे प्रस्तावित विधान के बारे में, जिससे उनके विचार से हिन्दुस्तान के ईसाई मिशन खतरे में पड़ सकते हैं, इंग्लैण्ड के 'कट्टर' अनुदार लोगो की राय के साथ भी अपनी सहानुभूति प्रकट की थी।

नैतिक है लेकिन फिर भी अधार्मिकता या नास्तिकता का रग लिये हुए है, पसन्द आती है, हालाँकि जिस तरह वह व्यवहार मे लायी जा रही है, वह मुझे पसन्द नही है। मुझे तो 'ताओ' यानी जिस मार्ग पर चलना चाहिए उसमे या जीवन की पद्धति में रुचि है; मैं चाहता हूँ कि जीवन को समझा जाय, उसका त्याग नही बल्कि उसको अगीकार किया जाय, उसके अनुसार चला जाय, और उसको उन्नत बनाया जाय। मगर आम धार्मिक दृष्टिकोण इस लोक मे नाता नही रखता। मुझे वह स्पष्ट विचार का दुश्मन मालूम होता है, क्योकि उसकी नीव सिर्फ कुछ स्थिर और न बदलनेवाले मतो और सिद्धान्तो को बिना चूँ-चपड किये स्वीकार कर लेना ही नही है, बल्कि वह मानसिक प्रवृत्ति, भावना और भावुकता पर भी आधारित है। मै जिन्हे आध्यात्मिकता और आत्मा-सम्बन्धी बाते समझता हूँ, उनसे वह बहुत दूर है, और वह, जान-बूझकर या अनजान में इस डर से कि शायद असलियत पूर्व निश्चित विचारो से मेल न खाय, असलियत से भी आँखे बन्द कर लेता है। वह सकुचित है, और दूसरी तरह की रायो या विचारो को सहन नही करता। वह आत्म-हित और अहकार से पूर्ण है, और अक्सर स्वार्थी और तमाम साधु लोगो को अपने से अनुचित फायदा उठाने देता है।

इसका अर्थ यह नही है कि मजहब को माननेवाले अक्सर ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक और आध्यात्मिक कोटि के लोग नही हुए है, या अभी भी नही है। लेकिन इसका यह अर्थ जरूर है कि अगर नैतिकता और आध्यात्मिकता को दूसरे लोक के पैमाने से न नापकर इसी लोक के पैमाने से नापना हो तो मजहबी दृष्टिकोण अवश्य ही राष्ट्रो की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति मे सहायता नही देता, बल्कि अडचन तक डालता है। आमतौर पर, धर्म ईश्वर या परमतत्त्व की अ-सामाजिक या व्यक्तिगत खोज का विषय बन जाता है, और मजहबी आदमी समाज की भलाई की अपेक्षा अपने-आपकी मुक्ति की ज्यादा फिक्र करने लगता है। रहस्य-वादी अपने अहकार से छुटकारा पाने की कोशिश करता है, और इस कोशिश मे अक्सर अहकार की ही बीमारी उसके पीछे लग जाती है।

नैतिक पैमानो का ताल्लुक समाज की ज़रूरतो से नही रहता, लेकिन उनका आधार पाप के अत्यन्त गूढ आध्यात्मिक सिद्धान्तो पर हो जाता है। और, सगठित धर्म तो हमेशा स्थापित स्वार्थ ही बन जाता है, और इस तरह लाज़िमी तौर पर वह परिवर्तन और प्रगति के लिए एक विरोधी (प्रतिगामी) शक्ति बनाता है।

यह सुप्रसिद्ध है कि शुरू के दिनो मे ईसाई मजहब ने गुलाम लोगो को अपना सामाजिक दर्जा उठाने मे मदद नही दी थी। ये गुलाम ही यूरप के मध्यकालीन युग मे, आर्थिक परिस्थितियों के कारण भू-स्वामियो के क्रीतदास बन गये। मजहब का रुख़ दो सौ वर्ष पहले तक (१७२७ तक) क्या रहा था, यह अमेरिका के दक्षिणी उपनिवेशो के दास-स्वामियो को लिखे हुए बिशप आफ लन्दन के एक पत्र से मालूम पड़ सकता है ![1]

बिशप ने लिखा था कि, "ईसाई-धर्म और बाइबिल को मान लेने से नागरिक सम्पत्ति या नागरिक सम्बन्धों से उत्पन्न हुए कर्त्तव्यों मे ज़रा भी तबदीली नही आती; वरन् इन मामलों मे 'व्यक्ति' उसी 'अवस्था' मे रहते है जिस अवस्था मे वह पहले थे। ईसाई-धर्म जो मुक्ति देता है, वह मुक्ति 'पाप' और 'शैतान के बन्धन से' और मनुष्यों के 'काम,' विचार' और तीव्र 'वासना' के बन्धन से है। मगर, उनकी बाहरी हालत बपतिस्मा—'ईसाईधर्म की दीक्षा' दिये जाने और ईसाई बनाने से पहले जैसी गुलाम या आज़ाद थी उसमे वह किसी भी तरह का हेर-फेर नही करता।"

आज कोई भी सगठित मजहब इतने साफ ढग से अपने ख़यालात जाहिर न करेगा, लेकिन मिल्कियत और मौजूदा समाज-व्यवस्था की तरफ उसका रुख खासकर यही होगा।

---

१. यह पत्र रेन्हॉल्ड नेबुर की लिखी हुई पुस्तक 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसाइटी' (पृष्ठ ७८) मे उद्धृत हुआ है। यह किताब बडी ही रोचक और विचार-प्रेरक है।

यह सभी जानते है कि शब्द तो अर्थ-बोध करानें के बहुत ही अपूर्ण साधन है, और उनके कई तरह से अर्थ लगाये जाते है। किसी भी भाषा मे 'धर्म' शब्द का (या दूसरी भाषाओं के इसी अर्थवाले शब्दों का) जितने भिन्न-भिन्न अर्थ भिन्न-भिन्न लोग लगाते है, उतना शायद ही किसी दूसरे शब्द का अर्थ लगाया जाता हो या 'मज़हब' शब्द को पढने या सुनने से शायद किन्ही भी दो मनुष्यो के मन मे एक ही से -धर्म' के विचार या कल्पनाये पैदा नही होगी। इन विचारों या कल्पनाओं मे, कर्मकाण्डो और रस्म-रिवाजो के, धर्म-ग्रन्थो के, मनुष्यो के एक समुदाय-विशेष के, कुछ निश्चित सिद्धान्तो के और नीति-नियमो, श्रद्धा, भक्ति, भय, घृणा, दया, बलिदान, तपस्या, उपवास, भोज, प्रार्थना, पुराने इतिहास, शादी, गमी, परलोक, दगो और सिर-फुटौवल, इत्यादि अनेक बातों के विचार और भाव शामिल है। इन असख्य प्रकार की कल्पनाओ और अर्थो के कारण दिमाग मे जबरदस्त गडबडी तो पैदा हो ही जायगी, लेकिन हमेशा एक तेज भावुकता भी उमड पडेगी, जिससे अलिप्त और अनासक्त रूप से विचार करना नामुमकिन हो जायगा। जब 'धर्म' शब्द का ठीक और निश्चित अर्थ (अगर कभी था तो) बिलकुल नही रहा है, और अक्सर बिलकुल ही भिन्न-भिन्न अर्थो मे उसका प्रयोग होता है तब तो वह सिर्फ गडबडी ही उत्पन्न करता है और उससे वाद-विवाद और तर्क का कभी अन्त ही नही हो सकता। बहुत ज्यादा अच्छा यह हो कि इस शब्द का प्रयोग ही बिलकुल बन्द कर दिया जाय, और उसके स्थान पर ज्यादा सीमित अर्थ वाले शब्द इस्तैमाल किये जाँय; जैसे-ईश्वर-विज्ञान, दर्शन-विज्ञान, नीति-नियम, नीति-शास्त्र, आत्म-वाद, आध्यात्मिक-शास्त्र, कर्तव्य, लोकाचार वगैरा। यो तो ये शब्द भी काफ़ी अस्पष्ट है, लेकिन ये 'धर्म' की अपेक्षा बहुत परिमित अर्थ रखते है। इसमे बडा लाभ यह होगा कि अभीतक इन शब्दो के साथ उतनी भावुकता और भावना नही लग पायी है जितनी कि 'धर्म' के साथ लग चुकी है।

तो, 'मज़हब' (इस शब्द की स्पष्ट हानियो के होते हुए भी इसी

का प्रयोग कर रहा हूँ !) चीज़ क्या है ? शायद वह है व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति और एक ख़ास दिशा मे, जो अच्छी समझी जाती है, उसकी चेतना का विकास। वह दिशा कौन-सी होनी चाहिए यह भी एक बहस की बात ही होगी। लेकिन जहाँतक मै समझता हूँ, मजहब इसी भीतरी परिवर्तन पर जोर देता है, और बाहरी परिवर्तन को इस भीतरी विकास का ही एक अग या रूप मात्र मानता है। इसमे शक नही हो सकता कि इस आन्तरिक उन्नति का बाहरी हालत पर बडा ज़बरदस्त असर पडता है। मगर, इसके साथ ही यह भी साफ है कि बाहरी हालत का आन्तरिक प्रगति पर भी भारी असर पडता है। दोनो का एक-दूसरे पर प्रभाव पडता है और प्रतिक्रिया भी होती रहती है। यह सब जानते है कि पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक देशों मे आन्तरिक विकास से बाहरी विकास बहुत ज्यादा हुआ है, लेकिन इससे यह नतीजा नही निकलता, जैसा कि पूर्वीय देशो के कई लोग शायद समझते है, कि चूँकि हम कल-कारख़ानों के उद्योग मे पीछे है और हमारा बाहरी विकास धीमा रहा है, इसलिए हमारा आन्तरिक विकास उनसे ज्यादा हो गया है। यह एक भ्रम है, जिससे हम अपने को तसल्ली दे लेते है, और अपने छोटे-पन की भावना को दाबने की कोशिश करते है। यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अपनी परिस्थितियो और हालतो से ऊपर उठ सके, और ऊचे आन्तरिक विकास पर पहुँच सके। लेकिन बहुत लोगो और राष्ट्रो के लिए तो, आन्तरिक विकास हो सकने से पहले, किसी अश तक बाहरी विकास का होना आवश्यक है जो आदमी आर्थिक परिस्थितियो का शिकार है, और जो जीवन-सघर्ष के बधनो और बाधाओ से घिरा हुआ है, यह शायद ही किसी ऊँची कोटि की आत्मा-चेतनना प्राप्त कर सके। जो वर्ग पद-दलित और शोषित होता है, वह आन्तरिक रूप से कभी प्रगति नही कर सकता। जो राष्ट्र राजनैतिक और आर्थिक रूप से पराधीन है और बन्धनो मे पडा परिस्थितियो से मजबूर और शोषित हो रहा है, वह कभी आन्तरिक उन्नति मे सफल नही हो सकता। इस तरह आन्तरिक उन्नति के लिए भी बाहरी आज़ादी और अनुकूल परिस्थिति की ज़रूरत होती

है। इस बाहरी आजादी को पाने, और परिस्थिति ऐसी बनाने के लिए, कि जिससे आन्तरिक प्रगति की सब रुकावटें हट जायँ, यह आवश्यक है कि साधन ऐसे मिले जिनसे असली उद्देश्य ही न मिट जाय। मै समझता हूँ कि जब गाधीजी कहते है कि उद्देश्य से साधन ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, तो उनका भाव कुछ ऐसा ही जान पडता है। मगर साधन ऐसे ज़रूर होने चाहिएँ जो कि उस उद्देश्य तक पहुँचा दें, नही तो उनसे सारी शक्ति ही नष्ट होगी, और उससे शायद भीतरी और बाहरी दोनो तरह का पतन ही ज्यादा होगा।

गाधीजी ने कही लिखा है कि—"कोई भी आदमी धर्म के बिना जीवित नही रह सकता। कुछ ऐसे लोग है जो अपनी अक्ल की शेखी मे कहते है कि हमें धर्म से कोई सबध नही है। मगर यह ऐसी बात हुई कि कोई आदमी साँस तो लेता हो लेकिन कहता हो कि मेरे नाक नही है।" फिर वह कहते है—"सत्य के प्रति मेरी तपस्या ने मुझे राजनीति के मैदान में ला खीचा है। और मै बिना किसी हिचकिचाहट के, लेकिन पूरी नम्रता के साथ, कह सकता हूँ, कि वे लोग जो यह कहते है कि 'धर्म' का राजनीति से कोई नाता नही है, यह समझते ही नही कि 'धर्म' का क्या अर्थ है?" यदि वह यो कहते कि प्राय वे ही लोग जो जीवन और राजनीति मे से 'धर्म' को निकाल डालना चाहते है, 'धर्म' शब्द का उन (गाधीजी) के आशय से बहुत भिन्न कोई दूसरा ही आशय समझते है—तो शायद यह अधिक सही होता। यह स्पष्ट है कि गाधीजी 'धर्म' शब्द को उसके भाष्यकारो से भिन्न अर्थ मे शायद और किसी अर्थ की अपेक्षा नैतिक अर्थ मे अधिक—ले रहे है। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों मे इस तरह प्रयोग करने से एक-दूसरे का समझना और भी मुश्किल हो जाता है।

धर्म की एक और बहुत ही आधुनिक परिभाषा, जिससे कि मज़हबी लोग सहमत न होगे, प्रोफेसर जॉन डेवी ने की है। उनकी राय में मजहब "वह चीज है जो जीवन या अस्तित्व के एक-एक करके और बदलते रहनेवाले प्रसगो या घटनाओ को समझने की शुद्ध दृष्टि देता है", या

फिर "जो प्रवृत्ति व्यक्तिगत हानि होने की आशका होने पर भी और बाधाओ के विरोध मे भी किसी आदर्श लक्ष्य को पाने के लिए जारी रक्खी जाती है, और जिसके पीछे यह विश्वास हो कि वह सार्वजनिक और उपयोगिता वाली है वही स्वरूप मे धार्मिक है।" अगर धर्म यही चीज़ है, तब तो निश्चय ही उसपर किसीको भी कुछ एतराज नही हो सकता।

रोमाँ रोलाँ ने भी मजहब का ऐसा मतलब निकाला है जिससे शायद सँगठित मज़हब के कट्टर लोग भयभीत हो जायँगे। अपने 'रामकृष्ण परमहस' के जीवनचरित्र मे वह लिखते है —

"......बहुत-से व्यक्ति ऐसे है जो सभी तरह के मजहबी विश्वासों से दूर है, या उनका खयाल है कि वे दूर है, लेकिन वास्तव मे वे एक अति-बौद्धिक चेतना की हालत मे डूबे रहते है, जिसे वे समाजवाद, साम्यवाद, मानवहितवाद, राष्ट्रवाद या बुद्धिवाद भी कहते है। विचार की वस्तु से नही, किन्तु विचार की उच्चता या गुण से उसका मेल निश्चित हो सकता है, और हम यह तय कर सकते है कि वह मज़हब से उत्पन्न हुआ है या नही। अगर वह विचार हर तरह की कठिनाई सहकर एकनिष्ठ लगन और हर तरह के बलिदान की तैयारी के साथ, सत्य की खोज की तरफ निर्भयतापूर्वक जाता है, तो मै उसे मज़हब ही कहूँगा। क्योकि मजहब के अन्दर यह विश्वास शामिल ही है कि मानवीय पुरुषार्थ का ध्येय मौजूदा समाज के जीवन से ऊँचा, और सारे मानव-समाज के जीवन से भी ऊँचा है। नास्तिकता भी, जब वह सर्वांशत सच्ची बलवती प्रकृतियो से निकलती है, और जब वह निर्बलता का नही बल्कि शक्ति की एक मूर्तरूप होती है, तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान् सेना के प्रयाण मे शामिल हो जाती है।"

मै नही कह सकता कि मै रोमाँ रोलाँ की इन शर्तो को पूरा करता ही हूँ, लेकिन इन शर्तो पर तो इस महान् सेना का एक तुच्छ सैनिक बनने को मै तैयार हूँ।

: ४८ :

ब्रिटिश सरकार की 'दो-रुखी' नीति

यरवडा-जेल से, वाद मे बाहर से, गाधीजी के नेतृत्व मे हरिजन-आन्दोलन चल रहा था। मन्दिर-प्रवेश का प्रतिवन्ध दूर करने के लिए वडा भारी आन्दोलन खड़ा हो गया था, और इसी उद्देश्य का एक विल असेम्वली (बडी धारासभा) मे भी पेश किया गया था। और फिर एक अनोखा दृश्य दिखायी दिया कि काग्रेस के एक बडे नेता दिल्ली मे असेम्बली के मेम्बरो के घर-घर जाकर मन्दिर-प्रवेश बिल के पक्ष में मत दिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। खुद गाधीजी ने भी उनके द्वारा असेम्बली के मेम्वरो के नाम एक अपील भेजी थी। फिर भी सविनय-भग तो चल ही रहा था और लोग जेल जा रहे थे, काग्रेस ने असेम्बली का बहिष्कार कर रक्खा था और हमारे मेम्वर उसमे से निकलकर चले आये थे। जो मेम्वर वहाँ बच गये थे, उन्होने और उन लोगो ने जो खाली हुई जगहो मे आगये थे, इस सकट-काल मे काग्रेस का विरोध करके और सरकार का साथ देकर नाम कमा लिया था। आर्डिनेन्सो की असाधारण धाराओ को कुछ काल के लिए स्थायी दमनकारी कानून के रूप में पास कर देने मे इन लोगो के वहुमत ने सरकार को मदद दी थी। उन्होने ओटावा का समझौता पचा लिया था, और दिल्ली, शिमला और लन्दन मे बड़े प्रभुओ के साथ दावते उडायी थी। वे हिन्दुस्तान मे अंग्रेजो की हुकूमत की प्रशसा करने मे शामिल हो गये थे, और हिन्दुस्तान मे 'दो-रुखी' नामक नीति की विजय की उन्होने प्रार्थना की थी।

उस समय की परिस्थिति मे गांधीजी के अपील निकालने पर मैं अचम्भे मे पड गया। और इससे भी ज्यादा मैं राजगोपालाचार्य की भारी कोशिशो से चकित हुआ, जो कि कुछ ही हफ्ते पहले काँग्रेस के स्थानापन्न प्रेसीडेन्ट थे। निश्चय ही इन कामो से सविनय-भग को धक्का पहुँचा, लेकिन मुझे तो नैतिक दृष्टि से ज्यादा चोट पहुँची। मेरी निगाह

मे गाँधीजी या किसी भी काग्रेस के नेता का ऐसी कार्रवाई करना अनैतिक था, और जो बहुत-से लोग जेल मे थे या लडाई चला रहे थे, उनके साथ करीब-करीब विश्वासघात ही था। लेकिन मैं जानता था कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है।

उस समय और बाद मे मन्दिर-प्रवेश-बिल के साथ सरकार का रुख आँखे खोल देनेवाला था। उसने उसके समर्थको के रास्ते मे हर तरह की कठिनाइयाँ डाली। वह उसको स्थगित करती चली गयी, और उसके विरोधियों को प्रोत्साहन देती गयी, और अखीर मे उसपर अपना विरोध जाहिर करके उसका खात्मा कर दिया। हिन्दुस्तान मे सामाजिक सुधार के सभी प्रयत्नो की तरफ किसी-न-किसी अश तक उसका यही रुख रहा है, और मजहब मे हस्तक्षेप न करने के बहाने उसने सामाजिक उन्नति को रोका है। मगर यह कहने की ज़रूरत नही कि इससे वह हमारी सामाजिक बुराइयो की नुक्ताचीनी करने या इसके लिए दूसरो को बढावा देने से बाज़ नही आयी। एक इत्तफाक से ही शारदा बाल-विवाह-विरोधक बिल कानून बन गया था, लेकिन इस अभागे कानून के बाद के इतिहास से ही सबसे ज्यादा यह मालूम हो गया कि इस तरह के कानूनो की पाबन्दी कराने मे सरकार कितनी अनिच्छा रखती है जो सरकार रातो-रात आर्डिनेन्स पैदा कर सकती थी, जिनमे अजीब-अजीब अपराध ईजाद किये गये और जिनमे एक के कुसूरो के लिए दूसरो को सजाये दी जा सकती थी और जिनके भग करने के कारण वह हजारो लोगो को जेल भेज सकती थी, वही सरकार 'शारदा-एक्ट' सरीखे अपने कायदे के कानून की पाबन्दी करने के खयाल से स्पष्टत दुबकने लगी। इस कानून का नतीजा पहले तो यह हुआ कि वह जिस बुराई की रोक के लिए बनाया गया था वही बुराई बेहद बढ़ गयी। क्योकि लोगों ने छ महीने की मिली हुई मोहलत से, जो कि कानून मे बहुत ही बेवकूफी से रख दी गयी थी, फायदा उठाने की एक-दम जल्दी की। और फिर तो यह मालूम होगया कि कानून तो बहुत कुछ एक मज़ाक ही है, और आसानी से उसका भंग हो सकता है और

सरकार उसमे कोई भी कार्रवाई न करेगी। सरकार की तरफ से उसके प्रचार की जरा भी कोशिश नही की गयी, और देहात के ज्यादातर लोगों को यह भी पता न लगा कि यह कानून क्या है? उन्होने हिन्दू और मुसलमान प्रचारको से, जो खुद भी हकीकत शायद ही जानते हों, उसका तोडा-मरोडा हुआ हाल सुना।

स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान मे सामाजिक बुराइयो के प्रति सहिष्णुता की जो यह असाधारण प्रवृत्ति ब्रिटिश सरकार ने दिखाई है, वह उन बुराइयो के लिए किसी पक्षपात के कारण नही है। यह तो सही है कि वह बुराइयो को दूर-करने की ज्यादा चिन्ता नही करती, क्योकि ये बुराइयाँ उनके हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने और उसका सब तरह शोषण करने के कार्य में रुकावट नही डालती। लेकिन सुधारो की योजना करने से भिन्न-भिन्न समुदाय के नाराज हो जाने का भी डर रहता है, और राजनैतिक क्षेत्र मे काफी रोष और क्रोध का सामना होते रहने के कारण ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा नही है कि वह अपनी मुसीबतों को और बढा ले। मगर इन पिछले दिनो से समाज-सुधारको की दृष्टि से स्थिति और भी खराब होती जा रही है, क्योकि अग्रेज लोग इन बुराइयों के ज्यादा-ज्यादा मौन आश्रयदाता होते जा रहे है। यह उनके हिन्दुस्तान के सबसे प्रतिगामी लोगों के गहरे सम्बन्ध में आनें के कारण हो रहा है। ज्यो-ज्यो उनकी हुकूमत के प्रति विरोध बढता जाता है, त्यो-त्यो उन्हे अजीब-अजीब साथी ढूढने पडते है। आज हिन्दुस्तान में अग्रेजी शासन के सबसे जबरदस्त हिमायती उग्र सम्प्रदायवादी और मजहबी-प्रतिगामी और जागृति-विरोधी लोग है। मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठन तो राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, हर दृष्टि से प्रतिगामी मशहूर ही है। उसकी बराबरी हिन्दू-महासभा करती है; लेकिन इस पीछे जाने की दौड मे हिन्दू-महासभा को मात करनेवाले सनातनी है, जिनमे बहुत तेज मजहबी दकियानूसीपन है, और उसके साथ-ही-साथ दमकती हुई या कम-से-कम बुलन्द आवाज से प्रकट की जाने वाली ब्रिटिश-राजभक्ति भी है।

अगर ब्रिटिश सरकार बैठी रही, और उसने शारदा कानून को लोकप्रिय करने और उसकी पाबन्दी कराने की कोई कार्रवाई नही की, तो काग्रेस या दूसरी गैरसरकारी सस्थाओ ने उसके पक्ष मे प्रचार क्यो नही किया ? अग्रेज और दूसरे विदेशी समालोचकों ने बार-बार यह सवाल किया है। जहाँतक काग्रेस का सम्बन्ध है, वह तो पिछले पन्द्रह साल से खासकर १९३० से, ब्रिटिश हुकूमत से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जीवन-मरण की भीषण लडाई लड़ रही है। दूसरी सस्थाओं मे असली ताकत या जनता तक पहुँच नही है। आदर्श, चरित्रबल और जनता पर असर रखनेवाले स्त्री-पुरुष तो काग्रेस मे खिच आये थे, और ब्रिटिश जेलखानों मे जीवन बिता रहे थे।

दूसरी सस्थाये कुछ चुने हुए लोगो द्वारा, जो जनता के सम्पर्क से डरते थे, प्रस्ताव पास कर देने से आगे प्राय बढी नही। वे शरीफाना तरीके से, या अखिल-भारतीय महिला-सघ की तरह जनाने तरीके से ही, काम करती थी, और उनमे आक्रामक प्रचार की वृत्ति नही थी। इसके अलावा, वे भी आर्डिनेन्सो और उनके बाद के कानूनो द्वारा सब तरह की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के भयकर दमन के कारण निष्प्राण होकर कुछ भी नही कर सकती थी। फौजी कानून क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को कुचल सकता है, लेकिन उसके साथ ही वह सहृदयता को और निहायत सभ्य प्रवृत्तियो को भी निर्जीव-सा कर देता है।

मगर कॉंग्रेस और दूसरे गैर-सरकारी सगठन क्यो ज्यादा सामाजिक सुधार नही कर सकते, इसका मूल कारण और भी गहरा है। हमारे अन्दर राष्ट्रीयता की बीमारी हो गई है, और उसी पर हमारा सारा ध्यान लग जाता है, और जबतक हमे राजनैतिक आज़ादी न मिलेगी तबतक वह उसीमे लगता भी रहेगा। जैसाकि बर्नार्ड शॉ ने कहा है—"पराजित राष्ट्र नासूर के रोगी की तरह होता है; वह और किसी बात का खयाल नही कर सकता......। वास्तव मे किसी भी राष्ट्र में राष्ट्रीय आन्दोलन से बढकर कोई अभिशाप नही होता, जोकि स्वाभाविक प्रवृत्ति के दमन का एक दु खदायी लक्षण मात्र होता है। पराजित

राष्ट्र दुनिया की दौड में पीछे रह जाते हैं, क्योकि वे इसके सिवा और कुछ नही कर सकते कि अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करके अपने राष्ट्रीय आन्दोलनो से छुटकारा पाने की कोशिश करें।"

पिछला अनुभव हमे बताता है कि चुने हुए मिनिस्टरों के हाथ में जाहिरातौर पर कुछ महकमो के वदल दिये जाने पर भी वर्तमान परिस्थिति मे प्राय हम कुछ भी सामाजिक प्रगति नही कर सकते। सरकार की जबरदस्त अकर्मण्यता रूढि-प्रेमियों के लिए हमेशा मददगार होती है, और पिछली पीढियो से ब्रिटिश सरकार ने लोगो के नये काम शुरू करने की शक्ति को कुचल दिया है, और वह सर्वाधिकारी की तरह, या जैसा कि वह अपने-आप कहती है, माँ-बाप की तरह से हुकूमत करती है। गैर-सरकारी व्यक्तियो द्वारा किसी भी वडे व्यवस्थित काम का किया जाना वह पसन्द नही करती, और उसमे छिपे इरादो का शक करती है। हरिजन-आन्दोलन के सगठनकर्त्ता, यद्यपि उन्होंने हर तरह सावधानी से काम लिया है, समय-समय पर सरकारी कर्मचारियो के सघर्ष मे आ ही गये हैं। मुझे तो यकीन है कि अगर काँग्रेस साबुन ज्यादा इस्तैमाल करने का भी राष्ट्र,व्यापी आन्दोलन उठाये, तो वह भी कई जगहो पर सरकार के सघर्ष मे आ जायगा।

मेरी समझ मे अगर सरकार सामाजिक सुधार के प्रश्न को हाथ मे लेले, तो जनता के मत को उसके मुआफिक वना लेना मुश्किल नही है। मगर विदेशी हाकिमो पर हमेशा ही शक किया जाता है, और दूसरो को अपनी राय का वनानें मे वे ज्यादा सफल नही हो सकते। अगर विदेशी तत्त्व दूर कर दिया जाय, और आर्थिक परिवर्तन पहले कर दिये जायँ, तो एक उत्साही और क्रियाशील शासन आसानी से वडे-वडे सामाजिक सुधार जारी कर सकता है।

लेकिन जेल में हमारे दिमागो मे सामाजिक सुधार और शारदा-कानून और हरिजन-आन्दोलन के विचार नही भरे हुए थे, सिवा इसी हद तक कि मै हरिजन-आदोलन के सविनय भग के रास्ते मे आ जाने के कारण उससे कुछ चिढ गया था। मई १९३३ के शुरू मे सविनय

भग छ हफ्तो के लिए मुल्तवी कर दिया गया था। और आगे क्या होता है यह देखने की उत्सुकता मे हम थे। इसके मुल्तवी होने से तो आन्दोलन पर आखिरी प्रहार ही हो गया, क्योकि राष्ट्रीय लड़ाई के साथ आँखमिचौनी का खेल नही खेला जा सकता, न वह जब मन आवे तब चालू और जब मन आवे तब बन्द ही की जा सकती है। स्थगित होने से पहले भी आन्दोलन के नेतृत्व मे बहुत ही कमजोरी और प्रभावहीनता आगयी थी। कई छोटी-छोटी कान्फ्रेन्से हो रही थी, और तरह-तरह की अफवाहें फैल रही थी, जिनसे सक्रिय कार्य होने मे रुकावट पडती थी। कॉग्रेस के कई स्थानापन्न प्रेसीजेण्ट बडे सम्मानित लोग थे, लेकिन उनको सक्रिय लडाई के सेनापति बनाना उनके साथ ज्यादती करना था। उनके लिए बार-बार इस बात का इशारा किया जाता था कि वे थक गये है और इस मुश्किल स्थिति से निकलना चाहते है। इस अस्थिरता और अनिश्चय के खिलाफ ऊँचे हलको में कुछ असन्तोष था, लेकिन उसको सगठित रूप से ज़ाहिर नही किया जा सकता था, क्योकि सभी कॉंग्रेसी सस्थाये गैर-कानूनी थी।

इसके बाद गाँधीजी का इक्कीस दिन का उपवास करना, उनका जेल से छूटना, और छ हफ्ते तक सविनय भग का रोक लेना, ये सब हुए। उपवास खत्म हो गया, और बहुत धीरे-धीरे वह फिर अच्छे हुए। जून के मध्य मे सविनय भग के स्थगित होने की अवधि छ हफ्ते के लिए और बढा दी गई। इस बीच सरकार ने अपना दमन कुछ भी कम न किया। अण्डमान के टापुओ मे राजनैतिक कैदी (बगाल मे जिन्हे क्रान्तिकारी हिंसा के लिए सज़ा दी गई थी वे वहाँ भेजे गये थे) जेल-वर्ताव के प्रश्न पर भूख-हड़ताल कर रहे थे, और उनमे से एक या दो तो भूखे रह-रहकर मर भी गये थे। कई मृत्युशय्या पर थे। हिन्दुस्तान मे जिन लोगों ने अण्डमान मे जो कुछ हो रहा था उसके विरुद्ध सभाओं मे भाषण दिये थे, वे भी खुद गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हे सजाये दे दी गई। हम (कैदी) केवल कठिनाइयाँ ही नही सहे, लेकिन हम शिकायत भी न करे, चाहे हम भूख-हडताल को छोड़कर विरोध बतलाने का दूसरा

उपाय न मिलने पर, भूख की भयकर अग्नि-परीक्षा मे मर भी जायँ ! कुछ महीने बाद, सितम्बर १९३३ में (जबकि मै जेल से बाहर था), एक अपील निकली थी, जिसमे अण्डमान के कैदियों के साथ ज्यादा मनुष्योचित बर्ताव करने और उनको हिन्दुस्तान की जेलों मे बदल दिये जाने की प्रार्थना की गई थी, और जिसमे रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सी० एफ० एण्डरूज और दूसरे कई-कई मशहूर लोगो के भी दस्तखत थे, जिनमे अधिकाँश काँग्रेस से कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाले लोग ही थे। इस वक्तव्य पर भारत-सरकार के होम मेम्बर ने बडी नाराजगी जाहिर की, और कैदियों के साथ सहानभूति बतलाने के लिए उसपर दस्तखत करनेवालों की बड़ी कडी समालोचना की। बाद में, जहाँतक मुझे याद आता है, बगाल मे ऐसी हमदर्दी जाहिर करना भी एक जुर्म करार दे दिया गया।

सविनय भग की छ हफ्ते की मौकुफी की दूसरी मोहलत पूरी होने से पहले, देहरादून-जेल मे, हमे खबर मिली कि गाँधीजी ने पूना मे एक अनियमित कान्फ्रेन्स बुलाई है। वहाँ दो-तीत सौ व्यक्ति इकट्ठा हुए, और गाँधीजी की सलाह से सामूहिक सविनय भग बिलकुल स्थगित कर दिया गया, किन्तु व्यक्तिगत सविनय भग की इजाजत खुली रक्खी गई, और सब तरह की गुप्त प्रवृत्तियाँ बन्द कर दी गई। ये निश्चय कोई बहुत स्फूर्त्तिदायक नही थे, लेकिन इनके स्वरूप को देखते हुए मुझे उनपर खास ऐतराज नही हुआ। सामूहिक सविनय भग को बन्द करना तो मौजूदा हालत को स्वीकार कर लेना और स्थिर कर देना ही था, क्योंकि वास्तव मे उन दिनो सामूहिक सविनय भग था ही नही। और, गुप्त काम भी इस बात का एक बहाना-मात्र था कि हम अपना काम जारी रख रहे है, और अक्सर उससे अपने आन्दोलन के रूप को देखते हुए साहस-हीनता भी पैदा होती थी। किसी हद तक तो, हिदायते भेजने और सम्पर्क बनाये रखने के लिए वह जरूरी भी था, लेकिन खुद सविनय भग तो गुप्त कैसे रक्खा जा सकता था।

मुझे जिस बात से अचरज और दुख हुआ, वह यह थी, कि पूना मे मौजूदा परिस्थिति और हमारे लक्ष्य के बारे मे कोई असली चर्चा

नही हुई । काँग्रेसवाले करीब दो साल की भीषण लडाई और दमन के बाद एक जगह इकट्ठे हुए थे, और इस बीच सारी दुनिया मे और हिन्दुस्तान मे बहुत-सी घटनाये हुई थी, जिनमे 'व्हाइट पेपर' का प्रकाशित होना भी शामिल था, जिसमे ब्रिटिश सरकार की वैधानिक सुधार-सम्बन्धी योजना थी। इस अर्से मे हमें तो मजबूरन चुप रहना पडा था, और दूसरी तरफ असली सवालों को छिपाने के लिए लगातार झूठा प्रचार होता रहा था। न सिर्फ सरकार के हिमायतियो ने ही, बल्कि लिबरलो और दूसरे लोगों ने भी, कई बार यह कहा था कि काँग्रेस ने अपना स्वाधीनता का लक्ष्य छोड दिया है। मेरी समझ मे हमे कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिए था कि हम अपने राजनैतिक ध्येय पर जोर देते, हम उसे फिर स्पष्ट कर देते, और अगर हो सकता तो उसके साथ सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य भी जोड देते। इसके बदले बहस शायद सिर्फ इसी बात पर होती रही कि सामूहिक सविनय भग अच्छा है या व्यक्तिगत, गुप्तता रखना ठीक है या नही। सरकार से 'सुलह' करने की भी कुछ विचित्र चर्चा हुई थी। जहाँतक मुझे याद है, गाँधीजी ने वाइसराय से मुलाकात करने के लिए एक तार भेजा, जिसका जवाब वाइसराय की तरफ से 'नही' मे आया, और फिर गाधीजी ने एक दूसरा तार भेजा जिसमे 'सम्मान-युक्त सुलह' की कोई बात कही गई थी। लेकिन जिस मायाविनी सुलह को लोग चाहते थे वह थी कहाँ, जबकि सरकार राष्ट्र को कुचलने में विजयिनी हो रही थी और अण्डमान मे लोग भूखो रह-रहकर अपनी जाने दे रहे थे? लेकिन मै जानता था, कि नतीजा कुछ भी हो, गाधी का यह तरीका रहा है कि वह हमेशा अपनी ओर से समझौते का पूरा मौका देते है।

दमन पूरे जोरो पर चल रहा था, और सार्वजनिक प्रवृत्तियो को दबानेवाले सारे विशेष कानून लागू थे। फरवरी १९३३ मे मेरे पिताजी की सालाना यादगार मे की जानेवाली एक सभा को पुलिस ने मना कर दिया, हालाँकि वह गैर-काँग्रेसी मीटिंग थी और उसका सभापतित्व करने वाले थे सर तेजबहादुर सप्रू जैसे सुप्रसिद्ध मॉडरेट। और मानो भविष्य में

मिलनेवाले उपाहारो की झाँकी हमे 'व्हाइट पेपर' में दी जा रही थी।

यह एक अनोखा 'पत्र' था, जिसको पढकर चकित रहा जान पडता था। इसके अनुसार हिन्दुस्तान एक वढी-चढी हिन्दुस्तानी रियासत वना दी जायगी, और 'सघ' मे देशी-राज्यो के प्रतिनिधियो का ही ज्यादा वोलवाला रहेगा लेकिन खुद रियासतों में कोई भी वाहरी हस्तक्षेप वरदाश्त न किया जायगा, और पूरी तरह से एकतन्त्री सत्ता वहाँ जारी रहेगी। साम्राज्य की असली कडियाँ, कर्जे की जजीरे, हमेशा लन्दन शहर के साथ वाँवे रहेगी, और एक रिजर्व वेंक के मार्फत मुद्रा की और आर्थिक नीति भी वेंक आफ इग्लैण्ड के नियन्त्रण में रहेगी। सव स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए अटूट दीवारे खडी हो जायेंगी, और भी नये स्थापित स्वार्थों की सृष्टि हो जायगी। इन स्थापित स्वार्थों के लाभ के लिए हमारी सारी की सारी राष्ट्रीय आय पूरी तरह से रहन रक्खी जायगी। हमे स्व-शासन की अगली किस्तो के योग्य वनाने के लिए साम्राज्य के ऊँचे पदो पर, जिनको हम इतना चाहते है, हमारा कोई नियन्त्रण न रहेगा, उन्हे हम छू भी न सकेगे। प्रान्तीय स्वाधीनता तो मिलेगी, लेकिन गवर्नर हमको व्यवस्था में रखनेवाला एक दयालु और सर्व-शक्तिमान डिक्टेटर रहेगा। और सवसे ऊपर रहेगा सवसे वडा डिक्टेटर वाइसराय, जिसे जो मन मे आवे सो करने और जिस वात को चाहे उसे रोकने की पूरी-पूरी सत्ता होगी। सच है, उपनिवेशों की हुकूमत के लिए अग्रेज शासक-वर्ग ने इतनी प्रतिभा का परिचय कभी नही दिया था। अव तो हिटलर और मुसोलिनी जैसे लोग उनकी भी खूव तारीफ कर सकते है, और हिन्दुस्तान के वाइसराय को भी हसरत की निगाह से देख सकते है।

ऐसा विधान उपजाकर भी, कि जिसमे हिन्दुस्तान के हाथ-पाँव अच्छी तरह से वाँध दिये गये थे, उसमे 'खास जिम्मेदारियाँ' और 'सरक्षण' के रूप में कुछ और जजीरें भी जोड दी गयी थी, जिससे कि यह अभागा राष्ट्र एक ऐसा कैदी हो गया कि जो जरा भी हिल-डुल न सके। जैसा कि श्री० नेवाई चेम्वरलेन ने कहा था, "उन्होने सारी

ताकत लगाकर योजना मे ऐसे सब 'सरक्षण' रख दिये थे जिनकी कल्पना मनुष्य के दिमाग मे आ सकती थी।"

इसके वाद, हमे यह भी वतलाया गया कि इन उपहारों के लिए हमे भारी खर्चा देना पड़ेगा—शुरू मे एकदम कुछ करोड़ और फिर सालाना रकम। हमें स्वराज का वरदान काफी रकम दिये विना कैसे मिल सकता था ? हम तो इस धोखे मे ही पडे हुए थे कि हिन्दुस्तान एक दरिद्र देश है और अव भी उसपर वहुत भारी बोझा रक्खा हुआ है, और उसे कम करने के लिए ही हम आजादी की तलाश मे थे। आजादी के लिए जनता इसी प्रेरणा से तैयार हुई थी। लेकिन अब मालूम हुआ कि वह बोझा तो और भी भारी होने को है।

हिन्दुस्तानी समस्या का यह अण्टशण्ट हाल हमें सच्ची अग्रेज़ों जैसी ही वज़ादारी के साथ दिया गया, और हमसे कहा गया कि हमारे शासक कितने उदार-हृदय है। किसी भी साम्राज्यवादी हुकूमत नें इससे पहले अपनी प्रजा के लिए अपनी खुशी से ऐसे अधिकार और अवसर नही दिये है। और इग्लैण्ड में इसके देनेवालो में और इसपर आपत्ति उठाने वालो मे, जो इस भारी उदारता से डर रहे थे, बडा भारी वादविवाद हुआ। तीन साल तक हिन्दुस्तान और इग्लैण्ड के वीच वारवार वहुत लोगो के आने और जाने का, तीन गोलमेज़-कान्फ्रेन्सो का, और अनगिनती कमिटियों और मशविरों का यह नतीजा हुआ !

मगर, इंग्लैण्ड की यात्राये तो अव भी खत्म नही हुई थी। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमिटी 'व्हाइट पेपर' पर फैसला देने के लिए वैठी हुई थी, और हिन्दुस्तानी उसमे असेसर या गवाह वनकर गये। लन्दन में और भी कई तरह की कमिटियाँ वैठ रही थी, और इन कमिटियो की मेम्वरी, जिसका अर्थ था इंग्लैण्ड जाने और साम्राज्य के हृदय (लन्दन) मे ठहरने का मुफ्त खर्चा मिलना, पाने के लिए भीतर ही भीतर वड़ी भद्दी छीना-झपटी हुई थी। वड़े-वड़े पराक्रमी लोगो ने, जिनके हौसले 'व्हाइट पेपर' की निराशापूर्ण तजवीज़ों से भी ठण्डे नही पडे थे, अपनी सारी वक्तृत्त्व-कला और लुभा लेने की शक्ति से 'व्हाइट

पेपर' की तजवीज़ो को बदलवाने की कोशिश करने के लिए, समुद्र-यात्रा या आकाश-यात्रा के सकंटो को और लन्दन शहर मे ठहरने के और भी ज्यादा जोखिमो को सहने के लिए कमर कस ली। वे जानते थे कि प्रयत्न मे कुछ दम तो दिखायी नही देता, लेकिन वे हिम्मत हारनेवाले नही, और चाहे उनकी कोई न सुने तो भी हम अपनी बात तो बरावर कहते ही रहेगे। उनमे से एक व्यक्ति, जो कि प्रति-सहयोगियों के एक नेता थे, सबके चले आने पर भी ठेठ अन्त तक टिके ही रहे, और शायद यह असर डालने के लिए कि वह क्या-क्या राजनैतिक परिवर्तन चाहते है, वह लन्दन के सत्ताधीशो से मुलाकात-पर-मुलाकात करते रहे, और उनके साथ दावत-पर-दावत उडाते रहे। और आखिरकार जव वह अपने देश मे लौटे तव प्रतीक्षा करनेवाले लोगो से उनसे कहा कि 'मराठो की सुप्रसिद्ध दृढता को कायम रखते हुए मैने अपना काम-धधा छोडा ही नही और बिलकुल अन्त तक भी अपनी बात कहलेने के लिए मै लन्दन मे डटा रहा।"

मुझे याद है कि मेरे पिताजी अक्सर शिकायत करते थे कि उनके प्रति-सहयोगी मित्रो मे मजाक का माद्दा नही है। अपनी कुछ विनोद-भरी बातो पर जो प्रति-सहयोगियो को बिलकुल पसन्द नही आती थी, उनका उनसे (प्रति-सहयोगियो से) अक्सर झगडा हो जाता था, और फिर उन्हे उनको समझाना पडता था और तसल्ली देनी पडती थी। यह बडा थका देने वाला काम था। मैंने सोचा कि मराठो मे लडने की कितनी बढिया स्पिरिट रही है, जो सिर्फ भूतकाल मे ही नही बल्कि वर्तमान मे भी हमारी राष्ट्रीय लडाइयो मे प्रकट हो रही है, और महान् निर्भीक तिलक की भी मुझे याद आती थी, जो टुकडे-टुकडे भले ही हो जायँ लेकिन झुकना न जानते थे।

लिबरल 'व्हाइट-पेपर' को बिलकुल नापसन्द करते थे। हिन्दुस्तान मे दिन-पर-दिन जो दमन हो रहा था उसे भी वे पसन्द नही करते थे, और कभी-कभी, हालाँकि बहुत कम बार, उन्होने इसका विरोध भी किया था; लेकिन साथ-साथ वे यह भी स्पष्ट कर देते थे कि वे कांग्रेस और

उसके सारे कार्य की भी निन्दा करते है। सरकार को मौके-बे-मौके वे यह भी सुझाते रहते थे कि वह अमुक काग्रेसी नेता को जेल से रिहा करदे। वे तो जिन-जिन व्यक्तियो को जानते थे उन्हीके विषय मे सोच सकते थे। लिबरलो और प्रति-सहयोगी लोगों की दलील यह होती थी कि चूँकि अब सार्वजनिक शान्ति के लिए कोई खतरा नही है इसलिए अब अमुक-अमुक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए और अगर फिर भी वह व्यक्ति अनुचित काम करे तो सरकार उसको गिरफ्तार कर ही सकती है, और फिर सरकार का उसे गिरफ्तार करना अधिक उचित माना जायगा। इग्लैण्ड मे भी कुछ भले लोग इसी दलील पर कार्य-समिति के कुछ मेम्बरो या खास व्यक्तियो की रिहाई की पैरवी करते थे। जब हम जेलो मे पडे हुए थे तब हमारे मामलो मे जिन्होने दिलचस्पी ली, उनके प्रति हम अहसानमन्द हुए बिना नही रह सकते। लेकिन कभी-कभी हमे यह भी महसूस होता था कि अगर इन भले आदमियों से हम बचे ही रहे तो अच्छा हो। उनकी सद्भावना मे हमे शक न था, लेकिन यह ज़ाहिर था कि उन्होने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा को ही ग्रहण कर रक्खा था और उनके और हमारे बीच बहुत चौड़ी खाई थी।

हिन्दुस्तान मे जो कुछ हो रहा था वह लिबरलो को ज्यादा पसन्द न था। उससे उन्हे दु ख होता था लेकिन फिर भी वे क्या कर सकते थे? सरकार के खिलाफ कोई भी कारगर कदम उठाने की तो वे कल्पना तक नही कर सकते थे। सिर्फ अपने समुदाय को अलग बनाये रखने के लिए उन्हे जनता से और कुछ काम करनेवाले लोगो से दूर-दूर ही हटना पडा, उन्हे नरम बनते-बनते इतना पीछे हटना पड़ा कि उनकी और सरकार की विचार-धारा में फर्क जानना मुश्किल हो गया। तादाद मे कम और जनता पर असर न होने के कारण, उनकी वजह से आम लडाई मे कोई फर्क न पड सका। मगर उनमे कुछ प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध लोग भी थे, जिनकी व्यक्तिगतरूप से इज्ज़त होती थी लेकिन इन्ही नेताओ ने, और लिबरल और प्रति-सहयोगी दलो नें भी सामूहिक रूप से सरकारी नीति को नैतिक समर्थन देकर एक कठिन संकट के समय मे

ब्रिटिश सरकार की अमूल्य सेवा की। प्रभावकारी आलोचनायें न होने और समय-समय पर लिबरलो के द्वारा उन्हे दी गई मान्यता और समर्थन से सरकार के दमन और अनीति को प्रोत्साहन मिला। इस तरह ऐसे समय में जबकि सरकार को अपने भीषण और अभूतपूर्व दमन को मुनासिब बताना मुश्किल मालूम हो रहा था, उसको लिबरलों और प्रति-सहयोगियो ने नैतिक बल दे दिया।

लिबरल नेतागण कहते थे कि 'व्हाइट-पेपर' खराब है—बहुत ही खराब है, लेकिन अब उसके लिए करे क्या? अप्रैल १९३३ मे कलकत्ता में लिबरल फेडरेशन का जो जलसा हुआ उसमे श्री० श्रीनिवास शास्त्री ने, जो कि लिबरलो के सबसे प्रमुख नेता है, समझाया कि वैधानिक-परिवर्तन कितने भी असन्तोष-जनक क्यो न हो, हमे उनको काम में लाना ही चाहिए। उन्होंने कहा कि "यह ऐसा वक्त नही है जबकि हम एक ओर खडे रहे और अपने सामने सब कुछ योही हो जाने दे।" ज़ाहिर है कि, उनके ख़याल में सिर्फ यही 'कार्य' आ सकता था कि जो कुछ भी मिले उसे ले लिया जाय और उसीको काम में लाया जाय। अगर यह न हो तो, दूसरा कार्य था चुपचाप बैठे रहना। आगे उन्होंने कहा—"अगर हममें समझदारी, अमुभव, नरमी, दूसरे को कायल करने और चुपचाप असर डालने की कुव्वत और असली कार्यदक्षता है, अगर हममे ये गुण है, तो उन्हे पुरी तरह दिखलाने का यही अवसर है।" इस वक्तृत्वपूर्ण अपील पर कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' की राय थी कि ये बडे "प्रभावपूर्ण शब्द" थे।

श्री० शास्त्री हमेशा शानदार भाषण देते है, और वक्ताओ की तरह सुन्दर शब्दों के और उनके सुरीले उपयोग का उन्हे शौक है। मगर वह अपने उत्साह मे बह भी जाते है, और शब्दों का जो मोहकजाल वह खड़ा करते है उससे उनका मतलब दूसरो के लिए और शायद ख़ुद उनके लिए भी धुँधला हो जाता है। उन्होंने अप्रैल १९३३ मे, कलकत्ता मे, सविनय भग के चालू रहते हुए, जो यह अपील की थी उसकी जरा जाँच करनी चाहिए। मौलिक सिद्धान्त और लक्ष्य की बात जाने भी दें, तो भी उसमे दो बाते ध्यान देने के क़ाबिल दिखायी देती है। पहली

बात तो यह कि कुछ भी क्यो न हो, ब्रिटिश सरकार के द्वारा हमारी कितनी भी तौहीन, दमन, अपमान, रक्त-शोषण क्यों न होता हो, हमे उसको सह लेना ही चाहिए । ऐसी कोई मर्यादा नही बनाई जा सकती जिसके बाहर हम हरगिज़ न जावे । एक जरा-सा कीड़ा भले ही एक बार मुकाबिला करने पर उतारू हो जाय, लेकिन श्री शास्त्री की सलाह पर चले तो हिन्दुस्तानी ऐसा कभी नही कर सकते । उनकी राय के मुताबिक इसके सिवा कोई रास्ता ही नही है । इसका मतलब यह है कि जहाँतक उनका ताल्लुक है, ब्रिटिश सरकार के फैसले के सामने झुक जाना और उसे मजूर कर लेना उनका धर्म (अगर मै इस अभागे शब्द का प्रयोग कर सकूँ) हो गया है । और यही हमारी प्रारब्ध है—किस्मत है, जिसे हम चाहे या न चाहे, हमे मान लेना ही चाहिए ।

यह गौर करने की बात है कि वह किसी निश्चित और जानी हुई परिस्थिति पर अपनी राय नही दे रहे थे । 'वैधानिक परिवर्तन' तो अभी बन ही रहे थे, हालाँकि सबको यह अस्पष्ट मालूम था कि वे बहुत बुरे होगे । अगर उन्होने यह कहा होता कि, "हालाँकि 'व्हाइट-पेपर की तजवीज़े' खराब है, लेकिन सारी परिस्थिति को देखते हुए अगर इन्हीको कानून का रूप दे दिया जाय तो मै उनको काम मे लाने के हक मे हूँ," तो उनकी सलाह चाहे अच्छी होती या बुरी, पर मौजूदा घटनाओ से सबद्ध तो होती । लेकिन श्री० शास्त्री तो बहुत आगे बढ गये और उन्होंने कहा कि आनेवाले वैधानिक परिवर्तन चाहे कितने भी असन्तोप-जनक हों, फिर भी मेरी सलाह तो यही रहेगी । राष्ट्र की दृष्टि मे जो सबसे ज्यादा महत्त्व की बात थी, उसके बारे मे वह ब्रिटिश सरकार को बिलकुल कोरा चेक देने को तैयार थे । मेरे लिए यह समझना जरा मुश्किल है कि कोई भी व्यक्ति या पार्टी या दल जबतक कि वह किसी भी उसूल या नैतिकता या राजनैतिक आदर्श से बिलकुल खाली न हो और शासकों के फरमानों की हमेशा ताबेदारी करना ही उसका ध्येय और नीति न हो, तबतक वह अज्ञात भविष्य के लिए कोई वचन कैसे दे सकता है ?

दूसरी जिस बात की तरफ मेरा ध्यान जाता है, वह है शुद्ध युक्ति-कौशल की। नये सुधारो के कानून बनने की लम्बी मजिल मे 'व्हाइट-पेपर' तो सिर्फ एक सीढी ही थी। सरकार की निगाह मे वह एक जरूरी सीढी थी, लेकिन अभी तो कई सीढियाँ बाकी थी, और मजिले-मकसूद तक जाते-जाते सभव था उसमे आगे, अच्छी या बुरी, कई तबदीलियाँ हो जाती। इन तबदीलियो का आधार स्पष्ट ही यह था कि ब्रिटिश सरकार और पार्लमेण्ट पर भिन्न-भिन्न स्वार्थ अपना कितना-कितना दबाव डाल सकते थे। इस रस्साकशी मे यह समझा जा सकता था कि हिन्दुस्तान के लिबरलो को अपनी तरफ मिलाने की इच्छा से सरकार पर कुछ असर पडता और उससे वह योजनाओ को जरा और उदार बनाती या कम-से-कम उसमें कोई कमी तो न करती। लेकिन नये सुधारो की मजूरी या नामजूरी, या उन्हे काम मे लाने या न लाने का सवाल उठने से बहुत पहले ही श्री शास्त्री की जोरदार घोषणा ने सरकार को यह साफ बता दिया कि उसे हिन्दुस्तान के लिबरलो की परवा नही करनी चाहिए। अब उन्हे अपनी तरफ मिलाने का सवाल ही नही रहा। चाहे उन्हे धक्का देकर भी बाहर निकाल दिया जाय, तो भी वे सरकार का साथ न छोडेंगे। इस मामले मे, भरसक लिबरल दृष्टिकोण से ही विचार करने पर भी, मुझे तो यही मालूम होता है कि श्री० शास्त्री का कलकत्तेवाला भाषण अत्यन्त भद्दे युक्ति-कौशल का परिचायक और लिबरल-पक्ष के हितो के लिए हानिकर था।

मैने श्री० शास्त्री के पुराने भाषण पर इस कारण इतना ज्यादा लिखने की धृष्टता नही की है कि वह भाषण या लिबरल फेडरेशन का जलसा असल मे कोई महत्व रखते थे, लेकिन इसलिए कि मै समझना चाहता हूँ कि लिबरल नेताओं की मनोवृत्ति और विचार कैसे है। वे सुयोग्य और आदरणीय लोग है, फिर भी (उनके लिए जितना भी सद्भाव हो सकता है उनके होते हुए भी) मै यह नही समझ पाया हूँ कि वे ऐसे काम क्यो करते है। श्री० शास्त्री के एक और भाषण का भी, जिसे मैने जेल मे पढा था, मुझपर बहुत बुरा असर पडा। यह भाषण उन्होने

जून १९३३ मे पूना मे भारत-सेवक-समिति के जलसे पर दिया था। कहा जाता है कि उन्होंने बतलाया कि अगर हिन्दुस्तान से अचानक अँग्रेजी प्रभाव हट जाय, तो यह खतरा हो सकता है कि राजनैतिक हलचलो की एक पार्टी दूसरी पार्टी के प्रति तीव्र घृणा रक्खे, उसे सतावे और उसपर जुल्म करे। लेकिन इसके खिलाफ ब्रिटिश राजनैतिक जीवन मे हमेशा सहिष्णुता की खासियत रही है, इसलिए हिन्दुस्तान का भविष्य ब्रिटेन के साथ-साथ रहते हुए जितना बन सकेगा, उतनी ही ज्यादा हिन्दुस्तान मे सहिष्णुता जारी रहने की सम्भावना रहेगी। जेल में रहने के कारण श्री० शास्त्री के भापण का जो सक्षिप्त हाल कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' द्वारा मिला है मुझे तो उसीको मानना पडता है। 'स्टेट्समैन' ने उसपर आगे लिखा है, कि 'यह सुन्दर सिद्धान्त है, और हम देखते हैं कि डाक्टर मुंजे के भाषणो मे भी यही भाव रहा है।' कहा जाता है कि श्री० शास्त्री ने वताया कि रूस, इटली और जर्मनी मे भी स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, और वहाँ वड़ी अमानुपिकता और जगलीपन से काम लिया जाता है।

जव मैंने यह हाल पढा तो मुझे ध्यान आया कि ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के सम्वन्ध मे ब्रिटेन के 'कट्टर' अनुदार व्यक्ति से श्री० शास्त्री का दृष्टिकोण कितना मिलता-जुलता है। दोनों मे तफसील के वारे मे वेशक फर्क है, लेकिन मूलत विचार-धारा एक ही है। श्री० विन्स्टन चर्चिल भी, अपने विश्वासो के साथ किसी किस्म की ज्यादती न करते हुए ठीक ऐसी ही भापा मे अपने विचार प्रकट कर सकते थे। फिर भी, श्री० शास्त्री लिवरल-पार्टी मे उग्र विचार के समझे जाते है, और उसके सवसे ज्यादा-योग्य नेता है।

श्री० शास्त्री के इतिहास के अध्ययन या ससार के प्रश्नो पर उनकी राय से मै सहमत नही हूँ, खासकर ब्रिटेन और हिन्दुस्तान-विपयक उनकी सम्मति को मानने मे मै विलकुल असमर्थ हूँ। शायद कोई विदेशी भी, अगर वह अग्रेज नही है, तो उससे सहमत न होगा। और शायद उन्नत विचारों के कई अग्रेज भी उनकी राय को न मानेंगे। अग्रेजी

शासकों के रंगीन चश्मों से दुनिया और अपने देश को देखना, उन्हे एक वरदान है। फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि पिछले अठारह महीनो से जो गैर-मामूली घटनाये हिन्दुस्तान में रोजाना हो रही थी और जो उसके भाषण के वक्त भी हो रही थी उनका उन्होने इसमे ज़िक्र तक नही किया। उन्होने रूस, इटली, जर्मनी का नाम तो लिया, लेकिन उनके देश मे ही जो भयकर दमन और स्वतन्त्रता का दलन हो रहा था उसको वह एकदम नज़रअन्दाज़ कर गये। मुमकिन है उन्हे वे सारे खौफनाक वाक-यात न मालूम हो जो सीमा-प्रान्त मे हुए थे और बगाल मे हुए थे—जिनको राजेन्द्र बाबू ने हाल मे काग्रेस के अपने अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण में 'बग-भूमि पर बलात्कार' कहा है—क्योकि सेन्सर के घने परदे ने सब घटनाओ को छिपा रक्खा था। लेकिन क्या उन्हे भारत-भूमि का दु ख और ज़बरदस्त मुखालिफ के मुकाबिले मे हिन्दुस्तान के लोग जो जीवन और स्वतन्त्रता की लडाई लड रहे थे वह भी याद न रही ? क्या उन्हें पुलिस-राज का, जो बडे-बडे हिस्सो में छाया हुआ था, फौजी कानून जैसी परिस्थिति का, आर्डिनेन्सो, भूख-हडतालो और जेल के दूसरे कष्टो का हाल मालूम न था ? क्या वह यह महसूस नही करते थे कि जिस सहिष्णुता और स्वतन्त्रता के लिए वह ब्रिटेन की तारीफ करते थे, उसीको ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान में कुचल डाला है ?

वह काग्रेस से सहमत थे या नही, इसकी चिन्ता नही। उन्हे काग्रेस की नीति की समालोचना और निन्दा करने का पूरा अख्तियार था। लेकिन एक हिन्दुस्तानी के नाते, एक स्वाधीनता-प्रेमी के नाते, एक भावुक व्यक्ति के नाते, उनके देशवासी स्त्री और पुरुष जो अद्भुत साहस और बलिदान दिखा रहे थे, उसके प्रति उनके क्या विचार थे ? जब हमारे शासक हिन्दुस्तान के कलेजे पर छुरी चला रहे थे, तब क्या उन्हे वेदना और कष्ट नही मालूम होता था ? हज़ारों आदमी एक मगरूर साम्राज्य की पाशविक शक्ति के सामने झुकने से इन्कार कर रहे थे, और अपनी आत्मा को झुकाने के बदले अपने शरीरो का कुचला जाना, अपने घर-बार का बरबाद हो जाना, और प्यारो का कष्ट उठाना ज्यादा पसन्द कर

रहे थे। क्या वह इसका महत्व कुछ भी नही समझते थे? हम जेलो मे और बाहर हिम्मत रक्खे हुए थे, हम हँसते थे और खुश थे, लेकिन हमारी प्रसन्नता तो आँसुओ मे निकलती थी और हमारा हँसना कभी-कभी रोने के बराबर था।

एक बहादुर और उदार अग्रेज श्री० वेरियर एलविन हमे बताते है कि उनके दिल पर इसका क्या असर हुआ। १९३० के बारे मे वह कहते है कि "वह एक अद्भुत दृश्य था जब सारा राष्ट्र गुलामी के दिमागी बन्धनो को दूर कर रहा था, और अपनी सच्ची शान से निडर निश्चय प्रकट करता हुआ उठ रहा था।" और फिर "सत्याग्रह की लड़ाई मे ज्यादातर काग्रेसी स्वय-सेवको ने आश्चर्यजनक अनुशासन बताया था, ऐसा अनुशासन कि जिसकी एक प्रान्तीय गवर्नर ने भी उदारता के साथ तारीफ की है.........।"

श्री० श्रीनिवास शास्त्री एक योग्य और सहृदय आदमी है। उनकी देश मे बड़ी इज्जत है, और यह नामुकिन मालूम होता है कि ऐसी लडाई मे उनके भी ऐसे ही विचार न हो और उन्हे भी अपने देशवासियो से सहानुभूति न हो। उनसे यह उम्मीद हो सकती थी कि वह सरकार द्वारा सब तरह की नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक प्रवृत्तियों के दमन की निन्दा मे अपनी अवाज उठाते। उनसे यह भी उम्मीद हो सकती थी कि वह और उनके साथी सबसे ज्यादा दबाये हुए प्रान्तों—बगाल और सीमा-प्रान्त—मे खुद जाते, इसलिए नहीं कि किसी भी तरह काँग्रेस या सविनय-भग मे मदद दे, बल्कि अधिकारियो और पुलिस की ज्याद-तियो को जाहिर करने और इस तरह उन्हे रोकने के लिए। दूसरे देशों मे आजादी और नागरिक स्वतन्त्रता के प्रेमी अक्सर ऐसा करते है। लेकिन, ऐसा करने के बजाय, सरकार जब हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुषों को पैरोतले रौद रही थी, और जब उसने रोजमर्रा की आजादी को भी कुचल दिया था, तब उसको रोकने के बजाय, और क्या घटनायें हो रही है, कम-से-कम यही तलाश करने के बजाय, उन्होने ठीक ऐसे वक्त मे अग्रेजो को सहिष्णुता और आजादी के प्रमाण-पत्र दे देना पसन्द किया

जबकि हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ी शासन में ये दोनो गुण बिलकुल ही नही रह गये थे। उन्होने सरकार को अपना नैतिक सहारा दे दिया, और दमन के कार्य मे उनका हौसला बढाया और प्रोत्साहन दिया।

मुझे पूरा यकीन है कि उनका यह तात्पर्य नही रहा होगा, या उन्हे यह ख़याल नही रहा होगा कि इसका क्या परिणाम हो सकता है। मगर उनके भाषण का यही असर हुआ होगा, इसमे तो शक नही हो सकता। तो, इस तरह उन्हें विचार और कार्य क्यो करना चाहिए था?

मुझे इस सवाल का ठीक जवाब सिवा इसके और नही मिला है कि लिबरल नेताओ ने अपने-आपको अपने देशवासियो और समस्त आधुनिक विचारो से बिलकुल दूर कर लिया है। जिन पुराने ढँग की किताबो को वे पढते है, उन्होंने उनकी निगाह से हिन्दुस्तान की जनता को ओझल कर दिया है और उनमें एक तरह से अपनी ही खूबियो पर मरने की आदत पैदा हो गई है। हम लोग जेलों में गये और हमारे शरीर कोठरियो में बन्द रहे, लेकिन हमारे दिमाग आजाद फिरते थे और हमारा हौसला दबा नही था। लेकिन उन्होंने तो अपने ढँग का दिमागी कैदखाना खुद ही बना लिया था, जहाँ वे अन्दर-ही-अन्दर चक्कर काटा करते थे और उससे निकल नही सकते थे। वे 'मौजूदा हालात' के ही ईश्वर की पूजा करते थे; और जब हालात बदल गये, जैसाकि इस परिवर्तनशील दुनिया में होता ही रहता है, तो उनके पास न पतवार रहा न कम्पास; दिमाग और जिस्म दोनो ही बेकार हो गये, न उनके पास आदर्श रहे न नैतिक नाप। इन्सान को या तो आगे जाना पडेगा या पीछे हटना पड़ेगा। हम इस गतिशील ससार मे एक ही जगह खडे नही रह सकते। परिवर्तन और प्रगति से डरने के कारण, लिबरल अपने आस-पास के तूफानो को देखकर भयभीत हो गये; हाथ-पैरों से कमज़ोर होने के कारण आगे न बढ सके; और इसलिए वे लहरो मे इधर-उधर उछलते रहे, और जो भी तिनका उन्हे मिल जाता था उसीका सहारा लेने की वे कोशिश करते रहे। वे हिन्दुस्तान की राजनीति के हैमलेट बन गये, 'तरह-तरह के विचारों की चिन्ता से पीले और बीमार-से पड

गये; हमेशा सन्देह, हिचकिचाहट और अनिश्चय मे पडे रहे।

ओ ईर्ष्यारत दुष्ट! मेल का समय कहाँ अब;
लगा सदा मै रहा ठीक ही करने मे सब![1]

'सर्वेण्ट आफ इण्डिया' नामक एक लिबरल अखबार ने सविनय भग-आन्दोलन के बाद के दिनों मे काँग्रेसी लोगो पर यह आरोप लगाया था कि वे पहले तो जेल जाना चाहते है, और जब वहाँ पहुँच जाते है तब फिर बाहर आना चाहते है। उसने कुछ चिढते हुए कहा था कि एकमात्र यही काँग्रेस की नीति है। स्पष्ट ही इनके बदले मे लिबरलों का रास्ता होता ब्रिटिश मन्त्रियो की सेवा मे इग्लैण्ड डेप्यूटेशन भेजना, या इग्लैण्ड मे शासक-दलो के परिवर्तन का इन्तजार करना और उनके लिए दुआये माँगना।

किसी हद तक यह सच था कि उन दिनो काँग्रेस की नीति खासकर यही थी कि आर्डिनेन्स और दूसरे दमनकारी कानूनो को तोडा जाय, और इसकी सजा जेल थी। यह भी सच था कि काँग्रेस और राष्ट्र, लम्बी लडाई के बाद थक गये थे, और सरकार पर कोई कारगर दबाव नही डाल सकते थे। लेकिन हमारे सामने एक व्यवहारिक और नैतिक दृष्टि थी।

नगा बल-प्रयोग, जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा था, शासकों के लिए बडा खर्चीला मामला होता है। उनके लिए भी यह एक दुख-दाई और घबरा देनेवाली अग्नि-परीक्षा होती है, और वे अच्छी तरह जानते है कि अन्त मे इससे उनकी नींव कमजोर पडजाती है। इससे

---

१ शेक्सपियर के 'हेमलेट' नाटक की मूल अंग्रेजी की इन पंक्तियों का यह अनुवाद है—

"The time is out of joint O cursed spite!
That ever I was born to set it right"

निरन्तर तर्कग्रस्त, कार्य में असमर्थ हैमलेट की मध्यम-मार्गियो से तुलना की गई है। स्वयं हेमलेट कहता है कि—मुझ जैसे कुकर्मी को सुधारने में इसे कैसे सफलता मिली? —अनु०

जानता के सामने और सारी दुनिया के सामने उनकी हुकूमत का असली रूप हमेशा प्रकट होता रहता है। इसके वनिस्वत वह यह वहुत ज्यादा पसन्द करते है कि आपने फौलादी पजे को छिपाने के लिए हाथ पर मख-मली दस्ताना पहने रहे। जो लोग सरकार की इच्छाओ के सामने झुकना नही चाहते, फिर चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो, उनसे मुका-बिला करने से बढकर रोषोत्पादक और अन्त मे हानिकर वात किसी भी शासन के लिए दूसरी नही है। इसलिए दमनकारी कानूनों का कभी-कभी भग होता रहना भी एक महत्त्व रखता था। उससे जनता की ताकत बढती थी, और सरकार के नैतिक वल की बुनियाद ढहती थी।

नैतिक दृष्टि तो इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी। एक प्रसिद्ध स्थान पर 'थोरो' ने लिखा है कि, ' ऐसे समय में जवकि स्त्री और पुरुष अन्याय-पूर्वक जेल में डाले जाते हो, न्यायी स्त्री-पुरुषो का स्थान भी जेल मे ही है।" यह सलाह शायद लिबरल और दूसरे लोगो को न जँचे, लेकिन हममे से कई लोग ऐसा महसूस करते है कि मौजूदा हालत मे, जव कि सविनय भग के अलावा भी हमारे कई साथी हमेशा जेल मे रक्खे जाते है, और जबकि सरकार का दमन-यन्त्र निरन्तर हमारा दमन और हमारी बेइज्जती कर रहा है और हमारे लोगो के शोषण मे मदद दे रहा है, तब किसीके लिए नैतिक जीवन विताना सम्भव नही है। अपने ही देश मे हम सदिग्ध की भाँति आते जाते हैं। हम पर निगरानी रक्खी जाती है और हमारा पीछा किया जाता है। हमारे शब्दों को नोट किया जाता है कि वे कही राजद्रोह के व्यापक कानून को तोडते तो नही है, हमारी खतो-किताबत खोली और पढी जाती है, और हमेशा यह सम्भावना वनी रहती है कि सरकार हम पर किसी तरह की मुमानियत लगा देगी या हमे गिरफ्तार कर लेगी। ऐसी हालत मे हमारे सामने दो ही रास्ते है—या तो सरकारी ताकत के आगे हमारे सर बिलकुल झुक जायँ, हमारा आत्मिक पतन हो जाय, हमारे अन्दर जो सचाई है उसकी उपेक्षा करदी जाय, और जिन प्रयोजनो को हम बुरा समझते है उनके लिए हमरा नैतिक दुरुपयोग हो, या फिर उसका मुकाबिला किया जाय, और

उसका जो कुछ नतीजा हो वह बरदाश्त किया जाय। कोई भी शख्स यो ही जेल जाना या मुसीबत बुलाना नही चाहता। मगर, अक्सर, दूसरे रास्तो की बनिस्बत जेल जाना ही ज्यादा अच्छा होता है। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने लिखा है, "जीवन मे असली दु ख की बात सिर्फ यही है कि जिन उद्देश्यो को तुम निंदनीय समझते हो उन्हीके लिए स्वार्थी लोगों द्वारा तुम्हारा उपयोग हो। इसके सिवा और जो कुछ है वह तो सिर्फ बदकिस्मती या मृत्यु है, और एकमात्र यही तो मुसीबत, गुलामी और दुनिया का नरक है।"

: ४६ :

लम्बी सज़ा का अन्त

मेरी रिहाई का वक्त नजदीक आ रहा था। मुझे 'नेकचलनी' की साधारणत जितनी छूट मिला करती है, मिली थी, और इससे मेरी दो साल की मियाद मे से साढे तीन महीने कम हो गये थे। मेरी मानसिक शान्ति या सच कहो तो जेल-जीवन से जो मानसिक जडता पैदा हो जाती है उसमे रिहाई का खयाल खलल डाल रहा था। बाहर जाकर मुझे क्या करना चाहिए ? यह एक मुश्किल सवाल था, और इसके जवाब की हिचकिचाहट ने बाहर जाने की मेरी खुशी कम करदी। लेकिन वह भी एक क्षणिक भाव था, और मेरी लम्बे अर्से से दबी हुई क्रियाशीलता फिर उमडने लगी और मै बाहर निकलने को उत्सुक हो गया।

जुलाई १९३३ के अन्त मे एक बहुत ही दर्दनाक और बेचैनी पैदा-करनेवाली खबर मिली—जे० एम० सेनगुप्त की अचानक मृत्यु होगई। हम दोनो कई साल के कार्य-समिति मे सिर्फ गहरे साथी ही नही थे, उनसे मेरा सम्बन्ध मेरे केम्ब्रिज मे पढने के शुरू के दिनो से ही से था। दोनो सबसे पहले केम्ब्रिज मे ही मिले थे—मै तो नया दाखिल हुआ था और उन्होने उसी समय अपनी डिग्री पाई थी।

सेनगुप्त का देहान्त उनकी नजरबन्दी की हालत मे हुआ। १९३२ के शुरू मे जब वह यूरप से लौटे थे, तो बम्बई मे जहाज पर ही वह शाही कैदी बना लिये गये थे। तभी से वह कैदी या नजरबन्द रहे, और उनकी तन्दुरुस्ती खराब हो गई। सरकार ने उन्हे कई तरह की सहूलियते दी लेकिन वह बीमारी की रफ्तार को न रोक सकी। कलकत्ता मे उनकी अन्त्येष्टि के समय जनता ने खूब प्रदर्शन किया और उनके प्रति सम्मान प्रकट किया, ऐसा दिखाई देता था कि बगाल की लम्बे अर्से से रुकी और कष्ट पाती हुई आत्मा को कम-से-कम थोडी देर के लिए प्रकट होने को मार्ग मिल गया है।

इस तरह सेनगुप्त तो चल बसे। दूसरे शाही कैदी सुभाष बोस को

जिनकी तन्दुरुस्ती भी वरसों नजरवन्दी और कैद से वर्वाद हो गई थी, आखिरकार सरकार ने इलाज के लिए यूरप जाने की इजाजत दे दी। विट्ठलभाई पटेल भी यूरप मे रोग-शय्या पर थे। लेकिन और भी कितने ही लोग जेल-जीवन और वाहर की लगातार हलचलो की शारीरिक थकावट को वरदाश्त न कर सकने के कारण तन्दुरुस्ती खो वैठे थे, या मर चुके थे। और कितने लोगो के, हालाँकि ऊपर से उनमे वडी तब्दीली दिखाई न देती थी, दिमागों मे उस असाधारण जीवन के कारण जो उन्हे जेल मे विताना पडा था, गहरी मानसिक अव्यवस्था और विपमताये पैदा हो गई थीं।

सेनगुप्त की मृत्यु ने वहुत साफतौर पर मुझे दिखा दिया कि सारे देशभर मे कितना भयकर और मौन कष्ट-सहन हो रहा है, और मै निराश और उदास-सा हो गया। यह सब किसलिए हो रहा है? आखिर किसलिए?

अपनी तन्दुरुस्ती के वारे मे मै खुशकिस्मत था, और कॉग्रेस की प्रवृत्तियो की मेहनत और अनियमित जीवन के होते हुए भी मै कुल मिलाकर अच्छा ही रहा। मेरे खयाल से, इसका कुछ कारण तो यह था कि मुझे पैतृक सम्पत्ति के रूप मे ही अच्छा शरीर मिला था, और कुछ कारण यह भी था कि मैने अपने शरीर की सँभाल रक्खी थी। वीमारी और कमजोरी और ज्यादा मुटापा भी मुझे वहुत भद्दा मालूम पडा, और पर्याप्त कसरत, ताजा हवा और सावारण भोजन की मदद से मै उनसे वच सका। मेरा अपना तजुर्वा यह है कि हिन्दुस्तान के मध्यम वर्गों की वहुत-सी वीमारियाँ तो भारी भोजन से होती है। वे तरह-तरह के पक्वान्न और सो भी ज्यादा मिकदार मे खाते है। (यह वात उन्ही पर लागू होती है जिनकी ऐसी फजूलखर्च आदते रखने की हैसियत होती है।) लाड-प्यार करनेवाली मातायें वच्चो को मिठाइयाँ और दूसरी वढिया कही जानेवाली चीजे ज्यादा खिला-खिलाकर जिन्दगीभर के लिए उनकी वदहजमी की पक्की नीव डाल देती है। वच्चो पर कपड़े भी वहुत से लाद दिये जाते है। हिन्दुस्तान मे अंग्रेज लोग भी वहुत ज्यादा खाते-

है, हालांकि उनके खाने मे इतने पक्वान्न नही होते। शायद उन्होने पिछली पीढी से, जो गरम-गरम और तेज़ भोजन अधिक मात्रा मे किया करते थे उसमें, अब कुछ सुधार कर लिया है।

मैंने शौकिया चीज़े खाने की या भोजन-सम्बन्धी प्रयोग करने की तरफ कोई ध्यान नही दिया है, और सिर्फ ज्यादा मिकदार और पक्वान्नो से बचता रहा हूँ। करीब-करीब कभी कश्मीरी ब्राह्मणो की तरह हमारा परिवार भी माँसाहारी परिवार था, और बचपन से मै हमेशा मास खाता रहा था, हालांकि मुझे उसका बहुत शौक कभी नही रहा। पर १९२० में असहयोग के वक्त से मैने मास छोड दिया, और मै शाकाहारी बन गया। इसके छ साल बाद यूरप जानें पर मै फिर मास खाने लगा। मगर फिर हिन्दुस्तान आने पर मै शाकाहारी बन गया, और तब से मै बहुत-कुछ शाकाहारी ही रहा हूँ। मास-भोजन मुझे अच्छी तरह मुआफिक पडता है, लेकिन मुझे उससे अरुचि हो गई है, और तबीयत उसके खाने से कुछ कचवाती है।

मेरी बीमारियो के दौरान में, खासकर १९३२ में जेल में जबकि कई महीनो तक रोजाना मुझे हरारत होआया करती थी, मै बड़ा तग आगया था, क्योकि उससे मेरी अच्छी तन्दुरुस्ती के गर्व को ठेस पहुँचती थी। और मुझमें जीवन और शक्ति है इस अपनी सदा की धारणा के विरुद्ध, मै पहली ही बार सोचने लगा कि मेरी तन्दुरुस्ती धीरे-धीरे गिरती जा रही है और मै घुलता जा रहा हूँ, और इससे मै भयभीत हो गया। मेरा खयाल है कि मै मौत से खासतौर पर डरता नही हूँ। लेकिन शरीर और मस्तिष्क का धीरे-धीरे घुलते जाना तो दूसरी ही बात थी। मगर मेरा डर जरूरत से ज्यादा था और मै अपनी अस्वस्थता से छूटने और अपने शरीर को काबू में लाने में सफल हुआ। जाडे मे बड़ी देर तक धूप में बैठे रहने से मै फिर अपनेको तन्दुरुस्त महसूस करने लगा। जबकि जेल के मेरे साथी अपने कोटों और दुशालो मे लिपटे हुए काँपा करते थे, मै खुले बदन धूप मे बैठकर उसकी गरमी का आनन्द लिया करता था। ऐसा जाड़े के दिनो में सिर्फ उत्तर हिन्दु-

स्तान मे ही हो सकता था, क्योंकि दूसरी जगहो पर तो धूप अक्सर बहुत तेज़ होती है।

मेरी कसरतो मे मुझे खासकर शीर्षासन—दोनो हाथों की अँगुलियो को फँसाकर हथेलियो से सिर के पिछले हिस्सो को सहारा देकर कुहनियो को धरती पर टिकायें, बदन को सिर के बल उल्टा खडा रखना—बहुत पसन्द आता था। मेरी समझ मे शारीरिक दृष्टि से यह कसरत बड़ी अच्छी है, और मुझपर हुए उसके मानसिक प्रभाव के कारण भी मै उसे पसन्द करता था। इस कुछ-कुछ विनोदपूर्ण आसन से मेरी तबीयत खुश हो जाती, और मै जीवन की विचित्रताओं के प्रति ज्यादा सहनशील हो गया।

उदासी के आक्रमणों को, जो कि जेल-जीवन में लाजिमीतौर पर होते ही है, दूर करने मे मेरी आमतौर पर अच्छी तन्दुरुस्ती ने और तन्दुरुस्त होने की शारीरिक भावना ने मेरी बडी सहायता की। इनसे मुझे जेल की या वाहर की वदलती हुई हालतो के मुताविक अपने-आपको वना लेने मे भी मदद मिली। मेरे दिल को कई वार धक्के लगे है, जिनसे उस वक्त तो मै वहुत ही वेहाल हो जाता था, लेकिन मुझे ताज्जुव हुआ कि मै अपनी उम्मीद से भी जल्दी उनसे अच्छा हो जाता था। मेरी राय मे, मेरी मूलभूत शान्तता और स्वस्थता का एक सुवूत यह है कि मुझे कभी तेज सिर-दर्द नही हुआ और न मुझे कभी नीद न आने की शिकायत हुई। मै सभ्यता की इन आम वीमारियो से और आँख की कमजोरी से भी वच गया हूँ, हालाँकि मै पढ़ने और लिखने मे और कभी-कभी तो जेल की खराव रोशनी मे भी आँखो से वहुत ज्यादा काम लेता रहा। पिछले साल एक आँख के डाक्टर ने मेरी अच्छी दृष्टि-शक्ति पर वडा आश्चर्य प्रकट किया था। आठ साल पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि मुझे एक या दो साल मे ही चश्मा लगाना पड़ेगा। उसका कहना वहुत ग़लत निकला, और मै अव भी वगैर चश्मे के अच्छी तरह काम चला रहा हूँ। हालाँकि इन वातों से मै शान्त और स्वस्थ होने की नामवरी पा सकता हूँ, लेकिन मै यह भी कह देना

चाहता हूँ कि मै उन लोगो से वहुत खौफ खाता हूँ जो जव देखो तव हमेगा ही एक-से शान्त और गम्भीर वने रहते है और परिवर्तन नही होने देते।

जवकि मै जेल से अपनी रिहाई का इन्तजार कर रहा था, उस समय वाहर व्यक्तिगत सविनय-भग का नया स्वरूप शुरू हो रहा था। गावीजी ने इसमे मवसे पहले मिसाल पेश करने का फैसला किया, और अधिकारियो को पूरी तरह नोटिस देने के वाद वह १ अगस्त को गुजरात के किसानो मे सविनय भग का प्रचार करने के लिए रवाना हुए। वह फौरन गिरफ्तार कर लिये गये, उन्हे एक साल की सजा देदी गई और वह यरवदा की अपनी कोठरी मे फिर भेज दिये गये। मुझे खुशी हुई कि वह वापस वहाँ चले गये। लेकिन जल्दी ही एक नई पेचीदगी पैदा हो गई। गावीजी ने जेल से हरिजन-कार्य करने की वही सहूलियते माँगी जो उन्हे पहले मिली थी। सरकार ने उन्हे देने से इन्कार कर दिया। अचानक हमने मुना कि गावीजी ने फिर इसी वात पर उपवास शुरू कर दिया है। ऐसी जवर्दस्त कार्रवाई के लिए हमे वह वहुत ही छोटा कारण मालूम हुआ। उनके निर्णय के रहस्य को समझना मेरे लिए विलकुल नामुमकिन था, चाहे सरकार के सामने उनकी दलील विलकुल सही भी हो। मगर हम कुछ नही कर सकते थे। असमजस में पडे हुए हम देखते रहे।

उपवास के एक हफ्ते वाद उनकी हालत तेजी से गिरने लगी। वह एक अस्पताल मे पहुँचा दिये गये थे, लेकिन वह कैदी ही रहे और सरकार हरिजन-कार्य के लिए सहूलियते देने के मामले मे न झुकी। उन्होने जीवन की आगा (जोकि पिछले उपवासो मे कायम रही थी) छोड दी, और अपनी तन्दुरुस्ती को गिरने दिया। उनका अन्त नजदीक दीखने लगा। उन्होने लोगो से विदाई लेली, और अपनें पास पडी हुई अपनी थोडी-सी चीजों को भी इस-उसको वाँट देने का इन्तजाम कर दिया, जिनमे से कुछ नर्सो के लिए रही। लेकिन सरकार यह नही चाहती थी कि उनकी मौत की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले, इसलिए उसी शाम को

वह अचानक रिहा कर दिये गये। इससे वह मरते-मरते बच गये। एक दिन और हो जाता, तो फिर उनका बचना मुश्किल था। इस प्रकार उन्हे बचाने का बहुत कुछ श्रेय सम्भवत: श्री० सी० एफ० एण्ड्रयूज़ को है, जो गांधीजी के मना करने पर भी हिन्दुस्तान जल्दी से आगये थे।

इस बीच, २३ अगस्त को, मै देहरादून-जेल बदल दिया गया, और दूसरी जेलो मे करीब-करीब डेढ साल रहने के बाद फिर नैनी-जेल मे आ गया। ठीक उसी वक्त मेरी माताजी के अचानक बीमार हो जाने और अस्पताल ले जाये जाने की खबर मिली। ३० अगस्त १९३३ को मै नैनी से रिहा कर दिया गया, क्योकि मेरी माँ की हालत गम्भीर समझी गई। मामूली तौर पर मै अपनी मियाद खतम होने पर ज्यादा-से-ज्यादा १२ सितम्बर को रिहा हो जाता। इस तरह मुझे प्रान्तीय सरकार ने तेरह दिन की छूट और दे दी।

: ५० :

गांधीजी से मुलाक़ात

जेल से रिहा होते ही मै अपनी माँ की रोगशैया के पास लखनऊ पहुँचा और कुछ दिन उनके पास रहा। मै काफ़ी लम्बे अर्से के बाद जेल से बाहर निकला था और मुझे लगा कि मै आस-पास के हालात से बिलकुल अपरिचित और अलग-सा हो गया हूँ। मैने यह अनुभव किया और उससे मेरे दिल को कुछ धक्का भी लगा जैसा कि आमतौर पर होता है, कि जब मै जेल में पडा-पडा सड रहा था, तो दुनिया आगे चली जा रही थी और बदलती जा रही थी। बच्चे और लडकियाँ और लडके बडे होते जा रहे थे, शादियाँ, पैदाइशें और मौते हो रही थी। प्रेम और घृणा, काम और खेल, दु:ख और सुख सब हो रहे थे। जीवन मे दिलचस्पी पैदा करनेवाली नई-नई बाते हो गई थी, बातचीत के विषय नये हो गये थे, मै जो कुछ देखता और सुनता था, सब पर मुझे कुछ-न-कुछ आश्चर्य होता था। मुझे लगा कि मुझे एक खाडी मे छोडकर ज़िन्दगी का जहाज़ आगे बढ गया था। यह भावना कुछ सुखदायिनी नही थी। जल्दी ही इस स्थिति के मुआफिक मै अपने को बना सकता था, लेकिन ऐसा करने की मुझे प्रेरणा नही होती। मेरे दिल ने कहा कि 'जेल के बाहर सैर करने का तुम्हे यह थोडा-सा मौका मिला है और जल्दी ही फिर तुम्हे जेल मे जाना पडेगा', इसलिए जिस जगह से जल्दी ही चल देना है, उसके अनुकूल अपने को बनाने की झझट क्यो मोल ली जाय ?

राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान कुछ शान्त था। सार्वजनिक प्रवृत्तियों पर ज्यादातर सरकार ने नियन्त्रण और दमन कर रक्खा था और गिरफ्तारियाँ कभी-कभी हो जाया करती थी। मगर हिन्दुस्तान की उस वक्त की खामोशी बहुत महत्त्व रखती थी। वह वैसी ही अशुभ खामोशी थी जैसी कि भयकर दमन के अनुभव के बाद थक जाने से आ जाती है,

जो ख़ामोशी अक्सर प्रभाव के साथ बोलती है, लेकिन उसे दमन करनेवाली सरकार नही सुन सकती । सारा हिन्दुस्तान एक आदर्श पुलिस-राज्य बन गया था और शासन के सब कामो मे पुलिस-मनोवृत्ति व्याप्त हो गई थी । ज़ाहिरा तौर पर हर तरह की कार्रवाई, जो जरकार की इच्छा के मुआफिक न हो, दबा दी जाती थी और देशभर मे खुफिया और छिपे कारिन्दों की बडी भारी फौज फैली हुई थी । लोगों मे आमतौर पर पस्तहिम्मती आ गई थी और चारो ओर आतक छा गया था । कोई भी राजनैतिक प्रवृत्ति, खासकर देहाती हलको मे हो तो फौरन कुचल दी जाती थी और भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारे म्युनिसिपैलिटियो और लोकल बोर्डो मे से ढूंढ-ढूंढकर काग्रेसवालो को निकालने की कोशिश कर रही थी । हर शख्स जो सविनय कानून-भग करके जेल गया था, सरकार की राय मे म्युनिसिपल स्कूलो मे पढाने या म्युनिसिपैलिटी मे और भी कोई काम करने के अयोग्य था । म्युनिसिपैलिटियो आदि पर बडा भारी दबाव डाला गया और ये धमकियाँ दी गई कि अगर काग्रेसवाले निकाले न जायँगे तो सरकारी मदद बन्द कर दी जायगी । इस बल-प्रयोग की सब से बदनाम मिसाल कलकत्ता-कार्पोरेशन में हुई । आखिरकार मेरा खयाल है, सरकार ने एक कानून ही बना दिया कि कार्पोरेशन ऐसे व्यक्तियो को मुलाज़िम नही रख सकता जो राजनैतिक अपराधो में सज़ा पा चुके हों ।

जर्मनी मे नाजियों की ज्यादतियों की खबरो का हिन्दुस्तान के ब्रिटिश अफसरो और उनके अखबारो पर एक विचित्र प्रभाव पडा । उन्हे उन ज्यादतियो से हिन्दुस्तान में उन्होने जो कुछ किया था, उस सबको उचित बताने का कारण मिल गया और उन्होने मानो अपनी इस भलाई के अभिमान के साथ हमे बताया, कि अगर यहाँ नाज़ियो की हुकूमत होती तो हमारा हाल कितना ज्यादा खराब हुआ होता । नाज़ियो ने तो बिलकुल नये पैमाने कायम कर दिये है, उन्होने नई व्यवस्था ही लिख डाली है और उनका मुकाबिला करना निश्चय ही आसान नही था । सम्भव है कि हमारा हाल ज्यादा खराब हुआ होता; लेकिन इसका

निर्णय करना मेरे लिए मुश्किल है, क्योंकि पिछले पाँच वर्षों में हिन्दुस्तान मे क्या-क्या हुआ, इसके सारे वाकयात मेरे पास नही है। हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार ऐसे पुण्य में विश्वास रखती है कि बायें हाथ से जो काम किया जाय उसका पता दाहिने हाथ को भी न लगना चाहिए, और इसलिए उसने निष्पक्ष जाँच कराने की हर तजवीज़ को नामजूर कर दिया, हालाँकि ऐसी जाँचो का पलडा हमेशा सरकारी पक्ष की तरफ झुका रहता है। मेरे खयाल से, यही सच है कि औसत अंग्रेज़ बे-रहमी से नफरत करता है और मैं ऐसे अंग्रेजो की कल्पना नही कर सकता, जो नाज़ियो की तरह से "ब्रूतैलितात" (पशुता या बेरहमी) लफ्ज़ को खुलेतौर पर कहने और उसे प्रेम से दोहराने मे शान मानते हो। जब वे ऐसा काम कर भी डालते है, तो उससे कुछ-कुछ शर्मिन्दा भी होते है। लेकिन चाहे हम जर्मन हो या अंग्रेज़ हो या हिन्दुस्तानी हो, मेरा खयाल है कि सभ्यतापूर्ण व्यवहार का हमारा खोल इतना पतला है कि जब हमें रोष चढ आता है तो वह खुरचकर निकल जाता है और उसके भीतर से हमारा वह स्वरूप प्रकट होता है जिसे देखना अच्छा नही लगता। महायुद्ध ने मनुष्यजाति को भयकर रूप से पाशविक बना दिया है, और उसके बाद ही हमने यह दृश्य देखा कि सन्धि हो जाने के बाद भी जर्मनी का भयकर घेरा डाला जाकर उसे भूखो मारा गया। एक अंग्रेज़ लेखक ने लिखा है कि "यह एक सबसे अधिक निरर्थक, पाशविक और घृणित जुल्म था, जैसा कि शायद ही किसी राष्ट्र ने कभी किया हो।" १८५७ और १८५८ के वाकयात हिन्दुस्तान भूला नही है। जब हमारे स्वार्थ खतरे मे पड जाते है, तब हम अपने सारे समाज-व्यवहार और सारी शराफत को भूल जाते है और झूठ ही 'प्रचार' का रूप धारण कर लेता है, पशुता ही 'वैज्ञानिक दमन' और 'कानून और व्यवस्था की साधना बन जाती है।

यह किन्ही व्यक्तियों या किसी खास जाति का दोष नही है। वैसी ही परिस्थितियों मे थोडा-बहुत हर कोई वैसा ही बर्ताव करता है। हिन्दुस्तान में, और विदेशी हुकूमत के मातहत हर मुल्क में, हुकूमत

करनेवाली शक्ति के खिलाफ हमेशा एक सुप्त चुनौती खडी रहती है और समय-समय पर वह ज्यादा प्रकट और तेज़ भी होती रहती है। इस चुनौती से शासकवर्ग मे हमेशा फौजी गुण और दोष पैदा हो जाया करते है। पिछले कुछ सालो मे हिन्दुस्तान मे हमे इन फौजी गुण-दोषो का दृश्य बहुत ही ज्यादा अश मे देखने को मिला, क्योकि हमारी चुनौती जोरदार और कारगर हो गयी थी। लेकिन हिन्दुस्तान मे हमे तो हमेशा ही फौजी मनोवृति (या उसके अभाव) को सहन करना पडता है। साम्राज्य की स्थापना का यह एक नतीजा है और इससे दोनो पक्षो का पतन होता है। हिन्दुस्तान का पतन तो साफ दीखता ही है, लेकिन दूसरे पक्ष का ज्यादा सूक्ष्म है; सकट-काल मे वह प्रकट हो जाता है। और एक तीसरा पक्ष भी है, जिसे बदकिस्मती से दोनो तरह का पतन भोगना पडता है।

जेल मे मुझे ऊँचे-ऊँचे अफसरो के भाषण, असेम्बली और कौंसिलो मे उनके जवाब और सरकारी बयान पढने की काफी फुरसत मिली। पिछले तीन सालो मे, मैने देखा कि उनमे एक स्पष्ट तबदीली हो रही है, और यह तबदीली अधिक-अधिक प्रकट होती गयी है। उसमे डराने और धमकाने का रुख ज्यादा-ज्यादा बढता गया है और वह रुख ऐसा हो गया था मानो कोई सार्जेण्ट-मेजर अपने मातहतो से बोल रहा हो। इसकी एक ध्यान देने योग्य मिसाल थी, नवम्बर या दिसम्बर १९३३ मे, शायद बगाल के मिदनापुर डिवीजन के कमिश्नर का भाषण। इन सारे भाषणो मे "पराजितो का सत्यानाश हो! हम विजयी है, हम जो चाहे वह करेगे" की भावना लगातार रहती थी। गैर-सरकारी यूरोपियन तो, खासकर बगाल मे, सरकारी लोगो से भी आगे बढ जाते है और उनके भाषणो और कार्यों दोनो मे उन्होने बहुत निश्चित फेसिस्ट मनोवृत्ति दिखलाई है।

इसके भी अलावा, पाशविकता की एक और नगी मिसाल थी, हाल मे ही सिन्ध मे कुछ अपराधी पाये गये व्यक्तियों को खुली फाँसी देना। क्योकि सिन्ध मे जुर्म बढ रहे थे, इसलिए अधिकारियो ने तय किया कि

इन मुजरिमो को सबके सामने फाँसी दी जाय, ताकि दूसरो पर भी इसका आतक छा जाय। इस भयकर दृश्य को आकर देखने के लिए पब्लिक को हर तरह की सहूलियत दी गयी और कहा जाता है कि कई हजार लोग गये भी थे।

तो जेल से रिहा होने के बाद, मैंने हिन्दुस्तान की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियो का अध्ययन किया और मुझे उन्हे देखकर जरा भी उत्साह मालूम न हुआ। मेरे कई साथी जेल मे थे, नई गिरफ्तारियाँ जारी थी, सारे आर्डिनेन्स अमल मे आ रहे थे, सेन्सर-शिप से अखबारो का गला घुटा हुआ था और हमारे पत्रव्यवहार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी। मेरे एक साथी रफी अहमद किदवई को अपने पत्रों पर वाहियात हस्तक्षेप होने के कारण बड़ा गुस्सा आया। उनके खत रोक लिये जाते थे या देर से आते थे या गुम हो जाते थे और इससे उनके काम-काज मे वडी रुकावट हो जाती थी। वह अपने पत्रो के बारे मे ज्यादा एहतियात से काम लेने की अपील सेन्सर से करना चाहते थे, लेकिन वह लिखते किसको ? सेन्सर करनेवाला कोई सार्वजनिक अधिकारी नही था। शायद वह कोई सी० आई० डी० अफसर था, जो अपना काम गुप्तरूप से करता था, जिसका कि अस्तित्व और कार्य प्रकट रूप से मजूर भी नही किया गया था। रफीअहमद ने इस मुश्किल को इस तरह हल किया कि उन्होंनें सेन्सर के नाम एक खत लिखा, लेकिन उस पर खुद अपना पता लिखकर डाल दिया। निश्चय ही खत अपनें ठीक मुकाम पर पहुँच गया और बाद में रफी अहमद के पत्र-व्यवहार के बारे मे कुछ सुधार हो गया।

मैं फिर वापस जेल जाना नही चाहता था। उससे मेरा पेट काफी भर गया था, लेकिन मुझे नही सूझता था कि मैं उससे कैसे बच सकता था, जब तक कि मै सब तरह की राजनैतिक प्रवृत्ति ही न छोड दूं। मेरा यह इरादा न था, इसलिए मुझे लगा कि मुझे सरकार के सघर्ष मे आना ही पडेगा। किसी वक्त भी मुझको ऐसा हुक्म मिल सकता था कि मैं कोई खास काम न करूँ, और मेरी सारी प्रकृति किसी खास काम के

लिए मजबूर किये जाने के खिलाफ बगावत किया करती है। हिन्दुस्तान के लोगो को डराने और दबाने की कोशिश की जा रही थी। मैं लाचार था और बडे क्षेत्र मे कुछ नही कर सकता था, लेकिन कम-से-कम मैं व्यक्तिगत रूप से डराये और दबाये जाने से इन्कार तो कर ही सकता था।

जेल वापस जाने से पहले मैं कुछ मामले निबटा डालना चाहता था। सबसे पहले तो मुझे अपनी माँ की बीमारी की तरफ ध्यान देना था। उनकी हालत बहुत धीरे-धीरे सुधरती गई, लेकिन वह इतनी धीरे-धीरे सुधरी कि एक साल तक वह चारपाई पर ही रही। मैं गाधीजी से भी मिलने को उत्सुक था, जोकि पूना मे पड़े अपने हाल के ही उपवास से स्वास्थ्य-सुधार कर रहे थे। दो साल से ज्यादा हुए मैं उनसे नही मिला था। मैं जितना अधिक मिल सकूँ, उतना अधिक अपने प्रान्तीय साथियो से भी मिलना चाहता था, ताकि उनसे न सिर्फ हिन्दुस्तान की मौजूदा राजनैतिक स्थिति पर ही बल्कि ससार की परिस्थिति पर और उन सब विचारो पर भी बातचीत करूँ, जो मेरे दिमाग मे भरे हुए थे। उस वक्त मेरा खयाल था कि दुनिया बड़ी तेजी से एक महान् राजनैतिक और आर्थिक विपत्ति की तरफ जा रही है और अपने राष्ट्रीय कार्यक्रमो को बनाते वक्त हमे इसका ध्यान रखना चाहिए।

अपने घर के मामलो की तरफ भी मुझे ध्यान देना था। अभीतक मैंने उनकी तरफ कतई ध्यान नही दिया था और पिताजी की मृत्यु के बाद मैंने उनके कागजात की देख-भाल भी नही की थी। हमने अपना खर्चा बहुत कम कर दिया था, फिर भी वह हमारी शक्ति से बहुत अधिक था। लेकिन हम जबतक उस मकान मे रहते, तब तक उसे और कम करना मुश्किल था। हम मोटर नही रख रहे थे, क्योंकि उसका खर्च हम उठा नही सकते थे, और एक सबब यह भी कि सरकार उसे कभी भी ज़ब्त कर सकती थी। इन आर्थिक कठिनाइयो के बीच मे, मेरे पास आर्थिक सहायता माँगनेवाले बहुत पत्र आते थे, जिनसे मेरा ध्यान उधर भी खिच जाता था। (सेन्सर ये पत्र मेरे पास ढकेल देता था।)

एक वडा आम और गलत खयाल, खासकर दक्षिण भारत मे यह फैला हुआ था कि मै कोई वडा दौलतमन्द आदमी हूँ ।

मेरी रिहाई के वाद फौरन ही मेरी छोटी वहन कृष्णा की सगाई हो चुकी थी और मै चिन्तित था कि जल्दी ही शादी हो जाय—इससे पहले कि मुझे जेल जाना पडे । कृष्णा खुद भी एक साल तक जेल काट-कर कुछ महीने पहले छूटी थी ।

जैसी ही माँ की बीमारी से मैने छुट्टी पाई, मै गाधीजी से मिलने पूना चला गया । उनमे मिलकर और यह देखकर मुझे खुशी हुई कि हालाँकि वह कमजोर थे लेकिन, वह अच्छी प्रगति कर रहे थे । हमारे बीच लम्वी-लम्बी वातचीते हुई । यह साफ जाहिर था कि जीवन, राज-नीति और अर्थशास्त्र के हमारे दृष्टिकोणो मे काफी फर्क था, लेकिन मै उनका कृतज्ञ हूँ कि उनसे जहाँतक वना उन्होने उदारता-पूर्वक मेरे दृष्टिकोण के अधिक-से-अधिक नजदीक आने की कोशिश की । हमारे पत्र-व्यवहार मे, जो वाद मे प्रकाशित भी हो गया था, मेरे दिमाग मे भरे हुए कुछ अधिक व्यापक प्रश्नो पर विचार किया गया था, और हालाँकि उनका जिक्र कुछ गोलमोल भाषा मे हुआ था, लेकिन दृष्टिकोण का सामान्य-भेद तो साफ दीखता था । मुझे खुशी हुई कि गाधीजी ने यह घोपित कर दिया कि स्थापित स्वार्थो को अस्थापित कर देना चाहिए, हालाँकि उन्होने इस बात पर जोर दिया कि यह काम वल-प्रयोग से नही, वल्कि हृदय-परिवर्त्तन से होना चाहिए । चूकि मेरे खयाल से, उनके हृदय-परिवर्त्तन के तरीके भी नम्रता और विचार-पूर्ण वल-प्रयोग से अधिक भिन्न नही है, इसलिए मुझे मतभेद ज्यादा न लगा । उस वक्त, पहले की ही तरह, मेरी उनके विषय मे यह धारणा थी कि यद्यपि वह गोलमोल सिद्धान्तो पर विचार नही किया करते, तो भी घटनाओ के तर्कपूर्ण परिणामों को देखकर, धीरे-धीरे करके, वह आमूल समाजिक परिवर्त्तन की अनिवार्यता को मान लेगे । वह एक अजीव चीज है—श्री० वेरियर एलविन के शब्दो मे वह 'मध्यकालीन कैथलिक साधुओ के ढग के आदमी है'—लेकिन साथ ही, वह एक व्यवहारिक नेता भी है और

उनकी नब्ज का सम्बन्ध हमेशा हिन्दुस्तान के किसानो के साथ है। सकट-काल मे वह किस दिशा मे मुड जायँगे यह कहना मुश्किल था, लेकिन दिशा कोई भी हो, उसका परिणाम जबरदस्त होगा। सम्भव है कि हमारे विचार से वह गलत रास्ते जावे लेकिन हमेशा वह रास्ता सीधा ही होगा। उनके साथ काम करना तो अच्छा ही था, लेकिन अगर जरूरत हो, तो अलग-अलग रास्तो से भी जाना पडे।

उस वक्त मेरा खयाल था कि अभी तो यह सवाल नही उठता। हम अपनी राष्ट्रीय लडाई के मध्य मे थे। अभी तक सविनय भग ही सिद्धान्तत काग्रेस का कार्यक्रम था, हालॉकि व्यक्तियो तक ही उसकी सीमा बॉध दी गई थी। हमारी लडाई जारी रहे और साथ ही समाजवादी विचार लोगो मे और खासकर राजनैतिक दृष्टि से अधिक जाग्रत काग्रेसी कार्यकर्त्ताओ मे फैलाने की कोशिश करनी चाहिए, ताकि जब नीति की घोषणा का दूसरा मौका आवे तो हम काफी आगे कदम बढाने को तैयार मिले। इस बीच काग्रेस तो गैर-कानूनी सगठन थी और ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने की कोशिश कर रही थी। हमे उस हमले का सामना करना था।

गाधीजी के सामने जो खास समस्या थी वह थी व्यक्तिगत। उन्हे खुद क्या करना चाहिए? वह बडी उलझन मे थे। अगर वह फिर जेल गये, तो हरिजन-कार्य की सहूलियतो का वही सवाल फिर उठेगा, और बहुत मुमकिन था कि सरकार न झुके और वह फिर उपवास करे। तो क्या वही सारा क्रम फिर दोहराया जायगा? ऐसी चूहे-बिल्ली वाली नीति के सामने उन्होने झुकने से इन्कार कर दिया, और कहा 'अगर मुझे उन सहूलियतो के लिए उपवास करना पडा, तो रिहा कर दिये जाने पर भी मै उपवास जारी रक्खूंगा।' इसका अर्थ था आमरण उपवास।

दूसरा रास्ता उनके सामने यह था कि वह अपनी सजा की मियाद तक (जिसमे से अभी साढे दस महीने बाकी थे) अपनी गिरफ्तारी न करवाये और सिर्फ हरिजन-कार्य मे ही अपने-आपको लगा दे, लेकिन साथ ही. उनका काग्रेस-कार्यकर्त्ताओ से मिलते रहना, और जब जरूरत

हो तब उन्हे सलाह भी देना जरूरी ही था ।

उन्होने मुझे एक तीसरा रास्ता भी सुझाया कि वह कुछ अर्से के लिए काग्रेस से बिलकुल अलग हो जायँ और उसे (उनके ही शब्दो मे) 'नई पीढी' के हाथों मे छोड दे ।

पहले रास्ते की, जिसका अन्त उपवास-द्वारा-प्राणान्त कर देना मालूम होता था, हममे से कोई भी सिफारिश नही कर सकता था। तीसरा रास्ता भी, जब कि काग्रेस एक गैरकानूनी सस्था थी, ठीक मालूम नही हुआ । इस रास्ते का नतीजा यह होता कि सविनय भग और सब तरह की 'सीधी लडाई' फौरन वापस ले ली जाती और फिर कानूनी और वैध प्रवृत्ति पर लौटना पडता या काग्रेस गैर-कानूनी होकर और सबसे, अब तो गाधीजी तक से, अकेली छोडी जाकर सरकार द्वारा और भी ज्यादा कुचली जाती । इसके अलावा, एक गैर-कानूनी सस्था के, जो मीटिंग करके किसी नीति पर विचार नही कर सकती थी, किसी दल के कब्जे मे आने का सवाल ही नही पैदा होता था । इस तरह और रास्तो को छोडते हुए हम उनके सुझाये दूसरे उपाय पर आ गये। हममे से ज्यादातर लोग उसे नापन्द करते थे और हम जानते थे कि उससे बचे-खुचे सविनय-भग को एक भारी आघात पहुँचेगा अगर नेता ही लडाई मे से हट जायगा, तो यह सभव नही था कि बहुत उत्साही काग्रेसी-कार्यकर्त्ता आग मे कूद पडे, लेकिन उलझन में से निकलने का और कोई रास्ता ही न था, और इसीके अनुसार गाधीजी ने अपनी घोषणा कर दी ।

गाधीजी और मै, दोनो इस बात पर सहमत थे, हालाँकि हमारे कारण अलग-अलग थे, कि सविनय भग को वापस लेने का अभी वक्त नही आया है और चाहे आन्दोलन धीरे चले, लेकिन उसे जारी रखना ही चाहिए । और, कुछ भी हो, मै लोगो का ध्यान समाजवादी सिद्धान्तो और ससार की परिस्थिति की ओर भी खीचना चाहता था ।

लौटते हुए मैने कुछ दिन बम्बई में बिताये । मेरी खुशकिस्मती से उदयशकर उन दिनो वही थे । मैने उनका नृत्य देखा । मैने इस मनोरजन

से, जिसका पहले से कोई खयाल नही था, वडा आनन्द उठाया । नाटक, सिनेमा, टॉकी, रेडियो, ब्राडकास्टिग—यह सब पिछले कई वर्षो से मै देख ही न सका था, क्योकि स्वतन्त्र रहने के वक्त भी मै दूसरी प्रवृत्तियो मे वहुत ज्यादा लगा रहता था। अभी तक मै सिर्फ एक बार ही टॉकी देख पाया हूँ, और वड़े-वड़े अभिनेताओ के मै सिर्फ नाम ही सुनता हूँ। मुझे नाटक देखने का अभाव खासतौर पर अखरता है और विदेशो मे नये-नये खेलो के तैयार होने का वर्णन मै वड़े रश्क से पढ़ता रहता हूँ। उत्तर हिन्दुस्तान मे, जेल से वाहर होने की हालत मे भी, अच्छे खेल देखने का कोई मौका न था, क्योकि मै मुश्किल से उनतक पहुँच पाता था। मेरा खयाल है कि वगाली, गुजराती और मराठी नाटक साहित्य ने कुछ प्रगति की है, लेकिन हिन्दुस्तानी रंग-मच ने, जो कि निहायत भद्दा और कला-हीन है, या था, क्योकि मुझे हाल की प्रगति का हाल नही मालूम, कुछ भी प्रगति नही की। मैने यह भी सुना है कि हिन्दुस्तानी फिल्म, मूक और सवाक्, दोनो मे कला का प्राय अभाव ही रहता है। उनमे आमतौर पर सुरीले गानों या गजलों की ही प्रधानता रहती है और उनका कथाभाग हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास या पुराणो मे से लिया हुआ होता है।

मेरे खयाल से, इनमे वह सव चीज मिल जाती है जिसकी शहर के लोग कद्र करते है। इन भद्दे और दु खदायी प्रदर्शनो मे और साधारण जनता के अव भी वचे-खुचे सगीत, नृत्य और देहाती नाटको तक की कला मे अन्तर साफ दिखाई देता है। वगाल मे, गुजरात मे और दक्षिण मे कभी-कभी यह देखकर वडा आश्चर्य और आनन्द होता है, कि मूलत लेकिन अनजान मे, देहात के लोग कितने कलामय है। लेकिन मध्यम-वर्गीयो का हाल ऐसा नही है। उनकी तो मानो जडो का ही पता नही है, और उनके पास सौंदर्य या कला की कोई परम्परा नही रही है, जिसे वे पकडे रहे। वे जर्मनी और आस्ट्रिया मे वहुतायत से वने हुए सस्ते और वीभत्स चित्रों को रखने मे ही अपनी शान समझते है, और ज्यादा किया तो कभी-कभी रवि वर्मा के चित्र रख लेते है। सगीत मे उनका

प्यारा वाजा हारमोनियम है। (मुझे आशा है कि स्वराज सरकार के प्रारम्भिक कामो मे एक यह भी होगा कि वह इस भयानक वाद्य पर प्रतिवन्ध लगा दे।) लेकिन दर्दनाक भद्देपन और कला के सव सिद्धान्तो के भोग की पराकाष्ठा तो शायद लखनऊ और दूसरी जगह के वडे-वडे ताल्लुकेदारो के घरो मे दिखाई देती है। उनके पास खर्च करने को पैसा होता है और दिखावा करने की ख्वाहिश, और ऐसा ही वे करते भी है, और जो लोग उनके यहाँ जाते है. उन्हे उनकी इस अभिलाषा की पूर्ति का दु खी गवाह वनना पडता है।

हाल मे ही प्रतिभाशाली ठाकुर-परिवार के नेतृत्व में कुछ कला-जागृति हुई है और उसका प्रभाव सारे हिन्दुस्तान पर दिखाई देता है, लेकिन जवकि देश के लोगो जगह-जगह पर रुकावटें और वन्धन डाले जाते है और उन्हे दवाया जाता है और वे आतक के वातावरण में रहते है, तव कोई भी कला किसी वडे पैमाने पर कैसे फलफूल सकती है ?

वम्वई मे मै कई दोस्तो और साथियो से मिला, जिनमे से कुछ तो हाल मे ही जेल से निकले थे। सामाजवादी लोगों की तादाद वहाँ ज्यादा थी और कॉंग्रेस के प्रथम श्रेणी के लोगो मे जो हाल मे घटनायें हुई थी उन पर वडा रोप था। गाधीजी राजनीति में जो अध्यात्मिक दृष्टिकोण लगाया करते थे, उसकी सख्त आलोचना होती थी। अधिकाश आलोचना से मै सहमत था, लेकिन मेरी साफ राय थी कि हमारी उस वक्त की परिस्थिति मे और कोई चारा न था और हमे अपना काम जारी ही रखना था। सविनय भग को वापिस लेने की कोशिश भी की जाती, तो उसमे भी हमें कोई राहत न मिलती, क्योंकि सरकार का आक्रमण तो जारी रहता और कुछ भी कारगर काम किया जाता तो उसका नतीजा जेलखाना ही होता। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन ऐसी हालत मे पहुँच गया था कि सरकार को उसे दवा ही देना पडता वरना व्रिटिश सरकार को हमारी इच्छा माननी पडती। इसके मानी यह थे कि वह ऐसी हालत मे आगया था कि जव उसका हमेशा ही गैर-कानूनी करार दिया जाना मुमकिन था और आन्दोलन के रूप मे, चाहे सविनय भग भी वन्द कर

दिया जाय तो भी, वह पीछे नही हट सकता था। असल मे, सविनय भग के जारी रहने से कोई फर्क नही पडता था, लेकिन असली महत्व था नैतिक विरोध का। लड़ाई के बीच नये विचारो का फैलना उस वक्त की वनिस्वत आसान था, जबकि लडाई वन्द कर दी गई हो और लोगो का हौसला पस्त पडने लगा हो। लडाई के अलावा दूसरा रास्ता सिर्फ यही था कि ब्रिटिश ताकत के साथ समझौते की मनोवृत्ति रक्खी जाय और कौसिलो मे जाकर वैध काम किया जाय।

वह एक कठिन स्थिति थी, लेकिन कोई भी रास्ता ढूँढना आसान न था। अपने साथियो के मानसिक सघर्षो को मै समझ सकता था, क्योकि खुद मुझे भी उनका सामना करना पडा था। लेकिन, जैसा कि हिन्दुस्तान मे दूसरी जगह भी पाया गया है, वहाँ मुझे ऐसे लोग दिखाई दिये, जो ऊँचे समाजवादी सिद्धान्त के वहाने कुछ भी न करना चाहते थे। इस वात से मुझे कुछ चिढ होती थी कि जो लोग खुद कुछ न करे, वे उन दूसरे लोगो को, जिन्होने लड़ाई के मैदान की धूल और धूप मे सारा भार उठाया, प्रतिगामी वताकर उनकी आलोचना करे। ये आराम कुरसीवाले समाजवादी लोग गाधीजी पर खासतौर पर जोर का वार करते हुए उन्हे प्रतिगामियो के सिरताज वताते है और ऐसी-ऐसी दलीले देते है, जिनमे तर्क की दृष्टि से कोई कसर नही रहती है, लेकिन सीधी सी वात तो यह है कि यह "प्रतिगामी" व्यक्ति हिन्दुस्तान को जानता और समझता है और किसान हिन्दुस्तान का करीव-करीव मूर्तिमान् स्वरूप वन गया है और इसने इस तरह हिन्दुस्तान को हिला दिया है जैसे क्रान्तिकारी कहे जानेवाले किसी भी व्यक्ति ने नहीं किया है। उनके सवमे ताज़े हरिजन-सम्वन्धी कार्यो ने भी, हलके-हलके लेकिन अवाध रूप से हिन्दू कट्टरता को कम कर दिया है और उसकी वुनियाद हिला दी है। सारे कट्टर-पन्थी लोग उनके खिलाफ उठ खडे हुए है और उन्हे सवसे खतरनाक दुश्मन समझते है, हालाकि वह उनके साथ सोलहो आना शिष्टता और सौजन्य ही का व्यवहार करते है। अपने खास ढग से जवरदस्त ताकतो को जागृत करके छोड़ देने का उनमे स्वभावसिद्ध गुण है, जो कि पानी

की लहरो की तरह चारों ओर फैल जाती है और लाखो आदमियो पर अपना असर डालती है। चाहे वह प्रतिगामी हो या क्रान्तिकारी, उन्होने हिन्दुस्तान का स्वरूप बदल दिया है। उस जनता मे, जो हमेशा हाथ जोडती और डरती रहती थी, स्वाभिमान और चरित्रबल भर दिया है। उन्होने आम लोगो मे शक्ति और चेतनता पैदा की है और हिन्दुस्तान की समस्या को ससार की समस्या बना दिया है। इस बात को दूर रखते हुए कि अहिंसात्मक असहयोग या सविनय भग के अध्यात्मिक परिणाम क्या-क्या है, यह सही है कि वह हिन्दुस्तान और ससार के लिए उनकी एक अद्वितीय और शक्तिशाली देन है और इसमे कोई शक नही हो सकता कि वह हिन्दुस्तान की परिस्थिति के लिए खासतौर पर उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

मेरे खयाल से यह ठीक है कि हम सच्ची आलोचना को प्रोत्साहित करे और अपनी समस्याओ पर जितना भी सार्वजनिक वाद-विवाद हो सके हो। दुर्भाग्य से गाधीजी की सर्वोपरि स्थिति के कारण भी किसी हदतक इस प्रकार के वाद-विवाद मे रुकावट पड गई है। उनके ऊपर अवलम्बित रहने और निर्णय का काम उन्ही पर छोड़ देने की प्रवृत्ति हमेशा रही है। स्पष्टत यह गलत बात है और राष्ट्र तो उद्देश्यो और साधनों को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करके ही आगे बढ सकता है और जब उन्हीके आधार पर, न कि अन्ध-आज्ञा-पालन पर, सहयोग और अनुशासन स्थापित होगा, तभी देश की प्रगति होगी। कोई व्यक्ति कितना भी बडा क्यों न हो, आलोचना से परे नही होना चाहिए, लेकिन जब आलोचना निष्क्रियता का आश्रयरूप बन जाती है, तो उसमे कुछ-न-कुछ बिगाड़ समझना चाहिए। अगर समाजवादी लोग इस तरह का काम करे, तो वे जनता की निन्दा के पात्र बन जायँगे, क्योंकि जनता तो काम से आदमी की परख करती है। लेनिन ने कहा है कि "जो आदमी भविष्य के आसान कामो के स्वप्नो के ऊपर वर्तमान के कठिन कामो को करना छोड देता है, वह समय-साधु बन जाता है। सिद्धान्त-रूप से इसका तात्पर्य है असली जीवन मे इस समय होनेवाली घटनाओ पर अपना आधार रखने में विफल होना, और स्वप्नो के नाम पर उनसे अलग पड जाना।"

हिन्दुस्तान के समाजवादी और कम्यूनिस्ट लोग अपने विचार ज्यादातर उस साहित्य पर से बनाते है, जो औद्योगिक मजदूर-वर्ग की बाबत है। कुछ खास हलको मे, जैसे बम्बई या कलकत्ते के पास, कारखानों के मजदूर बडी तादाद मे है, लेकिन हिन्दुस्तान का बाकी हिस्सा तो किसानो का ही है और कारखानो के मजदूरो के दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की समस्या का कारगर हल नही मिल सकता। यहाँ तो राष्ट्रीयता और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बडे सवाल है और योरप के समाजवाद का इनसे शायद ही कुछ सम्बन्ध हो। रूस मे महायुद्ध से पहले की हालत हिन्दुस्तान से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी, मगर वहाँ तो बहुत ही असाधारण और गैर-मामूली घटनाये हो गई और वैसी ही घटनाये फिर दूसरी जगह हो यह उम्मीद करना बेवकूफी होगी। लेकिन इतना मै जरूर जानता हूँ कि कम्यूनिज्म के तत्त्वज्ञान से किसी भी देश की मौजूदा परिस्थिति को समझने और उसका विश्लेपण करने मे मदद मिलती है और आगे प्रगति का रास्ता मालूम होता है, लेकिन तत्त्वज्ञान के साथ यह जबरदस्ती और बेइन्साफी होगी कि उसे दे[illegible]नि और परिस्थिति का मुनासिब खयाल न रखते हुए आँख मूँदकर हर-जगह लागू कर दिया जाय।

कुछ भी हो, जीवन एक बडी जटिल समस्या है और जीवन के सघर्पों और विरोधो से कभी-कभी आदमी निराश-सा हो जाता है। इनमें कोई ताज्जुब की बात नही कि लोगो मे मतभेद पैदा हो जाय या वे साथी, जो समस्याओ को एक ही दृष्टिकोण से देखते है, अलग-अलग नतीजों पर पहुँचे, लेकिन वह आदमी, जो अपनी कमजोरी को बडे-बडे वाक्यों और ऊँचे-ऊँचे उसूलो के पर्दे मे छिपाता है, जरूर सदेह का पात्र बन सकता है। जो शख्स सरकार को इकरारनामे और वादे लिखकर या और किसी सदेहास्पद व्यवहार से जेल जाने से अपने-आपको बचाता है और फिर दूसरो की आलोचना करने का दुस्साहस करता है, वह अपने कार्य को नुकसान पहुँचाने की सभावना पैदा करता है।

बम्बई बडा शहर है और उसमे सब जगह लोग रहते है। वहाँ

सभी तरह के लोग मौजूद थे। लेकिन एक प्रमुख नागरिक ने तो अपने राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण मे बडी मार्के की निष्पक्षता दिखाई। मजदूर की हैसियत से वह समाजवादी थे, राजनीति मे वह आमतौर पर अपने को डिमोक्रेट (लोकतन्त्रवादी) कहते थे; हिन्दू-सभा भी उन्हे बहुत चाहती थी। उन्होने वादा किया कि मै पुराने धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों की रक्षा करूँगा और उनने कौसिल को दखल न देने दूँगा, मगर चुनाव के वक्त मे वह सनातनियो की तरफ से उम्मीदवार हुए, जो कि प्राचीन रहस्यो के महान् पुजारी होते है। इस बदली हुई और भिन्न प्रवृति से भी जब वह न थके, तो उन्होने अपनी शेप शक्ति काँग्रेस की आलोचना करने और गाधीजी को प्रतिगामी बताने मे लगाई। कुछ और लोगो के सहयोग से उन्होने काग्रेस डिमोक्रेटिक—लोकतन्त्रात्मक—पार्टी खडी की, जिसका लोकतन्त्रवाद से कोई भी ताल्लुक न था और जो काग्रेस से इतना ही सम्बन्ध रखती थी कि उस महान् सस्था पर हमला करे। और भी नये-नये क्षेत्रो में कब्जा करने की दृष्टि से, वह मजदूरो के प्रतिनिधि बन[illegible] जेनेवा मजदूर-कान्फेन्स में भी शरीक हुए। कोई तो यह भी खया[illegible] है कि शायद वह इग्लैण्ड के ढग पर हिन्दुस्तान की 'राष्ट्रीय' सरकार के प्रधान-मत्री बनने की योग्यता प्राप्त कर रहे है।

इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो और प्रवृत्तियो का लाभ बहुत ही थोडे लोगो को मिलता होगा, लेकिन फिर भी काँग्रेस के समालोचको मे ऐसे कई लोग थे, जिन्होने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का अनुभव किया था, और जो कई जगहो मे अपनी टाँग अडाते थे। इनमे से कुछ लोग अपने-आपको समाजवादी कहते थे और उनके कारण समाजवाद उलटा बदनाम होता था।

: ५१ :

लिबरल दृष्टिकोण

गांधीजी से मिलने जब मैं पूना गया था, तो एक दिन शाम को मैं उनके साथ 'सर्वेण्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में चला गया। क़रीब एक घण्टे तक सोसाइटी के कुछ सदस्य उनसे राजनैतिक मामलों पर सवाल करते रहे और वह उनका जवाब देते रहे। न तो उस वक़्त वहाँ श्री श्रीनिवास शास्त्री थे और न पण्डित हृदयनाथ कुंजरू ही, जो कि शायद बाक़ी के सदस्यों में सबसे ज्यादा क़ाबिल हैं; लेकिन कुछ सीनियर मेम्बर मौजूद थे। हममें से कुछ लोग, जो उस वक़्त वहाँ उपस्थित थे, बड़े अचरज से सब कुछ सुनते रहे, क्योंकि सवाल बिलकुल ही छोटी-छोटी घटनाओं के बारे में पूछे जा रहे थे। वे ज्यादातर गाँधीजी की वाइसराय से मुलाकात की पुरानी दरख़्वास्त और वाइसराय के इन्कार के बारे में थे। क्या ऐसे समय में जब कि ख़ुद उनका ही देश आज़ादी की अच्छी करारी लड़ाई लड़ रहा था और सैकड़ों संस्थायें ग़ैर-क़ानूनी क़रार दी जा रही थीं, अनेक समस्याओं से भरी हुई दुनिया में यही एक विषय उनकी चर्चा के लिए रह गया था—किसान नाज़ुक वक़्त से गुज़र रहे थे और औद्योगिक मन्दी चल रही थी, जिससे कि व्यापक बेकारी फैल रही थी। बंगाल, सीमा-प्रान्त और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में भयंकर घटनायें घट रही थीं, विचार, भाषण, लेखन और सभाओं की स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी और दूसरी भी कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें मौजूद थीं। लेकिन सवालात सिर्फ़ महत्त्वशून्य घटनाओं के बारे में या इस बारे में पूछे गये कि अगर गांधीजी वाइसराय से मिलना चाहें तो वाइसराय और भारत सरकार पर क्या असर पड़ेगा ?

मुझे बड़े ज़ोरों से कुछ ऐसा महसूस होने लगा मानों मैं किसी धार्मिक मठ में आ घुसा हूँ, जिसके रहनेवालों का अर्से से बाहरी दुनिया

के साथ किसी तरह का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहा है। फिर भी हमारे दोस्त क्रियाशील राजनीतिज्ञ थे, जिनके साथ सार्वजनिक सेवा और कुर्बानी की लम्बी कारगुजारी थी। उन्हीसे और कुछ और लोगो से मिलकर लिबरल पार्टी की मूल ताकत बनी हुई थी। बाकी की पार्टी तो वे सिर-पैर की थी जिसमे ऐसे-ऐसे अस्पष्ट और शिथिल विचारो वाले आदमी थे, जो कभी-कभी राजनीति से सम्बन्ध जोडने का मजा लेना चाहते थे। इनमें से कुछ लोग तो खासकर बम्बई और मद्रास में—ऐसे थे, जिनमे और सरकारी अधिकारियो में फर्क ही नही 'नज़र' आता था।

जिस तरह के प्रश्न एक देश पूछा करता है, उसी हद तक उसकी राजनैतिक प्रगति मालूम होती है। अक्सर उस देश की नाकामयाबी का कारण भी यही होता है कि उसने अपने-आपसे ठीक तरह का सवाल नही पूछा। जिस हदतक हम कौंसिलो की सीटो के बँटवारे पर अपना वक्त और ताकत व अपना मिज़ाज बिगाडा करते है, या जिस हदतक हम साम्प्रदायिक निर्णय पर पार्टियाँ बनाया करते है और उसपर फजूल का वाद-विवाद इतना करते है कि उससे जरूरी सवाल ही छूट जाते है, उसी हदतक हमारी पिछडी हुई राजनैतिक हालत मालूम हो जाती है। इसी तरह उस दिन गाधीजी से 'सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' के भवन मे जो-जो सवाल पूछे गये थे, उनसे ही उस सोसाइटी और लिबरल-पार्टी की अजीब मनोदशा प्रतिबिम्बित होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उनके न तो कोई राजनैतिक या आर्थिक उसूल है, न कोई व्यापक दृष्टि है। उनकी राजनीति तो रईसों के दीवानखानो या दरबारो की-सी चीज़ दिखाई देती थी। मानो, उनकी यही जानने की इच्छा रहा करती थी कि हमारे उच्च अधिकारी क्या करेंगे, या क्या नही करेंगे।

'लिबरल-पार्टी' नाम से भी धोखा हो सकता है। दूसरे मुल्को में और खासकर इग्लैण्ड में, इस शब्द से एक खास आर्थिक नीति का—मुक्त अनियत्रित, व्यापार आदि—और व्यक्तिगत आजादी तथा नागरिक स्व-

तन्त्रताओं के एक खास आदर्शवाद का मतलब समझा जाता था। इग्लैंड की लिबरल-परम्परा की बुनियाद आर्थिक थी। व्यापार में आज़ादी की और राजा के एकाधिकारों और मनमाने टैक्सों से छुटकारा मिलने की इच्छा से ही राजनैतिक स्वतन्त्रता की ख्वाहिश पैदा हुई। मगर हमारे हिन्दुस्तान के लिबरलों का ऐसा कोई आधार नहीं है। मुक्त व्यापार में उनका विश्वास नहीं, क्योंकि वे करीब-करीब सभी सरक्षणवादी हैं और जैसा कि हाल की घटनाओं ने बता दिया है वे नागरिक स्वतन्त्रताओं का भी कोई महत्व नहीं समझते। अर्ध-माण्डलिक और एकतन्त्री देशी रियासतों के साथ, उनका गहरा सम्बन्ध रहना और उनका सामान्यरूप से समर्थन करना साबित करता है कि वे यूरोपियन ढग के लिबरलों से बहुत भिन्न हैं। सचमुच हिन्दुस्तान के लिबरल किसी मानी में भी लिबरल नहीं हैं, या वे सिर्फ ऊटपटाग लिबरल हैं। वे ठीक-ठीक क्या हैं, यह कहना मुश्किल है। उनके विचारों का कोई एक निश्चित दृढ आधार नहीं है,और हलाँकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, लेकिन आपस में भी उनके विचार जुदा-जुदा हैं। वे नकारात्मक रूप में ही दृढता दिखाते हैं। हर जगह उन्हें गलती-ही-गलती दिखाई देती है। उसे टालने की वे कोशिश करते रहते हैं और आशा यह करते हैं कि इसी तरह वे सचाई को हासिल कर लेंगे। उनकी निगाह में सचाई सिर्फ दो पराकाष्ठाओं के बीच ही हुआ करती है। हर ऐसी चीज की निन्दा करके, जिसे वे पराकाष्ठा मानते हैं, वे समझते हैं कि वे गुणवान मध्यम-मार्गी और नेक आदमी हैं। इस तरीके से वे विचारों के कष्ट-प्रद और कठिन तौर-तरीकों से तथा रचनात्मक विचारों को पेश करने की आफत से बच जाते हैं। उनमें से कुछ लोग अस्पष्ट रूप से महसूस करते हैं कि पूंजीवाद पूरे रूप से पूरी तरह कामयाब नहीं हुआ है और खटके में पड़ा हुआ है, और दूसरी तरफ, समाजवाद तो ज़ाहिरा तौर पर ही खराब है, क्योंकि उससे स्थापित स्वार्थों पर हमला होता है। शायद भविष्य में कोई रहस्यवादी उपाय, कोई बीच का मुकाम मिल ही जायगा, इस बीच, स्थापित स्वार्थों की रक्षा होनी चाहिए। अगर इस बाबत बातचीत की जाय कि पृथ्वी चपटी है या गोल, तो शायद

वह इन दोनों ही पराकाष्ठाओं के विचारों की निन्दा करेंगे और थोडी देर को यही सुझायेंगे कि वह शायद चौकोर या अण्डाकार होगी।

बहुत छोटे-छोटे और बेवजनी मामलो पर भी वे बहुत भडक जाते है और इतना होहल्ला और शोर-गुल मचा देते है कि कुछ पूछिए नहीं। जान में या अनजान मे वे मौलिक सवालो को हाथ नहीं लगाते, क्योंकि ऐसे सवालो के लिए तो मौलिक उपायो की ओर विचार और कार्यक्रम के साहस की ज़रूरत होती है। इसलिए लिवरलों की सफलता या असफलता का कोई नतीजा नही होता। उनका किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध नहीं होता। इस पार्टी की बडी विशेषता और खास लक्षण अगर उसे लक्षण कहा जा सके, यह है कि हर अच्छी और बुरी बात मे नरम रहना यही इनके जीवन का दृष्टिकोण है और इनका पुराना नाम—मॉडरेट—ही शायद सबसे ठीक था।

"माडरेट होने में ही हम फूले नहीं समाते है,
नरम गरम हमको कहते, औ' गरम नरम बतलाते है।"[1]

लेकिन माडरेट-वृत्ति कितनी भी प्रशसनीय क्यो न हो, वह कोई तेज-पूर्ण और ओजस्वी गुण नही है। यह वृत्ति तेजोहीनता पैदा करती है और इसलिए हिन्दुस्तान के लिवरल बदकिस्मती से एक 'तेजोहीन-दल' बन गये है—वे चेहरे से मन्द-तेज और सजीदा, लेखों और बातचीत में उत्साहहीन होते है और विनोद-प्रियता से खाली रहते है। निश्चय ही इनमें कुछ अपवाद भी है और एक सबसे बड़े अपवाद है सर तेजबहादुर सप्रू, जिनका व्यक्तिगत जीवन निश्चय ही नीरस और विनोद-रहित नहीं है, बल्कि जो अपने विरुद्ध किये गये मजाक में भी रस लेते है। लेकिन कुल मिलाकर लिवरल-दल मध्यम-वर्गशाही की पराकाष्ठा का साकार रूप है, और उसमें ऐसा ठोसपन है, जिसका दूसरा नाम सुस्ती या मटी है। इलाहाबाद के 'लीडर' ने जो, कि प्रमुख लिवरल अखबार है, पिछले साल अपने एक अग्रलेख में लिवरल मनोवृत्ति को बहुत स्पष्टता से प्रकट कर दिया था। उसने बताया था कि बड़े और उन साधारण

---

१ एलेक्जेण्डर पोप के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

योजनाओं की असफलताओं का दोष दूसरों के मत्थे मढ देते है। और जैसा कि श्री जेराल्ड हर्ड बतलाते है, "सबसे ज्यादा बरबादी करनेवाला वहम यही ख़याल है, कि मनुष्य दिल में यह मान बैठे कि उसकी योजना उसकी विचार-पद्धति की गलती से नहीं बल्कि किसी दूसरे के जानबूझ कर बाधा डालने से असफल हुई है।"

इस भयकर वहम के शिकार हम सभी है। मै कभी-कभी सोचता हूँ कि गांधीजी भी इससे बरी नहीं है। मगर हम कम-से-कम कुछ-न-कुछ काम तो करते ही है, जीवन के सम्पर्क में तो आने की कोशिश करते है और तजुर्बे और ग़लतियों के ज़रिये भी हम वहम की ताकत को कम कर देते है, और लुढकते हुए भी किसी तरह आगे बढते तो जाते है; लेकिन लिबरल सबसे ज्यादा दुःख उठाते है। क्योंकि इस डर से कि कहीं हमसे कोई गलत काम न हो जाय, वे काम ही नहीं करते, और गिर या फिसल जाने के डर से वे आगे कदम ही नहीं बढाते। जनता के साथ वे अच्छा हार्दिक सम्पर्क पैदा करने से दूर ही रहते है, और अपने ही विचारों की तंग कोठरियो में मोहित और समाविस्त-से बैठे रहते है। डेढ साल पहले श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपने सगी-साथी लिबरलो को आगाह किया था कि उन्हें चुपचाप खड़े देखते न रहना चाहिए और घटनाओं को योंही गुज़रने न देना चाहिए। उस आगाही में वह जितनी सचाई समझते थे, उससे कही ज्यादा सचाई थी। सरकार क्या कर रही है इस बात का ही हमेशा विचार करते रहने का कारण, वह उन विधान-सम्बन्धी परिवर्तनों की तरफ इशारा कर रहे थे, जिन्हें भिन्न-भिन सरकारी कमिटियाँ बना रही थीं, लेकिन लिबरलों की बदकिस्मती यह थी कि जब उनके ही देशवासी आगे बढ रहे थे, तब वे चुपचाप खड़े-खड़े तमाशा देख रहे थे और घटनाओं को योंही गुजरने दे रहे थे। वे अपने ही लोगों से डरते थे और हमारे शासको से अलहदा होने के बजाय उन्होंने इन आम लोगो से दूर रहना ही ज्यादा अच्छा समझा। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या था कि वे अपने ही मुल्क में अजनबी से बन गये। दुनिया आगे बढ़ गई और उन्हें वहीं-का-वहीं छोड़ गई। जब लिबरलो

तो मुमकिन है कि उनके इस सलूक के पुरस्कार मे उनकी बात सुन ली जाय। इसलिए वे ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखे बिना रह ही नही सकते। 'ब्ल्यू बुक' (सरकारी रिपोर्ट) उनके गंभीर अध्ययन की वस्तु होती है। इर्सकिन मे की 'पार्लमेण्टरी प्रेक्टिस' और ऐसी ही किताबे उनकी जीवन-सगिनी होती है। नई सरकारी रिपोर्ट उनके तंग और तर्कवितर्क का विषय बनती है। इग्लैण्ड से लौटनेवाले लिबरल नेता ह्वाइट-हॉल की विभूतियो के कारनामो के बारे मे रहस्यमय वक्तव्य देते है, क्योकि, ह्वाइट-हॉल लिबरलों, प्रतिसहयोगियों और ऐसे ही दूसरे दलो की दृष्टि मे वैकुण्ठ है! पुराने जमाने मे यह कहा जाता था कि जब कोई भद्र अमेरिकन मर जाता, तो उसकी आत्मा पेरिस जाती थी। इसी तरह यह कहा जा सकता है कि अच्छे लिबरलो की प्रेतात्मा ह्वाइट-हॉल की चहारदिवारी का कभी-कभी चक्कर लगाती रहती है।

यहाँ लिखा तो मैंने लिबरलो के बारे मे है, लेकिन यही बात बहुतेरे कॉंग्रेसियो पर भी लागू होती है और प्रतिसहयोगियो पर तो और भी ज्यादा लागू होती है; क्योकि नरमी में तो उन्होने लिबरलो को भी मात कर दिया है। औसत दर्जे के लिबरल और औसत दर्जे के कॉंग्रेसी में बड़ा फर्क है। मगर इस सम्बन्ध मे विभाजक रेखा न तो साफ ही है, न निश्चित ही। जहाँतक विचार-धारा से सम्बन्ध है, आगे बढ़े हुए लिबरल और नरम कॉंग्रेसी मे कोई ज्यादा फर्क मालूम नही होता। मगर भला हो गाधीजी का, जो हरेक कॉंग्रेसी ने अपने देश और देश के लोगो के साथ थोड़ा-बहुत संपर्क रक्खा है और वह काम भी करता रहता है और इसीकी बदौलत वह एक धुंधली और अधूरी विचारधारा के परिणामो से बच गया है। मगर लिबरलों की बात ऐसी नही है। उन्होने पुराने और नये दोनों ही विचार के लोगों से अपना नाता तोड़ लिया है। एक जमात की हैसियत से वे उन लोगों के प्रतिनिधि है, जो मिटते जा रहे है।

मैं ख़याल करता हूँ कि हममें से बहुतो की वह पुरानी अधश्रद्धा तो नष्ट हो चुकी है; लेकिन नई अतर्दृष्टि प्राप्त नही हुई है। न तो हमें

सभी तरह के लोग मौजूद थे। लेकिन एक प्रमुख नागरिक ने तो अपने राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण मे वडी मार्के की निष्पक्षता दिखाई। मज़दूर की हैसियत से वह समाजवादी थे, राजनीति मे वह आमतौर पर अपने को डिमोक्रेट (लोकतन्त्रवादी) कहते थे, हिन्दू-सभा भी उन्हे वहुत चाहती थी। उन्होने वादा किया कि मै पुराने धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजो की रक्षा करूँगा और उनने कौसिल को दखल न देने दूंगा, मगर चुनाव के वक्त मे वह सनातनियो की तरफ से उम्मीदवार हुए, जो कि प्राचीन रहस्यों के महान् पुजारी होते है। इस वदली हुई और भिन्न प्रवृति से भी जव वह न थके, तो उन्होने अपनी शेप शक्ति कॉंग्रेस की आलोचना करने और गाधीजी को प्रतिगामी वताने मे लगाई। कुछ और लोगो के सहयोग से उन्होने काग्रेस डिमोक्रेटिक—लोकतन्त्रात्मक—पार्टी खडी की, जिसका लोकतन्त्रवाद से कोई भी ताल्लुक न था और जो काग्रेस से इतना ही सम्वन्ध रखती थी कि उस महान् सस्था पर हमला करे। और भी नये-नये क्षेत्रो में कव्ज़ा करने की दृष्टि से, वह मजदूरो के प्रतिनिधि वन[illegible]र जेनेवा मज़दूर-कान्फ्रेन्स में भी शरीक हुए। कोई तो यह भी खया[illegible]ते है कि शायद वह इग्लैण्ड के ढग पर हिन्दुस्तान की 'राष्ट्रीय' सरकार के प्रधान-मत्री वनने की योग्यता प्राप्त कर रहे है।

इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों और प्रवृत्तियो का लाभ वहुत ही थोडे लोगो को मिलता होगा, लेकिन फिर भी कॉंग्रेस के समालोचकों मे ऐसे कई लोग थे, जिन्होने भिन्न-भिन्न क्षेत्रो का अनुभव किया था, और जो कई जगहो मे अपनी टॉंग अडाते थे। इनमे से कुछ लोग अपने-आपको समाजवादी कहते थे और उनके कारण समाजवाद उलटा वदनाम होता था।

: ५१ :

लिबरल दृष्टिकोण

गाधीजी से मिलने जब मै पूना गया था, तो एक दिन शाम को मैं उनके साथ 'सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में चला गया। करीब एक घण्टे तक सोसाइटी के कुछ सदस्य उनसे राजनैतिक मामलों पर सवाल करते रहे और वह उनका जवाब देते रहे। न तो उस वक्त वहाँ श्री श्रीनिवास शास्त्री थे और न पण्डित हृदयनाथ कुजरू ही, जो कि शायद बाकी के सदस्यो मे सबसे ज्यादा काबिल है; लेकिन कुछ सीनियर मेम्बर मौजूद थे। हममे से कुछ लोग, जो उस वक्त वहाँ उपस्थित थे, बड़े अचरज से सब कुछ सुनते रहे, क्योकि सवाल बिलकुल ही छोटी-छोटी घटनाओ के बारे मे पूछे जा रहे थे। वे ज्यादातर गाँधीजी की वाइसराय से मुलाकात की पुरानी दरख्वास्त और वाइसराय के इन्कार के बारे मे थे। क्या ऐसे समय में जब कि खुद उनका ही देश आज़ादी की अच्छी करारी लडाई लड रहा था और सैकडों सस्थाये गैर-कानूनी करार दी जा रही थी, अनेक समस्याओ से भरी हुई दुनिया में यही एक विषय उनकी चर्चा के लिए रह गया था— किसान नाज़ुक वक्त से गुज़र रहे थे और औद्योगिक मन्दी चल रही थी, जिससे कि व्यापक बेकारी फैल रही थी। बगाल, सीमा-प्रान्त और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों मे भयकर घटनाये घट रही थी, विचार, भाषण, लेखन और सभाओं की स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी और दूसरी भी कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याये मौजूद थी। लेकिन सवालात सिर्फ महत्त्वशून्य घटनाओं के बारे में या इस बारे मे पूछे गये कि अगर गाधीजी वाइसराय से मिलना चाहे तो वाइसराय और भारत सरकार पर क्या असर पडेगा?

मुझे बड़े ज़ोरो से कुछ ऐसा महसूस होने लगा मानो मै किसी धार्मिक मठ मे आ घुसा हूँ, जिसके रहनेवालो का अर्से से बाहरी दुनिया

के साथ किसी तरह का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहा है। फिर भी हमारे दोस्त क्रियाशील राजनीतिज्ञ थे, जिनके साथ सार्वजनिक सेवा और कुर्बानी की लम्बी कारगुजारी थी। उन्हीसे और कुछ और लोगो से मिलकर लिबरल पार्टी की मूल ताकत बनी हुई थी। बाकी की पार्टी तो बे सिर-पैर की थी जिसमे ऐसे-ऐसे अस्पष्ट और शिथिल विचारो वाले आदमी थे, जो कभी-कभी राजनीति से सम्बन्ध जोडने का मजा लेना चाहते थे। इनमे से कुछ लोग तो खासकर बम्बई और मद्रास मे— ऐसे थे, जिनमे और सरकारी अधिकारियो मे फर्क ही नही 'नज़र' आता था।

जिस तरह के प्रश्न एक देश पूछा करता है, उसी हद तक उसकी राजनैतिक प्रगति मालूम होती है। अक्सर उस देश की नाकामयाबी का कारण भी यही होता है कि उसने अपने-आपसे ठीक तरह का सवाल नही पूछा। जिस हदतक हम कौंसिलों की सीटो के बँटवारे पर अपना वक्त और ताकत व अपना मिज़ाज बिगाडा करते हैं, या जिस हदतक हम साम्प्रदायिक निर्णय पर पार्टियाँ बनाया करते है और उसपर फजूल का वाद-विवाद इतना करते हैं कि उससे ज़रूरी सवाल ही छूट जाते है, उसी हदतक हमारी पिछडी हुई राजनैतिक हालत मालूम हो जाती है। इसी तरह उस दिन गाधीजी से 'सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में जो-जो सवाल पूछे गये थे, उनसे ही उस सोसाइटी और लिबरल-पार्टी की अजीब मनोदशा प्रतिबिम्बित होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उनके न तो कोई राजनैतिक या आर्थिक उसूल है, न कोई व्यापक दृष्टि है। उनकी राजनीति तो रईसो के दीवानखानो या दरबारों की-सी चीज़ दिखाई देती थी। मानो, उनकी यही जानने की इच्छा रहा करती थी कि हमारे उच्च अधिकारी क्या करेंगे, या क्या नही करेगे।

'लिबरल-पार्टी' नाम, से भी धोखा हो सकता है। दूसरे मुल्को मे और खासकर इग्लैण्ड में, इस शब्द से एक खास आर्थिक नीति का—मुक्त अनियन्त्रित, व्यापार आदि—और व्यक्तिगत आजादी तथा नागरिक स्व-

तन्त्रताओ के एक खास आदर्शवाद का मतलब समझा जाता था। इग्लैंड की लिबरल-परम्परा की बुनियाद आर्थिक थी। व्यापार मे आजादी की और राजा के एकाधिकारो और मनमाने टैक्सो से छुटकारा मिलने की इच्छा से ही राजनैतिक स्वतन्त्रता की ख्वाहिश पैदा हुई। मगर हमारे हिन्दुस्तान के लिबरलों का ऐसा कोई आधार नही है। मुक्त व्यापार मे उनका विश्वास नही, क्योंकि वे करीब-करीब सभी सरक्षणवादी है और जैसा कि हाल की घटनाओं ने बता दिया है वे नागरिक स्वतन्त्रताओं का भी कोई महत्व नही समझते। अर्ध-माण्डलिक और एकतन्त्री देशी रियासतों के साथ, उनका गहरा सम्बन्ध रहना और उनका सामान्यरूप से समर्थन करना साबित करता है कि वे यूरोपियन ढग के लिबरलों से बहुत भिन्न है। सचमुच हिन्दुस्तान के लिबरल किसी मानी में भी लिबरल नही है, या वे सिर्फ ऊटपटाग लिबरल है। वे ठीक-ठीक क्या है, यह कहना मुश्किल है। उनके विचारो का कोई एक निश्चित दृढ आधार नही है,और हलाँकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, लेकिन आपस मे भी उनके विचार जुदा-जुदा है। वे नकारात्मक रूप मे ही दृढता दिखाते है। हर जगह उन्हें गलती-ही-गलती दिखाई देती है। उसे टालने की वे कोशिश करते रहते है और आशा यह करते है कि इसी तरह वे सचाई को हासिल कर लेगे। उनकी निगाह में सचाई सिर्फ दो पराकाष्ठाओ के बीच ही हुआ करती है। हर ऐसी चीज़ की निन्दा करके, जिसे वे पराकाष्ठा मानते है, वे समझते है कि वे गुणवान मध्यम-मार्गी और नेक आदमी है। इस तरीके से वे विचारो के कष्ट-प्रद और कठिन तौर-तरीके से तथा रचनात्मक विचारों को पेश करने की आफत से बच जाते है। उनमें से कुछ लोग अस्पष्ट रूप से महसूस करते है कि पूँजीवाद यूरप मे पूरी तरह कामयाब नही हुआ है और संटक में पड़ा हुआ है, और दूसरी तरफ, समाजवाद तो जाहिरा तौर पर ही खराब है, क्योंकि उससे स्थापित स्वार्थो पर हमला होता है। शायद भविष्य मे कोई रहस्यवादी उपाय, कोई बीच का मुकाम मिल ही जायगा, इस बीच, स्थापित स्वार्थो की रक्षा होनी चाहिए। अगर इस बाबत बातचीत की जाय कि पृथ्वी चपटी है या गोल, तो शायद

वह इन दोनों ही पराकाष्ठाओ के विचारो की निन्दा करेगे और थोड़ी देर को यही सुझायेंगे कि वह शायद चौकोर या अण्डाकार होगी।

बहुत छोटे-छोटे और बेवजनी मामलो पर भी वे बहुत भडक जाते है और इतना होहल्ला और शोर-गुल मचा देते है कि कुछ पूछिए नही। जान मे या अनजान मे वे मौलिक सवालों को हाथ नही लगाते, क्योंकि ऐसे सवालो के लिए तो मौलिक उपायो की ओर विचार और कार्यक्रम के साहस की ज़रूरत होती है। इसलिए लिबरलों की सफलता या असफलता का कोई नतीजा नही होता। उनका किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध नही होता। इस पार्टी की बडी विशेषता और खास लक्षण अगर उसे लक्षण कहा जा सके, यह है कि हर अच्छी और बुरी बात मे नरम रहना यही इनके जीवन का दृष्टिकोण है और इनका पुराना नाम—मॉडरेट—ही शायद सबसे ठीक था।

"माडरेट होने में ही हम फूले नही समाते है,
नरम गरम हमको कहते, औ' गरम नरम बतलाते है।"[१]

लेकिन माडरेट-वृत्ति कितनी भी प्रशसनीय क्यो न हो, वह कोई तेज-पूर्ण और ओजस्वी गुण नही है। यह वृत्ति तेजोहीनता पैदा करती है और इसलिए हिन्दुस्तान के लिबरल बदकिस्मती से एक 'तेजोहीन-दल' बन गये है—वे चेहरे से मन्द-तेज और सजीदा, लेखों और बातचीत मे उत्साहहीन होते है और विनोद-प्रियता से खाली रहते है। निश्चय ही इनमे कुछ अपवाद भी है और एक सबसे बडे अपवाद है सर तेजबहादुर सप्रू, जिनका व्यक्तिगत जीवन निश्चय ही नीरस और विनोद-रहित नही है, बल्कि जो अपने विरुद्ध किये गये मज़ाक मे भी रस लेते हैं। लेकिन कुल मिलाकर लिबरल-दल मध्यम-वर्गशाही की पराकाष्ठा का साकार रूप है, और उसमें ऐसा ठोसपन है, जिसका दूसरा नाम सुस्ती या मदी है। इलाहाबाद के 'लीडर' ने जो, कि प्रमुख लिबरल अखबार है, पिछले साल अपने एक अग्रलेख में लिबरल मनोवृत्ति को बहुत स्पष्टता से प्रकट कर दिया था। उसने बताया था कि बडे और उन साधारण

१ एलेक्जेण्डर पोप के अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

लोगो ने दुनिया को हमेशा ही मुसीबतों मे डाला है। इसलिए उसकी राय थी कि मामूली औसत दरजे के लोग ही ज्यादा अच्छे होते हैं। बड़े ही नाजुक और साफ ढग से इस अखबार ने औसतपने के साथ अपने झडे का गठ-बन्धन कर लिया।

'नरम' रहना, रूढ़ि-प्रियता और खतरो तथा अचानक परिवर्तनो से बचने की इच्छा बुढापे के अनिवार्य साथी है। ये बातें नौजवानो को बिलकुल नही सोहती। लेकिन हमारा तो देश भी पुरातन और बूढा है, कभी-कभी इसके बच्चे भी कमजोर और थके हुए पैदा होते मालूम होते हैं और उनमे तेजो-हीनता और बुढापे के चिन्ह होते है। लेकिन जो तबदीली हो रही है, उसकी ताकतो से ऐसा बूढा देश भी अब हिल उठा है और नरम दृष्टिकोण रखनेवाले भी इसे देखकर घबरा-से गये है। पुरानी दुनिया गुजर रही है, और लिबरल लोग कितनी भी योग्यता से बुद्धिमत्तापूर्ण काम करने की मीठी सलाह दे, उससे कोई फर्क नही पडता। तूफान या बाढ़ या भूकम्प को समझाकर कही रोका जा सकता है? उनकी पुरानी धारणाये टिकती नही हैं, और नई-नई तरह के विचार और काम की उनमे हिम्मत नही। यूरोपियन परम्परा के बारे मे डाक्टर ए० एन० व्हाइटहेड कहते हैं—"यह सारी परम्परा इस दूषित धारणा मे पडी है कि हर पीढी बहुत-कुछ उन्ही परिस्थितियो मे जीवन बितायेगी, जिन्होने उसके पुरखो के जीवन का निर्माण किया था, और वही परिस्थितियाँ आगे भी उतने ही बल से उनकी सन्तान के जीवन को बनायेगी। हम मनुष्य-जाति के इतिहास-युग के पहले चरण मे रह रहे हैं, जिसके लिए कि यह धारणा बिलकुल गलत है।" डा० व्हाइटहेड ने भी अपने इस विश्लेषण मे थोडी नरमी दिखलाने की गलती की है, क्योकि शायद वह धारणा हमेशा ही गलत रही है। अगर यूरप की परम्परा वही पुरानी लकीर पीटती रही है, तो फिर हमारी परम्परा का तो हिसाब लगाइए, उसकी क्या हालत होगी? लेकिन इतिहास को गढ़ने वाले, जब परिवर्तन का युग आ जाता है तब, इन परम्पराओ की तरफ ज़रा भी ध्यान नही देते। हम लाचारी से देखते रह जाते है और अपनी

योजनाओ की असफलताओ का दोष दूसरों के मत्थे मढ देते है। और जैसा कि श्री जेराल्ड हर्ड बतलाते है, "सबसे ज्यादा बरबादी करनेवाला वहम यही खयाल है, कि मनुष्य दिल में यह मान बैठे कि उसकी योजना उसकी विचार-पद्धति की गलती से नही बल्कि किसी दूसरे के जानबूझ कर बाधा डालने से असफल हुई है।"

इस भयकर वहम के शिकार हम सभी है। मै कभी-कभी सोचता हूँ कि गाधीजी भी इससे बरी नही है। मगर हम कम-से-कम कुछ-न-कुछ काम तो करते ही है, जीवन के सम्पर्क में तो आने की कोशिश करते है और तजुर्बे और गलतियो के ज़रिये भी हम वहम की ताकत को कम कर देते है, और लुढकते हुए भी किसी तरह आगे बढते तो जाते है, लेकिन लिबरल सबसे ज्यादा दुख उठाते है। क्योकि इस डर से कि कही हमसे कोई गलत काम न हो जाय, वे काम ही नही करते, और गिर या फिसल जाने के डर से वे आगे कदम ही नही बढाते। जनता के साथ वे अच्छा हार्दिक सम्पर्क पैदा करने से दूर ही रहते है, और अपने ही विचारो की तग कोठरियो मे मोहित और समाधिस्त-से बैठे रहते है। डेढ साल पहले श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपने सगी-साथी लिबरलो को आगाह किया था कि उन्हें चुपचाप खडे देखते न रहना चाहिए और घटनाओं को योंही गुजरने न देना चाहिए। उस आगाही में वह जितनी सचाई समझते थे, उससे कही ज्यादा सचाई थी। सरकार क्या कर रही है इस बात का ही हमेशा विचार करते रहने का कारण, वह उन विधान-सम्बन्धी परिवर्तनों की तरफ इशारा कर रहे थे, जिन्हे भिन्न-भिन सरकारी कमिटियाँ बना रही थी, लेकिन लिबरलों की बदकिस्मती यह थी कि जब उनके ही देशवासी आगे बढ रहे थे, तब वे चुपचाप खडे-खडे तमाशा देख रहे थे और घटनाओं को योंही गुजरने दे रहे थे। वे अपने ही लोगों से डरते थे और हमारे शासको से अलहदा होने के बजाय उन्होंने इन आम लोगो से दूर रहना ही ज्यादा अच्छा समझा। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या था कि वे अपने ही मुल्क में अजनबी से बन गये। दुनिया आगे बढ गई और उन्हे वहीं-का-वही छोड गई। जब लिबरलों

के देशवासी ज़िन्दगी और आजादी के लिए भयकर लड़ाइयाँ लड़ रहे थे, तब इसमे कोई शक नही रहा था कि लिबरल मोर्चेबन्दी के किस तरफ खडे है। मोर्चेबन्दी की दूसरी तरफ से वे हमे नेक सलाह दे रहे थे और बड़ी-बडी नैतिक बातें करते थे, और इस चिपचिपे रोगन की तह-पर-तह हमारे ऊपर चढाते जाते थे। गोलमेज़-कान्फ्रेंसो और कमिटियों मे जो सहयोग उन्होंने सरकार को दिया, वह उसके हक में बडी महत्वपूर्ण नैतिक लाभ की चीज थी। अगर यह सहयोग न दिया जाता, तो बड़ा फर्क पड जाता। यह ध्यान देने की बात है कि एक कान्फ्रेन्स में ब्रिटिश मजदूर-पार्टी तक अलग रही, लेकिन हमारे लिबरल साहबान तो उसमे भी अलग नही रहे और कुछ अग्रेज सज्जनो ने उनसे न जाने की अपील की तो भी वे वहाँ चले ही गये।

यो तो हमारे जुदे-जुदे मकसदो के लिहाज़ से हम सब नरम या गरम है। फर्क सिर्फ मात्रा का है। जिस बात के बारे मे हमे अधिक चिन्ता हो उसके विषय मे हमारी भावना भी तीव्र हो जाती है, और हम उसके सम्बन्ध मे 'गरम' हो जाते है, नही तो हम दयादर्शक सहनशीलता धारण कर लेते है, एक प्रकार की दर्शनिक सौम्यता अख्तियार कर लेते है, जोकि, असल मे कुछ हद तक हमारी उदासीनता को ढक लेती है। मैंने नरम-से-नरम माडरेटो को बहुत उग्र और गरम होते हुए देखा है, जब उनके सामने देश से कुछ स्थापित स्वार्थो को उड़ा देने की बात रक्खी गई। हमारे लिबरल मित्र कुछ हद तक धनीमानी और समृद्ध लोगों का प्रतिनिधित्व करते है। स्वराज्य के लिए उन्हें बहुत दिनो तक इन्तज़ार करना पुसा सकता है और इससे उसके लिए उन्हे व्यग्र या उत्तेजित हो उठने की ज़रूरत नही। लेकिन जहाँ कोई आमूल सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न आया कि उनमे खलबली मची। तब वे न तो उसके विजय मे माडरेट ही रह जाते है और न उनकी वह सुन्दर समझदारी ही कायम रहती है। इस तरह उनकी नरमी ब्रिटिश सरकार के प्रति उनके रुख तक ही मर्यादित है और वे यह आशा लगाये बैठे है, कि यदि वे काफी आदर-भाव दिखाते रहे और समझौते से काम लेते रहे,

तो मुमकिन है कि उनके इस सलूक के पुरस्कार में उनकी वात सुन ली जाय। इसलिए वे ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखे विना रह ही नही सकते। 'व्ल्यू वुक' (सरकारी रिपोर्ट) उनके गभीर अध्ययन की वस्तु होती है। इर्सकिन मे की 'पार्लमेण्टरी प्रेक्टिस' और ऐसी ही किताबें उनकी जीवन-सगिनी होती है। नई सरकारी रिपोर्ट उनके तैश और तर्कवितर्क का विपय वनती है। इग्लैण्ड से लौटनेवाले लिवरल नेता ह्वाइट-हॉल की विभूतियो के कारनामो के वारे में रहस्यमय वक्तव्य देते है, क्योकि, ह्वाइट-हॉल लिवरलो, प्रतिसहयोगियो और ऐसे ही दूसरे दलो की दृष्टि में वैकुण्ठ है। पुराने ज़माने में यह कहा जाता था कि जव कोई भद्र अमेरिकन मर जाता, तो उसकी आत्मा पेरिस जाती थी। इसी तरह यह कहा जा सकता है कि अच्छे लिवरलो की प्रेतात्मा ह्वाइट-हॉल की चहारदिवारी का कभी-कभी चक्कर लगाती रहती है।

यहाँ लिखा तो मैने लिवरलो के वारे मे है, लेकिन यही वात वहुतेरे कॉंग्रेसियो पर भी लागू होती है और प्रतिसहयोगियो पर तो और भी ज्यादा लागू होती है; क्योकि नरमी में तो उन्होने लिवरलों को भी मात कर दिया है। औसत दर्जे के लिवरल और औसत दर्जे के कॉंग्रेसी में वडा फर्क है। मगर इस सम्वन्ध मे विभाजक रेखा न तो साफ ही है, न निश्चित ही। जहाँतक विचार-धारा से सम्वन्ध है, आगे वढे हुए लिवरल और नरम कॉंग्रेसी मे कोई ज्यादा फर्क मालूम नही होता। मगर भला हो गाधीजी का, जो हरेक कॉंग्रेसी ने अपने देश और देश के लोगो के साथ थोडा-वहुत सपर्क रक्खा है और वह काम भी करता रहता है और इसीकी वदौलत वह एक धुंधली और अधूरी विचारधारा के परिणामों से वच गया है। मगर लिवरलों की वात ऐसी नही है। उन्होने पुराने और नये दोनों ही विचार के लोगों से अपना नाता तोड लिया है। एक जमात की हैसियत से वे उन लोगों के प्रतिनिधि है, जो मिटते जा रहे है।

मै खयाल करता हूँ कि हममें से वहुतों की वह पुरानी अधश्रद्धा तो नष्ट हो चुकी है; लेकिन नई अतर्दृष्टि प्राप्त नही हुई है। न तो हमे

समुद्र से उछलते हुए प्रोटियस[1] के दर्शन सुलभ है और न हमारे कान बूढ़े ट्रायटन[2] की पुष्पमाला-विभूषित शृंगी की मधुर ध्वनि ही सुन पाते है। हममें से बहुत कम लोग इतने भाग्यशाली है जो—

"पिंड मे ब्रह्माण्ड को अवलोकते,
वन-सुमन मे स्वर्ग-शोभा देखते;
अजली मे बाँधते निस्सीम को,
एक पल से नापते चिरसीम को।"[3]

दुर्भाग्य से, हममे से बहुतेरे प्रकृति के रहस्यपूर्ण जीवन की अनुभूति से दूर है। वह रहस्य-ध्वनि हमारे कानो के पास तो गूँजती है, लेकिन हम सुन नही पाते। उसके स्पर्श के मधुर कपन का सुख नही उठाते। वे दिन अब चले गये; लेकिन चाहे अब हम पहले की तरह प्रकृति की दिव्यता का दर्शन न कर सके, तो भी मानवजाति के गौरव और करुणा मे उसके बडे-बडे स्वप्नो और आन्तरिक तूफानो मे, उसकी पीडाओं और विफलताओ मे, उसके सघर्पो और विपत्तियो मे, और इन सबसे बढकर एक महान् उज्ज्वल भविष्य की आशा मे तथा उन महत्त्वाकाक्षाओ की प्राप्ति मे, हमने उसे पाने का प्रयत्न किया है। और जो कष्ट और क्लेश इस खोज मे हमे उठाने पडे है, उसका बदला हमे इसी प्रयत्न मे मिल गया है। इस खोज ने समय-समय पर हमे जीवन की तुच्छता से ऊँचा उठाया है। लेकिन बहुतो ने इस शोध का प्रयत्न ही नही किया और पुराने तरीकों से अपने को बिलकुल अलहदा रखकर वर्तमान मे अपना मार्ग खो दिया है। न तो उनकी भावनाये ही ऊँची है, न कुछ

१. प्रोटियस—प्राचीन काल का एक जलदेवता, जो चाहे जब अपना मन चाहा रूप धारण कर सकता था। बदलती रहनेवाली किसी चीज या व्यक्ति के लिए भी, अक्सर इस शब्द का प्रयोग होता है।

२ ट्रायटन—प्रोसिडन का पुत्र और एक ऐसा जलदेवता, जो अर्द्ध-मनुष्य और अर्द्ध मत्स्य था। इसका खास काम शंख-ध्वनि द्वारा सागर-तरंगो को कम-ज्यादा करते हुए उनपर नियंत्रण रखना था।

३. अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद

वे करते ही है। वे फ्रान्स की महान् राज्यक्रांति या रूसी राज्यक्रांति-जैसे मानवी उथलपुथल का मर्म नही समझते। चिरकाल मे दबी हुई मानवी अभिलाषाओं के जटिल तेज और निठुर विस्फोटो या उभाड़ों से भयभीत हो जाते है। उनके लिए बेस्तील (फ्रान्स) का क़िला अभी सर नहीं हुआ है।

बड़े रोष के साथ अक्सर यह कहा जाता है कि 'देश-भक्ति का ठेका कुछ कांग्रेसवालो ने ही नहीं ले रक्खा है।' यही शब्द बार-बार दोहराये जाते है, जिनमें कोई नवीनता नहीं दिखाई देती। यह देखकर कुछ दुःख होता है। मै समझता हूँ, अपने लिए इस भावना के एक अश का भी कभी किसी काग्रेसी ने दावा नहीं किया होगा। अवश्य ही, मै नही समझता कि कांग्रेस ने ही इसका ठेका ले रक्खा है। और मै बड़ी खुशी के साथ जिस किसीको चाह हो उसे इसकी भेंट करने को तैयार हूँ। यह तो अवसर से फायदा उठानेवालों और सुखी और निश्चित जीवन चाहनेवालों के लिए अक्सर एक ढाल का काम देता है और हर तरह की रुचियो, स्वार्थो और वर्गो के अनुकूल उसके कई रूप है। अगर आज जूडस[1] जीवित होता तो वह भी, इसमें कोई शक नही, इसीके नाम पर काम करता। लेकिन अब तो देश-भक्ति ही काफी नहीं है; अब तो हमें कोई उससे ज्यादा ऊँची, व्यापक और श्रेष्ठ चीज चाहिए।

और नरमी स्वत. ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जो काफ़ी समझी जाय। हाँ, संयम एक अच्छी चीज़ है और वह हमारी सस्कृति का एक पैमाना है; मगर कोई चीज़ भी तो हो, जिसका हम सयम और निग्रह करे। मनुष्य सदा से पंचतत्त्वो पर शासन करता आ रहा है, बिजली पर सवारी गाँठता आ रहा है, लपकती हुई आग और वेगयुक्त और गिरते-पड़ते हुए पानी को अपने काम में लाता रहा है और यह सब वह अब भी करता है; लेकिन उसके लिए इन सबसे ज्यादा मुश्किल हुआ है उसको खा डालनेवाले विकारो का निग्रह करना या उन्हे संयम मे

१. ईसा के मुख्य बारह शिष्यो में एक था जिसने दग़ा करके ईसा को यहूदियों के हाथ पकड़ा दिया था। अनु०

रखना। जबतक वह इन्हे अपने काबू मे नही कर लेता, तबतक वह अपनी मनुष्यता की विरासत को पूरी तरह नही पा सकता। पर क्या हम उन पैरो को रोक रक्खे, जो हिलते ही नही है या उन हाथो को, जिन्हे लकवा मार गया है ?

इस प्रसग पर मै रॉय केम्पबेल की चार पक्तियाँ देने का लोभ नही रोक सकता, जो उन्होने दक्षिण अफ्रीका के किसी उपन्यासकार के सम्बन्ध मे लिखी थी :

"लोक आपके दृढ सयम का गाता है यश-गान
मै भी उसमे देता उसका साथ आज, मतिमान !
खूब जानते आप खीचना और मोड़ना वाग,
पर कमबख्त कहाँ वह घोडा, है इसका कुछ ध्यान ?"[१]

हमारे लिबरल मित्र हमसे कहते है कि वे सकडे स्वर्ण मध्यम मार्ग पर चलते है और एक तरफ काँग्रेस और दूसरी तरफ सरकार दोनो की पराकाष्ठायें बचाकर अपना रास्ता निकालते है। वे दोनों की कमियाँ बताने वाले मुसिफ बनते है और इस बात के लिए अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनते है कि वे इन दोनो की बुराइयो से बरी है। मेरी समझ मे वे तराजू धारण करके आँखो पर पट्टी बाँधकर वे निष्पक्ष बनने की कोशिश करते है। कही यह मेरी खब्त ही तो नही है जो, आज मेरे कानों में सदियो पुरानी वह मशहूर पुकार आ रही है—"स्क्राइब्स[१] और फेरिसियो[२].........ओ अधे पथ-प्रदर्शको ! तुम हाथी को तो निगल जाते हो और दुम से परहेज करते हो !"[३]

१. केम्पबेल के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

१ स्क्राइब्स—यहूदी स्मृतिकार और उनके आचार-विचार के व्याख्याता।

२. फेरिसियो—प्राचीन यहूदियो के एक दलवालो का नाम, जो प्रचलित रस्म-रिवाजो पर दृढ़ता से जमे रहने के लिए मशहूर थे। इसी-लिए रूढ़िवादी, धर्मध्वजी और पाखण्डी लोगो के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

३. बाइबिल का प्रसिद्ध वाक्य।

: ५२ :

औपनिवेशिक स्वराज और आज़ादी

पिछले सत्रह वर्षो से जिन लोगो ने कांग्रेस की नीति का निर्माण किया है उनमे से ज्यादातर मध्यम-श्रेणी के लोग हैं। चाहे वे लिबरल हो चाहे कांग्रेसी, आये सब उसी श्रेणी से और एक-सी परिस्थितियो मे उन सबका विकास हुआ है। उनका सामाजिक जीवन, उनका रहन-सहन, उनके मेल-मुलाकाती और इष्ट-मित्र सब एक-से रहे है और शुरू मे जिन दो किस्मो के मध्यमवर्गी आदर्शों का वे प्रतिपादन करते थे, उनमे ऐसा कोई कहने लायक अन्तर न था। स्वभावगत और मानसिक भेदो ने उनको जुदा करना शुरू किया और वे मुख्तलिफ दिशाओ मे देखने लगे। एक दल तो सरकार और धनी लोगो---ऊपरी मध्यमवर्ग के लोगो---की तरफ और दूसरा निम्न मध्यमवर्गियो की तरफ। विचार-धारा अब भी दोनो की एक-सी थी और ध्येय मे भी कोई फर्क नही था। लेकिन इस दूसरे दल के पीछे अब बाजारू, साधारण पेशेवर और बेकार पढे-लिखे लोगो का समुदाय आने लगा। इससे उसका स्वर बदल गया। उसमे वह अदब और शायस्तगी न रही, बल्कि उसका लहजा करारा और हमलावर होगया। कारगर ढग से काम करने की ताकत तो थी नही, सो कडी जबान मे उसे कुछ राहत मिल गई। इस नई परिस्थिति को देखकर डर के मारे माडरेट लोग काग्रेस से खिसक गये और अकेले रहने मे ही उन्होने अपने को सुरक्षित समझा। फिर भी ऊपरी मध्यम-वर्गियो का उसमे ज़ोर था, हालाँकि, तादाद मे निम्न मध्यमवर्गियो की प्रधानता थी। वे अपने राष्ट्रीय सग्राम मे महज कामयाबी की ख्वाहिश से ही नही आये थे; बल्कि इसलिए कि उस सग्राम मे ही उन्हें सच्चा सतोष मिल जाता था। वे उसके द्वारा अपने खोये हुए स्वाभिमान और आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्त करना और अपने तहस-नहस हुए गौरव को फिर से पूर्व पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यों तो एक राष्ट्र-

वादी के मन में सदा से ही ऐसी प्रेरणा उठती आई है और हालाँकि सभी के मन मे उठती है, तो भी यही से नरम और गरम दोनो की स्वभावगत भिन्नता सामने आगई। धीरे-धीरे काग्रेस मे निम्न मध्यमवर्गियों की प्रधानता होती गई और आगे चलकर किसानो ने भी उसे प्रभावित किया।

ज्यों-ज्यो काँग्रेस ग्रामीण-जनता की अधिकाधिक प्रतिनिधि बनती गई त्यों-त्यों उसके और लिबरलो के बीच की खाई और-और चौडी होती गई यहाँ तक कि लिबरलो के लिए काग्रेस के दृष्टिकोण को समझना या उसकी कदर करना नामुमकिन हो गया। उच्चवर्ग के दीवानखाने के लिए छोटी कुटिया या कच्चे झोपडे को समझना आसान नही है। फिर भी, इन मतभेदो के रहते हुए भी, दोनो की विचार-धारा राष्ट्रीय और मध्यमवर्गीय थी, जो कुछ फर्क था वह मात्रा का था, प्रकार का नही। काग्रेस मे अखीर तक कितने ही ऐसे लोग रहे जो नरम-दल मे बडे मजे से खपते और रहते।

कई पीढियो से ब्रिटिश लोग हिन्दुस्तान को अपने खास मौज व आराम का घर समझते आये हैं। वे ठहरे भद्र कुल के और उस घर के मालिक—उसके आवश्यक हिस्सो पर अपना कब्ज़ा किये हुए—इधर हिन्दुस्तानियो के हवाले नौकरो की कोठरियाँ, सामान-घर और रसोई घर वगैरा किये गये। एक सुव्यवस्थित घर की तरह वहाँ नौकरो के कई दर्जे बधे हुए है—खानसामा, जमादार, रसोइया, कहार, वगैरा-वगैरा—और उनमे छोटे-बडे का पूरा-पूरा खयाल रक्खा जाता है। लेकिन मकान के ऊपर और नीचे के हिस्सो मे एक ऐसी जबरदस्त सामाजिक और राजनैतिक आड लगा दी है जिसे पार करके कोई इधर-से-उधर जा ही नही सकता। ब्रिटिश सरकार का इस व्यवस्था को हमारे सिर पर लादे रहना तो किसी तरह आश्चर्यजनक नहीं है मगर यह जरूर आश्चर्य की बात है कि हम या हममें से बहुतो ने खुद उसके सामने इस तरह से सिर झुका दिया है, गोया वह हमारे जीवन या भाग्य की कोई स्वाभाविक और अवश्यम्भावी व्यवस्था हो। हमने मकान के एक

अच्छे नौकर का-सा अपना दिमाग वना लिया । कभी-कभी हमारी वडी इज्ज़त कर दी जाती है—दीवानखाने मे चाय का एक प्याला हमें दे दिया जाता है। हमारी महत्त्वाकाक्षाओ की उच्चता होती है सम्मानित वनने तक, व्यक्तिगत रूप से ऊँचे दर्जे मे चढा दिये जाने तक । सचमुच हथियारो और कूटनीति के द्वारा प्राप्त की गई विजय से ब्रिटिशो की हिन्दुस्तान पर यह मानसिक विजय कही वढकर है । पुराने समझदारों ने कहा ही है कि 'गुलाम गुलाम की-सी ही वात सोचने लगता है।'

अव ज़माना वदल गया और अव न इग्लैण्ड में और न हिन्दुस्तान मे सेठ-नौकर वाली वह आदर्श सभ्यता राज़ी-खुशी से मानी जाती है। मगर फिर भी हममे ऐसे लोग है जो उन्ही नौकरो की कोठरियो मे पडे रहने की ख्वाहिश रखते है और अपनी सुनहरी चपरासो, पट्टो, वर्दियो और बिल्लो पर नाज़ करते हैं। दूसरे कुछ लोग लिवरलो की तरह, उस सारे भवन को तो ज्यो-का-त्यो कायम रहने देना चाहते है, उसकी कारीगरी और उसकी सारी रचना की स्तुति करते है, लेकिन इस वात के लिए उत्सुक है कि धीरे-धीरे उसके मालिकों की जगह खुद उन्हे मिल जाय। वे उसे 'भारतीयकरण' कहते है। उनके लिए शासको का रग वदल जाना या अधिक-से-अधिक नये शासक-मण्डल का वन जाना काफी है। वे एक नई राज्य-व्यवस्था की भाषा मे कभी नही सोचते।

उनके लिए स्वराज के मानी है—और सब वाते ज्यो-की-त्यो चलती रहे, सिर्फ उसका काला रग और गहरा कर दिया जाय। वे तो महज ऐसे ही भविष्य की कल्पना कर सकते है, जिसमे वे या उनके जैसे लोग सूत्र-सचालक रहे और अग्रेज हाकिमो की जगह ले ले—जिसमे कि उसी तरह की नौकरियाँ, महकमे, धारा-सभाये, व्यापार, उद्योग और सिविल सर्विस अपना काम करती रहे। राजा-महाराजा अपनी जगह सुरक्षित रहे, कभी-कभी जर्क-वर्क पोशाक और जवाहरात से सजधज कर रिआया पर रौव गाँठते हुए दर्शन दिया करे, जमीदार एक तरफ विशेष रूप से अपना रक्षण चाहे और दूसरी तरफ काश्तकारो को परेशान करते रहे, साहूकार की तिजोरी भरी रहे, जो जमीदार और काश्तकार दोनो को

तग करता रहे, वकील अपना मेहनताना पाते रहे और ईश्वर स्वर्गपुरी मे विराजता रहे।

हाँ, तो उनका दृष्टिकोण आवश्यक रूप से इसी बात पर आधार रखता है कि वर्तमान व्यवस्था चलती रहे। जो कुछ तब्दीलियाँ वे चाहते है वे व्यक्तिगत परिवर्तन कहे जा सकते है; और वे इन परिवर्तनों को ब्रिटिशो की सद्भावना से बूँद-बूँद करके कराना चाहते है। उनकी सारी राजनीति और अर्थनीति की बुनियाद ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिरता और दृढता पर है। वे देखते है कि इस सम्राज्य की नीव हिल नही सकती, कम-से-कम बहुत समय तक, तो फिर वे उसके मुआफिक अपने को बनाते है और न केवल उसकी राजनैतिक और आर्थिक विचारधारा को ही ग्रहण करते है, बल्कि बहुत हद तक उसके उन नैतिक आदर्शों को भी अपनाते है, जोकि ब्रिटिश प्रभुत्व को कायम रखने के लिए बनाये गये है।

लेकिन काग्रेस का रुख मूल से ही भिन्न है, क्योंकि वह एक नई राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहती है, न कि महज एक दूसरा शासक-मण्डल बनाना। उस नई व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा इसकी स्पष्ट धारणा एक औसत काग्रेसी के दिमाग मे आज नही है और इसके बारे मे राये भी अलग-अलग हो सकती है। मगर काँग्रेस मे शायद माडरेट विचार के सब लोग इस बात को मानते है, कुछ इने-गिने लोगो को छोडकर, कि मौजूदा अवस्था और तरीके कायम नही रह तकते और न रहने चाहिएँ और बुनियादी तबदीलियाँ लाजिमी है। यही फर्क है डोमीनियन स्टेटस—औपनिवेशिक स्वराज्य—और पूर्ण स्वाधीनता मे। पहला उसी पुराने ढाचे को दृष्टि मे रखता है, जो हमे ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बहुतेरे बन्धनो से बाँधे हुए है, और दूसरा हमे अपनी परिस्थितियो के अनुकूल एक नया ढाँचा खड़ा करने की स्वतन्त्रता देता है, या उसे देना चाहिए।

यह इग्लैण्ड या अग्रेज़ लोगो से अटल शत्रुता रखने का या हर तरह से उनसे सम्बन्ध हटा लेने का सवाल नहीं है। परन्तु जो कुछ हो चुका है उसीकी तरह अगर इग्लैंण्ड और हिन्दुस्तान मे वैमनस्य बना-

रहा तो उसका कुदरती नतीजा यही होगा। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते है कि "सत्ता का अनाड़ीपन ताले की कुजी को तो खराब कर देता है और फिर उसकी जगह गेंती से काम लेता है।" हाँ, हमारे दिलो की कुजी तो कभी की टूट-फूट चुकी है और गेतियो का जो भरपूर उपयोग हम पर किया गया है उसने हमे अग्रेजो का तरफदार नही बनाया। लेकिन यदि हम भारतवर्ष और मानव-जाति के व्यापक हितों की सेवा करने का दावा करते है, तो हम अपने को क्षणिक विकारों और भावनाओ मे नही बहने दे सकते, और चाहे हम उस तरफ झुक भी जायँ तो गाँधीजी ने जो १५ साल तक हमको कडी तालीम दी है वह हमे उससे रोक लेगी। यह मै एक ब्रिटिश जेलखाने में बैठकर लिख रहा हूँ, महीनो से मेरा दिमाग चिन्ताकुल है और इधर मुझपर जेल मे जो कुछ बीती है, उससे कही ज्यादा कष्ट मैने इस तनहाई मे सहे है। कई घटनाओ के अवसरो पर विरोध और नाराजगी से मेरा दिल अक्सर भर गया है, लेकिन फिर भी यहाँ बैठा हुआ जब मै अपने दिल और दिमाग की गहराई को टटोलता हूँ तो उसमे कही भी इंग्लैण्ड या अग्रेजो के प्रति रोष या द्वेष नही दिखाई पडता। हाँ, मै ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नापसन्द करता हूँ और हिन्दुस्तान पर उसके लाद दिये जाने से मै नाराज हूँ। मुझे पूँजीवादी प्रणाली नापसन्द है। ब्रिटेन के शासकवर्ग हिन्दुस्तान का जिस तरह शोषण कर रहे है उसे मै जरा भी पसन्द नही करता और उसपर मुझे रोष है। मगर मै कुल मिलाकर इंग्लैण्ड या अग्रेजो को इसके लिए जिम्मेदार नही ठहराता, और अगर मै ऐसा करूँ भी तो उससे कोई ज्यादा फर्क नही पडता, क्योकि सारी जाति पर नाराज होना या उसकी निन्दा करना जरा बेवकूफी की ही बात है। वे भी उसी तरह परिस्थितियो के शिकार बन गये है जैसे कि हम।

मै खुद तो अपनी मनोरचना के लिए इग्लैण्ड का बहुत ऋणी हूँ। इतना कि उसके प्रति जरा भी परायेपन का भाव नही रख सकता और मै जो चाहूँ करूँ, लेकिन मै अपने मन के उन सस्कारो से और दूसरे

देशों के और आमतौर पर जीवन के बारे मे विचार करने की पद्धतियो और आदर्शो से, जो मैंने इग्लैण्ड के स्कूल और कालेजो मे प्राप्त किये है, मुक्त नही हो सकता। राजनैतिक योजना को छोड दे, तो मेरा सारा पूर्वानुराग इग्लैण्ड और अग्रेज लोगो की ओर दौडता है, और अगर मै हिन्दुस्तान मे अग्रेजी शासन का 'कट्टर विरोधी' बन गया हूँ तो मेरी अपनी स्थिति ऐसी होते हुए भी ऐसा हुआ है।

हम जिसपर ऐतराज करते है और जिसके साथ हम कभी राजी-खुशी से समझौता नही कर सकते वह अग्रेजों का शासन है, आधिपत्य है, न कि अग्रेज लोग। हम शौक से अग्रेजों से और दूसरे विदेशियों से घनिष्ट सम्पर्क बाँधे। हम हिन्दुस्तान में ताजी हवा चाहते है, ताजा और चेतनामय विचार और स्वास्थ्यकर सहयोग चाहते है, क्योकि हम जमाने से बहुत पीछे पड गये है। लेकिन अगर अग्रेज शेर बनकर यहाँ आते है, तो वे हमसे दोस्ती या सहयोग की कोई उम्मीद नही रख सकते। साम्राज्यवाद के शेर का तो यहाँ प्राण-पण से मुकाबिला किया जायगा और आज हमारे देश का उसी महान् क्रूर पशु से पाला पड़ा है। जंगल के उस क्रुद्ध शेर को पाल लेना और वशीभूत कर लेना सम्भव हो सकता है' लेकिन पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को, जब कि ये दोनों मिलकर एक अभागे देश पर टूट पड़े है, पालतू बना लेना किसी भी तरह मुमकिन नही है।

किसीका यह कहना कि वह या उसका देश किसीसे समझौता नही करेगा, एक तरह से बेवकूफी की बात है, क्योंकि जीवन हमेशा हमसे समझौता करवाता है, और जब दूसरे देश या वहाँ के लोगो पर यह बात लागू की जाती हो तब तो यह बिल्कुल ही बेवकूफी की बात है। लेकिन जब यह किसी प्रणाली या किन्ही खास हालतो के लिए कहा जाता है तो उसमें कुछ सचाई होती है और ऐसी दशा में समझौता करना मनुष्य की शक्ति के बाहर हो जाता है। भारतीय स्वाधीनता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ये दोनो परस्पर बेमेल है और न तो फौजी कानून और न दुनियाभर की ऊपरी चिकनी-चुपड़ी बाते ही उन्हे एक साथ मिला सकती

है । सिर्फ ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का हिन्दुस्तान से हट जाना ही एक ऐसी चीज़ है जिससे सच्चे भारत-ब्रिटिश-सहयोग के अनुकूल अवस्थाये पैदा हो सकेगी ।

हमसे कहा जाता है कि आज की दुनिया मे स्वाधीनता एक सकुचित ध्येय है, क्योकि दुनिया अब दिन-दिन परस्पराश्रित होती जा रही है । इसलिए मुकम्मिल आजादी की माग करके हम घडी का काटा पीछे घुमा रहे है । लिबरल और शान्तिवादी, यहाँ तक कि ब्रिटेन के समाजवादी कहलानेवाले भी, इस दलील को पेश करके हमे अपने सकुचित उद्देश्य पर लताडते है और साथ ही यह कहते है कि पूर्ण राष्ट्रीय जीवन का मार्ग तो 'ब्रिटिश राष्ट्र-सघ' मे से होकर गुजरता है । यह अजीब-सी बात है कि इग्लैण्ड मे तमाम रास्ते, लिबरलवाद, शान्तिवाद, समाजवाद वगैर, साम्राज्य को कायम रखने की ओर ही ले जाते है । ट्राटस्की कहता है—"शासक-राष्ट्र की प्रचलित व्यवस्था को कायम रखने की अभिलाषा अक्सर 'राष्ट्रवाद से श्रेष्ठ होने का जामा पहन लेती है, ठीक उसी तरह, जैसे विजेता राष्ट्र की अपनी लूट के माल को न छोडने की अभिलाषा आसानी से शान्तिवाद का रूप धारण कर लेती है । इस तरह मैकडानल्ड गाधी के आगे ऐसा महसूस करता है मानो वह कोई अन्त-राष्ट्रीयता का हामी है ।"

मै नही जानता हूँ कि हिन्दुस्तान जब राजनैतिक दृष्टि से आजाद हो जायगा तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा ? लेकिन मै इतना जरूर जानता हूँ कि उसके लोग जो आज राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के हामी है, वे व्यापक-से-व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी हिमायती है । एक समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ नही है, लेकिन बहुतेरे काग्रेसी जो समाजवादी नही है लेकिन आगे बढे हुए है, वे पक्की अन्तर्राष्ट्रीयता के उपासक है । स्वाधीनता हम इसलिए नही चाहते कि हमे सबसे कटकर अलग-अलग रहने की ख्वाहिश है । इसके विरुद्ध हम तो बिलकुल राज़ी है कि और देशो के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ हिस्सा छोड दे कि जिससे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन

सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली चाहे उसका नाम कितना ही बडा रख दिया जाय ऐसी व्यवस्था की दुश्मन ही है और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोगिता या शान्ति कभी स्थापित नही हो सकती।

इधर हाल मे जो घटनायें हुई है उन्होने सारी दुनिया को वता दिया है कि कैसे विभिन्न साम्राज्यवादी प्रणालियाँ स्वाश्रयी सत्ता और आर्थिक सामाज्यवाद के द्वारा अपने-आपको सव से जुदा कर रही है। अन्तर्राष्ट्रीयता की वढती के वजाय हम उसका उलटा ही देख रहे है। इसके कारणो को खोजना मुश्किल नही है। वे मौजूदा अर्थव्यवस्था की वढती हुई कमज़ोरी को जाहिर करते है। इस नीति का एक नतीजा यह हुआ है कि एक ओर जहाँ वह स्वाश्रयी सत्ता के क्षेत्र के अन्दर ज्यादा सहयोग पैदा करती है वहाँ दूसरी ओर वह दुनिया के दूसरे हिस्सो से वह अपने को अलग कर लेती है। हिन्दुस्तान को ही लीजिए। हमने ओटावा-सम्वन्धी तथा दूसरे निर्णयो से यह देख लिया है कि दूसरे देशों से हमारा सम्पर्क और रिश्ता दिन-दिन कम होता चला जा रहा है। हम पहले से भी ज्यादा ब्रिटिश उद्योग-धन्धो के आश्रित हो रहे है और, इससे कई वातो में जो तात्कालिक नुकसान हुए है उनको अलग रख दे तो भी, इस नीति से पैदा होनेवाले खतरे स्पष्ट है। इस प्रकार 'डोमीनियन स्टेटस' हमें व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सपर्क की ओर ले जाने के वजाय दुनिया से अलग पटकता हुआ दिखाई देता है।

लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी लिवरल दोस्त दुनिया को और खास करके खुद अपने मुल्क को असली नीले रग के ब्रिटिश चश्मे से देखने की एक विलक्षण सहज शक्ति रखते है। इस वात को समझने की कोशिश किये वगैर ही कि काग्रेस क्या कहती है और वह ऐसा क्यों कहती है, वे उसी पुरानी ब्रिटिश दलील को दोहराते रहते है कि औपनिवेशिक स्वराज की अपेक्षा पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श कही सकीर्ण और नैतिक उत्थान की दृष्टि से कम हितकारी है। उनके नज़दीक तो अन्तर्राष्ट्रीयता के मानी व्हाइट-हॉल होते है, क्योकि उनको दूसरे देशो का तो कुछ पता ही नहीं है। इसका कुछ कारण तो भाषा-सम्वन्धी दिक्कत है; मगर उससे भी

ज्यादा कठिनाई यह है कि उन्हे उनकी उपेक्षा करने मे ही सन्तोष है। और हिन्दुस्तान में तो वे किसी भी किस्म की उग्र राजनीति या 'सीधे हमले' के खिलाफ है। मगर यह देखकर कुतुहल होता है कि उनके कुछ नेताओ को, अगर दूसरे देशो मे ये तरीके अख्तियार किये जायँ, तो कोई ऐतराज नही होता। वे दूर रहकर ही उनकी कदर और इज्जत कर सकते है और पश्चिमी देशो के कुछ मौजूदा डिक्टेटरो को तो उनका मानसिक पूजा-सत्कार भी प्राप्त है।

नामो से धोखा हो सकता है। मगर हमारे सामने हिन्दुस्तान मे तो असली सवाल है कि हम एक नई राज्य-रचना करना चाहते हैं, या सिर्फ एक नया शासक-मण्डल बनाना चाहते है। लिबरलो का जवाब स्पष्ट है। वे पिछली बात से ज्यादा कुछ नही चाहते और वह भी उनके लिए तो एक दूरवर्ती और क्रम-क्रम से प्राप्त होनेवाला आदर्श है। 'औप-निवेशिक स्वराज्य' (डोमिनियन स्टेटस) का जिक्र अबतक कई बार किया गया है। मगर उसका असली उद्देश्य फिलहाल तो 'केन्द्रीय उत्तर दायित्व' इन गूढ शब्दो द्वारा प्रकट किया है। सत्ता, स्वाधीनता, आजादी स्वतन्त्रता आदि उनके जोरदार शब्द उनके लिए नही है। उन्हे तो ये खतरनाक मालूम होते है। एक वकील की भाषा और तरीके उन्हे ज्यादा जँचते है—चाहे भले ही बहुजन-समाज को वे उत्साहित न करते हो। इतिहास मे ऐसी अनगिनती मिसाले मिलती है कि जहाँ व्यक्तियो और समूहो ने अपने सिद्धान्तो और अपनी आजादी के लिए खतरो का मुका-बिला किया है और अपनी जान जोखिम मे डाली है। मगर यह सन्देहा-स्पद दिखाई देता है कि 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' या ऐसे किसी दूसरे कानूनी शब्दो के लिए कोई जान-बूझकर एक बार खाना छोड देगा या अपनी नीद हराम करेगा।

यह तो है उनका लक्ष्य और इसको भी पाना है 'सीधे हमले' या और किसी उग्र उपाय से नही, मगर जैसा कि श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है—'समझदारी, अनुभव, नरमी, समझाने-बुझाने की शक्ति, चुपचाप प्रभाव और असली कार्यदक्षता' का परिचय देकर। यह आशा

की जाती है कि हमारे इस सद्व्यवहार और सत्कार्य के द्वारा हम अन्त मे जाकर अपने शासको को इस बात के लिए राजी कर सकेगे कि वे अपने अधिकार छोड दे। दूसरे शब्दों मे वे हमारा विरोध इसीलिए करते है कि या तो वे हमारे आक्रमणात्मक रुख से चिढे हुए है या उन्हे हमारी क्षमता पर शक है, या इन दोनो बातो के कारण। सम्राज्यवाद और हमारी मौजूदा स्थिति का यह कैसा भोला-भाला विश्लेषण है। मगर प्रोफेसर आर० एच० टॉनी नामक एक विद्वान् अग्रेज लेखक ने क्रम-क्रम से और शासक वर्ग के सहयोग से सत्ता पाने के विचार सम्बन्ध मे बहुत उचित और हृदयाकर्षक भाषा मे अपने प्रभाव प्रकाशित किये है। उन्होने तो ब्रिटिश लेबरपार्टी को ध्यान मे रखकर लिखा है, लेकिन उनके शब्द हिन्दुस्तान पर और भी ज्यादा लागू होते है, क्योकि इग्लैण्ड मे कम-से-कम लोकतन्त्रात्मक सस्थाये तो है जहाँ बहुमत की इच्छा, सिद्धान्त-रूप मे तो, अपना प्रभाव डाल सकती है। प्रोफेसर टॉनी लिखते है :—

"प्याज का एक-एक छिलका उतारकर खाया जा सकता है, लेकिन आप एक ज़िन्दा शेर के एक-एक पजे की खाल नही उतार सकते। जीते की चीड-फाड करने का काम तो शेर का है और खाल को पहले उतारने वाला वह होता है........."

अगर कोई ऐसा देश है कि जहाँ के विशेषाधिकार पाये हुए वर्ग निरे बुद्धू हो तो कम-से-कम इग्लैण्ड वह नही है। यह खयाल गलत है कि लेबरपार्टी यदि चतुराई और सौजन्य से अपना पक्ष उपस्थित करे तो इससे वे धोखे में आजायँगे कि वह उनका भी पक्ष है। यह उतना ही निरर्थक है जितना कि किसी चलते पुर्जे कानून-दाँ को झाँसा देकर उस मिलकियत को हथिया लेना, जिसका कि हकनामा उसके नाम है। श्रीमन्तशाही में ऐसे हरदिल अजीज, चालाक, प्रभावशाली, आत्मविश्वासी और बहुत दब जाने पर न्याय-नीति की पर्वा न करनेवाले लोग है, जो अच्छी तरह जानते है कि रोटी किधर से चुपडी जा रही है और जो चुपडने के घी मे कभी कमी होने देना नही चाहते। अगर उनकी स्थिति को गहरा धक्का लगने की आशका होती है तो वे राजनैतिक और आर्थिक

शतरज के हरेक मोहरे से काम लेने पर उतारू हो जाते है। हाउस आफ लार्ड्स, सम्राट्, अखबार, फौज, आर्थिक प्रणाली—इनमे से प्रत्येक साधन का उचित-अनुचित उपयोग किये विना वे न रहेगे। आवश्यकता पडने पर वे अन्तर्राष्ट्रीय उलझने भी पैदा कर सकते है और जैसाकि १९३१ म पौण्ड की विनिमय दर गिराने के लिए की गई चेष्टाओ से सावित होता है, वे अन्य देश की शरण लेनेवाले राजनैतिक भगोडों की तरह अपनी जेव की रक्षा करने के लिए अपने देश का भी गला कटवा सकते है।

व्रिटिश लेवरपार्टी का जोरदार सगठन है। उसके पीछे कई मजदूर सस्थाये, जिनके लाखो चन्दा देनेवाले मेम्वर है, सहयोग-समितियो का एक वहुत समुन्नत सगठन तथा पेशेवर वर्गों के वहुत-से मेम्वर और हमदर्द लोग है। व्रिटेन मे वालिग मताधिकार पर आधार रखनेवाली कई लोक-तन्त्री पार्लमेण्टरी सस्थाये है और वहाँ वरसो से नागरिक स्वतत्रता की परम्परा चली आ रही है। लेकिन इन सव वातो के होते हुए भी मि० टॉनी की यह राय है—और हाल की घटनाओ ने उसको सही सावित कर दिया है—कि लेवर पार्टी खाली मुस्कराकर और समझा-वुझाकर असली हुकूमत पाने की उम्मीद नही कर सकती। हालाँ कि इन दोनो साधनो का प्रयोग करना लाभप्रद और वाञ्छनीय जरूर है। टॉनी साहव तो यहाँ तक कहते है कि अगर कॉमन-सभा मे मजदूर दल का वहुमत हो जाय तो भी विशेष लाभ-प्रद वर्गों के मुकाविले मे वह कोई भी आमूल परिवर्तन नही कर सकेगी; क्योंकि उनके हाथ मे आज कितनी ही राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, फौजी तथा राजस्व-सम्वन्धी जवरदस्त ताकते अपनी हिफाजत के लिए है। यह वताने की जरूरत नही है कि हिन्दुस्तान मे परिस्थितियाँ विलकुल दूसरी तरह की है। न तो यहाँ लोकतन्त्रात्मक सस्थाये ही है और न ऐसी परम्पराये ही। उसके वजाय, यहाँ आर्डिनेन्सों और तानाशाही हुकूमत का और वोलने, लिखने, सभा करने और अखवारो की आजादी को कुचलने का खासा रिवाज पडा हुआ है, और न लिवरलो का यहाँ कोई खासा मजवूत

संगठन है। ऐसी हालत में उन्हें अपनी मधुर मुस्कान का ही सहारा रह जाता है।

लिबरल लोग अवैध या 'ग़ैरक़ानूनी' कार्रवाइयों के सख़्त ख़िलाफ़ है, लेकिन जिन देशों का विधान लोकतन्त्रात्मक है वहाँ 'वैध' शब्द का व्यापक अर्थ होता है। उसमें कानून बनाने का अधिकार आजाता है, वह स्वतन्त्रताओं की रक्षा करता है, कार्यकारिणी को बन्दिश में रखता है, उसमें राजनैतिक और आर्थिक ढाचे में परिवर्तन करने के लिए लोकतन्त्रात्मक साधनों की गुंजाइश रहती है; लेकिन हिन्दुस्तान में ऐसा कोई विधान नहीं है, और यहाँ विधान के अर्थ भी इस तरह के नहीं है।[1] उसका यहाँ इस्तैमाल करना एक ऐसे भाव को ला बिठाना है जिसके लिए आज के हिन्दुस्तान मे कोई जगह नहीं है। और आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि यहाँ 'वैध' शब्द का प्रयोग अक्सर कार्यकारिणी के बहुत-कुछ मानमाने कार्यों के समर्थन में किया जाता है, या दूसरी तरह उसका 'क़ानूनी' के भाव मे व्यवहार किया जाता है। इससे तो यह कही बेहतर है कि हम कानूनी और ग़ैरक़ानूनी शब्दो का ही व्यवहार करें, हालाँकि वे काफी गोलमोल हैं। और समय-समय पर उनका अर्थ बदलता रहता है।

नये-नये आर्डिनेन्स या नये-नये कानून नये-नये जुर्मों को पैदा करते है। उनके अनुसार किसी सभा में जाना जुर्म हो सकता है; इसी तरह साइकिल पर सवार होना, ख़ास क़िस्म के कपड़े पहनना, शाम के बाद घर के बाहर निकलना पुलिस को रोज़ अपनी रिपोर्ट न देना, ये सब

---

१ श्री० सी० वाई० चिन्तामणि ने, जो कि एक नामी लिबरल नेता और 'लीडर' के प्रधान संपादक हैं, युक्तप्रान्त कौन्सिल में पार्लमेन्टरी ज्वाइन्ट सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट पर टीका करते हुए ख़ुद इस बात पर जोर दिया था कि हिन्दुस्तान में किसी भी किस्म के वैध शासन का अभाव है—"भविष्य में अधिक प्रतिगामी और उससे भी ज्यादा अवैध सरकार को मंजूर करने की बनिस्बत तो बेहतर है कि हम मौजूदा अवैध सरकार को ही लिये बैठे रहें।"

तथा दूसरी कई बाते आज हिन्दुस्तान के किसी हिस्से मे जुर्म समझी जाती है। एक काम देश के एक हिस्से मे जुर्म समझा जा सकता है और दूसरे मे नही। जब एक गैर-जिम्मेदार कार्यकारिणी के द्वारा ऐसे कानून थोड़े-से-थोडे नोटिस पर बना दिये जा सकते है, तब 'कानूनी' शब्द के मानी कार्यकारिणी की इच्छा के सिवा और क्या हो सकते है ? मामूली तौर पर तो इस इच्छा का पालन ही किया जाता है, चाहे राजी से हो चाहे बेमन से। क्योकि उसके भग करने का परिणाम दुखदायी होता है। पर किसी शख्स का यह कहना कि मै सदा ही उनका पालन करता रहूँगा, मानो तानाशाही या गैरजिम्मेदार हुकूमत के सामने सब तरह से सिर झुका देना है, अपनी आत्मा को बेच देना है और अपनी प्रकृतियो के लिए आज़ादी को असम्भव बना देना है।

हरेक लोकतन्त्रात्मक देश मे महज इस बात पर विवाद खडा हो रहा है कि मौजूदा वैधानिक तत्र के द्वारा मामूली तौर पर आमूल आर्थिक परिवर्त्तन किये जा सकते है या नही ? बहुत-से लोगो की राय है कि ऐसा नही हो सकता, इसके लिए कोई-न-कोई असाधारण और क्रान्तिकारी उपाय काम मे लाने होगे। लेकिन जहाँतक हमारे हिन्दुस्तान का ताल्लुक है, इस प्रश्न पर बहस करना कोई अर्थ नही रखता। ऐसा कोई वैधानिक साधन ही नही है जिसके बल पर हम अपनी इच्छा का परिवर्त्तन करा सके। यदि श्वेत-पत्र या वैसा ही कोई चीज़ कानून बन गई तो बहुत-सी दिशाओ मे वैधानिक प्रगति बिलकुल रुक जायगी। ऐसी दशा मे सिवा क्रान्ति या गैरकानूनी कार्रवाई के और कोई चारा ही नही रह जाता। तब हमे करना क्या चाहिए ? क्या परिवर्त्तन की सब आशाओं को तिलाञ्जलि देकर भाग्य के भरोसे बैठे रहे ?

हिन्दुस्तान मे तो आज परिस्थिति और भी विषम हो गई है। कार्यकारिणी हर किस्म के सार्वजनिक कामो पर रोक या बदिश लगा सकती है और लगाती है। उसकी राय मे जो भी काम उसके लिए खतरनाक है, वह मना कर दिया जाता है। इस तरह हरेक कारगर सार्वजनिक काम बन्द कर दिया जा सकता है, जैसा कि पिछले तीन

साल तक बन्द कर दिया गया था। इसको मानने के मानी है तमाम सार्वजनिक कामो को छोड देना। और इस स्थिति को सह लेना किसी तरह मुमकिन नही है।

यह कोई नही कह सकता कि वह हमेशा और विला नागा कानून के मुताविक ही काम करेगा। लोकतंत्रीय-राज्य मे भी ऐसे मौके पैदा हो सकते है जब किसीको उसकी अन्तरात्मा उसके खिलाफ चलने के लिए मजबूर करदे फिर उस देश मे तो, जहाँ स्वेच्छाचारी या निरकुश शासन हो, ऐसे मौके और भी बार-बार आ सकते है। वास्तव मे ऐसे राज्य मे कानून के लिए कोई नैतिक आधार नही रह जाता है।

लिवरल लोग कहते है—"सीधा हमला तानाशाही से मेल खाता है, न कि लोकतन्त्र से, और जो लोकतन्त्र की विजय चाहते है उन्हे सीधे हमले से दूर ही रहना चाहिए।" यह तो एक प्रकार का गलत सोचना और गलत लिखना हुआ। बाज़ वक्त सीधा हमला—जैसे मजदूरो की हड़ताल—भी कानूनी हो सकता है। मगर यहाँ उनकी मन्शा शायद राजनैतिक काम से है। जर्मनी मे, जहाँ कि हिटलर का बोलबाला है, आज क्या किया जा सकता है? या तो चुपचाप सिर झुका दो, या गैरकानूनी और क्रान्तिकारी काम करो। वहाँ लोकतन्त्र से काम कैसे चल सकता है?

हिन्दुस्तानी लिबरल अक्सर लोकतन्त्र का नाम तो लिया करते है, लेकिन उनमे से अधिकाश उसके पास फटकने तक की इच्छा नही रखते। सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर ने, जो एक बहुत बडे लिबरल नेता है, मई, १९३४ मे कहा था—"विधान निर्मात्री सभा के आयोजन की पैरवी करते हुए कॉंग्रेस जन-समूह की समझदारी पर जरूरत से ज्यादा भरोसा रखती है और उन लोगो की सचाई और योग्यता के साथ बहुत कम न्याय करती है, जिन्होने कि भिन्न-भिन्न गोलमेज-कान्फ्रेन्सो मे भाग लिया है। मुझे तो इस बात मे बडा शक है कि विधान निर्मात्री सभा का नतीजा इनसे अच्छा हुआ होता।" इस तरह सर शिवस्वामी ऐयर की लोकतन्त्र-सम्बन्धी धारणा 'जन-समूह' से कुछ

अलग है, और ब्रिटिश सरकार के नामज़द 'सच्चे और योग्य' लोगो के जमघट में ज्यादा अच्छी तरह समा जाती है। आगे चलकर वह श्वेत-पत्र को अपना आशीर्वाद देते है; क्योकि, यद्यपि वह उससे "पूरी तरह सन्तुष्ट नही है," "तो भी देश को उसका सोलहों आना विरोध करना समझदारी का काम न होगा।" तो अब ऐसा कोई सबब नही दिखाई देता कि क्यों न ब्रिटिश सरकार और सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर में पूरा-पूरा सहयोग हो।

काँग्रेस के द्वारा सविनय भग के वापस लिये जाने का स्वागत लिबरलो की ओर से होना कुदरती ही था। और इसमे भी कोई ताज्जुब की बात नही है जो वे इस बात में अपनी समझदारी मानें कि उन्होने इस "मूर्खतापूर्ण और गल्त आन्दोलन" से अपने को अलग रक्खा। वे हमसे कहते है—"हमने पहले ही ऐसा कहा था न ?" लेकिन यह एक अजीब दलील है। क्योकि जब हम कमर कसकर खडे हुए, एक करारी लडाई लडी और हम गिर पडे, इसपर से हमें यह नसीहत दी जाती है कि खडा होना ही गलत था। पेट के बल रेगना ही सबसे अच्छी और निरापद बात है। क्योकि, उस पड़े रहने की हालत से गिरना या गिरा दिया जाना बिलकुल नामुमकिन है।

: ५३ :

हिन्दुस्तान--पुराना और नया

Vijay Kumar Shah.

यह स्वाभाविक और लाज़िमी बात थी कि हिन्दुस्तान मे राष्ट्रवाद विदेशी हुकूमत का विरोधी हो। मगर फिर भी यह कितने कुतूहल की बात है कि हमारे बहुसख्यक पढ़े-लिखे लोग १९ वी सदी के अन्त तक जान मे या अनजान मे, साम्राज्य के ब्रिटिश आदर्श मे विश्वास करते थे। वही उनकी दलीलो का आधार होता था और उसके कुछ बाहरी लक्षणों पर ही वे नुक्ताचीनी करके सतुष्ट हो जाते थे। स्कूलो और कॉलेजो मे इतिहास, अर्थशास्त्र या जो भी दूसरे विषय पढाये जाते थे वे ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टिकोण से लिखे होते थे और उनमे हमारी पिछली और मौजूदा बहुतेरी बुराइयो और अँग्रेजों के सद्गुणो और उज्वल भविष्य पर ज़ोर दिया रहता था। हमने उनके इस तोडे-मरोडे वर्णन को ही कुछ हद तक मान लिया और अगर कही हमने उसका सहज स्फूर्ति से प्रतिकार किया तो भी उसके असर से हम. न बच सके। पहले-पहल तो हमारी बुद्धि उसमे से निकल ही नही सकती थी, क्योकि हमारे पास न तो दूसरे वाकयात थे और न दलीले। इसलिए हमने धार्मिक राष्ट्रवाद और इस विचार की शरण ली, कि कम-से-कम धर्म और तत्वज्ञान के क्षेत्र मे कोई जाति हमसे बढकर नहीं है। हमने अपनी इस बदबख्ती और गिरावट मे भी इस बात से तसल्ली की कि यद्यपि हमारे पास पश्चिम की बाहरी चमक-दमक नही है तो भी हमारे पास अन्दर की चीज़ है जो कि उससे कही ज्यादा कीमती और रहने लायक निधि है। विवेकानन्द और दूसरो ने तथा पश्चिमी विद्वानों ने हमारे पुराने दर्शनशास्त्रों मे जो दिलचस्पी ली उसने हमे कुछ स्वाभिमान प्रदान किया और अपने भूतकाल के प्रति अभिमान का जो भी भाव मुरझा गया था उसे फिर से लहलहा दिया।

धीरे-धीरे हमारी पुरानी और मौजूदा अवस्था के सम्बन्ध मे अँग्रेज़ो

के बयानो पर हमे शक होने लगा और हम वारीकी से उनकी छान-वीन करने लगे। मगर तव भी हम उसी ब्रिटिश विचारावली के घेरे मे ही सोचते और काम करते थे। अगर कोई चीज खराव होती तो वह अब्रिटिश कहलाती थी। यदि किसी अंग्रेज ने हिन्दुस्तान मे खराव वर्त्ताव किया तो वह उसका कुसूर समझा जाता था, उस प्रणाली का नही। लेकिन इस छान-वीन के द्वारा हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-शासन-सम्वन्धी जो सामग्री हाथ लगी और जो सग्रह हुआ उसने, लेखको का दृष्टिकोण माडरेट रहते हुए भी, एक क्रान्तिकारी हेतु को सिद्ध किया और हमारे राष्ट्रवाद को राजनैतिक और आर्थिक पाये पर खडा कर दिया। इस तरह दादाभाई नौरोजी की 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' और रमेशचन्द्र दत्त, विलियम डिग्वी आदि की किताबो ने हमारे राष्ट्रीय विचारो के विकास मे एक क्रान्तिकारी काम किया। भारत के प्राचीन इतिहास के सम्वन्ध मे आगे चलकर जो और खोज हुई उसने तो वहुत प्राचीन काल की उच्च सभ्यता के उज्ज्वल युगो का वर्णन हमारे सामने ला दिया और हम वडे सन्तोप के साथ उन्हे पढते है। हमे यह भी पता लगा कि अग्रेजो के लिखे इतिहासो से हिन्दुस्तान मे अंग्रेजों के कारनामो के वारे मे हमारे मन में जो धारणा वन गई थी उससे उलटे ही उनके कारनामे है।

हम इतिहास, अर्थशास्त्र और भारत मे उनकी शासन-व्यवस्था-सम्वन्धी उनके वर्णनो को उत्तरोत्तर चुनौती देने लगे। मगर फिर भी हम काम तो उन्हीकी विचारधारा के घेरे में करते थे। उन्नीसवी सदी के आखिर तक हिन्दुस्तानी राष्ट्रवाद की कुल मिलाकर वही हालत रही। आज लिवरल दल का, दूसरे और छोटे-छोटे दलों का और कुछ नरम काग्रेसियो का भी, जो भावुकता में कभी-कभी आगे बढ जाते है लेकिन विचार की दृष्टि से अभी भी उन्नीसवी सदी मे रह रहे है, यही हाल है। यही सवव है कि एक लिवरल हिन्दुस्तान की आजादी के भाव ग्रहण करने में असमर्थ है, क्योकि ये दोनो चीजे मूलत अनमेल है। वह सोचता है कि कदम-व-कदम मै ऊँचे पदो पर पहुँचता चला जाऊँगा और

वडी-वडी तथा महत्त्व की फाइलो पर कार्रवाई करूँगा। सरकारी मशीन पहले की ही तरह आराम से चलती रहेगी, सिर्फ वह उसका एक धुरा वन जायगा और व्रिटिश फौज ज़रूरत के वक्त उसकी रक्षा करने के लिए, विना ज्यादा दखल दिये, किसी कोने मे पडी रहेगी। साम्राज्यान्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य—डोमोनियन स्टेटस—से उसका यही मतलव है। यह एक विलकुल वाहियात वात है जो कभी पार नही पड़ सकती, क्योकि अग्रेजो-द्वारा रक्षित होने की कीमत है हिन्दुस्तान की गुलामी। यदि यह मान भी ले कि एक महान देश के आत्म-सम्मान को यह गिरानेवाला न हो तो भी हम दही और मही दोनो एक साथ नही खा सकते। सर फ्रेडरिक व्हाइट, जिन्हे भारतीय राष्ट्रवाद का पक्षपाती नही कह सकते, अपनी एक नई किताब 'दी फ्यूचर ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट' मे लिखते है—"वह (हिन्दुस्तानी) अब भी यह मानता है कि जब कभी सर्वनाश का दिन आयेगा तो इग्लैण्ड उसके और सर्वनाश के बीच मे आकर खडा होजायगा; और जवतक वह इस धोखे मे है जवतक वह खुद अपने स्वराज की भी वुनियाद नही डाल सकता।" ज़ाहिर है कि उनकी मन्शा उन लिवरल या दूसरे प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ढग के हिन्दुस्तानियो से है जिनसे उनका साविका हिन्दुस्तान की असेम्वली के अध्यक्ष की हैसियत से पडा होगा। काग्रेस का ऐसा विश्वास नही है। तव और आगे बढी हुई दूसरी जमातो का तो ज़रूर ही नही हो सकता। मगर हाँ, वे सर फ्रेडरिक की इस वात से सहमत है कि, जवतक यह भ्रम हिन्दुस्तान मे मौजूद है—और अगर उसकी तकदीर मे कोई तवाही लिखी ही हो और वह उसका मुकाविला करने के लिए अकेला न छोड़ दिया जाय—तवतक हिन्दुस्तान को आज़ादी नही मिल सकती। जिस दिन हिन्दुस्तान से व्रिटिश फौज का दौर-दौरा मुकम्मिल तौर पर हट जायगा उसी दिन हिन्दुस्तान की आजादी का श्रीगणेश होगा।

यह कोई ताज्जुव की वात नही है कि १९वी सदी के पढे-लिखे हिन्दुस्तानी व्रिटिश विचार-धारा के प्रभाव मे आजायँ, लेकिन वडे ताज्जुव की वात तो यह है कि वीसवी सदी के परिवर्तनों और दिल दहला देने-

वाली घटनाओं के होने पर भी कुछ लोग अभीतक उसी भ्रम में पड़े हुए हैं। १९वीं सदी में ब्रिटिश शासकवर्ग दुनिया के उन कुलीन वर्गों में से था, जिनके पास काफी धन-दौलत, हुकूमत और सफलतायें थीं। इस लम्बी जिन्दगी और तालीम ने उनमें कुछ श्रीमन्तशाही के सद्‌गुण भी पैदा किये और कुछ दुर्गुण भी। हम हिन्दुस्तानी इस बात में गुरु मान सकते हैं कि हमने पिछले लगभग पौने दो सौ बरसों में उन्हें इस उच्च स्थिति पर पहुँचाने और ऐसी तालीम दिलाने की साधन सामग्री जुटाने में उन्हें काफी मदद की। वे अपने को—जैसा कि कितनी ही जातियों और राष्ट्रों ने किया है—ईश्वर के लाड़ले और अपने साम्राज्य को पृथ्वी पर का स्वर्ग समझने लगे। यदि आप उनके इस खास दर्जे और रुतबे को मानते रहे और उनकी उच्चता को चुनौती न दी जाय तो वे बड़े मेहरबान रहेंगे और आपकी खातिर करेंगे, बशर्ते कि उससे उनका कुछ नुकसान न हो। लेकिन उसका विरोध करना मानो ईश्वरीय व्यवस्था का विरोध करना है और इसलिए वह ऐसा पाप है जिसको हर तरह से दबाना ही उचित है।

एम० आन्द्रे सीगफ्रीड ने ब्रिटिश मनोविज्ञान के इस पहलू पर मजेदार प्रकाश डाला है:—

"परम्परा से शक्ति के साथ-साथ धन पर भी अधिकार रखने की जो आदत पड़ी हुई थी उसने अन्त में (अंग्रेज जाति में) रहन-सहन का ऐसा ढंग पैदा कर दिया जो रईसाना था और जिसपर अपने-आपको दैवी अधिकार-प्राप्त मनुष्य जाति समझने के भावों का एक अजीब-सा रंग पड़ा हुआ था। यहाँतक कि ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दिये जाने पर भी यह ढंग वास्तव में अधिकाधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा। सदी के अन्त का नवयुवक समुदाय स्वभाव से ही यह विश्वास करने लगा कि यह सफलता उसका हक है।

"घटनाओं (के रहस्य) को समझने के इस ढंग पर जोर देना इसलिए दिलचस्पी की बात है कि इन घटनाओं के द्वारा, खासकर इस नाजुक विषय में, ब्रिटिश मनोवृत्ति की प्रतिक्रियायें स्पष्ट हो जाती हैं। कोई भी व्यक्ति इस नतीजे पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि अंग्रेज

जाति इन कठिनाइयों का कारण बाहरी घटनाओं मे ही ढूँढने का प्रयत्न करती है। उसके मतानुसार शुरुआत सदा किसी दूसरे के कुसूर से होती है और अगर यह (कुसूरवार) व्यक्ति अपना सुधार करने के लिए राजी हो जाय तो इंग्लैण्ड फिर अपने नष्ट वैभव को प्राप्त करले......... (अग्रेज जाति की) सदा यह प्रवृत्ति रही है कि खुद तो न बदले, लेकिन दूसरे बदल जायँ।"

सारे जगत के प्रति अग्रेजो का यदि यह आम रवैया है तो हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज्यादा प्रकट है। अग्रेज लोग हिन्दुस्तान के मसलो को जिस तरह हल करना चाहते है, वह है तो कुछ आकर्षक मगर है भड़कानेवाला। शान्ति के साथ आश्वासन देते हुए उनका यह कहना कि हमने जो कुछ किया है वह सही किया है और हमने अपनी जिम्मेदारी को बहुत योग्यता के साथ निबाहा है, अपनी जाति की भवितव्यता पर और अपने नमूने के साम्राज्यवाद पर श्रद्धा, और यदि कोई उस सच्ची श्रद्धा की बुनियाद पर सवाल उठाये तो ऐसे नास्तिको और पापियो पर क्रोध और घृणा--इन भावो की तह मे एक किस्म का धार्मिक जोश-सा दिखाई देता था। मध्यकालीन रोमन कैथलिक धर्म-विचारकों की तरह वे हमारी इच्छा या अनिच्छा की परवा न करते हुए उद्धार के लिए तुले हुए थे। भलाई के इस व्यापार मे रास्ते चलते उनको भी कुछ लाभ हो गया और इस तरह वे 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी व्यवहार-नीति है' इस पुरानी कहावत को चरितार्थ कर दिखाने लगे। हिन्दुस्तान की उन्नति का अर्थ, देश को शाही योजनाओ के अनुकूल बनाना और कुछ चुने हुए हिन्दुस्तानियों को ब्रिटिश साँचे मे ढालना हो गया। जितना ही ज्यादा हम ब्रिटिश आदर्शो और ध्येयों को मानते जायँगे उतना ही ज्यादा हम स्वराज यह स्वशासन के अधिक योग्य समझ लिये जायँगे। ज्योंही हम इस बात की गैरंटी देदे और न यह दिखला दे कि हम अग्रेजो की इच्छा के अनुसार ही अपने को मिली हुई आज़ादी का उपयोग करेंगे, त्योंही आज़ादी हमारे पास आजायगी।

लेकिन मुझे भय है कि हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश शासन के इस कच्चे

चिट्ठे पर हिन्दुस्तानी और अंग्रेज एक मत न होंगे। और शायद यह स्वाभाविक भी है। जब बड़े-बड़े ब्रिटिश अफसर, यहाँतक कि भारत-मंत्री भी, हिन्दुस्तान के भूत और वर्तमान का कल्पित चित्र खीचते है और ऐसी बाते कहते है जिनकी वास्तव में कोई बुनियाद ही नही होती, तो एक बडा धक्का लगता है। यह कितने असाधारण आश्चर्य की बात है कि कुछ विशेषज्ञो और दूसरे लोगो को छोडकर अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान के बारे मे बेखबर है। जबकि हकीकते ही उनको धोखा दे जाती है तब हिन्दुस्तान की आत्मा तो उनकी पहुँच के कितने परे होगी? उन्होने हिन्दुस्तान के शरीर को पकड कर अपने कब्जे मे कर तो लिया है पर वह कब्जा बलात्कार का है। वे न तो उसकी आत्मा को ही समझते है और न समझने की कोशिश ही करते है। उन्होने कभी उसकी आँख से आँख नही मिलाई। वह मिलाते भी कैसे? क्योकि उनकी तो आँखे फिरी हुई थी और उसकी शर्म व जिल्लत से झुकी हुई थी। सदियो के इतने सम्पर्क के बाद भी जब वे एक-दूसरे के सामने आते है, तो अब भी अजनबी-से बने हुए है और दोनो के मन मे एक-दूसरे के प्रति अरुचि के भाव भरे हुए है।

अपने इस घोर अध पतन और दरिद्रता के होते हुए भी हिन्दुस्तान काफी शरीफ और महान् है। और हालाकि वह पुरानी परम्परा और मौजूदा मुसीबतो से काफी दबा हुआ है और उसकी पलके थकान से कुछ भारी मालूम होती है, फिर भी "अन्दर से निखरती हुई सौन्दर्य-कान्ति उसके शरीर पर चमकती है। उसके अणु-परमाणु मे अद्भुत विचारो, स्वच्छन्द कल्पनाओ और उत्कृष्ट मनोभावो की झलक दिखायी देती है। उसके जीर्ण-शीर्ण शरीर मे अब भी आत्मा की भव्यता झलकती है। अपनी इस लम्बी यात्रा मे वह कई युगो मे से होकर गुजरा है, और रास्ते मे उसने बहुत ज्ञान और अनुभव सञ्चित किया है, दूसरे देश-वासियो से देन-लेन किया है, उन्हे अपने बडे कुटुम्ब में मिला लिया है, उत्थान और पतन, समृद्धि और ह्रास के दिन देखे है, बडी-बडी जिल्लते उठायी है, महान् दु ख झेले है और कई अद्भुत दृश्य देखे है, लेकिन

अपनी इस सारी लम्बी यात्रा मे उसने अपनी अति प्राचीन सस्कृति को नही छोडा है। उससे उसने बल और जीवन-शक्ति प्राप्त की है और दूसरे देश के लोगो को उसका स्वाद भी चखाया है। घडी के लटकंन की तरह वह कभी ऊपर गया और कभी नीचे आया है। अपने साहसिक विचारो से स्वर्ग और ईश्वर तक पहुँचने की उसने हिम्मत की है, उसके रहस्य खोलकर प्रकट किये है और उसे नरक-कुण्ड मे गिरने का भी कटु अनुभव हुआ है। दु खदाई अन्धविश्वासो और पतनकारी रस्म-रिवाजो के बावजूद, जो कि उसमे घुस आये है और जिन्होंने उसे नीचे गिरा दिया है, उसने उस स्फूर्ति और जीवन को अपने हृदय से कभी नही भुलाया जो उसकी कुछ ज्ञानी सन्तानों ने इतिहास के उषा-काल मे उसके लिए उपनिषदो मे सचित करदी थी। उसके ऋषियो की कुशाग्रबुद्धि सदा खोज मे लीन रहती थी, नवीनता को पाने की कोशिश करती थी और सत्य की शोध मे व्याकुल रहती थी। वह जड सूत्रो को पकडकर नहीं बैठी रही और न लुप्तप्राय विधि-विधानो, ध्येय-वचनों और निरर्थक कर्म-काण्डो मे डूबी रही। न तो उन्होने इस लोक मे खुद अपने लिए कष्टों से छुटकारा चाहा, न उस लोक मे स्वर्ग की इच्छा की। बल्कि उन्होने ज्ञान और प्रकाश माँगा। 'मुझे असत् से सत् की ओर ले जा; मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जा, मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले जा।'[1] अपनी सबसे प्रसिद्ध प्रार्थना—गायत्री-मत्र—मे जिसका लाखो लोग आज भी नित्य जप करते है, ज्ञान और प्रकाश के लिए ही प्रार्थना की गई है।

हालाँकि राजनैतिक दृष्टि से अक्सर उसके टुकडे-टुकडे होते रहे है, लेकिन उसकी आध्यात्मिकता ने सदा ही उसकी सर्व-सामान्य विरासत की रक्षा की है और उसकी विविधताओ मे हमेशा एक विलक्षण एकता रही है[2]। तमाम पुराने मुल्को की तरह इसमे भी अच्छाई और बुराई

---

१. 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिगमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।'
—बृहदारण्यक उपनिषद् १-३-२७।

२. "हिन्दुस्तान में सबसे बडी परस्पर-विरोधी बात यह है कि इस विविधता के अन्दर एक भारी एकता समायी हुई है। यों सरसरी तौर पर

का एक अजीब मिश्रण था। मगर अच्छाई तो छिपी हुई थी और उसे खोजना पडता था, लेकिन पतन की वदबू ज़ाहिर थी और सूरज की कडी और निठुर धूप ने उसकी उस बुराई को दुनिया के सामने लाकर रख दिया।

इटली और भारतवर्ष मे कुछ समता है। दोनो प्राचीन देश है और दोनों की सस्कृति भी पुरानी है, हालाँकि हिन्दुस्तान के मुकाविले मे इटली जरा नया है और हिन्दुस्तान उससे वहुत विशाल। राजनैतिक दृष्टि से दोनों के टुकडे-टुकडे हो गये है। लेकिन इटैलियनो की यह भावना कि हम 'इटैलियन' है, हिन्दुस्तानियो की तरह कभी नही मिटी और उसकी तमाम विविधता और विरोधो मे एकता ही मुख्य रही। इटली मे वह एकता अधिकाश रोमन एकता थी, क्योकि उस विशाल नगर का उस देश मे बहुत प्रभुत्व रहा और वह एकता का स्रोत और प्रतीक रहा है। हिन्दुस्तान मे ऐसा कोई एक केन्द्र या प्रधान नगर नही रहा। हालाँकि काशी को पूर्व की मोक्षपुरी कह सकते है—हिन्दुस्तान के ही लिए नही वल्कि पूर्वी एशिया के लिए भी; लेकिन रोम की तरह काशी ने कभी साम्राज्य या लौकिक सत्ता के फेर मे पड़ने की कोशिश नही की। सारे हिन्दुस्तान मे भारतीय सस्कृति इतनी फैली हुई थी कि किसी भी एक भाग को सस्कृति का केन्द्र नही कह सकते। कन्याकुमारी से लेकर हिमालय मे अमरनाथ और वद्रीनाथ तक और द्वारिका से जगन्नाथपुरी तक एक ही विचारो का प्रचार था और यदि किसी एक जगह मे विचारो का विरोध होता तो उसकी प्रतिध्वनि देश के दूर-दूर हिस्सो तक पहुँच जाती थी।

वह नही दिखाई देती, क्योकि किसी राजनैतिक एकता के द्वारा सारे देश को एक सूत्र में बाँधने के रूप में इतिहास में उसनें अपने को प्रकट नहीं किया, लेकिन वास्तव में यह एक ऐसी असलियत है और इतनी शक्तिशाली है कि हिन्दुस्तान की मुस्लिम दुनिया को भी यह कुबूल करना पड़ता है कि उसके प्रभाव में आने से उसपर भी गहरा असर हुए बिना नहीं रहा है"—'दि फ्यूचर आफ ईस्ट और वेस्ट' में सर फ़्रेडरिक व्हाइट।

इटली ने जिस प्रकार पश्चिमी यूरप को धर्म और सस्कृति की भेट दी उसी प्रकार हिन्दुस्तान ने पूर्वी एशिया को सस्कृति और धर्म प्रदान किया, हालाँकि चीन भी उतना ही पुराना और आदरणीय है जितना कि भारतवर्ष। और तब, जबकि इटली राजनैतिक दृष्टि से निर्बल होकर चित पड़ गया था, उसीकी संस्कृति का यूरप मे बोलबाला था।

मेटर्निख[1] ने कहा था कि इटली तो एक 'भौगोलिक शब्द' ह; कितने ही भावी मेटर्निखो ने इसी शब्द का व्यवहार हिन्दुस्तान के लिए भी किया है। यह भी एक अजीब-सी बात है कि दोनो देशों की भौगोलिक स्थिति में भी समता है। लेकिन इग्लैण्ड ओर आस्ट्रिया की तुलना तो इससे भी ज्यादा दिलचस्प है। क्योकि बीसवी सदी के इग्लैण्ड की तुलना उन्नीसवी सदी के मगरूर, हठी और प्रतापी उस आस्ट्रिया के साथ की गई है जो था तो प्रतापी, मगर जिन जड़ो ने उसे ताकत दी थी वे सिकुड रही थी और उस जबरदस्त वृक्ष मे ह्रास के कीटाणु घुसकर उसे खोखला बना रहे थे।

यह एक अजीब बात है कि देश को मानव-रूप मे मानने की प्रवृत्ति को कोई रोक ही नही सकता। हमारी आदत ही ऐसी पड गई है और पहले के सस्कार भी ऐसे ही है। भारत 'भारत-माता' हो जाती है—एक सुन्दर स्त्री, बहुत ही वृद्ध होते हुए भी देखने मे युवती, जिसकी आखो मे दु ख और शून्यता भरी हुई, विदेशी और बाहरी लोगो के द्वारा अपमानित और प्रपीडित और अपने पुत्र-पुत्रियो को अपनी रक्षा के लिए आर्त्तस्वर से पुकारती हुई। इस तरह का कोई चित्र हजारों लोगो की भावनाओ

---

१. मेटर्निख १८०७ से १८४८ तक आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री था। यह प्रगति विरोधी और अराष्ट्रीयता की प्रत्यक्ष मूर्ति था और अपनी चाणक्य नीति से जर्मनी और इटली को आस्ट्रिया के पंजे में इसने बहुत दिनों तक रखा था। नेपोलियन के पतन के बाद कोई २० साल तक मेटर्निख का डंका यूरप में बजता था। १८४८ में जब जगह-जगह बलवे हुए तब उसका अन्त हुआ। —अनु०

को उभाड देता और उनको कुछ करने और कुर्बान हो जाने के लिए प्रेरित करता है। लेकिन हिन्दुस्तान तो मुख्यत. उन किसानो और मजदूरो का देश है, जिनका चेहरा खूबसूरत नही है, क्योकि गरीबी खूबसूरत नही होती। क्या वह सुन्दर स्त्री जिसका हमने काल्पनिक चित्र खड़ा किया है, नगे बदन और झुकी हुई कमर वाले, खेतो और कारखानो मे काम करनेवाले किसानो और मजदूरो का प्रतिनिधित्व करती है? या वह उन थोडे से लोगो के समूह का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्होने युगो से जनता को कुचला और चूसा है, उनपर कठोर-से-कठोर रिवाज लाद दिये है और उनमे से बहुतो को अछूत तक करार दे दिया है ? हम अपनी काल्पनिक सृष्टि से सत्य को ढकने की कोशिश करते है और असलियत से अपने को बचाकर सपने की दुनिया मे विचरने का प्रयत्न करते है।

मगर इन अलग-अलग जात-पात और उनके आपसी सघर्षो के होते हुए भी उन सबमे एक ऐसा सूत्र रहता है। जो हिन्दुस्तान को एक साथ बाधे हुए है, और उसके आग्रह, दृढता और सहिष्णुता को देखकर दातों अगुली दबानी पडती है। इस ताकत का क्या कारण है? वह केवल निष्क्रिय शक्ति, जडता और परम्परा का प्रभाव ही नही है, हालाकि यों तो इनकी भी महत्ता कुछ कम नही है। वह तो एक सक्रिय और पोषक तत्त्व है, क्योकि उसने जोरदार बाहरी प्रवाहो का सफलतापूर्वक प्रतिकार किया है और जो-जो भीतरी ताकते उसके मुकाबले के लिए उठ खडी हुई उन्हे आत्मसात् कर लिया। और फिर भी, इस सारी ताकत के रहते हुए भी, वह राजनैतिक सत्ता को कायम न रख सका या राजनैतिक एकता को सिद्ध करने की कोशिश न कर सका। ऐसा जान पडता है कि ये दोनो बाते इतनी परिश्रम करने योग्य नही जान पडी। उनके महत्त्व की मूर्खतापूर्ण अवहेलना की गई और इससे हमे बडी हानि उठानी पडी है। सारे इतिहास मे भारत के प्राचीन आदर्श मे कही भी राजनैतिक या सैनिक विजय का गुणगान नही किया गया। वह धन-सम्पत्ति को और धन कमानेवाले वर्गो को घृणा की दृष्टि से देखता था, सम्मान और धन-सम्पत्ति दोनो एकसाथ नही रहते थे, और सम्मान तो,

कम-से-कम सिद्धान्त मे, उसको मिलता था जो जाति की सेवा करता था और वह भी आर्थिक पुरस्कार की आशा न रखते हुए।

यों तो पुरानी सस्कृति ने बहुतेरे भीषण तूफानो और बवण्डरों में भी अपने को जीवित रक्खा है, लेकिन यद्यपि उसने अपना बाहरी रूप कायम रख छोडा है फिर भी वह अपना भीतरी असली सत्त्व खो चुकी है। आज वह चुपचाप और जी-जान लगाकर एक नई और सार्वशक्तिमान् प्रतिद्वन्द्विनी-पश्चिम की बनिया सस्कृति से लड रही है। वह नवागन्तुक वाणिज्य उसपर हावी हो जायगा, क्योकि पश्चिम के पास विज्ञान है और विज्ञान लाखों भूखो को भोजन देता है। मगर पश्चिम इस एक दूसरे का गला काटनेवाली सभ्यता की बुराइयो का इलाज भी अपने साथ लाया है—साम्यवाद का, सहयोग का, सबके हित के लिए जाति या समाज की सेवा करने का सिद्धान्त। यह भारत के पुराने ब्राह्मणोचित सेवा के आदर्श से बहुत भिन्न नही है, लेकिन इसका अर्थ है तमाम जातियों, वर्गो और समूहो को ब्राह्मण बना देना (अवश्य ही धार्मिक अर्थ मे नही) और जाति-भेद को मिटा देना। हो सकता है कि जब भारत इस लिवास को पहनेगा, और वह जरूर पहनेगा, क्योकि पुराना लिबास तो चियडे-चिथडे हो गया है, तो उसे उसमे इस तरह काटछाट करनी पडेगी जिससे वह मौजूदा अवस्थाये और पुराने विचार दोनो का मेल साध सके। जिन विचारो को वह ग्रहण करे वे अवश्य ऐसे हो जाने चाहिएँ जो उसकी भूमि के समरस हो जावे।

: ५४ :

ब्रिटिश शासन का कच्चा चिट्ठा

हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश शासन का इतिहास कैसा रहा ? मुझे यह सम्भव नही मालूम होता कि कोई भी हिन्दुस्तानी या अग्रेज इस लम्बे इतिहास पर निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप से विचार कर सकता हो। और यह सम्भव भी हो तो मनोवैज्ञानिक तथा अन्य सूक्ष्म घटनाओ को तौलना और जाचना तो और भी कठिन होगा। हमसे कहा जाता है कि ब्रिटिश शासन ने "भारतवर्ष को वह चीज दी है जो सदियो मे भी उसे हासिल नही हुई—अर्थात् ऐसी सरकार, जिसकी सत्ता इस उप-महाद्वीप के कोने-कोने मे मानी जाती है,"[१] इसने कानून का राज्य और एक न्यायो-चित तथा निपुणतापूर्ण शासन-व्यवस्था स्थापित की है; इसने हिन्दुस्तान को पार्लमेण्री शासन की कल्पना तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान की है, और "ब्रिटिश भारत को एक सगठित एकछत्र राज्य मे परिवर्तित करके भारतवासियों मे परस्पर राजनैतिक एकता की भावना को जन्म दिया है"[२] और इस प्रकार राष्ट्रीयता के अकुर का पोषण किया है। अग्रेजो का यही दावा है और इसमे बहुत-कुछ सचाई भी है, हालाँकि न्याय-युक्त शासन और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य बहुत वर्षों से नजर नही आ रहे है।

इस युग का भारतीय सिंहावलोकन अन्य कई बातों को महत्व देता है और उस आर्थिक तथा आध्यात्मिक क्षति का दिग्दर्शन कराता है जो विदेशी शासन के कारण हमको पहुँची है। दोनो के दृष्टिकोण मे इतना अन्तर है कि कभी-कभी जिस बात की अग्रेज लोग तारीफ करते है उसी बात की हिन्दुस्तानी लोग निन्दा करते है। जैसाकि डॉक्टर आनन्द-

---

१-२. ये उद्धरण भारतीय शासन-सुधार सम्बन्धी ज्वाइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी (१९३४) की रिपोर्ट से लिये गये है।

कुमार स्वामी ने लिखा है—"भारत मे अंग्रेजी राज्य की एक सबसे ज्यादा विलक्षण बात यह रही है कि हिन्दुस्तानियो को पहुँचाई जाने-वाली बडी-से-बड़ी हानि भी बाहर से भलाई ही मालूम होती है।"

सच तो यह है कि पिछले सौ या कुछ ज्यादा वरसो मे हिन्दुस्तान मे जो परिवर्तन हुए है वे ससार व्यापी है, और वे पूर्व और पश्चिम के अधिकाश देशों मे समान रूप से हुए है। पश्चिमी यूरप मे, और इसके बाद बाकी के देशो मे भी, उद्योगवाद के विकास के परिणामस्वरूप सब जगह राष्ट्रीयता और सुदृढ़ एकछत्र राज्य-सत्ता का उदय हुआ। अग्रेज़ लोग इस बात का श्रेय ले सकते है कि उन्होंने पहली बार भारतवर्ष का द्वार पश्चिम के लिए खोला और उसे पश्चिमी उद्योगवाद तथा विज्ञान का एक हिस्सा प्रदान किया। परन्तु इतना कर चुकने पर वे इस देश के अधिकतर औद्योगिक विकास का गला घोटते रहे, जबतक कि परिस्थिति ने इससे बाज़ आने के लिए उन्हे मजबूर नही कर दिया। हिन्दुस्तान तो पहले ही दो सस्कृतियो का सम्मिलन-क्षेत्र था, एक तो पश्चिमी एशिया से आई हुई इस्लाम की सस्कृति और दूसरी स्वय उसकी पूर्वी सस्कृति जो सुदूर-पूर्व तक फैल गई थी। और सुदूर पश्चिम से एक तीसरी और अधिक ज़ोरदार लहर आई, और भारतवर्ष भिन्न-भिन्न पुराने तथा नये विचारो का आकर्षण-केन्द्र तथा युद्धक्षेत्र बन गया। इसमे शक नही कि यह तीसरी लहर विजयी हो जाती और हिन्दुस्तान के बहुत-से पुराने सवालों को हल कर देती, लेकिन अग्रेजो ने, जो खुद इस लहर को लाने मे सहायक हुए थे, इसकी प्रगति को रोकने का प्रयत्न किया। उन्होने हमारी औद्योगिक तरक्की को रोक दिया और इस तरह हमारी राज-नैतिक उन्नति में बाधा डाल दी, और जितनी पुरानी माडलिकशाही या दूसरी पुरानी रूढ़ियाँ उन्हे यहाँ मिली उन सबका उन्होंने पोषण किया उन्होंने हमारे परिवर्तन-शील, और कुछ हदतक प्रगतिशील, कानूनो और रिवाजो तक को भी जिस स्थिति मे पाया उसी स्थिति मे जमा दिया और हमारे लिए उनकी ज़ंजीरो से छुटकारा पाना मुश्किल कर दिया। हिन्दुस्तान मे मध्यमवर्ग का उदय कोई इन लोगो की सद्भावना या

सहायता से नही हुआ। परन्तु रेल और उद्योगवाद के दूसरे उपकरणो का प्रचार करने के बाद वे परिवर्तन की गति को वन्द नही कर सके, वे तो उसे केवल रोकने और धीमी करने में ही समर्थ हुए और इससे उन्हे स्पष्ट रूप से लाभ हुआ।

"भारतीय-शासन की शाही इमारत इसी पुख्ता नीव पर खडी की गई है और बडे भरोसे के साथ यह दावा किया जा सकता है कि १८५८ से जबकि ईस्ट-इडिया कम्पनी के सारे प्रदेश पर सम्राट् की हकूमत मानी गई, आजतक हिन्दुस्तान की शिक्षा-सम्वन्धी और भौतिक उन्नति उससे कही ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्वे और उतार-चढाव के इतिहास के किसी भी काल मे हासिल करना उनके लिए सम्भव था।"[१] लेकिन यह बात ऐसी नही मालूम होती जैसी कि वताई गई है और यह वार-वार कहा गया है कि अग्रेजी राज्य का उदय होने से साक्षरता मे तो दरअसल कमी आ गई है, लेकिन यह कथन विलकुल सच भी हो तो उसका मतलब है आधुनिक औद्योगिक युग की प्राचीन युगो से तुलना करना। विज्ञान और उद्योगवाद के कारण दुनिया के करीव-करीव सभी देशों मे, पिछली सदी मे, वडी भारी शिक्षा की और आर्थिक तरक्की हुई है, और ऐसे किसी भी देश के बारे मे यह यकीनन कहा जा सकता है कि इस तरह की उन्नति "उससे कही ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्वे और उतार-चढाव के इतिहास के किसी भी काल मे हासिल करना उसके लिए सम्भव था।" हालाँकि शायद उस देश का इतिहास भारत के इतिहास से पुराना न हो। अगर हम यह कहे कि इस तरह की औद्योगिक उन्नति हमको इस औद्योगिक युग मे ब्रिटिश शासन के न होने पर भी हासिल हो सकती थी, तो क्या यह फिजूल का ही झगडा या जिद है? और सचमुच मे अगर हम बहुत-से दूसरे देशो की हालत से अपनी हालत का मुकाबिला करे तो क्या हम यह कहने का साहस न करे कि इस प्रकार की उन्नति और भी ज्यादा होती? क्योकि हमे अग्रेजो के उस प्रयत्न

---

१. ज्वाइन्ट पार्लमेण्टरी कमेटी १९३४ की रिपोर्ट।

से भी तो भिडना पडा है जो उन्होने इस उन्नति का गला घोटने के लिए किया। रेल, तार, टेलीफोन, बेतार के तार आदि अग्रेजी राज्य की अच्छाई और भलाई की कसौटी नही माने जा सकते। ये वाञ्छनीय और आवश्यक थे, और चूँकि अग्रेज लोग सयोगवश इनको सबसे पहले लेकर आये, इसलिए हमे उनका शुक्रगुजार होना चाहिए। लेकिन उद्योगवाद के ये चोबदार भी हमारे पास खासतौर पर ब्रिटिश राज्य को मजबूत करने के लिए लाये गये। ये तो नसे और नाड़ियाँ थी जिनमे होकर राष्ट्र के खून को बहना चाहिए था, जिससे व्यापार की तरक्की होती पैदावार एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाई जाती, और करोडो मनुष्यो को नई ज़िन्दगी और धन हासिल होता। यह सही है कि आखिरकार इस तरह का कोई-न-कोई नतीजा निकता ही, लेकिन इन्हे जमाने और काम मे लाने का मकसद ही दूसरा था—साम्राज्य के पजे को मजबूत करना और अग्रेजी माल से बाजार पर कब्ज़ा जमाना—जिसके पूरा करने मे ये लोग कामयाब भी हो गये। मै औद्योगीकरण और माल को दिसावर भेजने के नये-से-नये तरीको के बिलकुल पक्ष मे हूँ, लेकिन कभी-कभी, हिन्दुस्तान के मैदान मे सफर करते हुए, मुझे यह जीवनदायी रेल भी लोहे के बन्धनो के समान मालूम पडी है, जो भारतवर्ष को जकडे हुए और बन्दी बनाये हुए है

हिन्दुस्तान मे अग्रेजो ने अपने शासन का आधार जिस कल्पना पर रक्खा है, वह वैसी ही है, जैसी कि एक पुलिस-राज्य की होती है। शासन का काम तो सिर्फ सरकार की रक्षा करना था और वाकी सब काम दूसरो पर थे। उसके सार्वजनिक राजस्व का सम्बन्ध फौजी खर्च पुलिस, शासन-व्यवस्था और कर्ज़े के व्याज से था। नागरिको की आर्थिक जरूरतो पर कोई ध्यान नही दिया जाता था और वे ब्रिटिश हितो पर कुर्बान कर दी जाती थी। जनता की सास्कृतिक और दूसरी आवश्यकताये कुछ थोडी-सी को छोड़कर, सब ताक पर रख दी जाती थी। सार्वजनिक राजस्व की परिवर्त्तनशील धारणाये, जिनके फलस्वरूप अन्य देशो मे नि शुल्क और देशव्यापी शिक्षा, जनता के स्वास्थ्य की उन्नति,

निर्धन और बुद्धिहीन व्यक्तियों का पालन, श्रमजीवियों की बीमारी, बुढापे तथा बेकारी के लिए बीमा आदि बातें जारी हुईं, लगभग सरकार की कल्पना से बाहर की बातें थीं। वह इन खर्चीले कामों में नहीं पड सकती थी, क्योंकि उसकी कर-प्रणाली अत्यन्त प्रगतिविरोधी थी, जिसके द्वारा कम आमदनीवालों से ज्यादा आमदनीवालों की बनिस्बत ज्यादा वसूल किया जाता था और रक्षा और शासन के कामों पर उसका इतना अधिक खर्च था कि यह करीब-करीब सारी आमदनी को चट कर जाता था।

अंग्रेज़ी शासन की सबसे मुख्य बात यह थी कि सिर्फ ऐसी ही बातों पर ध्यान दिया जाय जिनसे कि मुल्क पर उनका राजनैतिक और आर्थिक कब्ज़ा मजबूत हो। बाकी सब बातें गौण थीं। अगर उन्होंने एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन-व्यवस्था और एक होशियार पुलिस-फोर्स की रचना कर डाली तो इस सफलता के लिए वे श्रेय ले सकते हैं, लेकिन भारतवासी इसके लिए अपने-आपको भाग्यशाली शायद ही कह सकें। एकता चीज़ अच्छी है, लेकिन पराधीनता की एकता कोई गर्व करने की वस्तु नहीं है। एक स्वेच्छाचारी शासन का बल ही जनता के ऊपर एक बडा भारी बोझ बन सकता है, और पुलिस की शक्ति, अनेक दिशाओं में निस्सन्देह उपयोगी होते हुए भी, जिन लोगों की वह रक्षक मानी जाती है उन्हींके खिलाफ़ खडी की जा सकती है, और बहुत बार की भी गई है। बर्ट्रन्ड रसल ने आधुनिक सभ्यता की तुलना ग्रीस की प्राचीन सभ्यता से करते हुए हाल ही में लिखा है—"हमारी सभ्यता के मुकाबिले में ग्रीस की सभ्यता की खाली यही विचारणीय श्रेष्ठता थी कि उसकी पुलिस अयोग्य थी, जिसके कारण ज्यादातर भले आदमी अपने-आपको उसके चुंगल से बचा सकते थे।"

भारत में अंग्रेज़ों के आधिपत्य से हमें अमन-चैन मिला है। हिन्दुस्तान को मुगल-साम्राज्य के पतन के पीछे होनेवाली तकलीफों और कम्बख्तियों के बाद अमन-चैन की ज़रूरत भी थी इसमें शक नहीं। अमन-चैन एक बड़ी कीमती चीज़ है जो किसी भी तरह की तरक्की के

लिए ज़रूरी है, और जब वह हमको मिली तो हमने उसका स्वागत किया। लेकिन उसकी कीमत की भी एक हद होनी चाहिए। अगर वह किसी भी कीमत पर खरीदी जायगी तो उससे हमें जो शान्ति मिलेगी वह स्मशान-शान्ति होगी। और उससे ज़रिये हमे जो हिफाफत मिलेगी वह होगी पिंजरे या जेलखाने की-सी हिफाज़त। या वह शान्ति ऐसे लोगो की विवश निराशा हो सकती है जो अपनी बहबूदी करने के काबिल न रहे हो। विदेशी विजेता की ज़बरन कायम की हुई शान्ति मे वे विश्रामप्रद और शान्तिदायक गुण मुश्किल से पाये जाते है जो सच्ची शान्ति मे होते है। युद्ध बडी भयकर चीज है और इससे बचना चाहिए, लेकिन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स के कथनानुसार यह निस्सन्देह कुछ गुणो को प्रोत्साहन देता है, जैसे एकनिष्ठा, सगठन, शक्ति, दृढ़ता, वीरता, आत्मविश्वास, शिक्षा, शोधकबुद्धि, मितव्ययिता, शारीरिक आरोग्य और पौरुष। इसी कारण जेम्स ने युद्ध का एक ऐसा नैतिक रूपान्तर तलाश करने की कोशिश की जो युद्ध की भयकरता के बिना ही किसी जाति मे इन गुणो को उत्तेजन दे। अगर उन्हे असहयोग और सविनय-भग का ज्ञान होता तो शायद उनको मनोवाञ्छित वस्तु, अर्थात् युद्ध का नैतिक और शान्तिमय रूपान्तर मिल गया होता।

इतिहास की 'अगर-मगर' और सम्भावनाओ पर विचार करना फिजूल है। मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान का विज्ञानशील और उद्योगवान यूरप के सम्पर्क मे आना अच्छा ही हुआ। विज्ञान पश्चिम की एक बडी भारी देन है और हिन्दुस्तान मे इसकी कमी थी, इसके बिना उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी भी थी। लेकिन जिस तरह हमारा उससे सम्बन्ध स्थापित हुआ वह दुर्भाग्यपूर्ण था। मगर फिर भी, शायद सिर्फ ज़ोर-ज़ोर की लगातार टक्करें ही हमे गहरी नीद से जगा सकती। इस दृष्टि से प्रोटेस्टेन्ट व्यक्तिवादी, ऐंग्लो-सेक्सन अग्रेज़ लोग इस काम के लिए उपयुक्त थे, क्योकि अन्य पश्चिमी जातियो की बनिस्बत उनमे और हमारे मे बहुत ज्यादा फ़र्क था और वे हमे अधिक ज़ोर की ठोकर लगा सकते थे।

उन्होने हमे राजनैतिक एकता दी, जो एक वाञ्छनीय वस्तु थी, पर

हमारे अन्दर यह एकता होती या न होती तो भी भारतीय राष्ट्रीयता तो बढती ही और इस प्रकार की एकता का तकाजा भी करती। आज कल अरब बहुत-सी मुख्तलिफ रियासतो मे बँटा हुआ है जो स्वतन्त्र, परतन्त्र, रक्षित इत्यादि है। लेकिन उन सबमे एक अरबी राष्ट्रीयता की भावना दौड रही है। इसमे कोई शक नही कि अगर पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियाँ उसके मार्ग मे बाधक न हो तो अरबी राष्ट्रीयता बहुत हद तक इस एकता को प्राप्त कर ले। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान मे किया जा रहा है, इन शक्तियो का इरादा यही रहता है कि झगडालू प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन दिया जाय और अल्प-मत की समस्याये पैदा कर दी जायँ जिससे राष्ट्रीयता का जोश ठडा पड जाय और कुछ अश तक रुक जाय, तथा साम्राज्यवादी शक्ति को बने रहने और निष्पक्ष पच होने का दावा करने का बहाना मिल जाय।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की बढोतरी के घुणाक्षर न्याय से प्राप्त हुई है। बाद मे जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और फिरकेबन्दी के जान-बूझकर बढाये जाने के दृश्य आने लगे और ये दोनो बाते हमारी भावी उन्नति के मार्ग मे बडे जबरदस्त रोडे है।

अंग्रेजों को यहाँ आये हुए कितना लम्बा अर्सा हो गया और उन्हे शक्तिशाली हुए भी पौने दो सौ वर्ष हो गये। स्वेच्छाचारी शासकों की भाँति वे मनचाही करने मे स्वतन्त्र थे, और हिन्दुस्तान को अपनी मर्जी के मुताबिक ढालने का उनके पास काफी सुन्दर मौका था। इन वर्षों मे ससार इतना बदल गया है कि पहचाना नही जा सकता—इग्लैड, युरप, अमेरिका, जापान आदि सब बदल गये है। अठारहवी सदी के अटलाण्टिक महासागर के किनारे पर स्थित छोटे-मोटे अमेरिकन उपनिवेश आज मिलकर सबसे धनवान, सबसे शक्तिशाली और कला-विज्ञान मे सबसे अधिक उन्नत राष्ट्र बन गये है, जापान मे थोडे से ही समय

मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है, रूस का विशाल प्रदेश, जहाँ अभी कल तक ही ज़ार के शासन का फौलादी पजा सब प्रकार की उन्नतियों का गला दवा रहा था, आज नवजीवन से हरा-भरा हो रहा है और हमारे सामने एक नई दुनिया खडी कर रहा है। हिन्दुस्तान मे भी वडे भारी परिवर्तन हुए है और यह देश उससे वहुत भिन्न है जो अठारहवी शताव्दी मे था—रेले, नहरे, कारखाने स्कूल और कॉलेज, वड़े-वडे सरकारी दफ्तर, आदि वन गये है।

और फिर, वावजूद इन परिवर्तनो के आज हिन्दुस्तान की क्या हालत है ? वह एक गुलाम देश है, जिसकी महान् शक्ति पिंजड़े मे वन्द कर दी गई है जो खुलकर साँस लेने की भी हिम्मत नही कर सकता, जो दूर देश मे रहनेवाले विदेशियो द्वारा शासित है, जिसके निवासी नितान्त निर्धन, थोडी उम्र मे मरनेवाले और रोगो तथा महामारियो से अपने-आपको वचाने मे असमर्थ है; जहाँ अशिक्षा चारो ओर फैली हुई है, जहाँ के वहुत-से वडे-वडे प्रदेश हर तरह की सफाई या चिकित्सा के साधनों से रहित है और जहाँ मध्यमवर्ग और जनता—दो मे वडे भारी पैमाने पर वेकारी है। हमसे कहा जाता है कि 'स्वाधीनता', 'जनसत्ता-वाद', 'समाजवाद' 'साम्यवाद, आदि व्यावहारिक आदर्शवादियो, सिद्धान्तवादियो और धोखेवाज़ों की पुकार है, असली कसौटी तो सारी जनता की भलाई को समझना चाहिए। यह वास्तव मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कसौटी है, लेकिन इस कसौटी पर भी आज हिन्दुस्तान वहुत ही हलका उतरता है। हम अन्य देशो मे होनेवाली वेकारी कम करने तथा कष्टो को दूर करने की वडी-वडी योजनाओ की वाते पढ़ते है; लेकिन हमारे यहाँ के करोड़ो वेकारो और चारो ओर फैले हुए स्थायी घोर कष्टो को कौन पूछता है ? हम दूसरे देशो की गृह-योजनाओ के विषय मे भी सुनते है, हमारे यहाँ के करोड़ो मनुष्यो के, जो कच्ची झोपडियों मे रहते है या जिनके पास रहने तक को जगह नही, मकान कहाँ है ? क्या हमें दूसरे देशो की हालत से ईर्ष्या न होगी जहाँ शिक्षा, सफाई, चिकित्सा-प्रवन्ध, सांस्कृतिक सुविधाये, और पैदावार वड़ी शीघ्रता से

तरक्की कर रही है, जब कि हम लोग जहाँ थे वही खडे हुए है या बडी दिक्कत के साथ चीटी की तरह रेंग रहे है? रूस ने बारह साल के थोडे-से समय मे ही आश्चर्यजनक प्रयत्नो से अपने विशाल देश की अशिक्षा का करीब-करीब अन्त कर दिया है, और शिक्षा की ऐसी सुन्दर और नई-से-नई प्रणाली का विकास किया है जो जनता के जीवन से सम्पर्क रखती है। पिछड़े हुए टर्की ने अतातुर्क मुस्तफा कमाल के नेतृत्व मे देश-व्यापी शिक्षा-प्रसार के मार्ग मे बहुत लम्बा कदम बढाया है। फॅसिस्ट इटली ने अपने जीवन के आरम्भ मे ही जोरो से अशिक्षा पर आक्रमण किया। शिक्षा-सचिव जेण्टाइल ने आवाज़ उठाई कि "निरक्षरता पर सामने से हमला होना चाहिए। यह प्लेग का फोड़ा, जो हमारे राजनैतिक शरीर को सडा रहा है, गरम लोहे से दाग दिया जाना चाहिए।" घर मे बैठकर बाते करने मे ये शब्द भले ही कठोर और भद्दे मालूम हो, लेकिन इनके द्वारा इस विचार की तह मे रहनेवाली दृढता और शक्ति प्रकट होती है। हम लोग अधिक विनम्र है और बहुत चिकने-चुपड़े वाक्यो का प्रयोग करते है। हम लोग खूब फूंक-फूंककर कदम रखते है और अपनी तमाम शक्तियो को कमीशनो और कमिटियों मे बरबाद कर देते है।

हिन्दुस्तानियों पर यह दोषारोप किया जाता है कि वे बाते तो बहुत ज्यादा करते है पर काम जरा भी नही। यह आरोप ठीक भी है। लेकिन क्या हम अंग्रेज़ो की ऐसी कमिटियो और कमीशनो की अथक क्षमता पर आश्चर्य प्रकट न करे जिनमे से हरेक, बडे परिश्रम के बाद एक विद्वत्तापूर्ण रिपोर्ट—'एक महान् सरकारी खरीता"—तैयार करता है, जो बाकायदा तारीफ किये जाने के बाद दाखिल-दफ्तर करदी जाती है। और इस तरह से हमको आगे बढने का, तरक्की का, भास तो होता है लेकिन हम रहते वही-के-वही है। सम्मान भी रह जाता है और हमारे स्थापित स्वार्थ भी अछूते और सुरक्षित बने रहते है। दूसरे देश यह सोचते है कि किस तरह आगे बढें, हम रुकावटो, अटकावो और संरक्षणो का विचार करते हैं कि कही ज़रूरत से ज्यादा तेज़ न चलने लगे।

"शाही शान-शौकत रिआया की गरीबी का पैमाना बन गई"—मुगल साम्राज्य के बारे मे यह बात हमको (ज्वाइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी १९३४ के द्वारा) बतलाई जाती है। यह बात ठीक है, लेकिन क्या हम उसी नाप को आज काम मे नही ला सकते ? आज यह वाइसराय की शान-शौकत और तडक-भडकवाली नई दिल्ली और प्रान्तीय गवर्नर और उनकी नुमायशी टीम-टाम आखिर क्या है ? और इन सबके पीछे है हैरत मे डालनेवाली हद दरजे की गरीबी। यह भिन्नता दिल को चोट पहुँचाती है और यह कल्पना करना कठिन है कि कोमल हृदय के लोग इसको किस तरह बरदाश्त कर सकते है। तमाम शाही वैभववाली इस ऊँची दुनिया मे आज हिन्दुस्तान का एक बड़ा दैन्यपूर्ण और शोकमय परिस्थिति का फीका पकवान है। जोड-तोड मिलाकर और दिखावटी बातो से शाही शान-शौकत बढा दी गयी है, लेकिन इसके पीछे निम्न मध्यमवर्ग के कमबख्त लोग है, जो जमाने की हालतो से पिसते ही चले जा रहे है। इसके पीछे मजदूर लोग है, जो पीस डालनेवाली गरीबी मे कमबख्ती की ज़िन्दगी बसर कर रहे है और इनके बाद किसान लोग है जो हिन्दुस्तान के प्रतीक है जिनकी किस्मत मे "अनन्त अधकार मे रहना" ही लिखा है।

"आह ! पीठ पर ले कितनी सदियो का भारी भार,
झुका खडा अपने हल पर धरती को रहा निहार !!
युग-युग का सूनापन उसके ही मुँह पर लो देख,
सिर पर उसके और बोझ बन बैठा है ससार !!!
× × × ×
ाक रही ठठरी से युग-युग की पीड़ा दुर्दान्त,
झुकना है या महाकाल का यह इतिहास दुखान्त
रोती है सृष्टा से दुखडा—यही भविष्यद्वाक् !
ठगी-लुटी, पीडित-अपमानित मानवता आक्रान्त !"[1]

---

१. अमेरिका के कवि ई० मारखम की "The man with the Hoe" (फावडेवाला आदमी) नामक कविता के अंश का भावानुवाद।

हिन्दुस्तान की सारी तकलीफो का दोष अग्रेजो के सिर मढना ठीक नही होगा। इसकी जिम्मेदारी तो हमको अपने ही कन्धो पर लेनी पडेगी और उससे हम बच भी नही सकते, अपनी कमजोरी के अनिवार्य परिणामो के लिए दूसरो को दोष देना अच्छा नही मालूम होता। एक हाकिमाना शासन-प्रणाली, खासकर एक विदेशी शासन-प्रणाली जरूर गुलाम मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देगी और रिआया के दृष्टिकोण और दृष्टि-क्षेत्र को सीमिति रखने का प्रयत्न करेगी। उसे तो नवयुवको की सबसे उत्तम प्रवृत्तियो—उद्योग, जोखिम उठाने की भावना, मौलिकता, तेजस्विता—को पीस डालना और जी चुराना, लकीर के फकीर बने रहना और अफसरो की कदमबोसी और चापलूसी करने की इच्छा आदि को प्रोत्साहन देना ही अभीष्ट है। इस प्रकार की प्रणाली से सच्ची सेवा-वृत्ति, सार्वजनिक सेवा या आदर्श की लगन, उत्पन्न नही होती, यह तो ऐसे लोगो को छाँट लेती है जिनमे सेवा के भाव बहुत कम हो और जिनका एकमात्र उद्देश्य मौज से जिन्दगी बसर करना हो। हम देखते है कि हिन्दुस्तान मे अग्रेज लोग कैसे व्यक्तियो को अपनी ओर आर्कापित करते है। इनमे से कुछ तो कुशाग्रबुद्धि और अच्छा काम करने लायक होते है। ये लोग दूसरी जगह मौका न मिलने के कारण सरकारी या अर्द्ध सरकारी नौकरियो मे पड़कर धीरे-धीरे नरम हो जाते है और उस बडी मशीन के पुर्जेमात्र बन जाते है, उनके दिमाग काम के सुस्त ढर्रे मे कैद हो जाते है। वे नौकरशाही के गुण—"क्लर्की करने का खूब अच्छा ज्ञान और दफ्तर चलाने का कौशल"—प्राप्त कर लेते है। सार्वजनिक सेवा मे ज्यादा-से-ज्यादा उनकी मौखिक भक्ति होती है। उबलता हुआ जोश वहाँ न तो होता है और न हो सकता है। विदेशी सरकार के राज्य मे यह सम्भव ही नही है।

लेकिन इनके अलावा, छोटे-मोटे अफसरो मे भी अधिकतर किसी तारीफ के काबिल नही होते। क्योकि उन्होने तो सिर्फ अपने बडे अफसरों की कदमबोसी करना और अपने मातहतो को डाँटना ही सीखा है। इसमे उनका कुसूर नही है। यह शिक्षा तो उन्हे शासन-प्रणाली से

मिलती है। अगर चापलूसी और रिश्तेदारो के साथ रिआयत फूलती-फलती है, जैसा कि अक्सर होता है, तो इसमे ताज्जुब ही क्या है? नौकरी मे उनका कोई आदर्श नही रहता, उनके पीछे तो बेकारी और उसके परिणामस्वरूप भूखो मरने के डर का भूत लगा रहता है, और उनकी खास नीयत यह रहती है कि अपनी नौकरी से चिपके रहे और अपने रिश्तेदारो और दोस्तो के लिए और दूसरी नौकरियाँ प्राप्त करे। जहाँ भेदिया, और सबसे ज्यादा घृणित जीव मुखबिर, हमेशा पीछे-पीछे लगे फिरते रहते है, वहाँ लोगो मे अधिक वाञ्छनीय गुणो की वृद्धि होना कठिन है।

हाल की घटनाओ ने तो भावुक और सार्वजनिक सेवा के भावोवाले व्यक्तियो के लिए सरकारी नौकरी मे घुसना और भी मुश्किल कर दिया है। सरकार तो उनको चाहती ही नही और वे भी उससे उस समय तक घनिष्ट सम्बन्ध रखना नही चाहते जबतक कि वे आर्थिक परिस्थिति से मजबूर न हो जायँ।

लेकिन, जैसा कि सारी दुनिया जानती है, साम्राज्य का भार गोरो पर है, कालो पर नही। साम्राज्य की परम्परा जारी रखने के लिए तरह-तरह को शाही नौकरियाँ और उनके विशेष अधिकारो को सुरक्षित रखने के लिए सरक्षणो की हमारे यहाँ भरमार है, और कहा जाता है कि ये सब है हिन्दुस्तान के ही हित के लिए। यह ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान का हित किस तरह से इन ऊँची नौकरियो के स्पष्ट हितो और उन्नति के साथ बँधा हुआ है। हमसे कहा जाता है कि अगर भारतीय सिविल सर्विस का कोई अधिकार या कोई ऊँचा ओहदा छीन लिया गया तो उसका नतीजा बदइन्तजामी और रिश्वतखोरी आदि होगा। अगर भारतीय मेडिकल सर्विस की रिजर्व की हुई नौकरियाँ कम कर दी गई तो यह बात "हिन्दुस्तान की तन्दुरुस्ती के लिए खतरनाक" हो जाती है। और हाँ, अगर फौजो मे अग्रेज़ो की सख्या को हाथ लगाया गया तो दुनियाभर के भयकर खतरे हमारे सामने आ जाते है।

मेरा खयाल है कि इस बात मे कुछ सचाई है कि अगर ऊँचे अफ़सर

यकायक चले गये और अपने महकमो को मातहतो के भरोसे छोड गये तो इतज़ाम मे कमी ज़रूर आयेगी। लेकिन यह तो इसलिए होगा कि सारी प्रणाली ही इस तरह की वनाई गई है, और मातहत लोग किसी हालत मे भी कोई वहुत लायक नही है, न उनके कन्धो पर कभी जिम्मे-दारी का वोझ डाला गया है। मुझे विश्वास होता है कि हिन्दुस्तान मे अच्छी सामग्री वहुतायत से पडी हुई है और वह थोडे ही समय मे मिल भी सकती है, वशर्ते कि ठीक-ठीक उपाय काम मे लाये जायँ। लेकिन इसका अर्थ है हमारे शासन और समाज-सम्बन्धी दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्त्तन, जिसका अर्थ होता है एक नई राज्य-व्यवस्था।

अभी तो हमसे यही कहा जाता है कि शासन-विधान मे चाहे जो परिवर्तन हमारे सामने आवे, हमारी देखरेख करनेवाला और हमे आश्रय देनेवाला वडी-वडी नौकरियो का मजवूत ढाँचा ज्यो-का-त्यों वना रहेगा। सरकारी मन्दिर के गूढतम रहस्यो को जानने और दूसरो को उनका अधिकारी वनानेवाले ये पण्डे लोग उसकी रक्षा करेगे और अनधिकारी लोगो को उस पवित्र प्रागण मे न घुसने देंगे। क्रम-क्रम से जैसे-जैसे हम अपने को उसके योग्य वनाते जायँगे, वैसे-वैसे वे एक के वाद दूसरे परदे को हमारे सामने से उठाते जायँगे, और इस तरह अन्त मे किसी सुदूर भविष्य मे अन्तर्कपाट खुलेगे और हमारी आश्चर्यभरी तथा श्रद्धायुक्त आँखो के सामने वह पवित्रतम देवमूर्ति खडी दिखाई देगी।

इन शाही नौकरियो मे सवसे ऊँचा स्थान भारतीय सिविल सर्विस का है और हिन्दुस्तान की सरकार के ठीक-ठीक चलते रहने की शावाशी या लानत ज्यादातर इसीको मिलनी चाहिए। हमको अक्सर इस सर्विस के अनेक गुण वतलाये जाते है। साम्राज्य की योजना मे इसका महत्त्व एक सिद्धान्त-सा वना गया है। हिन्दुस्तान मे इसकी सर्वमान्य अधिकार-पूर्ण स्थिति और उससे उत्पन्न स्वेच्छाचारिता और पर्याप्त परिमाण मे मिलनेवाली तारीफ और वाहवाही, ये सव किसी भी व्यक्ति या समु-दाय के दिमाग को स्थिर रखने के लिए वहुत अच्छी चीजे नही हो सकती। इस सर्विस के लिए प्रशसा के भाव रखते हुए भी मुझे सकोच

के साथ स्वीकार करना पडता है कि व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो ही तरह यह पुरानी लेकिन कुछ-कुछ नवीन बीमारी—उन्माद—की विलक्षण रूप से शिकार हो सकती है।

इण्डियन सिविल सर्विस की अच्छाइओ से इन्कार करना फिजूल है, क्योकि हमे इनको भूलने ही नही दिया जाता। लेकिन इस सर्विस के बारे मे इतनी निरर्थक बाते कही गई और कही जाती है कि मुझे कभी-कभी लगता है कि उसकी थोडी-सी कलई खोल देना भी हितकर होगा। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेबलेन ने विशेष अधिकार-प्राप्त वर्गो को 'सुरक्षित वर्ग' कहा है। मेरे खयाल से, इण्डियन सिविल सर्विस और दूसरी शाही नौकरियो को भी 'सुरक्षित नौकरियाँ' कहना उतना ही युक्ति-युक्त होगा। यह एक बडी खर्चीली ऐयाशी है।

मेजर डी० ग्रैहम पोल ने, जो पहले ब्रिटिश पार्लमेण्ट के लेबर मेम्बर रह चुके है और हिन्दुस्तान के मामलो मे बहुत दिलचस्पी लेते है, कुछ दिन हुए, 'माडर्न रिव्यू' मे एक लेख लिखा था, जिसमे उन्होने बताया था कि "अभीतक इस बात पर किसीने आपत्ति नही की कि इण्डियन सिविल सर्विस एक बहुत योग्य और होशियार कारगर चीज है।" चूँकि इसी प्रकार की बाते इग्लैण्ड मे अक्सर कही जाती है और उन पर विश्वास किया जाता है, इसलिए इसकी परीक्षा करना लाभकर होगा। ऐसे पक्के और निश्चयात्मक बयान देना, जो सहज ही मे काटे जा सके, हमेशा खतरनाक होता है और मेजर ग्रैहम पोल की यह कल्पना बिलकुल गलत है कि इस बात पर कभी किसी ने ऐतराज़ नही किया। इसको तो बार-बार चुनौती दी गई है और ठीक नही माना गया है, और काफी अर्सा हुआ जब श्री गोपालकृष्ण गोखले तक ने इण्डियन सिविल सर्विस के बारे मे बहुत-सी कडुवी बाते कही थी। औसत दर्जे का हिन्दुस्तानी—वह कॉंग्रेसमैन हो या न हो—मेजर ग्रैहम पोल से इस विषय पर निश्चय ही कदापि सहमत नही हो सकता। फिर भी यह सम्भव है कि दोनो कुछ अश तक ठीक हो और भिन्न-भिन्न गुणो को दृष्टि में रखकर सोचते हो। आखिर योग्यता और होशियारी का पैमाना

क्या है ? अगर यह योग्यता और होशियारी हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य को मज़बूत बनाये रखने और देश को चूसने में उसे सहायता देने की दृष्टि से नापी जाय, तो इण्डियन सिविल सर्विस ज़रूर बहुत अच्छा काम करने का दावा कर सकती है। लेकिन अगर भारतीय जनता की भलाई की कसौटी पर रखकर देखा जाय, तो कहना होगा कि ये लोग बुरी तरह से नाकामयाब हुए हैं, और इनकी नाकामयाबी तब और भी ज्यादा ज़ाहिर हो जाती है जबकि हम उस बड़े भारी अन्तर को देखते हैं जो आमदनी और रहन-सहन के ढँग के लिहाज़ से इनको उस जनता से अलग कर देता है जिसकी सेवा करना इनका फर्ज है और दरअसल जिसके पास से इसकी इतनी लम्बी-चौड़ी तनख्वाह आदि निकलती है।

यह बिलकुल ठीक है कि आमतौर पर इस सर्विस ने अपना एक खास स्टैण्डर्ड बना लिया है, हालाँकि वह स्टैण्डर्ड लाज़िमी तौर पर बहुत नीचे दर्जे का रहा है। कभी-कभी इसमें से असाधारण व्यक्ति भी निकले हैं। ऐसी किसी सर्विस से ज्यादा उम्मीद भी नहीं की जासकती। इसके अन्दर लाज़िमी तौर पर अन्दर से अपनी अच्छाइयों और बुराइयों को लिये हुए इंग्लैण्ड के पब्लिक स्कूलों की भावना भरी हुई थी (हालाँकि इंडियन सिविल सर्विस के बहुत-से अफसर इन पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए नहीं हैं)। हालाँकि यह एक अच्छा स्टैण्डर्ड बनाये रही, फिर भी इसने अपनी लीक छोड़ना कभी पसन्द नहीं किया, और व्यक्तिगत रूप से इसके मेम्बरों के ख़ास गुण रोज़मर्रा के नीरस काम-काजों में, और कुछ इस डर में कि कहीं दूसरों से भिन्न न नजर आने लगें, विलीन हो गये। इसमें बहुत से उत्साही लोग भी थे, और बहुत-से ऐसे भी थे जिनमें सेवा के भाव थे, लेकिन वह सेवा सबसे पहले साम्राज्य की थी और हिन्दुस्तान तो गिरते-पड़ते कहीं दूसरे नम्बर में आता था। जिस तरह की तालीम उन्हें मिली थी और जैसी उनकी परिस्थिति थी उसके अनुसार तो वे सिर्फ ऐसा ही कर सकते थे। चूँकि उनकी तादाद कम थी और वे एक विदेशी और अक्सर बे-मेल वातावरण से घिरे रहते थे, इसलिए वे अपने ही में रमे रहते और अपना एक खास स्टैण्डर्ड बनाये रखते

थे। जाति और पद की प्रतिष्ठा का यही तकाजा था। और चूँकि उनको मनमानी करने के खूब अधिकार थे, इसलिए वे आलोचना से नाराज होते थे और उसे बडा भारी पाप समझते थे। वे दिन-पर-दिन असहिष्णु तथा स्कूल मास्टर की मनोवृत्तिवाले होते जाते थे, और गैर-जिम्मेदार राज्य-शासको के बहुत-से दुर्गुण अपने अन्दर भरते जाते थे, वे अपने ही मे सन्तुष्ट रहते और किसी दूसरे की कुछ आवश्यकता नही समझते थे। उनके दिमाग सकीर्ण और घडे-घड़ाये थे, जो परिवर्तनशील ससार मे भी अपरिर्वातत रहते तथा प्रगतिशील वातावरण के बिलकुल अनुपयुक्त थे। जब उनसे अधिक योग्य और स्थिति को अच्छी तरह समझनेवाले हिन्दुस्तान की समस्या को हल करने की कोशिश करते, तो वे लोग नाराज होते, उन्हे खरी-खोटी सुनाते, उनको दबाते और उनके मार्ग में सब तरह के रोडे अटकाते। जब यूरोपीय महायुद्ध के बाद होनेवाले परिवर्त्तनो ने गतिशील परिस्थिति उत्पन्न करदी, तो ये लोग एकदम बौखला गये और अपने आपको उसके अनुकूल न बना सके। उनकी परिमित और सकीर्ण शिक्षा ने उन्हे ऐसी सकटापन्न और नवीन परिस्थितियों के योग्य नही बनाया था। लम्बे अर्से तक गैर-जिम्मेदारी के साथ काम करते-करते वे बिगड चुके थे। समुदाय-रूप से तो उनको करीब-करीब बिलकुल निरंकुश प्रभुता मिली हुई थी, जिस पर सिर्फ सिद्धान्त-रूप से ब्रिटिश पार्लमेण्ट का नियन्त्रण था। लार्ड एक्टन ने लिखा है—"प्रभुता हमे बिगाड देती है, और पूर्ण प्रभुता तो पूर्णरूप से बिगाड देती है।"

मामूलीतौर से, ये लोग अपने परिमिति दायरे मे विश्वासपात्र अफसर होते थे, जो अपना रोजमर्रा का काम काफी होशियारी के साथ करते, लेकिन उसमें प्रवीणता नही होती थी। उनकी तो तालीम ही ऐसी होती थी कि कोई बिलकुल अचानक हो जानेवाली घटना उन्हे घबरा देती थी। हालाँकि उनका आत्म-विश्वास, उनकी कायदे के साथ काम करने की आदतें और उनकी आन्तरिक एकता उनको तात्कालिक कठिनाइयो पर विजय पाने मे सहायता देते थे। मैसोपोटामियाँ मे की हुई मशहूर गडबड़ ने भारतीय ब्रिटिश सरकार की अयोग्यता और जडता

का भण्डा-फोड कर दिया था, लेकिन ऐसी बहुत-सी गडबडे जाहिर ही नहीं होने पाती हैं। सविनय-भग के प्रति इन्होने जो वृत्ति दिखलाई वह कुढगी थी। गोली चलाने और लाठी मारने से थोडी देर के लिए दुश्मनो से छुटकारा भले ही मिल जाय, लेकिन इससे कोई मसला हल नही होता। और उच्चता की जिस भावना की रक्षा करने के लिए यह काम किया जाता है उसीकी जड पर इससे कुठाराघात होता है। अगर उन्होने एक बढनेवाले और तेज-तर्रार राष्ट्रीय आन्दोलन का मुकाबिला करने के लिए हिसा का सहारा लिया तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नही थी, यह तो अनिवार्य ही था, क्योंकि साम्राज्यो का आधार हिसा ही है और विरोध का मुकाबिला करने के लिए उन्हे दूसरा तरीका ही नही सिखाया गया था। लेकिन अतिशय और अनावश्यक रूप से हिंसा का प्रयोग किया जाना ही इस बात का सबूत था कि स्थिति पर उनका बिलकुल काबू नही रहा था, और उनमें वह आत्म-सयम और निग्रह नही रह गया था जो साधारण अवस्थाओ में उनमे रहता था। अक्सर उनके हाथ-पैर फूल जाते थे और उनके सार्वजनिक व्यक्तव्यो में भी फिजूल बकवास नजर आती थी। और दिनो रहनेवाला गहरा विश्वास जाता रहा था। खतरा बडी बेरहमी से हम सबकी पोल खोल देता है और हमारी अन्दरूनी कमजोरियो का भडाफोड कर देता है। सविनय-भग एक ऐसा ही खतरा और ऐसी ही परीक्षा थी और लडने-वाले दोनो दलो—कॉंग्रेस या सरकार—में से कोई भी इस परीक्षा मे पूरा नही उतरा। मि० लायड जार्ज कहते है कि खतरे के समय मे ऊँचे दर्जे की दिमागी ताकत रखनेवाले पुरुष और स्त्रियो की सख्या बहुत कम मिलती है, और "बाकी लोगो की खतरे मे कोई गिनती नही। छोटी-छोटी पहाडियाँ, जो सूखे मौसम मे उभरी हुई-सी दिखाई पडती है, जोर की बाढ में फौरन डूब जाती है, जबकि सिर्फ उससे ऊँची चोटियाँ ही पानी की सतह के ऊपर नजर आती है।"

जो कुछ भी हुआ, उसके लिए इण्डियन सिविल सर्विस के लोग दिल और दिमाग से तैयार न थे। उनमें से बहुतो की आरम्भिक शिक्षा

पुराने शाही जमाने की थी, जिसकी वजह से उनमे कुछ संस्कृति और आकर्षण बना हुआ था। यह तो पुरानी दुनिया का रुख था, जो विक्टोरियन युग के उपयुक्त था, लेकिन आधुनिक अवस्थाओ मे जिसके लिए कोई स्थान न था। वे लोग अपने सकुचित और गूलर के समान 'ऐंग्लो-इडिया' ससार मे निवास करते थे, जो न इग्लैण्ड था और न हिन्दुस्तान। तात्कालिक समाज मे जो शक्तियाँ काम कर रही थी उनकी कदर वे कर ही नही सकते थे। भारतीय जनता के अभिभावक और ट्रस्टी होने की अपनी मजेदार धारणा के बावजूद वे इसके बारे मे कुछ नही जानते थे, और नये उग्रमतवादी मध्यमवर्ग के बारे में तो इससे भी कम जानते थे। वे हिन्दुस्तानियो की योग्यता का अन्दाजा उन चापलूसो और नौकरी के उम्मीदवारो से करते थे जो उनको घेरे रहते थे, और बाकी लोगो को वे आन्दोलनकारी और धोखेबाज कहकर उड़ा देते थे। लडाई के बाद होनेवाले ससार-व्यापी और खासकर आर्थिक क्षेत्र के परिवर्तनो का उन्हे बहुत थोडा ज्ञान था और वे ऐसी गहरी लीक मे फँस गये थे कि परिवर्तनशील परिस्थितियो के अनुकूल अपने को बना नही सकते थे। वे इस बात को महसूस नही करते थे कि जिस श्रेणी के वे प्रतिनिधि थे वह मौजूदा हालतों मे पुरानी पड चुकी थी, और वे समुदाय-रूप से धीरे-धीरे उस जाति के निकट पहुँच रहे थे जिसका वर्णन टी० एस० ईलियट ने अपने 'दि हॉलो मैन' (पोले आदमी) मे किया है।

लेकिन इतने पर भी यह वर्ग जबतक ब्रिटिश साम्राज्यवाद है तबतक कायम रहेगा और यह अभीतक काफी शक्तिशाली है और अब भी उसमे योग्य और कुशल नेता है। भारत मे अग्रेजी-राज्य एक सडते हुए दाँत के समान है जो अभीतक मजबूती से जमा हुआ है। वह दर्द करता है, लेकिन आसानी से निकाला नही जा सकता। यह दर्द सम्भवत. जारी रहेगा और बढता भी रहेगा, जबतक कि दाँत निकाला न जाय या खुद गिर न पडे।

पब्लिक स्कूलवालो के दिन इग्लैण्ड मे भी पूरे हो गये और अब उनकी वैसी प्रतिष्ठा नही है जैसी पहले थी, हालाँकि सार्वजनिक मामलो

में वे अब भी प्रमुख हैं। हिन्दुस्तान में तो ये और भी ज्यादा ग़ैरमौज़ूं हैं और उग्र राष्ट्रीयता के साथ न तो उनका मेल बैठ सकता है और न उनके साथ सहयोग ही हो सकता है, सामाजिक परिवर्तन के लिए कोशिश करनेवालों का साथ देना तो बहुत दूर की बात है।

इण्डियन सिविल सर्विस में अनेक बढ़िया आदमी भी हैं, अंग्रेज़ भी और हिन्दुस्तानी भी, लेकिन जबतक मौजूदा शासन-प्रणाली कायम है तबतक उनकी प्रवीणता ऐसे उद्देश्यों को पूरा करने में खर्च होती रहेगी जिनसे हिन्दुस्तानियों को कुछ फायदा नहीं है। सर्विस के कुछ हिन्दुस्तानी अफ़सर इस पब्लिक स्कूल की भावना के इतने गुलाम हैं कि वे अपने को सम्राट् से भी ज्यादा शाही समझते हैं। मुझे याद है कि मेरी मुलाकात सिविल सर्विस के एक ऐसे नौजवान अफ़सर से हुई थी जो अपने लिए बड़ी ऊँची राय रखता था लेकिन जिससे दुर्भाग्यवश मैं सहमत नहीं हो सकता था। उसने मेरे सामने अपनी सर्विस के बहुत से गुण गाये और अन्त में ब्रिटिश साम्राज्य के पक्ष में यह लाजवाब दलील पेश की कि क्या यह रोमन साम्राज्य और चंगेज़खाँ तथा तैमूर के साम्राज्यों से बेहतर नहीं है?

इण्डियन सिविल सर्विसवालों की मुख्य भावना यह है कि वे अपना फ़र्ज़ बड़ी होशियारी के साथ अदा करते हैं, और इसलिए वे अपने दावों पर ज़ोर दे सकते हैं, और उनके दावे भी बहुत-से और तरह-तरह के हैं। अगर हिन्दुस्तान ग़रीब है तो यह कुसूर उसके सामाजिक रीति-रिवाजों का, महाजनों और रुपया उधार देने वालों का, और सबसे ज्यादा उसकी बड़ी भारी आबादी का है। लेकिन सबसे बड़ी 'बनिया' ब्रिटिश सरकार को आसानी से भुला दिया जाता है। और इस आबादी के बारे में वे क्या करना चाहते हैं यह मैं नहीं जानता, क्योंकि अकालों, महामारियों और खासतौर पर बड़ी तादाद में मौतों से बहुत-कुछ मदद मिलने पर भी यहाँ की आबादी अभीतक बहुत ज्यादा है। संतति-निग्रह की सलाह दी जाती है, और मैं तो यद्यपि बिल्कुल इसके पक्ष में हूँ कि संतति-निग्रह के ज्ञान और तरीक़ों का प्रचार किया जाय। लेकिन खुद इन तरीक़ों का प्रयोग ही जनता के रहन-सहन का एक काफ़ी ऊँचा ढंग,

कुछ हद तक मामूली शिक्षा और सारे देश मे असख्य चिकित्सालयो की आवश्यकता रखता है। मौजूदा हालत मे सतित-निग्रह के तरीके साधारण जनता की पहुँच से बिलकुल बाहर है। मध्यमवर्ग के लोग इनसे फायदा उठा सकते है और मै समझता हूँ कि वे लोग अधिकाधिक परिमाण मे ऐसा कर भी रहे है।

लेकिन ज़रूरत से ज्यादा जन-वृद्धि-सम्बन्धी यह दलील और भी गौर किये जाने के काबिल है। आज सारी दुनिया मे सवाल यह नही है कि खाने की या दूसरी ज़रूरी चीज़ो की कमी है, बल्कि दरअसल कमी है खानेवालों की, या दूसरे शब्दो मे, कमी है उन लोगो के लिए खाना वगैरा खरीदने की शक्ति की जो भूखो मर रहे है। अकेले हिन्दुस्तान को भी खाने की कोई कमी नही है, हालाँकि आबादी बढ गई है, खाने का सामान भी बढ गया है, और आबादी के मुकाबिले मे ज्यादा मिकदार मे बढ सकता है। फिर हिन्दुस्तान की आबादी की बढोतरी का जिस कदर ढिंढोरा पीटा जाता है उसकी गति (सिवाय पिछले दस वर्षो के) ज्यादा-तर पश्चिमी देशो से बहुत कम है। यह सच है कि भविष्य मे यह फ़र्क बढता जायगा, क्योंकि पश्चिमी देशो मे आबादी की बढोतरी को कम करने या रोक तक देने के लिए तरह-तरह की शक्तियाँ काम कर रही है। लेकिन हिन्दुस्तान मे भी सीमित करनेवाले कारण शायद जल्दी ही आबादी की बढोतरी को रोक देगे।

जब कभी भारत स्वतन्त्र होगा और कभी इस स्थिति मे होगा कि वह अपने को जिस तरह बनाना चाहे बना सके तो इस काम के लिए उसे ज़रूर अपने सबसे अच्छे पुत्रो और पुत्रियो की आवश्यकता होगी। ऊँचे दर्जे के मनुष्य हमेशा बडी मुश्किल से मिलते है और हिन्दुस्तान मे तो मिलना और भी मुश्किल है, क्योंकि हमे ब्रिटिश राज्य मे उन्नती करने का मौका ही नही मिला। हमे सार्वजनिक कार्यो के अनेक विभागों मे विदेशी विशेषज्ञो की सहायता की आवश्यकता होगी, खासकर ऐसे कामो के लिए, जिनमे खासतौर पर औद्योगिक और वैज्ञानिक ज्ञान की ज़रूरत हो। जो लोग इडियन सिविल सर्विस या दूसरी शाही नौकरियों मे

रह चुके है उनमे बहुत-से हिन्दुस्तानी और विदेशी होगे जिनकी जरूरत नई व्यवस्था के लिए होगी और उनका स्वागत किया जायगा। लेकिन एक बात का तो मुझे पूरा यकीन है कि जब तक हमारे राज्य-शासन और सार्वजनिक नौकरियो मे सिविल सर्विस की भावना समाई रहेगी, तबतक हिन्दुस्तान मे किसी नई व्यवस्था की रचना नही की जासकती। यह शासन-मनोवृत्ति साम्राज्यवाद की पोषक है और स्वतन्त्रता और यह दोनो साथ-साथ नही निभ सकती। या तो यह स्वतन्त्रता को पीस डालने मे सफल होगी, या स्वय उखाड फेंकी जायगी। सिर्फ एक तरह की राज्य-प्रणाली मे इसकी दाल गल सकती है, और वह है फैसिस्ट प्रणाली। इसलिए मुझे यह बहुत जरूरी मालूम देता है कि, हम नई व्यवस्था का कोई असली काम शुरू करे, इसके पहले सिविल सर्विस और इस तरह की दूसरी शाही सर्विस का अन्त हो जाना चाहिए। इन सर्विसो के अलग-अलग व्यक्ति, अगर वे नई नौकरियो के लिए राजी हो और योग्य हो, खुशी के साथ आवे, लेकिन सिर्फ नई शर्तो पर। यह तो कल्पना ही नही की जासकती कि उनको वही फिजूल की मोटी-मोटी तनख्वाहे और भत्ते मिलेगे जो आज उन्हे दिये जा रहे है। नवीन हिन्दुस्तान को ऐसे सच्चे और योग्य कार्यकर्त्ताओ की सेवाये चाहिएँ जिन्हे उसके हित मे हार्दिक विश्वास हो जिसके लिए वे कार्य कर रहे हो, जो सफलता प्राप्त करने मे तुले हो, और जो बडी-बडी तनख्वाहो के लोभ से नही, बल्कि सेवा-जनित आनन्द और गौरव के लिए काम करते हो। रुपया मिलने की नीयत को घटाकर कम-से-कम कर देना होगा। विदेशी सहायको की बहुत ज्यादा जरूरत पडेगी, लेकिन मेरे खयाल से ऐसे राज-काज चलाने वालो की जरूरत सबसे कम होगी जिनको औद्योगिक ज्ञान न हो। ऐसे आदमियो का तो हिन्दुस्तान मे कुछ अभाव न होगा।

मै पहले लिख चुका हूँ कि भारत के नरम दलवालों और उनके समान अन्य दलवालो ने किस प्रकार भारत के शासन के विषय मे अंग्रेजी विचार प्रणाली को स्वीकार कर लिया है। सर्विसो के सम्बन्ध मे तो यह बात और भी साफ जाहिर हो जाती है, क्योकि उनकी पुकार

'भारतीयकरण' के लिए है, सर्विसो के रूप और भावना और राज्य-व्यवस्था की रचना मे आमूल परिवर्तन के लिए नही। यह एक ऐसा मौलिक तत्व है जिसपर कोई समझौता हो ही नही सकता, क्योकि भारत की स्वतन्त्रता न केवल ब्रिटिश फौज और सर्विसो के वापस हटा लिये जाने पर ही अवलम्बित है बल्कि उसके लिए उनके दिमागो मे घुसी हुई शासक-मनोवृत्ति के निकाले जाने और उनकी मोटी-मोटी तनख्वाहो और रिआयतो को समता पर लाने की भी आवश्यकता है। शासन-विधान-रचना के इस काल मे सरक्षणो की बहुत बातचीत हो रही है। अगर ये सरक्षण हिन्दुस्तान के हित मे रक्खे जायँ, तो उनमे दूसरी बातो के अलावा यह विधान होना चाहिए कि सिविल सर्विस वगैरा का उनके वर्तमान रूप मे तथा उनको मिली हुई शक्तियो और विशेष अधिकारों के साथ अन्त हो जाय, और नये विधान से उनकी कुछ भी सरोकार न रहे।

हमारी रक्षा के नाम पर स्थापित फौजी सर्विसों का हाल तो और भी रहस्यमय और भयकर है। हम न तो उनकी आलोचना कर सकते हैं, न उनके बारे मे कुछ कह ही सकते है, क्योंकि ऐसे मामलो मे हम समझते ही क्या है ? हमारा काम तो बिना कोई ची-चपड किये सिर्फ मोटी-मोटी तनख्वाह चुकाते रहने का है। कुछ दिन हुए, सितम्बर १९३४ मे, हिन्दुस्तान के जगी लाट (कमाण्डर-इन-चीफ) सर फिलिप चेटवुड ने शिमला मे कौंसिल-आफ-स्टेट मे बोलते हुए चुभती हुई फौजी भाषा मे हिन्दुस्तान के राजनीतिज्ञो से कहा था कि वे लोग अपने काम से काम रक्खे, हमारे काम मे दखल न दे। किसी प्रस्ताव पर एक सशोधन पेश करनेवाले की ओर इशारा करते हुए उन्होने कहा था—"क्या वह और उनके मित्र यह ख़याल करते है कि बहुत-सी लड़ाइयाँ जीती हुई और युद्ध-प्रवीण अग्रेज-जाति, जिसने अपना साम्राज्य तलवार के ज़ोर से जीता है और तलवार के ही ज़ोर से जिसकी अबतक रक्षा की है, उस अनुभव से प्राप्त किये हुए अपने युद्ध-सम्बन्धी ज्ञान को कुरसियाँ तोडनेवाले आलोचकों से सीखेगी ?" उन्होने और भी बहुत-सी मज़ेदार

बातें कही थीं, और कहीं हम यह ख़याल न करने लगें कि उन्होंने तैश में आकर ऐसा कह डाला था इसलिए हमें बतलाया गया था कि उन्होंने अपना भाषण बड़े विचारपूर्वक लिखा था और उसी हस्तलिपि को पढ़कर सुनाया था।

किसी साधारण आदमी का फ़ौजी मामलों पर एक जंगी लाट से भिड़ पड़ना दरअसल गुस्ताख़ी है, लेकिन शायद एक कुरसी तोड़नेवाला आलोचक भी कुछ कहने का अधिकारी हो सकता है। यह बात समझ में आसकती है कि जिन्होंने साम्राज्य को तलवार के ज़ोर से कब्जे में कर रक्खा है और जिनके सिरके ऊपर यह चमचमाता हुआ हथियार हमेशा लटका रहता है, उनके हित शायद एक-दूसरे भिन्न हों। यह सम्भव है कि हिन्दुस्तानी फ़ौज हिन्दुस्तान के हितों या साम्राज्य के हितों के लिए काम में लाई जाय और इन दोनों हितों में भिन्नता ही नहीं बल्कि परस्पर-विरोध भी हो। एक राजनीतिज्ञ और कुरसी तोड़नेवाले आलोचक को यह भी आश्चर्य हो सकता है कि यूरोपीय महायुद्ध के अनुभवों के बाद भी प्रमुख सेनानायकों का यह दावा कि उनके कामों में दख़ल न दिया जाय कहाँतक जायज़ है। उस समय उनको बहुत अंशों तक स्वतन्त्र क्षेत्र मिला था और, जहाँतक मालूम हुआ है, उन्होंने सारी अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी, जर्मन, आस्ट्रियन, और रूसी सेनाओं में क़रीब-क़रीब तमाम बातों में एक बड़ी भयंकर गड़बड़ पैदा करदी थी। मशहूर अंग्रेज़ फ़ौजी इतिहासज्ञ और युद्ध-विद्या-विशारद कैप्टन लिडेल हार्ट ने अपनी 'हिस्ट्री आफ़ दी वर्ल्ड वार' में लिखा है कि महायुद्ध में एक बार जब अंग्रेज़ सिपाही दुश्मनों से लड़ रहे थे, उसी समय अंग्रेज़ फ़ौजी अफ़सर आपस में लड़ रहे थे। ऐसे राष्ट्रीय संकट के वक्त में भी लोग विचारों और कार्यों में एकता न लासके। वह फिर लिखते हैं, "महायुद्ध ने, अपने आराध्यदेवों के प्रति हमारे श्रद्धा और आदर के इन भावों को नष्ट कर दिया है कि महान् पुरुष उस मिट्टी के बने हुए नहीं होते जिसके साधारण मनुष्य होते हैं। नेताओं की अब भी आवश्यकता है, और शायद ज़्यादा आवश्यकता है, लेकिन हममें इस भाव का पैदा हो जाना कि वे भी

साधारण मनुष्यो की तरह है, हमको उनसे बहुत ज्यादा आशा रखने या उनपर बहुत ज्यादा विश्वास करने के खतरो से बचा लेगा।"

महान् राजनीतिज्ञ मि० लॉयड जार्ज ने अपनी 'वार-मेमॉयर्स' (महायुद्ध की स्मृतियाँ) नामक पुस्तक में महायुद्ध के जल और स्थल सेनानायको की गलतियो का—ऐसी गलतियो का, जिनके कारण लाखो आदमियो की जाने गई—बड़ा भयकर चित्र खीचा है। इग्लैण्ड और उसके सहायको ने महायुद्ध मे विजय तो प्राप्त की, लेकिन यह "विजय पर एक रक्त-रजित प्रहार था।" ऊँचे अफसरो-द्वारा फौजो और परिस्थितियो के मूर्खतापूर्ण और अविवेकयुक्त उपयोग ने इग्लैण्ड को लगभग सर्वनाश के किनारे ला पटका था और उसकी और उसके सहायको की रक्षा अधिकतर उनके शत्रुओ की ऐसी भूलो के कारण हुई जिनके होने का सहज ही विश्वास नही हो सकता। इग्लैंण्ड का महायुद्ध के समय का महान् प्रधानमन्त्री इस प्रकार लिखता है और वह बतलाता है कि किस प्रकार उन्हे लार्ड जेलीको के दिमाग में कुछ बाते बिठाने के लिए, खासकर पथ-रक्षक-प्रणाली के प्रस्ताव के बारे मे, उनके साथ सख्ती से पेश आना पडा था। फ्रासीसी मार्शल जॉफर के बारे मे तो उनका यह विचार मालूम होता है कि उसका सबसे बडा गुण उसकी दृढता-सूचक मुखमुद्रा थी जो हृदय मे शक्ति की भावना को पैदा करती थी। "यही चीज है जो त्रस्त लोग सकट के समय मे खोजते है। वे यह समझने की भूल करते है कि चतुरता किसी चेहरे में निवास करती है।"

लेकिन मि० लॉयड जार्ज का मुख्य आरोप तो खास ब्रिटिश सेना के नायक पर ही, कमाण्डर-इन-चीफ फील्ड-मार्शल हेग पर, है। उन्होने यह सिद्ध किया है कि किस प्रकार लार्ड हेग ने अपने ख्वामख्वाह के घमण्ड और राजनीतिज्ञो इत्यादि की बाते सुनने से इन्कार करके खास ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल से ही महत्त्वपूर्ण बातो को छिपाया, जिनके कारण फ्रास में अग्रेजी फौज को बडी भारी हानि उठानी पडी और इतने पर भी, जबकि असफलता सामने नजर आरही थी, वे आखिर तक अपनी ज़िद पर अडे रहे, और अपने मूर्खतापूर्ण युद्ध को पैस्शण्डेल तथा कैम्ब्राई की

भयकर दलदलो मे कई महीने तक चलाते रहे, यहाँतक कि सत्रह हजार तो अफसर ही वहाँ काम आ गये और चार लाख वीर अग्रेज़ सिपाही हताहत हो गये। सतोप की वात इतनी ही है कि आज भी 'अज्ञात सिपाही' का उसकी मृत्यु के वाद सम्मान किया जाता है, जव कि अपने जीवन-काल मे उसका जीवन वहुत सस्ता था और उसकी कोई पूछ नही थी।

अन्य लोगो की तरह राजनीतिज्ञ भी अक्सर गलतियाँ करते है, लेकिन जन-सत्तावादी राजनीतिज्ञ को जनता के रुख और घटनाओ पर ध्यान देकर उनसे प्रभावित होना पडता है और वे आमतौर पर अपनी गलतियो को स्वीकार करके उन्हे दुरुस्त करने की कोशिश करते है। पर सिपाही का निर्माण एक भिन्न वातावरण में होता है, जहाँ हुकूमत का साम्राज्य होता है और आलोचना के लिए कोई स्थान नही होता। इसलिए वह दूसरो की सलाह से बुरा मानता है और अगर वह गलती करता है तो पूरी तरह से करता है और उस गलती को किये ही जाता है। उसके लिए दिल और दिमाग की वनिस्वत कठोर मुख-मुद्रा अधिक महत्वपूर्ण है। हिन्दुस्तान मे हमे एक मिश्रित श्रेणी उत्पन्न करने का मौका मिला है, क्योकि खुद मुल्की शासन ही हुकूमत और स्वाश्रय के अर्द्धसैनिक वातावरण में पला और निवास करता है और इस कारण वहुत अशो तक सिपाहियाना रौवदाव आदि विशेपताये उसमे मौजूद है।

हमसे कहा जाता है कि सेना का 'भारतीयकरण' आगे वढाया जा रहा है और अगले तीस या अधिक वर्पो मे एक हिन्दुस्तानी जनरल भी शायद हिन्दुस्तान मे पैदा हो जाय। यह मुमकिन है कि सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा वरसों मे भारतीयकरण वहुत-कुछ उन्नति कर ले। यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है कि खतरे के समय मे इग्लैण्ड ने किस तरह एक-दो साल के अर्से मे ही लाखो की फौज खडी करदी। अगर उसके पास ऐसे ही सलाहकार होते, जैसे कि हमको मिले हुए है, तो शायद वह वडी चौकसी और होशियारी से फूंक-फूंककर आगे कदम वढाता और यह विलकुल सम्भव था कि उस दशा मे इस शिक्षित सेना के तैयार होने के

बहुत पहले ही युद्ध खतम हो जाता। हमको रूस की सोवियट सेनाओं का भी विचार आता है, जो बिना किसी प्रकार के पूर्व साधनो के ही अकस्मात् तैयार होगई और शत्रु की प्रचण्ड सेनाओ से लोहा लेती हुई उन्हे हराने लगी। आज इन सेनाओ की ससार की सबसे अधिक कुशल युद्धशक्तियो मे गणना की जाती है। इनके पास तो सलाह देने के लिए 'सग्राम मे लडे हुए और युद्ध-प्रवीण' सेनापति नही थे।

हमारे यहाँ देहरादून में एक फौजी शिक्षणालय है, जहाँ शिक्षार्थियो को फौजी अफसर बनने की तालीम दीजाती है। कहा जाता है कि वे बडी चतुरता से परेड करते है और बेशक वे बड़े अच्छे अफसर बनकर निकलेगे। लेकिन मुझे समझ मे नही आता है कि इस तालीम से क्या फायदा है जबतक कि उसके साथ युद्ध की कुछ व्यावहारिक शिक्षा न दी जाय? पैदल और घुडसवार सेनाये आज-कल उतने ही काम की है जितनी रोमन फौजे होती, और हवाई युद्ध, गैस के बम, टैक और प्रचड तोपो के युग मे बन्दूक, तीर-कमान से ज्यादा कारगर नही है। इसमे शक नही कि उनके शिक्षक और सलाहकार इस बात को महसूस करते है।

हिन्दुस्तान मे अंग्रेजी राज्य का इतिहास कैसा रहा है? हम उसकी खामियों के बारे मे शिकायत करनेवाले होते कौन है, जबकि ये खामियाँ हमारी ही कमज़ोरियो के फलस्वरूप है? अगर हम परिवर्तन की धारा से सम्बन्ध छोड दे और दलदल मे फँस जायँ, एकागी और स्वय-सतोषी बन जायँ और शुतुर्मुर्ग की तरह अपने चारो ओर की घटनाओ से आँख मूंद ले, तो इसमे हमारा ही नुकसान है। अँग्रेज लोग हमारे यहाँ ससार सागर की एक नये जोश की लहर के साथ आये और ऐसी महान् ऐतिहासिक शक्तियो को लाये जिनका खुद उनको भी अनुभव न था। क्या हम उस तूफान की शिकायत करे जो हमें उखाडकर इधर-उधर फेक देता है, या उस ठडी हवा की जो हमे कँप-कँपा देती है? हमें तो भूतकाल और उसके झगडे-टटो को तिलाजलि ही दे देनी चाहिए और भविष्य का मुकाबला करना चाहिए। हमें एक महान् भेट के लिए

अंग्रेज़ों का कृतज्ञ होना चाहिए, जिसे कि वे लेकर आये। यह भेंट है विज्ञान और उसके सुन्दर फल। साथ ही, ब्रिटिश सरकार के उन प्रयत्नों को भी भूल जाना या शान्ति के साथ बरदाश्त करना मुश्किल है जो उन्होंने देश के झगडालू, प्रतिक्रियावादी, विरोधक जातिगत तथा मौके से लाभ उठानेवाले लोगों को प्रोत्साहन देने के लिए किये। शायद यह भी हमारे लिए एक ज़रूरी परीक्षा और चुनौती है, और इसके पहले कि हिंदुस्तान नया जन्म धारण करे, उसे बार-बार उस आग में तपना पड़ेगा जो शुद्ध और दृढ बनाती है और जो दुर्बल, पतित और आचार-भ्रष्टों को जलाकर खाक कर देती है।

: ५५ :

अन्तर्जातीय विवाह और लिपि का प्रश्न

सितम्बर १९३३ के बीच मे करीब एक हफ्ता बम्बई और पूना में रहने के बाद मैं लखनऊ लौट आया। मेरी माँ अभीतक अस्पताल में थी, और उनकी हालत धीरे-धीरे सुधर रही थी। कमला भी लखनऊ मे, खुद तन्दुरुस्त न होते हुए भी, माताजी की सेवा करने मे लगी थी। हर सप्ताह के आखिरी दिनो में मेरी बहिने भी इलाहाबाद से आती रहती थी। लखनऊ में मै दो-तीन हफ्ते रहा। वहाँ इलाहाबाद के मुकाबिले मे ज्यादा फुरसत मिली थी। मेरा खास काम दिन में दो बार अस्पताल जाना था। मैने अपना यह फुरसत का समय अखबार के लिए लेख लिखने में लगाया और ये सब लेख देश के लगभग सभी अखबारों में छपे। 'हिन्दुस्तान किधर ?' शीर्षक लेखमाला पर जनता का काफी ध्यान गया। इस लेखमाला में मैंने दुनिया की हलचलों पर, हिन्दुस्तान की परिस्थिति के साथ उनके सम्बन्ध को ध्यान मे रखकर, विचार किया था। मुझे बाद में मालूम हुआ कि इन लेखो का फारसी तर्जुमा तेहरान और काबुल मे भी छापा गया था। आजकल के पश्चिमी विचारो और हलचलों से जानकारी रखनेवालों के लिए इन लेखो में कोई ऐसी नई या अद्भुत बात नही थी। मगर हिन्दुस्तान में लोग अपने घरेलू मामलो में ही इतने व्यस्त रहते है कि दूसरी जगह क्या हो रहा है इसपर वे ज्यादा ध्यान नहीं दे सकते। मेरे लेखो का जो स्वागत हुआ उससे और दूसरे आसारो से मालूम पड़ा कि लोगो का दृष्टिकोण विस्तृत हो रहा है।

माताजी अस्पताल मे पड़ी-पड़ी ऊबती जारही थीं, इसलिए हमने उन्हे इलाहाबाद वापस ले जाने का निश्चय कर लिया। वापस लाने के दूसरे कारणो मे से एक कारण मेरी बहन कृष्णा की सगाई हो जाना भी था, जो इन्ही दिनो में पक्की की गई थी। हम चाहते थे कि मेरे फिर से जेल में चले जाने से पहले जल्दी-से-जल्दी विवाह हो

जाय। मुझे कुछ खयाल न था कि मैं कितने समय तक बाहर रहने दिया जाऊँगा। क्योंकि सविनय-भंग कांग्रेस का बाक़ायदा कार्यक्रम था और खुद कांग्रेस और दूसरी कमिटियाँ संस्थायें ग़ैर क़ानूनी थीं।

हमने अक्तूबर के तीसरे सप्ताह में इलाहाबाद में विवाह करने का निश्चय किया। यह विवाह 'सिविल मैरिज एक्ट' के मुताबिक़ होनेवाला था। मैं इस बात से खुश था, हालाँकि सच पूछो तो इसके सिवाय हमारे पास और कोई उपाय भी न था। क्योंकि वह विवाह दो भिन्न जातियों, ब्राह्मण और अब्राह्मण, में होनेवाला था, और ब्रिटिश भारत के मौजूदा क़ानून के मातहत ऐसा विवाह कैसी भी धार्मिक विधि से क्यों न किया जाय, जायज़ नहीं हो सकता। खुशकिस्मती से उन्हीं दिनों में पास हुआ 'सिविल मैरिज एक्ट' हमारी मदद को मिल गया। इस तरह के दो क़ानून थे, जिनमें से दूसरा क़ानून, जिससे मेरी बहन की शादी हुई, हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म से सम्बन्ध दूसरे धर्मवालों के लिए था—जैसे सिक्ख, जैन, बौद्ध। लेकिन वर-वधू में से कोई एक भी जन्मत: या बाद में धर्म परिवर्तन करके इन धर्मों में से किसी एक को भी माननेवाला न हो, तो यह दूसरा क़ानून उसपर लागू नहीं होता। ऐसी हालत में पहले क़ानून का ही आश्रय लेना पड़ता है। इस पहले क़ानून के अनुसार दोनों को सभी मुख्य धर्मों का परित्याग करना पड़ता है, या उन्हें कम-से-कम यह तो कहना ही पड़ता है कि हममें से कोई किसी भी धर्म को नहीं मानता है। इस प्रकार का अनावश्यक परित्याग बड़ा वाहियात है। बहुत-से ऐसे लोगों को भी, जिनका कि मज़हब की तरफ़ कोई ध्यान नहीं है, इस बात पर एतराज़ है और इस तरह वे इस क़ानून से फ़ायदा नहीं उठा सकते। मुख्तलिफ़ मज़हबों के कट्टर लोग ऐसे सब परिवर्तनों का विरोध करते हैं जिनसे अन्तर्जातीय विवाहों के होने में आसानी हो। इससे जो लोग इस क़ानून के मातहत विवाह करना चाहें, उन्हें या तो धर्म-परित्याग का ऐलान करना पड़ता है, या जिन धर्मवालों को उसके मुताबिक़ अन्तर्जातीय विवाह करने की छूट है उनमें से किसी धर्म को झूठ-मूठ के लिए अपनाना पड़ता है। मैं स्वयं अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन

देना पसन्द करूँगा, लेकिन उन्हे प्रोत्साहन दिया जाय या नही, एक ऐसी अनुमति देनेवाले अन्तर्जातीय-विवाह-कानून का बनना तो निहायत ज़रूरी है जो आमतौर पर सब धर्मवालो पर लागू हो और जिससे विवाह करने के लिए उन्हे मज़हब छोडने या बदलने की ज़रूरत न पडे।

मेरी बहन की शादी मे कोई धूमधाम नही हुई, सारा काम बडी सादगी से हुआ। हिन्दुस्तानी विवाहो मे जो धूमधाम हुआ करती है, मामूली तौरपर, वह मुझे पसन्द भी नहीं है। फिर माताजी की बीमारी के कारण और उससे भी अधिक इस बात से कि सविनय-भग अभी भी जारी था और हमारे बहुत-से साथी जेलो मे पडे सड रहे थे, दिखावे के रूप मे कोई भी बात करना था भी बिलकुल अनुचित। इसलिए सिर्फ थोडे रिश्तेदारो और स्थानीय मित्रो को ही निमन्त्रित किया गया। पिता जी के बहुत से पुराने मित्रो को इससे सदमा भी पहुँचा, क्योकि उन्हे यह लगा, हालाँकि वह था गलत, कि मैंने जान-बूझकर उनकी उपेक्षा की है।

विवाह के लिए जो छोटा-सा निमन्त्रण-पत्र हमने भेजा था वह लेटिन अक्षरो व हिंदुस्तानी भाषा मे छपाया गया था। यह एक बिलकुल नई बात थी। अबतक इस तरह के निमन्त्रण-पत्र आमतौर पर नागरी या फारसी लिपि मे ही लिखे जाते थे। फौज या ईसाई मिशनवालो के सिवाय कही भी हिन्दुस्तानी भाषा लैटिन अक्षरो मे नहीं लिखी जाती थी। मैंने रोमन लिपि का इस्तेमाल केवल यह देखने के लिए किया था कि इसका मुख्त-लिफ किस्म के लोगो पर क्या असर होता है। इसे कुछने पसन्द किया, कुछने नही। ज्यादा संख्या नापसन्द करने वालो की ही थी। बहुत कम लोगो के पास यह निमन्त्रण भेजा गया था, और, अगर ज्यादा लोगो के पास भेजा जाता तो इसका असर और भी ज्यादा खिलाफ होता। गांधीजीने भी इसे पसन्द नही किया।

मैंने रोमन लिपि इसलिए इस्तैमाल नहीं की थी कि मैं उसके पक्ष मे होगया था, हालाँकि उसने मुझे बहुत दिनो से अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था। टर्की और मध्य-एशिया मे रोमन लिपि की सफलता ने मुझे प्रभावित किया था। रोमन के पक्ष मे जो दलीले है उसमे काफी

वज़न है, फिर भी मैं भारतवर्ष के लिए रोमन लिपि के पक्ष मे नही हो गया था। अगर मैं उसके पक्ष मे हो भी जाता तो भी मैं अच्छी तरह जानता था कि वर्तमान भारत मे उसके अपनाये जाने की रत्तीभर भी सम्भावना न थी। राष्ट्रीय, मजहवी, हिन्दू-मुस्लिम, नये-पुराने सब दलो की ओर से इसका वहुत सख्त विरोध होता, और यह मैं मानता हूँ कि यह विरोध महज़ भावुकतावश ही नही होता। किसी भी भाषा के लिए, जिसका पुराना ज़माना उज्ज्वल रहा हो, लिपि का वदलना वहुत वडी क्रान्ति है, क्योकि लिपि का उस साहित्य से वहुत गहरा सम्वन्ध रहता है। लिपि वदल दीजिए तो सामने कुछ और ही शब्द-चित्र नजर आयँगे, ध्वनि वदल जायगी, भाव वदल जायँगे। पुराने और नये साहित्य के वीच एक अटूट दीवार उठ खडी होगी। पुराना साहित्य एकदम किसी विदेशी भाषा मे लिखा हुआ-सा जान पडेगा, ऐसी भाषा मे जो मर चुकी हो। लिपि वदलने का जोखिम उसी भाषा मे लेना चाहिए, कि जिसका कोई उल्लेखनीय साहित्य न हो। हिन्दुस्तान मे तो मैं ऐसे रद्दो-वदल का खयाल भी नही कर सकता हूँ। क्योकि हमारा साहित्य केवल सम्पन्न और अमूल्य ही नही, वल्कि हमारे इतिहास और विचार-परम्परा से सम्वद्ध है और हमारी सर्वसाधारण जनता के जीवन के साथ उसका वडा गहरा नाता रहा है। हमारे देश पर इस तरह का परिवर्तन लाद देना एक क्रूर विच्छेद के समान होगा और सार्वजनिक शिक्षा के रास्ते में वाधक होगा।

लेकिन आज तो हिन्दुस्तान मे रोमन लिपि का प्रश्न सार्वजनिक चर्चा का विषय ही नही है। मेरी समझ मे लिपि-सुधार की दृष्टि से जो अगला कदम होना चाहिए, वह है संस्कृत भाषा से उत्पन्न चारो सहोदरा—हिन्दी, वगला, मराठी, गुजराती—भाषाओ के लिए एकसी लिपि वनाना। इन चारो भाषाओ की लिपियो का उद्‌गम एक ही है और इनमे एक-दूसरे से भिन्नता भी विशेष नही है और इसलिए इन सबके लिए एक ही लिपि ढूँढ निकालने मे कोई खास दिक्कत न होनी चाहिए। इससे ये चारों भाषायें एक-दूसरे के नजदीक आजायँगी।

हमारे अंग्रेजी शासकों ने हमारे देश के बारे में जो दन्त कथायें संसारभर में फैला रक्खी हैं, उनमें से एक यह भी है कि हिन्दुस्तान में कई-सौ भाषायें बोली जाती हैं। मुझे उनकी ठीक तादाद याद नहीं है। प्रमाण के लिए मर्दुमशुमारी को लिया जाता है। यह एक विचित्र बात है कि इन कई-सौ भाषाओं के देश में सारा जीवन बिताने पर भी बहुत कम अँग्रेज़ एक भाषा से भी मामूली जानकारी हासिल कर पाते हैं। इन सब भाषाओं को 'वर्नाक्युलर' के नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ है गुलामों की भाषा (लैटिन verna का अर्थ घर में पैदा हुआ गुलाम है)। हममें से बहुतों ने बिना समझे-बूझे इस नामकरण को स्वीकार कर लिया है। यह एक आश्चर्य की बात है कि सारी ज़िन्दगी इस देश में रहकर भी अँग्रेज़ लोग यहाँ की भाषा सीखे बिना किस तरह अपना काम चला लेते हैं। अपने खानसामा व आयाओं की मदद से उन्होंने एक कर्णकटु काम-चलाऊ नई हिन्दुस्तानी खिचड़ी भाषा ईजाद करली है, जिसको वे असली भाषा समझ बैठे हैं। जैसे वे भारतीय जीवन के हालात अपने नौकरों व जीहूज़ूरों से मालूम करते हैं उसी तरह वे हिन्दुस्तानी भाषा के बारे में अपने विचार अपने उन घरू नौकरों से बनाते हैं जो 'साहब लोगों' से अपनी इस 'काम चलाऊ खिचड़ी भाषा' में ही बोलते हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि वे और कोई भाषा समझेंगे भी नहीं। वे इस बात से बिल्कुल अपरिचित मालूम पड़ते हैं कि हिन्दुस्तानी और दूसरी भारतीय भाषाओं का साहित्य बहुत ऊँचा और बहुत विस्तृत है।

अगर मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट हमें यह बताती है कि हिन्दुस्तान में दो सौ या तीन सौ भाषायें हैं, तो जर्मनी की मर्दुमशुमारी भी यह बताती है कि वहाँ पर भी लगभग ५०–६० भाषायें हैं। मुझे खयाल नहीं कि कभी किसी ने इसके कारण ही जर्मनी में असमानता या आपसी फूट साबित करने की कोशिश की हो। सच तो यह है कि मर्दुमशुमारी में सब प्रकार की छोटी-मोटी भाषाओं का भी ज़िक्र किया जाता है, चाहे इन भाषाओं के बोलनेवाले कुछ हज़ार ही व्यक्ति क्यों न हों, और अक्सर थोड़ा-थोड़ा भेद होने पर भी वैज्ञानिक भेद बताने के लिए बोलियां

को अलग-अलग भाषा मान लिया जाता है। हिन्दुस्तान के क्षेत्रफल को देखते हुए इतनी थोडी भाषाओ का होना ताज्जुब की बात मालूम होती है। यूरप के इतने भाग को लेकर मुकाबिला करे तो भाषा की दृष्टि से हिन्दुस्तान मे इतने भेद नही मिलेगे। लेकिन हिन्दुस्तान मे आम जनता मे शिक्षा का प्रसार न होने के कारण यहाँ भाषाओ का समान-स्टैण्डर्ड नही बन पाया और कई बोलियाँ बन गई। बरमा को छोडकर हिन्दुस्तान की मुख्य भाषाये ये है—हिन्दुस्तानी (हिन्दी और उर्दू जिसकी दो किस्मे है) बँगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु, मलायलम और कन्नड। इनमे अगर आसामी, उडिया, सिन्धी, पश्तो, और पजाबी को भी शामिल कर दिया जाय, तो सिवा कुछ पहाडी और जगली हिस्सो को छोड़कर सारे देश की भाषाये इनमे आ जाती है। इनमे से भारतीय आर्य भाषाये जो उत्तर, मध्यम और पश्चिम भारत में प्रचलित है आपस मे बहुत मिलती-जुलती है और दक्षिणी द्राविडी भाषाये भिन्न होते हुए भी सस्कृत से काफी प्रभावित हुई है और उनमे सस्कृत शब्दों की बहुतायत है।

इन मुख्य आठ भाषाओं मे पुराना बहुमूल्य साहित्य है और ये भाषाये देश के काफी बडे हिस्से मे बोली जाती है। इनका क्षेत्र निश्चित और स्पष्ट है। इस तरह बोलनेवालो की सख्या की दृष्टि से देखे तो ये भाषायें ससार की प्रमुख भाषाओ में आजाती है। बँगला बोलने-वालो की सख्या साढे पाँच करोड है। जहाँतक हिन्दुस्तानी से सम्बन्ध है, मेरे पास यहाँ आँकडे नही है; लेकिन मेरे खयाल मे वह अपने सभी रूपो सहित १४ करोड भारतवासियो मे बोली जाती है। इसके अलावा हिन्दुस्तान-भर के अन्य भाषा बोलनेवाले लोग भी हिन्दुस्तानी समझ लेते है।[1] साफतौर पर ऐसी भाषा की उन्नति की आशा बहुत अधिक

---

१. हिन्दुस्तानी के समर्थक नीचे दिये आँकडे पेश करते है। मैं नहीं कह सकता कि ये संख्यायें १९३१ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक है या १९२१ के। मेरे खयाल में तो १९२१ की गणना के मुताबिक है। इसलिए १९३१ की संख्या तो जरूर इससे कहीं ज्यादा होगी।

है, वह संस्कृत की मजबूत नींव पर जमी हुई है और फारसी का भी उस पर काफी असर है। इस तरह वह दो सम्पन्न स्रोतों से अपना शब्द-कोष ले सकती है और पिछले कुछ वर्षो से वह अंग्रेजी से भी शब्द ले रही है। दक्षिण का द्राविडी प्रदेश ही एक ऐसा हिस्सा है जहाँ हिन्दुस्तानी एक विदेशी भाषा के समान नजर आती है। लेकिन वहाँ के निवासी इसे सीखने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। दो बरस पहले १९३२ में, मैंने एक संस्था के आंकडे देखे थे। यह संस्था दक्षिण में हिन्दी-चार करने के लिए कुछ मित्रो ने खोली थी। उसके काम शुरू करने के बाद से अबतक, पिछले १४ बरसों में, अकेली उस संस्था की कोशिश से मद्रास प्रान्त में लगभग ५५,००० लोगो ने हिन्दी सीखली है। एक ऐसी संस्था के लिए, जिसे सरकारी मदद कुछ भी नहीं मिलती यह सफलता अनोखी है। वहाँ हिन्दी सीखने वालो में से अधिकतर खुद भी इस कार्य के प्रचारक बन जाते हैं।

मुझे इसमें कुछ भी शक नहीं है कि हिन्दुस्तानी ही भारतवर्ष की

---

१ हिन्दुस्तानी (जिसमें पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, और राजस्थानी शामिल हैं)	१३९३	लाख
२ बंगला	४९३	,,
३ तेलुगु	२३६	,,
४ मराठी	१८८	,,
५ तामिल	१८८	लाख
६ कन्नड़	१०३	,,
७ उड़िया	१०१	,,
८ गुजराती	९६	,,
	२७९८	,,

पश्तो, आसामी, बर्मी आदि कुछ भाषायें जो भाषा-विज्ञान तथा क्षेत्र के लिहाज से बिलकुल अलग हैं, इन सूची में शामिल नहीं की गई है।

राष्ट्रभापा वनेगी। दरअसल रोजमर्रा के काम-काज के लिए वह एक वडी हद तक आज भी राष्ट्रभापा-सी वनी हुई है। लिपि नागरी हो या फारसी, इस निरर्थक वाद-विवाद ने इसकी तरक्की को रोक दिया है और दोनो दलों की इस कोशिश ने भी इसकी प्रगति में रुकावट खडी करदी है कि भाषा को सस्कृत-प्रधान वनया जाय या फारसी-प्रधान। लिपि का प्रश्न उठते ही इतने झगडे पैदा हो जाते है कि इस कठिनाई को हल करने का इसके सिवाय और कोई उपाय ही नही मालूम होता कि दोनो लिपियो को अधिकृत रूप से मान लिया जाय और लोगो को इनमें से किसीको भी काम मे लाने की छूट देदी जाय। सस्कृत व फारसी के शव्दो को ज्यादा काम में लाने की जो वेजा प्रवृत्ति चल पडी है उसे रोकने के लिए पूरी कोशिश करनी चाहिए और सामान्य व्यवहार में वोली जाने वाली सरल भापा के ढग पर एक साहित्यिक भापा वना लेनी चाहिए। जनता मे जैसे-जैसे शिक्षा वढती जायगी, वैसे-वैसे अपने आप ऐसा होता ही जायगा। इस समय मध्यम श्रेणी के छोटे-छोटे दल साहित्यिक रुचि और शैली के निर्णायक वने हुए है और ये लोग अपने-अपने ढग से वहुत ही सकुचित हृदय के अनुदार और अपरिवर्त्तनवादी है। ये अपनी भापाओं के पुराने निर्जीव रूप से चिपटे रहना चाहते है और अपने देश की साधारण जनता और ससार के साहित्य से इनका वहुत ही कम सम्पर्क है।

हिन्दुस्तानी की वृद्धि और प्रसार को, भारत की दूसरी वडी भापाओ वगला, गुजराती, मराठी, उडिया और दक्षिण की द्राविडी--के सतत व्यवहार और समृद्धि मे, न तो वाधक वनना चाहिए और न वह वनेगा। इनमें से कुछ भापायें तो अव भी हिन्दुस्तानी की वनिस्वत वहुत अधिक जागरूक और वौद्धिक दृष्टि से सतर्क है और इसलिए अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा के माध्यम और अन्य व्यवहारो के लिए अधिकृत रूप से आवश्यक स्वीकार कर लेनी चाहिए। सिर्फ इन्हीके ज़रिये साधारण जनता मे शिक्षा और सस्कृति तेजी के साथ फैल सकती है।

कुछ लोगो का ख़याल है कि वहुत करके अग्रेजी ही भारत की

राष्ट्र-भाषा हो जायगी; लेकिन ऊँचे दर्जे के गिने-चुने पढे-लिखो को छोड़कर साधारण जनता इसे अपनायेगी, यह धारणा मुझे एक असम्भव कल्पना के समान दिखाई देती है। साधारण जनता की शिक्षा और सस्कृति के प्रश्न के साथ इसका कोई सरोकार नही है।-यह हो सकता है, जैसा कि आजकल कुछ हद तक है भी, कि औद्योगिक, वैज्ञानिक और तिजारती कामो में, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो मे, अग्रेजी ज्यादा काम मे आने लगे। हममें-से बहुतो के लिए विदेशी भाषाओं का सीखना व जानना बहुत ज़रूरी है, ताकि संसार के विचारो व प्रगतियो से हमारी जानकारी होती रहे, और इस बात को ध्यान में रखते हुए मै तो पसन्द करूँगा कि हमारी यूनिवर्सिटियों मे अग्रेजी के अलावा फ्रेंच, जर्मन, रूसी, स्पेनिश और इटैलियन भाषाये सीखने के लिए विद्यार्थियो को प्रोत्साहित किया जाय। इसका यह मतलब नही है कि अग्रेज़ी की अवहेलना की जाय, लेकिन अगर हमे ससार की हलचलों को निष्पक्ष दृष्टि से देखना है तो हमे अपने को अग्रेजी सीखने तक ही समिति नही रखना चाहिए। केवल अग्रेजी शिक्षा ने हमारी मानसिक दृष्टि को अभी से एकागी और सकुचित कर दिया है। इसका कारण हमारे विचारो का एक ही दृष्टि और विचारधारा की ओर झुका रहना है। हमारे कट्टर-से-कट्टर राष्ट्रवादी भी शायद ही इस बात का अन्दाजा लगा सकते है कि अपने देश के सम्बन्ध मे उनके दृष्टि-बिन्दु पर अँग्रेज़ी विचार-धारा का कितना गहरा असर है।

लेकिन हम विदेशी भाषाओं को सीखने के लिए कितना ही प्रोत्साहन क्यो न दें, बाहरी दुनिया से हमारा सम्बन्ध अग्रेजी भाषा द्वारा ही रहेगा। इसमे कुछ हर्ज भी नही है। हम कई पीढियों से अग्रेज़ी सीखनें की कोशिश कर रहे है और इसमे हमे काफी कामयाबी मिली है। इस सब किये-कराये को मिटा देना सरासर बेवकूफी होगी। इतने अर्से की मेहनत से हमें लाभ उठाना चाहिए। निस्सन्देह अग्रेज़ी आज ससार की सबसे ज्यादा व्यापक और महत्वपूर्ण भाषा है, और दूसरी भाषाओं पर वह अपना सिक्का जमाती जा रही है। यह सम्भव है कि अब राष्ट्रीय

व्यवहारो में और रेडियो आदि के लिए वह माध्यम-भाषा का रूप धारण, करले, बशर्ते कि 'अमेरिकन' उसकी जगह न लेले। इसलिए हमे अंग्रेजी भाषा के ज्ञान का प्रसार अवश्य जारी रखना चाहिए। अंग्रेजी को जितनी अच्छी तरह सीख सके उतना ही अच्छा है, लेकिन मुझको इसकी जरूरत नही मालूम होती कि अंग्रेजी की बारीकियो को सीखने मे हम लोग अपना वक्त लगाये, जैसा कि आजकल हममे से बहुत-से करते है। कुछ व्यक्ति तो ऐसा कर सकते है, लेकिन बहुसख्यक लोगो के सामने इस बात को आदर्श रूप मे रखना उनपर अनावश्यक बोझ डालना और दूसरी दिशाओ मे प्रगति करने से रोकना होगा।

इधर कुछ दिनो से 'बेसिक' अंग्रेजी (Basic English)[1] ने मुझे अपनी ओर काफी आकर्षित किया है और ऐसा मालूम होता है कि ज्यादा-से-ज्यादा सरल बनाई हुई इस अंग्रेजी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। स्टैण्डर्ड अंग्रेजी तो विशेषज्ञो तथा कुछ खास विद्यार्थियो के लिए छोड देनी चाहिए और हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण जनता मे इस बेसिक अंग्रेजी का ही व्यापक प्रचार करना चाहिए।

मैं खुद इस बात को पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तानी अंग्रेजी व दूसरी विदेशी भाषाओ से बहुत-से शब्द अपने मे लेले। इस बात की जरूरत है, क्योकि आजकल जो नई चीजे निकलती है हमारी भाषा में उनके अर्थ-प्रदर्शक शब्द नही, इसलिए यही बेहतर है कि सस्कृत फारसी या अरबी से नये और मुश्किल शब्द गढने के बजाय हम उन्ही सुप्रचलित शब्दो को काम मे लावे। भाषा की पवित्रता के हामी विदेशी शब्दों के इस्तेमाल का विरोध करते है, लेकिन मेरा खयाल है कि वे गलती करते

---

१. 'बेसिक अंग्रेजी' का 'मूल अंग्रेजी' अर्थ होनें के अलावा एक और भी अर्थ है. वह है पाँच प्रकार की भाषाओ का—बेसिक BASIC [British (अंग्रेजी), American, (अमेरिकन), Scientific (वैज्ञानिक), International (अन्तर्राष्ट्रीय) और (Commercial) व्यापारिक] का—सम्मिश्रण।

है। वास्तव मे किसी भाषा को समृद्ध बनाने का तरीका यही है कि वह इतनी लचीली रक्खी जाय, कि दूसरी भाषाओ के भाव और शब्द उसमे शामिल होकर उसीके हो जायँ।

अपनी बहन की शादी के बाद ही मुझे अपने पुराने दोस्त और साथी श्री शिवप्रसाद गुप्त से मिलने के लिए बनारस जाने का इत्तफाक हुआ। गुप्तजी एक बरस से भी ज्यादा अर्से से बीमार थे। जब वह लखनऊ-जेल मे थे, अचानक उनपर लकवे का वार हुआ और अब वह धीरे-धीरे अच्छे हो रहे थे। बनारस की इस यात्रा के मौके पर मुझे हिन्दी साहित्य की एक छोटी-सी सस्था की ओर से मानपत्र दिया गया और वहाँ उसके सदस्यो से दिलचस्प बातचीत करने का मुझे मौका मिला। मैंने उनसे कहा कि जिस विषय का मेरा ज्ञान बहुत अधूरा है, उसपर उसके विशेषज्ञो से बोलते हुए मुझे हिचक होती है, लेकिन फिर भी मैंने उन्हे थोडी-सी सूचनाये दी। आजकल हिन्दी मे जो क्लिष्ट और अलकारिक भाषा इस्तैमाल की जाती है, उसकी मैंने कडी आलोचना की। उसमे कठिन, बनावटी और पुरानी शैली के सस्कृत शब्दों की भरमार रहती है। मैंने यह कहने का भी साहस किया कि यह थोडे-से लोगो के काम मे आनेवाली दरबारी शैली अब छोड देनी चाहिए और हिन्दी लेखको को अब यह कोशिश करनी चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए लिखे और ऐसी भाषा मे लिखे जिसे लोग समझ सके। आम जनता के संसर्ग से भाषा मे नया जीवन और असली सच्चा-पन आजायगा। इससे स्वय लेखको को जनता की भाव-व्यजना शक्ति मिलेगी और अधिक लाभप्रद लिख सकेंगे। साथ ही मैंने यह भी कहा कि हिन्दी लेखक पश्चिमी विचारों व साहित्य का अध्ययन करे तो उससे उन्हे बडा लाभ होगा। यह और भी अच्छा होगा कि यूरप की भाषाओ के पुराने अमर साहित्य और नवीन विचारो के ग्रन्थों का हिन्दी मे अनु-वाद कर डाला जाय। मैंने यह भी कहा कि सम्भव है कि आज का गुजराती, बगला और मराठी साहित्य इन बातों मे आजकल के हिन्दी-साहित्य से अधिक उन्नत हो, और यह तो मानी हुई बात है कि पिछले

वर्षों मे हिन्दी की अपेक्षा वगला मे कही अधिक उत्पादक साहित्य लिखा गया है।

इन विषयों पर हम लोग मित्रतापूर्ण वातचीत करते रहे और उसके वाद मैं चला आया। मुझे इस वात का जरा भी खयाल न था कि मैंने जो कुछ कहा वह अखवारो मे दे दिया जायगा, लेकिन वहाँ उपस्थित लोगो मे से किसीने हमारी उस वातचीत को हिन्दी अखवारो में प्रकाशित करवा दिया।

फिर क्या था, हिन्दी अखवारो मे मुझपर और हिन्दी-सम्वन्धी मेरी इस धृष्टता पर खासतौर से हमले शुरू हुए कि मैंने हिन्दी को वर्त्तमान वगला, गुजराती और मराठी से हीन क्यो कहा। मुझे अनजान—इस विषय मे मै सचमुच था भी अनजान—कहा गया। मुझे कुचलने व दवाने के लिए वहुत से कठोर शब्द काम मे लाये गये। मुझे इस वाद-विवाद मे पडने की फुरसत ही न थी, लेकिन मुझे वताया गया है कि यह झगडा कई महीनो चलता रहा—तवतक जवतक कि मै फिर जेल मे नही चला गया।

यह घटना मेरे लिए आँखे खोलने वाली थी। उसने वतलाया कि हिन्दी के साहित्यिक और पत्रकार कितने ज्यादा तुनकमिजाज है। मुझे पता लगा कि वे अपने शुभचिन्तक मित्र की सद्भावनापूर्ण आलोचना भी सुनने को तैयार नही थे। साफ ही यह मालूम होता था कि इस सवकी तह मे अपने को छोटा समझने की भावना ही काम कर रही थी। आत्म-आलोचना की हिन्दी मे पूरी कमी है और आलोचना का स्टैण्डर्ड वहुत ही नीचा है। लेखक और उसके टीकाकारों के लिए एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर गाली-गलौज शुरू कर देना हिन्दी में कोई असाधारण वात नही है। यहाँ का सारा दृष्टिकोण वहुत सकुचित और दरवारी-सा है और ऐसा मालूम होता है, मानो हिन्दी का लेखक और पत्रकार एक-दूसरे के लिए और एक वहुत ही छोटे-से दायरे के लिए लिखते हो। उन्हे आम जनता और उसके हितों से मानो कोई सरोकार ही नही है। हिन्दी का क्षेत्र इतना विशाल और आकर्षक है कि उसमे इन त्रुटियों

का होना मुझे अत्यन्त खेदजनक और हिंदी लेखको का प्रयत्न शक्ति का अपव्यय-सा जान पड़ा।

हिन्दी-साहित्य का भूतकाल बड़ा गौरवमय रहा है लेकिन वह सदा के लिए उसीके बल पर तो जिन्दा नही रह सकता। मुझे पूरा यकीन है कि उसका भविष्य भी काफी उज्ज्वल है, और मैं यह भी जानता हूँ कि किसी दिन देश मे हिन्दी के अखबार एक जबरदस्त ताकत बन जायँगे, लेकिन जबतक हिन्दी के लेखक और पत्रकार पुरानी रूढियो व बन्धनो से अपने-आपको बाहर नही निकालेगे और आम जनता को साहस के साथ सम्बोधित करना न सीखेंगे तबतक उनकी अधिक उन्नति न हो सकेगी।

: ५६ :

साम्प्रदायिकता और प्रतिक्रिया

मेरी वहन की शादी के करीव, यूरप से श्रीयुत विट्ठलभाई पटेल की मृत्यु की खवर आई। वह वहुत दिनो से वीमार थे और सेहत खराव होने की वजह से ही वह यहाँ की जेल से छोडे गये थे। उनकी मृत्यु एक दु खद घटना थी। हमारे वुजुर्ग नेताओ का इस तरह हमारे वीच से, लडाई के वीच मे ही, एक के वाद एक का उठकर चले जाना हमारे लिए असाधारण निराशाजनक वात थी। विट्ठलभाई को वहुत-सी श्रद्धाञ्जलियाँ दी गईं जिनमे से ज्यादातर मे उनके कुशल पार्लमेण्टेरियन होने और उस सफलता पर, जो असेम्वली के प्रेसीडेण्ट की हैसियत से उन्होंने पाई थी, ज़ोर दिया गया था। यह वात थी तो विलकुल उचित, मगर इस वात के वार-वार दोहराये जाने से मुझे कुछ चिढ-सी मालूम होने लगी। क्या हिन्दुस्तान मे कुशल पार्लमेण्टेरियन लोगों की कमी थी, या ऐसे लोगो की कमी थी जो स्पीकर (असेम्वली के अध्यक्ष) का आसन योग्यता के साथ सुशोभित कर सके? केवल यही तो एक काम है जिसके लायक वकालत की शिक्षा ने हमे वनाया है। लेकिन इसके अलावा विट्ठलभाई मे और भी कही अधिक गुण थे। वह हिन्दुस्तान की आजादी की लडाई के एक महान् और निडर योद्धा थे।

जव नवम्वर मे मै वनारस गया तो उस मौके पर मुझे हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो के सामने व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया गया। मैंने वडी खुशी से इस निमन्त्रण को मजूर कर लिया और एक वडे मजमे में मैंने भाषण दिया, जिसके सभापति यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर पण्डित मदनमोहन मालवीय थे। अपने व्याख्यान मे मैंने साम्प्रदायिकता के वारे मे वहुत-कुछ कहा और जोरदार शव्दो मे उसकी निन्दा की, खासकर हिन्दू-महासभा के काम की तो मैंने कडी निन्दा की। ऐसा हमला करने का मेरा पहले से ही इरादा रहा हो सो वात नही;

बल्कि सच बात तो यह थी कि सभी फिरको के सम्प्रदायवादी लोगो की बढती हुई सुधार-विरोधी हरकतों के लिए मुद्दत से मेरे दिमाग मे गुस्सा भरा हुआ था और जब मै अपने विषय पर जरा जोश से बोलने लगा तो इस गुस्से का कुछ भाग उफनकर बाहर निकल पडा। मैनें जानबूझकर सम्प्रदायवादी हिन्दुओ के दकियानूसीपन पर ज़ोर दिया, क्योकि हिन्दुओ की जमात के सामने मुसलमानो पर टीका-टिप्पणी करने का कोई अर्थ नही था। उस वक्त यह बात तो मेरे ध्यान ही मे नहीं आई कि जिस सभा के सभापति मालवीयजी बहुत दिनों हिन्दू-महासभा के स्तम्भ रहे हों उसमे हिन्दू-महासभा पर टीका-टिप्पणी करना बहुत सुरुचियुत न था। पर उस समय मैंने इस बात का विचार ही नही किया, क्योकि मालवीयजी का कुछ दिनो से हिन्दू-महासभा से बहुत सम्बन्ध नही था और करीब-करीब ऐसा मालूम होता था कि महासभा के नये कट्टर नेताओं ने मालवीयजी जैसे व्यक्ति के लिए उसमे कोई स्थान ही नही रहने दिया था। जबतक महासभा की बागडोर उनके हाथ मे रही तबतक साम्प्रदायिकता के रहते हुए भी वह राजनैतिक दृष्टि से उन्नति के मार्ग मे रोडा अटकानेवाली नही थी। लेकिन कुछ दिनो से यह नई प्रवृत्ति बहुत उग्र हो गई थी और मुझे यकीन था कि मालवीयजी का उससे कोई सम्बन्ध नही होगा, बल्कि उन्होने उसको नापसन्द भी किया होगा। फिर भी मेरे लिए यह बात ज़रा अनुचित तो थी कि मैंने ऐसे विचार प्रकट करके, जिससे उनकी स्थिति ख़राब हो, उनके निमन्त्रण का अनुचित लाभ उठाया। इस बात का मुझे पीछे जाकर अनुभव हुआ और मुझे इसके लिए अफसोस भी हुआ।

एक और मूर्खतापूर्ण भूल के लिए भी मुझे खेद है जिसमे कि मै फँस गया था। किसीने हमको डाक से एक ऐसे प्रस्ताव की नकल भेजी जो अजमेर में हिन्दू युवको की एक सभा मे पास हुआ बतलाया गया था। वह प्रस्ताव बहुत आपत्तिजनक था, जिसका मैनें अपने बनारस के भाषण मे जिक्र किया था। असल मे ऐसा प्रस्ताव किसी सस्था द्वारा पास ही नही हुआ था और हमे चकमा ही दिया गया था।

मेरे बनारस के भाषण की रिपोर्ट सक्षेप में प्रकाशित हुई। इसपर बडा होहल्ला मचा। हालाँकि मै ऐसी चिल्ल-पुकार सुनने का आदी था, लेकिन, हिन्दू-महासभा के नेताओ के जबरदस्त हमलो से मै चकित हो गया। ये हमले ज्यादातर व्यक्तिगत थे और असली विषय से तो प्राय सम्बन्ध ही नही रखते थे। वे हद से बाहर चले गये और मुझे इस बात से खुशी हुई कि उनकी वजह से मुझे भी उस विषय पर अपनी बात कह लेने का मौका मिल गया। इस बात पर तो मै कई महीनो से, यहाँ तक कि जेल मे भी, भरा हुआ बैठा था, लेकिन मेरी समझ मे नही आता था कि उस विषय को किस तरह छेडूं। वह एक बर्र का छत्ता था और हालाँकि मुझे बर्र के छत्ते मे हाथ डालने की आदत है लेकिन मुझे ऐसे विवादो मे पडना पसन्द नही था जो बाद में तू-तू मै-मै पर आ जावें। लेकिन अब मेरे सामने दूसरा कोई रास्ता नही रह गया और फिर मैंनें हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर एक तर्कपूर्ण लेख लिखा, जिसमे मैने यह बताया कि दोनो ओर की साम्प्रदायिकता सच्ची साम्प्रदायिकता नही थी, बल्कि साम्प्रदायिक आवरण मे ढकी हुई ठेठ सामाजिक और राजनैतिक सकीर्णता थी। इत्तिफाक से मेरे पास कई अखबारो के कटिंग थे, जो मैने जेल मे इकट्ठे किये थे। इनमें साम्प्रदायिक नेताओ के हर तरह के भाषण और वक्तव्य थे। सचमुच मेरे पास इतना मसाला इकट्ठा हो गया था कि मेरे लिए यह मुश्किल हो गया कि मै किस तरह एक साथ उसे एक लेख मे भर दूं।

मेरे इस लेख को हिन्दुस्तान के अखबारों मे खूब प्रकाशन मिला। यद्यपि उसमें हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादियों के सम्बन्ध मे बहुत कुछ बाते थी, फिर भी आश्चर्य है कि उसका हिन्दू-मुसलमान दोनो की ओर से कोई उत्तर न मिला। हिन्दू-महासभा के जितने नेताओं ने मुझे बडी जोरदार और तरह-तरह की भाषा मे आडे हाथो लिया था, वे भी बिलकुल चुप्पी साधे रहे। मुसलमानो की तरफ से सर मुहम्मद इकबाल[1]

---

१. २१ अप्रैल १९३८ को आपका देहावसान हो गया।

ने गोलमेज़-परिषद सम्बन्धी मेरी बातो में सुधार करने की कोशिश की; लेकिन मेरी दलीलों के सम्बन्ध में तो उन्होने कुछ भी नही कहा। उनको दिये गये अपने जवाब ही मे मैंने यह मत प्रकट किया था कि विधान-सभा (कन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली) द्वारा ही राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनो विषयों का निर्णय होना चाहिए। इसके बाद मैंने सम्प्रदायवाद पर एक या दो लेख और भी लिखे।

इन लेखों का जैसा स्वागत हुआ और समझदार व्यक्तियों पर प्रकट रूप से जो-कुछ उनका प्रभाव पडा उससे मेरा उत्साह बहुत-कुछ बढ़ गया। असल में मैंने इस बात का तो अनुमान ही नही किया था कि साम्प्रदायिक भावना की तह मे जो जोश छिपा रहता है मैं उसे हटा सकूँगा। मेरा उद्देश्य तो यह बताना था कि किस तरह साम्प्रदायिक नेता हिन्दुस्तान और इगलैण्ड के घोर प्रतिक्रियावादी फिरको से मिले रहते है और वे असल में राजनैतिक और उससे भी अधिक सामाजिक प्रगति के विरोधी होते है। उनकी सभी मागो का जन-साधारण से कोई भी सम्बन्ध नही है। उनका उद्देश्य यही रहता है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे आगे आये हुए कुछ छोटे-छोटे दलो का भला हो जाय।

मेरा इरादा था कि इस तर्क भरे हमले को जारी रक्खूँ, लेकिन जेल ने फिर मुझे खीच लिया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए आये दिन जो अपील होती रहती है, उसके निस्सन्देह फायदेमन्द होते हुए भी वह मुझे तबतक बिलकुल ही फिजूल मालूम होती है, जबतक कि मतभेद के कारणो को समझने के लिए कुछ कोशिश न की जाय। मगर कुछ लोगो का यह खयाल मालूम होता है कि इस मन्त्र को बार-बार रटने से अन्त मे एकता जादू की तरह आटपकेगी।

सन् १८५७ के गदर से अब तक साम्प्रदायिक प्रश्न पर अंग्रेजों की जो नीति रही है उसपर सिलसिलेवार नज़र डालना दिलचस्प बात होगी। दरअसल और ज़रूरीतौर पर ब्रिटिश नीति यही रही है कि हिन्दू-मुसलमान मिलकर न चलें, और आपस में एक-दूसरे से लडते रहे। सन् १८५७ के बाद अंग्रेजों का वार हिन्दुओं की बनिस्बत मुसलमानों

पर गहरा रहा। मुसलमानों का कुछ ही समय पहले हिन्दुस्तान पर राज्य था। इस बात की याददाश्त उनमे ताजी थी। इस वजह से अग्रेज उनको ज्यादा उग्र, लडाकू और खतरनाक समझते थे। फिर मुसलमान नई तालीम से भी दूर-दूर रहे और सरकारी नौकरियो मे भी उनकी तादाद कम थी। इन सब कारणो से अग्रेज लोग उन्हे सन्देह की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुओ ने अग्रेजी भाषा और सरकारी नौकरियो को बहुत अधिक तत्परता से अपना लिया और अग्रेजो को ये ज्यादा सुसाध्य मालूम हुए।

इसके बाद नई राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। इसका उदय उच्चवर्ग के अग्रेजी पढे-लिखे शिक्षितो मे हुआ। इस भावना का हिन्दुओ तक महदूद रहना स्वाभाविक ही था, क्योकि मुसलमान लोग शिक्षा के लिहाज से बहुत पिछडे हुए थे।

यह राष्ट्रीयता बडी विनम्र और दीन भाषा में प्रकट की जाती थी, पर, फिर भी सरकार को यह सहन नही हुई और उसने यह निश्चय किया कि मुसलमानो की पीठ ठोंकी जाय और उनको इस नई राष्ट्रीयता की लहर से दूर रक्खा जाय। मुसलानों के लिए तो अग्रेजी शिक्षा का न होना ही एक काफी रुकावट थी। लेकिन इस रुकावट का धीरे-धीरे दूर होना लाजिमी था। अग्रेजो ने बडी दूरदेशी से आगे के लिए इन्त-जाम कर लिया और इस काम मे उन्हे सर सैयद अहमदखाँ की जोरदार हस्ती से बहुत बडी मदद मिली।

सर सैयद इस बात से दुखी थे कि उनकी जाति पिछडी हुई है, खासकर शिक्षा के क्षेत्र मे, और इस बात से उनके दिल मे दर्द होता था कि उनकी जाति पर न तो अग्रेजों की कृपा-दृष्टि थी और न उनकी नजरो मे मुसलमनो का कुछ प्रभाव ही था। उस जमाने के बहुत-से दूसरे लोगो की तरह वह भी अग्रेजों के बहुत बडे प्रशसक थे और मालूम होता है कि उनपर यूरप-यात्रा का और भी जबरदस्त असर पडा था।

उन्नीसवी सदी के आखिरी जमाने में यूरप, या यो कहो कि, पश्चिमी यूरप की सभ्यता का सितारा बहुत बुलन्दी पर था। यूरप उस समय

संसार का एकछत्र अधिपति था और उसमे वे सब गुण भलीभाँति प्रकट हो रहे थे जिनके कारण उसे महत्ता प्राप्त हुई थी। उच्चवर्ग के लोग अपनी पैतृक सम्पत्ति को सुरक्षित समझते थे और उसे बढ़ा रहे थे, क्योकि उनको यह डर नही था कि कोई उनसे मुकाबिला करके कामयाब हो सकेगा। वह प्रगतिवाद के उद्गम का युग था, जिसे अपने उज्ज्वल भविष्य मे दृढ विश्वास था। इसलिए कोई ताज्जुब नही कि जो हिन्दुस्तानी उधर गये वे वहाँ का शानदार नज़ारा देखकर मोहित हो गये। शुरूशुरू मे हिन्दू लोग ही ज्यादा गये, और वे यूरप और इँग्लैण्ड के प्रशसक बनकर वापस लौटे। धीरे-धीरे वे इस तडक-भडक और चमक-दमक के आदी हो गये और जो ताज्जुब पहले-पहल उनको होता था वह दिल से निकल गया। लेकिन सर सैयदअहमद को पहली ही बार वहाँ की तड़क-भड़क से जो विस्मय और आकर्षण हुआ, वह साफ ज़ाहिर है। वह सन् १८६९ मे इग्लैण्ड मे गये थे। उस समय उन्होने घर को जो पत्र लिखे उनमें उन्होने वहाँ के सम्बन्ध मे अपने खयालात ज़ाहिर किये थे। इनमे से एक पत्र मे उन्होने लिखा था—"इस सबका नतीजा यह निकलता है कि हालाँकि अग्रेज़ लोग जिस तरह हिन्दुस्तान में शिष्टता का व्यवहार नही करते और हिन्दुस्तानियों को जानवरों के समान हेय, नीच और घृणित समते है इसके लिए उनको बख्शा नही जासकता; फिर भी मेरा खयाल है कि वे इस तरह का बर्ताव इसीलिए करते है कि वे हम लोगों को समझ नही पाते है। और मुझे डरते-डरते यह बात माननी पडती है उन्होने जो राय हमारे बारे मे कायम की है वह ज्यादा गलत नही है। मै अंग्रेज़ों की झूठी तारीफ नही कर रहा हूँ, यदि मै सचमुच यह कहूँ कि हिन्दुस्तान के लोग चाहे वे ऊँच हों या नीच, वडे व्यापारी हो या छोटे दूकानदार, पढे-लिखे हो या अपढ, अग्रेजो की तालीम, तमीज़ और ईमानदारी के मुकाबिले मे ऐसे है जैसे किसी काबिल और खूबसूरत आदमी के मुकाबिले में एक गन्दा जानवर। अग्रेज़ लोग अगर हम हिन्दुस्तानियों को निरा-जगली समझे तो उनके पास इसकी वजह है।·········मै जो-कुछ देख रहा हूँ और रोज़मर्रा देख रहा हूँ वह एक हिन्दुस्तानी के

कयास के बिलकुल बाहर की बात है''' ''परलोक और इस लोग दोनो लोको की सारी सुन्दर वस्तुये, जो इन्सान मे होनी चाहिएँ, खुदा ने यूरप को, खासकर इग्लैण्ड को बख्श दी है।''[1]

कोई भी आदमी अग्रेजो की और यूरप की इससे ज्यादा तारीफ नही कर सकता। और यह स्पष्ट है कि सर सैयद बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यह भी मुमकिन है कि उन्होने ऐसी ज़ोरदार भाषा और अतिशयोक्तिपूर्ण तुलना का प्रयोग अपने देशवासियों को गाढी नीद से जगाने और उनको आगे कदम बढाने के लिए उकसाने की नियत से किया हो। उनका यह विश्वास था कि यह कदम पाश्चिमी शिक्षा की तरफ बढना चाहिए। बिना उस तालीम के उनकी जाति ज्यादा पिछडती और कमजोर होती जायगी। अग्रेजी तालीम का मतलब था सरकारी नौकरियाँ, हिफाजत, दबदबा और इज्ज़त। इसलिए उन्होने अपनी सारी ताकत इस तालीम के लिए लगादी और सदा यही कोशिश करते रहे कि उनकी जाति के लोग भी उनके जैसे खयाल के हो जावे। मुसलमानो की सुस्ती और झिझक का दूर करना बडा मुश्किल काम था, इसलिए वह यह नही चाहते थे कि उनके रास्ते मे कही बाहर से कोई बाधा या रुकावटे आवे। मध्यम-वर्ग के हिन्दुओ-द्वारा चलाई हुई राष्ट्रीयता को उन्होने इस प्रकार की रुकावट समझा और इसीलिए उन्होने इसका विरोध किया।] शिक्षा मे ५० वर्ष आगे बढे हुए होने के कारण हिन्दू लोग सरकार की आलोचना खुशी से कर सकते थे, लेकिन सर सैयद ने तो अपने शिक्षा सम्बन्धी प्रयत्नो मे सरकार की पूरी सहायता पर आँखे गडा रक्खी थी और वे कोई ऐसा जल्दबाज़ी का काम नही करना चाहते थे जिससे उन्हे इस मार्ग में जोखिम उठाना पडे। इसलिए उन्होने नवजात राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) को धता बतायी। ब्रिटिश-सरकार तो उनके इस रवय्ये पर उनकी पीठ ठोकने के लिए तैयार बैठी ही थी।

---

१. यह उद्धरण हेन्स कोहन की ''हिस्ट्री आफ नेशनेलिज्म इन दि ईस्ट'' (पूर्वी राष्ट्रीयता का इतिहास) से लिया गया है।

मुसलमानो को पश्चिमी शिक्षा दिये जाने पर विशेष जोर देने का सर सैयद का निर्णय बेशक बहुत ठीक था। उसके बिना मुसलमान लोगों के लिए नये प्रकार की राष्ट्रीयता के निर्माण मे कारगर हिस्सा लेसकना असम्भव था और उनको लाजिमी तौर पर हिन्दुओ के स्वर-मे-स्वर मिलाकर ही रहना पडता, क्योकि हिन्दुओ मे शिक्षा भी ज्यादा थी और उनकी आर्थिक दशा भी ज्यादा अच्छी थी। ऐतिहासिक घटना-चक्र और विचार-आदर्श की दृष्टि से मुसलमान मध्यमवर्गीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए तैयार नही थे, क्योकि उनमे हिन्दुओ की तरह कोई मध्यम-वर्ग नही बन सका था। इसलिए सर सैयद की कार्रवाइयाँ ऊपर से भले ही नरम दीखती हो, लेकिन वे दरअसल सीधी क्राति की ओर ले जानेवाली थी। मुसलमान अभीतक प्रजातन्त्र विरोधी जागीरदाराना विचारो से जकड़े हुए थे, जबकि प्रगतिशील मध्यमश्रेणी के हिन्दू-अग्रेज़ी प्रजातन्त्रीय सुधार-वादियो के-से विचार रखने लग गये थे। दोनो ठेठ नरम नीति को पालनेवाले और ब्रिटिश राज्य पर भरोसा रखनेवाले थे। सर सैयद की नरम-नीति उस जागीरदार-वर्ग की नरम-नीति थी, जिसमे मुट्ठीभर धनवान मुसलमान शामिल थे। उधर हिन्दुओ की नरम नीति थी उस होशियार पेशेवर या व्यापारी की नरम नीति जो उद्योग-धधो और व्यापार मे धन लगाने का साधन ढूँढता हो। इन हिन्दू राजनीतिज्ञो की नजर हमेशा इग्लैण्ड के उदार दल के सुविख्यात रत्न ग्लेडस्टन, ब्राइट इत्यादि पर रहती थी। मुझे शक है कि मुसलमानो ने कभी ऐसा किया हो। शायद वे लोग अनुदार दल और इग्लैण्ड के जागीरदार-वर्ग के प्रशसक थे। टर्की और आरमीनियनो के कत्ल की बार-बार खूब निन्दा करने के कारण ग्लेडस्टन तो उनके लिए सचमुच घृणा का पात्र बन गया था। लेकिन चूँकि डिसरैली का टर्की की तरफ कुछ ज्यादा झुकाव था, इसलिए वे लोग—अर्थात्, वास्तव मे वे मुट्ठीभर लोग जो ऐसे मामलो मे दिलचस्पी रखते थे—कुछ हद तक उसे चाहते थे।

सर सैयदअहमद के कुछ व्याख्यानो को अगर आज पढा जाय तो बडे अजीव-से मालूम होगे। सन् १८८७ के दिसम्बर मे उन्होने लखनऊ

मे उस अवसर पर एक भाषण दिया था जब कांग्रेस का सालाना जलसा वहाँ हो रहा था। उसमे उन्होने कांग्रेस की बहुत नरम माँगो की भी निन्दा और आलोचना की थी। उन्होने कहा था—"अगर सरकार अफगानिस्तान से लडे या बर्मा को जीते तो उसकी नीति की आलोचना करना हमारा काम नही है। सरकार ने कानून बनाने के लिए कौसिल बना रक्खी है। उस कौसिल के लिए वह सभी प्रा'तो से उन अधिकारियो को चुनती है जो राज-काज और जनता की हालत से बहुत अच्छी तरह वाकिफ है, और कुछ रईसो को भी चुनती है जो समाज मे अपने ऊँचे रुतबे की वजह से असेम्बली मे बैठने के काबिल है। कुछ लोग पूछ सकते है कि उनका चुनाव इसलिए क्यो किया जाय कि वे रुतबेवाले है, काबलीयत का खयाल क्यों न रक्खा जाय ?......मै आपसे पूछता हूँ, क्या आपके मालदार घराने के लोग यह पसन्द करेगे कि छोटी जाति और ओछे खानदान के लोग, चाहे वे बी० ए० या एम० ए० ही क्यो न हो और जरूरी योग्यता रखते हो, उन पर हुकूमत करे और उनकी जानोमाल से सम्बन्ध रखनेवाले कानून बनाने की ताकत रक्खे ? कभी नही ! वाइसराय ऐसा कभी नही कर सकता कि सिवाय ऊँचे खानदान के आदमी के किसी और को अपना साथी कबूल करे, या उसके साथ भाईचारे का बर्ताव रक्खे या उसे ऐसी दावतो मे निमन्त्रण दे जिनमे उसे इगलैण्ड के अमीर-उमरा (ड्यूक और अर्ल) के साथ दस्तरखान पर बैठना पडता हो।' ......क्या हम कह सकते है कि कानून बनाने के लिए जो तरीके सरकार ने अख्तियार किये है, वे लोगो की मर्जी का खयाल रक्खे बिना ही किये गये है ? क्या हम कह सकते है कि कानून बनाने मे हमारा कुछ भी हाथ नही है ? बेशक हम ऐसा नहीं कह सकते।"[१]

ये थे शब्द उस व्यक्ति के जो भारत में 'लोकसत्तात्मक इस्लाम' का नेता और प्रतिनिधि था। इसमे शक है कि अवध के ताल्लुकेदार

१. हेन्स कोहन की 'हिस्ट्री ऑफ नेशनेलिज्म इन दी ईस्ट' से उद्धृत।

या आगरा, बिहार या बँगाल प्रान्त के बड़े-बडे ज़मीदार भी आज इस तरह बोलने का साहस कर सकेगे। लेकिन सर सैयद में ही यह निरालापन हो सो बात नही है। काग्रेस के भी बहुत-से व्याख्यान अगर आज पढे जायँ तो ऐसे ही अजीब मालूम होगे लेकिन यह तो साफ मालूम होता है कि हिन्दू-मुस्लिम सवाल का राजनैतिक व आर्थिक रूप उस वक्त यह था कि प्रगतिशील और आर्थिक दृष्टि से साधनसम्पन्न मध्यम-श्रेणी के (हिन्दू) लोगो का पुराने ढँग का कुछ जागीरदार वर्ग (मुसलमान) विरोध करता था और उसकी प्रगति को रोकता था। हिन्दू ज़मीदारो का सम्बन्ध अक्सर मध्यमवर्ग के साथ था। इसलिए वे मध्यम-वर्ग की माँगो के विषय में या तो तटस्थ रहते थे या उनसे सहानुभूति रखते थे और इन माँगो के बनाने मे भी अक्सर उनका हाथ रहता था। अग्रेज लोग हमेशा की तरह जमीदारो का साथ देते थे। दोनों ओर की साधारण जनता और दोनो निम्नश्रेणी के मध्यम-वर्ग की ओर तो किसी-का कुछ ध्यान ही न था।

सर सैयद के प्रभावशाली और ज़ोरदार व्यक्तित्व का मुसलमानो पर बहुत असर पड़ा और अलीगढ़-कॉलेज उनकी उम्मीदो और ख्वाहिशो का एक प्रत्यक्ष नमूना साबित हुआ। सक्रमणकाल मे अक्सर ऐसा होता है कि तरक्की की तरफ ले जानेवाला जोश बहुत जल्द अपना मकसद पूरा कर लेने के बाद एक रुकावट बन जाता है। हिन्दुस्तान का नरम दल इसकी एक ज़ाहिरा मिसाल है। ये लोग अक्सर हमको इस बात की याद दिलाते रहते कि काँग्रेस की पुरानी परम्परा के असली वारिस ये ही है और हम लोग, जो बाद मे उसमे शामिल हुए है सिर्फ दालभात मे मूसरचन्द है। ठीक है। लेकिन वे लोग इस बात को तो भूल ही जाते है कि दुनिया बदलती रहती है और कॉग्रेस की वह पुरानी परम्परा समय के गर्भ मे विलीन होकर अब सिर्फ एक यादगार भर रह गयी है। इसी तरह सर सैयद की आवाज़ भी उस ज़माने के लिए मौजूँ और ज़रूरी थी, लेकिन वह एक उन्नतिशील जाति का अन्तिम आदर्श नही होसकती थी। यह सम्भव है कि अगर वह एक पीढी और रहे होते तो उन्होने

खुद ही अपने सदेश को एक दूसरी ही सूरत दे दी होती। या दूसरे नेता उनके पुराने सदेश नई तरह से जनता को समझाते और उसे बदली हुई हालत के मुआफिक बना देते। लेकिन सर सैयद को जो सफलता मिली और उनके नाम के साथ जो श्रद्धा जुडी रह गयी उसने दूसरो के लिए पुरानी लकीर को छोड देना मुश्किल कर दिया। दुर्भाग्य से हिन्दुस्तान के मुसलमानो में ऐसी ऊँची काबलियत के लोगो का बहुत बुरी तरह से अभाव था जो कोई नया रास्ता दिखला सकते। अलीगढ-कॉलेज ने बडा अच्छा काम किया और उसने एक बडी तादाद मे अच्छे काबिल आदमी तैयार करके समझदार मुसलमानों का सारा रुख ही बदल दिया। लेकिन जिस साँचे में वह ढाला गया था उससे वह न निकल सका—उसके ऊपर जमीदाराना खयालात का असर बना ही रहा और साधारण विद्यार्थी का उद्देश सिर्फ सरकारी नौकरी ही रहा। हिम्मत के साथ जीवन-सग्राम में उतरने या किसी ऊँचे लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करने की इच्छा उसमे नही थी। वह तो अगर उसे कही डिप्टी कलक्टरी मिल गई, तो इसीमे अपने को धन्य समझता था। उसका गर्व सिर्फ बात की याद दिलाने से ठंडा हो जाता था कि वह इस्लाम की महान् लोकसत्ता का एक अग है। इस भाईचारे के प्रमाणस्वरूप वह अपने सिर पर बडी शान के साथ एक लाल टोपी पहनता था, जिसे टर्किश फैज़ कहते है और जिसको खुद तुर्कों ने ही बाद में बिलकुल उतार फेका। जहाँ उसे अपने अमिट लोकसत्तात्मक अधिकार का विश्वास हुआ—जिसके कारण वह अपने मुसलमान भाइयो के साथ भोजन और प्रार्थना कर सकता था—कि फिर वह इस बात के सोचने की झंझट में नही पडता था कि हिन्दुस्तान में राजनैतिक लोकसत्ता की कोई हस्ती है या नही।

यह तग दृष्टि और सरकारी नौकरियों के पीछे दौडना सिर्फ अलीगढ या दूसरी जगह के मुसलमान विद्यार्थियों तक ही सीमित न था। हिन्दू विद्यार्थियों मे भी—जो स्वभाव से ही खतरो से घबराते थे—यह उसी परिमाण मे पाया जाया था। लेकिन परिस्थिति ने इनमे से बहुतों को इस गड्ढे से निकाल दिया। उनकी सख्या तो थी बहुत ज्यादा और

मिलनेवाली नौकरियाँ थी वहुत कम। नतीजा यह हुआ कि इन वर्गहीन विचारक लोगो की एक ऐसी जमात वन गई, जो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलनो की जान हुआ करती है।

सर सैयदअमदखाँ के राजनैतिक सन्देश के गला घोटूँ असर से हिन्दुस्तान के मुसलमान अच्छी तरह निकलने भी न पाये थे कि वीसवी सदी की आरम्भिक घटनाओ ने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये जो ब्रिटिश सरकार को मुसलमानो और राष्ट्रीय आन्दोलन के (जो उस समय तक काफी ज़ोर पकड चुका था) वीच खाई चौड़ी करने मे सहायक होगये। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने १९१० मे 'इडियन अनरेस्ट' (भारत मे अशान्ति) नामक पुस्तक मे लिखा था—"यह वड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आज से पहले भारत के मुसलमानो ने सामूहिकरूप से कभी अपने हितो और आकाक्षाओं को ब्रिटिश राज के सगठन और स्थायित्व के साथ इतनी घनिष्ठता से नही मिलाया।" राजनीति की दुनिया मे भविष्यवाणी करना खतरनाक होता है। सर वेलेन्टाइन की पुस्तक प्रकाशित होने के वाद, पाँच वर्ष के भीतर ही, समझदार मुसलमान उन वेडियो को, जो उनको आगे वढने से रोक रही थी, तोडकर काँग्रेस का साथ देने की जी-जान से कोशिश करने लगे। दस साल के अन्दर ही ऐसा मालूम होने लगा कि मुसलमान तो काँगेस से भी आगे वढ गये और सचमुच उसका नेतृत्व भी करने लगे। पर ये दस वरस वड़े महत्वपूर्ण थे। इन्ही दस वरसों मे यूरोपीय महायुद्ध शुरू भी हुआ और खतम भी होगया और अपनी विरासत मे एक नष्ट-भ्रष्ट ससार छोड़ गया।

लेकिन फिर भी सर वेलेन्टाइन शिरोल जिन नतीजो पर पहुँचे ज़ाहिरा तौरपर तो उनके कारण साधारणतया ठीक ही थे। आगाखाँ मुसलमानो के नेता के रूप मे प्रकट हुए और यह घटना ही इस वात का काफी सवूत था कि मुसलमान लोग अभी तक अपनी जागीरदाराना परम्परा से चिपके हुए थे, क्योकि आगाखाँ कोई मध्यमवर्ग के नेता नही थे। वह एक अत्यन्त धनवान् राजा और एक फिरके के धार्मिक गुरु थे। ब्रिटिश राजसत्ता से घनिष्ठ सम्वन्ध रखने के कारण, अग्रेज़ो के लिए

वह अपने आदमी वन गये थे। बड़े शाइस्ता और एक धनी जागीरदार और खिलाड़ी की भाँति ज्यादातर यूरप में ही पड़े रहनेवाले। इस कारण व्यक्तिगत रूप से वह मजहवी या फिरकेवाराना मामलो मे संकीर्ण विचारो से वहुत दूर थे। उनका मुसलमानो का नेतृत्व करने का अर्थ यह था कि मुस्लिम जमीदार और वढते हुए मध्यमवर्ग के लोग सरकार के हिमायती वन जायँ, साम्प्रदायिक समस्या तो एक गौण वात थी, और वह भी मुख्य उद्देश को सिद्ध करने के अभिप्राय से ही इतने जोरो के साथ जाहिर की जाती थी। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने लिखा है कि आगाखाँ ने उस वक्त के वाइसराय लार्ड मिन्टो को यह सुझाया था कि "वग-भग से पैदा होनेवाली राजनैतिक स्थिति के वारे मे मुसलमानो की क्या राय है ताकि जल्दवाजी मे हिन्दुओ को कही ऐसी राजनैतिक सुविधाये न देदी जायँ जो हिन्दु वहुमत को प्रोत्साहन दे—जो वहुमत ब्रिटिश राज की दृढता और मुस्लिम अल्पमत के हितो के लिए जिसकी राजभक्ति में किसीको सदेह नही हो सकता था, समान रूप से खतरनाक था।"

लेकिन ब्रिटिश सरकार की इन जाहिरा हिमायती ताकतो के सिवा और दूसरी तरह की शक्तियाँ भी काम कर रही थी। नया मुस्लिम मध्यमवर्ग मौजूदा परिस्थिति से दिन-दिन लाज़िमीतौर पर असन्तुष्ट होता जाता था और राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ खिचता जारहा था। आगाखाँ को भी खुद ही इस ओर ध्यान देना पडा और उन्हे अग्रेजो को एक खास ढँग की चेतावनी भी देनी पडी। जनवरी १९१४ (यूरोपीय महायुद्ध से वहुत पहले) के 'एडिनवरा रिव्यू' के अक मे उन्होने एक लेख लिखा, जिसमें सरकार को यह सलाह दी कि हिन्दू-मुसलमानों को लडाने की नीति का परित्याग कर दिया जाय, और दोनो सम्प्रदायो के नरम खयाल के लोगो को एक झडे के नीचे इकट्ठा किया जाय, जिससे कि तरुण भारत की हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों की शुद्ध राष्ट्रीय प्रवृत्तियो से टक्कर लेनेवाली एक शक्ति पैदा हो जाय। इसलिए यह साफ है कि आगाखाँ हिन्दुस्तान की राजनैतिक तवदीली को रोकने

में जितनी ज्यादा दिलचस्पी रखते थे, मुसलमानो के साम्प्रदायिक हितों मे उतनी नही।

लेकिन राष्ट्रीयता की ओर मध्यमवर्ग के मुसलमानो की अनिवार्य प्रगति को न तो आगाखाँ और न ब्रिटिश सरकार ही रोक सकते थे। ससारव्यापी महायुद्ध ने इस क्रिया को और भी तेज़ कर दिया और जैसे जैसे नये-नये नेता पैदा होने लगे वैसे-ही-वैसे आगाखाँ का प्रभाव भी कम होता हुआ मालूम होने लगा। यहाँतक कि अलीगढ-कॉलेज का भी रुख़ बदल गया। नये नेताओ मे सबसे अधिक जोरादर अली-बन्धु निकले, ये दोनो ही उस कॉलेज से निकले हुए थे। डॉक्टर मुख़्तार अहमद असारी, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद आदि मध्यम-वर्ग के दूसरे कई नेता अब मुसलमानो के राजनैतिक मामलो मे महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे। इसी तरह लेकिन कुछ कम परिमाण मे श्री मुहम्मद अली जिन्ना भी भाग लेते थे। गाधीजी ने इनमे से अधिकाश नेताओ (मि० जिन्ना को छोडकर) और आमतौर से मुसलमानो को भी अपने असहयोग-आन्दोलन मे घसीट लिया, और १९१९-२३ के दिनों मे इन लोगो ने हमारी लडाई मे प्रमुख भाग लिया।

इसके बाद प्रतिक्रिया शुरू हुई और हिन्दू और मुसलमान दोनो कौमो के साम्प्रदायिक और पिछडे हुए लोग, जो सार्वजनिक क्षेत्र से बरबस पीछे हट चुके थे, अब फिर आगे आने लगे। यह क्रिया धीमी तो थी, पर थी लगातार। हिंदू-महासभा ने पहली ही बार कुछ ख्याति प्राप्त की, ख़ासकर साम्प्रदायिक तनाव के कारण। मगर राजनैतिक दृष्टि से वह कॉंग्रेस पर कुछ अधिक असर न डाल सकी। मुसलमानो की साम्प्रदायिक संस्थाये मुस्लिम जनता मे अपनी खोई हुई पुरानी प्रतिष्ठा को कुछ अश तक फिर प्राप्त करने मे अधिक सफल रही। फिर भी मुस्लिम नेताओ का एक जबरदस्त दल सदा कॉंग्रेस के साथ रहा। उधर ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओ को, जो राजनैतिक दृष्टि से पूरे प्रतिक्रियावादी थे, प्रोत्साहन देने मे कोई कसर नही रक्खी इन प्रतिक्रियावादियो की सफलता को देखकर हिन्दू-महासभा के मुँह मे

भी पानी आगया और उसने भी ब्रिटिश सरकार की कृपा प्राप्त करने की आशा से प्रतिक्रिया मे इनके साथ होड लगाना शुरू कर दिया। महासभा के उन्नतिशील विचारोवाले बहुत से लोग या तो निकाल दिये गये या खुद ही निकल गये और मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग—विशेषकर महाजन और साहूकार—की ओर महासभा अधिकाधिक झुकने लगी।

दोनो ओर के साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञ, जो निरन्तर कौंसिलों की सीटों के बारे मे बहस किया करते थे, केवल उसी कृपा का विचार करते रहते थे जो सरकारी क्षेत्रों में प्रभाव होने से हासिल होती है। यह तो मध्यमवर्ग के पढे-लिखे लोगो के लिए नौकरियो की लडाई थी। यह स्पष्ट है कि नौकरियाँ इतनी तो हो ही नही सकती थी जो सबको मिल जाती, इसलिए हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी इन्हीके बारे में लडते-झगडते थे। हिन्दू लोग अपने बचाव की फिक्र में थे, क्योकि ज्यादातर नौकरियाँ उन्होने घेर रक्खी थी और मुसलमान लोग सदा "और-और" की रट लगाये रहते थे। इस नौकरियों की लडाई के पीछे एक और भी ज्यादा महत्वपूर्ण कशमकश चल रही थी, जो साम्प्रदायिक तो नही थी लेकिन जिसका असर साम्प्रदायिक समस्या पर पड जरूर रहा था। पजाब, सिन्ध और बगाल में हिन्दू लोग सब तरह से ज्यादा मालदार, साहूकार और शहरी थे। इन प्रान्तो के मुसलमान गरीब, कर्ज़दार, और देहाती थे। इसलिए इन दोनों की टक्कर अक्सर आर्थिक होती थी, पर उसको हमेशा साम्प्रदायिक रग दे दिया जाता था। पिछले महीनो में प्रान्तीय धारा-सभाओ मे पेश किये गये देहाती कर्ज के भार को घटानेवाले कई बिलों पर, खासकर पजाब में, जो बहसे हुई है उनसे यह बात बिलकुल साफ होजाती है। हिन्दूमहासभा के प्रतिनिधियो ने इन युक्तियो का दृढता के साथ विरोध किया है और सदा साहूकार-वर्ग का साथ दिया है।

मुसलमानो की साम्प्रदायिकता पर हिन्दू-महासभा जब कभी आक्षेप करती है तो वह सदा अपनी निर्दोष राष्ट्रीयता का राग अलापती है। यह तो हरेक को जाहिर है कि मुस्लिम सस्थाओ नें अपना एक बिलकुल

अजीब साम्प्रदायिक रूप प्रकट किया है। महासभा की साम्प्रदायिकता इतनी स्पष्ट नही है, क्योकि वह राष्ट्रीयता का नकली चोगा पहने हुए फिरती है। परीक्षा का मौका तो तभी आता है जब राष्ट्रीय और सर्व-साधारण के हित का कोई ऐसा निर्णय होता हो, जिससे उच्च श्रेणी के हिन्दुओं का हित-विरोध होता हो और वह उसका विरोध न करती हो। लेकिन जब कभी ऐसे मौके आये है, हिन्दू-महासभा इस परीक्षा मे बार-बार नाकामयाब रही है। अल्पमत के आर्थिक हितों के विचार से और बहुमत की उद्घोषित इच्छाओ के खिलाफ हिन्दुओ ने सिन्ध के पृथक्करण का हमेशा विरोध ही किया है।

लेकिन हिन्दू और मुसलमान दोनो ही दलो के सम्प्रदायवादियों द्वारा राष्ट्र विरोधी प्रवृत्तियों का सबसे अजीब प्रदर्शन तो गोलमेज़ कान्फ्रेन्स मे हुआ। ब्रिटिश-सरकार उसके लिए केवल ऐसे ही मुसलमानो को नामज़द करने पर तुली हुई थी जो हर तरह सम्प्रदायवादी थे। और आगाखाँ के नेतृत्व मे तो ये लोग इतने नीचे उतर गये थे कि इंग्लैण्ड के सार्वजनिक जीवन के सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और भारत ही नही बल्कि सभी उन्नतिशील सम्प्रदायों की दृष्टि से सबसे खतरनाक व्यक्तियों तक के साथ मिलने को उतारू हो गये थे। आगाखाँ और उनके गिरोह का लार्ड लॉयड और उनकी पार्टी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध एक बड़ी असाधारण-सी बात थी। इतना ही नही, इन लोगो ने गोलमेज़ परिषद् मे गये हुए यूरोपियन असोसियेशन के प्रतिनिधियो तक से समझौता कर लिया था। यह बडे दु ख और निराशा की बात थी, क्योंकि यूरोपियन असोसियेशन भारत की स्वतन्त्रता का सबसे कट्टर और ज़ोरदार विरोधी रहा है, और अब भी है।

हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियो ने इसका जवाब इस तरह से दिया कि उन्होने, खासकर पजाब के लिए, स्वतंत्रता के मार्ग मे ऐसे-ऐसे प्रतिबन्धो की माँग की जो अग्रेज़ो के हक मे 'सरक्षण' थे। उन्होने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के प्रयत्नो मे मुसलमानों को भी मात देने की कोशिश की। इससे उनको मिला तो कुछ भी नहीं, उलटे

अपने पक्ष को ही उन्होंने नुक़सान पहुँचाया और स्वतंत्रता के पक्ष के साथ विश्वासघात किया। मुसलमानों के बोलने के ढंग में कम-से-कम कुछ शान तो थी, लेकिन हिन्दू सम्प्रदायवादियों के पास तो यह भी न था।

मुझे तो स्पष्ट बात यह मालूम पड़ती है कि दोनों तरफ़ के साम्प्रदायिक नेता एक छोटे-से उच्चवर्गीय प्रतिक्रियावादी गिरोह के प्रतिनिधि होने के सिवा और कुछ नहीं हैं। ये लोग जनता के धार्मिक जोश का अपने स्वार्थ-साधन के लिए दुरुपयोग करते हैं और उससे बेजा फ़ायदा उठाते हैं। दोनों ओर आर्थिक प्रश्नों को टालने और दबाने की भरसक कोशिश की जाती है। वह वक़्त जल्दी ही आनेवाला है, जबकि इन प्रश्नों को दबाया जासकना असम्भव हो जायगा, और तब दोनों दलों के साम्प्रदायिक नेता निस्संदेह आग़ाख़ाँ की बीस बरस पहले की चेतावनी को दोहरायेंगे कि नरम विचार वालों को युग-परिवर्तनकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध मिलकर जिहाद बोल देना चाहिए। कुछ हद तक तो अब यह बात जाहिर हो ही चुकी है कि हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी जनता के सामने एक-दूसरे को चाहे जितना बुरा-भला कहें, मगर असेम्बली और अन्य ऐसी ही जगहों में सरकार को राष्ट्र-विरोधी क़ानून पास करने में सहायता देने के लिए दोनों ही मिल जाते हैं। ओटावा एक ऐसा ही सूत्र था जिसने तीनों को एकसाथ ला मिलाया था।

साथ-ही-साथ, यह मजेदार बात भी ध्यान में रखने की है कि आग़ाख़ाँ का अनुदार पार्टी के सबसे अधिक कट्टर पक्ष के साथ अभीतक घनिष्ठ सम्बन्ध चला आता है। १९३४ के अक्तूबर में आप ब्रिटिश नेवी-लीग के सहभोज में, जिसके सभापति लार्ड लॉयड थे, एक सम्मानित मेहमान की हैसियत से सम्मिलित हुए थे। वहाँ आपने लार्ड लॉयड के उन प्रस्तावों का हृदय से समर्थन किया था जो उन्होंने ब्रिस्टल की कंज़रवेटिव कान्फ्रेंस में ब्रिटिश ज़हाज़ी बेड़े की शक्ति को और अधिक मजबूत बनाने की दृष्टि से किये थे। इस तरह हिन्दुस्तान के एक नेता ब्रिटिश सत्ता की रक्षा और इंग्लैण्ड की हिफ़ाज़त के लिए इतने चिन्तित

थे कि वह इग्लैण्ड की फौजी ताकत बढाने के काम मे मि० बाल्डविन या उनकी 'नेशनल' सरकार से भी आगे बढ जाने को तैयार थे। और निस्सन्देह यह सब किया जारहा था शान्ति-रक्षा के नाम पर।

दूसरे ही महीने, यानी नवम्बर १९३४ मे, यह खबर लगी कि लन्दन मे खानगी तौर पर, एक फिल्म दिखलायी गयी है, जिसका उद्देश था 'मुसलमानो को अग्रेजी बादशाहत के साथ सदा के लिए मित्रता के सूत्र मे बाँध देना'। हमको यह भी पता लगा कि इस अवसर पर आगाखा और लार्ड लॉयड सम्मानित मेहमान होकर पधारे थे। ऐसा मालूम पडता है कि शाही मामलो मे आगाखाँ और लार्ड लॉयड दोनो इस तरह एक जान दो देह है, जैसे हमारे राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र मे सर तेजबहादुर सप्रू और मि० एम० आर० जयकर। यह बात भी गौर करने के काबिल है कि इन महीनो मे, जबकि ये दोनो एक-दूसरे मे इतनी अधिकता से धुल-मिल रहे थे, ठीक उसी वक्त लार्ड लॉयड नेशनल सरकार और उसके पक्ष के अनुदार नेताओ के विरुद्ध इसलिए एक अत्यन्त कटु और कठोर आक्रमण का नेतृत्व कर रहे थे कि उन्होने हिन्दुस्तान को बहुत अधिक अधिकार देने की कथित कमजोरी दिखलाई थी।[1]

इधर पिछले दिनो कुछ मुसलमान साम्प्रदायिक नेताओ के व्याख्यानो और वक्तव्यों मे एक मजेदार तबदीली हुयी है। इसका कुछ वास्तविक महत्त्व नही है, लेकिन मुझे शक है कि और लोगो की शायद राय न हो। फिर भी, यह बात साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के रूप को प्रकट करती है और इसे प्रधानता भी खूब दी गयी है। हिन्दुस्तान मे 'मुस्लिम राष्ट्र', 'मुस्लिम सस्कृति' और हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो की घोर असम्बद्धता पर खूब जोर दिया जारहा है। इसका परिणाम लाजिमीतौर से यही

---

१. अभी हाल ही में कुछ अग्रेज लार्डो और भारतीय मुसलमानो ने एक कौंसिल बनायी है, जिसका उद्देश इन दोनो घोर प्रतिक्रियावादी दलों के सम्बन्ध को बढ़ाना और पुख्ता करना है।

निकलता है (हालाँकि वह इतने खुले तौर पर नहीं रक्खा गया है) कि न्याय करने और दोनों संस्कृतियों में बीच-बचाव करने के लिए हिन्दुस्तान में अंग्रेजों का अनन्त काल तक बना रहना बहुत ज़रूरी है।

कुछेक हिन्दू साम्प्रदायिक नेता भी इसी विचार-धारा में बह रहे हैं फर्क सिर्फ इतना ही है कि उन्हें यह आशा है कि चूँकि उनका बहुमत है इसलिए अन्त में उन्हींकी 'संस्कृति' का बोलबाला होगा।

हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृतियाँ' और 'मुस्लिम राष्ट्र'—ये शब्द पुराने इतिहास तथा वर्तमान और भविष्य की कल्पना के कैसे मनोमोहक दृश्य उपस्थित कर देते हैं! हिन्दुस्तान में मुस्लिम राष्ट्र—राष्ट्र के भीतर एक राष्ट्र, वह भी ठोस नहीं बल्कि डावाँडोल, बिखरा हुआ और अनिश्चित! राजनैतिक दृष्टि से यह विचार बिलकुल वाहियात है, आर्थिक दृष्टि से शेखचिल्लियाना है; यह तो ध्यान में लाने लायक भी नहीं है। लेकिन फिर भी इसके पीछे जो मनोवृत्ति छिपी है, इसके ज़रिये थोड़ा-बहुत उसे समझने में सहायता मिलती है।

मध्यवर्ती युग में, और उनके बाद भी, ऐसी कई जुदी-जुदी और आपस में न मिल सकनेवाली जातियाँ एक साथ मिलकर रहती थीं। टर्की के सुलतानों के आरम्भ-काल में भी कुस्तुन्तुनियाँ में ऐसी हरेक 'जाति'—लेटिन ईसाई, कट्टर ईसाई, यहूदी वगैरा—अलग-अलग रहती थी और उनमें से कुछ तो स्वाधिकार भी रखती थी। यह उस देशेतर भावना[1] की शुरुआत थी जो, अब से कुछ ही काल पहले, बहुत-से पूर्वी देशों का हौवा बन गयी थी। इसलिए 'मुस्लिम राष्ट्र' की बात चलाने का अर्थ यह है कि राष्ट्र कोई चीज़ नहीं है, केवल एक धार्मिक सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी राष्ट्र (आधुनिक परिभाषा में) को बढ़ने न दिया जाय। दूसरा यह अर्थ है कि वर्तमान सभ्यता को बता बतायी जाय और हम सब मध्यकाल के रस्म-रिवाज़ अख़्तियार करलें।

---

१. अपनी या किसी भी देश की भौगोलिक सीमा के बाहर रहनेवालों पर उनकी जाति या धर्म के कारण राजनैतिक अधिकार होता।—अनु०

इसका मतलब है या तो तानाशाही सरकार, या विदेशी सरकार, अन्त मे मस्तिष्क की एक भावुक स्थिति और असलियतों से, खासकर आर्थिक असलियतों से, मुहँ छिपाने की ज्ञात या अज्ञात इच्छा के सिवा इसका और कुछ अर्थ नही है। भाव-वृत्तियाॅ कभी-कभी तर्क का भी तख्ता उलट देती है और हम उनको सिर्फ इस बिना पर दरगुजर नही कर सकते कि वे हमे इतनी तर्करहित मालूम होती है। मगर यह मुस्लिम राष्ट्रवाली भावना कुछेक कल्पनाशील व्यक्तियो की केवल कल्पनामात्र है, और अगर अखबारो मे इसका इतना शोर न मचता तो शायद यह सुनने मे भी न आती। भले ही बहुत-से लोग इसमे विश्वास रखते हो, लेकिन फिर भी वास्तविकता का स्पर्श होते ही वह गायब हो जायगी।

हिन्दू और मुस्लिम 'सस्कृति' की भावना भी इसी किस्म की है। अब तो राष्ट्रीय भावनाओ का भी जमाना तेजी के साथ जा रहा है और सारा ससार एक सास्कृतिक इकाई बन रहा है। विभिन्न राष्ट्र बहुत दिनों तक अपनी-अपनी विशेषताओ, भाषा, रस्म-रिवाज, विचार-धारा आदि को चाहे न छोडे, और शायद बहुत काल तक छोडेगे भी नही, मगर मशीनों का युग और विज्ञान—जिसके उपकरण हवाई जहाज, अखबार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा वगैरा है—इन विशेषताओ को अधिकाधिक एकरूप बना देगे। इस अवश्यम्भावी प्रवृत्ति का विरोध कोई नही कर सकता, और वर्तमान सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाला संसार-व्यापी विप्लव ही इसको रोक सकता है। हिन्दुओ और मुसलमानों के जीवन-सम्बन्धी परम्परागत विचारों मे जरूर काफी भारी मत-भेद है। पर अगर हम दोनो की तुलना वर्तमान युग के जीवन के वैज्ञानिक और औद्योगिक पहलू से करे, तो यह मत-भेद करीब-करीब लुप्त हो जाता है, क्योकि इस दृष्टि-कोण और जीवन के उपर्युक्त विचारो मे भी आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दुस्तान मे इस समय असली झगडा हिन्दू-सस्कृति और मुस्लिम-सस्कृति का नही, बल्कि इन्ही जीवन के विचारादर्श तथा आधुनिक सभ्यता की विजयी वैज्ञानिक सस्कृति के बीच है। जो 'मुस्लिम-सस्कृति' की, जैसी कुछ भी वह हो, रक्षा करना चाहते

है, उन्हे हिन्दू-सस्कृति से घवराने की जरूरत नही, लेकिन उन्हे पश्चिमी दैत्य का मुकाविला करना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से मुझे इसमे कुछ भी सन्देह नही मालूम होता है कि हिन्दुओ या मुसलमानो के आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता का विरोध करने के, सव प्रयत्न पूरी तरह से निष्फल सावित होगे और इस निष्फलता को देखकर मुझे कुछ भी अफसोस न होगा। जिस समय रेल वगैरा ने हमारे यहाँ प्रवेश किया उसी समय हमने अज्ञात रूप से और खुद-वखुद इस वात को स्वीकार कर लिया था। सर सैयद अहमद ने भी अलीगढ-कॉलेज की स्थापना करके भारत के मुसलमानो के लिए जोरो से इस ही मार्ग को चुन लिया था। लेकिन जिस तरह डूवते हुए मनुष्य के लिए सिवाय ऐसी चीज़ को पकडने के और कोई चारा नही रह जाता जिससे उसकी जान वच जाय, उसी तरह असल में हममेसे किसीके लिए उसके सिवाय और कोई मार्ग न था।

यह 'मुस्लिम-सस्कृति' आखिर चीज़ क्या है? क्या यह अरवी, फारसी, तुर्की वगैरा लोगों के महान् कार्यो की कोई जातीय स्मृति है? या भापा है? या कला और सगीत है? या रस्मोरिवाज है? मुझे याद नही पडता कि किसी ने आधुनिक मुस्लिम कला या सगीत का जिक्र किया हो। हिन्दुस्तान मे मुस्लिम विचार-धारा पर अरवी और फारसी दो भाषाओ का, और खासकर फारसी का प्रभाव पडा है। लेकिन फारसी के प्रभाव मे धर्म का कोई निशान नही है। फारसी भाषा और बहुत-सी फारसी रीति-रस्म और परम्पराये हजारो वर्षो के समय मे हिन्दुस्तान मे आयी और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर इनका जोरदार असर पडा। फारस तो पूर्व का फ्रास था, जिसने अपनी भापा और सस्कृति अपने पास-पडौस सब देशो में फैलादी। यह हम सव भारतीयों की एक समान और अनमोल विरासत है।

मुसलमान जातियो और देशो के पुराने कारनामो का गर्व मुसलमानो को एक साथ वाँधनेवाले सूत्रो मे शायद सबसे अधिक मजवूत सूत्र है। क्या किसीको इन जातियो के गौरवपूर्ण इतिहास के कारण मुसलमानो

से हसद है ? जबतक वे इसे याद करें और दिल से उसका पोषण करना चाहें, तबतक इसे कोई भी उनसे छीन नहीं सकता। सच तो यह है कि यह पुराना इतिहास बहुत करके हम सभी के लिए समान रूप से गौरव की चीज़ है, क्योंकि शायद हमलोग एशिया-निवासी होने के कारण यह अनुभव करें कि यूरप के आक्रमण के विरुद्ध हमको एकता के सूत्र में बाँध देनेवाली यही चीज़ है। मैं जानता हूँ कि जब कभी मैंने स्पेन में या क्रूसेड[1] के वक्त में अरब लोगों के साथ हुए झगड़ों का हाल पढ़ा है तो मेरी हमदर्दी हमेशा अरबों से रही है। मैं निष्पक्ष और बेलौस होने की कोशिश करता हूँ पर मैं चाहे जितनी कोशिश करूँ, फिर भी, जब कभी एशिया के निवासियों का प्रश्न आता है, तो मेरा एशियाईपन मेरी विचार-धारा पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता।

मैंने यह समझने की हरचन्द कोशिश की है कि आखिर यह 'मुस्लिम संस्कृति' है क्या चीज़ ? लेकिन मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि मैं इसमें सफल नहीं हुआ। मैं देखता हूँ कि उत्तरी हिन्दुस्तान में ऐसे मध्यम-वर्गी मुसलमानों और हिन्दुओं की एक नगण्य-सी संख्या है जिन पर फ़ारसी भाषा और परम्पराओं की छाप पड़ी हुई है। और अगर सर्वसाधारण जनता के रहन-सहन को देखा जाय तो 'मुस्लिम संस्कृति' के सबसे अधिक स्पष्ट चिन्ह नज़र आते हैं। एक खास तरह का पायजामा न ज्यादा लम्बा न ज्यादा छोटा; डाढ़ी का बढ़ाया जाना और मूँछों के बनाने का एक खास तरीक़ा; और एक खास तरह का टोंटीदार लोटा। इस तरह से हिन्दुओं के भी इसी ढंग के रस्मो-रिवाज हैं। धोती पहनना; चोटी रखना; और एक भिन्न प्रकार का लोटा रखना। सच तो यह है कि ये भिन्नतायें भी ज्यादातर गहरी हैं और अब कम होती जारही हैं। मुसलमान किसान और मज़दूर और हिन्दू किसान और मज़दूरों में कोई

---

१. मुसलमानों से अपने धर्मस्थान वापस लेने के लिए ईसाई शक्तियों ने ग्यारहवीं सदी से तेरहवीं सदी तक उनपर जो फ़ौजी हमले किये थे, उन्हें क्रूसेड—धर्म-युद्ध—कहा जाता है।

भेद नही मालूम पडता। मुसलमानो के शिक्षित-वर्ग मे डाढी के लिए बहुत कम प्रेम रह गया है, हालाँकि अलीगढ मे लाल रग की तुर्रेदार तुर्की टोपी अब भी पसन्द की जाती है (यह तुर्की ही कहलाती है, हालाँकि तुर्को ने इससे अब कुछ भी सम्बन्ध नही रखा है!), मुसलमान स्त्रियाँ साडी को अपनाने लगी है और धीरे-धीरे परदे से भी बाहर निकल रही है। मेरी अपनी रुचि तो इनमे से कुछ तौर-तरीको को पसन्द नही करती और डाढी, मूंछ या चोटी से मुझे कुछ भी प्रेम नही है, लेकिन मै अपनी रुचि-सम्बन्धी धारणाओ को दूसरो के गले नही मढना चाहता। हाँ, डाढियो के विषय मे मै यह मानता हूँ कि जब अमानुल्ला ने इनको एक सिरे से उडाना शुरू किया था तो मुझे बडी खुशी हुई थी।

मुझे यह कहना पडता है कि उन हिन्दुओ और मुसलमानो को देखकर मुझे बडी दया आती है जो हमेशा पुराने जमाने का रोना रोया करते है और उन चीजो को पकडने की कोशिश करते रहते है जो उनके हाथ से खिसकती जा रही है। मै प्राचीन काल की न तो निन्दा ही करना चाहता हूँ और न उसे बिलकुल छोड ही देना चाहता हूँ, क्योकि हमारे अतीत मे बहुत-सी ऐसी बाते है जो सुन्दरता मे अनुपम है। ये सदा रहेगी, इसमे मुझे सन्देह ही नही है। पर ये लोग इन सुन्दर वस्तुओ को तो नही पकडते, बल्कि ऐसी चीजों को पकडने दौडते है जो अक्सर निकम्मी और हानिकर होती है।

पिछले कुछ वर्षो मे मुसलमानो को बार-बार धक्के पहुँचे है और उनके अनेक चिरपोषित विचार नष्ट-भ्रष्ट हो गये है। इस्लाम के बानी उस टर्की ने खिलाफत को ही खतम नही कर दिया जिसके लिए हिन्दुस्तानी लोग १९२० मे बडी बहादुरी से लडे थे, बल्कि वह तो मजहब से भी दूर-दूर कदम हटाता चला जा रहा है। टर्की के नये विधान मे एक धारा यह है कि टर्की मुस्लिम राज्य है, परन्तु कोई खामखयाली पैदा न हो जाय इसलिए कमालपाशा ने १९२७ मे कहा था—"विधान में यह धारा कि टर्की एक मुस्लिम राज्य है केवल समझौते के

तौर पर रखी गयी है और पहला मौक़ा मिलते ही निकाल दी जानेवाली है।" मुझे विश्वास है कि आगे चलकर उन्होने इस चेतावनी के अनुसार काम भी किया। मिस्र भी, बहुत अधिक सावधानी से ही सही, इसी मार्ग पर अग्रसर होरहा है और अपनी राजनीति को मज़हब से बिलकुल अलग रखे हुए है। इसी तरह अरब के देश भी कर रहे है, सिवा ख़ास अरब के, जो बहुत पिछड़ा हुआ है। फ़ारसवाले सास्कृतिक स्फूर्ति के लिए अब पूर्व-मुस्लिम काल की याद कर रहे है। हर जगह मजहब पीछे हटता जा रहा है और राष्ट्रीयता उग्र रूप मे प्रकट होरही है। और इस राष्ट्रीयता के पीछे और भी कई 'वाद' है जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टियो को लिये हुए है। इस 'मुस्लिम-राष्ट्र' और 'मुस्लिम-सस्कृति' का क्या होगा? भविष्य मे क्या वे सिर्फ अग्रेज़ो के उदार शासन की छत्रछाया मे मस्त पडे हुए उत्तर भारत मे ही मिलेगे?

उन्नति अगर इसी बात मे है कि हरेक व्यक्ति राजनीति के मूल आधार पर दृष्टि रक्खे तो यह कहना पडेगा कि हमारे सम्प्रदायवादियों का और हमारी सरकार का भी उद्देश, इरादतन और हमेशा, इससे उलटा यानी सकुचित दृष्टि से देखने का रहा है।

: ५७ :

दुर्गम घाटी

दुबारा गिरफ्तार होने और सजा पाने की सम्भावना हमेशा मेरे सामने बनी रहती थी। उस समय देश मे आर्डिनेन्स वगैरा का दौर-दौरा था, और खुद काग्रेस भी तब गैर-कानूनी जमात थी, इसलिए यह सम्भावना और भी ज्यादा थी। ब्रिटिश-सरकार ने जैसा रुख अख्तियार कर रक्खा था और मेरा स्वभाव जैसा था उसको देखते हुए मुझपर प्रहार होना अनिवार्य मालूम होता था। हमेशा सिर पर सवार रहने-वाली इस सम्भावना का मेरी गति-विधि पर भी असर पडे बिना न रहा। मै जमकर कोई काम नही कर सकता था और मुझे यह जल्दी रहती थी कि जितना-कुछ हो सके कर डालूँ।

फिर भी, मेरी इच्छा गिरफ्तारी मोल लेने की नही थी और जहाँ तक हो सकता था मै ऐसी कार्रवाइयो से बचता था जो मेरी गिरफ्तारियो का कारण बने। अपने प्रान्त मे और प्रान्त के बाहर भी, दौरा करने के लिए मेरे पास कितनी ही जगहों से बुलावे आरहे थे। मैने सबसे इन्कार कर दिया, क्योकि मै जानता था कि कोई भी व्याख्यानो का दौरा तूफानी हलचल के सिवा और कुछ नही हो सकता था, और वह सरकार द्वारा कभी भी यकायक बन्द कर दी जा सकती थी। उस समय मेरे लिए कोई बीच का मार्ग हो ही नही सकता था। जब कभी मै किसी दूसरे काम से किसी जगह जाता—जैसे गाधीजी या वर्किंग-कमेटी के सदस्यो से सलाह-मशविरा करने के लिए—तो मै सार्वजनिक सभाओं मे भाषण देता और खूब खुलकर बोलता। जबलपुर मे एक बहुत बडी सभा हुई और बडा शानदार जुलूस निकाला गया, दिल्ली की सभा मे तो इस कदर भीड थी जितनी मैने पहले कभी वहाँ देखी ही नही। वास्तव मे इन सभाओ की सफलता से ही यह स्पष्ट होचला था कि सरकार ऐसी सभाओ का बारबार होना कभी सहन नही करेगी।

दिल्ली मे, सभा के बाद ही, बडे जोरो की अफवाह फैली कि मेरी गिरफ्तारी होनेवाली है, लेकिन मै बच गया और इलाहाबाद लौट आया। रास्ते मे मै अलीगढ ठहरा, जहाँ मैने मुस्लिम यूनिर्वासिटी के विद्यार्थियो के सामने एक भाषण दिया।

ऐसे समय मे जब कि सरकार तमाम सक्रिय राजनैतिक कामो को दबाने का प्रयत्न कर रही थी, मुझे यह विचार बिलकुल पसन्द नही था कि राजनीति से इतर कार्यो मे भाग लिया जाय।

काँग्रेसवालो मे मुझे एक ज़ोरदार प्रवृत्ति नज़र आयी उग्र राजनैतिक कार्यो से बचकर ऐसे मामूली कामो मे पड जाने की जो लाभकारी तो थे पर जिनका हमारे आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नही था। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी, पर मुझे ऐसा लगा कि उस समय इसको प्रोत्साहन नही दिया जाना चाहिए था।

अक्तूबर १९३३ के मध्य मे हमने इलाहाबाद मे, परिस्थिति पर विचार करने और आगे का कार्यक्रम निश्चित करने के लिए, युक्तप्रान्त के काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओ की बैठके की। प्रान्तीय काग्रेस कमिटी एक गैरकानूनी सस्था थी, और चूँकि हमारा उद्देश कानून की अवज्ञा करने का नही बल्कि आपस मे मिलने का था, इसलिए हमने इस कमिटी को बाकायदा नही बुलाया। हमने उसके उन सब सदस्यो को, जो उस समय जेल से वाहर थे, और दूसरे चुने हुए कार्यकर्त्ताओ को खानगी तौर पर विचार-विनिमय की इच्छा से बुलाया था। हमारी मीटिंगे खानगी तो होती थी, पर उनकी कार्रवाई को गुप्त रखने का प्रयत्न नही किया जाता था। इसलिए आखिरी दमतक हमे इस बात का पता नही लगता था कि सरकार हस्तक्षेप करेगी या नही। इन मीटिंगो मे हम लोग ससार की स्थिति—घोर मन्दी, नाज़ीवाद, साम्यवाद वगैरा पर वहुत ध्यान देते थे। हम चाहते थे कि हमारे साथी, वाहर जो कुछ हो रहा है, उसकी दृष्टि से भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को देखे। इस कान्फ्रेन्स ने अन्त मे एक समाजवादी प्रस्ताव पास किया, जिसमे भारतवासियो के लक्ष्य का वयान और सविनय भग के वन्द किये जाने का विरोध किया गया

था। इस वात को तो सब लोग अच्छी तरह जानते थे कि अब देश-व्यापी सविनय भग की कोई सम्भावना नही है और व्यक्तिगत सविनय भग भी या तो शीघ्र ही खतम हो जानेवाला है या एक बहुत ही सकुचित रूप मे जारी रह सकता है। लेकिन उसके बन्द किये जाने से हमारी स्थिति में कोई फर्क नही पडता था, क्योकि सरकार का हमला और आर्डिनेन्स का शासन तो बरकरार था। इसलिए बाकायदा सविनय भग जारी रखने का जो निश्चय हमने किया, वह कहने ही मात्र के लिए था। असल मे तो हमारे कार्यकर्त्ताओ को यह आदेश था कि जान-बूझकर ऐसा काम न करे कि व्यर्थ ही गिरफ्तार हो। उनको हिदायत थी कि अपना काम हस्बमामूल करते रहे और अगर काम के दौरान मे गिरफ्तारी होजाय तो उसे खुशी के साथ मजूर करले। उनसे खासकर यह कहा गया था कि देहात से अपना सम्बन्ध फिर स्थापित करे और यह जानने की कोशिश करे कि लगान में छूट और सरकार की दमन-नीति इन दोनों के परिणामस्वरूप किसानों की क्या अवस्था है? उस वक्त लगान-बन्दी के आन्दोलन का तो कोई प्रश्न ही न था। पूना-कान्फ्रेन्स के बाद ही वह तो नियमानुसार स्थगित किया जाचुका था और यह साफ ज़ाहिर था कि मौजूदा परिस्थिति में उसे पुनर्जीवित नही किया जा सकता था।

यह कार्यक्रम बिलकुल नरम और निर्दोष था और इसमे वस्तुत कोई गैरकानूनी बात नही थी, लेकिन फिर भी हम जानते थे कि इससे गिरफ्तारियाँ तो होंगी ही। जैसे ही हमारे कार्यकर्त्ता गाँवो मे पहुँचते, वे गिरफ्तार कर लिये जाते और उनपर करबन्दी आन्दोलन का प्रचार करने का, जोकि आर्डिनेन्स के मातहत एक जुर्म बना दिया गया था, बिलकुल झूठा जुर्म लगाया जाता और सजा देदी जाती। अपने बहुत-से साथियो की गिरफ्तारियों के बाद मेरा इरादा भी था कि मैं इन देहाती क्षेत्रों मे जाऊँ। लेकिन कई और जरूरी कामों में लग जाने के कारण मुझे अपना जाना स्थगित करना पडा, और बाद में तो इसके लिए मौका ही न रहा।

इन महीनो मे वर्किंग-कमिटी के सदस्य सारे देश की परिस्थिति पर विचार करने के लिए दो बार इकट्ठे हुए। कमिटी का खुद तो कोई अस्तित्व ही न था—इसलिए नही कि वह गैरकानूनी थी, लेकिन इसलिए कि पूना के बाद, गाधीजी के आदेश से, सारी कॉग्रेस कमिटियाँ और काग्रेस दफ्तर अस्थायी तौर पर बन्द कर दिये गये थे। मेरी स्थिति एक अजीब तरह की हो रही थी, क्योकि जेल से छूटकर आने पर मैने इस आत्म-घातक आर्डिनेन्स को स्वीकार करने से इन्कार किया और अपने-आपको काग्रेस का जनरल सेक्रेटरी कहने का आग्रह किया। लेकिन मेरा अस्तित्व भी शून्य मे था। उस समय न तो कोई ठीक दफ्तर था, न कोई कर्मचारी, न कोई स्थानापन्न सभापति, और गाधीजी यद्यपि सलाह-मशविरे के लिए मौजूद थे, पर वह भी इस बार हरिजन-कार्य के लिए अपने एक बडे भारी अखिल-भारतीय दौरे मे लगे थे हमने उनको दौरे के बीच मे जबलपुर और दिल्ली मे पकड पाया और वर्किंग कमिटी के मेम्बरो के साथ सलाह-मशविरे किये। इन मशविरो ने यह काम किया कि भिन्न-भिन्न मेम्बरो के मतभेद को साफतौर से सामने लाकर रख दिया। बस, यही गाडी अटक गयी और कोई ऐसा रास्ता नही नजर आता था जो सबको पसन्द हो। दोनो पक्षो, सत्याग्रह जारी रखनेवालो. और बन्द करनेवालों के बीच गाधीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनका निर्णय सर्वमान्य होसकता था। और चूंकि वह बन्द करने के पक्ष मे नही थे इसलिए जो रफ्तार चल रही थी वही चलती रही।

काग्रेस की ओर से लेजिस्लेटिव असेम्बली का चुनाव लडने के प्रश्न पर भी कॉग्रेस के लोग कभी-कभी विचार कर लेते थे, हालाँकि इस समय तक वर्किंग कमिटी के सदस्यो की इस तरफ कोई दिलचस्पी नही थी। यह प्रश्न अभी उठता ही नही था, इसके लिए अभी समय भी नही आया था। 'सुधार' कम-से-कम दो-तीन साल तक असली सूरत मे आनेवाले ही नही थे और उस समय असेम्बली के नये चुनाव का कोई जिक्र ही न था। अपनी निजी राय में तो मुझे चुनाव लडने मे सिद्धान्त-रूप से कोई आपत्ति नही थी और मुझे यह भी विश्वास था कि समय

आने पर कांग्रेस को इस मार्ग पर चलना ही पडेगा। लेकिन उस समय इस प्रश्न को उठाना हमारे ध्यान को दूसरी ओर फेर देना था। मुझे आशा थी कि आन्दोलन के जारी रहने से बहुत-से प्रश्न, जो हमारे सामने आ रहे थे, हल हो जायँगे और समझौते के प्रवृत्तिवाले लोग परिस्थिति पर हावी न हो सकेगे।

इस बीच मै लगातार लेख और वक्तव्य अखबारो मे भेजता रहा। कुछ हदतक मुझे अपने लेखो को नरम करना पडता था, क्योकि वे प्रकाशन की नीयत से लिखे जाते थे, और उस समय सेन्सर और दूसरे तरह-तरह के कानूनों का घातक जाल दूर तक फैला था। मैं कुछ खतरा उठाने के लिए अगर तैयार भी हो जाता, तो भी मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक तो ऐसा करने के लिए तैयार नही थे। वैसे तो सब अखबार मेरे लिए भले थे और बहुत-सी बातों मे मेरे हक मे रिआयत भी कर जाते थे, लेकिन हमेशा नही। कभी-कभी लेखाश रोक दिये जाते थे, और एक बार तो एक लम्बा लेख, जिसको मैंने बडी मेहनत से तैयार किया था, प्रकाशित ही न होने पाया। जनवरी सन् १९३४ मे, जब मै कलकत्ते मे था एक प्रमुख दैनिक के सम्पादक मुझसे मिलने आये। उन्होने मुझे बतलाया कि मेरा एक वक्तव्य कलकत्ते के तमाम समाचारपत्रो के सम्पादक-शिरोमणि के पास मशविरे के लिए भेज दिया गया था, और चूँकि इस सम्पादक-शिरोमणि ने उसे नामजूर कर दिया, इसलिए वह प्रकाशित न हो सका। यह 'सम्पादक-शिरोमणि' कलकत्ते के सरकारी प्रेस-सेन्सर महोदय को छोडकर और कोई नही थे।

अखबारो को दी गयी कुछ मुलाकातो और वक्तव्यो में मैंने कई दलों और व्यक्तियो की बडी कडी आलोचना करने की धृष्टता की थी। इससे लोग बहुत नाराज हुए। इस नाराजी का एक कारण था कांग्रेस की उलटकर जवाब न देने की वृत्ति—जिसके प्रसार में गाधीजी का भी हाथ था। खुद गाधीजी ने इसका उदाहरण पेश किया था और प्रमुख कांग्रेसियो ने भी कुछ कम-बढ मात्रा मे उनके मार्ग का अनुसरण किया, हालाँकि हमेशा नही होता था। हम लोग अधिकतर अस्पष्ट और

सद्भावना भरे वाक्यो का प्रयोग करते थे, जिससे हमारे आलोचको को गलत तर्क और समय-साधक चालों को काम मे लाने का मौका मिल जाता था। असली प्रश्नो को दोनो दल उडा देते थे, और ईमानदारी के साथ जब-तक जोश-खरोश के साथ ऐसा वादविवाद शायद ही कभी होता जिसमे तनातनी और जोश-खरोश की नौबत आये, जैसाकि उन देशो को छोडकर, जहाँकि फेसिज्म का बोलबाला है, पश्चिम के दूसरे सब देशों मे होता रहता है।

एक महिला मित्र ने, जिनकी राय की मैं कद्र करता था, मुझे लिखा कि मेरे कुछेक वक्तव्यो की तेज़ी पर उनको थोड़ा-सा आश्चर्य हुआ—इसलिए कि मै करीब-करीब 'खिसियानी बिल्ली' बन गया था। क्या यह मेरी आशाओ पर 'पानी फिर जाने' का परिणाम था ? मुझे भी ताज्जुब हुआ। कुछ हद तक यह सही भी थी, क्योकि राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब टूटी हुई आशाओ को लिये बैठे है। व्यक्तिगत रूप से भी, कुछ हद तक, शायद यह बात ठीक रही हो। लेकिन फिर भी मुझे ऐसी किसी भावना का खयाल नही होता था, क्योकि खुद मुझे किसी तरह की भी पराजय या असफलता महसूस नही हो रही थी। जबसे गाधीजी मेरे राजनैतिक मानस-क्षितिज पर आये, मैने कम-से-कम एक बात उनसे सीखी। वह यह कि परिणामो के डर से अपने हृदयगत भावो को कभी न दबाया जाय। इस आदत ने राजनैतिक क्षेत्र मे पालन किये जाने पर (दूसरे क्षेत्रों में इसका पालन करना ज्यादा मुश्किल और खतरनाक होजाना सम्भव है)—मुझे अक्सर कठिनाई में डाल दिया है, लेकिन साथ ही मुझे बहुत-कुछ सतोप भी प्रदान किया है। मै समझता हूँ, केवल इसी कारण हममें से बहुत-से लोग हृदय की कटुता और घोर पराजय के भावों से बरी रहे है। यह खयाल भी, कि लोगो की एक बहुत बडी तादाद किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम-भाव रखती है, उस व्यक्ति के हृदय को बहुत सात्वना पहुँचाता है, और पस्तहिम्मती और पराजय की भावना के विष को दूर करनेवाली एक अमोघ औपधि का काम करता है। अकेला रह जाने या दूसरों से भुला दिये जाने का

खयाल, मैं समझता हूँ, सब खयालो से ज्यादा असह्य है।

लेकिन इतने पर भी, इस विचित्र और दु खमय ससार मे मनुष्य पराजय की भावना से कैसे बच सकता है ? कितनी ही बार हरेक बात बिगडती हुई मालूम होती है और, यद्यपि हम आगे बढते जाते है फिर भी, जब हम अपने चारो ओर रहनेवाले लोगो को देखते है तो तरह-तरह की शकायें आ घेरती है। मुख्तलिफ घटनाओ और परिवर्तनों, यहाँतक कि व्यक्तियो और दलो पर भी मुझे बार-बार गुस्सा और खीज हो आती है। और पिछले कुछ दिनो से तो मैं ऐसे लोगो पर बहुत ज्यादा भिन्नाने लगा हूँ जो जीवन की समस्याओ पर सजीदगी से विचार नही करते, जिसके कारण वे महत्त्वपूर्ण प्रश्नो को भूल जाते है और उनका जिक्र करना भी बेजा समझते है, क्योंकि इन प्रश्नो का असर उनके पैसो या उनकी चिरपोषित धारणाओ पर पडता है। लेकिन मैं समझता हूँ कि इस रोष, इस पराजय, और इस खिसियाहट के बावजूद मैंने अपनी और दूसरो की बेवकूफियो पर हँसने की अपनी सहज प्रवृत्ति को नही खोया है।

परमात्मा की कृपालुता मे लोगो की जो श्रद्धा है उसपर मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है। किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर भी जीवित है और किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुता का उलटा सबूत भी इस श्रद्धा की दृढता की परीक्षाये मान ली जाती है। जेरार्ड हॉपकिन्स की ये सुन्दर पक्तियाँ अनेक हृदयों मे गूँजती है —

"सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मैं करूँ विवाद;
किन्तु नाथ, मेरी भी है यह न्याय युक्त फरियाद।
और फूलते-फलते है क्यो पापी कर-कर पाप ?
मुझे निराशा देते है क्यों सभी प्रयत्न-कलाप ?
हे प्रिय बन्धु ! साथ तू मेरे करता यदि रिपु का व्यवहार—
तो इससे क्या अधिक पराजय औ' बाधा का करता वार ?
अरे, उठाईगीर वहाँ वे मद्य और विषयो के दास,
भोग रहे है पडे मौज मे वे जीवन के विभव-विलास !

और, यहाँ मैं तेरी खातिर जीवन काट रहा हूँ नाथ !
हाँ, जो तेरे पथ पर स्वामी घोर निराशाओं के साथ ।[1]"

उन्नति मे, शुभकार्यो मे, आदर्शो मे, मानवी सज्जनता मे और मानव भविष्य की उज्ज्वलता मे विश्वास । क्या ये सब परमात्मा की श्रद्धा के साथ मिलते-जुलते नही है ? यदि हम इनको बुद्धि और तर्क से साबित करना चाहे तो तुरन्त हम कठिनाई मे पड जायँगे । पर हमारे अन्तस्तल मे कोई ऐसी वस्तु है, जो इस आशा, इस विश्वास से चिपटी हुई है, अन्यथा इनके विना जीवन एक जलाशय-हीन मरुस्थल के समान होजाय ।

मेरे समाजवादी प्रचार के प्रभाव ने वर्किंग कमिटी के कुछ सहयोगियो तक को घबरा दिया । वे लोग विना शिकायत किये मेरे साथ काम करते रहते, जैसा कि पिछले कई वर्षो मे इस प्रकार का प्रचार करते रहने पर भी अभीतक वे करते रहे थे, लेकिन अब तो ऐसा खयाल किया जाने लगा कि कुछ हद तक मै स्थापित स्वार्थो को भड़का रहा हूँ, और मेरी गति-विधि अहानिकर नही कही जासकती थी । मै जानता था कि मेरे कुछ सहयोगी समाजवादी नही है, लेकिन मै यह हमेशा खयाल करता रहा कि काग्रेस की कार्यकारिणी का सदस्य होने की हैसियत से मुझे, विना काग्रेस को उसमे घसीटे, समाजवादी प्रचार करने की पूर्ण स्वतत्रता है । जब मैने यह महसूस किया कि वर्किंग कमिटी के कुछ सदस्य मेरी इस स्वतन्त्रता को स्वीकार नही करते, तो मुझे बडा आश्चर्य हुआ । मै उनको एक विकट परिस्थिति मे डाल रहा था और इसपर उन्होने अपनी नाराजगी जाहिर की । लेकिन मै करता भी तो क्या ? जिस चीज को मै अपने कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अग समझता था उसे छोड देने के लिए मै कभी तैयार नही था । अगर दोनो मे झगडा होता तो मै वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे देना इससे कही बेहतर समझता । लेकिन जब कि कमिटी गैरकानूनी थी, और उसका कोई अस्तित्व ही न था, तो मै उससे इस्तीफा क्या देता ?

---

१ अग्रेजी पद्य का भावानुवाद ।

यह कठिनाई कुछ दिन बाद एक बार फिर मेरे सामने आयी। मेरा खयाल है, यह दिसम्बर के अन्त की बात है, जब गाधीजी ने मदरास से मुझे एक पत्र भेजा था। उन्होने मेरे पास 'मदरास मेल' का एक कटिंग भेजा, जिसमें उनकी दी हुई एक इटरव्यू का वर्णन था। इटरव्यू करनेवाले ने उनसे मेरे विषय मे प्रश्न किये थे और उन्होने जो उत्तर दिया था उसमे उन्होने मेरे कार्य-कलाप पर कुछ खेद-सा प्रकट किया था और मेरे सुधर जाने की दृढ आशा प्रकट की थी, और यह भी कहा था कि मै कांग्रेस को इन नये मार्गो मे नही घसीटूंगा। अपने बारे में इस तरह का जिक्र मुझे कुछ अच्छा न लगा, लेकिन इससे ज्यादा जिस बात ने मुझे विचलित कर दिया वह थी—इसी इटरव्यू मे आगे दी हुई—ज़मीदारी प्रथा के लिए गाधीजी की वकालत। उनका यह विचार मालूम होता था कि देहाती और राष्ट्रीय व्यवस्था का यह एक बहुत ज़रूरी अग है। इसने मुझे बडी हैरत मे डाल दिया, क्योकि बडी-बडी जमीदारियो या ताल्लुकेदारियों की तरफदारी करनेवाले आज बहुत कम मिलेंगे। सारे ससार में ये प्रथाये नष्ट हो चुकी है और हिन्दुस्तान मे भी बहुत-से लोग इस बात को महसूस करने लगे है कि इनका अन्त दूर नही है। खुद ताल्लुकेदार और ज़मीदार लोग भी इस प्रथा के अन्त का स्वागत करेंगे, बशर्ते कि इसके लिए उनको काफी मुआवजा मिल जाय।[1] यह प्रथा तो दरअसल खुद ही अपने पापो के बोझ से डूबी जारही है।

---

[1] अखिल-बगाल जमींदार कान्फ्रेंस की स्वागत-कारिणी के सभापति श्री पी० एन० टैगोर ने, २३ दिसम्बर १९३४ को, अपने भाषण में कहा था—"निजी तौर पर मुझे उस दिन कोई अफसोस न होगा जिस दिन जमींदारों को पर्याप्त मुआवज़ा देकर उनकी ज़मीन का राष्ट्रीयकरण हो जायगा, जैसा कि आयर्लैंड में किया गया है।" यह बात याद रखने की है कि दायमी-बन्दोबस्त (Permanent Settlement) के मातहत होने के कारण बंगाल के ज़मींदार अस्थायी बन्दोबस्तवाली ज़मीनो के जमींदारो से ज्यादा आसूदा हैं। राष्ट्रीयकरण के बारे में श्री टैगोर के विचार अस्पष्ट मालूम होते हैं।

लेकिन फिर भी गाधीजी इसके पक्ष मे थे और ट्रस्टीशिप इत्यादि की बाते करते थे। मैने फिर सोचा कि उनका दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से कितना भिन्न है, और मै ताज्जुब करने लगा कि भविष्य मे मै कहाँतक उनके साथ सहयोग कर सकूँगा। क्या मै वर्किंग कमिटी का सदस्य वना रहूँ? उस समय इस उलझन से निकलने का कोई रास्ता ही नही था, और कुछ हफ्तो बाद तो, मेरे जेल चले जाने के कारण, यह प्रश्न अप्रासगिक ही होगया।

घरेलू झगडो मे मेरा वहुत-सा समय खर्च हो जाता था। मेरी माँ का स्वास्थ्य सुधर तो रहा था, मगर बहुत धीरे-धीरे। वह अभी तक रोगशय्या पर पडी थी, पर उनके जीवन को कोई खतरा नही मालूम होता था। मैने अब अपना ध्यान अपने आर्थिक मामलों की ओर फेरा, जिनकी इधर बहुत दिनो से परवा नही की गयी थी और जो वडी गडवड मे पड गये थे। हम लोग अपने वूते से ज्यादा खर्च कर रहे थे और खर्च कम करने की जाहिरा तौर पर कोई तरकीव ही नजर नही आती थी। मुझे घर का खर्च चलाने की तो कोई खास फिक्र न थी। मै तो करीव-करीव उस वक़्त के इन्तजार मे था जव मेरे पास कुछ भी न वचता। वर्तमान ससार मे धन और सम्पत्ति वडी उपयोगी चीज़े है, लेकिन जिस मनुष्य को लम्वी यात्रा पर जाना हो उसके लिए तो ये अक्सर भार-रूप वन जाती है। धनवान आदमियों के लिए ऐसे कामो मे हाथ डालना वहुत कठिन हो जाता है जिनमे कुछ खतरा हो, उनको सदा अपने धन-दौलत के चले जाने का भय रहता है। लेकिन धन-सम्पत्ति किस काम की, अगर सरकार अपनी मर्ज़ी के मुताविक उसपर अधिकार कर सकती हो या उसे ज़ब्त कर सकती हो? इसलिए जो थोडा-वहुत मेरे पास था उससे भी छुटकारा पाना चाहता था। हमारी आवश्कताये वहुत थोडी थी और मुझे ज़रूरत के मुताविक कमा लेने की अपनी शक्ति मे विश्वास था। मुझे सवसे वड़ी चिन्ता यह थी कि मेरी माताजी को उनके जीवन के इन अतिम दिनो मे तकलीफ न उठानी पडे या उनके रहन-सहन के ढग मे कोई खास कमी न आने

पावे। मुझे यह भी फ़िक्र थी कि मेरी लड़की की शिक्षा में कोई बाधा न पड़े, जिसके लिए मैं उसका यूरप में रहना आवश्यक समझता था। इन सबके अलावा मुझे या मेरी पत्नी को रुपये की कमी महसूस करनी पड़ी तो मुझे निश्चय है कि हमें दुःख ही होगा। एक ख़र्चीली आदत जिसका छोड़ना मेरे लिए मुश्किल होगा, वह है किताबें ख़रीदना।

उस वक्त की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए हमने यह निश्चय किया कि मेरी पत्नी के जवाहरात, हमारी सोने-चाँदी की चीज़ें और छोटा-मोटा गाड़ियाँ सामान बेच दिया जाय। कमला को अपने ज़ेवर बेचने का ख़याल पसन्द नहीं आया, हालाँकि करीब १२ साल से उसने उन्हें नहीं पहना था और वे बैंक में पड़े हुए थे। लेकिन वह किसी दिन उनको अपनी लड़की को देने का विचार करती थी।

१९३४ का जनवरी महीना था। इलाहाबाद ज़िले के गाँवों में हमारे कार्यकर्ता कोई ग़ैर-क़ानूनी कार्रवाइयाँ नहीं कर रहे थे, फिर भी उनकी लगातार गिरफ़्तारियाँ हो रही थीं। इन गिरफ़्तारियों का तक़ाज़ा था कि हम लोग उनका अनुकरण करें और उन गाँवों में जायँ। युक्त-प्रांतीय कांग्रेस कमिटी के हमारे महान् प्रभावशाली मंत्री रफ़ी अहमद क़िदवई भी गिरफ़्तार हो चुके थे। २६ जनवरी का स्वतन्त्रता-दिवस नज़दीक आ रहा था। उसे दरगुज़र नहीं किया जासकता था। १९३० से यह दिवस हर साल, देश के कोने-कोने में, आर्डिनेन्सों और पाबन्दियों के बावजूद, नियमित रूप से मनाया जा रहा था। लेकिन अब इसका अगुआ कौन बनता? किस तरह से इसे आगे बढ़ाया जाता? मेरे सिवा आल इंडिया कांग्रेस कमिटी के किसी पदाधिकारी का सिद्धान्त-रूप से कोई भी अस्तित्व न था। मैंने कुछ मित्रों से सलाह की तो करीब-करीब सब इस बात पर सहमत हुए कि कुछ करना चाहिए, लेकिन यह 'कुछ' क्या होना चाहिए, इसपर कोई राय क़ायम न हो सकी। मुझे आम तौर पर लोगों में ऐसे कामों से दूर रहने की प्रवृत्ति नज़र आयी कि जिनके फल-स्वरूप बहुत-से लोग पकड़े जा सकते थे। आख़िरकार मैंने स्वतन्त्रता-दिवस को उचित प्रकार से मानने की एक छोटी-सी अपील निकाली, पर

उसे मनाने का ढग हर जगह के लोग के निश्चय पर छोड दिया। इलाहाबाद में हमने सारे ज़िले मे काफी विस्तार के साथ मनाने की योजना तैयार की ।

हमारा खयाल था कि इस स्वतन्त्रता-दिवस के सयोजक उसी दिन गिरफ्तार हो जायँगे। लेकिन मै दुबारा जेल जाने से पहले बगाल का एक दौरा करना चाहता था। इसका कुछ-कुछ उद्देश्य तो पुराने साथियो से मिलना था, पर असल मे यह बगालियों के प्रति, उनकी गत वर्षो की असाधारण मुसीबतो के लिए श्रद्धाञ्जलि थी। मै भली-भाँति जानता था कि मै उनकी कुछ भी सहायता नही कर सकता था। सहानुभूति और भाईचारा किसी मर्ज की दवा नही थे, मगर फिर भी इसका स्वागत ही किया गया था—और खासकर बगाल तो उस समय एक जुदापन-सा महसूस कर रहा था। और इस बात से दुखी हो रहा था कि ज़रूरत के वक्त बाकी हिन्दुस्तान ने उसे छोड दिया। यह भावना न्यायोचित तो नही थी, पर फिर भी यह थी।

मुझे कमला के साथ कलकत्ता इसलिए भी जाना था कि अपने डाक्टरो से उसकी बीमारी के बारे मे सलाह लूँ। उसका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, पर हम दोनों ने कुछ हदतक इसे दरगुज़र करने की और ऐसे इलाज को टालने की कोशिश की, जिसके कारण हमको कलकत्ते मे या किसी और जगह बहुत दिनों तक ठहरना पडे। जेल से मेरे बाहर रहने के थोडे समय मे हम दोनों यथासभव एक साथ ही रहना चाहते थे। मैंने सोचा था कि जब मै जेल चला जाऊँगा तो इसको डाक्टरो और इलाज के लिए चाहे जितना समय मिल जायगा। अब चूँकि गिरफ्तारी नजदीक नजर आरही थी, इसलिए मैंने इरादा किया कि यह सलाह-मशविरा कलकत्ते मे कम-से-कम मेरी मौजूदगी में हो जाय, बाकी बाते तो बाद मे भी तय की जा सकती थीं।

इसलिए हम दोनो ने—कमला ने और मैंने—१५ जनवरी को कलकत्ते जाने का निश्चय कर लिया। स्वतत्रता-दिवस की सभाओं से पहले ही हम लौट आना चाहते थे।

: ५८ :

भूकम्प

१५ जनवरी १९३४ का तीसरा पहर था। इलाहाबाद मे अपने मकान के बरामदे मे खडा किसानो के एक गिरोह को मैं कुछ बाते बतला रहा था। माघ मेला आरम्भ होगया था और सारे दिन हमारे यहाँ मिलने-जुलनेवालो का ताँता लगा रहता था। यकायक मेरे पैर लडखडाने लगे और सम्हालना मुश्किल होगया। मैंने पास के एक खम्भे का सहारा ले लिया। दरवाजो के किवाड भडभडाने लगे और बराबर के स्वराज-भवन से, जिसके खपरे छत से नीचे खिसक रहे थे, एक गड-गडाहट की आवाज आने लगी। मुझे भूकम्पो का कुछ अनुभव नही था। इसलिए पहले तो मैं यह न समझ सका कि क्या होरहा है, लेकिन मैंने जल्दी ही जान लिया। इस अनोखे अनुभव से मुझे कुछ विनोद और दिलचस्पी हुई। मैंने किसानो से बातचीत जारी रक्खी और उन्हे भूचालो के बारे में बतलाने लगा। मेरी बूढी मौसी ने कुछ दूर से चिल्लाकर मुझे मकान के बाहर दौड आने के लिए कहा। यह विचार मुझे बिलकुल बेहूदा मालूम हुआ। मैंने भूकम्प को कोई गम्भीर बात नही समझा, और कुछ भी हो, मैं ऊपर की मजिल मे अपनी माता को खाट पर पडी हुई, और वही अपनी पत्नी को, जो शायद सामान बाँध रही थी, छोड जाने और अपनी रक्षा का इन्तजाम करने के लिए कभी तैयार न था। ऐसा अनुभव हुआ कि भूचाल के धक्के काफी देर तक जारी रहे और बाद में बन्द होगये। उन्होने चन्द मिनटो की बातचीत के लिए मसाला पैदा कर दिया और लोग उन्हे जल्दी ही करीब-करीब भूल-से गये। उस वक्त हम नही जानते थे, और न इसका अन्दाज ही कर सकते थे, कि ये दो-तीन मिनट बिहार और अन्य स्थानो के लाखों आदमियो के लिए कितने घातक साबित हुए होगे।

उसी शाम को कमला और मैं कलकत्ते के लिए रवाना हो गये और

हम, बिलकुल बेखबर, अपनी गाड़ी मे बैठे हुए उसी रात को भूकम्प-प्रदेश के दक्षिण हिस्से मे होकर गुजरे। अगले दिन भी कलकत्ते मे भूकम्प के किये हुए घोर अनर्थ के बारे मे कोई खबर नही थी। दूसरे दिन इधर-उधर से समाचार आने शुरू हुए। तीसरे दिन हमको इस वज्रपात का कुछ-कुछ आभास होने लगा।

हम अपने कलकत्ते के प्रोग्राम मे लग गये। कई डाक्टरो से वारवार मिलना पडा और अन्त मे यह निश्चित हुआ कि एक-दो महीने वाद कमला फिर कलकत्ते आकर इलाज कराये। इसके अलावा वहुत-से मित्र और सहयोगी भी थे जिनसे हम वहुत अर्से से नही मिले थे। चारो तरफ दमन के कारण लोगो के दिलों मे जो डर बैठ गया था उसका, जव तक मैं वहाँ रहा, मुझे काफी अनुभव हुआ। लोग किसी तरह का भी काम करने से डरते थे, कि कही उनपर आफत न आजाय, वे वहुत आफते झेल चुके थे। वहाँके अखवार भी अन्य प्रान्तो के अखवारो से अधिक फूँक-फूँककर पैर रखते थे। भविष्य के कार्य के विषय मे भी वैसी ही शका और उलझने थी,\ जैसी हिन्दुस्तान के अन्य भागो मे। वास्तव मे यह शका ही थी, भय उतना नही, जो सव प्रकार के प्रभावोत्पादक राजनैतिक कार्यों मे वाधा डाल रही थी। फासिस्ट प्रवृत्तियाँ वहुत जोरो से उदय हो रही थी, और सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट प्रवृत्तियाँ कुछ-कुछ ऐसे अस्पष्ट रूप मे और आपस मे इतनी घुली-मिली-सी सामने आ रही थी कि इन गिरोहो मे भेद-निर्णय करना कठिन था। आतकवादी आन्दोलन के वारे मे, जिसकी तरफ सरकारी हलकों का वहुत ज्यादा ध्यान खिचा हुआ था और जिसके सम्वन्ध मे उसकी ओर से खूव विज्ञापन किया जारहा था, ज्यादा पता लगाने की न तो मुझे फुरसत थी और न कोई मौका ही। जहाँतक मुझे मालूम हुआ, इसमे कोई राजनैतिक महत्ता नही रह गयी थी और न आतकवादी दल के पुराने सदस्यों की इसमे कुछ श्रद्धा थी। उनकी विचार-धारा ही वदल गयी थी। सरकारी कार्रवाई के विरुद्ध उत्पन्न रोप ने कुछ इक्के-दुक्के व्यक्तियो का सयम छुडा दिया था और उससे वदला लेने के लिए उकसा

दिया था। दरअसल दोनो तरफ वदला लेने का यह भाव वहुत प्रवल मालूम होता था। व्यक्तिगत आतकवादियो की तरफ से तो यह काफी स्पष्ट था। सरकार की तरफ से भी यही रुख ज्यादातर प्रकट होरहा था कि कभी-कभी वदला ले-लेकर, लडाई जारी रक्खी जाय, वजाय इसके कि शान्ति के साथ समाज के लिए एक अनिष्टकर घटना का मुकाविला करके उसे रोका जाय। आतकवादी कार्यों से सावका पडने पर कोई भी सरकार उनका मुकाविला किये विना और उनको दवाने की कोशिश किये विना नही रह सकती। लेकिन शान्ति और गम्भीरता के साथ नियन्त्रण करना सरकार के लिए अधिक गौरव की वात है, वनिस्वत ऐसे अत्याचारो के जो अपराधियो और निरपराधो पर अन्धा-धुन्धी से किये जायँ—खासकर निरपराधो पर, क्योकि इनकी सख्या जरूर ही वहुत ज्यादा होती है। शायद ऐसे खतरे के समय मे गम्भीर और धीर रहना आसान नही है। आतकवादी घटनाये वहुत कम होती जा रही थी, लेकिन उनकी सम्भावना सदा वनी रहती थी; और यह वात उन लोगो के धैर्य को डावाँडोल करने के लिए काफी थी जिनपर व्यवस्था का भार था। यह विलकुल स्पष्ट है कि ये घटनाये खुद कोई वीमारी नही है, वल्कि वीमारी का एक लक्षण है। जो रोग है उसका इलाज न करके लक्षणो का उपचार करना विलकुल वेकार है।

मेरा विश्वास है कि वहुत-से नवयवक और नवयुवतियाँ, जिनका आतकवादियों से सम्वन्ध माना जाता है, दरअसल गुप्त कार्य की मोह-कता से आकर्षित हो जाते है। साहसी नवयुवको का गुप्त मन्त्रणा और खतरे की तरफ हमेशा झुकाव हो जाता है, उनकी इच्छा जानकार वनने की रहती है, वे पता लगाना चाहते है कि यह सव हल्ला-गुल्ला किस लिए है और इन मामलो की तह में कौन-कौन लोग है ? दुनिया मे कुछ अद्भुत और साहसपूर्ण कार्य कर दिखाने की महत्त्वाकाक्षा का यह तकाजा है। इन लोगों की कुछ करने-धरने की इच्छा नही होती—आतकवादी कार्य करनें की तो किसी हालत में भी नही,—लेकिन इनका उन लोगों से, जिनपर पुलिस की सन्देह-दृष्टि है, सिर्फ मिलना-

जुलना ही इनको भी पुलिस का सन्देहपात्र वना देने के लिए काफी होता है। अगर इनकी किस्मत मे कुछ ज्यादा बुराई न लिखी हो तो भी इसकी तो सम्भावना रहती ही है कि ये लोग वहुत जल्दी नज़र-वन्दो की जमात मे या नज़रवन्दो की किसी जेल मे धर दिये जाये।

यह कहा जाता है कि न्याय और व्यवस्था भारत मे ब्रिटिश-राज्य की गौरवपूर्ण सफलताओ मे गिने जाते है। मै खुद भी सहज-स्वभाव से उनका समर्थक हूँ। मुझे जीवन मे अनुशासन पसद है और अराजकता, अशान्ति और अयोग्यता नापसद। लेकिन कडुवे अनुभव ने ऐसे न्याय और व्यवस्था की उपयोगिता के विपय मे मेरे हृदय मे शका पैदा करदी है जिनको राज्य और सरकारे जनता पर ज़वरन लाद देती है। कभी-कभी उनके लिए आवश्यकता से अधिक मूल्य चुकाना पडता है, और न्याय तो केवल प्रवल राजनैतिक दल की इच्छा होती है और व्यवस्था एक सर्वव्यापी आतक का प्रतिविम्व। कभी-कभी तो, जो चीज न्याय और व्यवस्था कही जाती है, दरअसल, उसे न्याय और व्यवस्था का अभाव कहना ज्यादा ठीक मालूम होता है। कोई सफलता, जो चारो ओर छाये हुए आतक पर निर्भर रहती है, कभी वाञ्छनीय नही हो सकती, और ऐसी 'व्यवस्था' जिसका आधार राज्य का वल-प्रयोग हो और जो इसके विना जीवित ही न रह सके, अधिकतर फौजी शासन के समान है, कानूनी शासन नही। कल्हण कवि के हज़ार वर्ष पुराने 'राजतरगिणी' नामक कश्मीर के ऐतिहासिक महाकाव्य मे न्याय और व्यवस्था के लिए जो शब्द वारवार प्रयुक्त हुए है और जिनकी स्थापना शासक और राज्य का कर्त्तव्य था, वे है 'धर्म' और 'अभय'। न्याय सिर्फ कानून से कुछ वेह्तर चीज़ थी और व्यवस्था लोगो की निर्भयता थी। आतकित जनता पर 'व्यवस्था' लादने की वनिस्वत उसे निर्भयता सिखलाने की यह भावना अधिक ज़रूरी है।

हम साढे तीन दिन कलकत्ता ठहरे और इस अर्से में मैने तीन सार्व-जनिक सभाओ मे भाषण दिये। जैसा कि मैने पहले कलकत्ते मे किया था, मैने (इस वार भी) आतकवादी कार्यो की निन्दा की और उनकी

हानियाँ बतलायी, और इसके बाद मैं उन तरीको पर भी बोला जो सरकार ने बगाल मे अख्तियार किये थे। मैं काफी जोश के साथ बोला, क्योंकि इस प्रान्त की घटनाओं के विवरणो से मैं बहुत अधीर हो गया था। जिस बात ने मुझे सबसे अधिक चोट पहुँचायी वह थी वह तरीका जिसके जरिये सारी जनता का अन्धाधुन्ध दमनकर मानव-सम्मान पर बलात्कार किया गया था। इस मानवता के प्रश्न के आगे राजनैतिक प्रश्न ने, अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी, गौण स्थान प्राप्त कर लिया था। बाद मे, कलकत्ते मे मुझपर जो मुकदमा चला उसमे मेरे यही तीनों भाषण मेरे विरुद्ध तीन आरोप बनाये गये और मेरी यह पिछली सजा इन्हीका परिणाम है।

कलकत्ते से हम कवीन्द्र रवीद्रनाथ ठाकुर से भेंट करने के लिए शान्तिनिकेतन पहुँचे। कवि से मिलना हमेशा आनन्ददायक था। इतने नजदीक आकर हम उनसे बिना मिले कैसे जासकते थे? मैं तो पहले दो बार शान्तिनिकेतन हो आया था, लेकिन कमला का यह पहली बार जाना था, और वह इस स्थान को देखने खासतौर पर आयी थी, क्योंकि हम अपनी बेटी को वहाँ भेजना चाहते थे। इन्दिरा कुछ ही दिनों बाद मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा देनेवाली थी और उसकी आगे की शिक्षा का प्रश्न हमे परेशान कर रहा था। मै इसके बिलकुल खिलाफ था कि वह सरकारी या अर्ध-सरकारी यूनिवर्सिटियो मे दाखिल हो, क्योंकि मै उन्हे नापसन्द करता था। इनके चारो ओर का वातावरण सरकारी, गलाघोंटू और हुकूमतपरस्ती का होता है। बेशक, इनमे से पहले भी ऊँचे दर्जे के पुरुष और स्त्रियाँ निकली है और आगे भी निकलते रहेगी। पर ये थोडे से अपवाद यूनिवर्सिटियों को नौजवानो की उदात्त प्रवृत्तियो को दबाने और मृतप्राय बनाने के आरोप से नही बचा सकते। शान्तिनिकेतन ही एक ऐसी जगह थी जहाँ इस घातक वातावरण से बचा जा सकता था। इसलिए हमने वही उसे भेजने का निश्चय किया, हालाँकि कुछ बातो मे वह दूसरी यूनिवर्सिटियो की तरह बिलकुल अप टू डेट और सब तरह के साधनो से पूर्ण नही थी।

लौटते हुए, हम राजेन्द्र बाबू के साथ भूकम्प-पीडितो की सहायता के प्रश्न पर विचार करने के लिए पटना ठहरे। वह अभी जेल से छूटकर आये ही थे और लाज़िमी तौर पर उन्होने पीडितों की सहायता के गैर-सरकारी काम मे सबसे आगे कदम रक्खा। हमारा यहाँ पहुँचना बिलकुल अकस्मात् ही हुआ, क्योकि हमारा कोई भी तार उन्हे नही मिला था। कमला के भाई के जिस मकान मे हम ठहरना चाहते थे वह खडहर हो गया था, पहले वह ईटो की एक बडी भारी दुमज़िला इमारत थी। इसलिए और बहुत से लोगो की तरह हम भी खुले मे ही ठहरे।

दूसरे दिन मै मुजफ्फरपुर गया। भूकम्प हुए पूरे सात दिन होचुके थे, पर अभीतक सिवाय कुछ खास रास्तो के, कही भी मलबा उठाने के लिए कुछ भी नही किया गया था। इन रास्तो को साफ करते वक्त बहुत-सी लाशे निकली थी। इनमे कुछ तो विचित्र भाव-प्रदर्शक अवस्थाओ मे थी, जैसे किसी गिरती हुई दीवार या छत से बचने की कोशिश कर रही हो। इमारतो के खडहरो का दृश्य बडा मार्मिक और रोमाचकारी था। जो लोग बच गये थे, वे अपने दिल दहलानेवाले अनुभवो के कारण बिलकुल घबराये हुए और भयभीत हो रहे थे।

इलाहाबाद लौटते ही धन और सामान इकट्ठा करने के काम का फ़ौरन प्रबन्ध किया गया और सब लोग, जो कांग्रेस मे थे वे भी, और जो नही थे वे भी, मुस्तैदी के साथ इसमे जुट गये। मेरे कुछ सहयोगियो की यह राय हुई कि भूकम्प के कारण स्वतन्त्रता-दिवस के जलसे रोक दिये जायँ। लेकिन दूसरे साथियो को, और मुझे भी कोई कारण नही नज़र आता था कि भूकम्प से भी हमारे प्रोग्राम मे क्यो खलल पडे? बहुत-से लोगो का ख़याल था कि शायद पुलिस दस्तन्दाज़ी और गिरफ्तारियाँ कर बैठे और उसकी तरफ से कुछ मामूली दस्तन्दाज़ी हुई भी। मगर मीटिंग कर चुकने के बाद जब हम लोग बच गये तो हमें बहुत ताज्जुब हुआ। हमारे यहाँ के कुछ गाँवों मे और कुछ दूसरे शहरो में गिरफ्तारियाँ हुई।

बिहार से लौटने के कुछ ही दिन बाद मैने भूकम्प के सम्बन्ध मे

एक वक्तव्य निकाला, जिसके अन्त मे धन के लिए अपील की गयी थी। इस वक्तव्य मे मैने विहार-सरकार की उस अकर्मण्यता की आलोचना की, जो भूकम्प के वाद शुरू के कुछ दिनों तक उसने वतायी थी। मेरा इरादा भूकम्प-पीडित इलाको के अफसरो की आलोचना करने का नही था, क्योंकि उनको तो एक ऐसी महाविकट परिस्थिति का सामना करना पडा था जिससे वडे-से-वडे दिलेरो के भी दिल दहल जाते और मुझे इसका अफसोस हुआ कि मेरे कुछ शब्दो से ऐसा आशय निकाला जा सकता था—लेकिन मैने यह तो जरूर वडे जोरो से महसूस किया कि शुरू मे विहार-सरकार के प्रमुख अधिकारियों ने कुछ ज्यादा कारगुजारी नही दिखलायी, खासकर मलवा हटाने मे, जिससे वहुत-सी जानें वच जाती। खाली मुगेर शहर मे ही हजारो की जानें गयी, और तीन हफ्ते वाद भी मैने देखा कि मलवे का पहाड-का-पहाड ज्यों-का-त्यो पडा था, हालाँकि कुछ ही मील दूर जमाल्पुर मे हजारो रेलवे-कर्मचारी वसे हुए थे, जिनको भूकम्प के पीछे कुछ ही घण्टो मे इस काम में लगाया जासकता था। भूकम्प के वारह दिन वाद तक भी जिन्दा आदमी खोदकर निकाले गये थे। सरकार ने सम्पत्ति की रक्षा का तो फौरन इन्तजाम कर दिया था, लेकिन जो लोग दवे पडे थे उनकी जान वचाने मे उसने सरगर्मी नही दिखायी। इन इलाको मे म्यूनिसि-पैलिटियाँ तो रही ही नही थी।

मैं समझता हूँ कि मेरी आलोचना न्यायोचित थी और वाद मे मुझे पता लगा कि भूकम्प-पीडित इलाको के ज्यादातर लोग मुझसे सहमत थे। लेकिन न्यायोचित हो या न हो, वह सच्चे हृदय से की गयी थी, और सरकार पर दोषारोपण करने की नीयत से नही वल्कि उसको तेजी से काम करने के लिए प्रेरित करने की नीयत से की गयी थी। इस वारे मे किसीने भी सरकार पर यह दोष नही लगाया कि उसने जान-वूझकर कोई गलत कार्रवाई की या कोई कार्रवाई करने मे आनाकानी की। यह तो एक अजीव और निराश कर देनेवाली परिस्थिति थी और इसमे होनेवाली भूले क्षम्य थी। जहाँतक मुझे मालूम है (क्योंकि मै जेल

मे हूँ), बिहार सरकार ने बाद मे भूकम्प से हुई क्षति को पूरा करने के लिए बडी तेजी और मुस्तैदी से काम किया ।

लेकिन मेरी आलोचना से लोग नाराज़ हुए, और तुरन्त कुछ ही दिनो बाद बिहार के कुछ लोगो ने मेरी आलोचना के तुर्की-ब-तुर्की जवाब के तौर पर सरकार की प्रशसा करते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित किया। भूकम्प और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सरकारी कर्त्तव्य करीब-करीब दूसरे दर्जे की बात बना दी गयी। यह बात ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी कि सरकार की आलोचना की गयी, इसलिए राजभक्त रिआया को उसके पक्ष का समर्थन करना ही चाहिए। हिन्दुस्तान मे फैले हुए उस रवैये का यह एक मजेदार नमूना था जो सरकार की आलोचना को—पश्चिमी देशो मे जो एक बहुत मामूली चीज समझी जाती है—पसन्द नही करता। यह फौजी मनोवृत्ति है जो आलोचना को सहन नही कर सकती। सम्राट् की तरह भारत की ब्रिटिश सरकार और उसके ऊंचे हाकिम-हुक्काम कोई गलती नही कर सकते ! ऐसी किसी बात का इशारा भी करना घोर राजद्रोह है !

इसमे विचित्रता यह है कि शासन मे असफलता और अयोग्यता का आरोप बनिस्बत कठोर शासन या निर्दयता का दोष लगाने के बहुत ज्यादा बुरा समझा जाता है,। निर्दयता का दोष लगानेवाला, बहुत मुमकिन है, जेल मे डाल दिया जाय, मगर सरकार इसकी आदी होगयी है और असल मे इसकी परवा भी नही करती। आखिर, एक तरह से, प्रभुता-प्राप्त जाति के लिए यह करीब-करीब एक वाहवाही की बात समझी जा सकती है। लेकिन नालायक और कमजोर कहा जाना उनके आत्म-सम्मान की जड पर कुठाराघात करता है, इससे हिन्दुस्तान के अग्रेज़ हाकिमो की अपने-आपको उद्धारक समझने की धारणा पर प्रहार होता है। ये लोग उस अग्रेज़ पादरी की तरह है जो ईसाई-धर्म के विरुद्ध आचरण के आरोप को तो चुपचाप बरदाश्त करने के लिए तैयार हो जाता है लेकिन अगर उसे कोई बेवकूफ या नालायक कहे तो वह गुस्सा होकर मारने को दौडता है।

अंग्रेज़ लोगो में एक आम विश्वास फैला हुआ है, जो अक्सर इस तरह बयान किया जाता है मानो कोई अकाट्य सिद्धान्त हो, कि अगर हिन्दुस्तान के शासन में कोई ऐसी तबदीली हो जाय जिससे ब्रिटिश-प्रभाव कम हो जाय या निकल जाय, तो यहाँ का शासन और भी ज्यादा खराब और निकम्मा हो जायगा। इस विश्वास को रखते हुए भी, लेकिन अपने जोश मे उदारता का भाव रखनेवाले, उग्रमतवादी और उन्नतिशील विचारो वाले अंग्रेज़ यह कहते है कि सु-राज स्व-राज का स्थानापन्न नही हो सकता, और अगर हिन्दुस्तानी लोग गड्ढे मे गिरना ही चाहते है तो उनको गिरने दिया जाय। मै नही जानता कि ब्रिटिश-प्रभाव के निकल जाने पर हिन्दुस्तान की क्या हालत होगी। यह बात इस पर बहुत कुछ निर्भर है कि अंग्रेज़ लोग किस तरह से निकलकर जायँ और और उस समय भारत मे किसका अधिकार हो; इसके अलावा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कई विचारणीय बाते और भी है।

हाँ, अंग्रेज़ो की सहायता से स्थापित ऐसी अवस्था की मै अच्छी तरह कल्पना कर सकता हूँ जो वर्तमान मे सम्भव होनेवाली किसी हालत से कहीं बदतर और ज्यादा निकम्मी होगी, क्योंकि उसमे मौजूदा प्रणाली के दोष तो सब होगे और गुण एक भी नही। इससे भी ज्यादा आसानी से मै उस दूसरी अवस्था की कल्पना कर सकता हूँ जो, भारतवासियो के दृष्टिकोण से, किसी भी ऐसी अवस्था से अधिक योग्य और लाभकारी होगी जिसकी हमे आज मिलने की सम्भावना हो सकती है। यह मुमकिन है कि राज्य की बल-प्रयोग करने की मशीन इतनी कारआमद न हो और शासन-विधान इतना भडकदार न हो, लेकिन पैदावार, खपत और जनता के शारीरिक, आध्यात्मिक और सास्कृतिक आदर्श को ऊँचा उठानेवाले कार्य अधिक योग्यता से होगे। मेरा विश्वास है कि स्वराज्य किसी भी देश के लिए लाभकारी है। लेकिन मै स्वराज तक को वास्तविक सु-राज देकर लेने के लिए तैयार नही हूँ। स्वराज अपने-आपको न्यायोचित तभी कह सकता है जब उसका ध्येय वास्तव मे जनता के लिए सु-राज हो। चूँकि मेरा विश्वास है कि भारत में ब्रिटिश सरकार, भूतकाल मे उसका

दावा चाहे जो कुछ रहा हो, आज जनता के लिए सु-राज या उन्नत आदर्श प्रदान करने के बिलकुल अयोग्य है, इसलिए मै महसूस करता हूँ कि भारत मे उसकी उपयोगिता जो कुछ थी वह नष्ट हो चुकी है। भारत की स्वतन्त्रता का सच्चा औचित्य इसीमे है कि उसे सु-राज मिले, उसकी जनता की स्थिति ऊँची हो, उसकी औद्योगिक और सास्कृतिक प्रगति हो और भय और दमन का वह वातावरण दूर हो जाय जो विदेशी साम्राज्यवादी शासन का अनिवार्य परिणाम है। ब्रिटिश सरकार और इडियन सिविल सर्विस भारत मे मनमानी करने की ताकत भले ही रखते हो, पर वे भारत के तात्कालिक प्रश्नों को हल करने के विलकुल अयोग्य और निकम्मे है, भविष्य के प्रश्नो के लिए तो और भी ज्यादा। क्योंकि इनके मूल सिद्धान्त और धारणाये विलकुल गलत है और वास्तविकता से उनका सम्बन्ध टूट चुका है। कोई सरकार या शासक-वर्ग जो पूर्णतया योग्य नही है या जो पतनशील समाज-व्यवस्था का प्रतिनिधि है, ज्यादा दिनों तक मनमानी नही कर सकता।

इलाहाबाद की भूकम्प-सहायता-कमिटी ने मुझे भूकम्प-पीडित इलाको मे जाने के लिए और वहाँ भूकम्प-पीडितो की सहायता के लिए जो ढग अख्तियार किया गया था, उसकी रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। मै फौरन अकेला ही चल पडा और दस दिन तक उन फटे हुए और नष्ट-भ्रष्ट इलाको मे घूमा।

इस दौरे मे बडी मेहनत करनी पडी और इन दिनो मुझे सोने को बहुत कम मिला। सुबह के पाँच बजे से लगभग आधी रात तक हम लोग चलते ही रहते थे—कभी दरारोंवाली टूटी-फूटी सडको पर मोटर मे जारहे है, तो कभी छोटी-छोटी डोगियो के द्वारा ऐसे स्थानो मे उतर रहे है जहाँ पुल गिरे पडे थे या जहाँ जमीन की सतह मे फर्क जाने से सडके पानी मे डूब गयी थी। शहरो मे ढेर-के-ढेर खडहरो और टूटी हुई, या मानो किसी दैत्य के द्वारा मरोडी हुई, या दोनो ओर के मकानो की कुर्सी से ऊपर उठी हुई सडको का दृश्य बडा हृदयस्पर्शी था। इन सडको की बडी-बडी दरारो मे से पानी और बालू-रेत ने फूट-फूटकर

मनुष्यो और जानवरो को वहा दिया था। इन शहरो से भी ज्यादा उत्तर विहार के मैदानो पर—जिनको विहार का वाग कहा जाता था—उजाड और विनाश की छाप लगी हुई थी। मीलो तक फैली हुई वालू-रेत, पानी के वडे-वडे तालाव और विशालकाय दरारे और असख्य छोटे-छोटे ज्वालामुखी के-मे मुहँ वन गये थे जिनमें से यह वालू-रेत और पानी निकला था। इस इलाके के ऊपर हवाई-जहाज मे वैठकर उडनेवाले कुछ अग्रेज अफसरो ने कहा था कि यह कुछ-कुछ लडाई के जमाने के और उसके कुछ वाद के उत्तरी फ्रान्स के युद्धक्षेत्र से मिलता-जुलता था।

यह एक वडा भयानक अनुभव हुआ होगा। भूकम्प जोरदार, इधर-उधर दोनो ओर की गति से, शुरू हुआ, जिससे खडे हुए मनुष्य गिर पडे। इसके वाद ऊपर-नीचे की गतियाँ हुई और एक ऐसी गडगडाहट करती और गूँजती हुई भयकर आवाज हुई जैसे तोपे चल रही हो या आकाश मे सैकडो हवाई जहाज उड रहे हों। अनगिनती स्थानो पर वडी-वडी दरारो और गड्ढो मे से पानी फूट निकला और उसकी धारे दस-वारह फुट तक ऊँची उछली। यह सव शायद तीन या चार मिनट रहकर मिट गया होगा, मगर ये तीन मिनट ही महाभयकर थे। जिन लोगो ने इन घटनाओ को होते हुए देखा, आश्चर्य नही यदि उन्हे यह कल्पना हुई हो कि दुनिया का अन्त आगया। शहरो मे मकानों के गिरनें का शोर था, पानी वडी जोर से वहकर आरहा था और सारे वायुमण्डल में धूल भर गयी थी, जिससे कुछ ही गज आगे की चीजे भी नजर नही आती थी। देहातो मे इतनी धूल नही थी और दूर तक दिखलायी देता था, लेकिन वहाँ कोई शान्ति से देखनेवाले ही नही थे। जो लोग जिन्दा वचे वे भयकर त्रास के कारण जमीन पर लेट गये या इधर-उधर लुढकने लगे।

मेरे खयाल से, मुजफ्फरपुर में एक वारह वरस का लडका भूकम्प के दस दिन वाद खोदकर जीवित निकाला गया। वह वडा चकित था। टूट-टूटकर गिरनेवाले ईंट-चूने ने जव उसे नीचे गिराकर दवा लिया तो उसने कल्पना की कि प्रलय होगया है और अकेला वही जिन्दा वचा है।

मुजफ्फरपुर ही मे ऐन भूकम्प के मौके पर, जबकि मकान गिर रहे थे और चारो तरफ सैकडो आदमी मर रहे थे, एक बच्ची पैदा हुई। उसके अनुभव-हीन माता-पिता को यह न सूझा कि क्या करना चाहिए और पागल-से हो गये। मगर मैंने सुना कि माता और बच्चा दोनो की जानें बच गयी और वे मजे मे थे। भूकम्प की यादगार मे बच्ची का नाम 'कम्पो देवी' रक्खा गया।

हमारे दौरे का आखिरी शहर मुगेर था। हम लोग बहुत घूम चुके और करीब-करीब नेपाल की सीमा तक पहुँच गये थे और हमने अनेक हृदय-विदारक दृश्य देखे थे। हम लोग एक बडे भारी पैमाने पर खडहर और विध्वस देखने के आदी होगये थे। लेकिन फिर भी जब हमने मुगेर को और इस धन-सम्पन्न नगर की अत्यन्त विनाश-पूर्ण हालत को देखा तो उसकी भयकरता से हमारा दम फूलने लगा और हमे कँपकँपी आने लगी। मैं उस महाभयकर दृश्य को कभी नहीं भूल सकता।

भूकम्प के तमाम इलाको में, क्या शहरों और क्या देहात मे, वहाँ के निवासियो म स्वावलम्बन का बडा शोचनीय अभाव नज़र आया। शायद शहरो के मध्यम-वर्ग मे इसका सबसे अधिक अभाव था—वे लोग इस इन्तज़ार मे थे कि कोई सरकारी या गैरसरकारी भूकम्प-सहायक समिति आकर काम करे और उन्हे सहायता दे। जो दूसरे लोग सेवा करने को आगे आये, उन्होंने समझा कि काम करने का अर्थ है लोगो पर हुक्म चलाना। यह निस्सहायता की भावना कुछ तो निस्सन्देह भूकम्प के आतक से पैदा हुई मानसिक दुर्बलता के कारण थी और वह धीरे-धीरे ही कम हुई होगी।

बिहार के दूसरे हिस्सों और दूसरे प्रान्तो मे बडी सख्या से आनेवाले मददगारो का जोश और उनकी कार्यशक्ति इसकी तुलना मे एक बिल्कुल अलग ही चीज़ नज़र आती थी। इन नवयुवकों और नवयुवतियों की, मुस्तैदी के साथ सेवा करने की भावना को देखकर चकित होना पडता था। और हालाँकि अनेक भिन्न-भिन्न सहायक सस्थायें काम कर रही थीं, फिर भी इनमे आपस मे बहुत कुछ सहयोग था।

मुगेर मे खोदना और मलवा हटाने की स्वावलम्वी भावना को वढाने के लिए मैने एक नाटक-सा किया। इसे करने मे मुझे कुछ हिचकिचाहट तो हुई, पर इसका परिणाम वडा सफलतापूर्ण निकला। सहायक सस्थाओ के तमाम अगुआ टोकरियाँ और फावडे ले-लेकर निकले और इन्होने दिनभर खुदाई की और हमने एक लडकी की लाश वाहर निकाली। मै तो उस दिन मुगेर से चला आया, लेकिन खुदाई का काम जारी रहा और वहुत-से स्थानीय व्यक्तियो ने उसे वडी सफलतापूर्वक किया।

जितनी गैर-सरकारी सहायक सस्थायें थी उन सबमे सेन्ट्रल रिलीफ कमिटी, जिसके अध्यक्ष वावू राजेन्द्रप्रसाद थे, सवसे अधिक महत्वपूर्ण थी। यह सर्वथा काग्रेसी सस्था नही थी। शीघ्र ही यह वढकर भिन्न-भिन्न दलो और दानदाताओ के प्रतिनिधि-स्वरूप एक अखिल-भारतीय सस्था वन गयी। इससे सवसे वडा लाभ यह था कि देहात की काग्रेस कमिटियो की सहायता इसे मिल सकती थी। गुजरात और युक्तप्रान्त के कुछ जिलो को छोडकर कहीके काग्रेसी कार्यकर्त्ता किसानो के इतने अधिक सम्पर्क मे नही थे जितने यहॉ के। दरअसल ये कार्यकर्त्ता खुद ही किसान-वर्ग के थे। विहार भारत का सवसे मुख्य कृषक-प्रदेश है और उसके मध्यम-वर्ग तक का किसानो से घनिष्ठ सम्वन्ध है। कभी-कभी, जव मै काग्रेस के मत्री की हैसियत से विहार-प्रान्तीय काग्रेस कमिटी के दफ्तर का निरीक्षण करने जाता था तो मुझे नजर आनेवाले निकम्मेपन और दफ्तर के काम मे ढीलम-ढाल की मै बडे कडे शब्दो मे आलोचना किया करता था। वहाँ खडे रहने के वजाय बैठ जाने की और बैठने की अपेक्षा लेट जाने की प्रवृत्ति थी। दफ्तर भी मेरे अबतक देखे हुए तमाम दफ्तरो मे सवसे अधिक साधनहीन था, क्योकि वे लोग दफ्तर के लिए मामूली तौरपर जरूरी लवाजमे के बिना ही काम चलाने की कोशिश करते थे। लेकिन दफ्तर की आलोचना के वावजूद, मै खूव अच्छी तरह जानता था कि काग्रेस के लिहाज से यह प्रान्त देश के सवसे ज्यादा उत्साही और लगन के साथ काम करनेवाले प्रान्तो मे से था। यहाँ की काग्रेस मे ऊपरी तडक-भडक नही थी, पर सारा कृषक-वर्ग सामूहिक

रूप से उसके पीछे था। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी मे भी बिहार के प्रतिनिधियों ने शायद ही कभी किसी मामले मे उग्र रुख अख्तियार किया हो। वे तो अपने-आपको वहाँ देखकर कुछ ताज्जुब-सा करते थे। लेकिन सविनय-भग के दोनो आन्दोलनों मे बिहार ने बडा शानदार नमूना पेश किया। यहाँतक कि बाद के व्यक्तिगत सविनय-भग के आन्दोलन मे भी उसने अच्छा काम कर दिखलाया।

रिलीफ-कमिटी ने किसानो तक पहुँचने के लिए इस सुन्दर सगठन से लाभ उठाया। देहात मे कोई भी साधन, यहाँतक कि सरकार भी, इतने उपयोगी नही हो सकते थे। और रिलीफ-कमिटी और बिहार काग्रेस कमिटी दोनो के प्रधान थे राजेन्द्र बाबू, जो निर्विवाद रूप से सारे बिहार के नेता थे। देखने मे एक किसान के समान, बिहार देश के सच्चे सुपुत्र राजेन्द्रबाबू का व्यक्तित्व, जबतक कि कोई उनकी तेज और निष्कपट आँखो और गम्भीर मुख-मुद्रा पर गौर न करे, शुरू-शुरू मे देखने पर कुछ प्रभावशाली नही मालूम पडता। वह मुद्रा और वे आँखे भुलाई नही जासकती, क्योकि उनमे होकर सच्चाई आपकी ओर झाँकती है और उनपर आप सदेह कर ही नही सकते। किसान-स्वभाव होने के कारण उनका दृष्टिकोण शायद जरा सीमित है और नयी रोशनी की दृष्टि से देखने पर कुछ सीधे-सादे दीखते है। पर उनकी ज्वलन्त योग्यता उनकी शुद्ध निष्कपटता, उनकी शक्ति, और भारत की स्वतन्त्रता के लिए उनकी लगन, ये ऐसे गुण है जिन्होने उनको अपने ही प्रान्त का नही बल्कि सारे भारत का प्रेम-पात्र बना दिया है। जैसी सर्वमान्य नेतृत्व की स्थिति राजेन्द्रबाबू को बिहार मे प्राप्त है वैसी भारत के किसी भी प्रान्त मे किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नही। उनके सिवा, गाधीजी के वास्तविक सदेश को इतनी पूर्णता से अपनानेवाले, कोई हो भी, तो बिरले ही होगे।

यह बडे सद्भाग्य की बात थी कि राजेन्द्रबाबू जैसे व्यक्ति बिहार मे सहायता के कार्य का नेतृत्व करने के लिए मौजूद थे, और उनमे लोगों की जो श्रद्धा थी उसीका यह परिणाम था कि सारे भारत से विपुल धन-राशि खिची चली आयी। स्वास्थ्य खराब होनें पर भी वह सहायता

के कार्य मे पिल पडे। वह अपनी शक्ति से अधिक काम करने लगे, क्योकि वह सारी कार्रवाइयो का केन्द्र बन गये थे और सलाह के लिए सब उन्हीके पास आते थे।

जब मैं भूकम्प के इलाकों मे दौरा कर रहा था, तब या शायद वहाँ जाने से पहले, मुझे गाधीजी का यह वक्तव्य पढकर बडी चोट लगी कि यह भूकम्प अस्पृश्यता के पाप का दण्ड था। यह वक्तव्य बडी हैरत मे डालनेवाला था। मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उत्तर का स्वागत किया और मै उससे पूर्णतया सहमत भी था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का इसमे अधिक विरोध करनेवाली किसी और चीज की कल्पना करना कठिन है। कदाचित विज्ञान भी आज प्रकृति पर चित्तवृत्तियो और मनोवैज्ञानिक घटनाओ के प्रभाव के विषय मे इस तरह सर्वथा निश्चयात्मक रूप से कोई बात नही कह सकेगा। मानसिक चोट के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति को अजीर्ण या इससे भी अधिक और कोई खराबी का हो सकना भले ही सम्भव हो, लेकिन यह कहना कि किसी मानवी रिवाज या कर्तव्य-हीनता की प्रतिक्रिया पृथ्वी-तल की गति पर पडे, एक हैरत मे डाल देनेवाली बात है। पाप और ईश्वरीय कोप का विचार और ब्रह्माण्ड की घटनाओं मे मनुष्य की सापेक्ष स्थिति, ये ऐसी बाते है जो हमको कई-सौ वर्ष पीछे लेजाती है, जबकि यूरप मे धार्मिक अत्याचारों का बोलबाला था, जिसने वैज्ञानिक कुफ़्र के कारण जोर्डानो ब्रूनो को जलवा डाला तथा कितनी ही डाकिनियो को सूली पर चढा दिया। अठारहवी सदी मे भी, अमेरिका मे बोस्टन के प्रमुख पादरियों ने मासाचुसेट्स के भूकम्पो का कारण बिजली गिरने से रोकने के लिए लगाये गये खम्भों की अपवित्रता बतलाया था।

और अगर भूकम्प ईश्वरी पापो का दण्ड भी हो, तो भी हम यह कैसे मालूम करे कि हमको कौन-से पाप का दण्ड मिल रहा है। क्योकि दुर्भाग्यवश हमे तो बहुत-से पापो का फल भोगना है। हरेक व्यक्ति अपनी-अपनी पसन्द का कारण बता सकता है। शायद हम लोगो को एक विदेशी राजसत्ता कबूल करने का या एक अनुचित सामाजिक प्रणाली

को सहन करने का दड मिला हो। आर्थिक दृष्टि से दरभगा महाराज, जो बडी लम्बी-चौडी जागीरों के मालिक है, भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुकसान उठानेवालो मे से थे। इसलिए हम ऐसा भी कह सकते है कि यह ज़मीदारी प्रथा के विरुद्ध फैसला है। ऐसा कहना ज्यादा ठीक होगा, बनिस्बत यह कहने के कि बिहार के करीब-करीब, बेगुनाह निवासी, दक्षिण भारत के लोगो के अस्पृश्यता के पाप के बदले मे पीडित किये गये। भूकम्प खुद अस्पृश्यता के देश मे ही क्यो नही आया ? या ब्रिटिश सरकार भी तो इस विपत्ति को सविनय-भग के लिए ईश्वरी दण्ड कह सकती है, क्योकि, यदि वास्तव मे देखा जाय तो, उत्तरी बिहार ने, जिसको भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुकसान पहुँचा, आजादी की लडाई मे बडा प्रमुख भाग लिया था।

इस तरह हम अनन्त कल्पनाये कर सकते है। और फिर यह प्रश्न भी तो उठता है कि हम लोग परमात्मा की आज्ञाओं के प्रभाव को अपने मानवीय प्रयत्नों से कम करने की कोशिश करके उसके कार्यों मे क्यों हस्तक्षेप करे ? और हमे इसपर भी ताज्जुब होता है कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यो की कि पहले तो हमको त्रुटियो से पूर्ण बनाया, हमारे चारो ओर जाल और गड्ढे बिछा दिये, हमारे लिए एक कठोर और दु खपूर्ण ससार की रचना करदी— चीता भी बनाया और भेड भी, और फिर हमको सज़ा भी देता है।

"जब तारो ने अपनी झिलमिल किरणे डाली जगती पर,
और गगन-मडल से उतरी बूँदे रिमझिम धरती पर,
देख-देख कृति अपनी कैसे स्मिति ओठो पर ला सकता,
मेष-वत्स रचनेवाला क्या भीषण सिह बना सकता ?"[१]

पटना ठहरने की आखिरी रात को मै बडी रात तक बहुत-से मित्रो और सहयोगियो से बाते करता रहा, जो जुदा-जुदा प्रान्तों से सहायता-कार्य मे अपनी सेवाये देने के लिए आये थे। युक्तप्रान्त के काफी ज्यादा

१. अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

प्रतिनिधि आये थे और हमारे कई छँटेछटाये कार्यकर्त्ता वहाँ थे। हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो हमें वडा हैरान कर रहा था, कि हम लोग किस हद तक अपने-आपको भूकम्प-पीडित की सहायता के काम मे लगावे ? इसका अर्थ यह था कि उस हद तक हम अपने को राजनैतिक कार्य मे अलग हटाले। सहायता का काम वडा कठिन था और ऐसा हम कर नही मकते थे कि जव-जव हमें फुरसत मिले तव तो उसे करें और फुरमत न हो तो न करे। इसमे लग जाने से क्रियात्मक राजनैतिक क्षेत्र मे वहुत दिनो तक गैरहाजिर रहने सभावना थी और राजनैतिक दृष्टि से हमारे प्रान्त पर इसका प्रभाव वुरा पडे विना नही रह सकता था। यद्यपि कांग्रेस में वहुत-से लोग थे, फिर भी करने-धरनेवालो की सख्या तो परिमित ही थी और उनको छुट्टी नही दी जासकती थी। इधर भूकम्प के तकाजे की भी अवहेलना नही की जा सकती थी। अपनी ओर से तो मेरा खाली सहायता के ही काम मे लग जाने का इरादा न था। मैने महमूस किया कि इस कार्य के लिए लोगो की कमी न होगी, अलवत्ता अधिक खतरे के कामो को करनेवाले लोग वहुत थोडे थे।

इसलिए हम वहुत रात तक वातचीत करते रहे। हमने पिछले स्वतन्त्रता-दिवस पर भी विचार किया कि किस प्रकार हमारे कुछ सहयोगी तो उस मौके पर गिरफ्तार कर लिये गये थे पर हम लोग वच गये थे। मैने मजाक में उन लोगो से कहा कि मुझे तो पूरी सुरक्षा के साथ उग्र राजनैतिक कार्य करने के रहस्य का पता लग गया है।

मै ११ फरवरी को, दौरे के कारण विलकुल थका-माँदा, इलाहावाद मे अपने घर पहुँचा। कडी मेहनत के दस दिनो ने मेरी शारीरिक अवस्था वडी भयानक वना दी थी और मेरे कुटुम्व के लोग मेरी शकल देखकर चकित होगये। मैने इलाहावाद रिलीफ-कमिटी के लिए अपने दौरे की रिपोर्ट लिखने की कोशिश की, लेकिन नीद ने मुझे आ-घेरा। अगले २८ घटो में से मैनें कम-से-कम १२ घटे नीद मे विताये।

दूसरे दिन, शाम के वक्त, कमला और मै चाय पीकर वैठे थे और

पुरुषोत्तमदास टडन हमारे पास आये ही थे। हम लोग बरामदे मे खडे हुए थे। इतने मे एक मोटर आयी और पुलिस का एक अफसर उसमे से उतरा। मै फौरन समझ गया कि मेरा वक्त आगया है। मैने उनके पास जाकर कहा—"बहुत दिनों से आपका इन्तज़ार था" वह जरा माफी-सी माँगने लगा और कहने लगा कि कुसूर उसका नही है। वारण्ट कलकत्ता से आया था।

मै पाँच महीने और तेरह दिन बाहर रहा। और अब मै फिर एकान्त और तनहाई मे भेज दिया गया। लेकिन दुख का असली भार मुझपर न था। वह तो हमेशा की तरह औरतों पर ही था—मेरी बीमार माता पर, मेरी पत्नी पर और मेरी बहन पर।

: ५९ :

अलीपुर-जेल

"फेंक यकायक कहाँ दिया है इतनी दूर मुझे लाकर !
कबतक यों टकराना होगा इन अदृष्ट की लहरों पर ?
किधर खीच ले जावेगे अब झोको के ये उलझे तार,
दिखता नही प्रकाश, न जाने कहाँ लगेगी किश्ती पार !"[1]

उसी रात को मै कलकत्ता ले जाया गया। हावड़ा स्टेशन से लाल-बाजार पुलिस-थाने तक मुझे एक बडी काली मोटर-लारी मे बिठाकर लेगये। कलकत्ता-पुलिस के मशहूर हेड-क्वार्टर के बारे मे मैंने बहुत-कुछ पढ रक्खा था। अत मै उस जगह को बडे चाव से देखने लगा। वहाँ अंग्रेज सार्जेण्ट और इन्स्पेक्टर इतनी बडी तादाद मे मौजूद थे, जितने उत्तर-भारत के किसी बडे पुलिस थाने में नही है। वहाँके सिपाही अक्सर सभी बिहार और सयुक्तप्रान्त के पूर्वी ज़िलो के थे। अदालत से जेल या एक जेल से दूसरी जेल जाने के लिए मुझे कई बार जेल की लॉरी मे जाना पडता था और हर दफा इनमे से कई सिपाही लॉरी के भीतर मेरे साथ जाते थे। वे जरूर ही कुछ दु खी मालूम होते थे। उनको यह काम पसन्द न था और स्पष्टत वे मेरे साथ बडी हमदर्दी सी रखते थे। मैंने देखा कि कई बार उनकी आँखो मे आँसू-छलक पडते थे।

मुझे शुरू मे प्रेसिडेन्सी जेल मे रक्खा गया और वहीसे मुझे अपने मुकदमे के लिए चीफ प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट की अदालत में लेजाया जाता था। यह अदालत मेरे लिए एक नया तजुर्बा था। अदालत का कमरा और इमारत साधारण अदालत के-से नही बल्कि एक घिरे हुए किले के जैसे थे। सिवा कुछ अखबारवालों और वहीके वकीलो के बाहर का

---

१. रॉबर्ट ब्राउनिंग की कविता का भावानुवाद।

कोई आदमी उसके आसपास नही फटकने दिया जाता था। पुलिस वहाँ काफी तादाद मे जमा थी। यह सब बन्दोबस्त कोई मेरे लिए नया नही किया गया था, यह तो वहाँका हमेशा का दस्तूर है। अदालत के कमरे मे जाने के लिए मुझे दूसरे कमरे मे होते हुए एक लम्बे रास्ते से जाना पडता था, जिसके ऊपर और दोनो तरफ जालियाँ पडी हुई थी, मानो किसी पिंजडे मे से निकल रहे हो। मुलजिम का कटघरा हाकिम की कुर्सी से कुछ दूर था। कमरा पुलिसवालो और काले कोट और चोगेवाले वकीलो से भरा हुआ था।

मुझे अदालती मुक़दमो से काफी काम पड चुका है। मेरे पहले के कई मुकदमे जेल के भीतर हो चुके है, परन्तु उन सब मौको पर मेरे साथ दोस्त, रिश्तेदार और जान-पहचानवाले रहते थे इस कारण वहाँ का वातावरण मेरे लिए कुछ सरल जान पडता था। पुलिस अधिकतर गौणरूप मे होती थी और वहाँ पिंजडे वगैरा नजर न आते थे। यहाँ तो बात ही दूसरी थी, चारो तरफ अजनबी और बिना जान-पहचान की शकले नज़र आती थी, जिनमे और मुझमे कुछ भी साम्य नही दीखता था। वे लोग मुझे बहुत पसन्द भी नही आये। चोगाधारी वकीलो की जमात मुझे तो देखने मे सुन्दर नही मालूम होती, और खासकर पुलिस की अदालत के वकीलो का नज़ारा तो जरूर ही अप्रिय मालूम होता है। आखिर उस काली जमात मे एक जान-पहचान का वकील निकल तो आया, लेकिन वह भी झुण्ड मे मिलकर कही गायब होगया।

मुकदमा शुरू होने के पहले जब मै बाहर झरोखे मे बैठा रहता था तब भी मुझे अकेलापन और सुनसान मालूम पड़ता था। मेरी नब्ज़ ज़रूर तेज़ हो गयी होगी और मेरा दिल इतना शान्त नही था जैसा पहले के मुकदमो के समय मे रहता था। मुझे तब खयाल आया कि जब इतने मुकदमो और सजाओ का तजुर्बा होते हुए भी मुझ पर परिस्थिति की अजीव प्रक्रिया का असर हुए बिना न रहा तो ऐसी हालत मे नातजुर्बे-क़ार नौजवानो पर परिस्थिति का कितना बड़ा भार पडता होगा?

कटघरे मे मेरा चित्त बहुत-कुछ शान्त मालूम हुआ। हमेशा की

की तरह कोई सफाई पेश नही की गयी, और मैंने अपना एक छोटा-सा बयान पढकर सुना दिया। दूसरे दिन अर्थात् १६ फरवरी को मुझे दो बरस की सजा होगयी और इस तरह मेरी सातवी सजा शुरू हुई।

मेरी साढे पॉच महीने की रिहाई के समय का बाहरी जीवन मुझे संतोषप्रद मालूम हुआ। इस अर्से मे मैं काम मे काफी लगा रहा और कई उपयोगी काम पूरे कर सका। मेरी माता की बीमारी ने पलटा खा लिया था और अब वह खतरे से बच निकली थी। मेरी छोटी बहन कृष्णा की शादी हो चुकी थी, मेरी लडकी की आगे की शिक्षा का सिलसिला ठीक बैठ गया था। मैंने भी अपनी घर-गृहस्थी की और आर्थिक कई मुश्किलो को हल कर लिया और कई घरेलू मामले, जिनको मैं अर्से से भुला रहा था, सुलझा लिये थे। और सार्वजनिक मामलो मे तो, मै जानता था कि उस समय किसी के लिए भी कुछ विशेष कर लेना सहज न था। हाँ, मैंने कांग्रेस की ताकत को मजबूत कर उसका रुख सामाजिक और आर्थिक विचारो के मार्ग की ओर मोडने में जरूर कुछ मदद की। गांधीजी के साथ मेरे पूना का पत्र-व्यवहार और बाद मे अखबारों मे निकले मेरे लेखो ने हालत को कुछ बदल दिया था। साम्प्रदायिक मसले पर भी मेरे लेखो ने कुछ असर ही किया। इसके अलावा, मै दो बरस से ज्यादा अर्से के बाद गांधीजी और दूसरे मित्रों और साथियो से भी मिल लिया और कुछ समय तक काम करने के लिए दिली व दिमागी शक्ति जुटा ली थी।

पर मेरे मन को दुःखी करनेवाली एक घटा तो अब भी बाकी थी और वह थी कमला की बीमारी। मुझे उस वक्त तक उसकी बीमारी की गहराई का अन्दाजा न था, क्योंकि उसकी आदत थी कि जबतक वह चारपाई पकड न लेती तबतक काम में अपनी बीमारी को धकेलती ही रहती। लेकिन मुझे बडी फिक्र थी। इसपर भी मुझे उम्मीद थी कि अब मेरे जेल चले जाने के बाद तो वह मन लगाकर अपना इलाज करायेगी। मेरे बाहर रहने पर वह कुछ-कुछ कठिन था, क्योंकि वह मुझे ज्यादा समय के लिए अकेला छोडने को सहसा तैयार नही होती थी।

लेकिन एक और बात का भी मुझे दु:ख रह गया था। वह यह था कि इलाहाबाद जिले के गाँवो मे मै एक बार भी दौरा न कर सका था। मेरे कई नवयुवक साथी हमारी नीति पर कार्य करते हुए गिरफ्तार हो गये थे। इस कारण उनके बाद गाँवो की खबर न लेना मुझे एक तरह से उनके प्रति बेवफा-सा होना मालूम होता था।

काली मोटर-लॉरी ने मुझे फिर जेल मे पहुँचा दिया। रास्ते मे कई फौजी सिपाही मशीनगनो, फौजी गाडी (आर्मर्ड-कार) वगैरा के साथ मार्च करते हुए मिले। जेल की लॉरी के छोटे सुराखो मे से मैने उनकी ओर देखा। मेरे दिल मे खयाल आया कि फौजी गाडी और टैंक[1] कितने भद्दे होते है। उन्हे देखकर मुझे इतिहास से पूर्वकाल के दानवो, अजगरो इत्यादि का स्मरण हो आया।

मेरा तबादला प्रेसीडेन्सी जेल से अलीपुर सेन्ट्रल जेल मे हो गया और वहाँ मुझे एक दस फुट लम्बी और नौ फुट चौडी छोटी-सी कोठरी दी गयी। इस कोठरी के सामने एक बरामदा और छोटा-सा सहन था। सहन की चहारदीवारी नीची, करीब सात फुट की, थी और उसपर से झाँककर देखने पर मेरे सामने एक अजीब दृश्य दिखायी दिया। सब तरह की बेढगी इमारते, इकमजिली, गोल, चौकोर और अजीब छतोवाली खडी थी। कई तो एक के ऊपर एक नजर आती थी। ऐसा मालूम होता था कि ये सब इमारते बेतरतीब, जमीन का एक-एक कोना-कोना भरने के लिए बनायी गयी थी। यह बनावट मुझे तो किसी घरोदे की भूल-भुलैयाँ या किसी भविष्यवादी की हवाई रचना-सी मालूम होती थी। मुझे बताया गया कि ये इमारते बडे सिलसिले से बनी हुई है, बीच मे एक मीनार है (जो ईसाई कैदियो का गिर्जा है) और उसके चारों तरफ घरों की लाइने है। चूँकि यह जेल शहर मे थी, इस वजह से जमीन बहुत परिमित थी और उसका छोटे-से-छोटा टुकडा भी काम मे लाये बिना छोडा नही जा सकता था।

---

१ सब प्रकार के युद्ध-साधनों से सज्जित जबरदस्त फ़ौलादी मोटर।

मैं अभी शुरुआत के इस भौंडे नजारे को देखकर नजर हटा ही रहा था, कि मुझे एक दूसरा डरावना दृश्य दीख पडा। मेरी कोठरी और सहन के ठीक सामने दो चिमनियाँ खडी दिखाई दी, जिनमे से लगातार गहरा काला धुआँ निकल रहा था, जिसकी हवा कभी-कभी मेरी तरफ आकर मेरा दम घोटने लगती थी। ये जेल के बावर्चीखानों की चिमनियाँ थी। मैंने बाद में जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट से कहा कि इस मुसीबत से मुझे बचाने के वास्ते चिमनियो पर 'गैस मास्क'[1] लगा दें।

यह शुरुआत ही अच्छी न थी और न इसके आइन्दा अच्छा होने की ही उम्मीद थी—वही अलीपुर-जेल की अपरिवर्तनीय लाल ईंटो की इमारतो का दृश्य, और वही बावर्चीखानो की चिमनियो का धुआँ रात-दिन साँस से मुहँ मे जाना. सामने था। मेरे सहन मे पेड या हरियाली कुछ न थी। वह यो तो पत्थरो का पक्का और साफ बना हुआ था, पर रोज-रोज धुआँ जम जाने की वजह से बडा भद्दा और बदनुमा मालूम होता था। वहीसे पडोसवाले सहनों के एक-दो दरख्तो के ऊपर के सिरे कुछ-कुछ नजर आते थे। मेरे जेल में पहुँचने पर वे दरख्त बिला पत्ते और फूलो के ठूँठ-से खडे थे, पर धीरे-धीरे उनमें एक अजीब तबदीली होनी शुरू हुई और सब शाखाओं में हरी-हरी कोंपले निकलने लगी। कोंपलों में से पत्ते निकले और बडी जल्दी बढकर उन्होने नगी शाखाओ को खुशनुमा हरियाली से ढक दिया। यह तबदीली बडी सुखद मालूम हुई और अलीपुर-जेल भी खुशनुमा होगयी।

इनमें से एक पेड मे चील का घोंसला था। इसमें मुझे दिलचस्पी पैदा हुई और मैं बडे चाव से उसे देखा करता था। छोटे-छोटे बच्चे बढ़-बढकर उडने की अपनी पैतृक कला सीख गये। कभी-कभी तो ऐसी हैरत में डालनेवाली होशियारी से उडकर झपटते कि सीधे किसी

---

[1] दुश्मन की तरफ से जहरीली हवावाले बम गोलों से रक्षा करने के लिए जो मुंह पर एक तरह का बुरका डाल दिया जाता है उसे 'गैस मास्क' कहते है। अनु०

कैदी के हाथ या मुहँ मे से रोटी का टुकडा झपट लेते।

करीब-करीब शाम से सुबह तक हमे अपनी कोठरी मे बन्द रहना पडता था और जाडे की लम्बी राते काटे नही कटती थी। घण्टों पढते-पढते थककर मै अपनी कोठरी मे इधर-से-उधर टहलना शुरू कर देता, चार-पाँच कदम आगे बढकर फिर लौटना पड़ता। उस वक्त मुझे चिडिया-घर के रीछ के अपने पिंजरे मे इधर-से-उधर चक्कर काटने का दृश्य याद आ जाता था। कभी-कभी जब मै बहुत ऊब उठता तो अपना प्रिय शीर्षासन करने लगता था।

रात का पहला पहर तो काफी शान्त होता था, केवल शहर की मुख्तलिफ आवाज़े—ट्राम, ग्रामोफोन या दूर से किसीके गाने की लहर—धीरे-धीरे पहुँचती थी। इस दूर से आते हुए धीमे गान की आवाज खुशनुमा मालूम होती थी। पर रात मे चैन नही था, क्योकि जेल के पहरेदार इधर-उधर टहलते रहते थे और हर घण्टे कोई-न-कोई मुआयना होता रहता था। लालटेन हाथ मे लिये कोई अफसर यह देखने आता कि कोई कैदी भाग तो नही गया है। हर रोज तीन बजे रात से बडा शोर-गुल मचता और बर्तन घिसने व माँजने की आवाज़ आती। उस वक्त रसोई मे काम शुरू हो जाता था।

प्रेसिडेन्सी-जेल के माफिक अलीपुर-जेल मे भी एक बडी तादाद वार्डरो व पहरेदारो, अफसरों और क्लर्को की थी। इन दोनों जेलो की आबादी मिलाकर नैनी-जेल की आबादी (२२–२३००) के बराबर थी, परन्तु कर्मचारियों की तादाद इन हरेक जेल मे नैनी-जेल से दुगुनी से भी ज्यादा थी। इनमे कई अंग्रेज वार्डर और पेन्शनयाफ्ता फौजी अफसर भी थे। इससे यह एक बात तो साफ ज़ाहिर होती थी कि अंग्रेज़ी-शासन युक्त-प्रान्त के बजाय कलकत्ता में ज्यादा कठोर और खर्चीला है। किसी बडे अफसर के पहुँचने पर जो नारा सब कैदियो को लगाना पडता था वह साम्राज्य की ताकत का एक चिन्ह और याद-दिहानी था। यह नारा था "सरकार सलाम", जो लम्बी आवाज मे और बदन की कुछ खास हरकत के साथ लगाना पडता था। मेरे सहन

की चहारदीवारी पर से कैदियो के इस नारे की आवाज दिन मे कई मर्तबा, और खासकर सुपरिण्टेण्डेण्ट के मुआयने पर हमेशा, आती थी। मेरे सहन की ७ फुट ऊँची दीवार पर से मै उस 'शाही छत्र' के ऊपरी भाग को देख सकता था जिसके साये मे सुपरिण्टेण्डेण्ट गश्त लगाता था।

मै हैरत मे आकर सोचने लगता कि क्या यह अजीव नारा 'सरकार सलाम' और उसके साथ की जानेवाली वदन की वह हरकत किसी पुराने जमाने की यादगार है या किसी मनचले अंग्रेज़ अफसर की ईजाद है ? मुझे पता तो नही, पर मेरा कयास है कि यह अंग्रेजो की ईजाद है। इसमें एक खास किस्म के एंग्लो-इडियनपन की बू आती है। खुश-किस्मती से इस नारे का रिवाज़ बंगाल और आसाम के सिवा युक्तप्रान्त या शायद हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों मे नही है। 'सरकार' की शान को कायम रखने के लिए जिस तरीके से इस सलामी पर जोर दिया जाता है, वह मुझे हकीकत मे ज़लील करनेवाला मालूम होता है।

अलीपुर-जेल मे एक नयी बात देखकर तो मुझे खुशी हुई। यहाके साधारण कैदियों का खाना युक्तप्रान्त के जेलों के खाने से कही अच्छा था। जेल के खाने के मामले मे तो युक्तप्रान्त दूसरे कई सूबों से पिछड़ा हुआ है।

सुहावनी शरद्-ऋतु जल्द बीत गयी, वसन्त भी भागता हुआ-सा निकल गया, और गर्मी आ पहुँची। दिन-दिन गर्मी बढती गयी। मुझे कलकत्ते की आवहवा कभी पसन्द न थी, और कुछ दिनो के वहाँ रहने ने ही मुझे निस्तेज और उत्साह-हीन बना दिया। जेल मे तो हालत कुदरती तौर पर और भी बुरी होती है। समय बीतता गया और मेरी हालत मे कोई तरक्की नही हुई। शायद कसरत के लिए जगह की कमी होने और ऐसी आवहवा में कई घटो कोठरी बन्द रहने से मेरी सेहत कुछ गिर गयी और मेरा वज़न तेजी से घटने लगा। मुझे तालो, चटखनियो, सीखचों और दीवारो से नफरत-सी होने लग गयी।

अलीपुर-जेल मे एक महीना रहने के बाद मुझे अपने सहन के बाहर कुछ कसरत करने की सहूलियत दीगयी। यह तवदीली मुझे पसन्द आयी और

मैं सुबह-शाम जेल की बडी दीवार के सहारे घूमने लगा। धीरे-धीरे मैं अलीपुर-जेल और कलकत्ता की आबहवा का आदी होगया और रसोई-घर भी, मय उसके धुंए और शोर-गुल के, बर्दाश्त करने लायक बुराई होगयी। इस अर्से मे मेरे लिए नये-नये मसले खडे हुए और नयी-नयी परेशानियाँ तग करने लगी। बाहर की खबरे भी अच्छी नही थी।

: ६० :

पूरब और पच्छिम में लोकतन्त्र

अलीपुर-जेल में जब मुझे मालूम हुआ कि सज़ा होने के वाद मुझे कोई रोजाना अखवार नही मिलेगा, तव मुझे वडा अचम्भा हुआ। जवतक मेरा मुकदमा चलता रहा तवतक तो मुझे कलकत्ते का रोजाना अखवार 'स्टेट्समैन' मिलता रहा, लेकिन मुकदमा खत्म होने के बाद दूसरे ही दिन से वह वन्द कर दिया गया। युक्तप्रान्त मे तो १९३२ से 'ए' क्लास या पहले डिवीज़न के कैदियो को सरकार की पसन्द का एक रोज़ाना अखवार हमेशा मिलता था। ज्यादातर वाकी के दूसरे सूबो मे भी यही वात है। और मै विलकुल इसी खयाल मे था कि यही कानून वँगाल के लिए भी लागू होगा। लेकिन वहाँ मुझे रोजाना 'स्टेट्समैन' के बजाय साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' दिया गया। साफ जाहिर है कि यह अख-वार तो उन अग्रेज़ो के लिए निकलता है जो हिन्दुस्तान मे हाकिमी या रोज़गार करने के वाद वापस इग्लैण्ड पहुँच जाते है। इसलिए इस अख-वार में हिन्दुस्तान की उन खवरो का सार रहता है, जिनमे उनकी दिलचस्पी होती है। इस साप्ताहिक मे विदेशों की खवरे तो विलकुल नही होती थी। उनका न होना मुझे वहुत ही अखरता था, क्योकि मै उनको सिलसिलेवार पढते रहना चाहता था। खुशकिस्मती से मुझे साप्ताहिक 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' अखवार भी मिलने लगा था, ज़िससे मुझे यूरप के और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो की जानकारी हो जाती थी।

फरवरी मे जव मै गिरफ्तार हुआ और जव मुझपर मुकदमा चला तभी यूरप में वडी उथल-पुथल और झगडे हुए। फ्रास मे भारी खल-वली मची, जिसमें फेसिस्टों ने दगे किये और उसकी वजह से राष्ट्रीय सरकार कायम हुई। इससे भी वुरी वात यह थी कि आस्ट्रिया का चास-लर डॉलफस मजदूरो पर गोलियाँ चलवा रहा था, और सामाजिक लोकतन्त्र के विशाल-भवन को ढारहा था। आस्ट्रिया में होनेवाली

ख़ून-ख़राबी की ख़बर सुनकर मुझे बडा दुःख हुआ। यह दुनिया कैसी बुरी और खूनी जगह है और इसान भी अपने स्थापित स्वार्थो की हिफ़ाज़त करने के लिए कैसा बर्बर बन जाता है? ऐसा मालूम पडता था कि तमाम यूरप और अमेरिका मे फासिज्म का ज़ोर बढता जाता है। जब जर्मनी मे हिटलर का अधिपत्य हुआ तब मुझे यह मालूम होता था कि उसकी हुकूमत ज्यादा दिनों तक नही चल सकेगी, क्योकि उसने जर्मनी की आर्थिक कठिनाइयो का कोई हल पेश नही किया था। इसी तरह जब दूसरी जगह भी फासिज्म फैला तब भी, मैने अपने मन को यह सोचकर तसल्ली दी कि यह प्रतिक्रिया की आख़िरी मज़िल है; इसके बाद सब बन्धन टूट जायँगे। लेकिन मै अब यह सोचने लगा, कि मेरा यह ख़याल कही मेरी ख़्वाहिश से ही तो नही पैदा हुआ? क्या सचमुच यह बात इतनी साफ दिखायी देती है कि फासिज्म की यह लहर इतनी आसानी से या इतनी जल्दी पीछे लौट जायगी? यदि ऐसी हालत पैदा हो गयी, जो फासिस्ट डिक्टेटरों के लिए असह्य हो, तो क्या वे 'हुकूमत की बागडोर को छोड देने के बदले' अपने देशो को सत्यानाशी लड़ाई मे न जुटा देंगे? ऐसी लडाई का नतीजा क्या होगा?

इस बीच में फासिज्म कई किस्मों और तरह-तरह की शक्लों में फैलता गया। स्पेन, वह 'ईमानदार लोगों का नया प्रजातन्त्र' जिसे किसीने सरकारो का ख़ास 'मैन्चेस्टर गार्जियन' कहा था, बहुत पीछे जाकर प्रतिक्रिया के गडढे में जा पडा था। स्पेन के लिबरल नेताओं के मनोहर शब्द और भली-भली बाते देश की अधोगति को न रोक सकी। हर जगह मौजूदा हालतों का मुकाबला करने मे लिबरल-नीति बिलकुल बेकार साबित हुई है। यह दल शब्दों और वाक्यो से चिपटा रहता है और समझता है कि बाते काम की जगह ले सकती हैं। इसीलिए जब कभी नाजुक वक्त आता है तब वह उसी तरह आसानी से गायब हो जाता है जैसे सिनेमा के अन्त में तसवीर।

आस्ट्रिया के दुखान्त नाटक के बारे मे 'मैन्चेस्टर गार्जियन' के अग्रलेखो को मै बडी दिलचस्पी के साथ पढ़ता था और उनकी क़द्र भी

करता था। "और इस खूनी लड़ाई के बाद किस रूप मे आस्ट्रिया हमारे सामने आया? एक ऐसा आस्ट्रिया जिसपर यूरप का सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी दल राइफलों और मशीनगनों से हुकूमत कर रहा है।" "अगर इग्लैण्ड आजादी का हामी है तो उसके प्रधान मन्त्री का मुहँ इतना बन्द क्यों है? डिक्टेटरशाहियों की उन्होंने जो तारीफें की है वे हमने सुनी है, हमने उन्हे यह कहते हुए सुना है कि डिक्टेटरी 'कौम की आत्मा को ज़िन्दा रखती है' और 'एक नया जलवा और नयी ताकत पैदा करती है।' लेकिन इग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री को उन जुल्मों की बाबत भी तो कुछ कहना चाहिए, जो, चाहे वे किसी भी देश मे हो, यद्यपि ज़ाहिरा शरीर का नाश करते है, किन्तु उससे कहीं अधिक बार आत्मा को बुरी मौत मारते है।"

लेकिन अगर 'मैन्चेस्टर गार्जियन' आजादी का एक ऐसा हामी है, तो क्या वजह है कि जब हिन्दुस्तान मे आजादी को कुचला जाता है तब उसका मुहँ बन्द होजाता है? हम लोगों को भी तो न सिर्फ शारीरिक तकलीफें उठानी पड़ी है बल्कि उससे भी बदतर आत्मा के कष्ट भी झेलने पड़े है।

"आस्ट्रिया का लोकतन्त्र नष्ट कर दिया गया है, यद्यपि उसके लिए यह बात हमेशा गौरव की रहेगी कि वह मरते दम तक लड़ा और इस तरह उसने एक ऐसी कहानी पैदा कर दी, जो आगे आनेवाले बरसो मे किसी दिन यूरोपीय आजादी की आत्मा को फिर जगा देगी।"

'उस यूरप ने जो कि आजाद नही है, साँस लेना बन्द कर दिया है, अब उसमें स्वास्थ भावनाओ का आवागमन नही होता, धीरे-धीरे उसका दम घुटने लगा है और उसकी जो मानसिक बेहोशी नजदीक आ रही है उसे सिर्फ उग्र झकझोरों या भीतरी दौरों और दाहिने बायें हर तरफ धड़ाधड़ वार करने से ही बचाया जा सकता है.....। राइन नदी से लेकर यूराल पर्वत तक यूरप एक बड़ा जेलखाना बना हुआ है।"

ये वाक्य कैसे हृदय-ग्राही थे! मेरे दिल मे इनकी प्रतिध्वनि होती थी,, लेकिन साथ ही मे सोचता, कि हिन्दुस्तान की बाबत क्या है? यह कैसे हो सकता है कि 'मैन्चेस्टर गार्जियन' या इग्लैण्ड मे जो बहुत-से

आजादी के दीवाने है वे हमारी हालत से इतने उदासीन रहते है ? दूसरी जगह जिन बातों की वे इतने जोरों से निन्दा करते है, जब वही बाते हिन्दुस्तान में होती है, तो उनकी तरफ वे क्यो नही देखते ? बीस बरस हुए, महायुद्ध शुरू होने से कुछ ही पहले, अंग्रेजों के एक बड़े लिबरल नेता ने, जो उन्नीसवी सदी के परम्परा मे पले थे, स्वभाव से फूँक-फूँककर कदम रखते थे और अपनी भाषा पर सयम रखते थे, यह कहा था कि "इससे पहले कि कानून पर ताकत की दु खदायी जीत को मै चुपचाप देखूँ मै यह देखना पसन्द करूँगा कि हमारा यह मुल्क इतिहास के पन्ने से मिटा दिया जाय।" कितना बहादुराना खयाल है, और कैसे धारा-प्रवाह ढग से कहा गया है ! इग्लैण्ड के बहादुर नौजवान लाखों की तादाद मे इस खयाल को पूरा करने के लिए लड़ाई के मैदान मे गये। लेकिन अगर कोई हिन्दुस्तानी मि० एस्क्विथ के समान बयान देनें की हिम्मत करे, तो उसका क्या हाल होगा ?

राष्ट्रीय मनोवृत्ति बहुत ही जटिल होती है। हममें से ज्यादातर लोग यह समझते है कि हम बडे इंसाफ-पसन्द और निष्पक्ष है। हमेशा गलती दूसरा शख्स या दूसरा मुल्क ही करता है। हमारे दिमाग में कही-न-कही यह इत्मीनान छिपा रहता है कि हम वैसे नही है जैसे दूसरे लोग है, हममे और दूसरों मे जरूर फर्क है—यह दूसरी बात है कि शराफत की वजह से हम बराबर उस बात को न कहे। अगर खुश-किस्मती से हम किसी ऐसी शाही कौम के होते जो दूसरे मुल्कों के भाग्य की विधाता हो, तब तो हमारे लिए यह इत्मीनान न करना भी मुश्किल होजाता कि हमारी सर्वोत्तम दुनिया में सभी बाते सर्वोत्तम है, और जो लोग क्रान्ति के लिए आन्दोलन करते है वे केवल खुदगर्ज और भ्रम मे पड़े हुए बेवकूफ ही नही है बल्कि हमारे लिए अनेक लाभ प्राप्त करके भी कृतघ्नता करनेवाले है।

अंग्रेज टापू मे रहनेवाली और संकुचित दृष्टि वाली जाति है और इतनी मुद्दत तक की कामयाबी और खुशहाली ने उसे इतना घमंडी बना दिया है कि अँग्रेज करीब-करीब दूसरी सब कौमों को घृणा की

नज़र से देखते है। जैसा कि किसीने कहा है, 'उनकी राय मे इग्लैण्ड के समुद्र से आगे हवशी-ही-हवशी रहते है।' लेकिन यह तो एक बिलकुल साधारण बात है। शायद ब्रिटिश कौम के ऊँचे दर्जे के लोग दुनिया को ऊँच-नीच के हिसाब से इस तरह बाँटेंगे—(१) सबसे पहले ब्रिटेन, इसके बाद बहुत दूर तक कुछ नही, फिर (२) ब्रिटिश उपनिवेश—इनमे भी सिर्फ सफेद चमडीवाले और अमेरिका (सिर्फ एग्लो-सेक्सन अमेरिका—डार्गो, इटैलियन वगैरा नही), (३) पश्चिमी यूरप, (४) बाकी यूरप (५) दक्षिणी अमेरिका (लेटिन कौम), और फिर बहुत दूर तक कोई नही। इसके बाद और सबसे नीचे के नम्बर पर एशिया और अफ्रीका की काली-पीली, भूरी कौमो के आदमी, जो कम-बढकर सब एक ही बोरे मे भर दिये जासकने योग्य समझे जाते है।

इन दर्जो मे आखिरी दर्जे के हम लोग उस ऊँचाई से कितनी दूर है, जिसपर हमारे शासक रहते है? ऐसी हालत मे क्या यह कोई अचरज की बात है कि जब वे उतनी ऊँचाई से हमारी तरफ देखते है तब उनकी नज़र धुँधली होजाती है, और जब हम लोकतन्त्र और आज़ादी की बाते करते है तब वे हमसे चिढते है? ये शब्द हमारे इस्तैमाल के लिए थोडे ही घडे गये थे। क्या यह बात एक बडे लिबरल राजनीतिज्ञ जॉन मार्ले ने नही कही थी कि वह बहुत दूर के धुंधले भविष्य मे भी इस बात की कल्पना तक नही कर सकते कि हिन्दुस्तान मे लोकतत्रीय सस्थाये कायम होगी? हिन्दुस्तान के लिए लोकतत्र ऐसा ही है, जैसा कनाडा के लिए फरो का बहुत गरम कोट (यानी उसकी आबोहवा के खिलाफ)। और इसके बाद उस मज़दूर दल ने जो समाजवाद का झडा लिये फिरता था, सब पददलित लोगो का हिमायती बनता था, अपनी जीत की पहली खुशी मे हमें सन् १९२४ के बगाल-आर्डिनेन्स को फिर से जारी करने का इनाम दिया, और उनके दूसरे शासन-काल मे हमारा हाल और भी बुरा रहा। मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि उनमे से कोई हमारा बुरा नहीं चीतता और जब वे लोग हमें अपने, व्याख्याता के, सर्वोत्तम ढग से 'परम प्रिय विश्वबन्धु!' कहकर पुकारते है

तब वे अपनी कर्त्तव्यपरायणता पर अपनें को कृतकृत्य समझते हैं। लेकिन उनकी राय मे हम उतने ऊँचे नही है, जितने कि वे खुद है, अत. उनके विचार मे दूसरे पैमानो से ही हमारी जाँच होनी चाहिए। भाषा और सांस्कृतिक भेद-भावो के कारण अग्रेज और फ्रासीसी के लिए यह काफी मुश्किल है कि वे एक ही तरह से सोचें। ऐसी हालत मे एक एशियाई मे और एक अग्रेज मे तो और भी ज्यादा फर्क होगा।

हाल ही मे, हाउस ऑफ लार्ड्स में, हिन्दुस्तान को दिये जानेवाले शासन-सुधारो के प्रश्न पर वहसे हो रही थी और अनेक सम्मानीय लॉर्डों ने उस वहस मे बहुत-से विचारपूर्ण व्याख्यान दिये। इनमे एक थे लॉर्ड लिटन, जो हिन्दुस्तान के एक सूबे मे गवर्नर रह चुके थे और कुछ समय के लिए जिन्होंने वाइसराय की हैसियत-से भी काम किया था। अक्सर कहा जाता है कि वह एक उदार और हिन्दुस्तान से सहानुभूति रखनेवाले गवर्नर थे। उनके व्याख्यान की रिपोर्ट के अनुसार, उन्होंने कहा कि "भारत-सरकार कांग्रेसी नेताओ के बनिस्वत सारे हिन्दुस्तान की कहीं अधिक प्रतिनिधि है। वह हिन्दुस्तान के हाकिमो की, फौज की, पुलिस की, राजाओं की, लडनेवाले रेजीमेण्टो की और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की तरफ से बोल सकती है, जबकि कांग्रेस के नेता हिन्दुस्तान की बड़ी कौमो मे से किसी एक कौम की तरफ से भी नही बोल सकते।" इतना कहनें के बाद उन्होने आगे चलकर अपना आशय और भी स्पष्ट किया—"जब मै हिन्दुस्तानियो की बात कहता हूँ, तब मै उन लोगों का खयाल करता हूँ, जिनके सहयोग का मुझे भरोसा करना पड़ा था और जिनके सहयोग पर भावी गवर्नरो और वाइसरायों को भरोसा करना पड़ेगा।"[१]

उनके इस भाषण से दो दिलचस्प बातें निकलती है—एक तो यह कि उनके विचार में जो हिन्दुस्तान किसी गिनती मे है वह तो वही है जो ब्रिटिश सरकार की मदद करता है; और दूसरे, ब्रिटिश सरकार हिन्दु-

---

१. हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स, १७ दिसम्बर १९३४।

स्तान में सबसे ज्यादा प्रतिनिधि-स्वरूप और इसलिए सबसे ज्यादा लोक-तन्त्रीय संस्था है। इस दलील का इतनी सजीदगी से दिया जाना यह जाहिर करता है कि अंग्रेजी के शब्द स्वेज नहर से पार होते ही अपना अर्थ बदल देते है। इस तरह की दलील का दूसरा और साफ मतलब यह होगा कि स्वेच्छाचारी सरकार ही सबसे ज्यादा प्रातिनिधिक और लोकतन्त्रीय स्वरूप की होती है, क्योंकि बादशाह सबका प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह हम फिर लौट-फिरकर बादशाह के ईश्वरीय अधि-कार पर पहुँच जासकते है। स्वेच्छाचार-शिरोमणि फ्रेञ्च-सम्राट् लुई चौदहवें ने भी तो कहा था न कि 'राज्य—राज्य तो मैं ही हूँ मैं।'

सच बात तो यह है कि हाल मे विशुद्ध स्वेच्छाचार को भी एक नामी समर्थक मिल गया है। इण्डियन सिविल सर्विस के आभूषण सर माल्कम हेली ने, ५ नवम्बर १९३४ को बनारस मे युक्तप्रान्त के गवर्नर की हैसियत से बोलते हुए कहा था कि देशी रियासतो मे स्वेच्छाचारिता ही रहनी चाहिए। इस सलाह की ऐसी कोई जरूरत न थी, क्योंकि कोई भी हिन्दुस्तानी रियासत अपनी खुशी से स्वेच्छाचारिता को नही छोडेगी। इसी कोशिश में एक और दिलचस्प तरक्की यह हुई है कि, यूरप मे लोकतन्त्र के नाकामयाब होने के आधार पर इस स्वेच्छाचारिता को कायम रखने की बात कही जाती है। मैसूर के दीवान सर मिर्जा इस्मा-इल ने इस बात पर अपना आश्चर्य प्रकट किया, कि "एक तरफ जबकि हर जगह पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र नाकामयाब होरहा है, दूसरी तरफ इनकलाबी सुधारों की वकालत की जाती है।" "मुझे विश्वास है कि हमारे राज्य की अन्तरात्मा यह महसूस करती है कि हमारा मौजूदा विधान करीब-करीब असली राजनैतिक कामो के लिए काफी लोकतन्त्रीय है।"[१] मेरे खयाल में मैसूर की 'अन्तरात्मा' वहाँके शासक और दीवान की दार्शनिक भावना है। मैसूर में इन दिनो जो लोकतन्त्र जारी है, वह स्वेच्छाचार से किसी कदर भिन्न नही है।

---

१. 'मैसूर' २१ जून १९३४। पृष्ठ ८३९ का भी नोट देखिए।

अगर लोकतत्र हिन्दुस्तान के लिए मौजूँ नही है, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वह मिस्र के लिए भी उतना ही बेमौजूँ है। इन दिनो जेल मे मुझे रोजाना 'स्टेट्समैन', दिया जाता है। उसमे मैंने मिस्र की राजधानी कैरो से भेजा हुआ खरीता अभी हाल ही पढा है।[१] उस खरीते मे कहा गया है कि वहाँ के प्रधान-मत्री नसीमपाशा के "इस ऐलान ने, कि उन्हे 'यह उम्मीद है कि तमाम राजनैतिक पार्टियाँ, खासतौर पर एक होजायेगी, और एक होकर या तो राष्ट्रीय परिषद् करके या विधान-पञ्चायत का चुनाव करके उनके जरिये नया विधान तैयार करायेगी', जिम्मेदार लोगो मे कुछ कम भय पैदा नही किया है, क्योंकि आखिर इसके मानी यही होते है कि लोकतत्रीय सरकार फिर से कायम हो जाय, जो, इतिहास जाहिर करता है, मिस्र के लिए हमेशा खतरनाक साबित हुई है, क्योंकि उसकी प्रवृतियाँ पिछले जमाने मे हमेशा हुल्लडपन से दब जाने की रही है। मिस्र की आन्तरिक राजनीति और उसकी प्रजा की जानकारी रखनेवाले किसी भी शख्स को क्षणभर के लिए भी इस बात मे कोई शक नही होसकता कि चुनाव का नतीजा यह होगा कि फिर वफ्द-पार्टी का बहुमत होजाय। इसलिए इस कार्रवाई को रोकने का बहुत जल्द प्रयत्न न किया गया तो हमपर बहुत जल्दी ऐसा शासन आजायगा जो घोर उग्र लोकतत्रीय, विदेशियो का विरोधी और क्रान्तिकारी होगा।"

यह भी कहा गया है कि चुनाव मे "वफ्द-पार्टी का मुकाबिला करने के लिए" शासकों को प्रभाव डालना चाहिए, लेकिन बदकिस्मती यह है कि "प्रधान-मन्त्री को कानून की पाबन्दी का बहुत खयाल रहता है।" इसलिए हमसे कहा गया है कि अब सिर्फ एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि ब्रिटिश सरकार बीच मे पडे और "यह बात सब को जाहिर कर दे कि वह इस किस्म के शासन का फिर से कायम होना बर्दाश्त नही करेगी।"

---

१. १९ दिसम्बर १९३४।

ब्रिटिश सरकार क्या करेगी या क्या नहीं करेगी और मिस्र में क्या होगा, मुझे कुछ पता नहीं।[1] लेकिन शायद आज़ादी के दीवाने एक अंग्रेज द्वारा पेश की गयी दलील से हमें मिस्र और हिन्दुस्तान की हालत की जटिलता को समझने में थोड़ी मदद ज़रूर मिलती है। जैसा कि 'स्टेट्समैन' ने एक अग्रलेख में कहा है—"मूल बुराई तो यह है कि ज़िन्दगी के जिस तरीके में और दिमाग के जिस रुख से लोकतन्त्र का विकास होता है उनमें साधारण मिस्री वोटर की ज़िन्दगी के तरीके और उसके दिमाग के रुख का मेल नहीं मिलता।" इस मेल के न मिलने की मिसाल भी आगे दी गयी है· "यूरप में अक्सर लोकतन्त्र इसलिए नाकामयाब हुआ है कि वहाँ बहुत-से दल क़ायम हो गये हैं। लेकिन मिस्र की मुश्किल तो यह है कि वहाँ सिर्फ एक बफ़्द-पार्टी ही है।"

हिन्दुस्तान में हमसे कहा जाता है कि हमारा साम्प्रदायिक भेदभाव हमारी लोकतन्त्र की तरक्की का रास्ता रोकता है और इसीलिए अकाट्य तर्क के साथ इन भेदभावों को हमेशा स्थायी बनाया जाता है। हमसे यह भी कहा जाता है कि हम लोगों में काफी एका नहीं है। मिस्र में किसी किस्म का साम्प्रदायिक भेदभाव नहीं है और ऐसा मालूम पड़ता है कि वहाँ पूर्ण राजनैतिक एका मौजूद है। लेकिन वहाँ यही एकता उसके लोकतन्त्र और उसके स्वाधीनता के रास्ते का रोड़ा बन जाती है। सच-मुच लोकतन्त्र का रास्ता सीधा और तंग है। पूर्वी देशों के लिए लोक-तन्त्र का सिर्फ एक ही अर्थ है, और वह यह कि साम्राज्यवादी शासक-सत्ता जो हुक्म दे उसे बजा लाया जाय और उसके किसी भी स्वार्थ में हाथ न डाला जाय। इन शर्तों के मान लेने पर लोकतन्त्रीय स्वाधीनता वहाँ भी बे-रोक-टोक फूल-फल सकती है।

---

१. नवम्बर १९३४ में मिस्र पर अंग्रेज़ों के अधिकार के ख़िलाफ मुल्क-भर में दंगे हुए थे।

: ६१ :

नैराश्य

"अब तो यही लालसा है माँ, जाऊँ आकुल लेट वहाँ,
ठडी-ठडी मधुर मनोरम हरियाली हो बिछी जहाँ;
माँ धरणी ! चरणों पर तेरे निपट निराश-अधीन,
थके हुए इस बालक के वे स्वप्न सभी हो गये विलीन" ।[१]

अप्रैल आ गया । अलीपुर मे, मेरी कोठरी मे, मेरे पास बाहर की घटनाओ की बाबत अफवाहे पहुँची—ऐसी अफवाहे जो दुख और बेचैनी पैदा करनेवाली थी । एक दिन जेल मे सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझे इत्तिला दी कि गाँधीजी ने सत्याग्रह की लडाई वापस लेली हैं । मुझे इससे ज्यादा कुछ मालूम नही होसका । मुझे यह खबर अच्छी नही लगी और जिस चीज को मैं इतने बरसो से इतना चाहता था उसको इस तरह वापस ले लिये जाने पर रज हुआ । फिर भी मैंने अपने को समझाया कि उसका अन्त होना तो लाजिमी था । अपने मन मे मैं यह जानता था कि कम-से-कम कुछ वक्त के लिए सत्याग्रह की लडाई कभी-न-कभी बन्द करनी ही पड़ेगी । मुमकिन है कि कुछ शख्स नतीजो की परवा न करके अनिश्चित काल तक लडते रहे लेकिन राष्ट्रीय सस्थाये ऐसा नही करती । मुझे इस बात मे कोई शक न था कि गाधीजी ने देश की स्थिति और अधिकाश काग्रेसवादियों के मनोभावों को ठीक तरह समझ लिया था और यद्यपि जो कुछ हुआ वह अच्छा नही मालूम होता था फिर भी मैंने अपने आपको नवीन परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश की ।

अस्पष्ट रूप मे यह चर्चा भी मुझे सुनायी दी कि कौंसिल मे जाने की गरज़ से पुरानी स्वराज्य-पार्टी को फिर ज़िन्दा करने की नई कोशिश

---

१ अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद

की जा रही है। यह बात भी मुझे अनिवार्य मालूम होती थी और मेरी तो बहुत दिनो से यह राय थी कि कांग्रेस अगले चुनावो से अलग नही रह सकती। जब मै पाँच महीने जेल से बाहर था, तब मैंने कौंसिलो की तरफ बढनेवाली इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की थी, क्योंकि मै समझता था कि अभी वह चर्चा वक्त मे पहले थी, और उसकी वजह से न सिर्फ सीधी लडाई से ही लोगों का ध्यान हटता था बल्कि सामाजिक क्रान्ति के उन नये खयालो के विकास मे भी बाधा पड़ती थी जो कांग्रेसवालो के दिलो मे घर करते जा रहे थे। मै समझता था कि यह सकट जितने दिन ज्यादा बना रहेगा, उतने ही ज्यादा ये खयाल हमारे यहाँ सर्वसाधारण और पढे-लिखे लोगो मे फैलेंगे और हमारी राजनैतिक और माली हालत की तह मे जो असलियत है वह जाहिर हो जायगी। जैसा कि लेनिन ने कही कहा है—"कोई भी और हरेक राजनैतिक सकट उपयोगी है, क्योकि वह छिपी हुई चीजो को रोशनी में ले आता है, राजनीति की तह मे जो असली ताकतें काम कर रही हैं उन्हे दिखा देता है, वह झूठ का, भ्रम पैदा करनेवाले शब्दजाल का और गपोड़ों का भण्डाफोड कर देता है, वह असली बातों को पूरी तरह दिखा देता है, और तथ्य क्या है इस बात को समझने के लिए लोगो को मजबूर कर देता है।" मुझे उम्मीद थी कि इस क्रिया का परिणाम यह होगा कि इससे कांग्रेसवालो का दिमाग साफ हो जायगा और कांग्रेस एक निश्चित ध्येयवाले लोगों की मजबूत जमात हो जायगी। शायद उसके कुछ कमजोर हिस्से उसे छोड जायँगे। लेकिन इससे कोई हर्ज न होगा और जब कभी उसूली सीधी लडाई का मोर्चा खत्म करने और वैधानिक व कानूनी तरीकों के नाम से पुकारे जानेवाले साधनो से काम लेने का वक्त आयगा, तब कांग्रेस के आगे बढे हुए, वास्तव मे क्रियाशील पक्ष के लोग इन तरीको का भी, हमारे अन्तिम लक्ष्य की व्यापक दृष्टि से, इस्तैमाल करेगे।

जाहिरातौर पर मालूम होता था कि वह वक्त आ गया है। लेकिन मुझे यह देखकर बडी परेशानी हुई कि जो लोग दरअसल सत्याग्रह की

लड़ाई और काग्रेस के कारगर कामों के आधार-स्तम्भ रहे है वे पीछे को हट रहे है और दूसरे लोग जिन्होने ऐसा कोई काम नही किया अपनी हुकूमत जमाने लगे है।

इसके कुछ दिन बाद मेरे पास हफ्तेवार 'स्टेट्समैन' आया और उसमे मैंने वह वक्तव्य पढा जो गाँधीजी ने सत्याग्रह को वापस लेते हुए दिया था। उसे पढकर मुझे बडी हैरत हुई और मेरा दिल बैठ गया। मैंने उसे बार-बार पढा, और सत्याग्रह और दूसरी ज्यादातर बाते मेरे दिमाग से गायब होगयी और उसकी जगह शक और सघर्ष से मेरा दिमाग भर गया। गाँधीजी ने लिखा था—"इस वक्तव्य की प्रेरणा सत्याग्रह-आश्रम के साथियो से हुई, एक आपसी बातचीत का परिणाम है। · · इसका मुख्य कारण वह आँखे खोलनेवाली खबर थी जो मुझे अपने एक बहुत पुराने और बहुमूल्य साथी के सम्वन्ध मे मिली थी। वह जेल का काम पूरा करने को राजी न थे और उसके बजाय किताबे पढना पसन्द करते थे। यह सब कुछ सत्याग्रह के नियमो के सर्वथा विरुद्ध था। इस बात से इस मित्र की, जिसे कि मै बहुत अधिक प्यार करता था, दुर्बलताओ की अपेक्षा मुझे अपनी दुर्बलताओ का अधिक बोध हुआ। उन मित्र ने कहा था कि 'मेरा खयाल है कि आप मेरी दुर्बलता को जानते है, लेकिन मै अन्धा था।' नेता मे अन्धापन एक अक्षम्य अपराध है। मैंने फौरन यह भॉप लिया कि कम-से-कम इस समय के लिए तो मै अकेला ही सक्रिय सत्याग्रही रहूँगा।"

अगर गाधीजी के मित्र मे यह दुर्बलता या दोष था—अगर वह सचमुच दुर्बलता थी—तो भी यह एक मामूली-सी बात थी। मै यह स्वीकार करता हूँ कि मै अक्सर इस जुर्म का अपराधी रहा हूँ और मुझे उसपर रत्तीभर भी अफ़सोस नही है। लेकिन अगर वह मामला बहुत भारी भी होता तो भी क्या वह महान् राष्ट्रीय सग्राम, जिसमे बीसियो हजार प्रत्यक्ष रूप से और लाखों आदमी अप्रत्यक्ष रूप से लगे हुए है महज इसलिए कि किसी एक शख्स ने कोई गलती कर डाली अचानक रोक दिया जाना चाहिए? यह बात मुझे बहुत भयकर और हर तरह अनीति-

मय मालूम हुई। मैं इस बात की धृष्टता तो नही कर सकता कि मैं यह बताऊँ कि सत्याग्रह क्या है और क्या नही है, लेकिन अपने साधारण तरीके पर मैंने भी कुछ आचार-सम्बन्धी आदर्शों के पालन करने का प्रयत्न किया है। गाधीजी के इस वक्तव्य से मेरे उन सब आदर्शों को धक्का लगा और वे सब गडबड होगये। मैं यह जानता हूँ कि गाधीजी आमतौर पर सहज-ज्ञान के मुताबिक काम करते हैं। गाधीजी उसे अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा या प्रार्थना का प्रतिफल कहते हैं, लेकिन मैं उसे सहज-ज्ञान कहना ही पसन्द करता हूँ, और अक्सर ज्यादातर उनका यह सहज-ज्ञान सही निकलता है। उन्होने बराबर यह दिखा दिया है कि जनता की मनोवृत्ति को समझने और उपयुक्त समय पर काम करने की उनमे कैसी विलक्षण सूझ है। काम कर डालने के बाद उस काम को ठीक ठहराने के लिए वह पीछे से जो कारण पेश करते हैं वे आमतौर पर काम कर बैठने के बाद के सोचे हुए खयालात होते हैं और उनसे शायद ही कभी किसीको पूरी तसल्ली होती हो। सकटकाल मे नेता या कर्मवीर पुरुष करीब-करीब हमेशा किसी अज्ञातप्रेरणा से काम करते हैं और फिर उसके लिए कारण ढूंढने लगते हैं। मैंने यह भी महसूस किया कि सत्याग्रह को मुल्तवी करके गाधीजी ने ठीक ही किया। लेकिन उसे मुल्तवी करने के जो कारण उन्होने बताये हैं वे बुद्धि के लिए अपमानजनक और एक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के लिए बहुत ही आश्चर्यजनक मालूम होते थे। इस बात का तो उन्हे पूरा हक था कि वह अपने आश्रम मे रहनेवालों के साथ जैसा चाहते बर्ताव करते, क्योकि उन लोगो ने सब तरह की प्रतिज्ञाये ले रखी थी और एक तरह का निश्चित अनुशासन स्वीकार कर रखा था। लेकिन काग्रेस ने ऐसी कोई बात नही की थी। मैंने ऐसी कोई बात नही की थी। फिर हम उन सब कारणो के लिए, जो हमे आध्यात्मिक और रहस्यमय मालूम होते थे और जिनमे हमें कोई दिलचस्पी नही थी, कभी इधर, कभी उधर क्यों फेंका जाता था? क्या कभी ऐसे आधारों पर किसी राजनैतिक आन्दोलन के चलाये जाने की कल्पना की जा सकती है? मैं यह मानता हूँ कि

सत्याग्रह के नैतिक पहलू को अपनी समझ के मुताबिक मैंने एक हद तक स्वीकार कर लिया था। उसका वह बुनियादी पहलू मुझे पसन्द था और उससे ऐसा मालूम होता था कि वह राजनीति को अधिक उच्च और श्रेष्ठ पद पर पहुँचा देगा। मै यह भी मानने के लिए तैयार था कि महज़ उद्देश अच्छा होने से उसे हासिल करने के लिए काम मे लाये जानेवाले सब प्रकार के उपाय अच्छे नही है। लेकिन यह नयी तरक्की या नयी व्याख्या उससे कही ज्यादा दूर जाती थी और उससे कुछ नयी बाते उठ खडे होने की सम्भावना थी, जिन्होने मुझे विचलित कर दिया।

उस सारे वक्तव्य ने तो मुझे बहुत ज्यादा विचलित और परेशान किया। उसके अन्त मे गाधीजी ने काग्रेसवालों को जो सलाह दी वह यह थी—"उन्हे आत्मत्याग और स्वेच्छापूर्वक ग्रहण की गयी दरिद्रता की कला और सुन्दरता को समझना होगा; उन्हे राष्ट्र-निर्माण के काम मे लग जाना चाहिए, उन्हें स्वय हाथ से कात-बुनकर खद्दर का प्रचार करना चाहिए, उन्हे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे एक दूसरे के साथ निर्दोष सम्पर्क स्थापित करके लोगो के हृदयो मे साम्प्रदायिक ऐक्य का बीज बोना चाहिए; स्वय अपने उदाहरण द्वारा अस्पृश्यता का प्रत्येक रूप मे निवारण करना चाहिए और नशेबाज़ो के साथ सम्पर्क स्थापित करके और अपने आचरण को पवित्र रखकर मादक चीज़ों के त्याग का प्रसार करना चाहिए। ये सेवाये है जिनके द्वारा गरीबो की तरह निर्वाह हो सकता है। जो लोग गरीबी मे न रह सकते हो, उन्हे किसी छोटे राष्ट्रीय धन्धे मे पड़ जाना चाहिए, जिससे वेतन मिल जाय।"

यह था वह राजनैतिक कार्यक्रम, जिसे पूरा करने के लिए हमसे कहा गया था। ऐसा मालूम पडता था कि एक बहुत बडा अन्तर मुझे उनसे अलग कर रहा है। अत्यन्त तीव्र वेदना के साथ मैंने यह महसूस किया कि भक्ति के वे सूत्र, जिन्होने इतने वर्षो से उनसे बाँध रक्खा था, टूट गये है। बहुत दिनों से मेरे भीतर एक मानसिक द्वन्द्व होरहा था। गाधीजी ने जो बाते की उनमे से बहुत-सी बाते न तो मेरी समझ मे ही आयी, न वे मुझे पसन्द ही पडी। सत्याग्रह की लडाई जारी रहते हुए,

उसी बीच मे जबकि उनके साथी लडाई की मॅंझधार मे थे, उनके उपवास और दूसरी बातों मे अपनी ताकत लगाना, उनकी निजी और स्वयं-निर्मित उलझने जिन्होने उन्हे इस असाधारण स्थिति मे डालदिया कि जेल से बाहर रहते हुए भी उन्हे अपने लिए यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वह राजनैतिक आन्दोलन मे भाग नहीं लेगे. उनकी नयी-नयी निष्ठाये और नयी प्रतिज्ञाये, जिन्होने उनकी पुरानी निष्ठाओ और प्रतिज्ञाओ और कामो को, जो उन्होने बहुत-से अपने साथियों के साथ लिये थे, और जो अब-तक पूरे न हो सके थे, पीछे ढकेल दिया। इन सबने मुझे बहुत ही परे-शान किया। मै चन्द दिन जो जेल से बाहर रहा, उस समय मैंने इन और दूसरे मतभेदो को बहुत ही महसूस किया। गाधीजी ने कहा था कि हमारे मतभेदो का कारण स्वभावो की भिन्नता है। लेकिन शायद बात इससे और भी आगे बढी हुई थी। मैने यह अनुभव किया कि बहुत-से मामलो मे मेरे साफ और निश्चित विचार है और वे उनके विचारो से नही मिलते। और फिर भी अबतक मै इस बात की कोशिश करता रहा कि जहाँतक हो सके, राष्ट्रीय आजादी के जिस ध्येय के लिए काग्रेस कोशिश कर रही थी और जिसके प्रति मेरी अत्यन्त भक्ति थी उसके सामने मै अपने ख़याली को दबाये रखूँ। अपने नेता और अपने साथियों के प्रति वफादार और विश्वासपात्र बनने की मैंने हमेशा कोशिश की क्योकि मेरे आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु से ध्येय के प्रति निष्ठा और अपने साथियों के प्रति वफादारी का स्थान बहुत ऊँचा है। जब-जब मैंने यह महसूस किया कि मुझे अपने आध्यात्मिक विश्वास के लगर से दूर खीचा जा रहा है, तब-तब मुझे अपने मन मे बडे-बड़े अन्तर्द्वन्द्व लडने पड़े है, लेकिन उस वक्त मैंने किसी-न-किसी तरह समझौता कर लिया। शायद ऐसा करके मैंने गलती की, क्योकि यह तो किसीके लिए ठीक नही हो सकता कि वह अपने आध्यात्मिक लगर को छोड दे। लेकिन आदर्शों की इस टक्कर मे मै अपने साथियो के प्रति वफादारी के आदर्श से चिपटा रहा और यह आशा करता रहा कि घटनाओं की रेल-पेल और हमारी लड़ाई का विकास उन सब मुश्किलो को दूर कर देगा जो मुझे

दु ख दे रही है और मेरे साथियो को मेरे दृष्टिकोण के नजदीक ले आयेगा।

और अव तो एकाएक मुझे अलीपुर की उस जेल मे बडा अकेलापन मालूम होने लगा। जीवन बहुत ही दूभर, जैसे भयावना सूनापन हो। जीवन मे मैने जो कितने ही कठोर सत्य अनुभव किये है, उनमे सबसे अधिक कठोर और दुख दायी सत्य-इस समय मेरे सामने था, और वह यह था कि महत्त्वपूर्ण विषयो पर किसी का भरोसा करना उचित नही है, हरेक आदमी को अपनी जीवन-यात्रा मे अपने ऊपर ही भरोसा रखना चाहिए, दूसरों पर भरोसा करना जबर्दस्त निराशा और आफतो को न्यौता देना है।

मेरे इस रुके हुए क्रोध का कुछ हिस्सा धर्म और धार्मिक दृष्टिकोण पर टूट पडा। मैने सोचा यह दृष्टिकोण विचारो की स्पष्टता और उद्देश्य की स्थिरता का कितना भारी दुश्मन है ? क्या उसका आधार भावुकता और मनोविकार नही ? यह दृष्टिकोण दावा तो करता है आध्यात्मिकता का, लेकिन असली आध्यात्मिकता और आत्मा की चीजो से वह कितनी दूर है ? हमेशा दूसरी दुनिया की बाते सोचते-सोचते मानव स्वभाव, सामाजिक रूप और सामाजिक न्याय का उसे कुछ पता ही नही रहता। अपनी पूर्वकल्पित धाराणाओ के कारण धर्म जान-बूझकर इस डर से वास्तविकता से अपनी आँखे मूँद लेता है कि शायद उनसे मेल न खाय। वह अपनी बुनियाद सचाई पर बनाता है, फिर भी उसे सत्य को—सम्पूर्ण सत्य को पा लेने का इतना विश्वास होजाता है कि वह इस वात के जानने का कष्ट नही करता कि उसे जो कुछ मिला है वह असल मे सत्य है या नही ? वह तो दूसरो को उसके विषय मे कह देना भर ही अपना काम समझता है। सत्य को ढूँढने का सकल्प और विश्वास की भावना दोनो जुदी-जुदी चीजे है। धर्म वाते तो शाति की करता है लेकिन उन प्रणालियो और व्यवस्थाओं का समर्थन करता है जो विना हिंसा के ज़िन्दा नही रह सकती। वह तलवार से की जानेवाली हिंसा की तो बुराई करता है लेकिन उस हिंसा का क्या जो अक्सर शांति का लवादा ओढे चुप-चाप

आती है और लोगो को भूखो तडपाती और जान से मार डालती है या जो इससे भी ज्यादा बुरा काम यह करती है कि विना किसी प्रकार के ज़ाहिरा शारीरिक कष्ट पहुँचाये मन पर बलात्कार करती है, आत्मा को कुचलती है और हृदय के टुकडे-टुकडे कर डालती है ?

और इसके बाद मै फिर उसी शख्स की वावत सोचने लगा जिसने कि मेरे मन मे यह खलवली पैदा की। आखिर गाधीजी कैसे आश्चर्य-जनक आदमी है। उनकी मोहकता कितनी ताज्जुब मे डालनेवाली और एकदम अवाध है और लोगो पर उनका कैसा अद्‌भुत अधिकार है! उनकी बाते और उनके लेख उनकी वास्तविकता का बहुत-कम परिचय करा पाते है। इनसे उनके विषय मे लोग जितनी कल्पना कर करते है, उनका व्यक्तित्व उससे कही ऊँचा है। और भारत के लिए उनकी सेवाये कितनी महान् है। उन्होने भारत की जनता मे साहस और मर्दानगी फूंक दी है, अनुशासन और कष्ट-सहन, ध्येय पर खुशी-खुशी कुर्बान हो जाने की और पूर्ण नम्रता के साथ स्वाभिमान की भावना पैदा करती है। उन्होने कहा है कि चरित्र की वास्तविक नीव साहस ही है। विना साहस के न तो सदाचार ही सध सकता है, न धर्म और न प्रेम ही। "जब तक कोई भय का शिकार रहता है तबतक वह न तो सत्य का पालन कर सकता है, न प्रेम ही कर सकता है।" हिंसा को वह बहुत ही बुरा समझते है, फिर भी उन्होने हमको यह बताया है कि "कायरता तो एक ऐसी चीज़ है जो हिंसा से भी बुरी है।" और "अनुशासन इस बात की प्रतिज्ञा और गैरटी है कि आदमी जिस काम को हाथ मे ले रहा है उसे करना चाहता है। बलिदान अनुशासन और आत्म-सयम के बिना न तो मुक्ति ही होसकती है, न कोई आशा ही पूरी होसकती है।" और बिना अनुशासन के बलिदान का कोई लाभ नही। शायद ये कोरे शब्द या सुन्दर वाक्य और खाली उपदेश ही हो। लेकिन इन शब्दो के पीछे ताकत थी, और हिन्दुस्तान यह जानता है कि यह छोटा-सा व्यक्ति जो कहता है, ईमानदारी से पूरा करना चाहता है।

आश्चर्यजनक रूप में वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि बन गये और इस

प्राचीन और पीड़ित भूमि की अन्तरात्मा को प्रकट करने लगे। एक प्रकार से वह खुद भारत के प्रतिबिम्ब थे और उनमे जो त्रुटियाँ थीं, वे भारत की त्रुटियाँ थी। उनका अपमान शायद ही व्यक्तिगत अपमान समझा जाता हो, वह तो सारे राष्ट्र का अपमान था और वाइसराय और दूसरे लोग जो ऐसी घृणित हरकते कर रहे थे यह नहीं जानते थे कि वे कैसी खतरनाक फसल बो रहे हैं। दिसम्बर १९३१ मे जब गांधीजी गोलमेज कान्फ्रेंस से लौट रहे थे, तब पोप ने गाँधीजी से मिलने से इन्कार कर दिया था यह जानकर मुझे कितना दुःख हुआ था, मुझे याद है। मुझे यह अपमान हिन्दुस्तान का अपमान लगा और इसमे तो कोई शक ही नही कि इन्कार तो जान-बूझकर किया गया था। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते समय शायद अपमान करने की कल्पना न रही हो। कैथलिक मतानुयायी अपने फिरके से बाहर सन्त और महात्मा का होना स्वीकार नही करते और क्योकि प्रोटेस्टेण्ट-मत के कुछ लोगो ने गाधीजी को सच्चा ईसाई और बडा धर्मात्मा बताया इसलिए रोम के लिए यह और भी जरूरी हो गया कि वह इस कुफ्र से अपने को अलग रक्खे।

अप्रैल १९३४ मे, अलीपुर-जेल मे करीब-करीब इसी समय मैंने बर्नार्ड शा के नये नाटक पढे और 'ऑन दि रॉक्स्' (शिला पर) नाम के नाटक की वह भूमिका, जिसमे ईसामसीह और पाइलेट की बहस भी है, मुझे बहुत आकर्षक लगी। आज जबकि एक साम्राज्य दूसरे धार्मिक व्यक्ति का मुकाबिला कर रहा है मुझे यह भूमिका इस समय के लिए बहुत मौजू मालूम हुई। इसमे ईसा मसीह ने पाईलेट से कहा है—"मैं तुमसे कहता हूँ कि डर छोड दो। रोम की महत्ता के बारे मे मुझसे व्यर्थ की बाते मत करो। जिसे तुम रोम की महत्ता कहते हो वह डर के सिवा और कुछ नही है। भूत का डर, भविष्य का डर, गरीबो का डर, अमीरो का डर, उच्च-मठाधीशो का डर, उन यहूदियों और यूनानियो का डर जो विद्वान् है, उन गॉल निवासियो, गॉथो और हूणो का डर जो जगली हैं, उस कार्थेज का, जिसके डर से अपने को बचाने के लिए

तुमने उसे बरबाद कर दिया, और अब पहले से भी ज्यादा बुरा डर शाही सीजर की उस मूर्ति का, जो तुम्हीने बनाई है और मुझ-सरीखे कौडीहीन दर-दर के भिखारी का, ठुकराये जानेवाले का, उपहास किये जानेवाले का डर और ईश्वर के राज्य को छोड कर बाकी सब चीजो का डर। खून-खराबी और धन-दौलत के सिवा और किसी वस्तु मे श्रद्धा नही। तुम जो रोम के हिमायती हो, जग-जाहिर कायर हो और मै जो ससार मे ईश्वरीय सत्ता का हामी हूँ, प्राणो की बाजी लगा चुका हूँ, अपना सब कुछ तक गवाँ चुका हूँ और इस प्रकार अमर साम्राज्य विजय कर चुका हूँ।"

लेकिन गाधीजी की महानता का, भारत के प्रति उनकी महान् सेवाओ का या मेरे प्रति की गई उनकी महान् उदारताओ का, जिनके लिए मै उनका ऋणी हूँ, कोई प्रश्न ही नही है। इस सब बातो के होते हुए भी वह बहुत-सी बातो मे, बुरी तरह गलती कर सकते है। आखिर उनका लक्ष्य क्या है ? इतने वर्षो तक उनके नजदीक-से-नजदीक रहने पर भी मुझे खुद अपने दिमाग मे यह बात साफ-साफ नही दिखाई देती कि उनका ध्येय आखिर क्या है। मुझे तो इस बात मे भी शक है कि इस मामले मे खुद उनका दिमाग कहाँतक साफ है। वह कहते है कि मेरे लिए तो एक ही कदम काफी है, और वह भविष्य की तरफ देखने की, अपने सामने कोई सुनिश्चित ध्येय रखने की कोशिश नही करते। वह यह कहते हुए कभी नही थकते कि हम अपने साधनों की चिन्ता रक्खे तो साध्य अपने आप ठीक होजायगा। अपने निजी जीवन मे पवित्र बने रहो तो बाकी सब बाते अपने आप ठीक हो जायँगी। यह दृष्टि न तो राजनैतिक है, न वैज्ञानिक, और शायद यह तो नैतिक भी नही है। यह तो सकुचित आचार दृष्टि है, जो इस प्रश्न का, कि सदाचार क्या वस्तु है, पहले से ही निर्णय कर लेती है। क्या वह केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है या सामाजिक विषय ? गाधीजी चारित्र्य पर ही सब जोर लगा देते है, और मानसिक-शिक्षा और विकास को बिलकुल महत्व नही देते। यह ठीक है कि चरित्र के बिना बुद्धि खतरनाक साबित होसकती है,

लेकिन बुद्धि के बिना चरित्र मे क्या रह जाता है? आखिर चरित्र का विकास कैसे होता है? गाधीजी की तुलना मध्यकालीन ईसाई सन्तों से की गई है और वह जो कुछ कहते है उसका अधिकाँश इसके अनुकूल भी है। लेकिन वह आजकल मनोवैज्ञानिक अनुभव और तरीके से कतई मेल नही खाता।

लेकिन यह कुछ भी हो, ध्येय की अस्पष्टता तो मुझे अत्यन्त खेदजनक मालूम होती है। किसी भी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्येय सुनिश्चित और सुस्पष्ट हो। जीवन केवल तर्कशास्त्र नही है और यद्यपि उसकी सफलता के लिए समय-समय हमे अपने आदर्श बदलने पडते हों, फिर भी हमे कोई-न-कोई स्पष्ट आदर्श तो अपने सामने रखना ही होगा।

मेरा खयाल है कि ध्येय के सम्बन्ध मे गाधीजी के विचार उतने धुधले नही है जितने वह कभी-कभी मालूम होते है। वह किसी एक खास दिशा मे जाने के लिए बहुत अधिक उत्सुक है। लेकिन उस तरफ जाना आजकल के खयाल और आजकल की परिस्थितियों के बिलकुल खिलाफ है और अबतक वह इन दोनो का एक दूसरे से मेल नही मिला पाये है, न कोई बीच की वे सब पगडण्डियाँ ही खोज पाये है जो उन्हे अपने निश्चित स्थान पर पहुँचा दे। यही उनके ध्येय की अस्पष्टता और उसके स्पष्टीकरण के अभाव का कारण है। लेकिन कोई पचीस बरस से, उस वक्त से, जबसे उन्होंने दक्षिण अफ्रीका मे अपने जीवन-सिद्धान्त निश्चित करने शुरू किये तबसे उनका साधारण दृष्टिकोण कैसा रहा है, यह साफ ज़ाहिर है। मुझे पता नही कि उनके वे शुरू के लेख, अब भी उनके विचारो के द्योतक है या नही। वे उनके विचारो को पूरी तरह व्यक्त करते है, मुझे तो इस बात मे शक है, लेकिन फिर भी उनसे हमे उनके विचारो की तह मे जो भावनाये काम करती रही है उनके समझने मे मदद मिलती है।

१९०९ मे उन्होने लिखा था—"हिन्दुस्तान का उद्धार इसीमे है कि उसने पिछले पचास साल में जो कुछ भी सीखा है उसे भूल जाय। रेलवे,

तार, अस्पताल, वकील, डाक्टर और इस तरह की सभी चीजे मिट जानी चाहिएँ, और ऊँची कही जानेवाली जातियो को स्वेच्छापूर्वक धर्म-भाव से और निश्चित रूप से किसानो का सादा जीवन बिताना सीखना चाहिए, क्योकि इस प्रकार का जीवन ही सच्चा सुख देनेवाला है।" और "जब-जब मै रेल या मोटर मे बैठता हूँ, मुझे ऐसा महसूस होता है कि जिस बात को मै ठीक समझता हूँ उसीके साथ मै हिसा कर रहा हूँ।" "इतनी अधिक कृत्रिम और तेजी से चलनेवाली चीजो से दुनिया का सुधार करने की कोशिश बिल्कुल नामुमकिन है।"

ये सब मुझे बिलकुल गलत और नुकसान पहुँचानेवाली बाते मालूम होती है जिनका पूरा हो सकना असम्भव है। कष्ट-सहन और तपस्वी-जीवन के प्रति गाधीजी का जो प्रेम और आदर है वही उक्त सब बातो का कारण है। उनके मत मे उन्नति और सभ्यता इस बात मे नही है कि हम अपनी आवश्यकताओ को बढाते चले जायँ और अपने रहन-सहन का ढँग ज्यादा खर्चीला करले, बल्कि इस बात मे है कि "हम अपनी जरूरतो को स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक कम करले, क्योकि ऐसा करने से सच्चा सुख और सन्तोष मिलता है और सेवा करने की शक्ति बढती है।" अगर हम एक बार इन उपपत्तियो को मानले तो गाधीजी के बाकी के विचारो और उनके कार्य-कलापो को समझना आसान होजाता है। लेकिन हममे से ज्यादातर लोग इनको नही मानते और जब हम यह देखते है कि उनके काम हमारी पसन्द के मुताबिक नही है, तब हम उनकी शिकायत करने लगते है।

व्यक्तिगत रूप से मुझे गरीबी की और तकलीफ झेलने की तारीफ करना पसन्द नही है। मै यह नही समझता कि वे किसी प्रकार वाँछनीय है, बल्कि मेरी राय मे तो उन्हे मिटा देना चाहिए। न मै सामाजिक आदर्श की दृष्टि से तपस्वी-जीवन को पसन्द करता हूँ, चाहे कुछ व्यक्तियों के लिए वह ठीक ही हो। मै सादगी, समानता और आत्म-सयम चाहता हूँ और उसकी कद्र भी करता हूँ, लेकिन शरीर का दमन करने के पक्ष मे नही हूँ। मेरा विश्वास है कि जैसे खिलाड़ी या पहलवान के लिए

अपने शरीर की साधना जरूरी है वैसे ही इस बात की भी जरूरत है कि हम अपने मन और अपनी आदतो को साधे और उन्हे अपने नियन्त्रण मे रक्खे। यह आशा करना तो बेहूदगी होगी कि जो व्यक्ति अत्यधिक विलासमय जीवन मे फँसा हुआ है, वह सकट के दिन आने पर ज्यादा तकलीफ बर्दाश्त कर सकेगा या असाधारण आत्म-सयम दिखा सकेगा या वीरोचित व्यवहार कर सकेगा। नैतिक दृष्टि से उच्च रहने के लिए भी साधना की कम-से-कम उतनी ही जरूरत है जितनी कि शरीर को अच्छी हालत मे रखने के लिए। लेकिन सचमुच इसके मानी न तो तप ही है और न आत्मपीडन ही है।

'किसानो की-सी सादा जिन्दगी' का आदर्श मुझे जरा भी अच्छा नही लगता। मै तो करीब-करीब उससे घबडाता-सा हूँ और खुद उनकीसी जिन्दगी बर्दाश्त करने के बदले मे तो किसानो को भी उस जिन्दगी मे से खीचकर बाहर निकाल लाना चाहता हूँ—उन्हें शहरी बनाकर नही बल्कि देहात मे शहरो की सास्कृतिक सुविधाये पहुँचा कर। किसानों की-सी यह सादा जिन्दगी मुझे सुख तो कतई नही देती, वह तो मुझे करीब-करीब उतनी ही बुरी मालूम होती है जितना कि जेलखाना। आखिर "फावडेवाले आदमियो" मे ऐसी क्या बात है कि उसे अपना आदर्श बनाया जाय? असख्य युगो से इस पद-दलित और शोषित प्राणी मे और उन पशुओ मे जिनके साथ वह रहता है, कोई अन्तर नही रह गया है।

"किसने यों कर दिया उसे है मृत-सा हर्ष-निराशा से?
व्याकुल नहीं शोक से होता, और प्रफुल्लित आशा से।
स्तब्ध, मूक, जड़रूप खडा वह, करे शिकायत क्या किससे?
मानव है या वृषभ सहोदर उपमा इसकी दें जिससे।"[1]

मानव बुद्धि से काम न लेकर पुराने जगलीपन की स्थिति मे, जहाँ बौद्धिक विकास के लिए कोई स्थान नही था पहुँचने की बात मेरी समझ मे बिलकुल नही आती। स्वय उस वस्तु को, जो मानवप्राणी के लिए

---

१. अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

उसकी विजय और गौरव की बात है, बुरा बताया जाता है और अनुत्साहित किया जाता है और वह भौतिक स्थिति, जो दिमाग के लिए भाररूप है और उसकी तरक्की को रोकती है, वाञ्छनीय समझी जाती है। वर्तमान सभ्यता बुराइयो से भरी हुई है, लेकिन उसमे अच्छाइयाँ भी भरी पडी है, और उसमे वह ताकत भी है जिससे वह अपनी बुराइयो को दूर कर सके। उसको जड-मूल से बरबाद करना, उसकी इस ताकत को भी बरबाद करना होगा और फिर उसी नीरस प्रकाशहीन और दु खमय स्थिति की ओर पहुँचना होगा। यदि ऐसा करना वाञ्छनीय हो, तो भी वह एक अनहोनी बात है। हम परिवर्तन की नदी को रोक नही सकते, न अपने को उसके बहाव से निकाल सकते है, और मनोविज्ञान की दृष्टि से हममे से जिन लोगो ने वर्तमान सभ्यता का स्वाद चख लिया है वे उसे भूलकर पुरानी जगलीपन की स्थिति मे जाना पसन्द नही कर सकते।

इस बात मे तर्क करना मुश्किल है, क्योकि ये दोनो दृष्टिकोण बिलकुल जुदे है। गाधीजी हमेशा व्यक्तिगत मुक्ति और पाप की भाषा मे सोचते है, जब कि हममे से अधिकाश लोगो के मन मे समाज की भलाई सबसे ऊपर है। मेरे लिए पाप की कल्पना को समझ सकना मुश्किल मालूम पडता है और शायद इसीलिए मै गाधीजी के साधारण दृष्टिकोण को नही समझ पाता हूँ। वह समाज या सामाजिक ढाँचे को बदलना नही चाहते, वह तो व्यक्तियो मे से पाप की भावना को नष्ट कर देना चाहते है। उन्होने लिखा है कि "स्वदेशी का माननेवाला कभी दुनिया को सुधारने के निरर्थक प्रयत्न में हाथ नही डालेगा, क्योकि उसका विश्वास है कि दुनिया उन्ही नियमो से चलती आयी है और चलती रहेगी, जो ईश्वर ने बना दिये है।" फिर भी दुनिया को सुधारने के प्रयत्नो मे वह काफी आगे बढ जाते है। पर वह जो सुधार करना चाहते है वह है व्यक्तिगत सुधार, जिसके मानी है इन्द्रियो पर और उनका उपभोग करने की पापमयी इच्छा पर, विजय प्राप्त करना। फ़ेसिज्म पर लिखने वाले एक योग्य रोमन कैथलिक लेखक ने आजादी की जो परिभाषा

की है, शायद गाधीजी उससे सहमत होंगे। वह परिभाषा यह है—"आज़ादी पाप के बन्धन से छुटकारा पाने के सिवाय और कुछ नही है," दो सौ वर्ष पहले लन्दन के बिशप ने जो शब्द लिखे थे उनसे यह कितना मिलता-जुलता है। वे शब्द ये थे—"ईसाई धर्म जो आज़ादी देता है वह है पाप और शैतान के बन्धनो से और मनुष्य की बुरी कामनाओ, वासनाओ और असाधारण इच्छाओ के जाल से मुक्ति।"[१]

अगर एक बार इस दृष्टिकोण को समझ लिया जाय तो स्त्री-पुरुष के सहवास के बारे मे गाँधीजी का जो रुख है और जो कि आजकल के औसत आदमी को गैरमामूली-सा मालूम होता है वह भी कुछ-कुछ समझ मे आसकता है। उनकी राय मे "जब सन्तान की इच्छा न हो तब स्त्री-पुरुष को आपस मे सहवास करना पाप है। और 'सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनो को काम मे लाने का परिणाम नपुसकता और स्नायविक ह्रास होता है।" "अपने कामो के परिणामो से बचने की कोशिश करना गलत और पापमय है। यह बुरा है कि पहले तो ज़रूरत से ज्यादा पेट भरले और फिर कोई टॉनिक या दूसरी दवा लेकर उसके नतीजो से बचने की कोशिश करे। और यह तो और भी बुरा है कि कोई शख्स पहले तो अपने पाशविक मनोविकारो को तृप्त करे और फिर उसके परिणामों से बचे।"

व्यक्तिगत रूप से मै गाधीजी के इस रुख को बिलकुल अस्वाभाविक और भयावह पाता हूँ और अगर गाधीजी की बात सही है तो मै तो उन पापियो मे से हूँ जो नपुसकता और स्नायविक ह्रास के किनारे पहुँच चुके है। रोमन कैथलिको ने भी बड़े जोरो से सन्तति-निग्रह का विरोध किया है। लेकिन वे अपनी दलीलों को उस आखिरी दर्जे तक नही लेगये जिस दर्जे तक गांधीजी ले गये है। उसे वे इन्सानी फितरत समझते है, उसके साथ उन्होने कुछ समझौता कर लिया है और समयानुसार

---

१. यह उद्धरण जिस पत्र से लिया गया है वह पीछे ५९७ पृष्ठ पर दिया जा चुका है।

छूट देदी है।[1] लेकिन गांधीजी तो अपनी दलील को आखिरी हद तक पहुँच गये है और वह तो सन्तान पैदा करने के सिवा और किसी भी समय स्त्री-पुरुष के प्रसग को जरूरी या न्याय्य नही समझते। वह इस बात को मानने से इन्कार करते है कि स्त्री-पुरुषो मे परस्पर एक-दूसरे की तरफ कुदरती खिचाव होता है। उनका कहना है—"लेकिन मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श तो असम्भव कल्पना है और स्त्री-पुरुष मे जो एक-दूसरे के लिए स्वाभाविक आकर्षण होता है उसे मै ध्यान मे नही रखता। मै यह मानने से इन्कार करता हूँ कि जिस आकर्षण का सकेत किया गया वह किसी भी हालत मे प्राकृतिक माना जासकता है, और अगर वह ऐसा ही है तो सर्वनाश को बहुत निकट समझना चाहिए। पुरुष और स्त्री मे जो स्वाभाविक सम्बन्ध है वह वही आकर्षण है जो भाई और बहन मे, माँ और बेटे मे, बाप और बेटी मे होता है। यही वह स्वाभाविक आकर्षण है, जो दुनिया को कायम रक्खे हुए है।" और आगे चलकर इससे भी ज्यादा जोर से कहते है—"नही, मुझे अपनी पूरी ताकत के साथ कहना चाहिए कि पति-पत्नी का ऐन्द्रिक आकर्षण भी अप्राकृतिक है।"

ऑडीपस कॉम्प्लेक्स[2] और फ्रॉयड के विचारो और मनोवैज्ञानिक

---

१ ईसाइयो के विवाह के बारे में पोप ११ वे पायस ने ३१ दिसम्बर १९३१ को जो धर्माज्ञा दी है उसमें कहा है—"अगर विवाहित लोग अपने हकों का गम्भीर और प्राकृतिक कारणों से उपयोग करे तो यह नही माना जाना चाहिए कि वे प्रकृति की व्यवस्था के खिलाफ काम कर रहे है, फिर चाहे समय की परिस्थिति या किसी खराबी के कारण उनके बच्चे पैदा हों या न हो!" समय की परिस्थिति से मतलब जाहिरा तौर पर 'सुरक्षित समय कहे जानेवाले' उस वक़्त से है, जब गर्भाधान सम्भव नहीं समझा जाता।

२. ऑडीपस थेबीज के राजा लेइस का लडका था। इसके जन्म के समय यह भविष्यवाणी हुई थी कि लेइस अपने लड़को के हाथो मारा

विश्लेषण के इस युग मे किसी विश्वास को इतने जोरदार शब्दो मे प्रकट करना आश्चर्यजनक और असामयिक मालूम होता है। यह तो श्रद्धा का सवाल है, तर्क का नही। इसे आप माने या न माने। इसके बारे मे कोई बीच का रास्ता नही है। अपनी तरफ से तो मै कह सकता हूँ कि इस मामले मे गाधीजी बिलकुल गलती पर है। कुछ लोगो के लिए उनकी सलाह ठीक होसकती है, लेकिन एक व्यापक नीति के रूप मे तो इसका नतीजा यही होगा कि लोग ध्वजभग, मृगी वगैरा तरह-तरह के शारीरिक और स्नायविक बीमारियो के शिकार हो जायँगे। विषयभोग मे सयम जरूर होना चाहिए, लेकिन मुझे इस बात मे शक है कि गाधीजी के उसूलों से यह सयम किसी बडी हद तक होसकेगा। वह सयम बहुत अधिक कडा है, और ज्यादातर लोग यही समझते है कि वह उनकी ताकत के बाहर है, और इसलिए आमतौर पर अपने मामूली तरीके पर चलते रहते है और अगर नही चलते तो पति-पत्नी मे खटपट होजाती है। स्पष्टत गाधीजी यह समझते हैं कि सन्तति-निग्रह के साधनों से निश्चत रूप से लोग अत्यधिक मात्रा मे काम-तृप्ति मे लग जायँगे और अगर स्त्री और पुरुष का यह इन्द्रिय-

---

जायगा। इस पर लेइस ने उसे एक चरवाहे को दे दिया; और उसने कारिन्थ के बादशाह पॉलिबस को देदिया। उसनें उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। जब ऑडीपस बड़ा हुआ और जब उसे इस भविष्य-वाणी का पता लगा कि वह अपने बाप को मार डालेगा, अपनी माँ से शादी कर लेगा, तो घर छोड़कर चल दिया। रास्ते में उसे उसका बाप लेइस और माँ जोकेस्टा मिली। वह उन्हे पहचानता न था, अतः बात-ही-बात में उत्तेजना बढ़ जाने पर उसने लेइस को मार डाला और जोकेस्टा से शादी करली। उससे उसके तीन बच्चे हुए। अतः मनःशास्त्री फ्रॉयड के मतानुसार 'ऑडीपस कॉम्प्लेक्स का अर्थ है, वह चित्तवृत्ति जिसके अनुसार लडके की अपनी मां के प्रति और लडकी का अपनें पिता के प्रति कामुक आकर्षण हो। —अनु०

सम्बन्ध मान लिया जाय, तो हर मर्द हर औरत के पीछे दौडेगा और इसी तरह हर स्त्री हर पुरुष के पीछे। उनके दोनों निष्कर्षो में से एक भी सही नही है, और यद्यपि यह सवाल वहुत महत्वपूर्ण है फिर भी मेरी समझ मे यह नही आता कि गाँधीजी उसपर इतना ज्यादा ज़ोर क्यों देते है। उनके लिए तो इसके दो ही पहलू है--इस पार या उस पार, वीच का कोई रास्ता नही है। दोनो ओर वह ऐसी पराकाष्ठा को पहुँच जाते है जो मुझे वहुत गैर-मामूली और अप्राकृतिक मालूम होती है। इन दिनो हमारे ऊपर काम-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य की जो प्रलयकारी वाढ आरही है शायद उसीकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गाँधीजी ऐसी वाते कहते है। मै मानता हूँ कि मै एक साधारण व्यक्ति हूँ और मेरे जीवन मे वैपयिक भावना का असर रहा है। लेकिन न तो मै कभी उसके कावू मे हुआ और न उसकी वजह से कभी मेरे कोई दूसरे काम रुके। यह केवल गौण रूप मे ही रही है।

गाँधीजी की वृत्ति तो दरअसल उस तपस्वी साधू जैसी है जिसने दुनिया और उसके तौर-तरीको से किनारा कर लिया है, जो जीवन को मिथ्या मानता है और उसकी उपेक्षा करता है। किसी योगी के लिए यह है भी स्वाभाविक, लेकिन जो ससारी स्त्री-पुरुप जीवन को मिथ्या नही मानते और उसका सर्वोत्तम उपयोग करने की कोशिश करते है उनके लिए यह वहुत दूर की वात है। इसलिए, इस एक वुराई से वचने के लिए उन्हे दूसरी और उससे भी वडी-वडी वुराइयो को वरदाश्त करना पडता है।

मै विषय से वाहर वह पडा हूँ। लेकिन अलीपुर-जेल के उन दुख-दायी दिनो मे सभी तरह के विचार मेरे मन मे छाये रहते थे। वे किसी तर्क-सम्मत क्रम या व्यवस्थित रूप मे नही होते थे, वल्कि विखरे हुए और वे-सिलसिलेवार होते थे और अक्सर मुझे व्यग्र और परेशान कर डालते थे। और इन सवसे वढकर एकान्त और सूनेपन का वह भाव था जो जेल की दम घोटनेवाली आवोहवा से और मेरी छोटी-सी एकान्त कोठरी की वजह से और भी वढ जाता था। अगर मै जेल से

बाहर होता तो मुझे जो चोट पहुँची वह क्षणिक होती और मै ज्यादा जल्दी नई स्थितियों के अनुकूल बन जाता, और अपना गुब्बार निकाल-कर अपने मन माफिक काम करके अपने दिल को हलका कर लेता। पर जेल के अन्दर ऐसा नही हो सकता था, इसलिए मेरे कुछ दिन बड़ी बुरी तरह बीते। खुशकिस्मती से मै बड़ा खुशमिजाज हूँ और मायूसी के हमलो से बडी जल्दी सम्हल जाता हूँ। इसलिए मै अपने दुःख को भूलने लगा। इसके बाद जेल में कमला से मेरी मुलाकात हुई। उससे मुझे और भी खुशी हुई और मेरी अकेलेपन की भावना दूर हो गई। मैंने महसूस किया कि कुछ भी क्यो न हो हम एक-दूसरे के जीवन-साथी तो है ही।

: ६२ :

विकट समस्यायें

जो लोग गाधीजी को व्यक्तिगत रूप से नही जानते और जिन्होंने सिर्फ उनके लेखो को ही पढा है वे अक्सर यह सोच बैठते है कि गाधीजी कोई विरक्त साधू-से है---खुश्क जाहिद की तरह मनहूस और मुहँ लटकाये हुए। लेकिन गाधीजी के लेख गाधीजी के साथ अन्याय करते है। वह जो कुछ लिखते है उससे वह खुद कही ज्यादा बडे है। इसलिए उन्होने जो कुछ लिखा है उसको उद्धृत करके उनकी आलोचना करने बैठ जाने से उनके साथ पूरी तरह इन्साफ नही किया जा सकता। धर्मोपासको के रास्ते से उनका रास्ता बिलकुल जुदा है। उनकी मुस्कराहट आल्हादकारक होती है, उनकी हँसी सबको हँसा देती है, और वह विनोद की एक लहर बहा देते है। उनमे भोले बच्चो की-सी कुछ ऐसी बात है जो मोह लेनेवाली है। जब वह किसी कमरे मे पैर रखते है तो अपने साथ एक ऐसी ताजी हवा का झोका लेते आते है जो वहाँ के वातावरण को आमोदित कर देता है।

वह उलझनो के एक असाधारण नमूने है। मेरा खयाल है कि तमाम मशहूर और खास शख्स कुछ-न-कुछ हद तक ऐसे ही होते है। बरसो इस पेचीदा सवाल ने मुझे परेशान किया है कि यह क्या बात है कि गाधीजी पीडितो के लिए इतना प्रेम और उनकी भलाई का इतना खयाल रखते हुए भी एक ऐसी प्रणाली का समर्थन करते है जो लाजिमी तौर पर पीडितो को पैदा करती है और फिर उन्हे कुचलती है। और यह क्या बात है कि एक तरफ तो वह अहिसा के ऐसे अनन्य उपासक है, और दूसरी तरफ एक ऐसे राजनैतिक और सामाजिक ढाँचे के पक्ष मे है जो सोलहो आने हिसा और बलात्कार पर ही टिका हुआ है? शायद यह कहना सही नही होगा कि वह ऐसी प्रणाली के पक्ष मे है। वह तो कम-बढ़ एक दार्शनिक अराजक है लेकिन क्योंकि अराजको का आदर्श एक

तो अभी बहुत दूर है और हम आसानी से उसका क़यास भी नही कर सकते, इसलिए वह मौजूदा अवस्था को मजूर करते है। मेरा खयाल है कि प्रणाली को बदलने मे हिंसा के इस्तेमाल की बाबत उन्हे जो ऐतराज है वह महज साधन के लिहाज से ही नही है, क्योंकि मौजूदा व्यवस्था को बदलने के लिए किन जरियो से काम लेना चाहिए इस सवाल से बिलकुल अलग हम एक ऐसे आदर्श ध्येय को अपनी आँखों के सामने रख सकते है, जिसको ज्यादा दूर के भविष्य मे नही, नजदीक भविष्य मे ही, पूरा कर लेना हमारे लिए मुमकिन है।

कभी-कभी वह अपने को समाजवादी भी कहते है लेकिन वह समाजवाद शब्द का प्रयोग एक ऐसे अनोखे अर्थ मे करते है जो खुद उनका अपना लगाया हुआ है और जिसका उस आर्थिक ढाँचे से कोई सरोकार नही है जो आमतौर पर समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। उनकी रहनुमाई में पीछे-पीछे चलते हुए कुछ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कॉग्रेसी भी उन्ही के अर्थ मे समाजवाद शब्द का इस्तैमाल करने लगे है, लेकिन उस समाजवाद से उनका मतलब खुदा के बन्दो की एक किस्म की गोलमोल खिदमत से होता है। इस गोलमटोल राजनैतिक शब्दावली का प्रयोग करने की गलती मे बडे-बडे नामी शख्स उनके साथ है क्योकि वह तो सिर्फ ब्रिटिश नेशनल सरकार के प्रधान मत्री की मिसाल के पीछे ही चल रहे है।[1] मै यह जानता हूँ कि गाधीजी समाजवाद से नावाकिफ नही है क्योकि उन्होने अर्थशास्त्र, समाजवाद और मार्क्सवाद पर भी बहुत-सी किताबे पढी है और इन विषयो पर दूसरों

---

१. जनवरी, सन् ३५ में एडिनबरा में अनुदार और यूनियनिस्टो के एसोसियेशन के संघ को एक सन्देश देते हुए मि० रेमजे मेकडॉनल्ड ने कहा था कि—"समय की कठिनाइयाँ हरेक मुल्क के लोगो के लिए यह लाजिमी बना रही है कि वे एक होकर अपनी तमाम ताकत से काम करे। यही सच्चा समाजवाद है, और यही सच्ची राष्ट्रीयता भी है और सच बात तो यह है कि सच्चा व्यक्तिवाद भी यही है।"

के साथ वाद-विवाद भी किया है, लेकिन मेरे मन मे यह विश्वास घर करता जाता है कि अत्यन्त महत्व के मामलो मे अकेला दिमाग बज़ात खुद हमे ज्यादा दूर तक नही ले जाता। विलियम जेम्स ने कहा है कि—"अगर आपका दिल नही चाहता तो इतमीनान रखिए कि आपका दिमाग आपको कभी भी विश्वास नही करने देगा।" हमारे मनोविकार हमारी आम निगाह पर शासन करते है और मन उनके काबू मे रहता है। हमारी बातचीत फिर चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक या आर्थिक, असल मे तो सहजज्ञान या मनोभावो पर ही निर्भर रहती है। शोपेनहर ने कहा है कि—"मनुष्य जिस बात का सकल्प करे, उसे वह पूरा कर सकता है, लेकिन वह जिस बात का सकल्प करना चाहे उसका सकल्प नही कर सकता।"

दक्षिण अफ्रीका मे अपने शुरू के दिनो मे गाधीजी मे बहुत जबरदस्त तबदीली हुई। इससे वह एक दम हिल गये और जीवन के बारे मे उनकी सारी विचार-दृष्टि बदल गई। तबसे उन्होने अपने तमाम खयालो के लिए एक बुनियाद बनाली और अब वह किसी सवाल पर उस बुनियाद से हटकर स्वतन्त्र रूप से विचार नही कर सकते। जो लोग उनको कई बाते सुझाते है उनकी बातो को वह बडे भारी धीरज और ध्यान से सुनते है, लेकिन उनसे बाते करनेवाले पर यह असर पडता है कि वह जो शराफत व दिलचस्पी दिखा रहे है उस सबके बावजूद उन बातो के लिए उनके मन का दरवाज़ा बन्द है। कुछ विचारों से उनका लगर ऐसा बन्ध गया है कि और सब बाते उन्हे महत्त्व की नही मालूम होती। उनकी राय में दूसरी और अ-प्रधान बातो पर ज़ोर देने से ज्यादा बडी योजना से ध्यान हट जायगा और उसका रूप विकृत हो जायगा। अगर हम उस लगर को पकडे रहे तो नतीजा यह होगा कि दूसरे सभी काम ज़रूरीतौर पर अपने-आप वाजिब तरीके से ठीक हो जायँगे। अगर हमारे साधन ठीक है तो साध्य भी लाजिमीतौर पर ठीक हो जायगा।

मेरे खयाल से उनके विचारों का आधार यही है। वह समाजवाद

को और उससे भी ज्यादा खासतौर पर मार्क्सवाद को सदेह की दृष्टि से देखते है, क्योकि वह हिंसा से सम्बन्धित है। 'वर्ग-युद्ध' शब्द मे ही उन्हे लडाई और हिंसा की बू आती है, और इसलिए वह उसे नापसन्द करते है। इसके अलावा वह यह भी नही चाहते कि आम लोगो के रहन-सहन को एक बहुत मामूली पैमाने से ज्यादा ऊँचा बढाया जाय, क्योकि अगर लोग ज्यादा आराम से और फुर्सत मे रहेगे तो उससे भोग-विलास और पाप की वृद्धि होगी। यही क्या कम बुरा है कि मुट्ठीभर अमीर लोग भोग-विलास मे लगे रहते है, अगर ऐसे लोगों की तादाद और भी बढा दी गई तब तो बहुत ही बुरा हो जायगा। १९२६ मे उन्होने जो एक खत लिखा था उससे हम ऐसे ही कुछ नतीजे निकाल सकते है। इग्लैण्ड मे उन दिनो कोयले की खानो मे मजदूरो ने बहुत बडी हडताल करदी थी, और खानो के मालिको ने खाने बन्द करदी थीं। इस कशमकश के दौरान मे उनके पास जो खत आया था, उसके जवाब मे उन्होंने यह खत लिखा था। जिन साहब ने उन्हे खत भेजा था, उन्होने उसमे यह दलील पेश की थी कि इस लडाई मे मजदूर हार जायेंगे, क्योकि उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। इसलिए उन्हे चाहिए कि वह कृत्रिम साधनो से मदद लेकर ज्यादा सन्तान पैदा करना बन्द करदे और इस तरह अपनी तादाद घटाले। इस खत का जवाब देते हुए गाधीजी ने लिखा था—

"आखिरी बात यह है कि अगर खानो के मालिक गलत रास्ते पर होनेपर भी जीत जायेगे, तो उनकी यह जीत महज इसलिए नहीं होगी कि मजदूर ज्यादा सन्तान पैदा करते है, बल्कि इसलिए होगी, कि मजदूरो नें ज़िन्दगी मे हर तरफ सयम से काम लेना नहीं सीखा। अगर खानो के मज़दूरो के बच्चे न हो तो उन्हे अपनी हालत बेहतर बनाने की कोई प्रेरणा ही नहीं रहेगी, और फिर वे यह बात भी कैसे साबित कर दिखायेगे कि उनकी मजदूरी बढाई जाने की जरूरत है? उनको शराब पीने, जुआ खेलने और सिगरेट पीने की कोई जरूरत है? क्या इसके जवाब मे यह कहना ठीक होगा कि खानों के मालिक भी तो यह सब काम करते है, और फिर भी वे चैन की बसी बजाते है? अगर मजदूर

इस बात का दावा नही कर सकते कि वे कुछ बात मे पूंजीपतियो से बेह-तर है तो फिर उन्हे दुनिया की हमदर्दी हासिल करने का क्या हक है ? क्या इसलिए कि वे पूंजीपतियो की तादात बढावे और पूंजीवाद को मजबूत करे ? हमसे कहा जाता है कि सब लोकतन्त्र के सामने अपने सिर झुकादे, क्योकि वादा यह किया जाता है कि जब लोकतन्त्र की पूरी हुकूमत होगी तब दुनिया की हालत बेहतर हो जायगी। पूंजीवाद और पूंजीपतियो के सिर हम जिन बुराइयो को थोपते है, वे ही खुद हमे और भी ज्यादा बडे पैमाने पर पैदा नही करनी चाहिएँ।"[१]

जब मने इसे पढा, तब खानो मे काम करनेवाले अग्रेज मजदूरों और उनकी औरतो व बच्चो के भूख से उतरे हुए और पिचके हुए चेहरे मेरी आँखो के सामने आगये, जो मैंने १९२६ की गर्मियो मे देखे थे। वे गरीब मजदूर उस समय उन्हे कुचलनेवाली पैशाचिक प्रणाली के खिलाफ लड रहे थे। इस लडाई मे वे बिलकुल असहाय थे और उनकी हालत पर रहम आता था। गाधीजी ने जो बाते लिखी है, वे पूरी तरह सही नही है, क्योकि खानो के मजदूर मजदूरी बढावाने के लिए नही लड रहे थे, वे तो इस बात के लिए लड रहे थे कि जो मजदूरी उन्हे मिलती है उसमे कमी न की जाय, और जो खाने बन्द करदी गई थी वे खोल दी जायँ। लेकिन इस वक्त हमे इन बातो से कोई ताल्लुक नही। न हमारा ताल्लुक इसी बात से है कि मजदूर लोग कृत्रिम साधनों की मदद लेकर सन्तान पैदा करना रोके या न रोके, यद्यपि मालिको और मजदूरो के लडाई-झगडे को निबटाने के लिए यह एक निराला-सा सुझाव था। मैंने तो गाधीजी के जवाब मे से इतनी बात यहाँ इसलिए दी है कि जिससे हम लोगो को यह बात समझने मे मदद मिले कि मजदूरों के रहन-सहन के ढँग को ऊँचा बनाने की आम माँग के मामले मे और मजदूरों के दूसरे मामलो मे गाधीजी का दृष्टिकोण क्या है। उनका यह

---

१ गांधीजी ने, 'अनीति की राह पर' नाम की जो किताब लिखी है उसमें यह खत दिया गया है।

दृष्टिकोण समाजवादी दृष्टिकोण से—और समाजवादी दृष्टिकोण ही से क्यों, सच बात तो यह है कि पूंजीवादी दृष्टिकोण से भी—काफी दूर है। गाधीजी को इस बात मे ज्यादा दिलचस्पी नही है कि अगर स्वार्थी समुदाय रास्ते के रोडे न बने तो यह बात करके दिखाई जा सकती है कि विज्ञान और धधो की कला के ज़रिये हम आज तमाम लोगो को अबसे कही ज्यादा बडे पैमाने पर खाने-पहनने और रहने को दे सकते है और उनके रहन-सहन के ढँग को बहुत ज्याद ऊँचा कर सकते है। असल बात यह है कि एक निश्चित हद से आगे वह इन बातो के लिए बहुत उत्सुक नही हे। इसीलिए समाजवाद से होनेवाले लाभ की आशा उनके लिए आकर्षक नही है और पूँजीवाद भी महज़ कुछ हद तक ही बरदाश्त किया जा सकता है—और यह भी इसलिए कि वह बुराई को सीमित रखता है। वह पूँजीवाद और समाजवाद दोनो ही को नापसन्द करते है, लेकिन पूँजीवाद को फिलहाल की बुराई समझकर उसे वरदाश्त कर लेते है। इसके अलावा वह पूँजीवाद को इसलिए भी वरदाश्त करते है, क्योकि वह तो पहले ही से मौजूद है और उसकी ओर से आँखे नही मूँदी जा सकती।

शायद उनके मत्थे ये विचार मढने मे मै गलती पर होऊँ, लेकिन मेरा यह खयाल जरूर है कि वह इसी तरह सोचते मालूम पडते है, और उनके कथनो मे हमे जो विरोधाभास और अस्तव्यस्तता परेशान करती है उसका असली कारण यह है कि उनके तर्क के आधार बिलकुल भिन्न हे। वह यह नही चाहते कि लोग हमेशा वढते जानेवाले आराम व फुर्सत को अपने जीवन का लक्ष्य बनावें। वह तो यह चाहते है कि लोग नैतिक जीवन की वाते सोचे, अपनी वुरी लते छोड दे, शारीरिक भोगों को दिन-पर-दिन कम करते जायँ और इस तरह अपनी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति करे; और जो लोग आम लोगों की माली हालत को ऊँचा उठाये, उन्हे चाहिए कि खुद उनकी तह पर नीचे चले जायँ और उनके साथ वरावरी की हैसियत से मिले। ऐसा करते हुए वे लाजिमी-तौर पर कुछ हद तक उनकी हालत वेहतर करने मे मदद दे सकेगे।

उनकी राय के मुताबिक यही सच्चा लोकतन्त्र है। १७ सितम्बर १९३४ को उन्होंने जो वक्तव्य दिया था, उसमें उन्होंने लिखा है कि, "बहुत से लोग मेरा विरोध करने में निराश हैं। मेरे लिए यह बात जलील करने जैसी है, क्योंकि मैं तो जन्म से ही लोकतन्त्री हूँ। गरीब-से-गरीब इन्सान के साथ बिलकुल उसीका-सा हो जाना जिस हालत में वह रहता है उससे बेहतर हालत में रहने की ख्वाहिश छोड़ देना, और अपनी पूरी ताकत के साथ उसकी तह तक पहुँचने की कोशिश हमेशा स्वेच्छापूर्वक करते रहना। अगर ये ऐसी बातें हैं कि जिनकी बुनियाद पर किसीको यह दावा करने का हक मिल सकता है, तो मैं यह दावा करता हूँ।"

इस हद तक तो गांधीजी की बात को सभी लोग मानेंगे कि अपने को आम लोगों से बिलकुल अलग कर लेना और अपनी विलासिता और लोगों के रहन-सहन के ढंग से कहीं ज्यादा ऊँचे ढंगों की नुमाइश उन लाखों लोगों के सामने करना जिनके पास जरूरी-से-जरूरी चीजों की भी कमी है, बहुत ही बेजा और शर्मनाक है। लेकिन इसके अलावा गांधीजी की बाकी दलीलों और उनके दृष्टिकोण से आजकल का कोई भी लोकतन्त्री, पूंजीवादी या समाजवादी सहमत नहीं हो सकता। मगर जिन लोगों का दृष्टिकोण पुराना धार्मिक दृष्टिकोण है, वे इन बातों से कुछ हदतक सहमत हो सकते हैं, क्योंकि इन लोगों की भावुकता भी अतीत से बँधी हुई है। और ये लोग हमेशा हर बात को अतीत की दृष्टि से ही देखा करते हैं। वे 'है' या 'होगा' की बाबत इतना नहीं सोचते, जितना कि 'था' की बाबत। भूतकालिक और भविष्यकालिक मनोवृत्तियों में जमीन और आसमान का फर्क है। पुराने जमाने में तो इस बात का सोचा जाना भी मुश्किल था कि आम लोगों की माली हालत को ऊँचा किया जाय। उन दिनों गरीब हमारे समाज के अभिन्न अँग बने हुए थे। उस वक्त तो मुट्ठीभर अमीर लोग थे। वे सामाजिक ढाँचों के मुख्य अंग थे। वे उत्पादन प्रणाली के जरूरी हिस्से थे, इसी-लिए सदाचारी सुधारक और परदुखकातर सभी लोगों ने उनकी सत्ता स्वीकार करली थी, लेकिन साथ ही उनको यह बात सुझाने की कोशिश

करते रहते थे कि वे अपने गरीव भाइयो के प्रति अपने कर्तव्य को न भूले। वे लोग गरीबों के ट्रस्टी होकर रहे, दानी बने, यह उसका उपदेश होता था। इस प्रकार यह दान-पुण्य का एक मुख्य अग होगया। राजा-महाराजाओं, बडे-बडे जमीदारो और पूँजीपतियो के लिए गाधीजी ट्रस्ट्री बनने के इस आदर्श पर हमेशा जोर देते रहते है। वे इस विषय मे उन अनेक धार्मिक पुरुषों की परम्परा पर चल रहे हैं, जो समय-समय पर यही कह गये है। पोप ने ऐलान किया है कि "अमीरो को यही खयाल करना चाहिए कि वे सर्वशक्तिमान के ऐसे सेवक और उसकी सम्पत्ति के ऐसे सरक्षक और बाँटनेवाले है, जिनके हाथ मे गरीवो का भाग्य ईसामसीह ने खुद सौप रक्खा है।" जनसाधारण के हिन्दू-धर्म और इस्लाम मे भी यही खयाल मौजूद है। वे हमेशा पैसेवालों से यह कहते रहते है कि दान-पुण्य करो, और पैसेवाले भी मन्दिर या मस्जिद या धर्मशालाये बनवाकर या अपनी धन-दौलत मे से गरीवों को कुछ ताँबे-चाँदी के गोल-गोल टुकडे देकर उनका हुक्म बजा लाते है और यह सोचने लगते है कि हम लोग बड़े धर्मात्मा है।

पोप तेरहवे लियो ने मई १८९१ मे जो मशहूर धर्माज्ञा निकाली थी, उसमे पुरानी दुनिया का इस मजहवी रुख को दरसानेवाला एक ज्वलन्त वाक्य है। नयी औद्योगिक परिस्थिति पर पोप ने कहा था —

"इसीलिए इन्सान के भाग्य मे यही वदा है कि वह धीरज के साथ दु खो को सहन करता जाय। इन्सान चाहे जितनी कोशिश करे, उसकी ज़िन्दगी को जो वीमारियाँ और तकलीफें रात-दिन परेशान किये रहती है, उन्हे हटाने मे कोई भी ताकत या तदवीर कारगर नही होसकती। अगर कोई शख्स ऐसे है जो कहते है कि यह वात नही है, और जो वुरी तरह दु खी लोगो दु ख और वेदना से छुटकारा या उनको शान्ति, आराम और हमेशा भोग की उम्मीद दिलाते है, तो वे लोगो को सरासर धोखा देते है। और उनके ये झूठे वादे उन वुराइयो को दुगुना कर देनेवाले है। इससे ज्यादा फायदे की वात और कुछ नही है कि हम दुनिया को वैसी ही शक्ल मे देखे, जैसी कि वह है, और साथ ही

दुनिया जिन तकलीफो मे फँसी हुई है उनके इलाज के लिए जगह तलाश करे।"

इसके आगे हमे यह बताया गया है कि यह "दूसरी जगह" कहाँ है —

"जो जीवन आनेवाला है और जो जीवन शाश्वत है उसको ध्यान मे लाये बिना इस दुनिया को न तो हम अच्छी तरह समझ ही सकते है न उनकी कीमत ही आँक सकते है···प्रकृति से हम जिस बडी सचाई का सबक सीखते हैं वह ईसाई-धर्म का भी सर्वमान्य सिद्धान्त है—यह कि वास्तव मे हमारे जीवन का आरम्भ इस लोक को पार करने के बाद ही होगा। ईश्वर ने हमे दुनिया में अनित्य और क्षणभगुर चीजो के लिए नहीं पैदा किया है, बल्कि उन चीजो के लिए पैदा किया है जो दिव्य और नित्य हैं। यह दुनिया तो ईश्वर ने हमे देश निकाले की जगह की बतौर दी है, न कि हमारे अपने देश की तरह। रुपया और वे दूसरी चीजे जिन्हे लोग अच्छी और चाहने लायक कहते है उनकी बहुतायत भी होसकती है और अभाव भी होसकता है—जहाँतक शाश्वत सुख से सम्बन्ध है, उसका होना न होना बराबर है·········।"

यह मजहबी रुख उस प्राचीन काल से बँधा हुआ है जब मौजूदा मुसीबतो से बचने का एकमात्र रास्ता परलोक की शरण लेना था। यद्यपि तबसे लोगो की आर्थिक अवस्था मे कल्पनातीत उन्नति होचुकी है, फिर भी उस गुजरे हुए जमाने की फाँसी हमारे गले मे पडी हुई है और अब भी कुछ ऐसी आध्यात्मिक बातो पर जोर दिया जाता है जो गोल-मोल है और ऊटपटाँग-सी हैं और जिनकी नाप-जोख नही हो सकती। कैथलिक लोगो की निगाह बारहवी और तेरहवी सदी की तरफ दौडती है। दूसरे लोग जिसे अधकार-युग कहते है उसीको ये ईसाई-धर्म का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं। जब साधुओ की भरमार थी, जब ईसाई राजा धर्मयुद्धो के लिए कूच करते थे और गौथिक ढँगो पर गिरजाघरो का निर्माण होता था, उनकी राय मे वह जमाना सच्चे ईसाई लोकतन्त्र का जमाना था। उन दिनो मध्यकालीन सघो के शासन मे उसकी इतनी

उन्नति हुई जितनी न पहले हुई थी न फिर बाद मे। मुसलमानों की हसरत की निगाह उस प्रारम्भकाल के खलीफाशाही की ओर दौडती है। उनकी दृष्टि मे इस्लामी लोकतन्त्र यही था, क्योंकि उन खलीफाओ ने दूर-दूर देशो में अपनी विजय-पताका फहराई थी। इसी तरह हिन्दू भी वैदिक और पौराणिक काल की बाते सोचते है। और रामराज्य के सपने देखते है। फिर भी तमाम तवारिखे हमसे यह कहती है कि उन दिनों की अधिकाँश जनता बडी मुसीबत मे रहती थी। उनके लिए तो अन्न-वस्त्र तक का घोर अभाव था। हो सकता है कि उन दिनो चोटी के कुछ मुट्ठीभर लोग आध्यात्मिक आनन्द का उपभोग करते हो, क्योकि उनके पास उसके लिए फुर्सत भी थी और साधन भी थे, लेकिन दूसरो के लिए तो यह सोचना भी मुश्किल है कि वे महज पेट पालने मे दिन-रात जुटे रहने के अलावा और कुछ करते होगे। जो शख्स भूखो मर रहा है वह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति कैसे कर सकता है ? वह तो इसी फिक्र मे लगा रहता है कि खाने का इन्तजाम कैसे हो ?

उद्योग धन्धों का जमाना अपने साथ ऐसी बहुत-सी बुराइयाँ लाया है जो घनीभूत होकर हमारी नजरो के सामने घूमती रहती है। लेकिन हम भूल जाते है कि समस्त ससार और खासकर उन हिस्सो मे, जहाँ उद्योग-धन्धे बहुतायत से छागये है, इसने भौतिक प्रगति की ऐसी बुनियाद डालदी है, जो बहुजनसमाज के लिए सास्कृतिक और आध्यात्मिक प्रगति को अत्यन्त सुगम कर देती है। यह बात हिन्दुस्तान मे या दूसरे औपनिवेशिक देशो मे साफ जाहिर नही दिखाई देती है, क्योकि हम लोगो ने उद्योगवाद से फायदा नही उठा पाया है। हम लोगो का तो उलटा उद्योगवाद ने शोषण किया है, और बहुत-सी बातों मे हमारी हालत, माली निगाह से भी पहले से भी, बदतर होगई है—सास्कृति और आध्यात्मिक दृष्टि से तो वह और भी ज्यादा बुरी होगई है। इस मामले मे कुसूर उद्योगवाद का नहीं, बल्कि विदेशी आधिपत्य का है। हिन्दुस्तान मे जो चीज पश्चिमीकरण के नाम से पुकारी जाती है उसने कम-से-कम

इस वक़्त के लिए तो, असल मे, माण्डलिकशाही को और भी मज़बूत कर दिया है। उसने हमारे एक भी मसले को हल करने के बदले उसे और भी पेचीदा कर दिया है।

लेकिन यह तो हमारी बदकिस्मती की बात हुई। मगर इस भावना से हमे आज की दुनिया को नही देखना चाहिए। क्योकि मौजूदा हालत मे तमाम समाज के लिए या उत्पादन-व्यवस्था के लिए धनवान लोग अब न तो जरूरी ही रहे है न वाञ्छनीय ही। अब वे फजूल होगये है और हर वक्त हमारे रास्ते मे रोडे की तरह अटकते है। और धर्माचार्यो के उस पुरातन उपदेश के कोई मानी नही रहे, कि धनवान लोग दान-पुण्य करे और गरीब जिस हालत मे है उसीमे सतुष्ट रहे और उसके लिए ईश्वर का धन्यवाद करे, मितव्ययी बने, और भले आदमियो की तरह रहे। अब तो मानव-समाज के साधन प्रचुरता से बढ गये है, और वह सासारिक समस्याओ का सामना कर उनका उपाय कर सकता है। ज्यादातर अमीर लोग निश्चित रूप से दूसरो के श्रम के बल पर जीवन व्यतीत करते है, और समाज मे ऐसे पराश्रयी समुदाय का होना न केवल इन उत्पादक शक्तियो के मार्ग मे बाधा है वरन् उनका अपव्यय करनेवाला भी है। यह समाज और वह प्रणाली, जो इस जमात को पैदा करती है, वास्तव मे उद्यम और पैदावार को रोकती है और समाज के दोनो भागों के बेकारो को प्रोत्साहन देती है, यानी उन लोगो को भी जो दूसरो की मेहनत पर चैन करते है और उनको भी जिनको कोई काम ही नही मिलता और जो इसलिए भूखो मरते है। खुद गाधीजी ने कुछ वक्त पहले लिखा था—"बेकार और भूखो मरनेवाले लोगों के लिए तो मजदूरी और वेतन-रूपी भोजन का आश्वासन ही ईश्वर होसकता है। ईश्वर ने अपने बन्दो को इसलिए पैदा किया था कि वे कमाकर खावे और उसने कह दिया था कि जो बिना कमाये खाते है वे चोर है।"

वर्तमान युग की पेचीदा समस्याओ को प्राचीन पद्धतियों और सूत्रों का प्रयोग कर समझने का प्रयत्न करना और उनके बारे में गये-गुजरे

जमाने की भाषा का प्रयोग करना उलझन पैदा करने और असफलता को निमन्त्रित करने का मार्ग है, क्योकि, उस जमाने मे ये समस्याये पैदा ही नही हुई थी। कुछ लोगो की यह धारणा है कि निजी मिल्कियत पर मालिकाना हक की कल्पना ससार के आदि काल से चली आने वाली कल्पनाओ मे की एक कल्पना है; किन्तु वास्तव मे यह सदा बदलती रही है। एक जमाना था जबकि गुलाम मिल्कियत समझे जाते थे। इसी तरह स्त्रिया और बालको, पति का नववधू की पहली रात पर अधिकार, और सडकों, मन्दिरों, नावों, पुलो, सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओ एवम् वायु और भूमि—इन सब पर मालिकाना अधिकार का प्रयोग किया जासकता था। पशु अब भी मिल्कियत समझे जाते हैं, हालाँकि अनेक देशो में उन पर के मालिकी के अधिकार को बहुत मर्यादित कर दिया है। युद्ध के समय मे तो निजी सम्पत्ति के अधिकारो पर लगातार कुठाराघात होता रहता है। निजी सम्पत्ति दिन-पर-दिन स्थूल रूप छोड़कर नये-नये रूप धारण कर रही है—जैसे शेयर, बैंक मे जमा की हुई और कर्ज़ के रूप में दी गई पूँजी। ज्यो-ज्यो सम्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बदलती जाती है राज्य अधिकाधिक दस्तन्दाजी करता जाता है और जनता की मागो के फलस्वरूप सम्पत्तिवालो के अन्धाधुध अधिकारो को सीमित कर देता है। सभी प्रकार के भारी-भारी टैक्स, जो एक प्रकार की जब्ती है, सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारो का अपहरण-मात्र है। सार्वजनिक हित सार्वजनिक नीति की बुनियाद है और किसी व्यक्ति को यह हक नहीं है कि वह अपने साम्पत्तिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी इस सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करे। अगर देखा जाय तो पिछले जमाने मे भी ज्यादातर लोगों के कोई साम्पत्तिक अधिकार नहीं थे, वे खुद भी दूसरो की मिल्कियत बने हुए थे। आज भी बहुत कम लोगों को ये हक हासिल हैं। स्थापित स्वार्थों की बात बहुत सुनाई देती है, लेकिन आजकल तो एक नया स्थापित स्वार्थ और माना जाने लगा है, और वह स्वार्थ यह है कि हर औरत और मर्द को यह हक है कि वह ज़िन्दा रहे, मेहनत

करे और अपनी मेहनत के फलो का उपभोग करे। सिर्फ इन बदलती रहनेवाली धारणाओ के कारण मिल्कियत और सम्पत्ति लोप नही होजाती, बल्कि उनका क्षेत्र और अधिक व्यापक होगया है, और मिल्कियत और सम्पत्ति के कुछ थोडे ही लोगो के पास केन्द्रित हो जाने से इन लोगो को दूसरो पर जो अधिकार प्राप्त होगया था वह फिर सारे समाज के हाथो मे वापस ले लिया जाता है।

गाँधीजी लोगो का आन्तरिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुधार चाहते है और इस प्रकार सारी बाह्य परिस्थिति को ही बदल देना चाहते है। वह चाहते है कि लोग बुरी आदते छोड दे, इंद्रियो के भोगो को तिलाजलि देदे और पवित्र बन जायँ। वह इस बात पर जोर देते है कि लोग ब्रह्मचर्य से रहे, नशा न करे, न सिगरेट वगैरा पीवे। इस मामले मे लोगों में मतभेद होसकता है कि इन भोगो मे से कौन-सा ज्यादा बुरा है और कौन-सा कम। लेकिन क्या इस बात मे किसीको शक हो सकता है कि ये व्यक्तिगत त्रुटियाँ व्यक्तिगत दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से तो और भी कम हानिकारक है—बनिस्बत लालच, खुदगर्जी, परिग्रह, जाती फायदे के लिए व्यक्तियो के भयानक लडाई-झगडे, जमातो और फिरको के क्रूर सघर्ष, एक जमात द्वारा दूसरी जमात के अमानुषिक शोषण और दमन व राष्ट्रो की आपस की भयानक लडाईयो के? यह सच है कि गाधीजी इस तमाम हिंसा और पतनकारी सघर्ष से नफरत करते है। लेकिन क्या ये सब बाते आजकल के स्वार्थी पूजीपति समाज मे स्वाभाविक रूप मे मौजूद नही है, जिसका कानून यह है कि बलवान लोगों को कमजोरों का खून चूसना चाहिए, और पुराने जमाने की तरह जिसका मूलमन्त्र यह है कि "जिनके बाजुओ में ताकत है वे जो चाहे सो लेले और जो रख सकते है वे जो चाहे अपने पास रखे?" इस युग की मुनाफे की भावना का लाज़िमी परिणाम सघर्ष होता है। यह सारी प्रणाली मनुष्य की लूट-खसोट की सहज वृत्तियो का पोषण करती है और उसको फलने-फूलने की पूरी सुविधा देती है। इसमे सन्देह नही कि इससे मनुष्य की उच्च भावनाओ को भी शह मिलती है; लेकिन इनकी

अपेक्षा उनकी हीन वृत्तियो को कही अधिक पोषण मिलता है। इस प्रणाली मे कामयाबी के मानी है दूसरो को नीचे गिरा देना और गिरे हुओ पर चढ बैठना। अगर समाज इन उद्देश्यो और महत्त्वाकाक्षाओ को प्रोत्साहित करता है और इन्हीकी तरफ समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति आकृष्ट होते है, तो क्या गाँधीजी यह समझते है कि ऐसे वातावरण मे वह अपने मानव-समाज को सदाचारी बनाने के आदर्श को पूरा कर सकेगे ? वह जनता को सेवा-भावमय बनाना चाहते है। सम्भव है, कुछ व्यक्तियो को बनाने मे उन्हे कामयाबी भी मिल जाय, लेकिन जब तक समाज आदर्श के रूप मे लाभ के लोभी समाज के सूरमाओं को लोगो के सामने रक्खेगा और जबतक व्यक्तिगत लाभ की भावना उसकी प्रेरक शक्ति बनी रहेगी तबतक बहुजन-समाज तो इसी मार्ग पर चलता रहेगा।

लेकिन यह मसला तो अब महज सदाचार या नीति के वादविवाद का नही है। यह तो आजकल का एक बहुत जरूरी मसला है, क्योकि दुनिया ऐसे दलदल मे फँस गई है जिससे निकलने की कोई उम्मीद नही, उसे उसमें से निकालने के लिए कोई-न-कोई रास्ता ढूँढना ही होगा। 'मिकावर'[1] की तरह हम इस बात का इन्तज़ार नही कर सकते कि कुछ-न-कुछ अपने आप होजायगा। न तो पूजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज्म आदि के बुरे पहलुओ की निरी आलोचना करने से और न यह निराधार आशा लगाए बैठे रहने से, कि कोई ऐसा बीच का रास्ता निकल आयेगा जो अभीतक की सब पुरानी और नई प्रणालियो मे की चुनी हुई अच्छी से अच्छी बातो को एक जगह मिला देगा, कुछ काम नही चलेगा।

---

१. मिकावर विल्किन्स, चार्ल्स डिकिन्स के 'डेविड कॉपरफील्ड' नामक नाटक का एक मशहूर पात्र है, जिसकी उदासीनता और प्रसन्नता क्षण-क्षण में एक-दूसरी का स्थान लेती रहती थी, जो बड़ा अदूरदर्शी और इसलिए हमेशा मुसीबतों का शिकार रहता था, और जो सदैव इस बात की प्रतीक्षा में रहता था कि अपने-आप कुछ-न-कुछ होने ही वाला है।

बीमारी का निदान करना होगा, उसका इलाज मालूम करना होगा, और उसे काम मे लाना पड़ेगा। यह बिलकुल निश्चित है कि हम जहाँ है वहाँ-के-वही खडे नही रह सकते—न तो राष्ट्रीय दृष्टि से, न अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से ही। हमारे लिए दो ही रास्ते हो सकते है, या तो पीछे हटे या आगे बढे। लेकिन शायद इस बात मे विकल्प ही नही है, क्योंकि पीछे हटने की तो कल्पना ही नही की जासकती।

फिर भी गाँधीजी की बहुत-सी कार्रवाइयों से कोई भी यह सोच सकता है कि उनका ध्येय तो स्वाश्रयी व्यवस्था को फिर से लेआना है। न केवल राष्ट्र बल्कि गाव तक को स्वाश्रयी बना देना है। प्राचीनकाल के प्रारम्भिक समाजो मे गाँव कम या अधिक स्वावलम्बी थे। वे अपने खाने को नाज, पहनने को कपडे और अपनी जरूरतो के दूसरे सामान गाँव मे पैदा कर लेते थे। निश्चय ही इसके मानी ये है कि लोग बहुत ही गरीबी के ढग से रहते होंगे। मै यह नही समझता कि गाँधीजी हमेशा के लिए यही लक्ष्य बनाये रखना चाहते है, क्योकि यह तो असम्भव लक्ष्य है। ऐसी हालत मे जिन मुल्को की आबादियाँ बहुत बढी हुई है, वे तो जिन्दा ही नही रह सकते। इसलिए वे इस बात को बरदाश्त नही करेगे कि इस कष्टमय और भूखो मरने की स्थिति की ओर लौटा जाय। मेरा खयाल है कि हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश मे, जहाँ कि रहन-सहन का स्टैण्डर्ड बहुत नीचा है, ग्रामीण उद्योगों को तरक्की देकर वहाँ की जनता के पैमाने को कुछ ऊँचा कर सकते है। लेकिन हम लोग बाकी दुनिया से उसी तरह बधे हुए है जैसे दूसरे मुल्क बधे हुए है, और मुझे यह बात बिलकुल अनहोनी मालूम देती है कि हम उनसे अलग होकर रह सकें। इसलिए हमे सब बातो को तमाम दुनिया की निगाह से देखना होगा और इस दृष्टि से देखने पर संकुचित स्वाश्रयी व्यवस्था की कल्पना नही हो सकती। ज़ाती तौर पर मै तो उसे सब दृष्टियो से अवाञ्छनीय समझता हूँ।

लाज़िमीतौर पर हमारे पास सिर्फ एक ही हल मुमकिन रह जाता है और वह है एक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना। यह व्यवस्था पहले

राष्ट्रीय सीमाओ के अन्दर कायम होगी, फिर कालान्तर मे तमाम दुनिया मे। इस व्यवस्था मे उत्पादन और सम्पत्ति का बटवारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से और जनता के हाथो से होगा। यह कैसे हो, यह एक दूसरा सवाल है। लेकिन इतनी बात साफ है कि महज़ इस खयाल से कि जिन थोड़े से लोगो को मौजूदा व्यवस्था से फायदा पहुँचता है वे उसे बदलने मे ऐतराज़ करते है, हमे अपने राष्ट्र या मनुष्य-जाति की भलाई के काम को नही रोकना चाहिए। अगर राजनैतिक या सामाजिक सस्थाये ऐसी तबदीली के रास्ते मे अडचन डालती है, तो उन सस्थाओ को मिटाना होगा। उस वाञ्छनीय और व्यवहारिक आदर्श को तिलाञ्जलि देकर इन सस्थाओ से समझौता करना बहुत बुरा विश्वासघात होगा। दुनिया की हालते इस तबदीली के लिए कुछ हद तक मजबूर और इसकी रफ्तार को तेज कर सकती है। लेकिन पूरे तौर पर तो वह तब तक मुश्किल से ही हो सकती है, जब तक जिन लोगो का उससे फायदा है उनमे से बहुत बड़ी तादाद उसे अपनी खुशी से न चाहे और न मजूर करे। इसीलिए इस बात की ज़रूरत है कि उनको समझा-बुझाकर इस तबदीली के पक्ष मे कर लिया जाय। मुट्ठीभर लोगों का षड्यन्त्र करके हिंसात्मक काम करने से काम नही चलेगा। कुदरतन् कोशिश तो इस बात की की जानी चाहिए कि जिन लोगो को मौजूदा व्यवस्था से फायदा पहुँचता है वे भी हमारे साथ होजायँ, लेकिन यह बात मुमकिन नही मालूम होती कि उनमे का अधिकाँश कभी हमारी तरफ होसकेगा।

खादी-आन्दोलन से, जो गाधीजी को विशेष रूप मे प्रिय है, उत्पत्ति के काम मे व्यक्तिवाद ओर भी गहरा होता है और इस तरह वह हमे औद्योगिक जमाने से पीछे फेक देता है। आजकल के किसी भी बडे मसले को हल करने के लिहाज से आप उस पर बहुत भरोसा कर ही नही सकते। इसके अलावा उससे एक ऐसी मनोवृत्ति पैदा होती है जो हमें सही दिशा की तरफ बढने देने मे अड़चन साबित होसकती है। फिर भी, मै मानता हूँ कि, कुछ समय के लिए उसने बहुत फायदा पहु-

चाया और भविष्य मे भी कुछ समय के लिए और लाभदायक होसकता है, उस वक्त तक के लिए जवतक कि सरकार व्यापक रूप से देशभर के लिए कृषि और उद्योग-धँधो से सम्वन्ध रखनेवाले प्रश्नो को ठीक तरह से हल करने के काम को खुद अपने हाथ मे नही लेलेती। हिन्दुस्तान मे इतनी ज्यादा वेकारी है जिसका कही कोई हिसाव ही नही है, और देहाती क्षेत्रो मे तो आशिक वेकारी इससे भी कही ज्यादा है। सरकार की तरफ से इस वेकारी का मुकाविला करने के लिए कोई कोशिश ही नही की गई है, न उसने वेकारो को किसी किस्म की मदद देने की कोशिश की है। आर्थिक दृष्टि से खादी ने उन लोगो को कुछ थोडी-सी मदद जरूर दी है, जो विलकुल या कुछ हद तक वेकार थे, और क्योकि उनको जोकुछ मदद मिली वह उनकी अपनी कोशिश से मिली, इसलिए उसने उनके आत्मविश्वास का भाव वढाया है और उनमे स्वाभिमान का भाव जागृत कर दिया है। सच वात यह है कि खादी का सबसे ज्यादा अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है। खादी ने शहर वालो और गाँववालो के वीच की खाई को पाटने की कोशिश मे कुछ कामयावी हासिल की है। उसने मध्यवर्ग के पढे-लिखे लोगो और किसानों को एक-दूसरे के नजदीक पहुँचाया है। कपडो के पहननेवालो और देखनेवालों दोनो के ही मन पर वहुत असर पडता है। इसलिए जब मध्यवर्ग के लोगो ने सफेद खादी की सादी पोशाक पहनना शुरू किया तो उसका नतीजा यह हुआ कि सादगी वढी, पोशाक की दिखावट और उसका गँवारूपन कम होगया, और आम लोगो के साथ एकता का भाव वढा। इसके वाद जो लोग मध्यमवर्ग मे भी नीची श्रेणी के थे, उन्होंने कपडो के मामलो मे अमीर लोगों की नकल करना छोड दिया और खुद सादी पोशाक पहनने मे किसी किस्म की वेइज्जती समझना भी छोड दिया। सच वात तो यह है कि जो लोग अव भी रेशम और मलमल दिखाते फिरते थे, खादी पहननेवाले उनसे अपने को ज्यादा प्रतिष्ठित और कुछ ऊँचा समझने लगे। गरीव-से-गरीव आदमी भी खादी पहनकर आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठा अनुभव करने लगा। जहाँ वहुत-से खादी-धारी

लोग जमा होजाते थे वहाँ यह पहचानना मुश्किल होजाता था कि इनमे कौन अमीर है और कौन गरीब और इन लोगो मे साथीपन का भाव पैदा होजाता था। इसमे कोई शक नही कि खादी ने काग्रेस को जनता के पास पहुँचने मे मदद दी। वह कौमी आजादी की वर्दी होगई।

इसके अलावा, हिन्दुस्तान के पुतलीघरो के मालिको मे अपनी मिलों के कपडो की कीमते बढाते जाने की जो प्रवृत्ति हमेशा पाई जाती थी उसको भी खादी ने रोका। पुराने जमाने मे तो हिन्दुस्तान की इन मिलो के मालिको को सिर्फ एक ही डर कीमते बढाने से रोकता था, और वह था विलायती, खासतौर पर लकाशायर के, कपडो की कीमतो का मुकाबिला। जब यह कभी मुकाबिला बन्द होगया, जैसाकि विश्वव्यापी महायुद्ध के जमाने मे हुआ था, तभी हिन्दुस्तान मे कपडो की कीमत बेहद चढ गई और हिन्दुस्तान की मिलो ने मुनाफे मे भारी रकमे कमाई। इसके बाद स्वदेशी की हलचल और विलायती कपडो के बहिष्कार के पक्ष मे जो आन्दोलन हुआ उसने भी इन मिलो को बहुत बडी मदद पहुँचाई, लेकिन जबसे खादी मुकाबिले पर आ डटी तबसे बिलकुल दूसरी बात होगई और मिलो के कपडो की कीमते उतनी न बढ सकी जितनी वे खादी के न होने पर बढती। बल्कि सच बात तो यह है कि इन मिलो ने (साथ ही जापान ने भी) लोगो की खादी की भावना से नाजायज़ फायदा उठाया—उन्होंने ऐसा मोटा कपडा तैयार किया, जिसका हाथ के कते और हाथ के बुने कपडे से भेद करना मुश्किल होगया। युद्ध की-सी कोई दूसरी ऐसी गैर-मामूली हालत पैदा हो जाने पर, जिनमे विलायती कपडे का हिन्दुस्तान मे आना बन्द हो जाय, हिन्दुस्तानी मिलो के मालिको के लिए कपडो की खरीदार पब्लिक से अब उतना फायदा उठा सकना मुमकिन नही है जितना कि १९१४ से बाद तक उठाया गया। खादी का आन्दोलन उन्हे ऐसा करने से रोकेगा और खादी के सगठन मे इतनी ताकत है कि वह थोडे ही दिनो मे अपना काम बढा सकता है।

लेकिन हिन्दुस्तान मे खादी के धन्धे के इन सब फायदो के होते हुए भी ऐसा मालूम होता है कि वह सक्रमण-काल की ही वस्तु होसकती

है। मुमकिन है कि इस काल के गुज़र जाने के बाद भी वह एक सहायक धन्धे की तरह चलती रहे, जिससे कि आर्थिक उच्च व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था कायम होने मे मदद मिले। लेकिन अब आगे तो हमारी मुख्य शक्ति कृषि-सम्बन्धी वर्तमान व्यवस्था मे आमुल परिवर्तन करके औद्योगिक धन्धो के प्रसार मे लगेगी। कृषि अथवा भूमि-सम्बन्धी समस्याओं के साथ खिलवाड करने से और उन अगणित सरकारी कमीशनो से, जो लाखो रुपये खर्च करने के बाद सिर्फ ऊपरी ढाँचों में छुट-पुट परिवर्तन करने की तुच्छ तजवीजें करते है, जरा भी लाभ नही होगा। हमारे यहाँ जो भूमि-प्रणाली जारी है, वह हमारी आँखो के सामने ढहती जारही है और वह पैदावार के लिए बटवारे के लिए, और माकूल व बडे पैमाने पर किये जानेवाले कृषि-प्रयोगो के लिए एक अडचन साबित होरही है। इस प्रथा मे आमूल परिवर्तन करके छोटे-छोटे खित्तों की जगह सगठित, सामूहिक और सहयोगी कृषि-प्रणाली जारी करके ही थोडे परिश्रम से ज्यादा पैदावार करके हम मौजूदा हालत का मुकाबिला कर सकते है। यह ठीक है कि, जैसा गाधीजी को डर है, बडे पैमाने पर काम कराने से खेती का काम करनेवालो की तादाद कम हो जायगी, लेकिन खेती का काम ऐसा नही है कि उसमे हिन्दुस्तान के तमाम लोग लग जायँगे या लग ही सकेगे। बाकी के दूसरे लोगों को सम्भव है कि कुछ हद तक तो छोटे पैमाने पर किये जानेवाले धन्धों में जुटना पडे, लेकिन ज्यादातर लोगो को तो खासतौर पर बडे पैमाने पर किये जानेवाले समाज-कृत काम-धन्धो और समाजहित के कामो मे लगना होगा।

यह सच है कि कुछ हलकों में खादी से कुछ राहत मिली है, लेकिन उसकी इस कामयाबी मे ही एक खतरा भी छिपा हुआ है। वह यहाँ की जीर्ण-शीर्ण भूमि-प्रथा को पोषण देरही है और उस हद तक उसकी जगह एक उन्नत प्रथा के आने मे देर लगा रही है। यह जरूर है कि खादी का यह असर इतना काफी ज्यादा नही है कि उससे कोई खास फर्क पड़े, लेकिन वह प्रवृत्ति जरूर मौजूद है। किसान या छोटे किसान-

ज़मीदार को उसके खेतो की पैदावार का जो हिस्सा मिलता है, वह अब इतना काफी भी नही रहा कि जिससे वह उसके ज़रिये अपनी बहुत नीचे गिरी हुई हालत मे से भी अपना गुजारा करले, जिसपर कि वह पहुँच गया है। अपनी तुच्छ आय बढाने के लिए उसे बाहरी साधनो का सहारा लेना पडता है, या जैसा कि वह आमतौर पर करता है, उसे अपना लगान या अपनी मालगुजारी अदा करने के लिए और भी ज्यादा कर्ज मे फँसना पडता है। इस तरह किसान को खादी वगैरा से जो जायद आमदनी होती है उससे सरकार या ज़मीदार को अपना हिस्सा वसूल करने मे मदद मिलती है, जो उसके अभाव मे नही मिलती। और अगर यह जायद आमदनी बहुत काफी होती, तो यह भी मुमकिन हो सकता था कि कुछ दिनों बाद लगान इतना बढ जाय कि वह इसे भी हडप जाता। मौजूदा प्रथा मे काश्तकार जितनी ज्यादा मेहनत करेगा और जितनी ज्यादा किफायतशारी करने की कोशिश करेगा, आखिर मे ज़मीदार को उतना ही ज्यादा फायदा पहुँचेगा। जहाँ तक मुझे याद है, हेनरी जार्ज ने 'तरक्की और गरीबी' (Progress and Poverty) नाम की किताब मे इस मामले को, खासतौर पर आयर्लैण्ड की मिसाले दे देकर, अच्छी तरह समझाया है।

गावों के धन्धो का पुनरुद्धार करने की गाधीजी जो कोशिश कर रहे है वह उनके खादीवाले कार्यक्रम का विस्तार ही है। उससे तात्कालिक लाभ होगा—कुछ अश मे तो स्थायी. और शेष अधिकाश थोड़े दिनो के लिए वह गाववालो की उनकी मौजूदा मुसीबत मे मदद करेगा और कुछ ऐसे सास्कृतिक और कला-कौशल-सम्बन्धी गुणो को, जिनके नष्ट होजाने की आशका थी, पुनर्जीवित कर देगा। लेकिन जिस हद तक यह कोशिश मशीनो के और उद्योगवाद के खिलाफ एक बगावत है, वहाँतक उसे कामयाबी नही मिलेगी। हाल ही मे 'हरिजन' मे गॉव के धन्धो के बारे मे गाँधीजी ने लिखा है—"मशीनो से उस वक्त काम लेना अच्छा है जब जिस काम को हम पूरा करना चाहते है उसे पूरा करने के लिए काम करनेवाले बहुत कम हो। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान

मे है, अगर काम के लिए जितने आदमियो की जरूरत है उससे ज्यादा आदमी मौजूद हो तो, मशीनो से काम लेना बुरा है ।. .हम लोगो के सामने यह सवाल नही है कि हम अपने गाँव के रहनेवाले करोडो लोगो को काम से छुट्टी या फुरसत किस तरह दिलवे । हमारे सामने जो मसला है, वह तो यह है, कि हम उनके उन बेकारी की घडियो का किस तरह इस्तैमाल करे जिनकी तादाद साल मे काम के छ महीनो के बराबर है ।'' लेकिन यह ऐतराज़ तो थोडी-बहुत मात्रा मे उन सब मुल्को के लिए लागू होता है जो बेकारी की मुसीबत मे पडे हुए है , लेकिन सचमुच खराबी यह नही है कि लोगो के करने के लिए काम नही है । वह तो यह है कि मौजूदा पूँजीपति-प्रणाली मे अब अधिक लोगो को काम मे लगाना लाभकर नही होता । काम की तो इतनी बहुतायत है कि वह पुकार-पुकारकर कह रहा है कि आओ, आओ और मुझे पूरा करो--जैसे सडको का बनाना, सिचाई का इन्तजाम करना, सफाई और दवादारू की सहूलियतो को फैलाना, धन्धो का, बिजली का, सामाजिक और साँस्कृतिक सेवाओ का और तालीम का प्रसार करना और लोगो के पास जिन बीसियो जरूरी चीजो की कमी है उनके जुटाने का इन्तजाम करना । हमारे करोडो भाई अगले पचास साल तक इन कामो मे बडी मेहनत करके भी उन्हे खत्म न कर पायँगे और लोगो को काम मिलते रहेगे । लेकिन यह सब तभी होसकता है जबकि प्रेरक-शक्ति समाज की तरक्की करना हो, न कि मुनाफे की वृत्ति, और जबकि समाज इन बातो का सगठन आम लोगो की भलाई के लिए करे । रूस की सोवियट यूनियन मे और चाहे जितनी खामियाँ हो, लेकिन वहाँ एक भी आदमी बेकार नही है । हमारे भाई इसलिए बेकार नही है, कि उनके लिए कोई काम नही है; बल्कि इसलिए बेकार है, कि उनके लिए काम के और साँस्कृतिक तरक्की के वास्ते किसी किस्म की सहूलियते नही है । अगर बच्चों से मजदूरी कराना कानूनन रोक दिया जाय, एक माकूल उम्र तक हरेक के लिए पढना लाजिमी कर दिया जाय, तो मजदूरो और बेकारो की तादाद में से इन लड़के और लडकियों की कमी होजायगी और मजदूरो

के वाजार मे से करोडो भावी मजदूरो का बोझ हलका होजायगा।

गाँधीजी ने चर्खे और तकली मे और उनके चलाने की ताकत को बढाने की कोशिश मे कुछ कामयाबी हासिल की है, लेकिन यह कोशिश तो औजार और मशीन मे तरक्की करने की कोशिश है; और अगर तरक्की जारी रही (और तरक्की की वात तो यह है कि यह बात भी कयास से वाहर नही है कि घरेलू धन्धे भी बिजली से चलाये जाने लगे), तो मुनाफे की भावना फिर आ घुसेगी और उससे वे लक्षण, जो वहुत पैदावार और वेकारी के नाम से पुकारे जाते है, पैदा होजायँगे। जबतक हम गाँव के धन्धों को किसी आजकल की औद्योगिक यन्त्रकला के साथ नही मिलायँगे तबतक तो हम आज जिन भौतिक और सास्कृतिक चीजो की लाजिमी तौर पर हमे जरूरत है उन्हे भी पैदा नही कर सकेगे। फिर ये धन्धे मशीन का मुकाबिला नही कर सकते। क्या हमारे लिए ऐसा करना ठीक होगा, या हम उसे कर भी सकेगे, कि हम अपने मुल्क मे वडे पैमाने पर काम करनेवाली मशीनों को अपना काम करने से रोकदे ? गाधीजी ने वरावर यह कहा है कि वह मशीन के रूप मे मशीन के खिलाफ नही है। ऐसा मालूम होता है कि वह यह समझते है कि आज हिन्दुस्तान मे उनके लिए कोई जगह नही है। लेकिन क्या हम वुनियादी धन्धों को—जैसे लोहे और इसपात को या इनसे हलके उन धन्धों को भी जो पहले से मौजूद है—समेटकर वन्द कर सकते है ?

साफ जाहिर है कि हम ऐसा नहीं कर सकते। अगर हमारे यहाँ रेल, पुल, आवागमन की सहूलियते वगैरा रहे, तो या तो हमे खुद ये चीजे वनानी पडेंगी या दूसरे पर निर्भर रहना होगा। अगर हमे अपने मुल्क की हिफाजत के साधन अपने पास रखने है, तव तो हमे न सिर्फ वुनियादी धन्धे ही जारी रखने पडेगे वल्कि वहुत ज्यादा वढी हुई औद्योगिक प्रणाली भी कायम रखनी पडेगी। इन दिनो तो कोई भी मुल्क उस वक्त तक असल मे आजाद नहीं है और न वह दूसरे मुल्क के हमले का मुकाबिला ही कर सकता है, जवतक कि औद्योगिक दष्टि

से वह उन्नत न हो चुका हो। एक बुनियादी धन्धे को इस बात की जरूरत रहती है कि उसकी मदद के लिए दूसरा बुनियादी धन्धा जारी किया जाय, जो उसके काम को पूरा करदे। अन्त मे हमे खुद मशीनें बनाने का धन्धा भी जारी करना पडेगा। जब ये तमाम बुनियादी धन्धे चलेगे तब यह लाजिमी होजायगा कि छोटे धन्धे भी फैले। इस प्रक्रिया को कोई रोक नही सकता, क्योंकि उससे न सिर्फ हमारी भौतिक और सास्कृतिक उन्नति ही बधी हुई है बल्कि हमारी आजादी भी उसीपर निर्भर है और बडे धन्धे जितने ज्यादा फैलेगे, छोटे पैमानो पर किये जानेवाले गाँवों के धन्धे उनका मुकाबिला उतना ही कम कर सकेगे। समाजवादी प्रणाली मे उनके बचने की थोडी-बहुत गुजाइश भी हो सकती है, लेकिन पूँजीवादी प्रणाली मे तो उन्हे कोई मौका नही मिल सकता। समाजवाद मे वे घरेलू धन्धो के रूप मे उसी हालत मे रह सकते है, जब वे खासतौर पर ऐसा माल तैयार करे, जो बहुतबडे पैमाने पर तैयार नही किया जाता।

काँग्रेस के कुछ नेता उद्योगीकरण से डरते है। उनका खयाल है कि उद्योग-प्रधान मुल्को की आजकल की मुश्किले बहुत बडे पैमाने पर माल पैदा करने की वजह से ही पैदा हुई है। लेकिन यह तो स्थिति का बहुत ही गलत अध्ययन है।[१] अगर आम लोगो के पास किसी चीज की कमी है, तो उस चीज़ को उनके लिए काफी तादाद मे तैयार करना क्या कोई बुरी बात है? क्या उनके लिए यही बेहतर है कि बहुत बडे पैमाने पर माल तैयार करने के बजाय उस चीज के बिना ही वे अपना काम चलाये? साफ जाहिर है कि कुसूर इस तरह माल तैयार करने का

---

१ ३ जनवरी १९३५ को अहमदाबाद में बोलते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा था—"सच्चा समाजवाद गाँव के धन्धे को तरक्की देने में है। हम यह नहीं चाहते कि बहुत बडे पैमाने पर माल तैयार करने की वजह से पश्चिमी मुल्को में जो खराबियाँ पैदा होगई है उन्हे हम अपने यहाँ भी बुलावें।"

नही है, वल्कि तैयार किये हुए माल का बँटवारा करनेवाली प्रणाली की बेहूदगी और अयोग्यता का है।

गाँवों के धन्धो की तरक्की करनेवालो को जिस दूसरी मुश्किल का सामना करना है, वह यह है कि हमारी खेती दुनिया के वाज़ार पर निर्भर है। इसकी वजह से मजबूर होकर किसानो को ऐसी फसल बोनी पडती है जिसके दाम अच्छे मिले और दामो के लिए उन्हे दुनिया के प्रचलित भावो पर निर्भर रहना पडता है। लेकिन जवकि ये भाव वदलते रहते है तब भी बेचारे किसान को अपना लगान या मालगुजारी नगदनारायण के रूप मे देनी पडती है। किसी-न-किसी तरह उसे यह रुपया लाना पडता है, या हर हालत मे वह रुपया भरने की कोशिश करता है, और इसीलिए वह वही फसल वोता है जिसकी वह समझता है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा कीमत मिलेगी। वह तो इतना भी नही कर सकता कि कम-से-कम अपने और अपने वाल-वच्चो को खिलाने के लिए जितने अनाज की उसे जरूरत है उतना खुद अपने खेत मे ही पैदा करले।

इन सालो मे खाद्य पदार्थो मे से ज्यादातर अनाजों और दूसरी चीजो की कीमत एकदम गिर गई। नतीजा यह हुआ कि लाखो किसान, खासतौर पर युक्तप्रान्त और विहार के, ईख की खेती करने लगे। सरकार ने विलायती शक्कर पर जो चुगी लगा दी है उसकी वदौलत वरसाती मेढकों की तरह शक्कर के कारखाने खुल गये और गन्ने की माँग वहुत वढ गई। लेकिन इस माँग को पूरा करने के लिए लोगों ने जितना गन्ना पैदा किया वह फौरन ही माँग से वहुत ज्यादा वढ गया। नतीजा यह हुआ कि कारखानों के मालिको ने बेरहमी के साथ किसानो से अनुचित फायदा उठाया और गन्ने की कीमत गिर गई।

इन कुछ वजहो और इनके अलावा और भी वहुत-सी वातों से मुझे ऐसा मालूम होता है कि हम अपनी कृषि और औद्योगिक समस्याओ को किसी तग स्वाश्रयी प्रणाली के तरीके पर न तो हल कर सकते है और न करना ठीक ही होगा। निस्सन्देह, हमारी ज़िन्दगी के हर पहलू पर इनका असर है। हम लोग अस्पष्ट और भावुकतामय वाक्यों के

छिपकर अपनी जान नही बचा सकते। हमे तो इन तथ्यो का सामना करना होगा और अपनेको उनके माफिक बनाना पडेगा, जिससे हम लोग इतिहास के लिए दयनीय वस्तु न रहकर उल्लेखनीय विषय बन जायें।

फिर मुझे उसी महान् समस्या—गाधीजी—का खयाल आता है।[१] समझ में नही आता कि इतनी तीव्र बुद्धि और पददलितों और पीड़ितों की हालत सुधारने के लिए इतनी तीव्र भावना रखते हुए भी वह उस प्रणाली का क्यो समर्थन करते है, जो इस तमाम पीडा और बरबादी को पैदा कर रही है और जो स्पष्टत अपने-आप गिर रही है। यह सच है कि वह लोगो को मुसीबत से बचाने का रास्ता ढूंढ रहे हैं। लेकिन क्या पुराने जमाने का वह रास्ता अब बन्द नही हो गया है? वह पुरानी व्यवस्था की स्मारक उन सब चीजो को आशीर्वाद देते आते हैं जो तरक्की के रास्ते मे रोडे बनकर अटकी हुई है—जैसे माण्डलिक रियासते, बडी-बडी जमीदारियाँ व ताल्लुकेदारियाँ और मौजूदा पूँजीवादी प्रणाली। क्या ट्रस्टीशिप के उसूल में विश्वास करना माकूल बात है? क्या इस

---

१ सन् १९३१ में, लन्दन की दूसरी गोलमेज कान्फ्रेन्स में, अपने एक व्याख्यान में गांधीजी ने कहा था—"सबसे ऊपर तो असल में कांग्रेस उन करोड़ों मूक अर्द्धनग्न और अधभूखे प्राणियों की प्रतिनिधि है जो हिन्दुस्तान के सात लाख गांवों में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक सब जगह फैले हुए हैं—फिर चाहे ये लोग ब्रिटिश भारत में रहते हों या देशी रियासतों में, जिन्हें 'भारतीय-भारत' के नाम से पुकारा जाता है। इसलिए कांग्रेस की राय में प्रत्येक हित, जो रक्षा के योग्य है, इन करोड़ों मूक प्राणियों के हित का साधक होना चाहिए। आप समय-समय पर विभिन्न हितों में प्रत्यक्ष विरोध देखते हैं, पर अगर सचमुच कोई वास्तविक विरोध हो, तो मैं कांग्रेस की तरफ से यह कहने में जरा भी नहीं हिचकिचाता कि कांग्रेस इन करोड़ों मूक प्राणियों के हितों के लिए दूसरे प्रत्येक हित का बलिदान कर देगी।"

बात की उम्मीद करना ठीक है कि एक आदमी को अबाध अधिकार और धन-सम्पत्ति दे देने पर वह उसका उपयोग सोलहो आने पब्लिक की भलाई के लिए करेगा ? क्या हममे से अच्छे लोग भी इतने सम्पूर्ण है कि उनके ऊपर इस हद तक भरोसा किया जा सके ? इस बोझ को तो अफलातून की कल्पना के दार्शनिक बादशाह भी योग्यतापूर्वक नही उठा सकते। क्या दूसरो के लिए यह अच्छा है कि वे अपने ऊपर इन उदार दैवी पुरुषो का प्रभुत्व स्वीकार करले ? फिर ऐसे देवी पुरुष या दार्शनिक बादशाह है कहाँ ? यहाँ तो सिर्फ मामूली इन्सान भर है, जो हमेशा यह सोचा करते है कि हमारी अपनी भलाई ही, हमारे अपने विचारो का प्रसार ही, सार्वजनिक हित के समान है। वंशानुगत कुलीनता और प्रतिष्ठा की भावना और धन-दौलत की शेखी स्थायी हो जाती है और उसका परिणाम कई तरह घातक ही सा होता है।

मै इस बात को दुहरा देना चाहता हूँ कि इस वक्त मै यह नही सोच रहा कि यह परिवर्त्तन किस तरह किया जाय, हमारे रास्ते मे जो रोड़े है उन्हे किस तरह हटाया जाय ? समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्त्तन के प्रेम-भाव से या ज़बरदस्ती से, अहिंसा से या हिंसा से ? इस पहलू पर तो बाद को विचार करूँगा। लेकिन यह बात तो मान ही लेनी और साफ करदी जानी चाहिए कि परिवर्त्तन आवश्यक है। क्योकि यदि नेता और विचारक खुद ही इस बात को साफतौर पर अनुभव न करें और न कहे, तो वे यह उम्मीद कैसे कर सकते है कि वे किसीको अपने ख़याल का बना लेगे या लोगो मे वाञ्छित विचार-धारा फैला सकेगे ? इसमे कोई शक नही कि सबसे ज्यादा शिक्षा तो हमे घटनाओ से मिलती है, लेकिन घटनाओं का महत्त्व समझने और उनसे अच्छा नतीजा निकालने के लिए यह ज़रूरी है कि हम उनको अच्छी तरह समझे और उनकी ठीक-ठीक व्याख्या करें।

मेरे जो दोस्त और साथी प्राय. मेरे भाषणो से चिढे है, उन्होने अक्सर मुझसे यह बात पूछी है कि क्या आपको कोई अच्छा और परोपकारी राजा, ज़मीदार और शुभ-चिन्तक, भलामानस पूँजीपति कभी नही

मिला ? निस्सन्देह मुझे ऐसे आदमी मिले है। मै खुद उस श्रेणी के लोगों में से हूँ, जो इन जमीदारों और पूजीपतियो मे मिलते-जुलते रहते है। मै तो खुद ही एक ठेठ बुर्जुआ हूँ, जिसका लालन-पालन भी बुर्जुओ-सा ही हुआ है और इस प्रारम्भिक शिक्षा ने मेरे दिलोदिमाग मे जो भले-बुरे पस्कार भर दिये वे सब मुझमे मौजूद है। कम्यूनिस्ट मुझ अर्द्ध-बुर्जुआ कहते है और उनका यह कहना सोलहो आने सही है। शायद अब वे मुझे अनुतप्त बुर्जुआ कहेगे। लेकिन मै क्या हूँ और क्या नही, यह सवाल ही नही है। जातीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक और सामाजिक मसलो को कुछ इने-गिने व्यक्तियो की निगाह से देखना ठीक नही है। वे ही दोस्त जो मुझसे ऐसे सवाल करते है, यह कहते कभी नही थकते कि हमारी लडाई पाप से है, पापी से नही। मै तो इस हद तक भी नही जाता। मै तो यह कहता हूँ कि व्यक्तियो से मेरा कोई झगडा नही, मेरा झगडा तो प्रणालियो से है। यह ठीक है कि प्रणाली बहुत हदतक व्यक्तियो और समूहो में ही मूर्त्तिमान होती है, और इन व्यक्तियो और समूहो को हमे या तो अपने खयाल का कर लेना पडेगा या उनसे लडना पड़ेगा। लेकिन अगर कोई प्रणाली किसी काम की नही रही हो और भारस्वरूप हो गई हो तो उसे मिट जाना पडेगा, और जो समूह या वर्ग उससे चिपके हुए है उन्हे भी बदलना पडेगा। परिवर्त्तन की इस क्रिया में यथासम्भव कम-से-कम तकलीफ होनी चाहिए, लेकिन बदकिस्मती से कुछ कष्ट और कुछ गड-बडी का ोना तो लाज़िमी है। किसी दूसरी कम बुराई के डर की वजह से ही बहुत बडी बुराई को बरदाश्त नही किया जासकता, खासकर उसवक्त, जबकि कुछ थोडी-सी बुराई से भी बच जाना हमारी ताकत से बाहर है। हर तरह के मानव-सगठन—राजनैतिक, आर्थिक या सामा-जिक—की अपनी-अपनी कोई विचार-सरणि होती है। जब इन सगठनो मे कोई हेरफेर हो तो उस विचार-सरणि को उसके अनुकूल बनने और उसका पूरा फायदा उठा लेने के लिए उसके अनुसार हेरफेर कर देना चाहिए। आमतौर पर घटनाये इतनी तेजी से बढती है कि विचारादर्श पिछड जाता है और यह अन्तर ही इन सब मुसीबतो की जड़ है। लोक-

तन्त्र और पूंजीवाद दोनों ही उन्नीसवी सदी मे पैदा हुए, लेकिन वे एक-दूसरे के अनुकूल नही थे। उन दोनो मे बुनियादी भेद था। क्योंकि लोकतन्त्र तो ज्यादा लोगो की ताकत पर जोर देता था, जबकि पूंजीवाद से असली ताकत थोड़े-से लोगो के हाथ मे रहती थी। यह बेमेल जोडा किसी तरह कुछ अर्से तक तो इसलिए साथ-साथ चलता रहा, क्योकि राजनैतिक पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र खुद एक अत्यन्त सकुचित लोकतन्त्र था, और आर्थिक एकाधिपत्य और शक्ति के केन्द्रीयकरण की वृद्धि रोकने मे उसने कोई खास हस्तक्षेप नही किया।

फिर भी ज्यो-ज्यो लोकतन्त्र की भावना बढती गई, इन दोनो का सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य होगया और अब उसका वक्त आगया है। आज पार्लमेण्टरी पद्धति बदनाम होगई है और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सब किस्म के नये-नये नारे सुनाई पड़ रहे है। उसीकी वजह से हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-सरकार और भी ज्यादा प्रतिगामी होगई है, और इससे राजनैतिक स्वतन्त्रता की ऊपरी बाते तक रोक लेने का उसे बहाना मिल गया है। अजीब बात तो यह है कि हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी इसी आधार पर अपनी अबाध निरकुशता को उचित ठहराते है और उसी मध्यकालिक स्थिति को जारी रखने के इरादे का जोरो से ऐलान करते है जो कि दुनिया मे अब और कही नही पाई जाती।[1] लेकिन

---

१ २२ जनवरी १९३५ को दिल्ली में, नरेन्द्रमण्डल के चान्सलर महाराजा पटियाला ने, मण्डल में बोलते हुए उन हिन्दुस्तानी राजनीतिज्ञों की राय का जिक्र किया था, जो इस आशा से संघ-शासन के समर्थक है कि परिस्थितियाँ देशी नरेशो को अपने यहाँ लोकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति जारी करने के लिए विवश करेंगी। उन्होने कहा— "जबकि हिन्दुस्तान के राजा लोग हमेशा उन कामो को करने के लिए राजी रहे है जो अपनी प्रजा के लिए सर्वोत्तम है, और आगे भी वे समय की रफ्तार के मुताबिक अपनेको और अपने विधानो को बनाने के लिए तैयार रहेगे, तब हमे यह भी साफ-साफ कह देना चाहिए कि अगर ब्रिटिश-भारत यह

पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र मे जो त्रुटि या खामी है वह यह नही है कि वह बहुत आगे बढ गया है, बल्कि यह है कि उसे जितना आगे बढना चाहिए था उस हदतक आगे नही बढा है। वह काफी लोकतन्त्रीय नही है, क्योकि उसमें आर्थिक स्वतन्त्रता की कोई व्यवस्था नही है और उसके तरीके ऐसे धीमे और उलझन भरे है कि वे तेज रफ्तार से जानेवाले ज़माने के अनुकूल नही पडते।

इस समय सारे ससार मे जो स्वेच्छाचारिता मौजूद है शायद हिन्दुस्तानी रियासते उसके उग्र-से-उग्र रूप की प्रतीक है। निस्सन्देह वे ब्रिटिश सत्ता के अधीन है, लेकिन ब्रिटिश सरकार महज ब्रिटिश स्वार्थो की हिफाजत के लिए या उनकी तरक्की के लिए ही दस्तन्दाज़ी करती है। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि पुराने जमाने के ये निर्जीव माण्डलिक गढ किस प्रकार इस बीसवी सदी के ठीक मध्य मे इतनी थोडी तबदीली के साथ टिके हुए है। वहाँ का वातावरण दम घोटनेवाला और स्थिर है। वहाँ की गति बहुत धीमी है और परिवर्त्तन और सघर्ष का आदी और कुछ हदतक इनसे थका हुआ नवागतुक वहाँ पहुँचने पर बेहोशी-सी अनुभव करता है और एक प्रकार का धीमा-सा जादू उसपर गालिब हो जाता है। यह सब एक ऐसे चित्र-सा अस्वाभाविक मालूम होजाता है,

---

उम्मीद करता है कि वह हमें इस बात के लिए मजबूर कर देगा कि हम अपने तन्दुरुस्त राजनैतिक जिस्म पर एक बदनाम राजनैतिक उसूल की जहरीले रंग से रँगी हुई कमीज पहन लेंगे तो वह ख्वाबों की दुनिया में रह रहा है।" (इसी सिलसिले में पृष्ठ ७९० पर मैसूर-दीवान के भाषण का अंश भी देखिए) उसी दिन नरेन्द्र-मण्डल में बोलते हुए बीकानेर के महाराज़ नें कहा था—"हिन्दुस्तानी राज्यो के शासक हम लोग केवल भाग्य के ही बल पर शासन नहीं कर रहे है। और मै यह कहने की धृष्टता करता हूँ कि हम, जो सैकडों साल की वंश-परम्परा के आधार पर यह दावा कर सकते है कि हमने राज करने का सहज-ज्ञान और, मुझे विश्वास है कि, कुछ अशो में राज-दक्षता भी विरासत में पाई है,

जहाँ समय स्तब्ध खडा रहता है और अपरिवर्त्तनीय दृश्य आँखो के सामने दिखाई देते है। सर्वथा अज्ञात-भाव से वह भूतकाल और अपने वचपन के स्वप्नो की ओर वह जाता है, और कटिवद्ध शस्त्र-सज्जित सूरमा और सुन्दर तथा वीर कुमारियों के और वुर्जदार किले और वहादुर सैनिको के सम्मान और गौरव तथा अनुपम साहस और मृत्यु के प्रति तिरस्कार के अद्भुत-अद्भुत दृश्य उसकी आँखो के सामने घूमने लगते है। खासकर तव, जब वह सयोग से अद्भुत शौर्य और भावुक पराक्रम की भूमि राजपूताना मे पहुँच जाता है।

लेकिन ये स्वप्न जल्दी ही विलीन हो जाते है और विषाद की भावना आ घेरती है। वहाँका वातावरण दम घोटनेवाला है और उसमे साँस लेना मुश्किल हो जाता है। स्थिर और मन्द-प्रवाह के नीचे जडता और गन्दगी भरी पडी है। वहाँ पर आदमी ऐसा महसूस करने लगता है, मानो वह चारो ओर काँटो की वाड से घिरा हुआ है और उसका शरीर और मन जकड दिया गया है। उसे वहाँ के राजमहल की चमक-दमक और शान-शौकत के सर्वथा विपरीत जनता की अवस्था अत्यन्त पिछडी हुई और मुसीवत की दिखाई देती है। राज्य का कितना सारा धन उस महल में राजा की अपनी व्यक्तिगत जरूरतो और ऐय्याशी मे पानी की तरह वहाया जाता है, और किसी सेवा के रूप में जनता के

उन्हे इस वात का पूरा-पूरा खयाल रखना चाहिए कि हम इस वात की हिफाजत करलें कि हम जल्दवाजी में अविचारपूर्ण निर्णय करने के लिए आगे न ढकेल दिये जायें। और क्या मै अत्यन्त नम्रता के साथ यह कह दूँ, कि राजा लोग अपने को किसीके हाथो वरवाद होजाने देने के लिए तैयार नहीं है और अगर दुर्भाग्य से कोई ऐसा समय आ ही जाये, जवकि सम्राट देशी राज्यो की रक्षा के लिए अपने सन्धिगत उत्तर-दायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो जायें, तो नरेश और देशी-राज्य अपने अधिकारो की रक्षा के लिए आखिरी दमतक लड़ते-लड़ते मर जायंगे।"

पास उसका कितना कम हिस्सा पहुँचता है। हमारे राजाओ को वढाना और उन्हें कायम रखना भयानक रूप से खर्चीला काम है। उनपर किये गये इस अन्धाधुन्ध खर्च के वदले मे वे हमे वापस क्या देते है ?

इन रियासतो पर रहस्य का एक परदा पडा रहता है। अखवारों को वहाँ पनपने नही दिया जाता और ज्यादा-से-ज्यादा कोई साहित्यिक या अर्द्धसरकारी साप्ताहिक ही चल सकता है। वाहर के अखवारो को अक्सर राज्य मे आने से रोक दिया जाता है। त्रावणकोर, कोचीन आदि दक्षिण की कुछ रियासतो को छोडकर—जहाँ साक्षरता ब्रिटिश-भारत से भी कही ज्यादा है—दूसरी जगह साक्षरता वहुत ही कम है। रियासतो मे जो खास खवरे आती है वे या तो वाइसराय के दौरे की वावत होती है, जिसमे धूम-धडाके, रस्म-रिवाज की पूर्त्ति और एक-दूसरे की तारीफ मे दिये गये व्याख्यानो का जिक्र होता है, या राजा के विवाह अथवा वर्ष-गाँठ की, जिसमे वेहद रुपया खर्च किया जाता है, या किसानो के विद्रोह-सम्वन्धी। ब्रिटिश-भारत तक मे खास कानून राजाओ को आलोचना से बचाते है। रियासतो के भीतर तो नरम-से-नरम टीका-टिप्पणी भी सख्ती से दवा दी जाती है। सार्वजनिक सभाओ को तो वहाँ कोई जानता तक नही, और अक्सर सामाजिक वातो के लिए की जानेवाली सभायें तक रोक दी जाती है।[1] वाहर के प्रमुख सार्वजनिक नेताओ को

---

१ हैदराबाद दक्खिन का ३ अक्तूबर १९३४ का प्रेस-समाचार कहता है—"स्थानीय विवेक-वर्धिनी थियेटर में कल गांधीजी का जन्म-दिवस मनाने के लिए जिस सार्वजनिक-सभा का ऐलान किया गया था वह रोक देनी पडी है। इस सभा का संगठन हैदराबाद के हरिजन-सेवक संघ ने किया था। सघ के मन्त्री ने अखवारो को जो पत्र भेजा है, उसमें कहा है कि मीटिंग के वक़्त से २४ घंटे पहले सरकारी अधिकारो ने यह हुक्म दिया कि मीटिंग करने की इजाजत तभी मिल सकती है जबकि दो हजार की नकद जमानत अदा की जाय और इस वात का वचन दिया जाय कि उसमें कोई राजनैतिक व्याख्यान नही दिया जायगा और

अक्सर रियासत मे घुसने से रोक दिया जाता है। १९२५ के करीब स्व० देशबन्धु दास बहुत बीमार थे, इसलिए अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए उन्होने काश्मीर जाने का निश्चय किया। वह वहाँ किसी राजनैतिक काम के लिए नही जा रहे थे। वह काश्मीर की सरहद तक पहुँच चुके थे, लेकिन वही रोक दिये गये। श्री जिन्ना तक को हैदराबाद रियासत मे जाने से रोक दिया गया, और श्रीमती सरोजनी नायडू को भी, जिनका घर ही हैदराबाद मे है, जाने की इजाजत नही दी गई।

जब कि रियासतो मे यह हाल हो रहा है, तो काग्रेस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह रियासतो मे रहनेवाले लोगो के प्रारम्भिक अधिकारों के लिए खडी हो जाती और उनपर होनेवाले व्यापक दमन का विरोध करती। लेकिन गाधीजी ने काग्रेस मे रियासतों के सम्बन्ध मे एक नई नीति को जन्म दिया। यह नीति थी "रियासतो के भीतरी इन्तज़ाम में दखल न देने की।" रियासतों मे असाधारण और दुखदायी घटनाओ के होते रहने और काग्रेस पर अकारण ही हमले किये जाते रहने पर भी वह अभी तक अपनी चुप्पी साधे रहने की नीति पर डटे हुए हैं। जाहिर है कि डर इस बात का है कि काग्रेस अगर राजाओं की आलोचना करेगी तो वे लोग नाराज़ हो जायँगे। उनका 'हृदय-परिवर्तन' ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जुलाई १९३४ मे गाधीजी ने श्री एन० सी० केलकर के नाम, जो देशीराज्य-प्रजा-परिषद् के सभापति थे, एक पत्र लिखा था। उसमे उन्होने इस विश्वास को दुहराया था कि दखल न देने की नीति न सिर्फ बुद्धिमत्तापूर्ण है वल्कि ठोस भी है। और रियासतो की कानूनी और वैधानिक स्थिति के सम्वन्ध मे जो राय उन्होने ज़ाहिर की वह तो वडी अजीब थी। उन्होने लिखा था—

सरकारी अफसरो के किसी सरकारी काम की आलोचना नही की जायगी। क्योंकि सभा के संयोजक के पास इन सव बातों के लिए अधिकारियो से चर्चा करने के लिए वहुत ही नाकाफी वक्त रह गया था, इसलिए सभा बन्द कर देनी पडी।"

"ब्रिटिश कानून के अनुसार रियासतों की स्वतन्त्र सत्ता है। हिन्दुस्तान के उस हिस्से को, जो ब्रिटिश भारत के नाम मे पुकारा जाता है, रियासतों की पालिसी को शकल देने का उतना भी अख्तियार नही है जितना उसे, अफगानिस्तान या सीलोन की नीति की शकल देने का है।" अगर मुलायम और नरम देशीराज्य-प्रजा-परिषद ने और लिबरलो ने भी उनकी इस राय और इस सलाह पर ऐतराज किया तो आश्चर्य ही क्या है ?

लेकिन रियासतो के राजाओ ने इन विचारों का काफी स्वागत किया और उन्होने उनसे फायदा भी उठाया। एक महीने के भीतर ही त्रावणकोर रियासत ने अपने राज्य में काग्रेस को गैरकानूनी करार दे दिया और उसकी सारी सभाओ को और उसके मेम्बर बनाने के काम को रोक दिया। ऐसा करते हुए रियासत ने कहा कि "जिम्मेदार नेताओ ने खुद यह सलाह दी है।" जाहिर है कि यह इशारा गाधीजी के बयान की तरफ था। यह बात नोट करने लायक है कि यह रोक ब्रिटिश-भारत मे सत्याग्रह की लडाई वापस लिये जाने के बाद हुई (यद्यपि रियासतो में यह लडाई कभी नही हुई थी)। जिस वक्त रियासत मे यह सब हुआ, ब्रिटिश सरकार ने काग्रेस को फिर से कानूनी जमात करार दे दिया था। इस बात पर ध्यान देना भी दिलचस्प होगा कि उस वक्त त्रावणकोर-सरकार के खास राजनैतिक सलाहकार सर सी० पी० रामस्वामी ऐय्यर थे (और अब भी है), जो एक वक्त काग्रेस के और होमरूल लीग के जनरल सेक्रेटरी थे, उसके बाद लिबरल बने और उसके भी बाद भारत-सरकार और मदरास सरकार के ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर रहे।

गाधीजी की सलाह मानकर काग्रेस जिस नीति से काम ले रही थी उसके मुताबिक, मामूली वक्त में भी, त्रावणकोर राज्य ने बिला वजह काग्रेस के ऊपर जो यह हमला किया उसकी बाबत काग्रेसवालो की तरफ से पब्लिक में एक शब्द तक नही कहा गया,[1] जब कि दूसरी ओर लिब-

१. ६ जनवरी १९३५ को बडोदा में सरदार वल्लभभाई पटेल ने

रलों तक ने इसके ख़िलाफ़ ज़ोरों से आवाज़ उठायी। सचमुच रियासतों के मामले में गांधीजी का रवैया लिबरलों के रवैये से भी कहीं ज्यादा नरम और संयत है। प्रमुख सार्वजनिक पुरुषों में शायद मालवीयजी ही बहुत से राजाओं के साथ अपने निकट-सम्पर्क के कारण—उतने ही संयत और इस बात में सावधान हैं कि उन्हें किसी तरह चिढ़ाया न जाय।

भारतीय नरेशों के बारे में गांधीजी हमेशा इतना फूँक-फूँककर क़दम नहीं रखते थे। फरवरी १९१६ को एक प्रसिद्ध अवसर पर—बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय के उद्घाटन के समय—एक सभा में, जिसके सभापति एक महाराजा थे और जिसमें और भी बहुत-से राजा मौजूद थे, उन्होंने एक भाषण दिया था। गांधीजी उस समय दक्षिण-अफ़्रीका से आये ही थे और अखिल भारतीय राजनीति का बोझ उनके कन्धों पर नहीं था। बड़ी सचाई और एक पैगम्बर के-से जोश के साथ उन्होंने राजाओं से अपनेको सुधारने और अपनी थोथी शान-शौक़त और विलासिता छोड़ देने के लिए कहा था। उन्होंने कहा, "नरेशो! जाओ, और अपने आभूषणों को बेच दो।" उन्होंने अपने आभूषण बेचे हों या न बेचे हों, लेकिन वे वहाँ से उठकर चले ज़रूर गये। बहुत ही डरकर, एक-एक करके या छोटी-छोटी टोलियों में, वे सभा-भवन से चले गये। यहाँतक कि सभापति महोदय भी चले गये। सभा-भवन में अकेले व्याख्याता महोदय रह गये। मीटिंग में श्रीमती बेसेंट भी मौजूद थीं। उन्हें भी गांधीजी की बातें बुरी लगीं और इसलिए, वह भी मीटिंग से उठकर चली गयीं।

श्री एन० सी० केलकर को गांधीजी ने जो पत्र लिखा था उसमें आगे उन्होंने यह भी कहा कि "मैं तो यह पसन्द करूँगा कि रियासतें

एक भाषण देते हुए इस दखल न देने की नीति पर जोर दिया था। कहा जाता है कि उन्होंने यह कहा, कि "देशी राज्यों के कार्यकर्त्ताओं को उन सीमाओं में रहते हुए काम करना चाहिए, जो रियासतें बाँध लें और शासन की आलोचना करने के बजाय इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि शासक और शासितों में मैत्री का सम्बन्ध बना रहे।"

अपनी प्रजा को स्वतन्त्रता देदे और अपने को वास्तव मे उन लोगों का ट्रस्टी समझे, जिनपर कि वे हुकूमत करती है।" अगर ट्रस्टीशिप के इस खयाल मे ऐसी कोई अच्छी वात है, तो हम ब्रिटिश सरकार के इस दावे मे क्यो एतराज करते है कि वे भारत के लिए ट्रस्टी है ? मै इसमे कोई फर्क नही देखता, सिवाय इसके कि अग्रेज हिन्दुस्तान के लिए विदेशी है। लेकिन जहाँतक चमडे के रग से, जातीय उत्पत्ति और सस्कृति से. सम्वन्ध है वहाँतक तो हिन्दुस्तान के रहनेवाले तरह-तरह के लोगो मे आपस मे भी करीव-करीव उतने ही भेद है, जितने कि उनमे और अग्रेजो मे।

पिछले थोडे-से सालो मे हिन्दुस्तानी रियासतो मे ब्रिटिश अफसर वडी तेज़ी से घुस रहे है। अक्सर वे बेवस राजाओ की मर्जी के खिलाफ उनके मत्थे मढ दिये गये है। वैसे तो सदा से भारत सरकार का देशी राज्यो पर काफी नियन्त्रण रहा है, लेकिन अव तो इसके अलावा कुछ खास वडी-वडी रियासतो को भीतर से भी जकड दिया गया है। इसलिए जव कभी ये रियासते कुछ कहती है तो असल मे उनके द्वारा भारत-सरकार ही बोलती है। हाँ, ऐसा करते समय वह माण्डलिक परिस्थिति का पूरा-पूरा फायदा जरूर उठाती है।

मै यह समझ सकता हूँ कि हमारे लिए हमेशा यह मुमकिन नही है कि हम दूसरी जगह जो काम कर सकते है वह सव रियासतो मे भी कर सके। सच वात तो यह है कि ब्रिटिश भारत के अलग-अलग सूवो मे ो किसानो-सम्वन्धी, उद्योग-धधो-सम्वन्धी, सम्प्रदायो-सम्वन्धी और शासन-सम्वन्धी काफी फर्क है, और हम हमेशा सव सूबो मे एक नीति से काम नही ले सकते। लेकिन, हालाँकि हम कहाँ क्या काम करे यह तो वहाँ के हालात से ऊपर निर्भर रहेगा, फिर भी अलग-अलग जगहो मे हमारी आम पालिसी अलग-अलग नही होनी चाहिए; और जो वात एक जगह बुरी है वह दूसरी जगह भी बुरी होनी चाहिए; नही तो हमारे ऊपर यह इलजाम लगाया जायगा और लगाया गया है कि हमारी कोई एक नीति या कोई एक उसूल नही है और हमारा मकसद सिर्फ यही है कि किसी तरह से ताकत हमारे हाथ मे आजाय।

धार्मिक और अन्य अल्पसख्यक जातियों के लिए पृथक् चुनाव की जो व्यवस्था की गई है, उसके खिलाफ काफी नुक्ताचीनी हुई है, और वह ठीक ही हुई है। यह बताया गया है कि यह चुनाव लोकतन्त्र के बिलकुल खिलाफ पडता है। इसमे कोई शक नही कि अगर हम चुननेवालो को अलग-अलग बन्द कमरो मे बॉट दे तो लोकतन्त्र कायम करना या जिसे जिम्मेदार सरकार के नाम से पुकारा जाता है उसका कायम किया जाना मुमकिन नही है। लेकिन प० मदनमोहन मालवीय और हिन्दू-महासभा के अन्य नेता, जो पृथक् चुनाव के सबसे बडे और सच्चे आलोचक है, रियासतो मे जो-कुछ अन्धेर मच रहा है उसके बारे मे अजीब तौर से चुप है और ज़ाहिरा तौर पर इस बात के लिए तैयार है कि रियासतो की स्वेच्छाचारिता और बाकी के हिन्दुस्तान मे लोकतन्त्र के नाम से पुकारी जानेवाली चीज आपस मे मिलकर सघ-राज्य कायम हो जाय। इससे ज्यादा बेमौजू और बेहूदा एकता की कल्पना करना भी मुश्किल है, लेकिन हिन्दू-महासभा के जो लोग लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के हिमायती बनते है वे ही इस एकता को बिना डकार लिये हुए ही निगल जाते है। हम लोग तर्क और बुद्धि की बात करते है, लेकिन हमारी बुनियादी प्रेरणाये अभी तक भावुकतामय ही बनी हुई है।

इस तरह मै लौटकर फिर काग्रेस और रियासतो की विकट समस्या पर आता हूँ। मेरा दिमाग थॉमस पेन के उस वाक्य की ओर आकर्षित होता है, जो उसने कोई डेढसौ बरस पहले बर्क के सम्बन्ध मे कहा था—"वह (बर्क) तो पखो पर तरस खाते है, लेकिन मरनेवाली चिडिया को भूल जाते है।" यह ठीक है कि गाधीजी मरनेवाली चिडिया को नही भूलते। लेकिन वह उसके परो पर इतना ज्यादा जोर क्यो देते है?

कम-बढ ये ही बाते ताल्लुकेदारी और जमीदारी-प्रथा पर भी लागू होती है। इस बात को समझाने के लिए अब किसी तर्क की जरूरत नही मालूम पडती कि यह अर्ध-जागीरदारी प्रथा अब समय के बिलकुल प्रतिकूल है और उत्पादन-शैली और तरक्की के रास्ते मे बड़ी भारी अडचन है। वह तो बढनेवाले पूँजीवाद के भी ख़िलाफ जाती है और

क़रीब-क़रीब दुनिया-भर में बड़ी-बड़ी ज़मीदारियाँ धीरे-धीरे गायब हो गयी हैं और उनकी जगह ज़मींदार किसानों ने ले ली है। मेरी तो हमेशा यही कल्पना रही है कि हिन्दुस्तान में जो एक सवाल सम्भवतः उठ सकता है वह मुआवज़े का है। लेकिन पिछले साल तो मुझे यह देखकर बहुत ही अचरज हुआ कि गांधीजी ताल्लुकेदारी प्रथा को भी उस प्रथा की हैसियत से पसन्द करते हैं और चाहते हैं कि वह जारी रहे। कानपुर में जुलाई १९३४ में उन्होंने कहा—"किसानों और ज़मींदारों, दोनों में हृदय-परिवर्तन द्वारा बेहतर ताल्लुकात पैदा किये जा सकते हैं। अगर वह होजाय तो दोनों आपस में मेल के साथ सुख और शान्ति से रह सकते हैं। मैं तो कभी भी ताल्लुकेदारी या ज़मींदारी प्रथा को दूर करने के पक्ष में नहीं रहा, और जो लोग यह समझते हैं कि वह रद्द होनी चाहिए वे खुद अपनी बात को नहीं समझते।" गांधीजी का यह आख़िरी आरोप तो कुछ हद तक कटुतापूर्ण है।

बतलाते हैं कि उन्होंने आगे यह कहा— "बिना उचित कारणों के जायदादवाली श्रेणियों से उनकी निजी जायदाद छीने जाने के काम में मैं कभी साथ नहीं देसकता। मेरा ध्येय तो यह है कि आपके दिलों पर घर करके मैं आपको अपनी राय का बनालूँ, जिससे आप अपनी निजी जायदाद को किसानों के लिए ट्रस्ट के रूप में रक्खें और उसका इस्तैमाल ख़ासतौर पर उनकी भलाई के लिए करें।······लेकिन मान लीजिए कि आपको आपकी जायदाद से वंचित करने के लिए अन्यायपूर्वक कोशिश की जाती है तो आप मुझे अपनी तरफ़ लड़ता हुआ पायँगे·· पश्चिम का समाजवाद और वहाँ का कम्यूनिज्म जिन ख़ास विचारों पर टिका हुआ है, वे हमारे विचारों से मूलरूप से भिन्न हैं। जिन धारणाओं पर समाजवाद वग़ैरा टिके हुए हैं, उनमें से एक तो यह है कि उनका विश्वास है कि मानव-स्वभाव मूलतः स्वार्थी है··· इसलिए हमारे समाजवाद और हमारे कम्यूनिज्म की बुनियाद तो अहिंसा पर और मज़दूर और मालिकों, किसानों और ज़मींदारों के आपसी मेल पर होनी चाहिए।" ये बातें उन्होंने ज़मींदारों के एक डेपूटेशन से कही थी।

न नही मानता कि पूरब और पश्चिम के बुनियादी खयालो मे ऐसे कोई फर्क है। शायद कुछ हैं। लेकिन हाल ही के पिछले दिनो मे तो एक ज़ाहिरा फर्क यह रहा है कि हिन्दुस्तान के मालिकों और ज़मीदारो ने अपने मजदूरो और किसानो के हितो की जितनी ज्यादा उपेक्षा की है उतनी उनके विलायत के विरादरीवालो ने नही की। हिन्दुस्तान के ज़मीदारो की तरफ से किसानो की भलाई के लिए किसी तरह के सामाजिक सेवा के काम मे दिलचस्पी लेने का कार्य करने की कोई कोशिश नही की गयी। पश्चिमी समालोचक मि० एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड ने कहा है कि "हिन्दुस्तान के सूदखोर और ज़मीदार ऐसे परोपजीवी, नृशस और रक्तशोषक प्राणी है, कि आज के मानव-समाज मे उनका सानी नही मिलता।"[१] शायद इसमे हिन्दुस्तान के ज़मीदारो का कोई कसूर नही है। परिस्थितियाँ उनके इतनी ख़िलाफ थी कि वे उनका मुकाविला न कर सके। वे लगातार नीचे को गिरते ही गये और अब एक ऐसी कठिन स्थिति मे फँस गये है, जिसमे से अपने को मुश्किल से निकाल सकते हैं। बहुत-से ज़मीदारो से तो उनकी जमीदारियाँ वोहरो ने ले ली है, और छोटे-छोटे ज़मीदार जिस ज़मीन के कभी मालिक थे उसीमे अब काश्तकार की हालत मे पहुँच गये। शहरो मे रहनेवाले इन वोहरो ने पहले तो ज़मीन-जायदाद गिरवी करके रुपया दिया, और फिर उसी रुपये के बदले उसे हडपकर अब वे खुद ज़मीदार बन बैठे है और गाधीजी की राय मे अब वे उन अभागो के ट्रस्टी हैं जिनको उन्होने खुद उनकी ज़मीन से वञ्चित किया है। गाधीजी ऐसे लोगो से यह उम्मीद भी रखते है कि वे अपनी आमदनी खास तौरपर किसानो की भलाई के कामों मे लगायेगे।

अगर ताल्लुकेदारी की प्रथा अच्छी है तो वह हिन्दुस्तान-भर मे क्यो नही जारी की जाती? हिन्दुस्तान के कुछ बडे हिस्सो में रैयतवारी प्रथा चलती है। क्या गाधीजी गुजरात मे बडी-बडी ज़मीदारियाँ और

---

१. एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड की 'Property or Peace' नामक पुस्तक से।

ताल्लुकेदारियाँ कायम हो जाना पसन्द करेंगे ? तो फिर क्या बात है कि जमीन-सम्बन्धी एक प्रणाली तो यू० पी०, बिहार या बंगाल के लिए अच्छी है और दूसरी गुजरात और पंजाब के लिए ? जहांतक मेरा खयाल है, हिन्दुस्तान के उत्तर व दक्षिण, पूरब और पश्चिम के रहनेवाले लोगों में ऐसा कोई खास फर्क तो नहीं है, और उनके बुनियादी विचार भी एकसे हैं। इसके मानी तो यह हुए कि जो-कुछ है वह जारी रहना चाहिए। इस बात की अधिक जाँच नहीं की जानी चाहिए कि लोगों के लिए कौन-सी बात सबसे ज्यादा वाञ्छनीय या फायदेमन्द है, और न मौजूदा हालत को बदलने की ही कोई कोशिश होनी चाहिए। बस, सिर्फ एकही बात की जरूरत है, और वह यह कि लोगो का हृदय-परिवर्त्तन कर दिया जाय। जिन्दगी और उसके मसलों की तरफ यह तो विशुद्ध धार्मिक रुख है। राजनीति, अर्थ-शास्त्र या समाज-शास्त्र से उसका कोई सरोकार नहीं। फिर भी गांधीजी इससे आगे बढ़ जाते हैं। और राजनैतिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने धार्मिक रुख को ले आते हैं।

ये हैं कुछ विकट समस्यायें जो आज हिन्दुस्तान के सामने हैं। हमने अपने को कुछ गुत्थियों में उलझा लिया है और जबतक हम उन गुत्थियों को सुलझा न लेंगे, तबतक आगे बढ़ना दुश्वार है। यह छुटकारा भावुकता से नहीं होगा। बहुत दिन हुए, स्पिनौजा ने एक सवाल पूछा था— "ज्ञान और बुद्धि द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने और भावुकता की गुलामी में रहने, इन दो में से आप कौनसी चीज को पसन्द करेंगे ?" उन्होंने पहली बात पसन्द की थी।

: ६३ :

हृदय-परिवर्तन या बल-प्रयोग

सोलह बरस पहले गाधीजी ने हिन्दुस्तान पर अपने अहिंसा के सिद्धान्त की छाप लगाई थी। तबसे अबतक हिन्दुस्तान के क्षितिज मे इसी उसूल का बोलबाला रहा है। बहुत-से लोगों ने बिना किसी सोच-विचार के उसे दुहराया है, लेकिन दुहराया है खुशी के साथ। कुछ लोगो ने अपने मे काफी सघर्ष किया और फिर दबे मन से उसे अपना लिया, और कुछ लोगो ने खुल्लमखुल्ला इस उसूल का मजाक भी उडाया है। हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन मे उसने बहुत बड़ा हिस्सा लिया है और हिन्दुस्तान से बाहर विशाल दुनिया मे भी लोगो का काफी ध्यान उसने अपनी तरफ खीचा है। निस्सन्देह उसूल बहुत पुराना है—उतना ही पुराना है जितनी कि मनुष्य की विचार-शक्ति है। लेकिन शायद गाधीजी ही पहले व्यक्ति है जिन्होंने राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन मे सामूहिकरूप मे उसका प्रयोग किया है। इसके पहले अहिंसा वैयक्तिक और इस तरह मूलत धर्म से सम्बन्धित चीज़ थी। वह आत्म-निग्रह और पूर्ण अनासक्ति प्राप्त करने और इस प्रकार अपने-आपको सासारिक प्रपचो से ऊँचा उठाकर एक तरह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मुक्ति प्राप्त करने का साधन थी। उसके जरिये बड़े-बडे सामाजिक मसलो को हल करने और सामाजिक परिस्थितियो मे परि-वर्तन करने का कोई खयाल न था, अगर कुछ था भी तो सर्वथा परोक्ष-रूप मे। उस वक़्त लोगो की करीब-करीब यही भावना थी कि मौजूदा सामाजिक ताना-बाना तो, अपनी सब असमानताओ और अन्यायो सहित, ऐसा ही रहेगा। गाधीजी ने कोशिश की कि यह व्यक्तिगत आदर्श समाज का भी आदर्श होजाय। वह राजनैतिक और सामाजिक दोनो ही परि-स्थितियो को बदलने पर तुले हुए थे और इसी गरज़ से उन्होंने जान-बूझकर इस विस्तृत और सर्वथा भिन्न क्षेत्र में अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग

किया। उन्होंने लिखा है—"जो लोग मानव-स्थिति और अवस्थाओं मे आमूल परिवर्तन करना चाहते है वे समाज मे खलबली पैदा किये बिना ऐसा नही कर सकते। लेकिन ऐसा करने के दो ही तरीके है—एक हिंसात्मक और दूसरा अहिंसात्मक। हिंसात्मक दबाव आदमी के जिस्म पर पडता है। जो इस दबाव से काम लेता है वह खुद नीचे गिर जाता है और जिसपर यह दबाव डाला जाता है उसे हतोत्साह कर देता है। लेकिन स्वय कष्ट सहकर—जैसे उपवास आदि करके—जो अहिंसात्मक दबाव डाला जाता है, वह बिलकुल दूसरे तरीके से अपना असर पैदा करता है। जिन लोगो के खिलाफ उसका प्रयोग किया जाता है, उनके शरीर को न छूकर वह उनकी आत्मा पर असर डालता है और उसे मजबूत बनाता है।"[१]

यह कुछ हद तक भारतीय दृष्टिकोण से मेल खाता था और इसीलिए देश ने, कम-से-कम सरसरी तौर पर तो जरूर ही, उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। बहुत ही कम लोग उससे निकलनेवाले व्यापक परिणामो को समझ पाये थे। लेकिन जिन थोडे-से आदमियो ने उसे स्पष्ट-रूप मे समझा भी, वे श्रद्धापूर्वक काम मे जुट पडे। लेकिन जब काम की रफ्तार धीमी पड गयी, तब कुछ लोगो के मन मे अनगिनती प्रश्न उठ खडे हुए, जिनका उत्तर दिया जा सकना बहुत कठिन था। इन प्रश्नो का हमारी प्रचलित राजनैतिक गति-विधि पर कोई असर नही पडता था। इनका सम्बन्ध तो अहिंसात्मक प्रतिरोध के मूल सिद्धान्त से था। राजनैतिक अर्थों मे तो अभीतक अहिंसात्मक आन्दोलन को कामयाबी मिली नही, क्योंकि हिन्दुस्तान अभी तक साम्राज्यवाद के अनीतिपाश में जकडा हुआ है, और सामाजिक अर्थ में तो उसने क्रान्ति की कल्पना तक नही की, लेकिन फिर भी जो आदमी जरा भी गहराई से देख सकता है, वह देख सकता है कि हिन्दुस्तान के करोडो लोगो ने

---

१ ४ दिसम्बर १९३२ को अपने अनशन के अवसर पर गांधीजी ने जो बयान दिया था उससे।

उसमे एक ज़बरदस्त तब्दीली करदी। इस अहिंसात्मक आन्दोलन ने करोड़ों हिन्दुस्तानियो को चरित्रबल, शक्ति और आत्म-विश्वास का पाठ पढाया है; और ये ऐसे अमूल्य गुण है जिनके बिना राजनैतिक या सामाजिक किसीभी किस्म की तरक्की करना या उसे कायम रखना कठिन है। यह कहना मुश्किल है कि ये निश्चित लाभ अहिंसा की बदौलत हुए है या महज़ संघर्ष की बदौलत। बहुत-से मौको पर कई राष्ट्रो ने ऐसे फायदे हिंसात्मक लडाई के जरिये भी हासिल किये है, फिर भी, मेरा खयाल है कि यह बात तो इत्मीनान के साथ कही जासकती है कि इस मामले मे अहिंसा का तरीका हमारे लिए बेशकीमत साबित हुआ है। गांधीजी ने समाज मे जिस खलबली का ज़िक्र किया था वह खलबली पैदा करने मे उसने निश्चितरूप से मदद की, हालांकि निस्सन्देह यह खलबली बुनियादी कारणो और हालतों की बदौलत हुई। उसने आम लोगो में यह तेजी की प्रक्रिया पैदा करदी है जो क्रांतिकारी हेरफेर से पहले पैदा होती है।

स्पष्टरूप से यह बात उसके हक मे है, लेकिन वह हमे ज्यादा दूर नही ले जाती। असली सवाल तो ज्यों-का-त्यो बना हुआ है। बदकिस्मती यह है कि इस मसले को हल करने मे गांधीजी हमे ज्यादा मदद नही देते। इस विषय पर उन्होने बहुत बार लिखा है और व्याख्यान भी दिये है। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उन्होने सार्वजनिक रूप से उससे निकलनेवाले अर्थो पर दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टि से कभी विचार नही किया। वह इस बात पर जोर देते है कि साधन साध्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।[1] ज़ोर-ज़बरदस्ती की बनिस्बत समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्त्तन करना अच्छा है और वह अहिंसा को सत्य और दूसरी तमाम अच्छाइयो से भिन्न नही समझते। सच तो यह है कि इन शब्दो का वह

---

१. The Power of Non-violence (अहिंसा की शक्ति) नामक किताब में रिचर्ड बी० ग्रेग ने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनकी यह किताब बहुत ही दिलचस्प और विचारोत्तेजक है और 'मण्डल' से हिन्दी में शीघ्रही प्रकाशित होनेवाली है।

अक्सर इस तरह प्रयोग करते है मानो वे एक-दूसरे के समानार्थक है। साथ ही, जो इस बात से सहमत न हो उनको उच्चात्माओ की कोटि का न मानने की भी एक प्रवृत्ति प्रचलित है, वल्कि कुछ ऐसा समझा जाता है मानो वे किसी अनैतिक आचरण के गुनहगार है। और गाधीजी के कुछ अनुयायी तो, इसके कारण, लाजिमी तौर पर अपने-आपको वडा पहुँचा हुआ और धर्मात्मा समझने लगे है।

लेकिन हममे से जो इतने खुशकिस्मत नही कि इस चीज मे इतनी श्रद्धा रखते हो, उन्हे बहुत-से सन्देहो से परेशान होना पडता है। तात्कालिक आवश्यकताओ से उनका कोई सम्बन्ध नही है, लेकिन वे चाहते है कि कोई ऐसा सुसगत कार्य-सिद्धान्त हो जो वैयक्तिक दृष्टि से नैतिक हो और साथ ही सामाजिक दृष्टि से कारगर भी हो। मै मानता हूँ कि मुझमे भी यह सन्देह मौजूद है और मुझे इस मसले का कोई सन्तोष-जनक हल नही दिखाई देता। मै हिंसा को कतई नापसन्द करता हूँ, लेकिन फिर भी मै खुद हिंसा से भरा हुआ और जान मे या अन-जान मे अक्सर दूसरो को दवाने की कोशिश करता रहता हूँ। और मानसिक दवाव से अधिक दवाव भला और क्या हो सकता है, जिसके कारण गाधीजी के अनन्य भक्तो और साथियो के दिमाग कुण्ठित हो जाते है और वे स्वतन्त्र रूप से सोचने के योग्य नही रहते ?

लेकिन असली सवाल तो यह था, कि क्या राष्ट्रीय और सामाजिक समुदाय अहिंसा के इस वैयक्तिक सिद्धान्त को काफी तौर पर अपना सकते है ? क्योंकि उसका अर्थ यह है कि मानव-समाज सामूहिक रूप से प्रेम और सौजन्य मे ऊँचा चढा हुआ है। यह सच है कि दर-असल वाञ्छनीय और अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि मानव-समाज इतना ऊँचा उठ जाय और उसमे से घृणा, कुत्सा और स्वार्थपरता निकल जाय। अन्त मे जाकर ऐसा हो भी सकेगा या नही, यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है, लेकिन उसके बिना जीवन उस निरे वुद्धू की कही हुई कहानी का-सा नीरस हो जायगा, जिसमे कम्पन और तडप है लेकिन जिसका मतलव कुछ नही है। इस मकसद पर पहुँचने के लिए क्या

यह आवश्यक है कि हम इन गुणो को अपनाने के लिए लोगो में प्रचार करे और उन अडचनो की कुछ भी परवाह न करे, जो इस मकसद पर पहुँचना नामुमकिन कर रही है और जो इस ध्येय के खिलाफ पडनेवाली हरेक प्रवृत्ति को बढावा दे रही है? अथवा क्या हम पहले इन अडचनो को दूर करके प्रेम, सौन्दर्य और सौजन्य की वृद्धि के लिए अधिक उपयुक्त और अनुकूल वातावरण न पैदा करले? अथवा, क्या हम इन दोनो उपायों को साथ-साथ काम मे लाये?

और फिर क्या हिंसा और अहिंसा अथवा समझा-बुझाकर किये गये हृदय-परिवर्तन और बलात्कार के बीच का अन्तर इतना स्पष्ट और सरल है? अक्सर शारीरिक हिंसा की अपेक्षा नैतिक बल कही अधिक दबाने या मजबूर करनेवाला भयकर अस्त्र सिद्ध हुआ है। और क्या अहिंसा और सत्य एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द है? सत्य क्या है? यह सवाल बहुत ही पुराना है, जिसके हजारो जवाब दिये जा चुके है, मगर यह सवाल आजतक जैसा था वैसा ही बना हुआ है। लेकिन कुछ भी हो, यह बात तय है कि उसको अहिंसा से सर्वथा मिलाया नही जा सकता। हिंसा स्वत बुरी है, लेकिन आप उसको महज उसके हिंसा होने की वजह से ही पापमय नही कह सकते। उसके कई आकार और प्रकार है, और अक्सर यह हो सकता है कि उससे भी ज्यादा बुरी बात के मुकाबिले मे हमे हिंसा पसन्द करनी पडे। गांधीजी ने यह खुद कहा है कि कायरता, डर और गुलामी से हिंसा बेहतर है और इसी तरह इस फेहरिस्त मे और भी बहुत-सी बुराइयां जोडी जा सकती है, जो हिंसा से भी ज्यादा बुरी है। यह सच है कि आमतौर पर हिंसा के साथ घृणा रहती है, लेकिन सैद्धान्तिक रूप से हमेशा ऐसा ही हो, यह जरूरी नही है। यह बात हो सकती है कि हिंसा का आधार सद्भावना पर हो (जैसे कि सर्जन द्वारा की गई हिंसा) और कोई भी चीज, जिसका आधार यह हो कभी भी सिद्धान्तत पापमय नही हो सकती। आखिर नीति और सदाचार की अन्तिम कसौटी तो सद्भाव और वैर-भाव ही है। इस तरह यद्यपि हिंसा सदाचार की दृष्टि से अक्सर ठीक नही ठहरती

जा सकती और उस दृष्टि से उसे खतरनाक भी समझा जा सकता है, लेकिन यह जरूरी नही है कि वह हमेशा ऐसी ही हो।

हमारा सारा जीवन ही सघर्षमय और हिसायुक्त है और यह बात सही मालूम होती है कि हिसा से हिसा ही पैदा होती है और इस तरह हिसा को रोकने का उपाय हिसा नही है। लेकिन फिर भी हिसा का कभी प्रयोग न करने की कसम खा लेने का अर्थ होता है सर्वथा नकारात्मक रुख इख्तियार कर लेना, जिसका स्वय जीवन से कतई कोई सम्पर्क नही होता। हिसा तो आजकल के राष्ट्रो और सामाजिक प्रणालियो का जीवनतत्त्व है। राष्ट्र के पास अगर यह अस्त्र न हो तो न तो कर वसूल किये जा सकते है, न जमीदारो को उनका लगान ही मिल सकता है, और न निजी सम्पत्ति ही कायम रह सकती है, अपने शस्त्र-वल से कानून दूसरो को दूसरो की निजी सम्पत्ति के उपयोग से रोकता है। इस प्रकार आक्रमणात्मक और रक्षणात्मक हिसा के वल पर वर्त्तमान राज्य कायम है।

यह सच है कि गाधीजी की अहिसा विलकुल ही नकारात्मक और अप्रतिरोधक नही है। वह तो अहिसात्मक प्रतिरोध है, जो एक विलकुल ही दूसरी चीज, एक विधेयात्मक और सजीव कार्य-प्रणाली है। यह उन लोगो के लिए नही है, जो परिस्थितियो के सामने चुपचाप सिर झुका देते है। उसका तो उद्देश ही समाज मे खलवली पैदा कर देना और इस तरह मौजूदा हालत को बदल देना है। हृदय-परिवर्त्तन के भाव के पीछे उद्देश्य कुछ भी रहा हो, व्यवहार मे तो वह लोगो को विवश करने या दबाने का भी एक जवरदस्त साधन रहा है। यह वात दूसरी है कि वह दबाव सबसे ज्यादा शि. ट और सबसे कम आपत्तिजनक ढँग से काम मे लाया गया। सचमुच यह वात ध्यान देने योग्य है कि अपने शुरू के लेखों मे गाधीजी ने खुद "मजवूर करना" शब्द का इस्तैमाल किया है। पजाव के फौजी कानून के जमाने के अत्याचारों के सम्बन्ध मे दिये गये वाइसराय लार्ड चैम्सफोर्ड के व्याख्यान की आलोचना करते हुए सन् १९२० में उन्होने लिखा था.—

"कौंसिल के उद्‌घाटन के समय वाइसराय ने जो व्याख्यान दिया उससे मुझे उनका ऐसा रुख मालूम हुआ कि जिसकी वजह से प्रत्येक आत्मसम्मान रखनेवाले के लिए उनके या उनकी सरकार के साथ सम्बन्ध बनाये रखना असम्भव हो जाता है।

"पंजाब के बारे में उन्होंने जो-कुछ कहा है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह किसी तरह भी लोगों की शिकायत दूर करने को तैयार नहीं हैं। वह चाहते हैं कि हम लोग निकट भविष्य की समस्याओं पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करदें, लेकिन निकट-भविष्य तो यही है कि पंजाब के मामले में हम सरकार को पश्चात्ताप करने के लिए मजबूर करदें, जिसका कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। इसके विरुद्ध, वाइसराय ने अपने आलोचकों की टीकाओं का जवाब देने के अपने प्रलोभन को रोका है, जिसका अर्थ यह है कि हिन्दुस्तान की इज्जत से ताल्लुक रखने-वाले बहुत-से जरूरी मामलों पर उनकी राय अभीतक नहीं बदली है; वह इतने ही से संतुष्ट हैं कि इन विषयों को भावी इतिहास के निर्णय पर छोड़ दिया जाय। मेरे विचार में इस तरह की बातें हिन्दुस्तानियों को और भी अधिक उत्तेजित करने का कारण बनेंगी। जिन लोगों पर अत्याचार किये गये हैं और जो अभीतक उन अफसरों के जूतों के नीचे दबे हुए हैं, जो अपने-आपको किसी विश्वास और जिम्मेदारी के ओहदे पर रहने के सर्वथा अयोग्य सिद्ध कर चुके हैं, यदि इतिहास-निर्णय अनुकूल भी हुआ तो वह उनके किस काम आयेगा? पंजाब के प्रति न्याय न करने की सरकार की हठ के मौजूद रहते हुए सहयोग का उपदेश करना, यदि अधिक तीव्र भाषा का प्रयोग न किया जाय तो, कम-से-कम निरा पाखण्ड तो है ही।"

यह बात जग-जाहिर है कि सरकार बुरी तरह हिंसा पर आश्रित है—न केवल शस्त्र-बल की हिंसा पर वरन् अत्यन्त सूक्ष्म रूप से लगाये जासूसों, मुखबिरों, लोगों को भड़कानेवाले एजेण्टों, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा और समाचारपत्रों आदि द्वारा झूठा प्रचार, धार्मिक और अर्थाभाव तथा भुखमरी वगैरा के दूसरे प्रकार के भयों की कहीं अधिक

भयकर हिसा पर। उनके पीछे अपनी अगणित शाखा-प्रशाखाओं और षड्यन्त्र और धोखेबाजी के ताने-बाने और भेदियो-उपभेदियो, अपराधियो के गुप्त अड्डो के साथ सम्बन्ध, रिश्वत और मानव-स्वभाव को पतित करनेवाले दूसरे उपाय व गुप्त हत्याओ के अपने सब साधनो सहित खुफिया-पुलिस का बहुत बडा जाल काम करता है। शान्तिकाल तक मे सरकारो के बीच सब प्रकार का झूठा और दगाफरेब जायज है, बशर्ते कि वह खुल न जाय, और युद्ध के समय तो वह और भी ज्यादा जायज हो जाता है। खुद ब्रिटिश राजदूत सर हेनरी वॉटन ने तीन-सौ बरस पहले राजदूत की यह परिभाषा की थी कि 'राजदूत वे ईमानदार प्राणी हैं जो अपने मुल्क की भलाई के लिए झूठ बोलने को दूसरे मुल्को मे भेजे जाते है।" आजकल तो राजदूतो के साथ उनका फौजी, जहाजी और व्यापारिक कबीला भी जाता है, जिसका खास काम होता है, उस मुल्क का भेद लेना जिस मुल्क मे वे भेजे जाते है। उनके पीछे खुफिया-पुलिस का बहुत बडा जाल, जो षड्यन्त्रो और धोखेबाजी के ताने-बानो से भरा-पूरा रहता है, काम करता है। भेदियो और उपभेदियो से उनका ताल्लुक, उनकी रिश्वत-खोरी और मानव-प्रकृति का पतन तथा उसकी गुप्त हत्याये सब बाते उस जाल मे शामिल होती है। शान्ति-काल के लिए तो ये सब चीजे खराब है ही; युद्धकाल मे इनको और भी अधिक महत्त्व मिल जाने से इनका नाशकारी प्रभाव हरेक दिशा मे फैल जाता है। गत विश्व-व्यापी महायुद्ध के समय जो प्रचार किया गया था उसके कुछ उदाहरण पढकर अब हैरत होती है कि किस प्रकार शत्रु-देशो के विरुद्ध आश्चर्यजनक झूठी बाते फैलाई गई थी; और इन बातो के फैलाने और खुफिया-पुलिस का जाल बिछाने मे अन्धाधुन्ध रुपया बहाया गया था। लेकिन वर्तमान शान्ति स्वय दो युद्धो के बीच का विरामकाल मात्र है, अर्थात् लडाई के लिए तैयारी करने की एक अवधि मात्र है और कुछ हदतक आर्थिक तथा दूसरे क्षेत्रो मे सघर्ष जारी रखना ही है। विजयी और पराजितो मे, सत्ताओ और उनके मातहत उपनिवेशो में, रक्षितवर्ग और शोषितवर्ग की यह रस्साकशी हर वक्त जारी रहती

है। इसलिए जिसे आज शान्ति-काल के नाम से पुकारा जाता है, उसमे भी कुछ हदतक लड़ाई का वातावरण अपने हिंसा और झूठ के सब अस्त्रो-सहित जारी रहता है और दोनों इस स्थिति का मुकाबिला करने के लिए तैयार रहने को अभ्यस्त किये जाते है। लार्ड वोल्सली ने 'सोल्जर्स पाकेटबुक फॉर फील्ड-सर्विस' नाम की एक पुस्तक मे लिखा है—"हम इस सिद्धान्त पर बार-बार जोर देते रहेगे, कि ईमानदारी ही सबसे अच्छी पालिसी है और आखिर मे जाकर हमेशा सचाई की ही जीत होती है, लेकिन ये साधारण वाक्य बच्चो की नोटबुको के लिए ही ठीक है, और अगर लोग युद्ध के दिनो मे इनपर अमल करने लगे तो यही बेहतर है कि वे हमेशा के लिए अपनी तलवारे मियानो मे बन्द करले।"

वर्तमान स्थिति मे, जब कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के और एक वर्ग दूसरे वर्ग के खिलाफ है, हिंसा और असत्य का यह पाया करीब-क़रीब लाज़िमी मालूम होता है। अपनी शक्ति और विशेषाधिकारों को बनाये रखने के लिए उत्सुक और अपने पीडितो को उन्नति का अवसर न देनेवाले अधिकार-प्राप्त राष्ट्रों और समूहो को तो लाज़िमी तौर पर हिंसा, दबाव और झूठ का आश्रय लेना ही पडता है। सम्भव है कि ज्यो-ज्यो लोकमत जागृत होता जायगा और इन सघर्षो तथा दमन की वास्तविकता स्पष्ट होनी जायगी, त्यों-त्यो इस हिंसा की तीव्रता भी कम होती जायगी। लेकिन असल वात तो यह है कि हाल के तमाम तजुर्बे इसके खिलाफ इशारा कर रहे है और जैसे-जैसे मौजूदा सस्थाओं के उलटने का आन्दोलन तीव्र होता जाता है, इन लोगो की हिंसा भी बढती जाती है। कभी हिंसा की प्रत्यक्ष उग्रता में कुछ कमी भी आ गई है तो उसने उससे और कही अधिक सूक्ष्म और अधिक भयकर रूप इख्तियार कर लिया है। हिसा की इस प्रवृत्ति को न तो धार्मिक सहिष्णुता और न नैतिक भावना की वृद्धि ही ज़रा भी रोक सकी है। मानवता के परिमाण की दृष्टि से कुछ व्यक्ति उन्नति करके ऊँचे चढ़ गये है और अगर सबसे ऊँचे नमूनो को छोड़ दिया जाय, तो गालिबन

दुनिया मे आजकल इस किस्म के ऊँचे दर्जे के जितने ज्यादा व्यक्ति है, उतने इतिहास के और किसी जमाने में नही थे। कुल मिलाकर तो समाज ने तरक्की ही की है, और वह कुछ हद तक पुरातन और सहज क्रूर वृत्तियो पर अकुश रखने के लिए भी प्रयत्नशील है। लेकिन कुल मिलाकर समूहो या समुदायो ने कोई खास तरक्की नही की है। व्यक्ति अधिक सभ्य बनने के प्रयत्न मे अपने पूर्वकालिक मनोविकार और बुराइयाँ समाज को देता जा रहा है, और क्योकि हिसा हमेशा पहली नही किन्तु दूसरी श्रेणी के लोगो को अपनी ओर आकर्पित करती है, इसलिए इन समुदायो के नेता लोग शायद ही पहले दरजे के पुरुप या स्त्री होते हो।

लेकिन अगर हम यह भी मानले कि राज्य से धीरे-धीरे हिसा के सबसे बुरे रूप मिट जायँगे, तब भी इस बात की उपेक्षा कर सकना असम्भव है कि सरकार और सामाजिक जीवन दोनो ही के लिए किसी प्रकार के दबाव की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन के लिए किसी-न-किसी तरह की सरकार का होना जरूरी है, और इस कारण जिन लोगों को कुछ अधिकार मिल जाता है उनके लिए यह लाजिमी है कि वे व्यक्तियो और समूहो की उन सब प्रवृत्तियो पर, जो स्वभावत स्वार्थ-परायण है और जिनसे समाज को नुकसान पहुँचने का अन्देशा है, अकुश रक्खे और उन्हे रोके। आमतौर पर ये अधिकारी लोग जरूरत से ज्यादा आगे बढ जाते है, क्योकि ताकत जिसके हाथ मे पहुँचती है उसीको भ्रष्ट करके गिरा देती है। इस तरह उन शासको को स्वतन्त्रता से कितना ही प्रेम और दमन से कितनी ही घृणा क्यो न हो, फिर भी उन्हे उस वक्त तक अपने यहाँके झगडालू व्यक्तियों का दमन करना ही पडेगा, जबतक कि राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता प्राप्त न करले और सर्वथा निस्वार्थ और परोपकार-परायण न बन जाय। ऐसे राज्य के शासकों को भी उन बाहरी समूहो का मुकाबिला करना पडेगा, जो लूट-मार के लिए उनके राज्य पर हमला करे। अर्थात् उन्हे ताकत का मुकाबिला ताकत से करके अपनी रक्षा करनी पडेगी। इस बात की

ज़रूरत तो तभी दूर होगी जबकि पृथ्वी-भर के लिए केवल एक ही विश्वव्यापी राज्य रह जाय।

इस तरह अगर आन्तरिक एकता और बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा इन दोनो के लिए शक्ति और दमन आवश्यक है, तो यह भेद किस तरह किया जाय कि वे सर्वथा अहिसात्मक है या हिंसात्मक ? रिन्होल्ड नीयूर[१] का कहना है कि जब आप एक बार नैतिकता के मुकाबिले मे इतनी भयावह छूट देते है और सामाजिक अविच्छिन्नता को कायम रखने के लिए बल-प्रयोग एक आवश्यक अस्त्र मान लेते है, तब अहिसात्मक और हिंसात्मक बल-प्रयोग मे अथवा सरकार और क्रान्तिकारियो द्वारा किये जानेवाले बल-प्रयोग मे आप कोई विशुद्ध भेद नही कर सकते।

मै ठीक-ठीक नही जानता, लेकिन मेरी धारणा है कि गाधीजी यह बात मान लेगे कि इस अपूर्ण ससार मे किसी भी राष्ट्रीय सरकार को अपने ऊपर अकारण ही बाहर से होनेवाले आक्रमणो से अपनी रक्षा करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना पडेगा। अवश्य ही राज्य को चाहिए कि अपने पडोसी और अन्य दूसरे राज्यो के साथ सर्वथा शान्तिमय और मित्रतापूर्ण नीति ग्रहण करे, लेकिन फिर भी आक्रमण की सम्भावना से इन्कार करना बेहूदगी होगी। राज्य को कुछ ऐसे कानून भी बनाने पडेगे, जो इस अर्थ मे दबाव डालनेवाले होगे कि इनके द्वारा विभिन्न समुदायो या समूहो के कुछ अधिकार और विशेष रिआयते छिन जाती है और उनकी कार्य-स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। कुछ हद तक तो सभी कानून दबाव डालनेवाले होते है। कराची-काग्रेस का प्रोग्राम यह बताता है कि—"जन-समूह का शोषण बन्द करने के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता मे, करोडो, भूखो मरनेवालो की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता का भी अवश्य समावेश होना चाहिए। आवश्यक मनोभाव को कार्य मे परिणत करने के लिए जिन लोगो के अत्यधिक विशेषाधिकार है उन्हे अपने बहुत-से अधिकार उन लोगो के लिए छोड देने पडेगे जिनके

---

१. 'Moral Man and Immoral Society' पुस्तक में।

पास बहुत थोडे अधिकार है।" आगे उसमे यह भी बताया गया है कि मजदूरो को निर्वाह के लिए आवश्यक मजदूरी और जीवन की दूसरी सुविधायें भी जरूर मिलनी चाहिएँ, मिल्कियतो पर खास टैक्स लगाये जाने चाहिएँ, और खास उद्योग-विभागो, खनिज-साधनो, रेलवे, जल-मार्गों, जहाजरानी और सार्वजनिक आवागमन के दूसरे साधनों पर राज्य अपना अधिकार और नियन्त्रण रक्खेगा।" साथ ही यह भी कि "नशीले पेय और पदार्थ सर्वथा बन्द किये जायँगे।" शायद बहुत-से लोग इन सब बातो का विरोध करेगे। यह हो सकता है कि वे बहुमत के निर्णय के सामने सिर झुका ले, लेकिन यह होगा इसी भय के कारण कि आज्ञा-भग का नतीजा बुरा होगा। सचमुच लोकतन्त्र का अर्थ ही बहुसख्यक लोगो का अल्पसख्यक लोगो पर दबाव है।

अगर मिल्कियत सम्बन्धी अधिकारो को कम करने या बहुत हदतक उन्हे रद करने के लिए कोई कानून बहुमत से पास होजाय, तो क्या इस लिए उसका विरोध किया जायगा कि यह तो दबाव है? स्पष्ट है कि यह नही है, क्योंकि सभी लोकतन्त्रात्मक कानूनों को बनाने मे यही तरीका काम मे लाया जाता है। इसलिए दबाव की बिनापर ऐतराज नही किया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि बहुमत गलत या अनैतिक मार्ग पर चल रहा है। ऐसी हालत मे सवाल यह पैदा होता है कि कसरत राय से जो कानून पास हुआ, क्या वह किसी नैतिक सिद्धान्त की अवहेलना करता है? लेकिन इस सवाल का फैसला कौन करेगा? अगर अलग-अलग व्यक्तियो और समूहों को यह छूट देदी जाय कि वे अपने-अपने निजी स्वार्थ के अनुसार कर्त्तव्यशास्त्र की व्याख्या करले, तो लोक-तन्त्रात्मक प्रणाली का तो खात्मा ही हो जाता है। व्यक्तिगत रूप से मै तो यह महसूस करता हूँ कि (बहुत ही सकुचित अर्थो मे छोडकर) व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा कुछ व्यक्तियो को सारे समाज पर भयंकर अधिकार दे देती है, और इसलिए वह समाज के लिए अत्यन्त हानि-कारक है। मै व्यक्तिगत सम्पत्ति को शराबखोरी से भी ज्यादा अनैतिक समझता हूँ, क्योंकि शराब-समाज को उतना नुकसान नही पहुँचाती

जितना कि व्यक्ति को।

फिर भी जो लोग अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास रखने का दावा करते हैं उनमें-से कुछ लोगों ने मुझसे कहा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उसके मालिक की स्वीकृति के बिना राष्ट्रीयकरण करना दबाव होगा और इसीलिए अहिंसा के विरुद्ध अवश्य ही मेरे सामने इस दृष्टिकोण पर उन बड़े-बड़े जमींदारों ने, जो जबरदस्ती लगान वसूल करने में सरकार की मदद लेने में नहीं हिचकिचाते, और कई फैक्टरियों के मालिक उन पूंजी-पतियों ने जो अपने हलकों में स्वतन्त्र मजदूर-संघ भी कायम नहीं होने देना चाहते, जोर दिया है। यह बात काफी नहीं मानी जाती कि जिन लोगों का उस बात से ताल्लुक है उनका अधिकांश परिवर्तन चाहता है, बल्कि परिवर्तन से जिन लोगों को नुक्सान है उन्हींका हृदय-परिवर्तन करने के लिए कहा जाता है। थोड़े-से स्वार्थी दल स्पष्टतः आवश्यक परिवर्तन को रोक सकते हैं।

अगर इतिहास से कोई एक बात सिद्ध होती है, तो वह यह है कि आर्थिक हित ही समूहों और वर्गों के दृष्टिकोण के निर्माता होते हैं। इन हितों के सामने न तो तर्क और न नैतिक विचारों की ही चलती है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति राजी हो जायं और अपने विशेषाधिकार छोड़ दें, यद्यपि ऐसा बहुत विरले ही लोग करते हैं, लेकिन समूह और वर्ग ऐसा कभी नहीं करते। इसीलिए शासक और विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग को अपनी सत्ता और अनुचित विशेषाधिकारों को छोड़ देने के लिए रजामन्द करने की जितनी कोशिशें अब तक की गयीं वे हमेशा नाकाम-याब ही हुईं और इस बात को मानने के लिए कोई वजह दिखाई नहीं देती कि वे भविष्य में कामयाब हो जायंगी। रीन्होल्ड नीबूर ने अपनी किताब[१] में उन सदाचारवादियों को आड़े हाथों लिया है, जो यह कल्पना कर बैठे हैं कि "व्यक्तियों की स्वार्थपरायणता, विवेक और धार्मिक स्फूर्ति-प्राप्त सद्भावना की वृद्धि से, दिन-ब-दिन कम हो रही है और यह

---

१. Moral Man and Immoral Society पुस्तक में से।

भी कि समस्त मानव-समाजो और समूहो मे सामाजिक ऐक्य स्थापित कराने के लिए सिर्फ इतना ही जरूरी है कि यह क्रिया जारी रहे।" ये सदाचारवादी "मनुष्य के सामूहिक व्यवहार मे उन मूल बातो को, जो प्रकृति का अग है और जो कभी भी सर्वथा विवेक या अन्तरात्मा के अकुश मे नही लाई जा सकती, पहचानकर मानव-समाज मे न्याय-प्राप्ति के लिए जो सघर्ष चल रहा है उसमे राजनैतिक आवश्यकताओ की अवहेलना कर देते है। ये लोग इस सच बात को नही मानते कि जब सामूहिक शक्ति, चाहे वह साम्राज्यवाद की शक्ल में हो या वर्ग-प्रभुता के रूप मे, कमजोरो का शोषण करती है तब वह उस वक्त तक अपनी जगह से नही हटाई जा सकती जबतक कि उसके खिलाफ ताकत खडी न कर दी जाय।" और फिर, "क्योकि किसी भी सामाजिक स्थिति मे विवेक सदा ही कुछ हद तक स्वार्थ का दास होता है, केवल नैतिक या बौद्धिक समझाव-बुझाव से समाज मे न्याय स्थापित नही हो सकता। सघर्ष अनिवार्य है और इस सघर्ष मे शक्ति का मुकाबिला शक्ति से ही किया जाना चाहिए।"

इसलिए यह सोचना, कि किसी वर्ग का किसी राष्ट्र के हृदय-परिवर्तन मात्र से काम चल जायगा या न्याय के नाम पर अपील करने और विवेकयुक्त दलीले देने से सघर्ष मिट जायगा, अपने-आपको धोखा देना है। यह कल्पना करना कि किसी ऐसे कारगर दबाव के बिना ही, जो मजबूर करने की हद तक पहुँचता हो, कोई साम्राज्यवादी शासन-सत्ता देश पर से अपनी हुकूमत उठा लेगी या कोई वर्ग अपने उच्च-पद और विशेषाधिकारों को छोड देगा सर्वथा भ्रम है।

यह स्पष्ट है कि गाधीजी इस दबाव से काम लेना चाहते है, हालाँकि वह उसे बल-प्रयोग के नाम से नही पुकारते। उनके कथनानुसार, उनका तरीका तो स्वय कष्ट-सहन का तरीका है। इसका समझ सकना कुछ कठिन है, क्योकि इसमें कुछ आध्यात्मिक भावना छिपी है और हम उसे न तो नाप ही सकते है और न किसी भौतिक तरीके से उसकी जाँच ही कर सकते है। इसमे कोई शक नही कि विरोधी पर भी इस तरीके का

काफी असर पडता है। यह तरीका विरोधियो की नैतिक दलीलों का परदा फाग कर देता है, उन्हें घवरा देता है, उनकी सर्वोच्च भावना को जागृत कर देता है और समझौते का दरवाजा खोल देता है। इस वात मे तो कोई शक नही हो सकता कि प्रेम की पुकार और स्वय कष्ट-सहन के अस्त्र का विपक्षी और साथ ही दर्शको पर बहुत ही जवरदस्त मनो-वैज्ञानिक असर पडता है। बहुत-से शिकारी यह जानते हैं कि हम जगली जानवरों के पास जिस दृष्टि से जाते हैं वैसा ही उनपर असर हो जाता है। वह जानवर दूर से ही भाँप लेता है, कि आप उस पर हमला करना चाहते हैं और उसीके मुताविक वह अपना रवैया इख्तियार करता है। इतना ही नही, आदमी अगर खुद किसी जानवर से डरे, फिर चाहे वह उसे महसूस भी न हो, तव भी उसका वह डर किसी तरह जानवर के पास पहुँच जाता है और उसे भयभीत कर देता है और इसी भय की वजह से वह हमला कर वैठता है। अगर शेरों को पालनेवाला जरा भी डर जाय तो उसपर हमला किये जाने का खतरा फौरन पैदा हो जाता है। एक विलकुल निर्भय आदमी किसी अज्ञात दुर्घटना के सिवा शायद ही किसी हिंसक पशु के खतरे का शिकार होता हो। इसलिए यह बात स्वाभाविक मालूम होती है कि मानव-प्राणी इन मानसिक प्रभावों से प्रभावित हो। फिर भी यद्यपि व्यक्ति प्रभावित हो सकते हैं लेकिन इस बात में शक है कि वर्ग या समूह पर इस तरह का प्रभाव पड सकता है। वर्ग के रूप मे वह वर्ग किसी अन्य दल के व्यक्तिगत और निकट-सम्पर्क मे नही आता। इतना ही नही, उसके सम्बन्ध मे वह जो रिपोर्ट सुनता है वह भी एकागी और तोड़ी-मरोडी हुई होती है। और हर हालत मे जब कोई समूह उसके अधिकार को चुनौती देता है तव उसके रोष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया इतनी बलवान होती है कि अन्य सव छोटे-छोटे भाव उसमे विलीन हो जाते है। वह वर्ग तो वहुत दिनो से इस खयाल का आदी हो गया है कि उसे जो विशिष्ट पद और अधि-कार मिले हुए है, वे समाज-हित के लिए जरूरी है। इसलिए उसके खिलाफ जो राय ज़ाहिर की जाती है वह उसे कुफ्र-जैसी मालूम होती

है। कानून और व्यवस्था तथा वर्तमान अवस्था को कायम रखना खास गण हो जाते हैं और उनमे विघ्न डालने की कोशिश सबसे महान् पाप।

इसलिए जहाँतक विरोधी-पक्ष से ताल्लुक है, हृदय-परिवर्तन का यह तरीका हमे कुछ बहुत दूर तक नही ले जाता। निस्सन्देह कभी-कभी तो अपने *विरोधी की नरमी और उसकी साधुता ही प्रतिपक्षी को और* भी अधिक क्रोधित बना देती है, क्योंकि वह समझता है कि उसने इससे उसे गलत स्थिति मे डाल दिया है और जब किसी व्यक्ति को यह शका होने लगती है कि शायद वह गलती पर न हो, तब उसका सात्विक रोष और भी बढ जाता है। फिर भी अहिंसा की इस विधि से विपक्ष के कुछ व्यक्तियो पर जरूर प्रभाव पडता है और इस प्रकार विरोध की दृढता मे कमी आ जाती है। इससे भी अधिक बात यह है कि वह तटस्थ लोगो की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है और ससार के लोकमत को प्रभावित करने का बडा ज़बरदस्त ज़रिया है। लेकिन इस दशा मे यह सम्भव हो सकता है कि शासक-वर्ग खबर को बाहर जाने से रोक दे या उसे तोड-मरोड कर जाने दे, क्योकि प्रकाशन की एजेन्सियो पर उसका नियन्त्रण रहता है और इस तरह वह असली वाकयात का पता लगाना रोक सकता है। ताहम अहिंसात्मक अस्त्र का सबसे ज्यादा जोरदार और व्यापक असर तो जिस देश मे यह अस्त्र काम मे लाया जाता है उसके कम-बढ उदासीन लोगो पर होता है। निस्सदेह उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वे अक्सर उनके जोरदार समर्थक बन जाते है। लेकिन ऐसे लोगो का हृदय-परिवर्तन कोई बडी बात नहीं, क्योंकि ये लोग आमतौर पर उस उद्देश्य को तो मानते ही थे। जो लोग क्रान्ति से घबराते है उनपर कोई असर दिखाई नही देता। भारत मे असहयोग और सत्याग्रह जिस तेजी से फैला, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस तरह एक अहिंसात्मक हलचल बहुसख्यक लोगों पर जबरदस्त असर डालती है, और बहुत-से अस्थिर-बुद्धि लोगो को किस तरह अपनी ओर खीच लेती है। लेकिन उससे वे लोग कोई ज्यादा हदतक नही बदले। मगर जो लोग शुरू से ही उसके विरोधी थे, उनकी किसी

उल्लेखनीय सस्था को वह अपने पक्ष का न बना सकी। सच बात तो यह है कि आन्दोलन की सफलता ने उनके भय को और भी बढ़ा दिया और इस प्रकार वह और भी ज्यादा विरोधी बन गये।

अगर एक बार यह मान लिया जाता है कि राज्य के लिए अपनी आजादी की रक्षा करने के लिए हिंसा का प्रयोग जायज है, तब यह समझना मुश्किल है कि उसी आजादी को हासिल करने के लिए उन्ही हिंसात्मक और बल-प्रयोग के तरीको को इख्तियार करना उतना ही जायज क्यो नही है? कोई अहिंसात्मक तरीका अवाञ्छनीय और अनुपयुक्त हो सकता है, लेकिन वह सर्वथा नाजायज और वर्जित नही हो सकता। सिर्फ इसी कारण से कि सरकार सबसे प्रबल है और उसके हाथ मे सशस्त्र सेना है, उसे हिंसा के प्रयोग करने का ज्यादा हक नही मिल जाता। उस हालत मे जबकि अहिंसात्मक क्रान्ति सफल हो जाय और उसका राज्य पर काबू हो जाय, क्या उसको हिंसा को इस्तैमाल करने का वह हक फौरन ही हासिल हो जायगा, जो उसके पास पहले नही था? अगर इस नये राज्य की हुकूमत के खिलाफ बगावत हो, तो वह उसका मुकाबिला कैसे करे? स्वभावत. वह यह नही चाहेगा कि हिंसात्मक तरीके से काम ले और स्थिति का मुकाबिला करने के लिए हर शान्तिमय तरीके से कोशिश करेगा। लेकिन वह हिंसा से काम लेने के अपने अधिकार को नही छोड सकता। यह निश्चय है कि जनता मे ऐसे बहुत-से असन्तुष्ट लोग होगे, जो इस परिवर्तन के खिलाफ होगे और वे इस बात की कोशिश करेगे कि पहली हालत फिर से लौट आये। अगर वे यह सोचेगे कि सरकार उनकी हिंसा का मुकाबिला अपने दमनकारी शस्त्रो से नही करेगी, तब तो वे शायद और भी ज्यादा हिन्सा को काम मे लायँगे। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि हिंसा और अहिंसा हृदय-परिवर्तन और बल-प्रयोग के बीच कोई निश्चित और पूर्ण विभाजकरेखा खीच सकना एकदम नामुमकिन है। राजनैतिक परिवर्तन के सम्बन्ध मे तो यह कठिनाई सचमुच ठीक है, लेकिन तब खास विशेषाधिकार-प्राप्त और शोषितवर्गो के सम्बन्ध मे यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है।

किसी आदर्श के लिए कष्ट-सहन की सदा ही प्रशसा हुई है, और बिना झुके और बदले मे हाथ चलाये बिना किसी उद्देश के लिए तकलीफ सहने मे एक ऐसी उच्चता और ऐसी भव्यता है जिसे मानना ही पडता है। फिर भी इसके और कष्ट-सहन के लिए कष्ट उठाने के बीच मे भेद करनेवाली बहुत पतली लकीर है, और इस प्रकार का कष्ट-सहन अक्सर दूषित और कुछ हद तक पतनकारी हो जाता है। अगर हिंसा अक्सर क्रूरतापूर्ण होती है तो कम-से-कम अपने नकारात्मक पहलुओ मे अहिंसा सम्भवत दूसरी तरफ अति पर पहुँच सकती है। इस बात की सम्भावना हमेशा रहती है कि अहिंसा को अपनी कायरता और अकर्मण्यता को छिपाने और स्थितिपालकता को कायम रखने का साधन बना लिया जाय।

हिन्दुस्तान मे पिछले कुछ बरसों मे, जबसे कि क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन की भावना ने जोर पकड़ा है, अक्सर यह कहा जाने लगा है कि इस प्रकार के परिवर्तन मे हिंसा आवश्यक रूप से काम मे लानी पडती है, इसलिए इन परिवर्तनो के लिए जोर नही दिया जा सका। श्रेणी-युद्ध का जिक्र तक नही किया जाना चाहिए (फिर चाहे वह कितना ही ज्यादा क्यो न मौजूद हो), क्योंकि वह हमारे उस पूर्ण सहयोग और उस अहिंसात्मक प्रगति की भावना मे, जो हमे अपने भावी लक्ष्य की ओर ले जानेवाली है, विघ्न डालता है। यह बहुत मुमकिन है कि सामाजिक मसले का हल किसी-न-किसी मौके पर हिंसा के बिना न हो सके, क्योंकि यह तो निश्चय ही मालूम पडता है कि जिन वर्गों को विशेष अधिकार प्राप्त है वे अपने प्राप्त अधिकारो को कायम रखने के लिए हिंसा से काम लेने में नही हिचकेंगे। लेकिन सिद्धान्त के तौर पर अगर अहिंसात्मक तरीके से कोई बडा भारी राजनैतिक परिवर्तन कर सकना सम्भव है, तो इसी तरीके से क्रातिकारी सामाजिक परिवर्तन कर सकना उतना ही सम्भव क्यों नही होना चाहिए? अगर हम लोग अहिंसा के जरिये हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता हासिल कर सकते है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को निकाल सकते है, तो हम उसी तरीके से माण्ड-

लिक राजाओ, जमीदारो और दूसरे सामाजिक मसलों को हल करके समाजवादी सरकार क्यो नही कायम कर सकते ? प्रश्न इतना अधिक यह नही है कि यह सब कुछ अहिसा के जरिये हो सकता है या नही। सवाल तो यह है कि या तो ये दोनों ही उद्देश्य अहिसा के जरिये हासिल हो सकते है या फिर एक भी नही। यह तो कहा ही नही जा सकता कि अहिसात्मक अस्त्र का प्रयोग सिर्फ विदेशी शासको के ही खिलाफ किया जा सकता है। जाहिरा तौर पर तो किसी देश मे उसके अपने देशी स्वार्थी समुदायो और अडगा-नीति ग्रहण करनेवालों के खिलाफ उसका प्रयोग करना ज्यादा आसान होना चाहिए, क्योंकि उनपर उसका मनोवैज्ञानिक असर बाहरवालो की बनिस्बत ज्यादा पड़ेगा।

हिन्दुस्तान मे इन दिनो जो यह प्रवृत्ति चल गयी है कि उद्देशों और नीतियो को महज इसलिए बुरा बता दिया जाय क्योकि वे अहिसा से टकराती है, मुझे ऐसी मालूम होती है मानो इन समस्याओ को समझने का जो सही तरीका है उसे छोडकर दूसरी तरह देखा जाता है। पन्द्रह बरस पहले हमने अहिसात्मक उपाय को इसलिए इख्तियार किया था कि हमे यह विश्वास हो चला था कि उसके द्वारा हम सबसे अधिक वाञ्छित और कारगर तरीके से अपने लक्ष्य पर पहुँच जायँगे। उस वक्त हमारा लक्ष्य अहिसा से अलग था। वह न तो केवल अहिसा का पुछल्ला ही था, न उसका परिणाम। उस वक्त कोई यह नही कह सकता था कि हमे आज़ादी या स्वतन्त्रता को अपना ध्येय तभी बनाना चाहिए कि जब वह अहिंसात्मक तरीको से ही मिल सके। लेकिन अब हमारे ध्येय का फैसला अहिसा की शर्तो से होता है, और अगर वह उनके मुताबिक ठीक नही बैठता तो नामंजूर कर दिया जाता है। इसलिए अहिसा का खयाल एक ऐसा जडवाद बनता जा रहा है जिसके खिलाफ आप कुछ नही कह सकते। इस कारण आध्यात्मिक रूप मे अब वह हमारी बुद्धि को अपील नहीं करता और श्रद्धा और धर्म के घोंसले मे अपनी जगह ले रहा है। इतना ही नहीं, वह तो स्वार्थी समुदायों के लिए पक्का लगर बन रहा है और ये लोग मौजूदा स्थिति को

ज्यो-का-त्यो बनाये रखने के लिए उससे नाजायज़ फायदा उठा रहे हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध के विचार और लडाई की अहिंसात्मक निधि, हिन्दुस्तान और बाकी की दुनिया के लिए, अत्यन्त लाभप्रद है और गाधीजी ने वर्तमान विचार-जगत् को इनपर गौर करने के लिए विवश करके बडी ज़बरदस्त सेवा की है। मेरा विश्वास है कि उनका भविष्य महान् है। यह हो सकता है कि मानव-समुदाय अभी इतना आगे नही बढ पाया है कि वह उन्हे पूरी तरह अपना सके। ए० ई० की 'इटरप्रेटर्स' नामक पुस्तक के एक पात्र का कहना है कि—"आप अन्धों को प्रकाश के लिए अपनी मशाल देते है, लेकिन उससे उन्हे क्या विशेष लाभ पहुँच सकता है?" सम्भव है कि आज वह आदर्श अधिक फलीभूत न हो सके, लेकिन सब महान् विचारों की तरह उसका प्रभाव बढता रहेगा, और हमारे कार्य उससे अधिकाधिक प्रभावित होते रहेंगे। असहयोग, जिसका अर्थ है उस राज्य या समाज से जिसे हम बुरा समझते हैं, अपना सहयोग हटा लेना, एक बहुत ही ज़बरदस्त और क्रान्तिकारी धारणा है। यदि उच्च कोटि के मुट्ठी-भर लोग भी उसपर अमल करे तो उसका प्रभाव फैल जाता है और बढता चला जाता है। सख्या की वृद्धि से उसका बाहरी प्रभाव और अधिक दिखाई देने लगता है। लेकिन उस हालत मे प्रवृत्ति यह होती है कि दूसरी बाते नैतिक सवाल को दबा लेती है। ऐसा मालूम पडता है कि उसके विस्तार से उसकी गहराई पर उसका असर पडता है। सामूहिक शक्ति धीरे-धीरे वैयक्तिक शक्ति को पीछे धकेल देती है।

फिर भी विशुद्ध अहिंसा पर जो ज़ोर दिया जाता है, उससे वह एक दूर की-सी तथा जीवन से एक भिन्न-सी वस्तु बन गयी है और यह प्रवृत्ति हो चली है कि लोग या तो उसे अन्धे होकर धर्म की तरह मजूर कर ले या उसे बिलकुल नामजूर कर दे। उसका बौद्धिक अश पीछे जा छिपा है। १९२० मे हिन्दुस्तान के आतकवादियों पर उसका बहुत असर पडा था और जिससे बहुत-से उस दल से अलग हो गये और जो बने रहे, वे भी असमञ्जस मे पड़ गये और अपने हिंसात्मक कार्यों को बन्द कर दिया,

लेकिन अब उनपर इस अहिसा का कोई ऐसा असर नही रहा है। काग्रेसवादियो मे भी बहुत-से ऐसे लोग, जिन्होने असहयोग और सविनय भग के आन्दोलनों मे महत्त्व-पूर्ण भाग लिया था और जिन्होंने अहिसा का उसके सब व्यापक अर्थो मे ईमानदारी से पालन करने का प्रयत्न किया था, अब काफिर समझे जाते है और कहा जाता है कि उन्हे काग्रेस मे रहने का कोई अधिकार नही है, क्योकि वे अहिसा को न तो ध्येय के तौर पर और न धर्म के रूप मे मानने को तैयार है और न उस एकमात्र लक्ष्य को ही छोडने को तैयार है, जिसे प्राप्त करना वे अपना कर्त्तव्य समझते है। अर्थात् समाजवादी राज्य जिसमे सबके लिए समान रूप से न्याय और सुविधाये होगी। व्यवस्थित समाज तो तभी कायम हो सकता है, जबकि आज-कल जो विशेप सुविधाये और सम्पत्ति-सम्वन्धी अधिकार प्राप्त है वे अधिकार समाप्त कर दिये जायँ। निस्सन्देह गाधी जी आज भी वही ज़िदा हस्ती बने हुए है, जिनकी अहिसा सजीव और उग्र रूप की है और कोई नही कह सकता कि वह कब देश को एक बार फिर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर देगे। अपनी तमाम महत्ता और परस्पर विरोधी बातो और जनता को विलक्षण रूप से प्रभावित करने की शक्ति के कारण वह साधारण स्टैण्डर्ड से ऊँचे है।। जैसे हम दूसरों को नापते तौलते है, वैसे उनका नाप-तोल नही हो सकता। लेकिन वहुत-से, जो उनके अनुयायी होने का दावा करते है, निकम्मे शान्तिवादी या टॉलस्टॉय के ढग के अप्रतिरोधी या किसी सकुचित सम्प्रदाय के सदस्य वन जाते है, जिनका कि जीवन और वास्तविकता से कोई सम्पर्क नही होता। और ये लोग अपने आस-पास ऐसे वहुत से लोगों को इकट्ठा कर लेते है जिनका स्वार्थ इसीमे है कि वर्तमान व्यवस्था कायम रहे और जो इसी मतलव से अहिसा की शरण लेते है। इस तरह अहिसा मे समय-साधकता घुस पडती है और हम प्रयत्न तो करते है विरोधी के हृदय-परिवर्तन का, लेकिन अहिसा को सुरक्षित रखने की धुन मे हम स्वयं परिवर्त्तित हो जाते है और विरोधी की श्रेणी में आ जाते है। जव जोश ठंडा हो जाता है और हम कमजोर पड जाते है

तब हमेशा थोडी-सी पीछे की तरफ हटजाने और समझौता करने की प्रवृत्ति हो जाती है और इसे फख्र के साथ अपने विरोधी को जीतने की कला के नाम से पुकारा जाता है। कभी-कभी तो इसकी प्राप्ति के लिए हम अपने पुराने साथियों तक को खो बैठते है। हम उनकी आदतो की, उनके भाषणो की, जिनसे हमारे नये दोस्त चिढे होते है, निन्दा करते है और उनपर हमारी एकता भग करने का इलजाम लगाते है। सामाजिक व्यवस्था मे वास्तविक परिवर्तन किये जाने पर जोर देने के बजाय हम मौजूदा समाज मे दया और उदारता पर ज़ोर देते है और स्वार्थी समुदाय वैसे-का-वैसा ही बना रहता है।

मेरा विश्वास है कि साधनो की महत्ता पर जोर देकर गाधीजी ने हमारी बड़ी सेवा की है। फिर भी मै इस बात का विश्वास के साथ अनुभव करता हूँ कि अन्तिम जोर तो लाज़िमी और जरूरी तौर पर हमारे सामने जो ध्येय या मकसद हो उसीपर देना चाहिए। जबतक हम ऐसा नही करते तबतक हम इधर-उधर घूमने मे और इधर-उधर के मामूली सवालो पर अपनी ताक़त बरबाद करते रहने के सिवा और कुछ नही कर सकते। लेकिन साधनों की भी उपेक्षा नही की जा सकती, क्योंकि नैतिक पक्ष के अलावा उससे बिलकुल अलग उनका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। हीन और अनैतिक साधन अक्सर हमारे लक्ष्य को ही विफल कर देते है, जबर्दस्त नयी-नयी समस्याये खडी कर देते है। और, आखिरकार, किसी आदमी के बारे मे कोई सही निर्णय हम, उसके उद्घोषित लक्ष्य से नही कर सकते, बल्कि उन साधनो से ही करते है जिन्हे कि वह व्यवहार में लाता है। ऐसे साधनो को अपनाने से, जिनसे कि व्यर्थ की लडाई पैदा हो और घृणा की वृद्धि हो, लक्ष्य की प्राप्ति और भी अधिक दूर हो जाती है। सच बात तो यह है कि साधन और साध्य का एक दूसरे से इतना नजदीकी सम्बन्ध है कि उनको अलग-अलग करना बहुत मुश्किल है। अत निश्चित रूप से साधन ऐसे होने चाहिएँ, जिनसे घृणा या झगडे यथासम्भव कम होजायँ या सीमित होजायँ, (क्योंकि उनका होना तो अनिवार्य-सा है) और सद्भावनाओ को प्रोत्साहन मिले।

दरअसल प्रश्न किसी विशिष्ट साधन का उतना नही होता, जितना कि वह हेतु, उद्देश्य और स्वभाव का बन जाता है। गाधीजी ने इसी बुनियादी भावना पर ज़ोर दिया है और अगर वह मानव स्वभाव को किसी उल्लेख-योग्य सीमा तक बदलने मे कामयाब नही हुए हैं तो उनको एक बहुत बडी राष्ट्रीय हलचल पर, जिसमे लाखो ने हिस्सा लिया, इसकी छाप बिठाने मे आश्चर्यजनक सफलता मिली है। कडे नैतिक अनुशासन पर उन्होने जो ज़ोर दिया वह भी बहुत जरूरी था, हालाँकि उन्होने उस वैयक्तिक अनुशासन के जो स्टैण्डर्ड कायम किये है वे शायद बहस-तलब है। वह व्यक्तिगत पापो और कमज़ोरियों को तो बहुत ज्यादा महत्त्व देते है और सामाजिक पापों को बहुत कम। इस अनुशासन की आवश्यकता तो स्पष्ट है, क्योकि मुसीबतो का रास्ता छोडकर शक्ति और अधिकार के स्थान पर पहुँचे हुए विशेष अधिकारप्राप्त समूह मे मिलने के प्रलोभन ने बहुत-से काग्रेसवादियो को काग्रेस से बाहर खीच लिया है, क्योकि किसी भी नामी कॉंग्रेसवादी के लिए उस सुविधापूर्ण स्थान के दरवाज़े तो सदा खुले ही रहते हैं।

आजकल सारी दुनिया कई तरह के सकटों मे फँसी है। लेकिन इनमे सबसे बडा सकट आध्यात्मिक सकट है। यह बात पूर्व के देशों मे ख़ासतौर पर दिखाई देती है, क्योंकि हाल मे दूसरी जगहो की अपेक्षा एशिया मे बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन हुए है और सामञ्जस्य स्थापित करने की क्रिया बडी दुखदायी है। राजनैतिक समस्या, जो कि आज इतना महत्त्व पा गयी है, शायद सबसे कम महत्त्व की चीज है। हालाँकि हमारे लिए तो यह प्रधान समस्या है और इसके पहले कि हम असली मामलो मे लगे, उसका सतोष-प्रद हल हो जाना जरूरी है। पिछले बहुत-से युगों से हम लोग एक अटल मूल सामाजिक व्यवस्था के आदी होगये है। हममे से बहुतो का अब भी यह विश्वास है कि सिर्फ यही आधार समाज के लिए सम्भव और ठीक आधार है, और नैतिक दृष्टि से हम उसे ठीक मान लेते है। लेकिन भूतकाल से वर्त्तमान को मिलाने की हम जितनी कोशिशे करते है वे सब बेकार होजाती है, जोकि अवश्य-

म्भावी ही है। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेव्लेन ने लिखा है कि—"अन्त मे आर्थिक सदाचार आर्थिक आवश्यकताओ का अनुकरण करता है।" आजकल की जरूरते हमें इस बात के लिए मजबूर करेगी कि हम उनके मुताबिक सदाचार की एक नयी व्याख्या बनावे। अगर हम लोग इस आध्यात्मिक सकट मे से निकल भागने का कोई रास्ता ढूँढना चाहते है और चाहते है कि हम आजकल की सच्ची आध्यात्मिक उपयोगिताओ को महसूस कर ले तो हमे निर्भिकता से और साहस के साथ समस्याओ का सामना करना पडेगा और किसी भी धार्मिक आदेश की शरण लेने से काम नही चलेगा। धर्म जो-कुछ कहता है वह भला भी हो सकता है और बुरा भी। लेकिन जिस तरीके से वह उसे कहता है और यह चाहता है कि हम उसपर विश्वास करले, उससे किसी बात को बुद्धि से समझ लेने मे हमें कतई कुछ मदद नही मिलती। जैसा कि फ्रॉयड ने कहा है "धर्म के आदेश विश्वास किये जाने योग्य है इसलिए कि हमारे पूर्व पुरुष उनपर विश्वास करते थे; दूसरे इसलिए कि हमारे पास उनके लिए प्रमाण मौजूद है, जो हमे उसी पुराने जमाने से विरासत मे मिलते आये है, और तीसरे इसलिए, कि उनकी सचाई के बारे मे सवाल उठाना मना है।"[१]

अगर हम अहिंसा पर उसके सब व्यापक भावो सहित निर्भ्रान्त धार्मिक-दृष्टि से विचार करे तो बहस के लिए कोई गुजाइश नही रहती है। उस हालत मे तो वह एक सम्प्रदाय का सकुचित ध्येय होजाता है, जिसे लोग माने या न माने। उसकी सजीवता जाती रहती है और उसमें मौजूदा मसलों को हल करने की क्षमता नही रहती। लेकिन अगर हम लोग मौजूदा हालतों के सिलसिले मे उनपर बहस करने को तैयार रहे तो वह हमे इस दुनिया के नवनिर्माण के हमारे प्रयत्नों मे बहुत मदद दे सकता है। ऐसा करते समय हमे साधारण व्यक्ति की कमजोरियो और उसके स्वभाव का ध्यान रखना चाहिए। विस्तृत प्रमाण मे सामूहिक रूप से और खासकर कायापलट और क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए किये

१. The Future of an Illusion.

जानेवाले किसी भी प्रयत्न पर केवल इसी बात का असर नही पडता कि नेता लोग उसके सम्बन्ध मे क्या सोचते है, बल्कि मौजूदा अवस्थाओ का, और इससे भी अधिक मानवप्राणी उसके साथ काम करते है वे उसके सम्बन्ध मे क्या सोचते है इसका, भी पड़ता है।

दुनिया के इतिहास मे हिसा का बहुत बडा हिस्सा रहा है। आज भी वह बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रही है और गालिबन् आगे भी बहुत वक्त तक वह अपना काम करती रहेगी। पिछले ज़माने मे जो परिवर्त्तन हुए, उनमे से ज्यादातर हिसा और बल-प्रयोग से ही हुए। एक मर्तबा डब्ल्यू० ई० ग्लैडस्टन ने कहा था कि—"मुझे यह कहते हुए दु ख होता है कि अगर राजनैतिक सकट के समय इस मुल्क के लोगो को हिंसा से नफरत, व्यवस्था से प्रेम और धीरज से काम लेने की हिदायतो के अलावा और हिदायते न जारी की गयी होती, तो इस मुल्क मे लोगो को जो आजादियाँ है वे उन्हें कभी प्राप्त न हो पाती।"

पिछले जमाने की, और आजकल भी, हिसा की महत्ता की उपेक्षा करना नामुमकिन है। उसकी उपेक्षा करना जिन्दगी की उपेक्षा करना है। फिर भी अवश्य ही हिंसा एक बुरी चीज है और वह अपने पीछे दुष्ट परिणामो की एक लम्बी लीक छोड जाती है। और हिसा से भी ज्यादा बुरी घृणा, क्रूरता, बदला और सजा की वे प्रवृत्तियाँ है जो अक्सर हिसा के साथ चलती है। सच बात तो यह है कि हिसा स्वत बुरी नहीं बल्कि वह इन्ही प्रवृत्तियो की वजह से बुरी है जो उसके साथ-साथ चलती है। इन प्रवृत्तियो के बिना भी हिसा हो सकती है। वह तो बुरे उद्देश्य के लिए भी हो सकती है और अच्छे के लिए भी। लेकिन हिसा को इन प्रवृत्तियो से अलग करना बहुत मुश्किल है, और इसलिए यह वाछनीय है कि जहाँ तक मुमकिन हो हिसा से बचा जाय। फिर भी उससे बचने मे हम यह नकारात्मक रुख इख्तियार नही कर सकते कि उससे बचने की धुन मे दूसरी व उससे कही ज्यादा बडी बुराइयों के सामने सर झुका दे। हिसा के सामने दब जाना या हिसा की नीव पर टिके हुए किसी अन्यायपूर्ण शासन को मजूर कर लेना अहिसा की स्पिरिट के बिलकुल खिलाफ

है। अहिंसा का तरीका तो तभी ठीक कहा जा सकता है जब वह सजीव हो और उसमे इतनी सामर्थ्य हो कि ऐसे शासन या ऐसी सामाजिक व्यवस्था को बदल डाले।

अहिंसा यह कर सकती है या नही, यह मै नही जानता। मेरा खयाल है कि वह हमे बहुत दूर तक ले जा सकती है, लेकिन इस बात मे मुझे शक है कि वह हमे अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है। हर हालत में किसी-न-किसी किस्म का बल-प्रयोग तो लाजिमी मालूम पडता है, क्योंकि जिन लोगो के हाथ मे ताकत और खास अधिकार होते है वे उन्हे उस वक्त नही छोडते जबतक ऐसा करने के लिए मजबूर नहीं कर दिया जाता, या जबतक ऐसी सूरते न पैदा करदी जायँ जिनमें उनके लिए इन खास हकों का रखना उन्हे छोडने से ज्यादा नुकसानदेह न हो जाय। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय सघर्ष बल-प्रयोग के बिना कभी नही मिट सकते। निस्सन्देह हमे बहुत बड़े पैमाने पर लोगो के हृदय बदलने पडेंगे, क्योकि जबतक बहुत बडी तादाद हमसे सहमत न होगी, तबतक सामाजिक परिवर्त्तन के आन्दोलन का कोई वास्तविक आधार कायम नही हो सकेगा। लेकिन कुछ पर बल-प्रयोग करना ही पडेगा। हमारे लिए यह ठीक नही है कि हम इन बुनियादी लडाइयो पर परदा डाले और यह दिखलाने की कोशिश करे कि वे है ही नही। ऐसा करने से न सिर्फ सच्चाई का ही दमन होता है, बल्कि इसका सीधा परिणाम यह होता है कि यह लोगो को वास्तविक स्थिति से गुमराह करके मौजूदा व्यवस्था को मजबूत बनाता है और शासक-वर्ग को वह नैतिक आधार मिल जाता है, जिसकी अपने विशेष अधिकारो को उचित ठहराने के लिए वे हमेशा तलाश मे रहते है। किसी भी अन्याय-युक्त पद्धति का मुकाबिला करने के लिए यह लाजिमी है कि जिन गलत उपपत्तियों पर वह टिकी हुई है उनका रहस्योद्घाटन करके नग्न सत्य सामने रख दिया जाय। असहयोग की एक खूबी यह भी है कि वह इन गलत उपपत्तियो और झूठी बातो को मानने और आगे बढ़ाने मे सहयोग देने से इन्कार करके उनका भण्डाफोड़ कर देता है।

हमारा अन्तिम ध्येय तो यही हो सकता है कि समान न्याय और समान सुविधावाला एक वर्ग-रहित समाज हो, ऐसा समान जिसका निर्माण मानव-समाज को भौतिक और सास्कृतिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और उसमे सहयोग, निस्वार्थ सेवा-भाव, सत्यनिष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणो की वृद्धि करने के सुनिश्चित आधार पर हुआ हो और अन्त मे एक ऐसी ससारव्यापी व्यवस्था हो जाय। जो कोई इस लक्ष्य के रास्ते मे रोड़ा बनकर आवे उसे हटाना होगा—हो सके तो नम्रता से अन्यथा बलपूर्वक, और इस बात में बहुत-कम शक है कि अक्सर बल-प्रयोग की जरूरत पडेगी। लेकिन अगर उसका प्रयोग करना ही पडे तो वह घृणा और क्रूरता की भावना से नही, बल्कि एक रुकावट को दूर करने की शुद्ध इच्छा से। ऐसा करना मुश्किल होगा, लेकिन यह काम भी तो आसान नही है, कोई सीधा रास्ता भी नही है और गड्ढों की कोई गिनती नही। हमारे सिर्फ उपेक्षा कर देने से ही ये दिक्कते और गड्ढे दूर नही हो जायँगे, बल्कि उनका असली रूप जानकर और साहस के साथ उनका मुकाबिला करके उन्हे हटाना होगा। ये सब बाते काल्पनिक और सुखस्वप्न-सी मालूम होती है और अधिकतर यह सम्भव नही है कि बहुत-से लोग इन उच्च भावनाओ के प्रेरित होगे। लेकिन हम उन्हे अपनी नजर के सामने रख सकते है और उनपर ज़ोर दे सकते हैं और यह हो सकता है कि इसके फलस्वरूप हममे से बहुतों में जो घृणा और दूसरे विकार भरे हुए है वे कम हो जायँ।

साधन हमे इस लक्ष्य तक पहुँचानेवाले और इन भावनाओ पर अवलम्बित होने चाहिएँ। लेकिन हमे यह बात जरूर महसूस कर लेनी चाहिए कि मानव-स्वभाव जैसा है उसे देखते हुए आम लोग हमारी अपीलों और दलीलों पर हमेशा ध्यान नहीं देगे और न ऊँचे नैतिक उसूलों के मुताबिक काम ही करेगे। हृदय-परिवर्त्तन के अलावा बल-प्रयोग की अक्सर उनपर जरूरत पडती रहेगी और सबसे अधिक हम जो कुछ कह सकते है वह यही है कि उसको सीमित कर दे, और उसको इस प्रकार से काम मे लावे कि उसकी बुराई कम हो जाय।

: ६४ :

फिर देहरादून जेल

अलीपुर-जेल मे मेरी तन्दुरुस्ती ठीक नही रहती थी। मेरा वज़न बहुत घट चुका था, और कलकत्ते की हवा और दिन-दिन बढती हुई गर्मी मुझे परेशान कर रही थी। अफवाह थी, कि मुझे किसी अच्छी आबहवावाली जगह मे भेजा जायगा। ७ मई को मुझसे अपना सामान समेटने और जेल से बाहर चलने को कहा गया। मै देहरादून-जेल मे भेजा जा रहा था। कुछ महीनो की तनहाई के बाद शाम की ठण्डी-ठण्डी हवा मे कलकत्ता के बीच होकर गुजरना बडा अच्छा मालूम होता था और हवडा के आलीशान स्टेशन पर लोगो की भीड भी भली मालूम होती थी।

मुझे अपने इस तबादले पर खुशी थी और मै उम्मीदभरी नजरो से देहरादून और उसके आस-पास के पहाडो की तरफ देखता था। लेकिन वहाँ पहुँचने पर देखा कि नौ महीने पहले, नैनी जाते समय जैसा मैने उसे छोडा था, वह सब हालत अब नही रही है। मै अब एक नये स्थान पर रखा गया, जो मवेशियो के रहने की जगह को साफ और ठीक करके नियत किया गया था।

कोठरी की शकल मे वह कुछ बुरी नही थी। उनके साथ एक छोटा-सा बरामदा भी था। उसीसे लगा हुआ करीब पचास फीट लम्बा सहन था। देहरादून मे पहली बार मुझे जो पुरानी कोठरी मिली थी, उससे यह अच्छी थी। लेकिन शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि दूसरी तब्दीलियाँ कुछ बेहतरी के लिए न थी। घेरे की दीवार, जो दस फीट ऊँची थी, खासकर मेरी गरज़ से उसी वक्त चार या पाँच फीट और बढ़ा दी गयी थी। इससे पहाडियो के जिस दृश्य की मै इतनी उम्मीद कर रहा था, वह बिलकुल छिप गया था, और मै सिर्फ कुछ दरख्तों के सिरे ही देख पाता था। मै इस जेल मे लगभग तीन महीने से ज्यादा

रहा, लेकिन मुझे कभी पहाडो की झलक तक नही दिखाई दी। पहली बार की तरह, इस बार मुझे बाहर जेल के दरवाजे के सामने घूमने की इजाजत न थी। मेरा छोटा-सा आँगन ही कसरत के लिए काफी बड़ा समझा गया था।

ये तथा दूसरी नयी बन्दिशे नाउम्मेदी पैदा करनेवाली थी, जिससे मै खिझ गया। मै अनमना हो गया और अपने आँगन मे जो थोड़ी-बहुत वर्जिश कर सकता था, उसतक के करने को तबीयत न रही। शायद ही मैने कभी अपने को इतना अकेला और दुनिया से जुदा महसूस किया हो। तनहाई कैद का मेरी तबीयत पर खराब असर होने लगा, और मेरी जिस्मानी और दिमागी हालत गिर गयी। मै जानता था कि दीवार के दूसरी तरफ कुछ फीट की दूरी पर वायुमण्डल मे ताजगी और खुशबू भरी है, घास और मिट्टी मे मिलकर ठण्डी-ठण्डी सुगन्ध फैल रही है और हरे-हरे वृक्षो के बीच मे दूर-दूर तक रास्ते बने हुए है। लेकिन ये सब मेरी पहुँच के बाहर थे और बारबार उन्ही दीवारो को देखते-देखते मेरी आँखे पथरा जाती थी। वहाँ पर जेल की मामूली चहल-पहल तक न थी, क्योकि मै सबसे अलग और अकेला रखा गया था।

छ हफ्ते बाद मूसलाधार बारिश हुई, पहले हफ्ते मे बारह इञ्च पानी बरसा। हवा बदली और नवजीवन का सञ्चार हुआ, गर्मी कम हुई और शरीर हल्का हुआ और आराम-सा मालूम होने लगा। लेकिन आँखो या दिमाग को कुछ आराम न मिला। जेल के वार्डर के आने-जाने के लिए जब कभी मेरे सहन का लोहे का दरवाजा खुलता था, तो एक क्षण के लिए बाहरी दुनिया की झलक, लहराते हुए हरे-भरे खेत और रग-बिरगे वृक्ष, जिनपर मेह की बूंदे मोती की तरह चमकती थीं, बिजली के कौंध की भाँति अकस्मात् दिखाई देकर तत्काल छिप जाती थी। दर्वाजा शायद ही कभी पूरा खुलता हो। सिपाहियो को साफ तौर पर हिदायत थी कि अगर मै कहीं नजदीक होऊँ तो वह न खोला जाय, और वे जब-कभी खोलते भी थे, तो बस जरा-ही हरियाली और ताजगी की ये थोडी-थोड़ी झाँकियाँ अब मुझे अच्छी नही लगती थीं, इन्हे देखकर

मुझे घर की याद हो आती थी और दिल मे एक दर्द-सा उठता था; इसीलिए जब कभी दरवाजा खुलता तो मैं वाहर की तरफ नही देखता था।

लेकिन यह सब परेशानी असल मे जेल की ही वजह से नही थी। यह तो वाहरी घटनाओ का असर था। मुझे सताने के लिए एक तरफ तो कमला की बीमारी थी और दूसरी तरफ मेरी राजनैतिक चिन्तायें। मुझे ऐसा दिखायी दे रहा था कि कमला को उसकी पुरानी बीमारी ने फिर आ दवाया है और ऐसी दशा मे मैं उसकी कोई भी सेवा न कर सकने में मजबूरी और लाचारी महसूस कर रहा था। मैं जानता था कि मैं कमला के पास होता तो अवस्था वहुत-कुछ वदल जाती।

अलीपुर मे तो यह वात न थी, पर देहरादून जेल मे मुझे रोजाना अखवार मिलने लगा और मुझे वाहर के राजनैतिक और दूसरे हालात मालूम होने लगे। पटना मे अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमिटी की करीब तीन वरस बाद बैठक हुई (इस दरमियान मे तो वह करीव-करीव गैर-कानूनी ही रही।) इसकी कारंवाई पढकर तवीयत मुरझा-सी गयी। मुझे आश्चर्य हुआ कि देश और दुनिया मे इतना कुछ हो जाने के वाद जव यह पहली बैठक हुई तो परिस्थिति की छानबीन करने, पूरी चर्चा करने और पुराने दर्रे मे से, निकलने की कुछ कोशिश नही की गयी। दूर से ऐसा जान पडा, मानो गाधीजी, अपने पुराने एकतन्त्री रूप मे खड़े होकर कह रहे है, "अगर मेरे बताये रास्ते पर चलना हो, तो मेरी शर्तें कवूल करो।" उनकी माँग विलकुल स्वाभाविक थी, क्योकि यह तो हो नही सकता था कि उन्हे रखा भी जाय और काम भी उनसे उनके गहरे विश्वासो के विरुद्ध लिया जाय। मगर ऐसा जरूर लगा कि ऊपर से लादने की वृत्ति ज्यादा थी और आपस मे चर्चा करके किसी नीति को निश्चित करने की कम। यह विचित्र वात ह कि एक तरफ तो गाधीजी लोगों के दिल और दिमाग पर कब्जा कर लेते है और फिर उन्हीकी लाचारी की शिकायत करते है। मैं समझता हूँ, जनता ने जितनी वफादारी और भक्ति के सामूहिक रूप मे उनका साथ दिया है, उतना वहुत कम लोगो का दिया है। ऐसी हालत मे जनता को यह

दोष देना न्यायोचित नही मालूम होता कि उससे जो बडी-बडी आशायें बाँध ली गयी थी वे पूरी नही हुईं। पटना की बैठक मे गाधीजी अन्त तक ठहरे भी नही, क्योकि उन्हे हरिजन-यात्रा जारी रखनी थी। उन्होंने अखिल भारतीय काग्रेस कमिटी से फालतू बातों मे न पढकर काम-से-काम रखने और वर्किंग कमिटी के रखे हुए प्रस्तावो को जल्दी-से निबटाने के लिए कहा और फिर चले गये।

शायद यह सच है कि लम्बे बाद-विवाद से भी कोई और अच्छा नतीजा न निकलता। सदस्यो के विचारो मे इतनी गडबडी और स्पष्टता की कमी थी कि नुकताचीनी करने को तो बहुत लोग तैयार थे, लेकिन रचनात्मक परामर्श शायद ही किसीने दिया हो। उस वक्त की परिस्थिति मे यह था तो स्वाभाविक, क्योकि लडाई का भार अलग-अलग प्रान्तो से आये हुए इन्ही नेताओ पर आ पडा था, और वे जरा थके हुए और परेशान-से थे। उन्हे कुछ ऐसा तो लगा कि अब लडाई बन्द करनी पडेगी, मगर यह न सूझा कि आगे क्या किया जाय ? उस समय दो स्पष्ट दल बन गये। जिनमे से एक तो कौसिलों द्वारा केवल वैधानिक आन्दोलन के पक्ष मे था और दूसरा कुछ अनिश्चित समाजवादी विचारो के प्रवाह मे बहने लगा। लेकिन ज्यादातर मेम्बर दोनो मे से किसी एक पक्ष के भी समर्थक नही थे। उन्हे यह भी पसन्द न था कि पीछे हटकर फिर कौंसिलो की शरण ली जाय और साथ ही समाजवाद से कुछ डर भी लगता था कि कही इस नयी चीज़ से आपस मे फूट न पैदा हो जाय। उनके कोई रचनात्मक विचार न थे और उनकी एक मात्र आशा और सहारा गाधीजी थे। पहले की तरह इस बार भी उन्होने गाधीजी की तरफ देखा और जैसा उन्होने कहा किया। यह बात दूसरी है कि बहुतो को गाधीजी की बात पूरी तरह पसन्द न थी। गाधीजी के सहारे से नरम वैधानिक विचार के लोगो का कमिटी और काग्रेस दोनो मे बोलबाला हो गया।

यह सब तो होना ही था। मगर जितना मैंने सोचा था, उससे कही ज्यादा काग्रेस पीछे हट गयी। पिछले पन्द्रह साल मे, जबसे असह-

योग का जग हुआ, कांग्रेस के नेताओ ने कभी इतनी परले सिरे की वैध ढग की बाते नही की थी। पिछली स्वराज-पार्टी, हालाँकि वह खुद भी प्रतिक्रिया का ही एक रूप थी, इस नये दल की विचार-धारा को देखते हुए कही आगे बढी हुई थी। और स्वराज्य-पार्टी मे जैसे बडे और प्रभावशाली व्यक्ति थे वैसे इसमे है भी नही, इसमे बहुत-से लोग तो ऐसे थे, जो जबतक जोखम रहा, आन्दोलन मे जान-बूझकर अलग रहे और अब कांग्रेस मे धडाधड़ शामिल होकर बडे आदमी बन गये।

सरकार ने कांग्रेस पर से बन्दिशें उठा ली और वह कानूनी सस्था बन गयी। लेकिन इसकी बहुत-सी सहायक सस्थाये फिर भी गैर-कानूनी बनी रही—जैसे, कांग्रेस का स्वयसेवक विभाग—सेवादल और कई स्वतन्त्र किसान-सभाये, शिक्षण-सस्थाये और नौजवान-सभाये, जिनमें एक बच्चों की संस्था भी थी। खास तौर पर 'खुदाई खिदमतगार' या सरहदी लाल कुर्त्तीवाले फिर भी गैरकानूनी बने रहे। यह सस्था १९३१ मे कांग्रेस की बाकायदा शाखा बनकर सरहदी सूबे मे उसकी तरफ से काम करती थी। इस तरह हालाँकि कांग्रेस ने अपनी हलचल का सीधी-लडाईवाला हिस्सा पूरी तरह मुल्तवी कर दिया था और वैध ढग इख्तियार कर लिया था, फिर भी सरकार ने सत्याग्रह के लिए जो खास कानून बनाये थे, वे सब-के-सब कायम रखे और कांग्रेस सस्था के जरूरी हिस्सों पर पाबन्दियाँ जारी रखी। किसानों और मजदूरो की सस्थाओं को दबाने की तरफ भी खास ध्यान दिया गया। और मजेदार बात तो यह है कि साथ-ही-साथ बडे-बडे सरकारी अफसर घूम-घूमकर जमीदारो और ताल्लुकेदारों को सगठित करने लगे। जमीदारों की इन सस्थाओं को हर तरह की सहूलियतें दी गयी। युक्तप्रान्त की इन सस्थाओं मे से बडी-बडी दो सस्थाओं का चन्दा लगान के साथ सरकारी आदमियो ने इकट्ठा किया।

मेरा खयाल है कि मैंने हिन्दू या मुस्लिम साम्प्रदायिक सस्थाओ के साथ कभी रिआयत नही की है। लेकिन एक घटना ने हिन्दू-सभा के लिए मेरे मन मे खास तौर पर कटुता पैदा कर दी। इसके एक मन्त्री

ने खामख्वाह लाल कुर्तीवालो पर लगायी गयी बन्दिशो की हिमायत करके सरकार की पीठ ठोक दी। एक तो मामूली नागरिक अधिकारो का छीना जाना, और फिर भी वह ऐसे वक्त मे जब कोई लडाई नही थी, ऐसी कार्रवाई के समर्थन से मै दग रह गया। सिद्धान्त का सवाल छोड भी दे, तो भी यह सबको मालूम था कि लड़ाई के दिनो मे, इन सरहदी लोगो का बर्ताव विलक्षण रहा. और उनके नेता खान अब्दुलगफ्फारखॉं, जो देश मे ऊँचे दरजे के बहादुर और ईमानदार आदमी है, और जो बिना मुकदमा चलाये नजरबन्द कर दिये गये थे, अभीतक जेल मे थे। मुझे ऐसा लगा कि इससे ज्यादा साम्प्रदायिक द्वेष और क्या हो सकता है ? मुझे उम्मीद थी कि हिन्दू-महासभा के बडे नेता इस मामले मे अपने साथी का फौरन प्रतिवाद कर देगे। लेकिन जहॉंतक मुझे मालूम है, उनमे से किसी ने एक शब्द भी नही कहा। हिन्दू-महासभा के मन्त्री के इस वक्तव्य से मुझे बड़ी बेचैनी हुई।

वह वक्तव्य वैसे ही बुरा था, लेकिन मुझे ऐसा दिखायी दिया कि देश मे एक नयी स्थिति पैदा हो जाने का पेशखीमा हो। गर्मी के दिन थे और तीसरे पहर का वक्त। मेरी आँखे झपक गयी। याद पड़ता है कि एक अजीब-सा सपना देखा। अब्दुलगफ्फारखाँ पर चारो तरफ से हमले हो रहे है और मै उन्हे बचाने के लिए लड रहा हूँ। थकान से चूर और भारी वेदना से व्यथित होकर जागा तो क्या देखता हूँ कि तकिया आँसुओ से तर है। मुझे बडा ताज्जुब हुआ, क्योकि जाग्रत अवस्था मे कभी मुझपर ऐसी भावुकता सवार नही हुआ करती।

उन दिनो मेरा चित्त सचमुच ही ठिकाने न था। नींद ठीक नही आती थी। यह मेरे लिए नयी बात थी। मुझे तरह-तरह के बुरे सपने भी आने लगे थे। कभी-कभी नींद मे चिल्ला उठता था। एक बार तो मेरा यह चिल्लाना मामूली से ज्यादा ज़ोर का हो गया। जब मै चौंककर उठा, तो बिस्तर के पास जेल के दो सिपाहियो को खडा पाया। उन्हे मेरे शोर से चिन्ता हो गयी थी। सपना मुझे यह आया था कि कोई मेरा गला घोट रहा है।

इसी अर्से मे कांग्रेस वर्किंग कमेटी के एक प्रस्ताव का भी मेरे दिल पर दुखदायी असर हुआ। यह कहा गया था कि "निजी सम्पत्ति की ज़ब्ती और वर्गयुद्ध के सम्बन्ध में होनेवाली गैरजिम्मेदाराना चर्चा को मद्दे नजर रखकर" यह प्रस्ताव पास हुआ है, और आगे चलकर उसके ज़रिये कांग्रेसवालो को यह बताया गया था कि कराची कांग्रेस के प्रस्ताव मे "न तो किसी माकूल वजह या मुआवजे के विना निजी सम्पत्ति की जब्ती का खयाल रक्खा गया है, न वह वर्गयुद्ध की हिमायत ही करता है।" "वर्किंग-कमिटी की यह भी राय है कि सम्पत्ति की जब्ती और वर्गयुद्ध कांग्रेस के अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ है।" इस प्रस्ताव की भाषा अनुचित थी, जिससे एक हदतक यह जाहिर होता था कि इसके वनानेवाले यह जानते ही नही कि वर्गयुद्ध क्या चीज है? इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नये कांग्रेस समाजवादी दल पर हमला किया गया था। असल मे, इस दल के किसी भी ज़िम्मेदार शख्स की तरफ से जब्ती की कभी कोई वात नहीं कही गयी थी, हाँ, मौजूदा परिस्थितियो में जो वर्गयुद्ध मौजूद है, कभी-कभी उसका ज़िक्र कर दिया जाता था। वर्किंग-कमिटी के इस प्रस्ताव मे यह इशारा पाया जाता है कि कोई भी ऐसा शख्स जो इस तरह वर्गयुद्ध को इस अस्तित्व मे यकीन रखता हो कांग्रेस का मामूली मेम्वर तक नही वन सकता। किसी ने कांग्रेस के समाजवादी हो जाने या निजी सम्पत्ति के विरुद्ध होने की कभी कोई शिकायत नही की थी। कुछ मेम्वर यह राय रखते थे, लेकिन अव यह जाहिर हो गया कि इस राष्ट्रीय सस्था मे जहाँ सवके लिए जगह है, समाजवादियो के लिए कोई जगह नहीं।

अक्सर यह कहा गया है कि कांग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि है—यानी, राजा से लेकर रक तक सभी किस्म के लोग इसमे शामिल है। राष्ट्रीय आन्दोलनों का वहुधा यह दावा हुआ ही करता है। इसका मतलव शायद यह है कि ये आन्दोलन राष्ट्र के वहुत वडे वहुमत के प्रतिनिधि होते है और उनकी नीति सभी किस्म के लोगो की भलाई की होती है। लेकिन ज़ाहिर है कि यह दावा तो किया ही नही जा सकता। कोई

राजनैतिक सस्था विरोधी-हितों की प्रतिनिधि नही हो सकती, क्योंकि ऐसा करने से न केवल वह कमज़ोर और बे-मानी सस्था हो जायगी, वल्कि उसका अपना कोई विशेष चिन्ह और स्वरूप भी कायम न रह सकेगा। काग्रेस या तो एक ऐसा राजनैतिक दल है, जिसका कोई एक निश्चित (या अनिश्चित) उद्देश है और राजनैतिक सत्ता हासिल करने और राष्ट्र की भलाई के लिए उसका उपयोग करने के लिए उसकी अपनी एक खास विचारधारा है, या वह एक ऐसी परोपकारिणी और दया-धर्मप्रचारिणी सस्था है, जिसके अपने कोई विचार नही है, वल्कि वह सवका भला चाहती है। यह तो उन्ही लोगो की नुमाइन्दा वन सकती है जो उस उद्देश और सिद्धान्त के साथ आमतौर पर सहमत हों और जो उसके विरोधी है उन्हे राष्ट्र-विरोधी या समाज-विरोधी और प्रतिगामी समझकर उनके असर को रोके या मिटाये ताकि काग्रेस अपने सिद्धान्तों पर अमल कर सके। यह सही है कि साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय-आन्दोलन में अधिक लोगो के सहमत होने की गुजइश रहती है, क्योंकि उसका सामाजिक सघर्ष मे कोई सम्बन्ध नही होता। इस तरह काग्रेस किसी-न-किसी मात्रा मे भारतवासियो के भारी वहुमत की प्रतिनिधि थोडे-वहुत रूप मे जरूर रही है और सव तरह के विरोधी दल के लोग भी इसमें शामिल रहे है। ये लोग एकमत सिर्फ इस वात पर रहे कि साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहिए। लेकिन इस मामले पर ज़ोर देने का जुदा-जुदा लोगों का जुदा-जुदा ढग था। साम्राज्य के विरोध के इस मूल प्रश्न पर जिन लोगो की राय विलकुल खिलाफ रही, वे लोग काग्रेस से निकल गये और किसी-न-किसी शक्ल मे व्रिटिश सरकार के साथ मिल गये। इस तरह काग्रेस एक तरह की स्थायी सर्वदल काग्रेस वन गयी जिसमे एक-दूसरे से मिलते-जुलते कई दल रहे जो एक विश्वास और गाँधीजी की जवरदस्त हस्ती से वँधे रहे।

आगे चलकर वर्किंग-कमिटी ने वर्गयुद्ध-सम्वन्धी अपने प्रस्ताव का अर्थ समझाने की कोशिश की। इस प्रस्ताव का महत्व उसकी भाषा या मज़मून मे उतना न था, जितना कि इसमें कि उससे काग्रेस की वदली

हुई विचार-धारा का एक बार फिर परिचय मिलता था। साफ है कि यह प्रस्ताव कांग्रेस के नये पार्लमेण्टरी दल की प्रेरणा से पास हुआ था। यह दल आनेवाले असेम्बली के चुनाव मे जायदादवाले लोगों की सहायता प्राप्त करना चाहता था। इस दल के (या, इन लोगो के प्रभाव से) कांग्रेस का दृष्टिकोण अधिकाधिक नरम होता जारहा था और वह मुल्क के नरम और पुराने खयाल के लोगो को मिलाने की कोशिश कर रही थी। जिन लोगो ने पहले कांग्रेस की हलचलो का विरोध किया था और सत्याग्रह के जमाने मे भी कांग्रेस का साथ दिया था, उन लोगों के प्रति भी चापलूसी-भरे शब्द कहे जाने लगे। यह भी महसूस किया गया कि शोर मचाने और नुक्ताचीनी करनेवाला विरोध-पक्ष (कांग्रेस के गरम विचारवाले लोग) इस मेल-मिलाप और मत-परिवर्तन के काम मे बाधक बन रहा था। वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव और दूसरे व्यक्तिगत भाषणों से यह प्रकट था कि कांग्रेस की कार्यकारिणी गरमदलवालो के काटने-खसूटने पर भी अपना नया रास्ता छोड़ने को तैयार नही थी। यह भी जाहिर होता था कि अगर गरमदल का रुख न बदला तो उसे दबोचकर कांग्रेस से ही निकाल बाहर कर दिया जायेगा। कांग्रेस के पार्लमेण्टरी बोर्ड ने जो ऐलान निकाला उसमे ऐसा नरम और फूंक-फूंककर कदम रखने का कार्यक्रम बताया गया, जैसा पिछले पन्द्रह साल मे कांग्रेस ने कभी इख्तियार नहीं किया था।

गाधीजी के अलावा भी कांग्रेस के नेताओ मे कई ऐसे मशहूर लोग थे, जिनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन मे बडी बेशकीमती सेवायें रही है और जिनकी सचाई और निर्भयता के कारण देशभर मे बड़ी इज्जत की जाती है। लेकिन इस नयी नीति की वजह से कांग्रेस के दूसरी श्रेणी के ही नही, चोटी के नेताओ मे भी बहुत-से ऐसे थे जिन्हे आदर्शवादी नही कहा जा सकता था। कांग्रेस के दूसरे कार्यकर्ताओ मे अलबत्ता बहुत-से आदर्शवादी थे, लेकिन इस समय सम्मान-लोभियो और समय-साधको के लिए दरवाजा जितना ज्यादा खुल गया था, उतना शायद ही पहले कभी खुला हो। गाधीजी के रहस्यपूर्ण और भ्रमात्मक व्यक्तित्व के सिवा, जिसने कि सारी नुमाइश पर अपना प्रभाव जमा रखा था,

कांग्रेस के ये दो रुख थे—एक तो वह जो बिलकुल राजनैतिक था और संगठित दल का रूप इख़्तियार कर था, और दूसरा था धर्मनिष्ठा और भावुकता से पूर्ण प्रार्थना-सभाओं का।

सरकार की तरफ विजय का वातावरण स्पष्ट रूप से प्रकट था। उसका विचार था कि वह जीत उस नीति की सफलता के कारण है जिसका प्रयोग करके उसने सत्याग्रह और उसके आन्दोलन की शाखाओ को दबा दिया था। ऑपरेशन तो सफलतापूर्वक हो ही गया था। फिर उस समय यह क्यो चिन्ता होने लगी कि मरीज जियेगा या मरेगा। हालाँकि उस वक्त कांग्रेस किसी हद तक दबा दी गयी थी, फिर भी सरकार अपनी दमन-नीति को, कुछ मामूली-सी तबदीलियो के साथ, वैसा ही जारी रखना चाहती थी। वह जानती थी कि जबतक असन्तोष का आधारभूत कारण मौजूद है, तबतक राष्ट्रीय नीति मे इस प्रकार के परिवर्तन क्षणिक ही हो सकते है, और इसलिए अपनी नीति मे ज़रा भी ढिलाई करने से आन्दोलन कही अधिक तेज़ रफ्तार न पकड ले। वह शायद यह भी समझती कि कांग्रेस अथवा मजदूर या किसान-वर्ग मे से अधिक गरम विचारवालो को दबाने की अपनी नीति जारी रखने मे कांग्रेस के विशेष नेताओं की बहुत अधिक नाराज़ी की कोई आशका नही है।

देहरादून-जेल मे मेरे विचारो का प्रवाह किसी हद तक इसी प्रकार का था। परिस्थिति के सम्पर्क मे न होने के कारण वास्तव मे मै घटना-क्रम के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत बनाने की स्थिति मे न था। अलीपुर में तो मै परिस्थिति से बिलकुल ही अपरिचित था, देहरादून मे मुझे सरकार की पसन्द के अख़बार के ज़रिये अधूरी और कभी-कभी बिल-कुल एकतरफा खबरे मिलने लगी थी। अपने बाहर के साथियो के सम्पर्क मे आने और परिस्थिति के निकट अध्ययन से मेरे विचारों में किसी हद-तक परिवर्तन होना बहुत मुमकिन था।

वर्तमान परिस्थिति से परेशान होकर मै भूतकाल की बातो का, जबसे मैने सार्वजनिक कार्यो मे कुछ भाग लेना शुरू किया तबसे हिन्दु-स्तान में गुज़री हुई राजनैतिक घटनाओ का ख़याल करने लगा। हमने

जो-कुछ किया, उसमे हम किसी हदतक सही रास्ते पर थे ? किस हद-तक गलती पर थे ? उसी समय मुझे यह सूझा कि मै अपने विचारो को अगर कागज़ पर लिखता जाऊँ तो वे अधिक व्यवस्थित और उप-योगी होंगे। इससे मुझे अपने दिमाग को एक निश्चित काम मे लगाये रखने से उसे और इस तरह चिन्ता और परेशानी से दूर रखने मे भी सहायता मिलेगी। इस तरह जून सन् १९३४ मे देहरादून-जेल मे मैने अपनी यह 'कहानी' लिखनी शुरु की और आठ महीने तक, जबतक इसकी धुन सवार रही, लिखता रहा। अक्सर ऐसे मौके आये जब मुझे लिखने की इच्छा न हुई, तीन बार ऐसा हुआ कि महीने-महीने भर तक मै न लिख सका। लेकिन मैने इसे जारी रखने की कोशिश की, और अब मैं इस निजी यात्रा की समाप्ति के निकट पहुँच चुका हूँ। इसका अधिकाश एक अजीब परेशानी की हालत मे लिखा गया है, जबकि मै उदासी और मानसिक चिन्ताओ से दबा हुआ था। शायद इसकी थोडी-सी झलक, जो कुछ मैने लिखा, उसमे आ गयी है, लेकिन इस लिखने ने ही मुझे वर्तमान चिन्ताओ को भुलाने, अपना गम कम करने मे बडी सहा-यता दी। जब मै इसे लिख रहा था, मुझे बाहर के पाठको या श्रोताओं का बिलकुल खयाल न था, मै अपने-आपको सबोधन करता था, और अपने लाभ के प्रश्न बनाकर उसके उत्तर देता था। कभी-कभी तो उससे मेरा कुछ मनोरञ्जन भी हो जाता था। यथासम्भव मै बिना किसी लाग-लपेट के सीधा सोचना चाहता था, और मुझे खयाल था कि शायद भूत-काल का यह सिंहावलोकन मुझे इस काम मे सहायक होगा।

आखिरी जुलाई के करीब कमला की हालत बडी तेजी से बिगडने लगी और कुछ ही दिनो मे वह नाजुक होगयी। ११ अगस्त को मुझसे एकाएक देहरादून-जेल छोडने को कहा गया और उस रात को मै पुलिस की निगरानी मे इलाहाबाद भेज दिया गया। दूसरे दिन शाम को हम इलाहाबाद के प्रयाग स्टेशन पर पहुँचे और वहाँ मुझसे जिला मजिस्ट्रेट ने कहा कि मै अस्थायी तौर पर रिहा किया जारहा हूँ कि जिससे मै अपनी बीमारी पत्नी को देख सकूँ। यह मेरी गिरफ्तारी से एक दिन कम छठा महीना था।

: ६५ :

ग्यारह दिन

"स्वय काटकर जीर्ण म्यान को दूर फेक देती तलवार,
इसी तरह चोला अपना यह रख देता है जीव उतार।"[1]

मेरी रिहाई आरजी थी। मुझे वता दिया गया था कि मेरी रिहाई एक या दो दिन के लिए, या जवतक डॉक्टर विलकुल जरूरी समझे तव-तक के लिए है। अनिश्चितता से भरी हुई यह एक अजीव स्थिति थी, और मेरे लिए कुछ निश्चित कर सकना मुमकिन न था। एक निश्चित अवधि होती तो मैं जान सकता था, कि मेरी क्या स्थिति है और मैं अपने-आपको उसके अनुकूल वनाने की कोशिश करता। मौजूदा हालत जैसी थी, उसमे तो मैं किसी दिन, किसी भी जेल को वापिस भेज दिया जा सकता था।

परिवर्तन आकस्मिक था और मैं उसके लिए जरा भी तैयार न था। कैद की तनहाई से मैं एकदम डॉक्टरो, नर्सों और रिश्तेदारो से भरे हुए घर पर पहुँचाया गया। मेरी लडकी इन्दिरा भी शान्ति-निकेतन से आगयी थी। मुझसे मिलने और कमला की हालत दरियाफ्त करने के लिए वहुत-से मित्र वरावर आते जा रहे थे। रहन-सहन का ढँग भी विलकुल जुदा था, घर के सव आराम थे, और अच्छा खाना था। वह सव कुछ होते हुए भी कमला की खतरनाक हालत की चिन्ता परेशान कर रही थी। मैंने उसे वहुत दुवली और निहायत कमजोर हालत में पडे देखा। उसका छाया के समान ढाँचा-भर शरीर वडी कमजोरी से वीमारी से लोहा ले रहा था। और यह खयाल कि शायद वह मुझे छोड़ जायगी असह्य वेदना देने लगा। इस समय हमारी शादी को साढे अठारह साल हुए थे। मेरा दिमाग उस दिन और उसके वाद के इन सव पिछले वरसों मे

---

1. वायरन के मूल अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

जो-कुछ गुजरा उसकी तरफ घूमने लगा। शादी के वक्त मै छब्बीस साल का था और वह करीब सत्रह बरस की, दुनियावी तौर-तरीको से सर्वथा अलिप्त निरी अबोध बालिका थी। हमारी उम्र मे काफी फर्क था, और उससे भी अधिक फर्क हमारे मानसिक दृष्टि-बिन्दु मे था, क्योकि उसकी बनिस्बत मेरी उम्र कही ज्यादा थी। सजीदगी के इन सब लक्षणो के होते हुए मुझमे बडा लडकपन था, और मैने शायद ही कभी यह महसूस किया हो कि इस सुकुमार और भावुक लडकी का मस्तिष्क फूल की तरह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है और उसे सहृदयता और होशियारी के साथ सहारा देने की आवश्यकता है। हम दोनो एक-दूसरे की तरफ आकर्षित हो रहे थे और काफी अच्छी तरह हिल-मिल गये, लेकिन हमारा दृष्टि-पथ जुदा-जुदा था और एक दूसरे मे अनुकूलता का अभाव था। इस विपरीतता के कारण कभी-कभी आपस मे सघर्ष तक की नौबत आ जाती थी; और कई बार छोटी-मोटी बातों पर बच्चो के-से छोटे-मोटे झगडे भी हो जाया करते थे, जो ज्यादा देरतक न टिकते थे, और तुरन्त ही मेल-मिलाप होकर समाप्त हो जाते थे। दोनो का स्वभाव तेज था, दोनों ही तुनकमिजाज थे, और दोनो मे ही अपनी शान रखने की बच्चो की-सी जिद थी। इतने पर भी हमारा प्रेम बढता गया, हालॉकि परस्पर अनुकूलता का अभाव धीरे-धीरे कम हुआ, हमारी शादी के इक्कीस महीने बाद हमारी लडकी और एकमात्र सतान इन्दिरा पैदा हुई।

हमारी शादी के बिलकुल साथ-ही-साथ देश की राजनीति मे अनेक नयी घटनाये हुई और उनकी ओर मेरा झुकाव बढता गया। वे होमरूल के दिन थे। उनके पीछे फौरन ही पजाब के मार्शल लॉ और असहयोग का जमाना आया और मै सार्वजनिक कामों के आँधी-तूफान मे अधिकाधिक फँसता ही गया। इन आन्दोलनो मे मेरी तल्लीनता इतनी बढ गयी थी कि ठीक उस समय, जबकि उसे मेरे पूरे सहयोग की आवश्यकता थी, मैने अनजान मे उसे बिलकुल नजरअन्दाज कर, उसे अपने खुद के भरोसे पर छोड दिया। उसके प्रति मेरा स्नेह बराबर बना रहा, बल्कि बढा भी और यह जानकर बडी तसल्ली हुई कि वह अपने शान्तिप्रद अभाव

' से बढ़ते हुए ऐसे राजनैतिक दाव-
के साथ इसमे मेरी सहायक देखा कि मेरा उनसे मेल नही बैठता
उसकी तन्दुरुस्ती पर भी अस मैं अपने को अजनबी-सा महसूस
लापरवाही को भी महसूस कि को उस वातावरण के अनुकूल न
और कभी-कदास ही उसकी सुध जब इन जैसे मामलों पर ध्यान
होती, तो भी किसी कदर अच्छा ता था ?

उसके बाद उसकी बीमारी ' गांधीजी को लिखा, क्योंकि
के कारण मेरी लम्बी गैरहाजिरी रह जेल मे चला जाऊँगा और
मुलाकात के समय ही मिल सकते थे रर करने का फिर दूसरा
प्रथम श्रेणी के योद्धाओ के बीच ला खडते घूम रही थी उनकी भी
गयी तो इसकी उसे बडी खुशी हुई। हम ने मुझे बहुत अधिक संतप्त
निकट आते गये। कभी-कभी होनेवाली ये मु उसकी एक हलकी-सी
हम उनकी बाट जोहते रहते थे और बीच के ी थी कि क्या करना
आपस मे एक दूसरे से उकताते न थे और हमारी तो उधर की घट-
करती थी क्योकि हमारी मुलाकातो और थोडी उसका खुलासा
हमेशा कुछ-न-कुछ ताजगी और नवीनता बनी रहती ाल था, और
से हरेक बराबर एक दूसरे मे नयी-नयी बाते पाते रहते ँचा।
कभी-कभी ये बाते शायद हमारी पसन्द की न होती थीं। हम सरकार
हुई उम्र के इन मतभेदो मे भी लडकपन की मात्रा रहती। मय-
रों

हमारे वैवाहिक जीवन के अठारह बरस बाद भी उसकी सूरत कौमार्य अभी तक वैसा ही बना हुआ था, स्त्रियोचित सजीदगी का कोई चिन्ह न था। इतने अर्से पहले वह जैसी दुलहन बनकर हमारे घर मे आयी थी, अब भी बिलकुल वैसी ही मालूम होती थी। लेकिन मैं बहुत बदल गया था, और हालाँकि अपनी उम्र के मुताबिक मैं काफी योग्य, क्रियाशील और चुस्त था—और कुछ लोगो का कहना था कि अब भी मुझमे लडकपन की कई सिफते मौजूद है फिर भी मेरा चेहरा मेरे साथ धोखा करता है। मेरे सिर के आधे बाल उड गये थे और जो बाकी थे वे पक गये थे, पेशानी पर सिलवटें, चेहरे पर झुर्रियाँ और आँखो के चारो तरफ काली झाई पड गयी थी। पिछले चार वर्षों की मुसीबते और

जो-कुछ गुज़रा उसकी तरफ घूमने लगा। श छोड़ गयी थी। इन पिछले
का था और वह क़रीब सत्रह बरस की, दु नयी जगह जाते, तो मै यह
अलिप्त निरी अबोध बालिका थी। ह कमला को मेरी लडकी समझ
और उससे भी अधिक फर्क हमारे मान न-सी दिखाई देती थी।
उसकी बनिस्वत मेरी उम्र कही ज्यादा थ लेकिन इनमे से कितने साल
के होते हुए मुझमे बडा लडकपन था ने अस्पतालो और सेनिटोरियम
महसूस किया हो कि इस सुकुमार औ मै जेल की सजा भुगतता हुआ कुछ
की तरह धीरे-धीरे विकसित हो र ा। और वह बीमार पड़ी हुई जीवन
यारी के साथ सहारा देने की उ अपनी तन्दुरुस्ती के बारे मे उसकी
तरफ आर्कापित हो रहे थे और -सी आयी। लेकिन फिर भी मै उसे दोष
हमारा दृष्टि-पथ जुदा-जुदा कि उसकी जोशीली आत्मा उसकी अक्रिया
था। इस विपरीतता के क म पूरा हिस्सा लेने मे उसकी लाचारी के कारण
आ जाती थी; और क शरीर ऐसा करने मे समर्थ न होने के कारण
झगडे भी हो जाया क से काम ही कर सकती थी, न ठीक तौर पर अपना
मेल-मिलाप होकर सकती थी। नतीजा यह हुआ कि अन्दर-ही-अन्दर
ही तुनकमिजा वाली आग ने उसके शरीर को बरबाद कर दिया।
सी ज़िद थी च ही, इस समय, जब कि मुझे उसकी सबसे अधिक
अनुकूल है, वह मुझे छोड़ तो न जायगी? क्यो, इसलिए कि हम
मही ने एक दूसरे को ठीक तरह से पहचानना और समझना अभी-अभी
शुरू ही किया है हम दोनो ने एक दूसरे पर बहुत भरोसा किया था,
हम दोनो को एक-साथ रहकर बहुत काम करना था।"

प्रतिदिन और प्रतिघण्टे उसकी हालत देख-देखकर मेरे दिल मे इसी र
तरह के खयाल उठते रहते थे। े

साथी और मित्र मुझसे मिलने आये। अभीतक जो-कुछ हो चुका।
था, और जिससे कि मै वाकिफ नही था, उसके बारे मे उन्होने बहुत-
कुछ कहा। उन्होने वर्तमान राजनैतिक समस्याओ के बारे में मुझसे
चर्चा की और प्रश्न पूछे। मुझे उन्हे जवाब देना मुश्किल मालूम हुआ।
कमला की बीमारी का खयाल दिमाग से दूर होना आसान न था, और

इन स्थानीय झगड़ों और तेजी से बढ़ते हुए ऐसे राजनैतिक दाव-पेचों से मुझे नफरत हो गयी। मैंने देखा कि मेरा उनसे मेल नहीं बैठता है और अपने ही शहर इलाहाबाद में मैं अपने को अजनबी-सा महसूस करने लगा। ऐसी हालत में अपने को उस वातावरण के अनुकूल न पाकर मैं हैरान था। ऐसे वातावरण में जब इन जैसे मामलों पर ध्यान देने का समय आता तो मैं क्या कर सकता था?

मैंने कमला की हालत के बारे में गांधीजी को लिखा, क्योंकि मेरा खयाल था कि मैं जल्दी ही वापस जेल में चला जाऊँगा और मुमकिन है कि अपने दिल की बात जाहिर करने का फिर दूसरा मौक़ा न मिले, इसलिए मेरे दिमाग में जो बातें घूम रही थीं उनकी भी कुछ-कुछ झलक उन्हें दे दी। हाल की घटनाओं ने मुझे बहुत अधिक संतप्त और परेशान कर दिया था और मेरे पत्र में उसकी एक हल्की-सी छाप थी। मैंने यह सूचित करने की कोशिश नहीं की थी कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं? मैंने जो-कुछ भी किया वह तो उधर की घटनाओं से मेरे दिल पर जो-कुछ भी प्रतिक्रिया हुई थी उसका खुलासा भर था। वह पत्र क्या था, सर्वथा दबे हुए जोश का उबाल था, और बाद में मुझे मालूम हुआ कि गांधीजी को उससे बहुत दुःख पहुँचा।

दिन-पर-दिन निकलते जाते थे, और मैं जेल की तलबी या सरकार से किसी दूसरी इत्तिला मिलने का इन्तजार करता रहता था। समय-समय पर मुझे यह कहा जाता रहा कि आगे के लिए कल या परसों हिदायत जारी होनेवाली है। इस बीच डॉक्टरों को यह हिदायत हो गयी थी कि वे सरकार को कमला की हालत की रोजाना सूचना देते रहें। मेरे आने के बाद से कमला की हालत कुछ सुधर गयी थी।

यह आम विश्वास था, यहाँतक कि जो लोग साधारणतया सरकार के विश्वासपात्र होने के कारण उनकी बातों की जानकारी रखते हैं उनका भी यह खयाल था, कि अगर आगे होनेवाली दो बातों—अक्तूबर में बम्बई में होनेवाले कांग्रेस के अधिवेशन और नवम्बर में होनेवाले असेम्बली के चुनाव—का सरकार को ध्यान न होता तो मैं पूरी तरह रिहा

कर दिया गया होता, जेल से बाहर रहने पर सम्भव है कि मैं इन कामों में बाधा डालनेवाला होऊँ, इसलिए मुमकिन मालूम होता था कि मैं अगले तीन महीने के लिए वापस जेल भेज दिया जाऊँगा और उसके बाद छोड़ दिया जाऊँगा। मेरे जेल वापस न भेजे जाने की भी सम्भावना थी और जैसे-जैसे दिन निकलते जाते थे, यह सम्भावना बढ़ती जाती थी। मैंने करीब-करीब जम जाने का निश्चय किया।

२३ अगस्त का दिन मेरे छुटकारे का ग्यारहवाँ दिन था। पुलिस की मोटर आयी। पुलिस अफसर मेरे पास पहुँचा और मुझसे कहा कि मेरी अवधि समाप्त हो गई और मुझे उनके साथ नैनी-जेल के लिए रवाना होना होगा। मैंने अपने मित्रों से विदाई ली। जैसे ही मैं पुलिस की मोटर में बैठ रहा था, मेरी बीमार माँ बाहें फैलाये हुए दौड़ती हुई आयी। उसकी वह सूरत एक अर्सें तक रह-रहकर मेरी नजरों में घूमती रही।

: ६६ :

फिर जेल में

छाया निरङ्कुशगतिःस्वयमातपस्तु छायान्वितः शतश एव निजप्रसंगम् ।
दुःखं सुखेन पृथगेवमनन्तदुःख पीडानुवेधविधुरा तु सुखस्य वृत्ति ॥[१]

राजतरंगिणी, ८–१९१३.

मै फिर नैनी-जेल के अन्दर दाखिल हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे मैं एक नयी सज़ा की मियाद शुरू कर रहा हूँ। कभी जेल के भीतर, कभी जेल के बाहर—मै एक खिलौना-सा बना हुआ था। जीवन मे इस प्रकार के अस्थिर परिवर्त्तन भावना-तन्त्रो को हिला डालते है, और अपने-आपको नये परिवर्तनों के अनुकूल कर लेना इतना सहज काम नही होता। मै आशा कर रहा था कि इस बार भी मुझे नैनी की उसी पुरानी कोठरी मे रखा जायगा, जिसमे मै अपनी पिछली लम्बी सजा काट चुका था। वहाँ थोडे-से फूल के पेड थे, जिन्हे मेरे बहनोई रणजीत पण्डित ने शुरू मे लगाया था, और एक बरामदा भी था। लेकिन नम्बर ६ की उस पुरानी बैरक मे, एक नजरबन्द को, जिसपर न तो कोई मुकदमा चलाया गया था, न कोई सज़ा दी गयी थी, रख दिया गया था। यह उचित नही समझा गया कि मैं उसके सम्पर्क मे आऊँ, इसलिए मुझे जेल के दूसरे हिस्से मे रखा गया, और वह भी अधिक अन्दर की तरफ था, और उसमे फूल या हरियाली कुछ भी नही थे।

लेकिन मुझे अपने इस स्थान की इतनी चिन्ता नही थी, मेरा मन तो दूसरे स्थान पर था। मुझे डर था कि कमला की हालत मे जो थोडा-

---

१. छाया स्वतन्त्र गति है, फिर भी प्रकाश—
छाया-मिला विविध रूप दिखे स्वतः ही।
है दुःख तो पृथक् ही सुख से परन्तु,
पीड़ा अनन्त दुख की सुख को सताती।

सा सुधार हुआ है, वह मेरे दुवारा गिरफ्तार होने के समाचार से रुक जायगा। और हुआ भी ऐसा ही। कुछ दिनो तक ऐसी व्यवस्था रही कि कमला की हालत के वारे मे मुझे हररोज डाक्टर का एक मुख्तसिर-सा वुलेटिन मिल जाया करता था। यह भी घूम-फिरकर मेरे पास पहुँचता था। डाक्टर टेलीफोन से पुलिस के सदर दफ्तर को सूचना देता, और पुलिस उसे जेलतक पहुँचा देती। डाक्टरो और जेल के कर्मचारियो मे सीधा सम्बन्ध मुनासिब नही समझा गया। दो सप्ताह तक तो मुझे यह सूचना नियमित और कभी-कभी अनियमित रूप से मिलती रही, और उसके वाद रोक दी गयी, हालाँकि कमला की हालत दिन-पर-दिन गिरती ही जा रही थी।

वुरे समाचारो और समाचारो की प्रतीक्षा ने दिनों को असहनीय लम्वा और रातो को उनसे भी भीषण वना दिया। समय की गति मानो विलकुल रुक गयी हो या अत्यन्त सुस्ती से सरक रही हो; हरेक घण्टा वोझ और आतक-सा जान पड़ता था। इतनी तीव्रता से इस तरह की भावना को मैने कभी महसूस नही किया था। उस समय मेरी ऐसी धारणा थी कि दो-तीन महीने के अन्दर वम्वई-काग्रेस के अधिवेशन के वाद ही, मेरे छूट जाने की सम्भावना थी, लेकिन वे दो महीने भी कभी न समाप्त होनेवाले दिखाई दे रहे थे।

मेरी दुवारा गिरफ्तारी के ठीक एक महीने वाद एक पुलिस अफसर मुझे मेरी पत्नी से थोडी-सी देर के लिए मुलाकात कराने ले गया। मुझसे कहा गया था कि मुझे इस तरह हफ्ते मे दो वार उससे मिलने दिया जाया करेगा और उसके लिए समय भी निश्चित हो गया था। मैने चौथे दिन वाट देखी—कोई मुझे लेने नही आया, इसी तरह पाँचवाँ, छठा और सातवाँ दिन वीता, मै इन्तजार करते-करते थक गया। मेरे पास समाचार पहुँचा कि उसकी हालत फिर चिन्ताजनक होती जा रही है। मैने सोचा कि मुझसे सप्ताह मे दो वार कमला से मिल सकने की वात कहना कैसा अजीव मजाक था!

सितम्बर का महीना भी किसी तरह खतम हुआ। मेरी जिन्दगी मे

वे तीस दिन सबसे लम्बे और सबसे खराब थे।

कई व्यक्तियो के द्वारा मेरे पास तक यह सलाह पहुँचायी गयी कि अगर मैं अपनी मियाद के बाकी दिनो के लिए राजनीति मे भाग न लेने का आश्वासन—चाहे वह लिखित भले ही न हो—देदूँ तो मुझे कमला की तीमारदारी के लिए छोड़ा जा सकेगा। राजनीति उस समय मेरे विचारो से दूर की चीज थी, और बाहर जाकर ग्यारह दिनो मे मैंने राजनीति की जो दशा देखी थी, उससे तो मुझे घृणा ही हो गयी थी, पर आश्वासन की तो कल्पना भी नही की जा सकती थी। उसका अर्थ होता, अपनी प्रतिज्ञाओ, कार्यों, साथियो और खुद अपने साथ विश्वासघात करना। परिणाम कुछ भी होता, यह तो एक असम्भव शर्त्त थी। ऐसा करने का अर्थ होता अपने अस्तित्व की जडों पर मर्माघात, और उन सब चीजो को, जो मेरी दृष्टि मे पवित्र थी, अपने हाथो कुचल डालना। मुझसे कहा गया कि कमला की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है, और मेरे उसके पास रहने से जीवन और मरण का अन्तर पड सकता है। तो मेरा व्यक्तिगत दम्भ या अहकार क्या कमला के जीवन से बडी चीज थी ? मेरे लिए यह एक भयकर समस्या बन जाती, पर भाग्यवश, कम-से-कम इस रूप मे, वह मेरे सामने उपस्थित नही हुई। मैं जानता था कि इस प्रकार के किसी भी आश्वासन को खुद कमला नापसन्द करती, और अगर मैं कोई ऐसा काम कर बैठता, तो उसे धक्का लगता और नुकसान भी हो जाता।

अक्टूबर के शुरू मे मुझे फिर उससे भेट करने के लिए ले गये। वह करीब-करीब गाफिल-सी पडी हुई थी, बुखार बहुत तेज था। मुझे अपने निकट रखने की उसकी इच्छा बड़ी तीव्र थी, पर जब मैं जेल लौट जाने के लिए उससे बिदा होकर चला, तो उसने साहसपूर्ण मुस्कराहट से मेरी ओर देखा और मुझे नीचे झुकने का इशारा किया। मै जब उसके नजदीक जाकर झुका, उसने मेरे कान मे कहा, "सरकार को आश्वासन देने की यह क्या बात है ? ऐसा हरगिज न करना।"

कुल ग्यारह दिन मैं जेल के बाहर था। हम लोगो ने इन दिनों

निश्चय कर लिया था, कि कमला के स्वास्थ्य मे थोडा-सा सुधार होने पर, उसे इलाज के लिए किसी अधिक उपयुक्त जगह पर भेज देंगे। तभी से हम उसके कुछ अच्छा होने की वाट देख रहे थे पर उसके वजाय उसकी हालत दिन-दिन गिरती ही जा रही थी, और अव छ हफ्ते वाद तो, यह गिरावट वहुत साफ दिखने लगी थी। इन्तजार करते रहना इसलिए अव वेकार समझा गया, और यह निश्चय किया कि उन्हे ऐसी ही हालत मे भुवाली की पहाडी पर भेज दिया जाय।

जिस दिन कमला भुवाली जानेवाली थी उसके एक दिन पहले मुझे उससे मिलने के लिए ले जाया गया। मै सोच रहा था, अव फिर दुवारा कव इससे भेंट होगी, और भेट होगी भी या नही ? पर, वह उस दिन प्रसन्न और कुछ स्वस्थ दिखाई दे रही थी, और इससे मुझे इतनी खुशी हुई कि कुछ पूछिए नही।

करीव तीन हफ्ते वाद, मुझे नैनी-जेल से अलमोडा डिस्ट्रिक्ट जेल मे भेज दिया गया, जिससे मै कमला के ज्यादा नजदीक रह सकूँ। भुवाली रास्ते मे ही पडता था—पुलिस की गारद के साथ मैने कुछ घण्टे वही विताये। मुझे कमला की हालत मे थोडा सुधार देखकर वडा अच्छा लगा और उससे विदा लेकर मै खुशी-खुशी, अपनी अलमोड़ा तक की यात्रा पूरी कर सका। सच तो यह है कि कमला तक पहुँचने के पहले ही पहाडो ने मुझे प्रफुल्लित कर दिया था।

मुझे वापस इन पहाडों मे पहुँच जाने की वडी खुशी थी। ज्यों-ज्यों हमारी मोटर चक्करदार सडक पर तेजी से आगे वढती जा रही थी, सवेरे की ठडी हवा और धीरे-धीरे खुलता जानेवाला प्रकृति का सौन्दर्य मुझे एक विचित्र हर्ष से भर रहा था। हम ऊपर-ऊपर चढते जा रहे थे, घाटियाँ गहरी होती जा रही थीं पर्वत की चोटियाँ वादलों मे छिपती जा रही थी। हरियाली भी रग वदलती गयी, और चारो ओर की पहाडियाँ देवदार की घटा से घिरी हुई दिखाई देने लगी। कभी सडक की किसी मोड को पार करते ही, अचानक हमारे सामने पर्वत-श्रेणियो का एक नया विस्तार और कही घाटियो की गहराई मे एक छोटी नदी कल-

कल करती हुई दिखाई देती। उस दृश्य को देखते मेरा जी नही अघाता था, उसे पूरा ही पी जाने की प्रबल इच्छा हो रही थी। मै अपने स्मृति-पात्र को उससे भर लेना चाहता था, जिससे, उस समय, जबकि सच्चा दृश्य देखना मुझे नसीब नही होता, उसीको मै अपने मन मे जगाकर आनन्द उठा लेता।

पहाडियो की तलहटी मे छोटी-छोटी झोपडियो के झुण्ड दिखाई देते थे, और उनके चारो ओर छोटे-छोटे खेत। जहाँ कही थोडा-भी ढाल मिल गया, वही कडी मेहनत-मशक्कत करके खेत बना लिये। दूर से वे झरोखो या छज्जो के समान दिखाई देते थे, या ऐसा जान पडता था, मानों बड़ी-बडी सीढियाँ हो जो घाटी के नीचे से पहाडी की चोटी तक सीधी कतार-बन्द चली गयी हों। इस बिखरी हुई जनसख्या के लिए प्रकृति से थोडे-से खाद्य-पदार्थ निकलवाने के लिए मनुष्य को कितनी कडी मेहनत करनी पडती है! इस लगातार परिश्रम के बाद भी कितनी कठिनाई से उनकी जरूरते पूरी हो पाती है। इन छज्जेनुमा खेतो के कारण पहाडियो में एक तरह की बस्ती का-सा बोध होता था और उनके सामने वनस्पति-शून्य या जगलो से लदी ढालू जमीन बडी विचित्र लगती थी।

दिन मे यह सारा दृश्य बडा मनोहर दिखाई देता है, और ज्यो-ज्यो सूर्य आकाश मे ऊँचा चढ़ता जाता है, उसकी बढती हुई गरमी से पहाडो मे एक नया जीवन दिखाई देने लगता है, और वे अपना अजनबी-पन भूलकर हमारे मित्र और साथी-से मालूम होने लगते है। लेकिन दिन डूब जाने पर उनका सारा रूप कैसा बदल जाता है! जब रात अपने लम्बे-चौडे डग भरती हुई विश्व को अक में भर लेती है, और उच्छृखल प्रकृति को पूरी आजादी देकर जीवन अपने बचाव के लिए छिपने का मार्ग ढूँढता है, तब ये जीवन-शून्य पर्वत कैसे ठडे और गम्भीर बन जाते है। चाँदनी या तारो की रोशनी मे पर्वतो की श्रेणियाँ रहस्य-मयी, भयकर, विराट, और फिर भी अपार्थिव-सी आकृति ग्रहण कर लेती है, और घाटियो के बीच से वायु की कराह सुनाई पडती है। गरीब मुसाफिर अपने अकेले मार्ग पर चलता हुआ काँप उठता है, और

अपने चारो ओर विरोधी शक्तियो की उपस्थिति का अनुभव करता है। पवन की सनसनाहट भी मखौल-सा उडाती और उपेक्षा-सी करती दिखाई देती है। कभी हवा बन्द भी हो जाती है, दूसरी किसी प्रकार की आवाज भी नही होती, और चारो ओर एक पूर्ण शान्ति होती है, जिसकी सघनता ही डरावनी लगने लगती है। केवल टेलीग्राफ के तार धीमे-धीमे गुनगुनाते रहते है और तारे अधिक चमकदार और अधिक समीप दिखाई देने लगते है। पर्वत-श्रेणियाँ सजीदगी से एक ओर देखती रहती है और ऐसा जान पडता है जैसे कोई भयावना रहस्य उस ओर को घूर रहा है। पास्कल के समान ही मनुष्य सोचता है, "मुझे अनन्त आकाश की इस अनन्त शान्ति से भय लगता है।" मैदानो मे रात कभी इतनी सुनसान नही होती, प्राणो का कम्पन वहाँ तब भी सुनाई देता रहता है, और कई किस्म के जानवरो और कीडों की आवाजे रात के सन्नाटे को चीरती रहती हैं।

लेकिन जब हम मोटर मे बैठे अलमोडा जा रहे थे, रात अपनी सर्दी और वीरान सदेसा लिये हमसे अब भी दूर थी। हमारी यात्रा का अन्त अब समीप ही आगया था। सडक के मोड को पार करने और बादलो के एकसाथ हट जाने से मुझे एक नया दृश्य दिखाई दिया, कितना अचरज और खुशी हुई मुझे वह देखकर। बीच मे आ जानेवाले जगलो से लदे पहाडों के बहुत ऊपर बडी दूर पर, हिमालय की बर्फीली चोटियाँ चमक रही थी। अतीत के सारे बुद्धि-वैभव को लिये भारतवर्ष के विस्तृत मैदान के ये सतरी बडे शान्त और रहस्यमय लगते थे। उनके देखने से ही मन मे एक शान्ति-सी छा जाती थी, और हमारे छोटे-छोटे द्वेष और सघर्ष, मैदान और शहरो की वासनाये और छल-छिद्र तुच्छ-से लगने लगते और उनके हमेशा के मार्गो से बहुत दूर की चीज लगते।

अलमोडा की छोटी-सी जेल एक ढालू जमीन पर बनी हुई है। मुझे उसीमें एक 'शानदार' बैरक रहने के लिए दी गयी। इसमे ५१×१७ फीट का एक बडा-सा कमरा था, जिसका फर्श कच्चा और बडा ऊँचा-नीचा था, छत कीड़ों की खाई हुई थी, जिसमें से टुकडे टूट-टूटकर

बराबर नीचे गिरा करते थे। उसमें पन्द्रह खिड़कियाँ और एक दरवाज़ा था, या यों कहना चाहिए कि इतने सीखचों से जड़े हुए खुले स्थान थे; क्योंकि असल में तो दरवाज़ा या खिड़की एक भी नहीं थी। ताज़ी हवा की तो कमी हो ही नहीं सकती थी, क्योंकि सरदी बढ़ गयी थी। कुछ खिड़कियों को नारियल की चटाइयों से बन्द कर दिया गया था। इस बड़े कमरे में (जो देहरादून की जेल के किसी भी कमरे से बड़ा था) मैं अपने एकाकी वैभव में रहता था। लेकिन मैं बिलकुल अकेला भी नहीं था, क्योंकि कम-से-कम दो दर्जन चिड़ियों ने उस टूटी छत में अपना घर बना रक्खा था। कभी-कभी कोई भटकता हुआ बादल, अपनी अनेक बाँहों द्वारा, कई खिड़कियों में से प्रवेश करता हुआ मेरे पास आ जाता, और सारी जगह को कुहरे से भरकर नमी फैला देता।

यहाँ रोज़ शाम के साढ़े चार बजे मेरे आखिरी भोजन, या यों कहना चाहिए कि भारी चाय ले लेने के बाद पाँच बजे मुझे बन्द कर दिया जाता था, और फिर सवेरे ७ बजे मेरा सीखचोंवाला दरवाज़ा खुलता था। दिन के समय या तो बैरक में या उसके बाहर एक पास के दालान में, धूप लिया करता था। मेरी चहार-दिवारी से एक-डेढ़ मील दूर के एक पहाड़ की चोटी दिखाई देती थी, और मेरे सिर पर नीले आकाश का अनन्त वितान तना रहता था, जिसपर बादल छिटके रहते थे। इन बादलों की बड़ी आश्चर्यजनक शक्लें बन जातीं, जिन्हें देखते-देखते मैं कभी थकता न था। खयाल करता था कि मैं उन्हें सब तरह के जानवरों का रूप धारण करते हुए देख रहा हूँ, और कभी-कभी वे मिलकर इतने बड़े बन जाते कि एक भारी महासागर के समान दिखाई देने लगते। कभी वे समुद्र के किनारे से लगते, और देवदार के पेड़ों के बीच से आनेवाली वायु की मर्मराहट समुद्र के ज्वार-भाटे की-सी आवाज़ लगती। कभी-कभी कोई बादल बड़े साहस के साथ हमारी ओर बढ़ता नज़र आता। दिखने में तो बड़ा ठोस और घना लगता, पर हमारे नज़दीक आते-आते वह बिलकुल कोहरा बन जाता और हमें लपेट लेता।

मुझे अपनी विशाल बैरक छोटी कोठरी से ज़्यादा पसन्द थी,

हालाँकि छोटी कोठरी से इसमें अकेलापन ज्यादा महसूस होता था। बाहर पानी बरसता, तो मैं उसमें ही घूम-फिर सकता था। लेकिन जैसे-जैसे सर्दी बढती गयी, उसका सूनापन बढता गया और जब सर्दी बहुत ही बढ गयी, तब ताजी हवा और खुले में रहने का मेरा प्रेम भी कम पड़ गया। मुझे उस समय बडी खुशी हुई, जब नये साल के शुरू होते ही खूब बर्फ पडा और जेल का नीरस वातावरण भी सुन्दर हो उठा। बर्फ से लिपटे हुए जेल की दीवारों के बाहर के देवदार वृक्ष तो बहुत ही सुहावने और लुभावने दिखने लगे।

कमला की हालत में उतार-चढाव होते रहने में मुझे चिन्ता रहती थी और कभी कोई खराब खबर मिल जाती, तो उससे मैं कुछ देर के लिए उदास हो जाता, लेकिन पहाड़ की हवा का सान्त्वना देनेवाला प्रभाव मुझपर पडता और मैं फिर गहरी नींद में सोने की आदत पर लौट आता था। निद्रा-लोक के किनारे पर खडे होकर मैं कभी-कभी सोचता था कि यह नींद भी कैसी आश्चर्य और रहस्य की चीज है। मनुष्य उससे जगे ही क्यों ? मैं बिलकुल ही न जागूँ तो ?

तो भी जेल से छुटकारा पाने की मेरी इच्छा प्रबल थी और इस वक्त तो बहुत ही तीव्र हो रही थी। बम्बई-कांग्रेस खत्म हो चुकी थी नवम्बर भी आकर चला गया और असेम्बली के चुनावों की चहलपहल भी खत्म हो गयी थी। मुझे आशा हो चली थी कि मैं जल्दी ही छोड़ दिया जाऊँगा।

लेकिन उसके बाद ही खान अब्दुलगफ्फार खाँ की गिरफ्तारी और सजा और श्री सुभाष बोस के हिन्दुस्तान में अल्पकालिक आगमन पर उनको दी गयी विचित्र आज्ञा की आश्चर्यजनक खबर मिली। यह आज्ञा खुद मनुष्यता से खाली और अविचारपूर्ण थी, और एक ऐसे मनुष्य पर लगायी गयी थी जिसकी, अपने असंख्य देशवासियों के दिल में प्रेम और आदर की जगह है और जो, अपनी बीमारी की परवाह न करके, मृत्यु-शय्या पर पडे हुए अपने पिता के दर्शनों के लिए दौडकर आया था और फिर भी उनसे मिल न सका था। यदि सरकार का दृष्टिकोण इस तरह

का बना हुआ है, तब तो मेरे जल्दी छूटने की कोई उम्मीद नही थी। बाद के सरकारी वक्तव्यो से यह बात साफतौर पर ज़ाहिर भी हो गयी थी।

अलमोडा जेल मे एक महीना रहने के बाद कमला को देखने के लिए मुझे ले जाया गया। उसके बाद मै करीब-करीब हर तीसरे हफ्ते उससे मिलता रहा। भारत-मत्री सर सेम्युअल होर ने बार-बार यह बात कही थी कि मुझे हफ्ते मे एक या दो बार अपनी पत्नी से मिलने की इजाजत दी जाती है। लेकिन वह सचाई के ज्यादा नज़दीक होते, अगर यह कहते कि महीने मे एक या दो बार मुझे यह इजाज़त मिलती है। पिछले साढे तीन महीनो मे जबसे कि मै अल्मोडा आया, मै पॉच बार उससे मिला। मै यह शिकायत के तौर पर नही लिख रहा हूँ, क्योकि मेरा खयाल है कि इस मामले मे सरकार मेरे प्रति बहुत विचारशील रही है और मुझे कमला से मिलने की जो सुविधाये दे रक्खी है वे असाधारण है। मैं इसके लिए उसका आभारी हूँ। उसके साथ की ये मुख्तसिर-सी मुलाकाते मेरे लिए और मै समझता हूँ उसके लिए भी, बहुत कीमती साबित हुई है। मेरी मुलाकात के दिन डॉक्टरो ने भी किसी हद तक अपने दूसरे साधारण कार्यक्रम को भी स्थगित कर दिया, और मुझे उसके साथ लम्बी-लम्बी बाते करने की इजाजत दी है। इन मुलाकातो के फलस्वरूप हम सदा ही एक दूसरे के नजदीक आते गये, और उसे छोडकर लौटने मे सदा ही एक असहनीय पीड़ा होती। हम केवल बिदा होने के लिए ही मिलते थे। और कभी-कभी तो मै बडे वेदना-भरे हृदय से सोचता था कि एक ऐसा भी दिन आ सकता है, जब कि यह बिदा आखिरी बिदा हो।

मेरी मॉ बीमारी से उठ न पायी थी, इसलिए इलाज के लिए बम्बई गयी थी। वहाँ उनकी हालत मे सुधार होता दिखायी दे रहा था। जनवरी का आधा महीना बीतने के करीब, एक दिन सवेरे ही तार के ज़रिये दिल को चोट पहुँचानेवाली ऐसी खबर मिली जिसकी कल्पना भी नही थी। उन्हें लकवा मार गया था। इसलिए मेरे बम्बई-जेल मे भेजे जाने की सम्भावना थी, ताकि ज़रूरत पडने पर मै उन्हे देख सकूँ। लेकिन उनकी हालत में थोड़ा सुधार हो जाने के कारण मुझे वहॉ नही भेजा गया।

जनवरी ने अपना स्थान अब फरवरी को दे दिया है, और वायु-मण्डल में वसन्त के आगमन की आहट सुनायी दे रही है। बुलबुल और दूसरी चिड़ियाँ फिर दिखायी और सुनायी देने लगी हैं और ज़मीन में जगह-जगह छोटे-छोटे कुल्ले फूटकर इस विचित्र दुनिया पर अपनी अचरज-भरी नज़र डाल रहे हैं। सदाबहार के फूल पहाड़ियों में स्थान-स्थान पर रक्त के-से लाल चप्पे बनाते जा रहे हैं, और शान्तिपूर्ण वातावरण में बेर के फूल बाहर झाँक रहे हैं। दिन बीतते जा रहे हैं और ज्यों-ज्यों वे समाप्त होते जाते हैं, मैं उन्हें गिनता रहता हूँ और अपनी अगली भुवाली-यात्रा की बात सोचता रहता हूँ। मुझे आश्चर्य होता है कि इस कहावत में कहाँतक सचाई है कि जीवन के बड़े-बड़े पुरस्कार निराशा, निर्दयता और वियोग के बाद ही मिलते हैं। अगर ऐसा न हो तो शायद उन पुरस्कारों का मूल्य ठीक-ठीक न आँका जा सके। शायद विचारों की स्पष्टता के लिए कष्ट-सहन ज़रूरी है, परन्तु उनकी अधिकता दिमाग पर पर्दा डाल सकती है। जेल से आत्म-चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है और अनेक वर्षों के जेल-निवास ने मुझे अधिक-से-अधिक अपने अन्त-र्निरीक्षण के लिए विवश किया है। स्वभाव से मैं अन्तर्मुखी नहीं था, पर जेल का जीवन तेज कॉफी या कुचले के सत की तरह आत्म-चिन्तन की ओर ले जाता है। कभी-कभी मनोरंजन के लिए, मैं प्रोफेसर मैक-डूगल[1] के निर्धारित किये हुए मापदण्ड पर अपनी अन्तर्मुखी और बहि-र्मुखी वृत्तियों के सम्बन्ध की परीक्षा करता हूँ, तो मुझे ताज्जुब होता है कि एक प्रवृत्ति से दूसरी की ओर परिवर्तन कितनी अधिक बार होता रहता है, और कितनी तेज़ी के साथ!

---

१ इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध आधुनिक मानसशास्त्री। —अनु०

: ६७ :

कुछ ताज़ी घटनायें

बीते निशा उदय निश्चय सुप्रभात—
आते नही दिवस हन्त ! पुन: गये जो ।
आशा भरी नयन मध्य अपार किन्तु—
बीती बसन्त-स्मृतियाँ दिल को दुखातीं ।[1]

मुझे जो अखबार दिये जाते थे, उनसे मुझे बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन की कार्रवाई का हाल मालूम हुआ। उसकी राजनीति और व्यक्तियों मे स्वभाव से ही मेरी दिलचस्पी थी। बीस साल के गहरे सम्पर्क ने मुझे कांग्रेस के साथ इतना कसकर बाँध दिया था कि मेरा व्यक्तित्व करीब-करीब उसमे लीन होगया था और पदाधिकार और जवाबदेही के बन्धनों से भी कही ज्यादा मजबूत कुछ ऐसे अदृश्य बन्धन थे, जिन्होने मुझे इस महान् संस्था व अपने हजारो पुराने साथी कार्यकर्त्ताओ के साथ बाँध दिया था। लेकिन इतने पर भी इस अधिवेशन की कार्रवाई से मुझे कुछ स्फूर्ति मिलना कठिन दिखायी दिया। कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णयो के होते हुए भी मुझे तो सारा अधिवेशन लाचार-सा मालूम हुआ। जिन विषयो मे मेरी दिलचस्पी थी, उनपर शायद ही विचार हुआ हो। मै इसी चक्कर मे था कि अगर मै वहाँ मौजूद होता, तो मैने क्या किया होता। निश्चित तौर पर मै कुछ नहीं जानता था। मै कह नहीं सकता था कि नयी परिस्थितियो और अपने आस-पास के वातावरण के सम्बन्ध में मेरा क्या रुख रहा होता। आखिर मैने सोचा कि इस कठिन निर्णय पर पहुँचने के लिए मै जेल मे अपने दिमाग पर क्यो जोर दूँ, जबकि उस वक्त ऐसा निर्णय करना बिलकुल बेकार था। समय आयगा, जब मुझे आजकल की समस्याओं का मुकाबिला करना पड़ेगा और अपना कार्य-

---

१. चीनी कवि ली तई-पो के पद्य का भावानुवाद ।

पथ निश्चित करना होगा। ऐसी हालत में इन गहरे विचारों मे पड़कर इस तरह के निर्णय की पहले से कल्पना करना बिलकुल वाहियात बात है क्योंकि ऐसा करने का भार मुझपर पड़ने से पहले ही परिस्थितियाँ बदल जायँगी।

अपने सुदूर और पहाड़ पर के एकान्त निवास-स्थान पर से अधिक-से-अधिक जो दो मोटी विशेषतायें मैं जान सका, वे थीं—गांधीजी का जबरदस्त व्यक्तित्व और पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्री अणे द्वारा किया गया साम्प्रदायिक निर्णय का बिलकुल नगण्य विरोध-प्रदर्शन। जो लोग भारत के सर्वसाधारण और मध्यमवर्ग की मनोवृत्ति को अच्छी तरह जानते हैं, उन सबको तो यह जानकर कुछ अचरज नहीं हुआ कि किस तरह गांधीजी एक छोर से दूसरे छोर तक भारत के एकमात्र सर्व-सर्वा बने हुए हैं। सरकारी अफसर और कुछ दकियानूसी राजनीतिज्ञ अपनी भीतरी इच्छा को ही कल्पना का आधार बनाकर, अक्सर यह सोचने लगते हैं कि अब राजनैतिक-क्षेत्र में गांधी-युग बीत गया है, या कम-से-कम उनका प्रभाव बहुत-कुछ क्षीण होगया है। और जब गांधीजी अपनी उस सारी पुरानी शक्ति और प्रभाव के साथ मैदान में आते हैं, तो ये लोग चकित रह जाते हैं और इस प्रत्यक्ष परिवर्तन के लिए नये-नये कारण खोजने लगते हैं। कांग्रेस और देश पर गांधीजी की अगर प्रभुता है तो वह उनके उन विचारों के कारण, जो कि आमतौर पर स्वीकार किये जाचुके हैं, उतनी नहीं है, जितनी कि उनके अद्वितीय व्यक्तित्व के कारण। व्यक्तित्व तो सभी जगह अपना काफी प्रभाव रखता है, लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह प्रमुख-रूप से और भी अधिक काम करता है।

कांग्रेस से उनका अलग होना इस अधिवेशन की एक अजीब घटना थी और ऊपरी तौर से तो यही मालूम होता था कि कांग्रेस और हिन्दुस्तान के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय खत्म होगया। लेकिन असल में इसका महत्त्व कुछ अधिक नहीं था क्योंकि वह चाहे तो भी अपने व्यापक नेतृत्त्व-पद से पीछा नहीं छुड़ा सकते। उनकी

यह प्रतिष्ठित स्थिति किसी पदाधिकार या अन्य किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण नही थी। काग्रेस मे आज भी गाधीजी का दृष्टिकोण करीब-करीब पहले जैसा ही झलकता है, और यदि वह उनके राह से भटक भी जाय तो भी, गाधीजी अनजाने मे भी, उसे और देश को बहुत अधिक हद तक प्रभावित करते रहेगे। इस बोझ और जिम्मेदारी से वह अपने को जुदा कर नही सकते। देश की प्रत्यक्ष स्थिति का खयाल करते हुए उनका व्यक्तित्व खुद ही दूसरो का ध्यान बरबस अपनी ओर खीचता है, और इस तरह उसकी उपेक्षा की नही जा सकती।

वह इस वक्त, काग्रेस से शायद इसलिए अलग होगये है, कि उनके कारण काग्रेस किसी कठिनाई मे न पडे। शायद वह किसी तरह के व्यक्तिगत सत्याग्रह की बात सोच रहे है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम सरकार से झगडा छिड जाना होगा। वह इसे काग्रेस का प्रश्न नही बनाना चाहते।

मुझे खुशी हुई कि काग्रेस ने देश का विधान निश्चित करने के लिए विधान-पचायत का विचार मजूर कर लिया। मेरे खयाल मे इस समस्या के हल करने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं, और निश्चय ही हमे कभी-न-कभी ऐसी असेम्बली बनानी पडेगी। दीखता तो यही है कि ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बिना ऐसा हो नही सकेगा; हाँ, कोई सफल क्रान्ति हो जाय तो बात दूसरी है। यह भी साफ है कि वर्त्तमान परिस्थितियो मे सरकार से ऐसी अनुमति मिलने की कोई उम्मीद नही है। देश मे जबतक इतनी ताकत पैदा नही होजाती कि वह इस तरह का कोई कदम उठाने को बलपूर्वक आगे बढ सके, तबतक ऐसी असेम्बली बन नही सकती। इसका लाज़िमी नतीजा यही है कि तबतक राजनैतिक समस्या भी नही सुलझ सकेगी। काग्रेस के कुछ नेताओ ने विधान-पचायत के विचार को मजूर करते हुए, इसकी उग्रता को कम करके करीब-करीब पुराने ढग के एक बडे सर्वदल-सम्मेलन का रूप दे दिया है। यह कार्रवाई बिलकुल बेकार होगी। वही पुराने लोग, ज्यादातर अपने आपही चुने जाकर सम्मिलित हो जायँगे,

और उसका परिणाम होगा मतभेद। विधान-पचायत की असल मन्शा तो यह है कि इस असेम्बली का चुनाव विस्तृत रूप से जनता के द्वारा हो और जनता से ही इसे ताकत और स्फूर्ति मिले। इस प्रकार का सम्मेलन ही असली प्रश्नों पर विचार करने मे सफल हो सकेगा, और साम्प्रदायिक या अन्य झगडो से, जिनमे हम लोग इतनी बार उलझ जाते है, बरी रहेगा।

इस विचार की शिमला और लन्दन मे जो प्रतिक्रिया हुई वह भी बडी मजेदार रही। अर्द्ध-सरकारी तौर पर यह तो जाहिर कर दिया गया कि सरकार को इसमे कोई ऐतराज न होगा। उसने अपनी सरपरस्ती की सहमति भी दे ही-सी दी, क्योकि प्रत्यक्ष मे उसे यह भी पुराने ढग के सर्वदल-सम्मेलन की-सी ही दिखायी दी, और चूंकि ऐसे सर्वदल-सम्मेलन के भाग्य मे पहले से ही असफलता लिखी रहती है, उसने सोचा कि इससे भी उल्टे अपने हाथ ही मजबूत होगे। लेकिन मालूम होता है बाद मे उसने इस विचार के अन्दर समाये हुए खतरों और इस तरह की असेम्बली से जिन-जिन बातो की सम्भावनाये हो सकती थी, उनको महसूस किया और तब से वह इसका जोरो से विरोध करने लगी।

बम्बई-काग्रेस के बाद फौरन ही असेम्बली का चुनाव आया। काग्रेस के चुनाव-सम्बन्धी कार्यक्रम मे मेरा कोई उत्साह न होते हुए भी मेरी इस बात मे बडी दिलचस्पी थी और मै मनाता था कि काग्रेस के उम्मीदवार जीते, या अधिक सही शब्दो में कहा जाय तो यो कहना चाहिए कि मै उनके विरोधियो की हार मनाता था। इन विरोधियो मे पद-लोभी सम्प्रदायवादी, पथभ्रष्ट और ऐसे लोगो का अजीब-सी खिचड़ी थी, जिन्होने सरकार की दमन-नीति का जोरों से समर्थन किया था। इस बात मे कोई शक नही था कि इनमे से अधिकाश लोग हरा दिये जायँगे, लेकिन बदकिस्मती से साम्प्रदायिक निर्णय ने मुख्य प्रश्न को ढक दिया और इनमें से बहुतों ने साम्प्रदायिक सगठनो की व्यापक रूप मे फैली हुई भुजाओ की शरण ली। लेकिन इतने पर भी काग्रेस को बडी मार्के

की सफल... मिली, और मुझे खुशी हुई कि अवाञ्छनीय लोगो मे से बहुत-से खदेड़ दिये गये।

मुझे खासकर, नामधारी काग्रेस नेशलिस्ट पार्टी का रुख, बहुत ही खेदजनक लगा। उसके साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति तीव्र विरोध को समझा जा सकता है, लेकिन अपनी स्थिति को मजबूत वनाने के लिए उसने ऐसे कट्टर साम्प्रदायिक सगठनों के साथ सहयोग किया, यहाँतक कि सनातनियो के सगठनो तक का जिनसे वढकर कि आज भारत मे, ...क और सामाजिक, दोनो ही दृष्टि से प्रतिगामी दल दूसरा नही ... ही, अनेक मशहूर राजनैतिक प्रगतियो तक का सहारा लिया। वगाल को छोडकर, जहाँ कारण विशेष से एक जवरदस्त काग्रेस दल ने उनका समर्थन किया, उनमे से अधिकतर सव तरह से काग्रेस के विरुद्ध थे। इसमे शक नही कि काग्रेस के सवसे जवरदस्त विरोधी यही लोग थे। इतनी सारी तरह की विरोधी शक्तियो के मुकाविले मे, जिनमे कि जमीदार, नरम दलवाले, और निस्सन्देह सरकारी अफसर तक शामिल थे, काग्रेसी उम्मीदवारो ने काफी शानदार विजय प्राप्त की।

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति काग्रेस का रुख विचित्र था, लेकिन इस परिस्थिति मे इससे भिन्न शायद ही हो सकता था। यह उसकी ... तटस्थता की नीति का या यो कहो कि कमजोर नीति का परिणाम था। शुरू से ही दृढ नीति अख्तियार की जाती, और विना किसी तात्कालिक परिणाम की चिन्ता किये उसका पालन करते रहना अधिक शानदार और सही तरीका होता। लेकिन क्योकि काग्रेस ऐसा करने मे अनिच्छुक रही, इसलिए उसने जो रास्ता अख्तियार किया उसके सिवा उसके पास और कोई उपाय था ही नही। साम्प्रदायिक निर्णय एक खास बेहूदगी की चीज थी और उसका स्वीकार किया जाना असम्भव था, क्योकि, उसके वने रहने तक किसी तरह की आजादी हासिल करना नामुमकिन था। यह इसलिए नही कि इसने मुसलमानो को वहुत अधिक दे दिया था। किसी दूसरी तरह शायद यह मुमकिन था कि वे जो-कुछ भी माँगते सव कुछ दे दिया जाता। वात यह थी कि इस

निर्णय द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत को आपस में एक दूसरे से अलग अनगिनती हिस्सों में बाँट दिया था, जो एक दूसरे को आगे बढ़ने से रोकता, और उसके प्रभाव को बिलकुल बेकार कर देता था, जिससे कि विदेशी अंग्रेजी सत्ता सर्वोपरि बनी रह सके। इसने ब्रिटिश सरकार पर की निर्भरता को अनिवार्य बना दिया।

खासकर बंगाल में, जहाँ कि छोटे से यूरोपियन समुदाय को भारी प्रधानता दी गयी है, हिन्दुओं के साथ बहुत ही अन्याय किया गया है। ऐसे निर्णय या फ़ैसले, या और जो कुछ भी उसे कहा जाय, (उसे निर्णय के नाम से पुकारे जाने पर आपत्ति की गयी है) का तीव्र विरोध होना जरूरी था। और चाहे वह हमपर लाद भले ही दिया जाय या राजनैतिक कारणों से, अस्थायी रूप से वह बर्दाश्त कर लिया जाय, फिर भी वह रहेगा हमेशा झगड़े की जड़ ही। मेरा अपना खयाल है कि इसके पक्ष में एक ही बात कही जा सकती है कि खुद इसकी बुराई ही इसका गुण है और ऐसी हालत में वह किसी बात का स्थायी आधार बन नहीं सकता।

नेशनलिस्ट पार्टी, और उससे भी अधिक हिन्दू-महासभा और दूसरे साम्प्रदायिक संगठनों ने स्वभावतः ही इस जबरदस्ती से लादे गये निर्णय का विरोध किया। लेकिन असल में उनकी आलोचना उसके समर्थकों की तरह ब्रिटिश सरकार की विचारधारा के आधार पर टिकी हुई थी। यह उनको ऐसी विचित्र नीति की ओर ले गयी और अब भी आगे लिये जा रही है जिससे सरकार अवश्य ही प्रसन्न हुई होगी। साम्प्रदायिक निर्णय के भूत से परेशान होकर ये लोग इस आशा में कि सरकार को लालच देने या खुश करने से वह उक्त निर्णय को हमारे पक्ष में बदल देगी, दूसरे मुख्य विषयों के प्रति अपना विरोध नरम करते जा रहे हैं। हिन्दू-महासभा इस दिशा में सबसे आगे बढ़ गयी है। उसको यह सूझता नहीं मालूम पड़ता कि इस नीति का अख्तियार करना सिर्फ अपमान-जनक ही नहीं है बल्कि उससे निर्णय का बदला जाना बहुत ज्यादा कठिन हो जाता है, क्योंकि यह मुसलमानों को खिझाता ही है और उन्हें और भी अधिक दूर खींच ले जाता है। सरकार के लिए राष्ट्रीय शक्तियों को

अपनी ओर कर सकना मुश्किल है। अन्तर वहुत वडा है और स्वार्थो का सघर्ष वहुत ही साफ है। उसके लिए यह भी मुश्किल है कि साम्प्रदायिक स्वार्थो के सकुचित मसले पर हिन्दू और मुस्लिम दोनो साम्प्रदायिको को ख़ुश कर सके। उसे तो किसी एक को चुनना था, और उसने अपने दृष्टिकोण के अनुसार मुस्लिम सम्प्रदायवादियो का पक्ष चुनना पसन्द किया और ठीक पसन्द किया। क्या वह सिर्फ मुट्ठीभर हिन्दू साम्प्रदायवादियो को ख़ुश करने के लिए अपनी सुनिश्चित और लाभदायक नीति पलट देगी—मुसलमानो को नाख़ुश करेगी?

ख़ुद यह वात कि सामूहिक रूप से हिन्दू राजनैतिक दृष्टि से वहुत आगे वढे हुए है और राष्ट्रीय आज़ादी के लिए वहुत जोर देते है, उनके विरुद्ध अवश्य जायगी। नगण्य साम्प्रदायिक रिआयतो के कारण (और नगण्य के सिवाय वे किसी महत्त्व की हो ही नही सकती) उनके राजनैतिक विरोध मे कुछ अन्तर नहीं पड जायगा, लेकिन ऐसी रिआयते मुसलमानो के रुख़ मे एक अस्थायी अन्तर पैदा कर देगी।

असेम्वली के चुनावो ने दोनो अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक सस्थाओ, हिन्दू महासभा और मुस्लिम-कान्फ्रेस के हिमायतियो की अत्यन्त स्पष्ट रूप से कलई खोल दी। इसके उम्मीदवार वडे-वडे ज़मीदारो या साहूकारो से लिये गये थे। महासभा ने हाल ही मे कर्ज़-विल का ज़ोरो मे विरोध करके भी साहूकार-वर्ग के प्रति अपनी शुभचिन्तकता वतलायी थी। हिन्दू-समाज के सिरमौर इन छोटे समुदायो से हिन्दू-महासभा वनी है और इन्हीके एक भाग या कुछ वकील, डॉक्टर आदि पेशे वाले लोगो से लिवरल-दल वना है। हिन्दुओ पर उनका कोई ख़ास प्रभाव नही है, क्योकि निम्न मध्यम-वर्ग में राजनैतिक चेतना आ गयी है। औद्योगक नेता भी इन लोगों से अलग ही रहते है, क्योकि नये-नये धन्धों और अर्द्धमाण्डलिक वर्ग की आवश्यकताओं मे परस्पर कुछ विरोध रहता है। उद्योग-धन्धेवाले लोग, सीधे हमले या दूसरे किसी ख़तरे में पडने का साहस न होने के कारण, राष्ट्रवादियों और सरकार दोनो ही से अपना सम्वन्ध अच्छा रखना चाहते है। वे लिवरल या साम्प्रदायिक दलो पर

कोई खास ध्यान नही देते। औद्योगिक प्रगति और लाभ ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है।

मुसलमानो के निम्न मध्यम-वर्ग मे यह जाग्रति अभी होनी है, और औद्योगिक दृष्टि से भी वे लोग पिछडे हुए है। इस तरह हम देखते है कि अत्यन्त प्रतिक्रियावादी, जागीरदार, और सरकारी नौकरियो मे रहे हुए अधिकारी लोग न सिर्फ उनकी साम्प्रदायिक सस्थाओ पर ही कब्जा किये हुए है बल्कि सारी जाति पर अपना भारी प्रभाव काम मे ला रहे है। सरकारी उपाधिधारियो, भूतपूर्व मिनिस्टरो और बडे-बडे जमीदारो के मजमे का नाम ही मुस्लिम कान्फ्रेस है। और फिर भी मेरा खयाल है कि सर्वसाधारण मुस्लिम जनता, शायद सामाजिक विषयो मे कुछ स्वतन्त्रता होने के कारण, हिन्दू-जनता की अपेक्षा ज्यादा हिम्मत और ताकतवर है। और इसलिए मुमकिन है कि एक वार चेतना मिलते ही वह वडी तेजी से समाजवाद की ओर वढ जायँगे। इस समय तो मुस्लिम शिक्षित-वर्ग वौद्धिक और शारीरिक दोनो ही तरह से चेतना-हीन सा हो गया है और उसमे कोई स्फूर्ति नही रह गयी है। अपने पुराने रहनुमाओ के खिलाफ आवाज उठाने का वह साहस कर नही सकता।

राजनैतिक दृष्टि से सवसे आगे वढी हुई महान् सस्था काग्रेस के नेता जो पथ-प्रदर्शन कर रहे है, वह वर्तमान अवस्था मे जनता को जैसा नेतृत्व मिलना चाहिए उसकी अपेक्षा कही अधिक फूँक-फूँककर कदम रखने का है। वे जनता से सहयोग की तो माँग करते है, लेकिन उसकी राय जानने या दुख दर्द मालूम करने की कोशिश शायद ही करते हो। असेम्वली के चुनाव से पहले उन्होने विभिन्न नरम गैर-काग्रेसियो को अपनी ओर खीचने की गरज से अपने कार्य-क्रम को नरम वनाने की हर तरह से कोशिश की। मन्दिर-प्रवेश विल जैसे कामो तक के सम्वन्ध मे उन्होने अपना रुख वदल दिया था, और मदरास के महान् कट्टर-पन्थियो तक को शान्त करने के लिए उसके सम्वन्ध मे आश्वासन दिये गये थे। विना लाग-लपेट के और उग्र चुनाव-कार्यक्रम ने कही अधिक उत्साह पैदा किया होता, और जनता को शिक्षित करने मे उससे कही अधिक मदद

मिली होती। अब क्योकि काग्रेस ने पार्लमेण्टरी कार्यक्रम को अपना लिया है, इसलिए असेम्बली मे किसी विषय पर वोट गिने जाने के समय कुछ नगण्य वोट पाजाने की आशा से, उसमे राजनैतिक और सामाजिक दकियानूसो के लिए और भी ज्यादा गुजाइश हो जायगी, और काग्रेस के नेताओ और जनता के बीच खाई और भी चौडी हो जायगी। असेम्बली मे जोरदार भाषणो की झाडी लग जायगी, और सर्वोत्तम पार्लमेण्टरी शिष्टता का अनुसरण किया जायगा, समय-समय पर सरकार को हराया जायगा—जिसकी कि सरकार अविचल भाव से उपेक्षा कर देगी, जैसा कि वह पहले से करती आयी है।

पिछले कुछ बरसो मे, जबकि काग्रेस कौसिलो का बहिष्कार कर रही थी, सरकारी मुखिया लोग अक्सर हमसे कहा करते थे कि असेम्बली और प्रान्तीय कौसिले जनता की असली प्रतिनिधि है और लोकमत को जाहिर करती है। लेकिन यह दिल्लगी की बात है, कि अब जब कि असेम्बली मे अधिक प्रगतिशील दल का प्रभुत्व है, सरकारी दृष्टिकोण बदल गया है। जब कभी काग्रेस को चुनाव मे मिली सफलता का हवाला दिया जाता है, तो हमसे कहा जाता है कि मतदाताओ की सख्या बहुत ही थोडी, तीस करोड या उसके लगभग जनता मे से, केवल तीस लाख ही है। जिन करोडो लोगो को वोट देने का हक नही मिला है, सरकार के मतानुसार वे साफ तौर पर अग्रेजी सरकार के हामी है। इसका जवाब साफ है। हरेक बालिग व्यक्ति को मत देने का अधिकार दे दिया जाय, और तब पता लग जायगा कि इन लोगो का खयाल क्या है ?

असेम्बली के चुनाव के बाद ही भारतीय शासन-सुधारो पर ज्वॉइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी चारो ओर से जो भिन्न-भिन्न आलोचनाये हुई, उनमे अक्सर इस बात पर जोर दिया गया था कि उससे भारतवासियो के प्रति 'अविश्वास' और 'सन्देह' जाहिर होता है। हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं पर विचार करने का यह तरीका मुझे बडा विचित्र मालूम हुआ। क्या ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति और हमारे राष्ट्रीय हितो मे कोई महत्त्वपूर्ण विरोध

-नहीं है ? सवाल यह है कि इनमें से किसकी बात रहे ? स्वतन्त्रता क्या हम महज साम्राज्यवादी नीति को कायम रखने के लिए ही चाहते हैं ? मालूम तो यही होता है कि ब्रिटिश सरकार यही समझे हुए थी, क्योंकि हमें सूचित कर दिया गया है कि जबतक हम ब्रिटिश-नीति के अनुसार अपना आचरण रक्खेंगे और जैसा वह चाहती है ठीक उसके अनुसार-काम करके स्व-शासन के लिए अपनी योग्यता प्रदर्शित करेंगे, तबतक 'संरक्षणों' का उपयोग नहीं किया जायगा। अगर भारत में ब्रिटिश नीति को ही जारी रखना है, तब अपने खुद के हाथों में शासन की बागडोर लेने का यह सब शोरगुल क्यों मचाया जा रहा है ?

यह साफ जाहिर है कि ओटावा-पैक्ट आर्थिक दृष्टि से इंग्लैंड के सिवा हिन्दुस्तान के लिए बहुत फायदेमन्द नहीं हुआ है।[1] हिन्दुस्तान के साथ के ब्रिटिश व्यापार को निस्सन्देह लाभ पहुँचा है, और वह पहुँचा है भारत के राजनीतिज्ञों और व्यवसायियों की राय के अनुसार भारत के विस्तृत हितों के बलिदान पर। उपनिवेशों, खासकर कनाडा और आस्ट्रेलिया के सबन्ध में स्थिति इससे उल्टी है।[2] उन्होंने ब्रिटेन के साथ बड़ा कड़ा व्यापा-

---

१ सर विलियम करी ने दिसम्बर सन् १९३४ में पी० एण्ड० ओ० जहाजी कम्पनी की लन्दन की एक मीटिंग में सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए भारतीय व्यापार का उल्लेख करते हुए कहा था कि "ओटावा-पैक्ट ब्रिटेन के लिए निश्चित रूप से फायदेमन्द रहा है।"

२ जून सन् १९३४ के लन्दन के 'इकनोमिस्ट' अखबार ने लिखा था कि ओटावा-परिषद् का "समर्थन केवल उसी दशा में किया जा सकता था, जबकि वह बाकी दुनिया से साम्राज्य के व्यवसाय का योग घटायें बिना अन्तर्साम्राज्य के व्यवसाय का योग बढ़ाती। वास्तव में वह साम्राज्य के क्षीणोन्मुख व्यापार के सामने बहुत ही थोड़े से अनुपात में अन्तर्साम्राज्यिक व्यापार को उत्तेजना दे सकी है। यह विभाजन भी ग्रेट-ब्रिटेन की अपेक्षा कहीं अधिक उपनिवेशों के हित में रहा है। हमारे -साम्राज्य का आयात सन् १९३१ के २४,७०,००,००० पौण्ड से बढ़कर

रिक सौदा किया और उसे हानि पहुँचाकर अधिकाश लाभ खुद उठाया। इतने पर भी, अपने उद्योग-धन्धो की वृद्धि और साथ ही अन्य देशो के साथ अपना व्यापार बढाने के लिए वे ओटावा और उनके दूसरे फन्दो से छुटकारा पाने का हमेशा प्रयत्न करते रहते है।[1] कनाडा मे एक प्रमुख राजनैतिक दल, याने लिबरल दल जिसके हाथो मे जल्दी ही शासन-सूत्र आजाने की सम्भावना है, निश्चित रूप से ओटावा-पैक्ट को रद्द करने को वचनबद्ध है।[2] आस्ट्रेलिया मे ओटावा-पैक्ट के अर्थो की खीचातानी के परिणामस्वरूप कुछ तरह के कपडो और सूत पर चुगी बढा दी गयी, जिसपर लकाशायर के वस्त्र-व्यवसायियो की ओर से सख्त नाराजगी जाहिर की गयी और इसे ओटावा-पैक्ट का भग कहकर उसकी निन्दा की गयी। इसीके विरोध और बदले के रूप मे लकाशायर मे आस्ट्रेलियन माल के बहिष्कार का आन्दोलन भी शुरू किया गया। आस्ट्रेलिया पर इस धमकी का कुछ भी खास असर नही हुआ, बल्कि इसके खिलाफ वहाँ भी कडा रुख इख्तियार किया गया।[3]

सन् १९३३ में २४,९०,००,००० पौण्ड हुआ था। किन्तु निर्यात १७,६०,००,००० पौण्ड से घटकर १६,३५,००,००० पौण्ड हो गया था। यह बात भी देखना है कि १९२९ से १९३३ के बीच साम्राज्य को हमारा निर्यात ५०९ फी सदी घटा था, जबकि साम्राज्य से हमारा आयात सिर्फ ३२ ९ फ़ी सदी ही घटा था। विदेशो को हमारे निर्यात में कमी कभी इतनी अधिक नहीं हुई, हाँ, इन देशो से हमारे आयात मे कमी कहीं ज्यादा थी।"

१. मेलबोर्न का 'एज' नामक पत्र भी ओटावा-पैक्ट को पसन्द नहीं करता। उसकी राय में यह पैक्ट "एक निरन्तर बाधा बन रहा है, और अब दिन-दिन लोग इसे बहुत बडी गलती मानते जा रहे है।" (१९ अक्तूबर सन् १९३४ के 'मेन्चैस्टर गार्जियन' नामक साप्ताहिक पत्र से उद्धृत।)

२ कनाडा के वर्तमान अनुदार प्रधान मन्त्री श्री बैनेट तक व्यापा-

यह स्पष्ट है कि आर्थिक सघर्ष का कारण कनाडा और आस्ट्रेलिया के लोगो मे ब्रिटेन के प्रति किसी दुर्भावना का होना नही है; हाँ, आयर्लैण्डवालो मे यह दुर्भावना प्रत्यक्ष है। सघर्ष स्वार्थों के आपस मे टकराने के कारण होता है, और जहाँ कही इस किस्म हितो मे टक्करें हो, हिन्दुस्तान मे 'सरक्षण' का उद्देश्य, यह देखना रहता है कि ब्रिटिश हित कायम रहे। 'सरक्षण' के क्या नतीजे होंगे, इसका एक हलका-सा इशारा हाल मे की गयी भारतीय-ब्रिटिश व्यापारिक सन्धि से हो जायगा, जिसकी ब्रिटिश-धन्धेवालो की तो खबर थी, लेकिन जो भारतीय व्यवसायियो और उद्योग-धन्धेवालो से छिपाकर की गयी थी, और उनके विरोध करते रहने और असेम्वली के रद्द कर देने पर भी सरकार ने अपनी जिद्द से उसे कायम रक्खा। ऐसे सरक्षणों की तो वडी जबर्दस्त

रिक मामलो में ब्रिटिश सरकार के लिए कण्टकरूप हो रहे हैं। वह 'नयी योजना' (New Deals) की चर्चा कर रहे हैं और उनके विचारों में आश्चर्यजनक तबदीली हो रही है। श्री लिटवीनोव; सर स्टैफर्ड क्रिप्स और श्री जान स्ट्रैची के भयकर प्रभाव से वे समष्टिवादी बन गये हैं। इसे तमाम अनुदार, उदार और इम्पीरियल सिविल सर्विस वालो को इस बात का संकेत और चेतावनी समझनी चाहिए कि वे इस किस्म के विचार रखना या ऐसे विचार रखनेवालो का साथ देना छोड दें, नही तो वे खुद ही उन भयकर सिद्धान्तो के समर्थक बन जायँगे। (उपर्युक्त नोट लिख चुकने के बाद सुना कि कनाडा में श्री किंग के नेतृत्व में लिबरल पार्टी ने चुनाव में गहरी विजय प्राप्त करली है, और शासन-सूत्र अब उसी के हाथ में आ गये है।)

३ मेलबोर्न के 'एज' नामक पत्र ने लिखा था कि लंकाशायरवाले अगर अपने प्रस्तावित बहिष्कार को बन्द न करे तो आस्ट्रेलिया को लकाशायर के रहे-सहे व्यापार का भी प्रबल बहिष्कार करना ही चाहिए। अविचल दृढता के साथ हमें लंकाशायर को जवाब देना होगा। (९ नवम्बर १९३४ के सप्ताहिक 'मैन्चेस्टर गार्जियन' से उद्धृत।)

ज़रूरत कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफरीका मे है, जिससे कि इन उपनिवेशों के लोग न केवल व्यापारिक मामले मे ही, वरन साम्राज्य-रक्षा और उसकी अविछिन्नता के महत्त्वपूर्ण विषयों में भी मनमाना रास्ता अख्तियार न करले।[1]

कहा गया है कि साम्राज्य के मानी है एक बडा 'कर्ज', और सरक्षण बनाये इसलिए गये है कि शाही लेनदार साहूकार अपने सब खास-खास स्वार्थो और शक्तियो को महफूज बनाये रखने के लिए अपने अभागे कर्जदार पर अपना ज़बरदस्त काबू रख सके। एक विचित्र दलील, जो अक्सर सरकार की तरफ से दुहराई जाती है, यह है कि गाधीजी और काग्रेस ने ऐसे सरक्षणो के विचार को स्वीकार कर लिया है, क्योकि सन् १९३१ के दिल्ली के गाधी-अर्विन समझौते मे भारत के हित मे 'सरक्षण' की बात स्वीकार की जा चुकी है।

ओटावा-पैक्ट और वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी सरक्षण फिर भी छोटी बाते है।[1] जो कहीं अधिक महत्त्व की बात है, वह तो है वे बीसियों सुविधाये, जिनका उद्देश हिन्दुस्तानियो पर अपने हरेक महत्त्वपूर्ण राज-

---

१. दक्षिण अफरीका-सघ के रक्षा-सचिव श्री ओ० पीरो ने कहा था कि संघ साम्राज्य-रक्षा की किसी भी आम योजना में भाग नहीं लेगा, न किसी बाहरी युद्ध में ही सहयोग करेगा, फिर भले ही ब्रिटेन उस युद्ध में शामिल क्यों न हो। "अगर सरकार अविचारपूर्वक दक्षिण अफरीका को दूसरे बाहरी युद्धों में भाग लेने के लिए मजबूर करे, तो बहुत बडे पैमानें में अशान्ति फैल जायगी, मुमकिन है कि गृह-युद्ध छिड़ जाय। इसलिए वह साम्राज्य-रक्षा की किसी आम योजना में भाग नहीं लेगी।" (केपटाउन से ५ फरवरी १९३५ को भेजा हुआ रायटर का संवाद) प्रधान सचिव जनरल हर्ट्जोग ने इस वक्तव्य की पुष्टि की है, और बताया है कि वह यूनियन सरकार की नीति को जाहिर करता है।

१. लन्दन का 'इकनोमिस्ट' (अक्तूबर १९३४) बतलाता है—"भविष्य के लिए ब्रिटिश राज का एक लाभ यह मालूम होता है कि

नैतिक और आर्थिक प्रभुत्व को, जिसने कि भूतकाल और वर्तमान में उन्हे इस देश के शोषण मे सहायता दी है, स्थायी बना देना है। जबतक ये सुविधाये और 'सरक्षण' बने हुए है, तबतक किसी भी दिशा मे वास्तविक उन्नति हो सकना गैरमुमकिन है, और तबदीली के लिए, किसी किस्म के वैध प्रयत्न के लिए कोई जगह ही नही छोडी गयी है। ऐसा हरेक प्रयत्न 'सरक्षणो की नगी दीवारो के साथ टकरायेगा' और यह दिन-दिन साफ होता जायगा कि केवल वैध मार्ग से ही काम नही चलेगा। राजनैतिक सुधार की दृष्टि से यह प्रस्तावित शासन-योजना और इसका भीमकाय सघ एक वाहियात चीज है, और सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से तो यह और भी बदतर है। समाजवाद का रास्ता तो जान-बूझकर रोक दिया गया है। ऊपरी तौर से बहुत-कुछ जवाबदेही भी (लेकिन वह भी अधिकतर 'सुरक्षित' श्रेणियो को ही) सौप दी गयी है, लेकिन वास्तविक महत्त्व की कुछ ताकते—कुछ कर-धर सकने के साधन—नही दी गयी है। बिना किसी उत्तरदायित्व के सारी शक्ति इग्लैण्ड अपने हाथों मे रक्खे हुए है। निरकुशता के नगेपन को ढकने के लिए कोई झीनी चादर तक नही है। हरेक आदमी जानता है कि इस समय की सबसे बडी जरूरत यह है कि विधान पूरी तरह से लचीला और ग्राह्य-शक्तिवाला हो जिससे कि वह तेजी से बदलती रहनेवाली अवस्था के मुआफिक हो सके। निर्णय जल्दी होना चाहिए, और हाथ में उन निर्णयो को अमल मे लाने की भी ताकत होनी चाहिए। इतने पर भी, इसमे शक है कि पार्लमेण्टरी प्रजातन्त्र, जैसा कि आजकल पश्चिम के कुछ देशों में चल रहा है, आधुनिक विश्व के सुचारु-सचालन के लिए आवश्यक परिवर्तन कर सकने मे सफल हो सकेगा या नही, लेकिन यह प्रश्न हमारे यहाँ नही उठता, क्योकि हमारी गति हथकडियों और

पृथिवी के अनेक हिस्सो में बसनेवाले मूल निवासियो को हम महँगी दर पर लंकाशायर का माल खरीदने के लिए मजबूर कर सकेगे।' सोलोन इसका सबसे अधिक ज्वलन्त और नया उदाहरण है।

बेडियो से जान-बूझकर रोक दी गयी है, और हमारे दरवाजे बन्द करके ताले लगा दिये गये है। हमे ऐसी मोटर देदी गयी है, जिसमे सब जगह रोकने के लिए ब्रेक तो काफी लगे हुए है, लेकिन उसे चलानेवाला एजिन नदारद है। मार्शल-लॉ—फौजी कानून ही जिनका आधार है, ऐसे लोगो का बनाया हुआ यह शासन-विधान है। शस्त्रबल मे विश्वास रखनेवाले के लिए मार्शल-लॉ—फौजी कानून—ही उसका असली सहारा है, उसके लिए उसके छोडने का अर्थ है अपना सर्वनाश।

इग्लैण्ड के इस तोहफे से हिन्दुस्तान को किस हदतक आजादी मिली है, इसका पता इसी बात से चल सकता है कि नरम-से-नरम और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त पिछडे हुए दलो तक ने इसे प्रगति-विरोधी बताकर इसकी तीव्र निन्दा की है। सरकार के पुराने और कट्टर हिमायतियो को भी इसकी आलोचना करनी पडी है, लेकिन उन्होने की है अपने उसी सदा के खुशामदी ढग के साथ। दूसरे लोगो ने उग्ररूप से विरोध किया है।

नरम दलवालो का जो यह अटल विश्वास था कि भगवान ने हिन्दुस्तान को अग्रेजो के मातहत करने मे बेहद बुद्धिमानी से काम लिया है, शासन-विधान की इन धाराओं ने उनके लिए उसपर उतना ही डटा रहना मुश्किल कर दिया है। उन्होने तीखी आलोचना की, लेकिन असलियत की अवहेलना करके और सुन्दर शब्दो और लुभावने हाव-भावों से, उसमे इसी बात पर सबसे अधिक जोर दिया कि रिपोर्ट और बिल, दोनो मे 'डोमीनियन स्टेटस' (औपनिवेशिक स्वराज) शब्द गायब है। इस सम्बन्ध मे उनकी तरफ से बडा वावैला मचा था और अब क्योकि सर सैमुअल होर ने इस विषय मे एक वक्तव्य प्रकाशित कर दिया है, बहुत हदतक उससे उनके आत्म-सम्मान की रक्षा हो जायगी। सम्भव है, औपनिवेशिक स्वराज अज्ञात भविष्य के गर्भ मे वास करनेवाली एक झूठी छायामात्र होगी—एक असम्भव से भी असम्भव जगह, जहाँ हम कभी पहुँच नही सकेगे। हाँ, उसके सपने देख सकते है और उनकी अनेक सुन्दरताओं का ओजमय वर्णन कर सकते है। शायद ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रति मन में पैदा हुए सन्देहो से परेशान होकर सर तेजबहादुर सप्रू ने

अब सम्राट् की शरण ली है। चूंकि वह एक अत्यन्त सुयोग्य और कुशल कानूनदा है उन्होने एक नया ही वैधानिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वह कहते है—"ब्रिटिश पार्लमेण्ट और ब्रिटिश जनता भारत के लिए कुछ करे या न करे, इन दोनो के ऊपर सम्राट है जो कि भारतीय प्रजा का सदा हितचिन्तन और शान्ति और समृद्धि की आकाक्षा किया करते है।"[1] यह ऐसा सुखद सिद्धान्त है, जो हमे शासन-विधान, कानून और राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियो की झझटो मे पडने से बचाता है।

लेकिन यह कहना भी ठीक नही होगा कि नरम दलवालो ने शासन-विधान का विरोध कम कर दिया है। उनमे से अधिकाश ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि वे मौजूदा हालतो को, बुरी होने पर भी, पसन्द करते है, बनिस्बत उस बिन-मागे तोहफे के जो कि हिन्दुस्तान के सर पर जबरदस्ती लादा जा रहा है। लेकिन इस बात को कहते रहने के सिवा, खुद उनके सिद्धान्त उन्हे आगे बढकर कुछ करने से रोकते है, और यह कहा जा सकता है कि वे उक्त बातो पर जोर देते रहेगे। एक पुरानी कहावत, वर्तमान समय के मुताबिक बदल कर दी जाने पर, उनके मोटो का अच्छा काम दे सकती है और वह है—"अगर एक बार कामयाबी न मिले, तो फिर चिल्लाओ!"[2]

लिबरल नेताओ और कितने ही दूसरे लोगों ने, जिनमें कि कुछ काग्रेसवाले भी शामिल है, इग्लैण्ड मे मजदूर-दल की विजय और मजदूर सरकार की स्थापना पर कुछ आशा बाँध रक्खी है। निस्सन्देह कोई वजह नही है कि हिन्दुस्तान ब्रिटेन के प्रगतिशील दलों के सहयोग

---

१ लखनऊ को, २९ जनवरी १९३५ की एक सार्वजनिक सभा में दिये हुए एक भाषण से।

२. "Try again" (ट्राई अगेन) अर्थात् फिर प्रयत्न करो, यह अंग्रेजी की कहावत है, किन्तु लेखक का व्यग है कि इनके लिए ट्राई के बदले क्राई करके "Cry again" अर्थात् "फिर चिल्लाओ" की कहावत अधिक मौजूं है। —अनु०

से आगे बढ़ने का प्रयत्न क्यों न करे, अथवा मजदूर-सरकार के आगमन से लाभ क्यो न उठावे। लेकिन इंग्लैण्ड के भाग्यचक्र के परिवर्तन पर ही बिलकुल निर्भर रहना न तो प्रतिभा की बात है, न राष्ट्रीय गौरव के ही किसी तरह अनुकूल है। और यह कोई अच्छी बुद्धिमानी की बात भी नही है। ब्रिटिश मजदूर दल से हम इतनी ज्यादा आशा क्यों रक्खे ? हम अभी दो बार मजदूर दल की सरकार देख चुके है, और उसके समय हिन्दुस्तान को जो तोहफे मिले है, उन्हे हम भूल नही सकते। श्री रेमजे मेकडानल्ड भले ही मजदूर-दल से अलग हो गये हो, लेकिन उनके पुराने साथियो मे भी कोई ज्यादा परिवर्त्तन हुआ दिखाई नही देता। सन् १९३० के अक्तूबर में साउथपोर्ट मे होनेवाली मजदूर दल-कान्फ्रेन्स मे श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने यह प्रस्ताव रखा था—"इस कान्फ्रेन्स का यह विश्वास है कि यह बहुत-ही जरूरी है कि हिन्दुस्तान मे पूर्ण स्वराज की स्थापना के लिए स्वभाग्य निर्णय का सिद्धान्त तुरन्त अमल मे लाया जाय।" श्री आर्थर हेण्डर्सन ने इस प्रस्ताव को वापस ले लेने के लिए बड़ा जोर दिया और कार्यकारिणी की ओर से आपने स्वभाग्य-निर्णय की नीति को भारत के लिए उपयोग मे लाने का आश्वासन देने से साफ इन्कार कर दिया। उन्होने कहा—"हम यह बात बहुत ही साफ तौर से बता चुके है कि सम्भव हुआ तो हम हिन्दुस्तान के सब समुदायो से सलाह करेंगे। इस बात से सबका समाधान हो जाना चाहिए।" लेकिन लोगों का यह सन्तोष इस तथ्य को सामने रखने से शायद कम हो जायगा कि पिछली मजदूर सरकार और राष्ट्रीय सरकार की भी यही उद्घोषित नीति थी, जिसका परिणाम था राउण्ड टेबल कान्फ्रेन्स, व्हाइट-पेपर, जॉइन्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट और नया इण्डिया-एक्ट।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि साम्राज्य की नीति के मामलो मे इंग्लैण्ड के अनुदार और मजदूर-दल में बहुत कम फर्क है। यह सच है कि सर्व-साधारण मजदूर-वर्ग कही अधिक आगे बढा हुआ है, लेकिन अपने अनुदार नेताओ पर उसका असर बहुत ही कम है। यह हो सकता है कि मजदूर

दल के उग्र विचारवाले ताकतवर हो जायं, क्योंकि आजकल परिस्थितियां बड़ी तेजी बदल रही है, लेकिन क्या दूसरी जगहों के नीति-परिवर्तन के इन्तजार में हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगतियां अपना प्रवाह बदल दें और सो जायें ?

हमारे देश के लिबरल दलवाले ब्रिटिश मजदूर दल पर जिस तरह भरोसा किये बैठे है, उसका एक अजीब पहलू है। अगर, इसी फरक से, यह मजदूर दल उस विचार का बन जाय और इंग्लैण्ड में अपने समाजवादी कार्यक्रम को अमल मे डाले, तो हिन्दुस्तान मे और यहां के लिबरल और दूसरे नरम दलो पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? इनमे के अधिकांश लोग सामाजिक दृष्टि से कट्टर पुराण-पन्थी है। वे मजदूर-दल के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनो को पसन्द न करेगे और भारत में उनके प्रचलित किये जाने से डरेगे। यहांतक सम्भव हो सकता है कि अगर सामाजिक क्रान्ति ब्रिटिश-सम्बन्ध का लक्षण हो जाय तो शायद इन लोगों की ब्रिटिश-भक्ति खत्म ही हो जाय। उस दशा में यह मुमकिन हो सकता है कि मुझ जैसे व्यक्ति जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद के हामी है,अपने विचार बदल दें और समाजवादी ब्रिटेन के साथ निकट सम्बन्ध रखना पसन्द करने लगे। बेशक हममें किसीको भी ब्रिटिश जनता के साथ सहयोग करने मे कोई आपत्ति नही है, यह उनका साम्राज्यवाद है, कि जिसके हम विरोधी है, साम्राज्यवाद को एकबारगी उन्होंने धता बतायी नही कि सहयोग का मार्ग खुला नहीं। उस समय नरम दलवालों क्या होगा ? शायद वे नयी व्यवस्था को, ईश्वर की अगाध बुद्धि का दूसरा सकेत समझकर, स्वीकार कर लेगे !

गोलमेज - परिषद् की कार्रवाई और सघ-शासन के विधान का एक खास नतीजा है देशी नरेशो को मैदान मे बहुत आगे ला देना। उनके और उनकी 'स्वतन्त्रता' के प्रति दिखाई गयी कट्टर अनुदारपन्थियों की शुभ-चिन्तना ने उनमे एक नया जोश भर दिया है। इससे पहले कभी उनको इतना महत्त्व नही दिया गया था। पहले उनकी मजाल नहीं थी कि वे ब्रिटिश रेजिडेण्ट के सकेत मात्र तक को नामंजूर करदें, और बहुतेरे

देशी नरेशो के प्रति भारत-सरकार का व्यवहार भी साफ ही अवहेलना-भरा था। उनके भीतरी मामलो मे दस्तदाजी होती रहती थी, जो अक्सर न्याय-सगत ही ठहरायी जाती थी। आज भी अधिकाश रियासते प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से 'उधार' दिये हुए अग्रेज-अफसरो द्वारा शासित हो रही है। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि श्री चर्चिल और लार्ड रॉदरमियर के आन्दोलन ने सरकार को कुछ घवरा-सा दिया है, और इसलिए वह उनके निर्णयों मे हस्तक्षेप करने मे फूँक-फूककर कदम रखने लगी है। देशी नरेश भी अव जरा कही अधिक अकड के साथ वात-चीत करने लगे है।

मैने भारतीय राजनैतिक क्षेत्रो की वाहरी घटनाओं को समझने की कोशिश की है, लेकिन मै अच्छी तरह जानता हूँ कि ये सव वाते कोई असली महत्त्व की नही है। और इन सवकी तह मे रहनेवाली भारत की स्थिति का खयाल मुझे परेशान कर रहा है। असलियत यह है कि हर तरह की स्वतत्रता का दमन हो रहा है, सव जगह घोर कष्ट और निराशा फैली हुई है, सद्भावना दूषित की जा रही है, और अनेक प्रकार की हीन वृत्तियो को प्रोत्साहन मिल रहा है। वहुत वडी सख्या मे लोग जेलो मे पडे है या अमूल्य यौवन नष्ट कर रहे है और वरसो से अपने जिगर का खून पी रहे है।[1] उनके परिवार, मित्र और सम्वन्धी और हजारो दूसरे लोगो मे कटुता वढती जा रही है और नगी पाशविकता के सामने अपनी

---

१. होम मेम्बर सर हेरी हेग ने २३ जुलाई १९३४ को वडी धारा-सभा में जेलो और स्पेशल केम्पो में बन्द नजरवन्दो की संख्या इस प्रकार बतलायी थी:—वंगाल में १५०० और १६०० के वीच, देवली में ५००, कुल २००० और २१०० के वीच। यह संख्या तो नजरबन्दो की है, जिनपर न तो मुकदमा चलाया गया न सजा दी गयी। इसमे दूसरे राजनैतिक कैदी शामिल नहीं है, जिन लोगो को सजा दी गयी है। आमतौर पर उनकी सजा बहुत अधिक है। एसोशिएटेड प्रेस के (१७ दिसम्बर १९३४) कथनानुसार कलकत्ता के हाल के एक मामले में हाईकोर्ट ने बिना लाइसेन्स हथियार और कारतूस रखने के अपराध में ९ वर्ष की कडी कैद

ज़लालत और बेवसी की कुत्सित भावना ने उन्हें घेर लिया है। साधारण समय मे भी अनेक संस्थाये गैरकानूनी क़रार दे दी गयी है और 'संकट काल के अधिकार' (इमर्जेन्सी पावर्स) और 'शान्ति रक्षा-विधान' (ट्रैंक्विलिटी एक्ट्स) सरकारी शस्त्रागार में क़रीब-करीब स्थायी रूप मे शामिल कर लिये गये है। स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाने के अपवाद दिन-दिन साधारण नियम से बनते जा रहे हैं। बहुत-सी पुस्तकें और पत्रिकाये या तो जब्त की जारही है या 'सी कस्टम्स एक्ट' के मातहत उनकी प्रवेशबंदी की जा रही है और 'भयंकर' साहित्य रखने के अपराध मे लम्बी-लम्बी सजाये दी जाती है। किसी राजनैतिक या आर्थिक प्रश्न पर निर्भीक सम्मति देना अथवा रूस की वर्तमान सामाजिक या सांस्कृतिक स्थिति की प्रशंसात्मक रिपोर्टें सेंसर की प्रबल नापसन्दगी का शिकार होती है। 'माडर्न रिव्यू' को बंगाल सरकार की ओर से महज इसी बात पर चेतावनी दे दी गयी है कि उसने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का रूस-सम्बन्धी लेख छापा था, वह लेख जो उन्होने स्वयं रूस जाकर आने के बाद लिखा था। भारत के उपमंत्री इस पर पार्लमेण्ट मे फरमाते है कि—"उस लेख मे, भारत मे ब्रिटिश राज्य की नियामतो का बिगड़ा रूप दिखाया गया था," इसलिए उसके खिलाफ कार्रवाई की गयी थी।[1] इन नियामतो के निर्णायक सेन्सर महोदय होते है, और हम उनके विरुद्ध मत नही रख

की सजा दी थी ! अभियुक्त के पास एक रिवाल्वर और छः कारतूस निकले थे।

इन्हीं दिनो (१९३५ के पिछले पखवाड़े में) नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाले कई कानूनो की मियाद और बढ़ा दी गयी। इनमें से मुख्य क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेंट एक्ट—सारे हिन्दुस्तान में लागू कर दिया गया है। असेम्बली ने इस कानून को ठुकरा दिया था; लेकिन बाद में वाइसराय नें अपने विशेषाधिकार इसे जायज कर दिया। दूसरे प्रान्तों में भी ऐसे ही कानून बनाये गये है।

१. १२ नवम्बर १९३४

सकते या जाहिर नहीं कर सकते। डब्लिन की सोसाइटी ऑफ फ्रेन्ड्स् के नाम भेजे गये श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सक्षिप्त वक्तव्य के प्रकाशन तक पर आपत्ति की गयी थी। केवल सांस्कृतिक विषयों मे रुचि रखने, और जान-बूझकर अपने को राजनीति से अलग रखनेवाले और न केवल हिन्दुस्तान वल्कि समस्त ससार मे सम्मानित और विख्यात श्री रवीन्द्र जैसे सन्त कवि तक को जब इस तरह दबाया जाता है, तब विचारे असहाय जन-साधारण का तो कहना ही क्या ? सरकार ने आतक का जो वातावरण बना रखा है वह तो दमन के इन वास्तविक नमूनों से भी कही ज्यादा बदतर है। निष्पक्ष पत्र-सञ्चालन ऐसी परिस्थिति मे असम्भव है,[१] न इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति या मौजूदा समस्याओं का ही ठीक-ठीक अध्ययन हो सकता है। सुधार, उत्तरदायी शासन और ऐसी ही बातो की शुरुआत करने के लिए यह एक बडा विचित्र वातावरण बनाया गया है।

हरेक अक्लमन्द आदमी जानता है कि ससार इस समय एक विचार-क्रान्ति के बीच में है, और हमेशा मौजूदा परिस्थितियों के प्रति, अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से महसूस होनेवाला घोर असन्तोष फैल रहा है। हमारे देखते-ही-देखते बडे महत्त्व के परिवर्तन हो रहे हैं, और भविष्य, चाहे उसका रूप कुछ भी हो, बहुत दूर नही है—वह कोई ऐसी दूर की चीज़ नहीं है, जो मस्तिष्क मे निरी शास्त्रीय दिलचस्पी पैदा करता हो। यह एक ऐसी वस्तु है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति के हित अथवा अहित से सम्बन्ध होगा,

---

१. ४ सितम्बर १९३५ को असेम्बली में हिन्दुस्तान में प्रेस-एक्ट के प्रयोग के सम्बन्ध में सरकारी वक्तव्य दिया गया था। उसमें बताया गया था कि सन् १९३० के बाद ५१४ समाचार पत्रो पर जमानत और जब्ती आदि लगायी गयी थी। इनमें से २४८ पत्र बन्दकर देने पडे, क्योंकि वे और अधिक जमानत की रकम का इन्तजाम न कर सके; बाकी के १६६ पत्रो ने जमानत दे दी, जो २,५२,८५३ रुपये की रकम थी !

इसलिए निश्चय ही प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि आज जो विभिन्न शक्तियाँ काम कर रही हैं उन्हें वह समझे और अपना कर्तव्य-पथ निश्चित करे, पुरानी दुनिया खत्म होने जा रही है और एक नये संसार का निर्माण हो रहा है। किसी समस्या का जवाब ढूंढने के लिए यह जरूरी है कि पहले यह जान लिया जाय कि वह है क्या? निस्सन्देह समस्या का समझना उतना ही महत्त्व रखता है, जितना कि उसका हल निकालना।

अफसोस है कि हमारे राजनीतिज्ञ दुनिया की समस्याओं से आश्चर्य-जनक रूप से अनजान हैं, या उनके प्रति उदासीन हैं। सम्भवत यह अज्ञान अधिकांश सरकारी अफसरों तक बढ़ा हुआ है, क्योंकि सिविल-सर्विस वाले बड़े मजे और सन्तोष के साथ अपने ही छोटे-से सँकड़े दायरे मे रहना पसन्द करते हैं। केवल सर्वोच्च अधिकारियों को ही इन समस्याओं पर विचार करना पड़ता है। ब्रिटिश सरकार को तो अवश्य ही लिखी हुई घटनाओं का ध्यान रखना पड़ता है और उन्हींके अनुसार अपनी नीति तय करनी पड़ती है। यह दुनिया जानती है कि ब्रिटिश वैदेशिक नीति पर हिन्दुस्तान के आधिपत्य और उसकी रक्षा का बहुत बड़ा प्रभाव रहता है। भला कितने भारतीय राजनीतिज्ञ यह विचारने की तकलीफ गवारा करते हैं कि जापान के साम्राज्यवाद, या रूस के सोवियट-संघ की बढ़ती हुई ताकत, या स्यागकियाग मे होनेवाले ब्रिटिश-रूस-जापानी षड्यन्त्र अथवा मध्य-एशिया या अफगानिस्तान या फारस की घटनाओं का हिन्दुस्तान की राजनैतिक समस्या के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है? मध्य-एशिया की स्थिति का प्रत्यक्ष परिणाम काश्मीर पर पड़ता है, इसलिए वह ब्रिटिश सरकार की साधारण और रक्षण-नीति का आधार-स्तम्भ बन गयी है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व के हैं वे आर्थिक परिवर्तन, जो आज सारे संसार मे हो रहे हैं। हमें जान लेना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी का तौर-तरीका गुजर चुका है और वर्तमान आवश्यकतायें उसके जरिये पूरी नहीं की जा सकती। वकीलों का नजीरें दे-देकर शुरू करने का तरीका, हिन्दुस्तान मे इतना अधिक प्रचलित है, जो अब, जब कि

यहाँ नज़ीरें नहीं रही है, कुछ काम का नहीं रहा। बैलगाड़ी को रेल की पटरी पर रखकर उसे रेलगाडी नहीं कहा जा सकता। इसको बेकार समझकर छोड देना होगा, और इसकी जगह दूसरे को देनी होगी, रूस के अलावा और जगह भी 'नवीन योजनाओं' और महान् परिवर्तनों की चर्चायें हो रही हैं। सब प्रकार से पूँजीवादी प्रणाली को कायम रखने और मज़बूत करने की दिली इच्छा में प्रेसीडेण्ट रूज़वेल्ट ने अत्यन्त साहस-भरी ऐसी योजनाये प्रचलित की है, जिससे अमेरिका का सारा जीवन ही बदल सकता है। उसने बहुत बड़े-बड़े ख़ास अधिकार पाये हुए वर्ग को उखाड फेंकने और पददलित निम्न वर्ग को सक्रिय रूप से उन्नत बनाने की" घोषणा की है। वह सफल हो या न हो, यह बात दूसरी है, लेकिन उस व्यक्ति का साहस और अपने देश को पुरानी लीक से बाहर खींच निकालने की उसकी महत्त्वाकाक्षा अवर्णनीय है। अपनी नीति बदलने या अपनी भूलों को स्वीकार करने में भी वह नहीं हिचकिचाता। इंग्लैण्ड में श्री लॉयड जार्ज अपना 'न्यू डील' (नयी योजना) लेकर सामने आये हैं। हम भारत में भी कई नयी योजनाये चाहते हैं। यह पुरानी धारणा कि 'जो कुछ जानने लायक है, वह सब जान लिया गया है, और जो कुछ करने लायक है, वह सब कुछ किया जा चुका है" एक ख़तरनाक बेवकूफी है।

हमें बहुत-सी समस्याओं का सामना करना है और वह हमें बहादुरी के साथ करना चाहिए। क्या आज की सामाजिक और आर्थिक प्रणाली को जिन्दा रहने का कोई अधिकार है जब कि वह जन-साधारण की अवस्था में अधिकतर तरक्की करने मे असमर्थ है? क्या कोई दूसरी प्रणाली इस प्रकार व्यापक प्रगति का आश्वासन देती है? केवल राजनैतिक परिवर्तन से किस हद तक क्रान्तिकारी प्रगति हो सकती है? अगर किसी प्रमुख आवश्यक परिवर्तन के रास्ते में स्थापित स्वार्थवाले बाधक हो तो क्या यह बुद्धिमानी और नैतिकता होगी कि जन-समूह की दुःख-दरिद्रता की कीमत पर उनको कायम रखने का प्रयत्न किया जाय? अवश्य ही उद्देश्य स्थापित स्वार्थों को आघात पहुँचाना नहीं है, बल्कि उनको दूसरे लोगों पर आघार करने से रोकना

है। इन स्थापित स्वार्थों से समझौता हो सकना मुमकिन हो सकता हो, तो वह कर लेना अत्यन्त वाञ्छनीय होगा। लोग भले ही उसकी भलाई-बुराई के सम्बन्ध में मतभेद रक्खें, लेकिन समझौते की सामाजिक उपयोगिता में बहुत कम सन्देह होगा। साफ है कि यह समझौता उस प्रकार नहीं हो सकता कि एक नया स्थापित स्वार्थ कायम करके दूसरे स्थापित हित को हटाया जाय। जब कभी भी मुमकिन और जरूरी हो, समझौते के लिए उपयुक्त मुआवजा दिया जा सकता है, क्योंकि झगड़े से ज्यादा नुकसान होने की सम्भावना है। मगर, अफसोस है, कि सारा इतिहास यह बताता है कि स्थापित हितवाले ऐसे मजूर नहीं करते। वे वर्ग, जो कि समाज के प्रमुख अंग नहीं रह गये हैं, काफी विवेकशून्य होते हैं। वे सब कुछ या न कुछ के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं और इस तरह अपना खात्मा कर लेते हैं।

जब्ती आदि के बारे में बहुत-सी 'ऊलजलूल चर्चा' (जैसाकि कांग्रेस कार्य-समिति ने अपने एक प्रस्ताव में कहा था) हो रही है। लेकिन जब्ती—मुस्तकिल और निरन्तर जब्ती, तो मौजूदा प्रणाली का आधार है, और इसका अन्त करने के लिए ही सामाजिक क्रान्ति की बात कही जा रही है। हर रोज मजदूरों के गाढ़े पसीने की कमाई जब्त की जा रही है, और इस हदतक लगान और मालगुजारी बढ़ाकर कि किसान उसे अदा करने में असमर्थ हो जायँ, उसकी जोत जब्त कर ली जाती है। पहले कुछ व्यक्तियों ने सार्वजनिक भूमि पर कब्जा कर लिया और उससे बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ बनाली, इस तरह भू-स्वामी किसान भी उखाड़ फेंके गये। साराश यह कि जब्ती ही मौजूदा प्रणाली का आधार है, वही उसका प्राण है।

इसको कुछ हदतक सुधारने के लिए समाज कुछ सामयिक उपाय काम में लाता है, जो स्वयं ही जब्ती के रूपक हैं, जैसे भारी टैक्स, विरासत-कर, कर्ज से छुटकारा दिलाने का कानून, मुद्रा-वृद्धि आदि। हाल ही में हमने राष्ट्रों को अपरिमित कर्ज की अदायगी से इन्कार करते देखा है; केवल रूस का सोवियट संघ ही नहीं, वरन् अग्रणी

पूँजीपति राष्ट्र तक इन्कार कर गये है। सबसे अधिक उज्ज्वल उदाहरण ब्रिटिश सरकार का है, जिसने सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का कर्ज अदा करने से इन्कार कर दिया है—खुद अग्रेजों द्वारा हिन्दुस्तान के सामने रखा गया एक भयकर उदाहरण ! लेकिन इन सब जब्तियों से और कर्जो को इस तरह रद्द कर देने से, सिर्फ कुछ हद तक ही मदद मिलती है, आधारभूत कारणो से छुटकारा नही मिलता। नये निर्माण के लिए तो जड़ पर कुठाराघात करना होगा।

मौजूदा हालत बदलने का उपाय निश्चित करते समय हमे भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता का अन्दाजा करना होगा। बहुत सकुचित दृष्टि बनाये रखने से हमारा काम चल नही सकता—हमे दूरदर्शी बनना होगा। हमे देखना होगा कि इस परिवर्तन से, भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टियो से मनुष्य को सुख-समृद्धि की वृद्धि मे कहाँतक सहायता मिलेगी। लेकिन हमें इस बात का भी सदा ध्यान रखना होगा कि मौजूदा व्यवस्था को न बदलकर हमारे निराशामय और कुत्सित भुखमरी और गरीबी और आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन के गहन भार सहित उसे ज्यो-का-त्यो चलते रहने देने के लिए, हमें कितनी जबरदस्त कीमत चुकानी पड़ती है। हमेशा बहनेवाली प्रलय की बाढ की तरह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था अगणित मानव प्राणियो को लगातार कुचलती हुई तबाही की ओर लिये जा रही है। हम इस जल-प्रलयकारी बाढ को रोक नही सकते या हममे से कुछ लोग बालटी से पानी उलीच-उलीचकर इन प्राणियो को बचा नही सकते। बाँध बनवाने होगे, नहरे निकालनी होगी, जल की नाशक शक्ति को बदलना और मनुष्य की भलाई के लिए उसका प्रयोग करना होगा।

यह साफ है कि समाजवाद जो महान् परिवर्तन लाना चाहता है, वह कुछ कानूनों के सहसा पार कर लेने मात्र से नहीं हो सकता। लेकिन और आगे बढने और इमारत की नींव रखने के लिए कानून बनाने की मूल सत्ता का हाथ मे होना जरूरी है। अगर समाजवादी समाज का महान् निर्माण करना है तब तो वह न तो भाग्य के भरोसे पर छोडा जा

सकता है, न रुक-रुककर। जितना कुछ बनाया गया है उसे तोड़ने का अवसर देते हुए, काम करने से वह पूरा हो सकता है। इस तरह प्रमुख रुकावटों को हटाना होगा। हमारा उद्देश्य किसीको वञ्चित करना नहीं, वरन सम्पन्न करना है, वर्त्तमान दरिद्रता को सम्पन्नता में बदल देना है। लेकिन ऐसा करने के लिए रास्ते में से उन रुकावटों और स्वार्थों को जोकि समाज को पीछे रखना चाहते हैं, जरूर ही हटाना होगा। और जो रास्ता हम अख्तियार कर रहे हैं, वह सिर्फ इस प्रश्न पर निर्भर नहीं है कि हम क्या पसन्द करते हैं या क्या पसन्द नहीं करते, अथवा न केवल सैद्धान्तिक न्याय पर ही, बल्कि इस बात पर निर्भर होगा कि वह आर्थिक दृष्टि से ठीक हो, उन्नति की तरफ ले जा सकने योग्य हो और जिससे ज्यादा-से-ज्यादा जन-समाज का कल्याण हो सके।

हितो अथवा स्वार्थों का सघर्ष अनिवार्य है। कोई बीच का रास्ता नहीं है। हममें से हरेक को अपना रास्ता चुनना होगा। लेकिन चुनने से पहले हमें उसे जानना होगा, समझना होगा। समाजवाद की भावुकता-पूर्ण अपील से काम नहीं चलेगा। सच्ची घटनाओं या दलीलों और ब्योरेवार आलोचना के साथ विवेक और युक्तिपूर्ण आग्रह भी होना चाहिए। पश्चिम में तो इस तरह का साहित्य बहुतायत में मौजूद है, लेकिन भारत में उसका भयकर अभाव है, और बहुत-सी अच्छी-अच्छी किताबो का यहाँ आना रोक दिया गया है। लेकिन विदेशो की पुस्तको का पढना ही काफी नहीं है। अगर भारत में समाजवाद की रचना होनी है, तो वह भारतीय परिस्थितियों के आधार पर ही होगा और इसके लिए उनका बारीकी से अध्ययन होना आवश्यक है। हमें उसके लिए ऐसे विशेषज्ञो की जरूरत है, जो गहरे अध्ययन के बाद एक सर्वांगीण योजना तैयार कर सकें। बदकिस्मती से हमारे विशेषज्ञ अधिकाश में सरकारी नौकरियों में या अर्द्ध सरकारी यूनिवर्सिटियों में फँसे हुए हैं, और वे इस दशा में आगे बढने का साहस नहीं कर सकते।

समाजवाद की स्थापना करने के लिए केवल बौद्धिक वातावरण ही काफी नहीं है। दूसरी शक्तियाँ भी आवश्यक है। लेकिन मैं यह जरूर

महसूस करता हूँ कि बिना उस आधार के किसी हालत में भी हम विषय का मर्म नहीं समझ सकते, और न कोई जोरदार हलचल ही पैदा कर सकते हैं। इस वक्त तो खेती की समस्या हिन्दुस्तान की सबसे अधिक महत्त्व की समस्या है, और शायद भविष्य में भी ऐसी ही रहे। किन्तु औद्योगिक समस्या भी कम महत्त्व की नहीं है और वह बढ़ती ही जा रही है। हमारा लक्ष्य क्या है—कृषि-प्रधान राष्ट्र या उद्योग-प्रधान राष्ट्र? अवश्य ही मुख्यतः तो हमें कृषि-प्रधान ही रहना होगा लेकिन उद्योग की ओर भी आगे बढ़ा जा सकता है, और मैं समझता हूँ, अवश्य बढ़ना चाहिए।

हमारे उद्योग-धन्धों के मालिक लोग अपने विचारों में आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए हैं; वे आधुनिक दुनिया के 'अप-टू-डेट' पूंजीपति भी नहीं हैं। साधारण लोग इतने गरीब हैं कि वे उनको पक्का ग्राहक नहीं मानते, और मजदूरी की बढ़ती और काम के घण्टों की कमी करने की किसी भी माँग का वे जबरदस्त विरोध करते हैं। इन्हीं दिनों कपड़े की मिलों में काम का समय दस घण्टे से घटाकर नौ घण्टे कर दिया गया है। इसपर अहमदाबाद के मिल-मालिकों ने मजदूरों की—फुटकरिये मजदूरों तक की मजदूरी घटा दी है। इस तरह काम के घण्टों की कमी का अर्थ हुआ बेचारे मजदूर की आमदनी की कमी और उसके जीवन के रहन-सहन का और भी नीचा स्टैण्डर्ड। लेकिन रेशनलाइजेशन (अर्थात् औद्योगिक एकीकरण[1]) मजदूर की उचित मजदूरी बढ़ाये बिना ही, उस पर काम का भार और उसकी थकान बढ़ाता हुआ, तेजी से बढ़ता जा रहा है। सब उद्योगवादियों का दृष्टिकोण उन्नीसवीं सदी के शुरू जमाने का-सा है। जब मौका आता है, वे अनाप-शनाप लाभ उठाते हैं, और मजदूर वैसे-का-वैसा बना रहता है, लेकिन अगर कोई आफत आ जाती है, तो मालिक लोग यह शिकायत करने लगते हैं कि मजदूरी घटाये बिना

---

१. उत्पादकों, मजदूरों आदि के सहयोग से उद्योग की वह व्यवस्था जिसमें उत्पत्ति और विक्रय का अनुपात कायम रहता है। —अनु०

काम नही चल सकता। उनको सरकार की तो मदद ही है, हमारे मध्यम-श्रेणी के राजनीतिज्ञो की सहानुभूति भी आमतौर पर उन्हींकी ओर है। इतने पर भी अहमदाबाद मे सूती मिलो के मजदूरों की हालत बम्बई या दूसरी जगह के बनिस्बत कही अधिक अच्छी है। आमतौर पर सभी सूती मिल मजदूरों की हालत बगाल के जूट मिलो और कोयले की खानों के मजदूरो से अच्छी है। छोटे-छोटे, असगठित उद्योग-धन्धो के मजदूर औद्योगिक परिणाम मे सबसे नीचे दर्जे के है। कपडे और जूट के करोड़-पति मालिको के गगनचुम्बी प्रासादों और विलासी जीवन और शान-शौकत की अगर अध-नगे मजदूरो के रहने की काल-कोठरियो मे तुलना की जाय तो उससे गहरी शिक्षा मिल सकती है। लेकिन हम इस अन्तर को स्वभाविक मान लेते है और उससे किसी प्रकार विचलित या प्रभावित हुए विना उसको टाल देते है।

हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग की हालत बहुत खराब है, लेकिन आर्थिक दृष्टि से वह किसान-समुदाय की हालत से कही अच्छी है। किसान-समुदाय को एक लाभ जरूर है, वह यह कि वह खुली हवा मे रहता है और गन्दी बस्तियों के पतित जीवन से बच जाता है। लेकिन उसकी हालत इतनी गिर गयी है कि, वह अक्सर अपने स्वच्छ वायुमण्डल वाले गाँव को भी, गाँधीजी के शब्दो मे, गोबर का ढेर बना डालता है। उसमे सहयोग से या मिलकर सामाजिक हित का काम करने की भावना ही नही होती। इसके लिए उसकी निन्दा करना आसान है, लेकिन वह बेचारा करे भी तो क्या, जबकि जीवन खुद ही इसके लिए एक अत्यन्त कटु और लगातार व्यक्तिगत सघर्ष का विषय बन गया है और हरएक आदमी उसपर प्रहार करने के लिए हाथ उठाये खडा है? किस तरह वह अपनी जिन्दगी बिता रहा है, यही बडे भारी अचम्भे की बात है। देखा गया है कि सन् १९२८–२९ मे पजाब के ठेठ किसान की औसत आमदनी नौ आना थी। लेकिन १९३०–३१ मे वह गिरकर तीन पैसे प्रति व्यक्ति होगयी! पजाब के किसान युक्तप्रान्त, बिहार और बगाल के किसानो की अपेक्षा कही अधिक खुशहाल माने जाते है। युक्तप्रान्त के कुछ पूर्वी

जिलो (गोरखपुर वगैरा) मे, मन्दी आने से पहले समृद्धि के दिनो मे मजदूरी दो आने रोज थी। मानव-प्रेम या ग्रामोन्नति के स्थानीय प्रयत्नो द्वारा इस दर्दनाक हालत को उन्नत करने की बाते करना बेचारे किसान और उसकी बेबसी का मजाक उडाना है।

हम इस दलदल से किस तरह निकल सकते है ? ऐसी गिरी हुई हालत से जन-समूह को उठाना कठिन तो ज़रूर है, लेकिन उसका कुछ उपाय तो सोचना ही होगा। लेकिन असली दिक्कत तो उस स्वार्थी समुदाय की तरफ से आती है, जो तबदीली के खिलाफ है, और साम्राज्यवादी सत्ता की अधीनता मे रहते हुए तबदीली का हो सकना अनहोना-सा मालूम होता है। अगले वर्षो मे भारत क्या रुख अख्तियार करेगा ? समाजवाद और फासिज्म इस युग की प्रधान वृत्तियाँ मालूम होती है, और मध्यममार्ग तथा ढिलमिल-यकीन समुदाय गायब होते जा रहे है। सर मालकम हेली ने भविष्यवाणी की थी कि हिन्दुस्तान राष्ट्रीय-समाजवाद को ग्रहण करेगा जो एक प्रकार का फेसिस्म ही है। निकट भविष्य के लिहाज से तो शायद उनका कहना ठीक ही है। देश के नवयुवक और युवतियो मे फासिस्ट भावना साफ ज़ाहिर है—खासकर बगाल मे और किसी हद तक दूसरे प्रान्तो मे भी, और काग्रेस मे भी उसकी झलक आने लगी है। फासिज्म का सम्बन्ध उग्र रूप की हिंसा से होने के कारण काग्रेस के बडे-बूढे, जिन्होने अहिंसा का व्रत ले रक्खा है, स्वभावत ही उससे डरते है। लेकिन फासिज्म का, कार्पोरेट स्टेट का,-यह कथित तात्त्विक आधार कि व्यक्तिगत सम्पत्ति कायम रहे और स्थापित स्वार्थो का लोप न होकर राज्य का उनपर नियन्त्रण रहे, -शायद उन्हे पसन्द आ जायगा। शुरू मे ही देखने पर यह तो बड़ा सुन्दर ढग मालूम होता है, जिससे कि पुराना तरीका बना भी रहे और नया भी मालूम हो। रोटी खा भी लो और उसे बनाये भी रखो, ये दोनो बाते एकसाथ मुमकिन भी है या नही, यह बात दूसरी है।

फासिज्म को अगर सचमुच प्रोत्साहन मिला, तो वह मिलेगा मध्यम-श्रेणी के नवयुवको से। वस्तुत. इस समय हिन्दुस्तान मे जो क्रान्तिकारी-

है वह मध्यम-श्रेणी का ही भाग है, मजदूर या किसान-वर्ग का उतना नही, हालांकि कल-कारखानो के मजदूर-वर्ग मे उनकी सम्भावना अधिक है। यह राष्ट्रवादी मध्यम-श्रेणी फासिस्ट विचारो के प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र है। किन्तु जबतक विदेशी सरकार बनी हुई है, यूरप के ढँग का फासिज्म यहाँ नही चल सकेगा। भारतीय फासिज्म भारतीय स्वतन्त्रता का अवश्य ही हामी होगा, और इसलिए ब्रिटिश साम्राज्य-वादिता से वह अपने को मिला न सकेगा। इसे जन-साधारण से सहायता लेनी पडेगी। यदि ब्रिटिश-सत्ता सर्वथा उठ जाय तो फैसिज्म बडी तेजी से बढेगा, क्योकि मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग तथा स्थापित स्वार्थों से इसे सहायता अवश्य मिलेगी।

लेकिन ब्रिटिश सत्ता के जल्दी उठ जाने की सम्भावना नही है, और इस बीच सरकार के उग्र दमन के बाद भी समाजवादी और कम्यूनिस्ट विचारो का जोरो से प्रचार हो रहा है। भारत मे कम्यूनिस्ट पार्टी (साम्यवादी संस्था) गैरकानूनी करार दे दी गयी है, और साम्यवादी शब्द का इतना लचीला अर्थ लगाया जाता है कि उससे सहानुभूति रखने-वाले और बढे-चढे प्रोग्रामवाले मजदूर-सघो तक को शामिल कर लिया जाता है।

फासिज्म और साम्यवाद, इन दोनो मे से मेरी सहानुभूति बिलकुल साम्यवाद की ओर है। इस पुस्तक के इन्ही पृष्ठो से मालूम हो जायगा कि मैं साम्यवादी होने से बहुत दूर हूँ। मेरे सस्कार शायद एक हद तक अब भी उन्नीसवी सदी के है और मानववाद[1] की उदार-परंपरा का मुझपर इतना ज्यादा प्रभाव पडा है कि मै उससे बिलकुल बचकर निकल नही

---

१. मानववाद (Humanism) वह विचारधारा अथवा कार्य-पद्धति है जिसमें अधिक दैवी अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा मानव हित को अपना-अपना मुख्य दृष्टिकोण माना जाता है। अर्थात् इस इस मत के अनुसार मनुष्य-प्राणी के हिताहित पर ही सब वस्तुओ की उपयोगिता-अनुपयोगिता नापी जानी चाहिए। —अनु०

सकता। यह मध्यमवर्गीय सस्कार मेरे साथ लगे रहते है और इस-लिए स्वभाव से ही बहुत-से साम्यवादी मित्र मुझसे चिढे रहते है। कट्टरता को तो मै नापसन्द करता हूँ, और कार्ल मार्क्स के लेख या और किसी दूसरी पुस्तक को ईश्वरीय वाक्य समझना, जिनको कि चेलेञ्ज न किया जा सके, और सैनिक अन्धानुकरण और अपने मत के विरोधियो के खिलाफ जिहाद करना, जो कि आज के साम्यवाद के प्रधान लक्षण से बन गये है, मुझे पसन्द नही है।

मूल्यो के सिद्धान्त (Theory of Value) या दूसरी किन्ही बातों मे मार्क्स का विवेचन गलत हो सकता है, मै उसका निर्णय करने के लिए उपयुक्त नही हूँ, फिर भी मै समझता हूँ कि समाज विज्ञान मे उसकी एक असाधारण और अत्यन्त गहन गति थी और प्रत्यक्ष मे इसका कारण था वह वैज्ञानिक शैली जो उसने अख्तियार की थी। अगर इस शैली के अनुसार पूर्व इतिहास या वर्त्तमान घटनाओ का अध्ययन किया जाय तो अन्य किसी भी प्राप्त शैली की अपेक्षा वह जल्दी हो सकेगा, और यही कारण है कि आधुनिक जगत् मे होनेवाले परिवर्त्तनो का जो आलोच-नात्मक और शिक्षाप्रद विवेचन हो रहा है, वह मार्क्स-मतानुयायी लेखकों की ओर से ही हो रहा है। यह कहना आसान है कि मार्क्स ने, मध्यम-वर्ग मे होनेवाली क्रान्तिकारी भावनाओ की जाग्रति, जो आज इतनी प्रत्यक्ष है, और ऐसी ही कुछ दूसरी प्रवृत्तियो की उपेक्षा की अथवा उनका महत्त्व आँका है। लेकिन मार्क्सवाद की सबसे बड़ी विशेषता जो मुझे मालूम होती है, वह है उसमे कट्टरता का अभाव होना, निश्चित दृष्टिकोण पर आग्रह रखना और उसकी क्रियाशीलता। यह दृष्टिकोण हमे अपने समय के समाज-सगठन को समझने मे सहायता कर सकता है और काम करने का तरीका और बाधाओं से बचने का उपाय बता सकता है।

लेकिन कार्य का वह तरीका भी स्थायी अथवा न बदला जा सकने-वाला नही है, बल्कि उसे स्थिति के अनुकूल बनाया जा सकता है। कम-से-कम लेनिन की यही राय थी और उसने बदलती हुई परिस्थितियो के

अनुसार काम करके बुद्धिमत्तापूर्वक उसे साबित भी कर दिया। वह हमसे कहता है कि "किसी ख़ास अवसर की वास्तविक परिस्थिति का, विकास की एक विशेष सीमा तक पहुँच जाने पर, विस्तृत रूप से विचार किये बिना, किसी सघर्ष के निश्चित साधनो के प्रश्न पर 'हाँ' या 'ना' कहदेना मार्क्स-पद्धति का बिलकुल उल्लघन करना है।" उसने फिर कहा है—"दुनिया मे कोई भी पूर्ण नही है, परिस्थितियो से हमें शिक्षा लेनी होगी।"

इस विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही एक सच्चा समझदार साम्यवादी व्यक्ति, एक हद तक सामाजिक जीवन की सजीव भावना जगाता है। राजनीति उसके लिए तात्कालिक हानि-लाभ का लेखा या अँधेरे मे टटोलने की चीज नही रह जाती। जिन आदर्शों और लक्ष्यो को पूरा करने के लिए वह प्रयत्न करता है, वे उसके लिए परिश्रम और उसके प्रसन्नतापूर्वक किये हुए बलिदान को सार्थक और सफल बनाते है। वह समझता है कि वह उस महान् सेना का एक अग है जो मनुष्य-जाति का भाग्य और उसका भविष्य रचने के लिए आगे बढ रही है, और 'इतिहास के साथ कदम-ब-कदम चलने' की उसमें बुद्धि है।

शायद अधिकाश कम्यूनिस्ट इन सब बातो को नही समझते। शायद लेनिन ही ऐसा शख्स था जो जीवन की इस सजीव भावना को पूरी तरह समझता था, जिसने कि उसके प्रयत्नो को इतना कारगर बनाया, फिर, भी कुछ हद तक, हरेक कम्यूनिस्ट, जो उसके आन्दोलन के तत्त्व को समझ सका है, इन बातो को जानता है।

बहुत-से कम्यूनिस्टो के साथ सब्र के साथ पेश आ सकना बहुत मुश्किल है, उन्होने दूसरों को चिढा देने का अजीब ढग अख्तियार कर लिया है। लेकिन वे भी बुरी तरह सताये हुए आदमी है, और रूस के सोवियट-सघ के बाहर, उन्हे अनगिनती कठिनाइयो का मुकाबिला करना पडता है। मैने इनके महान् साहस और बलिदान की शक्ति को हमेशा सराहा है। करोडो अभागो की तरह वे भी अनेक प्रकार से बहुत मुसीबते उठाते है, लेकिन किसी क्रूर और सर्वशक्तिसम्पन्न भाग्य मे अन्ध-श्रद्धा

रखकर नही। मर्दों की तरह वे मुसीबतो का सामना करते हैं, और उनके इस मुसीबत बरदाश्त करने मे एक करुण गौरव रहता है।

रूस के समाजवादी प्रयोगो की सफलता-असफलता का मार्क्स के सिद्धान्तो पर कोई जाहिरा असर नही पड़ता। यह हो सकता है, हालाँकि इसकी अधिक सम्भावना नही है, कि प्रतिकूल परिस्थितियो या राष्ट्र-शक्तियो का इकट्ठा हो जाना उन प्रयोगो को तहस-नहस कर डाले। लेकिन उस महान् सामाजिक उथल-पुथल का महत्त्व फिर भी बना ही रहेगा। वहाँ अधिकतर जो-कुछ भी हुआ, उसके प्रति मेरी स्वाभाविक अरुचि होते हुए भी मैं यह समझता हूँ कि वह ससार के लिए ज्यादा-से-ज्यादा आशा का सदेश देता है। मुझे रूस का पूरा ज्ञान नही है, और न मैं अपने आपको उसके कार्यो का उपयुक्त निर्णायक ही समझता हूँ। मेरा अन्देशा तो यह है कि अत्यधिक हिंसा और दमन का वातावरण उनके पीछे कही ऐसी भयकर लीक न छोड जाय, जिससे उनका पीछा छुडाना मुश्किल होजाय। लेकिन सबसे बडी बात जो रूस के वर्तमान भाग्य-विधाताओ के पक्ष मे कही जा सकती है, वह यह है कि वे लोग अपनी भूलो से शिक्षा ग्रहण करने मे नही हिचकते। वे अपना कदम पीछे ले सकते हैं, और फिर नये सिरे से शुरू कर सकते है। अपने आदर्श को वे हमेशा अपने सामने रखते हैं। कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल—अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सघ—द्वारा दूसरे देशों मे उठायी गयी उनकी प्रगतियाँ नितान्त असफल रही हैं, और अब तो वैसी प्रगतियाँ घटते-घटते कम-से-कम रह गयी।

और फिर हिन्दुस्तान मे तो कम्यूनिज्म और समाजवाद अभी दूर की बात है, बशर्ते बाहर की घटनाये ही उसे कदम आगे बढ़ाने को विवश न कर दें। हमे अपने यहाँ कम्यूनिज्म का सामना नही करना है, बल्कि उससे बढकर सम्प्रदायवाद का करना है। साम्प्रदायिकता की दृष्टि से हिन्दुस्तान एक गहरे अन्धकार मे है। प्रभावशाली लोग निकम्मी बातो, साज़िशो और हथकण्डो के फैलाने में यहाँ अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हैं और इनमे एक-दूसरे को मात देने की कोशिश कर रहे है। उसमे से विरले ही ऐसे होगे जो दुनिया को ऊँचा उठाने और अधिक उज्ज्वल

बनाने के प्रयत्न में दिलचस्पी रखते हैं। लेकिन शायद यह तो एक अस्थायी हालत है, जो कि शीघ्र ही मिट जायगी।

कम-से-कम कांग्रेस इस साम्प्रदायिक अन्धकार से ज्यादातर दूर ही है, लेकिन उसका दृष्टिकोण निम्न वुर्जुआ-जैसा है, और इसके, तथा दूसरी समस्याओ के लिए जो उपाय वह सोचती है, वे भी निम्न वुर्जुआई ढंग के-से ही हैं। मगर इस ढंग से उसका सफल हो सकना मुमकिन नहीं मालूम होता। वह आज इस निम्न मध्यम-श्रेणी की प्रतिनिधि है, क्योंकि इस समय इसीकी आवाज़ बुलन्द है और यही सबसे अधिक क्रान्तिकारी है। लेकिन फिर भी वह इतनी ताकतवर नहीं है, जितनी कि वह दिखाई देती है। वह दोनो ओर—एक सबल और सुरक्षित और दूसरी अब भी कमज़ोर लेकिन बढती हुई—दो शक्तियो से दबाई जा रही है। इस समय वह अपने अस्तित्व के खतरे मे से गुज़र रही है, भविष्य मे उसका क्या होगा, यह कह सकना कठिन है। जबतक वह अपने महान् उद्देश राष्ट्र की आजादी, को हासिल नही कर लेती, तबतक वह उन सुरक्षित शक्तियो की ओर जा नहीं सकती। लेकिन इसके पहले कि वह इसमे सफलता हासिल करे यह मुमकिन है कि दूसरी शक्तियाँ ज़ोर पकड़ लें और उसे अपनी ओर खिचने के लिए प्रभावित कर लें या धीरे-धीरे उसकी जगह लेले। लेकिन, यह सम्भव मालूम होता है कि जबतक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बहुत कुछ अशो मे प्राप्त नही हो जाती, तबतक कांग्रेस एक मुख्य शक्ति बनी रहेगी।

कोई भी हिंसाजनक प्रवृत्ति अनावश्यक, हानिकर और शक्ति की बरबादी मालूम होती है। मेरा खयाल है कि असफल और इक्की-दुक्की हिंसा के कुछ उदाहरणो के होते हुए भी हिन्दुस्तान ने आम तौर पर इस प्रवृत्ति की निरर्थकता को समझ लिया है। वह रास्ता हमें हिंसा और प्रतिहिंसा की निराश भूल-भुलैयाँ मे डालने के सिवा, जिससे कि निकल सकना मुश्किल होगा, और कही नही ले जा सकता।

हमसे अक्सर यह कहा जाता है कि हमको आपस मे एक सूत्र मे बँध जाना चाहिए और सबको 'मिलकर मुकाबिला' करना चाहिए।

श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी सारी काव्यमयी भावुकता के साथ इसका ज़ोरों से प्रचार करती हैं। वह कवयित्री हैं, इसलिए प्रेम और एकता के महत्त्व पर ज़ोर देने का उन्हें अधिकार है। इसमें शक नहीं कि 'संयुक्त मुकाविला' हमेशा ही वाञ्छनीय वस्तु है, बशर्ते कि वह मुकाबिला हो। इस वाक्य की छानबीन की जाय तो उससे इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि जो कुछ चाहा जाता है वह है भिन्न-भिन्न वर्गों के चोटी के व्यक्तियों का पारस्परिक शर्तनामा या समझौता। ऐसे मजमूए का लाजिमी नतीजा यह होगा कि अत्यंत शकाशील और नरम लोग लक्ष्य का निर्णय और पथ-प्रदर्शन करेंगे। जैसाकि सबको पता है, उनमें से कुछ लोग हर तरह के आन्दोलन को नापसन्द करते हैं, इसलिए नतीजा होगा 'संयुक्त अवरोध' अर्थात् सब हलचलों का रुक जाना---'संयुक्त सामने' के बजाय 'संयुक्त पीठ दिखाने' का एक व्यापक प्रदर्शन होगा।

अवश्य ही यह कहना बेवकूफी होगी कि हम लोग दूसरों के साथ सहयोग या समझौता न करेंगे। जीवन और राजनीति दोनों ही इतने गूढ़ हैं कि उनका सरलता से समझा जा सकना हमेशा मुश्किल है। लेनिन जैसे कट्टर आदमी तक ने कहा था कि "बिना समझौता किये या राह बदले आगे कुछ करना मानसिक छिछोरपन है, और क्रान्तिकारी वर्ग की गम्भीर कार्य-कुशलता के विरुद्ध है।" समझौते लाज़िमी हैं, पर हमें उनके सम्बन्ध में बहुत ज्यादा परेशान होने की ज़रूरत नहीं है। हम समझौता करें या उससे इन्कार कर दें, यह एक गौण बात है। असली बात तो यह है कि मुख्य वस्तुओं को हमेशा पहला स्थान मिलना चाहिए, और गौण वस्तुएँ उनका स्थान कभी न लेने पावें। हम अगर सिद्धान्त और ध्येय पर दृढ़ हैं तो स्थायी समझौते कुछ नुकसान नहीं पहुँचा सकते। लेकिन खतरा यही है कि कहीं हम अपने कमज़ोर भाइयों की नाखुशी के डर से अपने सिद्धान्तों और ध्येयों से पीछे न हट जायें। किसीको गुमराह करना कहीं ज्यादा बुरा है, बनिस्बत किसी को नाखुश करने के।

मैं प्रचलित घटनाओं के सम्बन्ध में सरसरी तौर पर और कुछ हद

तक तात्त्विक दृष्टि से लिख रहा हूँ और एक दूर बैठे हुए दर्शक की तरह तटस्थ रहने की कोशिश करता हूँ। आम तौर पर यह खयाल है कि जब कार्य मुझे अपनी ओर बुलाता है, तब मैं तमाशबीन नहीं बना रहता, बल्कि अक्सर मुझसे कहा गया है, कि मेरा दोष यह है कि काफी उत्तेजना के बिना ही मैं बेवकूफी से उसमें कूद पड़ता हूँ। मैं अब क्या करूँगा और अपने देशबन्धुओं को क्या करने की सलाह दूँगा, यह सब निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। शायद सार्वजनिक कामों में लगे हुए व्यक्ति की स्वाभाविक सतर्क वृत्ति मुझे समय से पहले ही किसी बात से वचन-बद्ध हो जाने से रोक देती है। लेकिन अगर मैं सचाई के साथ कहूँ तो कहना होगा कि सचमुच मैं कुछ नहीं जानता, न जानने की कोशिश ही करता हूँ। जब मैं काम कर नहीं सकता, तब परेशान क्यों होऊँ? जरूर ही मैं एक बहुत हद तक तो परेशान होता हूँ, लेकिन यह अनिवार्य है। कम-से-कम जबतक मैं जेल में हूँ, तबतक तो, मैं तत्काल-निर्णय की समस्याओं के चक्कर में फँसने से बचने की कोशिश करता हूँ।

जेल में रहते हुए सब हलचलों से दूर रहना पड़ता है। यहां मनुष्य को घटनाओं का शिकार होकर रहना पड़ता है, कार्य का विषय बनकर नहीं, भविष्य में कुछ होने की आशा में रह-रहकर इन्तजार करना पड़ता है। मैं हिन्दुस्तान और सारी दुनिया की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं पर लिख रहा हूँ, लेकिन जेल की अपनी इस छोटी-सी दुनिया को, जोकि एक अरसे से मेरा घर बन गयी है, इस सबसे क्या नाता? कैदियों की एक ही बात में खास बड़ी दिलचस्पी रहती है, और वह है उनकी अपनी रिहाई की तारीख का खयाल।

नैनी जेल में और यहाँ अलमोड़ा में भी बहुत-से कैदी मेरे पास 'जुगली' के बारे में पूछने को आया करते थे। पहले तो मैं समझ ही नहीं सका कि यह 'जुगली' क्या चीज है; लेकिन बाद को मुझे सूझ पड़ा कि वह जुबिली है। वे बादशाह जार्ज की सिलवर जुबिली मनाई जाने की अफवाहों की ओर निर्देश करते थे, लेकिन उसे समझते न थे। पिछले उदाहरणों के कारण उनके लिए उसका एक ही अर्थ था—कुछ लोगों की

जेल से मुक्ति या सज़ा मे काफी कमी। इसलिए हरेक कैदी, और खास कर लम्बी सज़ावाले कैदी, आगे आनेवाली 'जुगली' के बारे मे बड़े उत्सुक थे। उनके लिए शासन-विधान, पार्लमेण्ट के कानून और समाजवाद और कम्यूनिज्म को बनिस्बत यह 'जुगली' कहीं ज्यादा महत्त्व की चीज़ थी।

उपसंहार

हमें कर्म करने का आदेश है; किन्तु यह हमारे हाथ की बात नहीं कि हम अपने कार्यों को सफल बना सकें। —तालमुद

मैं अपनी कहानी के अन्ततक पहुंच गया हूं। अपनी जीवन-यात्रा का अधिकतर अपने से ताल्लुक रखनेवाला, यह विवरण जैसा कुछ भी यह है, अल्मोड़ा ज़िला जेल के अपने निवास के आज दिन—१४ फरवरी १९३५—तक का है। तीन महीने पहले, आज के ही दिन, मैंने इस जेल में अपनी पैंतालीसवीं वर्षगांठ मनायी थी, और मैं खयाल करता हूं कि अभी मुझे और भी कई बरस जीना है। कभी-कभी उम्र और थकान का खयाल मुझपर छा जाता है, लेकिन फिर मैं अपने को उत्साह और चैतन्य से भरपूर महसूस करने लगता हूं। मेरा शरीर काफी गठीला है और मेरे दिमाग में सदमों को पार कर जाने की क्षमता है, इसलिए मैं समझता हूं कि मैं अभी काफी अर्से तक ज़िन्दा रहूंगा, बशर्ते कि कोई अघटित घटना न घट जाय। लेकिन इसके पहले कि भविष्य के सम्बन्ध में कुछ किया जाय उसका उपभोग कर लिया जाना ज़रूरी है।

मेरे ये साहसिक काम शायद बहुत उत्तेजना पैदा करनेवाले नहीं रहे हैं, कई बरसों के जेल-निवास को साहसिक कार्य का नाम नहीं दिया जा सकता और न वे किसी तरह अद्वितीय ही हुए हैं, क्योंकि इन बरसों को मैंने, उनके सब उतार-चढ़ावों सहित, अपने हज़ारों देश-भाइयों और बहनों के साथ बिताया है, और इसलिए जुदी-जुदी भावनाओं, और हर्ष-विषाद, प्रचण्ड हलचलों और बरबस एकान्तवास का यह वर्णन, हम सबका संयुक्त वर्णन है। मैं जन-समूह का ही एक व्यक्ति रहा हूं, उसके साथ काम करता रहा हूं, कभी उसका नेतृत्व करके उसे आगे बढ़ाता रहा हूं, कभी उससे प्रभावित होता रहा हूं, और फिर भी, दूसरी इकाइयों की तरह दूसरों से अलग जन-कोलाहल के बीच में अपना पृथक् जीवन व्यतीत करता हूं। हम अक्सर भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुए हैं, और उसके अनुसार अपने अनेक रंग बताये हैं, लेकिन हमने जो कुछ किया उसमें बहुत

कुछ असलियत थी, बहुत सचाई थी, और उसने नगण्य प्राणियो को ऊँचा उठा दिया, हमे अधिक सजीव बना दिया और इतना महत्त्व दे दिया जो कि अन्यथा हमे मिल नही सकता था। कभी-कभी हमे जीवन की उस पूर्णता को अनुभव करने का सौभाग्य मिला जो आदर्शों को कार्यरूप मे परिणत करने से होती है और हमने समझ लिया कि इससे भिन्न कोई भी दूसरा ऐसा जीवन बिताना, जिसमे इन आदर्शों का परित्याग करके किसी महान् शक्ति के सामने दीनता-अधीनता ग्रहण करनी होती, अपने अस्तित्व को नष्ट करना होता, असन्तोष और अन्तर्वेदना से भरा होता।

इन वर्षों मे मुझे बहुत-से तोहफो के साथ-साथ एक अनमोल तोहफा यह भी मिला है कि मै जीवन को अधिकाधिक महत्त्व का प्रयोग समझने लगा हूँ, जहाँ इतना सीखने को मिलता है। क्रमोन्नति की भावना मुझमे हमेशा रही है, वह अब भी मुझमे है और मेरी हलचलो मे और उसी तरह पुस्तको के पठन-पाठन मे रुचि पैदा करती है और आमतौर पर जीवन को जीने लायक बनाती है।

'मेरी कहानी' के लिखने मे मैने हरेक घटना पर जो मनोभाव और विचार उठते थे, उन्हे देने का—जहाँतक सम्भव हो सकता था उस समय के अपने भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। किसी बीते हुए मनोभाव को फिर से स्मृति मे लाना कठिन है,और बाद में आनेवाली घटनाओ को भुलाना सरल नही है। इस तरह मेरे आरम्भिक दिनो के वर्णन पर पिछले विचारो का प्रभाव जरूर पडा होगा, लेकिन मेरा उद्देश्य, खासकर अपने ही लाभ के लिए, अपने मानसिक विकास को अंकित करना था। मैने जो कुछ लिखा है, शायद वह इस बात का इतना वर्णन नही है, कि मै क्या रह चुका हूँ, जितना इस बात का कि कभी-कभी मै कैसा होना चाहता था, या कैसा होने की कल्पना करता था।

कुछ महीनों पहले सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने अपने एक सार्वजनिक भाषण में कहा था कि मै जनता के भावों को प्रदर्शित नही करता, बल्कि और भी अधिक खतरनाक व्यक्ति, अपने आत्म-बलिदानो, आदर्शवाद और आत्मविश्वास की दृढता के कारण, जिसे कि उन्होने 'आत्म-

-सम्मोहन' कहा था, हो गया हूँ। 'आत्मसम्मोहन' से ग्रस्त व्यक्ति शायद ही अपने सम्बन्ध मे निर्णय कर सकता है और किसी भी हालत में मैं इस व्यक्तिगत मामले मे सर रामस्वामी के साथ वहस-मुबाहिसे मे न पडना चाहूँगा। बहुत बरसो से हम एक-दूसरे से मिले नही है, लेकिन बहुत अर्से पहले एक समय था जबकि हम दोनो होमरूल लीग के संयुक्त मन्त्री थे। उसके बाद तो बहुत घटनाये घट चुकी है और रामस्वामी चक्करदार जीनो को पार करते हुए गगनचुम्बी मीनार पर चढते-चढते चोटी तक जा पहुँचे, जबकि मै पृथ्वी पर ही, पृथ्वी का साधारण प्राणी बना हुआ हूँ। सिवा इसके कि हम दोनो एक राष्ट्रवासी है अब उनमें और मुझमे कोई समानता नही रही है। वह अब, पिछले कुछ बरसो से भारत मे ब्रिटिश-राज्य के जबर्दस्त हामी है, भारत और उससे बाहर दूसरी जगह डिक्टेटरशिप के समर्थक है और खुद भी एक देशी रियासत मे स्वेच्छाचारिता के चमकदार आभूषण बने हुए है। मै समझता हूँ, हम अधिकांश बातो मे मतभेद रखते है लेकिन एक साधारण-से मामले मे हम सहमत हो सकते है। उनका यह कहना बिल्कुल सच है कि मै जनता का प्रतिनिधि नही हूँ। इस विषय मे मुझे कोई भ्रम नही है।

निस्सन्देह, कभी-कभी मै यह सोचने लगता हूँ कि दरअसल क्या मै किसीके भी भाव को प्रदर्शित करता हूँ, और मै इसी नतीजे पर पहुँचता हूँ कि, नही मै वैसा नही करता। यह बात दूसरी है कि बहुत-से लोग मेरे प्रति कृपा और मैत्रीपूर्ण भाव रखते है। मै पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा सम्मिश्रण—मिक्सचर—बन गया हूँ, हर जगह बेमौजूँ—अपने घर मे कही का भी नही-सा। शायद मेरे विचार और जीवन का मेरा रास्ता पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी अधिक है, लेकिन हिन्दुस्तान जैसा कि वह अपने सब बच्चो के हृदय मे रहता है अनेक रूप से मेरे हृदय मे भी है और अन्तर के किसी अनजान कोने मे, कोई सौ (या संख्या कुछ भी हो) पीढियो के ब्राह्मणत्व की जातीय स्मृतियाँ छिपी हुई है। मै अपने पिछले संस्कार और नूतन अभिज्ञान से मुक्त हो नही सकता। यह दोनो मेरे अंग हो गये है, और जहां वे मुझे पूर्व और

पश्चिम दोनों से मिलने में सहायता करते हैं, वहाँ साथ ही न केवल सार्वजनिक कार्यों में, बल्कि खुद जीवन में भी एक आध्यात्मिक निरानन्दता का भाव पैदा करते हैं। पश्चिम में मैं विदेशी हूँ—अजनबी हूँ। मैं उसका हो नहीं सकता। लेकिन अपने देश में भी मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है मानो मैं कहीं का निर्वासित हूँ।

सुदूर पर्वत सुगम्य और उनपर चढ़ना सरल मालूम होता है, उसका शिखर आवाहन करता दिखायी देता है, लेकिन ज्यों-ज्यों हम उसके नजदीक पहुँचते हैं कठिनाइयाँ दिखाई देने लगती हैं, पर जैसे-जैसे ऊँचे चढ़ते जाते हैं, चढ़ाई ज्यादा-से-ज्यादा मालूम होने लगती है और शिखर बादलों में छिपता नजर आने लगता है। फिर भी चढ़ाई प्रयत्न किये जाने योग्य है और उसका अपना एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र सन्तोष है। शायद जीवन को महत्त्व देनेवाली चीज संघर्ष ही है, अन्तिम परिणाम इतना नहीं। अक्सर यह जानना मुश्किल होता है कि सही रास्ता कौन-सा है? कभी-कभी यह जानना ज्यादा आसान होता है कि कौन-सा रास्ता सही नहीं है, और दरअसल जिसमें कुछ सचाई है, उसे नजरअन्दाज कर दिया जाता है। अत्यन्त नम्रता के साथ मैं महान् सुकरात के अन्तिम शब्दों का उल्लेख करना पसन्द करूँगा। उसने कहा था—"मैं नहीं जानता कि मृत्यु क्या चीज है—वह कोई अच्छी चीज हो सकती है, और मुझे इसका कोई भय नहीं है। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि किसी के उज्ज्वल भूतकाल को नष्ट कर देना बुरा है, इसलिए जिसके बारे में मैं जानता हूँ कि बुरी है उसकी अपेक्षा जो अच्छी हो सकती है उसे मैं अपनाना पसन्द करता हूँ।"

बरसों मैंने जेल में बिता दिये! अकेले बैठे हुए, अपने विचारों में डूबे हुए, कितनी ऋतुओं को मैंने एक दूसरे के पीछे आते-जाते और अन्त में विस्मृति के गर्भ में लीन होते देखा है! कितने चन्द्रमाओं को मैंने पूर्ण विकसित और क्षीण होते देखा है और कितने झिल-मिल करते तारामण्डल को अबाध और अनवरत गति और शान के साथ घूमते देखा है! मेरे यौवन के कितने बीते दिवसों की यहाँ चिता-भस्म बनी हुई

है, और कभी-कभी मैं इन बीते दिवसों की प्रेतात्माओं को उठते हुए, अपनी दुःखद स्मृतियों को साथ लेते हुए, कान के पास आकर यह कहते हुए सुनता हूँ "क्या यह करने योग्य था' और उसका जवाब देने में मुझे कोई झिझक नहीं है। अगर अपने मौजूदा ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे अपने जीवन को फिर से दुहराने का मौका मिले, तो इसमें शक नहीं कि मैं अपने व्यक्तिगत जीवन में अनेक तब्दीलियाँ करने की कोशिश करूँगा, जो-कुछ मैं पहले कर चुका हूँ, उसको कई तरह से उन्नत करने का प्रयत्न करूँगा, लेकिन सार्वजनिक विषयों में मेरे प्रमुख निर्णय ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे। निस्सन्देह, मैं उन्हें बदल नहीं सकता, क्योंकि वे मेरी अपेक्षा कहीं अधिक ज़बरदस्त हैं, और मेरे काबू से बाहर की सत्ता ने मुझे उस ओर खींचकर उनतक पहुँचाया है।

मेरी सजा को आज पूरा एक बरस हो गया, सज़ा के दो बरसों में से एक बरस बीत गया है। दूसरा पूरा एक बरस अभी बाकी है, क्योंकि इस बार रिआयती दिन न कटेंगे, सादी सजा में इस तरह दिन नहीं कटते। इतना ही नहीं, पिछली अगस्त में जो ग्यारह दिन मैं बाहर रहा था, वे भी मेरी सजा की अवधि में बढ़ा दिये गये हैं। लेकिन यह साल भी बीत जायगा और मैं जेल से बाहर हो जाऊँगा—मगर उसके बाद? मैं नहीं जानता, लेकिन एक ऐसा भाव उठता है कि मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया है, और दूसरा आरम्भ होगा। वह क्या होगा, इसका मैं स्पष्ट अनुमान नहीं कर सकता। मेरी जीवन-कथा के—'मेरी कहानी' के ये पन्ने अब समाप्त होते हैं।

कुछ और

बेडनवाइलर, स्वार्टस्वाल्ट

२५ अक्तूबर, १९३५

पिछले मई महीने में मेरी पत्नी भुवाली से यूरप इलाज कराने के लिए गयी। उसके यूरप चले जाने से मेरा भुवाली जाना बन्द हो गया;

पहाड़ी सड़कों पर मेरा हर पखवाड़े आना-जाना बन्द हो गया। वह मुझे अब दिखायी न देती थी, और अलमोड़ा-जेल मेरे लिए अब पहले से भी ज्यादा सुनसान हो गया।

क्वेटा के भूकम्प की खबर मिली, जिसने कुछ समय के लिए दूसरी सब बातें भुला दीं। लेकिन अधिक समय के लिए नहीं, क्योंकि भारत सरकार हमें उसको या उसके विचित्र तरीक़ों को, भूलने नहीं देती। फ़ौरन ही मालूम हुआ कि कांग्रेस के सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद को, जोकि भूकम्प-सहायता का काम हिन्दुस्तान के प्राय: किसी भी अन्य मनुष्य से अधिक जानते हैं, क्वेटा जाने और पीड़ितों को सहायता करने की इजाजत नहीं दी गयी। न गांधीजी या अन्य किसी प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्यकर्त्ता को ही वहाँ जाने दिया। क्वेटा-भूकम्प के बारे में लेख लिखने के कारण कई भारतीय अखबारों की ज़मानतें ज़ब्त करली गयीं।

जिधर देखिए उधर-सब ओर फ़ौज़ी मनोवृत्ति, पुलिस-दृष्टिकोण दिखायी देता था--असेम्बली में, सिविल शासन में, सीमान्त पर बम बरसाये जाने में, सबमें, इसीका बोलबाला था। ज्यादातर ऐसा मालूम होता था, मानो हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी सरकार हिन्दुस्तानी जनता के एक बड़े समुदाय से निरन्तर लड़ाई लड़ रही है।

पुलिस एक काम की और आवश्यक शक्ति है, लेकिन वह दुनिया, जो पुलिस के सिपाहियों और उनके डण्डों से भरी हो, शायद रहने के लिए ठीक जगह न होगी। अक्सर यह कहा गया है कि शक्ति का अनियन्त्रित प्रयोग प्रयोग-कर्त्ता को गिरा देता है, क्योंकि इससे वह जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग करता है उसे ज़लील और हीन बना देता है। इस समय हिन्दुस्तान में ऊँची नौकरियाँ, खासकर भारतीय सिविल-सर्विसवालों के दिन-पर-दिन बढ़ते जानेवाले नैतिक और बौद्धिक पतन के सिवा शायद ही कोई बात मार्के की दिखायी देती हो। खासतौर पर ऊँचे अफ़सरों में यह सब से अधिक पायी जाती है, लेकिन आम तौर पर सभी नौकरियों में यह एक जाल की तरह फैली हुई है। जब कभी किसी ऊँचे पद पर नये आदमी की नियुक्ति का समय आता है, तब निश्चित

रूप से वही आदमी पसन्द किया जाता है, जो इस नयी मनोवृत्ति का सबसे अच्छा परिचायक होता है।

गत ४ सितम्बर को एकाएक मैं अल्मोड़ा-जेल से छोड़ दिया गया, क्योंकि यह समाचार मिला था कि मेरी पत्नी की हालत नाजुक हो गयी है। स्वार्टस्वाल्ट (जर्मनी) के बेडनवाइलर स्थान पर उनका इलाज हो रहा था। मुझसे कहा गया कि मेरी सजा मुल्तवी कर दी गयी है, और मैं अपनी रिहाई के साढ़े पाँच महीने पहले छोड़ दिया गया। मैं फौरन हवाई जहाज से यूरप को रवाना हुआ।

यूरप इस समय हर तरह से अशान्त है, युद्ध और उपद्रवों की आशंकायें और आर्थिक संकट के बादल क्षितिज पर हमेशा ही मँडराते रहते हैं, अबीसीनिया पर धावे हो रहे हैं और वहाँकी जनता पर बम-वर्षा की जा रही है। अनेक साम्राज्यवादी सत्तायें आपस में टकरा रही हैं और एक-दूसरे के लिए खतरनाक बनी हुई हैं, और अपने अधीन जनता पर निर्दय अत्याचार करनेवाला, उसपर बम बरसानेवाला इंग्लैंड, साम्राज्यवादी सत्ताओं का सिरमौर इंग्लैण्ड, शान्ति और राष्ट्रसंघ की दुहाइयाँ दे रहा है। लेकिन यहाँ इस 'ब्लैक फॉरेस्ट' में शान्ति और निस्तब्धता का राज्य है, यहाँतक कि जर्मनी का प्रसिद्ध चिन्ह 'स्वस्तिक' भी नजर नहीं आता। मैं देख रहा हूँ कि उपत्यका से कोहरा उठकर फ्रांस के सुदूर सीमान्त को छिपाता हुआ दिखनेवाले भू-प्रदेश को ढक रहा है और मैं हैरत में हूँ कि उस पार क्या है?

पाँच साल के बाद

आज से साढे पाँच बरस पहले अलमोड़े की जिला जेल की अपनी कोठरी मे बैठे-बैठे मैने 'मेरी कहानी' की आखिरी सतरे लिखी थी। उसके आठ महीने बाद जर्मनी के बेडनवाइलर स्थान से उसमे कुछ हिस्सा और जोडा था। (अग्रेजी मे) इग्लैण्ड से छपी मेरी इस कहानी का देश-विदेश के सब तरह के लोगों ने स्वागत किया और मुझे इस बात से खुशी हुई कि जो कुछ मैने लिखा उसकी वजह से हिन्दुस्तान विदेश के कई दोस्तो के नजदीक आ गया और कुछ हदतक वे लोग आजादी की हमारी लडाई के अन्दरूनी महत्त्व को समझ पाये।

मैने कहानी को बाहर होनेवाली हलचलों से दूर बैठकर जेल मे लिखा था। जेल मे तरह-तरह की तरगे मन में उठा करती थी जैसा हरेक कैदी के साथ हुआ करता है, लेकिन धीरे-धीरे मुझमे आत्म-निरीक्षण की एक लहर आगयी जिससे कुछ मानसिक शान्ति भी मिली। पर अब उस लहर को कहाँ से लाऊँ? उस वर्णन से ठीक मेल कैसे बैठाऊँ? अपनी किताब को फिर से देखता हूँ तो करीब-करीब ऐसा लगने लगता है कि जैसे किसी और शख्स ने बहुत पुराने जमाने की कहानी लिखी हो। जो पाँच साल गुज़र चुके हैं, उनमे दुनिया बदल गयी है और मुझपर एक छाप रह गयी है। शरीर से मै बेशक ५ साल बूढा होगया हूँ लेकिन धक्के पर धक्के और असर पर असर तो मन ने पाये है न, इसलिए वह सख्त हो गया है या शायद परिपक्व हो गया है। स्वीजरलैण्ड मे कमला का देहान्त हो जाने से मेरी जीवन-कथा का एक अध्याय पूरा हो गया, और मेरी जिन्दगी से बहुत-कुछ ऐसी चीज़ छिन गयी है, जो मेरे अस्तित्व का अश हो गयी थी। मुझे यह समझ लेना मुश्किल होगया कि वह अब नही है और आसानी से मेरे दिल व दिमाग ठीक न हो सके। मै अपने काम मे जुट पडा, इससे कुछ तसल्ली पाने की कोशिश करने लगा और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक भाग-दौड करता रहा। जीवन मेरा भारी-भारी भीड़, ठोस कामकाज और अकेलेपन की धूपछाँह से ऐसा

विचित्र होगया कि जैसा बीते हुए दिनों मे कभी नहीं हुआ था। उसके बाद माता के देहावसान से तो भूतकाल से मेरे सम्बन्ध की आखिरी लडी भी टूट गयी। बेटी मेरी दूर ऑक्सफर्ड में पढ रही थी और बाद मे विदेश ही के एक सेनिटोरियम मे इलाज कराती रही। मै जब घूम-घामकर घर लौटता तो बडी बेमर्जी से और अकेला अपने सूने घर मे बैठा रहता, कोशिश करता कि वहाँ किसीसे मिलूं-जुलूं भी नही। भीड-भडक्के के बाद मे शाति चाहता था।

लेकिन मुझे अपने काम मे और मन मे शान्ति न मिली और कन्धे पर जो जिम्मेदारियाँ थी, उनसे मैं बुरी तरह दबा जारहा था। मैं मुख्तलिफ पार्टियो और गिरोहो से मेल नही बैठा सका—यहाँतक कि अपने घनिष्ठ साथियो से भी नही। जैसा चाहता था वैसा खुद तो मै काम कर ही न सका बल्कि दूसरो को भी जैसा वे चाहते वैसा काम करने से रोकता था। एक तरह की मायूसी और पस्तहिम्मती की भावना जोर पकडती गयी और मैं सार्वजनिक जीवन मे अकेला पड गया, हालाँकि बडी-बडी भीड मेरे भाषण सुनती थी और चारो ओर मेरे जोश छाया रहता था।

यूरप और सुदूर पूर्व के घटना-चक्र का जितना मुझपर असर पडा है उतना और किसी पर नही। म्यूनिक का धक्का बर्दाश्त करना कठिन था और स्पेन का दुखदायी अन्त तो मेरे लिए निजी दुख की बात थी। ज्यो-ज्यो खौफ के ये दिन एक के बाद एक आते गये, त्यो-त्यो सिर पर मँडरानेवाले सकट का खयाल मुझे बेचैन करता गया और मेरा यह विश्वास कि दुनिया का भविष्य उज्ज्वल है, धुंधला पड चला।

और वह सकट अब आ धमका है! यूरप के ज्वालामुखी आग और सर्वनाश उगल रहे है और यहाँ हिन्दुस्तान मे मै एक दूसरे ज्वालामुखी के किनारे बैठा हुआ हूँ, जो न जाने कब फूट पडे! मौजूदा मसलो मे अपने आपको अलग हटा लेना, आत्मनिरीक्षण की वृत्ति पैदा करना, गुजरे हुए इन पाँच बरसो का सिंहावलोकन करना और उनके बारे मे शान्ति से कुछ लिखना मुश्किल हो गया है। और अगर मै ऐसा कर भी

सकूं तो मुझे दूसरी बडी किताब लिखनी पडे क्योंकि कहने को बहुत-कुछ है। इसलिए मैं उन्ही खास-खास घटनाओ और वाकयात को नजरन्दाज करने की भरसक कोशिश करूंगा कि जिनमे मैंने हिस्सा लिया है या जिनका मुझपर असर पडा है।

लॉसेन मे २८ फरवरी १९३६ को जब मेरी धर्मपत्नी की मृत्यु हुई, तब मैं उसके पास ही था। थोडे दिन पहले ही मुझे खबर मिली थी कि मैं दूसरी बार कांग्रेस का सभापति चुना गया हूँ। मैं फौरन ही हवाई जहाज से हिन्दुस्तान लौटा और रास्ते मे, रोम मे, एक मजेदार अनुभव हुआ। चलने से कुछ दिनों पहले एक सन्देश मुझे मिला था कि जब मैं रोम होकर निकलूं तो उस वक्त सिन्यौर मुसोलिनी मुझसे मिलना चाहते है। फासिस्ट शासन का घोर विरोधी होते हुए भी मामूली तौर पर सिन्योर मुसोलिनी से मिलना मैं पसन्द करता और खुद पता लगाता कि वह शख्स कैसा है कि जो दुनिया के घटनाचक्र मे महत्वपूर्ण हिस्सा ले रहा है? लेकिन उस उक्त मैं कोई मुलाकात करना नही चाहता था। इससे बढकर मेरे रास्ते मे जो रुकावट आयी वह यह थी कि अबीसीनिया पर हमला जारी था और मुझे डर था कि ऐसी मुलाकात का फासिस्टो की ओर से प्रोपेगण्डा करने मे दुरुपयोग किया जाना लाजमी है।

पर मेरे इन्कार करने से क्या होता था? मुझे याद था कि महात्मा गाधी जब १९३१ मे रोम से निकले थे तब उनकी मुलाकात होने की खबर 'जर्नल डि इटैलिया' मे उडायी गयी थी। मुझे दूसरी कई मिसाले याद आयी जिनमे हिंदुस्तानियो के इटली मे जाने की घटनाओ से उनकी मर्जी के खिलाफ फैसिस्टो ने बडा प्रचार किया था। मुझे यकीन दिलाया गया कि इस किस्म की कोई बात मेरे बारे मे नही होगी और मुलाकात कतई खानगी होगी। तो भी मैंने यही तय किया मैं मुलाकात से बचूं और सिन्योर मुसोलिनी तक अपनी लाचारी पहुँचा दी।

मगर, रोम होकर जाना तो मुझे पडा ही, क्योकि हालैण्ड के. एल. एम नाम का वह जहाज जिसपर मैं सवार था, वहॉ रात-भर रुका

था। ज्योंही मै रोम पहुँचा, एक बड़े अफसर मेरे पास आये और मुझे शाम को सिन्योर मुसोलिनी से भेंट का न्योता दिया। उन्होंने कहा कि सब कुछ तय हो चुका है। मुझे अचभा हुआ। मैंने कहा कि मैं तो पहले ही माफी माँगने के लिए कहला चुका हूँ। घण्टे भर तक यह़ी चलती रही, यहाँतक कि मुलाकात का वक्त भी आ पहुँचा। अन्त मे बात मेरी ही रही। कोई मुलाकात नही हुई।

हिन्दुस्तान लौटकर मैं अपने काम मे मशगूल होगया। लौटने के थोडे दिनो बाद ही मुझे काग्रेस के अधिवेशन का सभापति बनना पड़ा। उन चन्द सालो मे जब मैं लगभग जेल मे रहा, परिस्थितियों से मेरा लगाव छूट गया था। मुझे कई तब्दीलियाँ मालूम पडी, नयी रुकावटें और काग्रेस के अन्दर दलबन्दी की जोरदार भावनायें देखने मे आयीं। पर शको-शुबह, कटुता और सघर्ष की कोई नौबत नही थी। मैंने उसपर ज्यादा ध्यान नही दिया और यह विश्वास मुझे था कि मैं उस स्थिति का मुकाबला कर सकूँगा। कुछ अर्से तक ऐसा लगा कि मैं काग्रेस को अपने जाने की दिशा मे लिये जा रहा हूँ, मगर जल्दी ही मुझे पता लग गया कि सघर्ष गहरा है और हमारे दिलो मे जो एक दूसरे के प्रति सन्देह और कटुता पैदा होगयी थी, उसे मिटा देना इतना आसान न था। मैंने गभीर होकर निश्चय कर लिया कि राष्ट्रपति पद से इस्तीफा दे दूं, लेकिन, यह समझकर कि इससे तो मामला बिगडेगा ही, मैंने ऐसा नही किया।

लेकिन रह-रहकर अगले कुछ महीनों मे मैंने इस इस्तीफे के सवाल पर सोचा-विचारा। कार्य-समिति के अपने साथियो के साथ ही मेरा खूबी से काम करते रहना मुझे मुश्किल मालूम पडा और मुझे यह साफ हो गया कि वे लोग मेरी हरकतो को आशका की दृष्टि से देखते है। मेरी किसी खास कार्रवाई से वह नाराज हों, ऐसी बात नही थी, बल्कि बात यह थी कि वे मेरी सामान्य गति और दिशा ही को नापसन्द करते थे। चूँकि मेरा दृष्टिकोण मुख्तलिफ था, इसलिए उनके पास इसका वाजिब सबब था भी। काग्रेस के फैसलो पर मैं बिलकुल अटल था, लेकिन उसके कुछ

पहलुओं पर जोर देता था जबकि मेरे साथी दूसरे पहलुओं पर। आखिर-कार मैंने इस्तीफा देना ही तय किया और अपने फैसले की खबर गांधीजी को भेजी। उनको जो खत लिखा था उसमे मैंने लिखा कि "यूरप से लौटकर आने के बाद से मैंने देखा है कि कार्य-समिति की बैठको से मैं बहुत थक जाता हूँ, उनका असर यह होता है कि मेरी ताकत कम हो जाती है और हरेक नयी घटना के बाद मुझे करीब-करीब यह खयाल होने लगता है कि मैं बहुत बूढा हो चला हूँ। कोई ताज्जुब नही कि कार्य-समिति के मेरे दूसरे सहयोगियो को भी यही महसूस होता हो। यह तजुर्बा अस्वास्थ्य-कर है और इससे कारगर काम होने मे अडचने आती हैं।"

इसके थोडे ही दिनो बाद दूर देश की एक घटना ने, जिसका हिन्दुस्तान से कोई ताल्लुक नही था, मुझपर बहुत ज्यादा असर डाला और मेरा इरादा बदलवा दिया। यह घटना थी जनरल फ्रेको के स्पेन मे विद्रोह करने की खबर। मैने देखा कि यह विद्रोह, जिसके पीठ-पीछे जर्मनी और इटली की मदद काम कर रही थी, एक यूरोपीय या विश्वव्यापी सघर्ष बनाता जा रहा है। लाजमी था कि हिन्दुस्तान को भी उसमे पडना पडता और ऐसे मौके पर जब कि सबका साथ-साथ चलना ज़रूरी था, मैं इस्तीफा देकर अपनी सस्था को कमजोर बनाना और अन्दरूनी सकट पैदा करना नही चाहता था। मैने परिस्थिति की जो देख-भाल और जाँच-पडताल की थी, वह गलत न थी, हालाँकि वह अभी वक्त से पहले थी और मेरा मन एकदम जिन नतीजों पर पहुँच गया उन्हे घटित होने मे कुछ साल लगे।

स्पेनीय युद्ध की मुझपर जो प्रतिक्रिया हुई, उससे पता चलता है कि मेरे मन मे किस प्रकार हिन्दुस्तान का सवाल दुनिया के दूसरे सवालों से जुडा हुआ था। मैं अधिकाधिक सोचने लगा कि ये सारे मसले, चाहे वे राजनैतिक हो, चाहे आर्थिक, चाहे चीन के हो, अबीसीनिया के हो, स्पेन के हो, मध्य यूरोप के हो या हिन्दुस्तान के हो, मुख्तलिफ होते हुए भी एक ही विश्व-समस्या के अग है। जबतक उस मूल समस्या को हल नही कर दिया जाता तबतक इनमे से कोई एक भी मसला अन्तिम रूप

से नही सुलझ सकता। और पूरी-पूरी आशंका इस बात की थी कि यह समस्या सुलझने से पहले ही कोई उपद्रव या कोई आफत न आ जाये। जिस तरह कहा जाता था कि आज की दुनिया मे शाति अविभाज्य है, उसी प्रकार स्वाधीनता भी अविभाज्य है। दुनिया बहुत दिनो कुछ आजाद, कुछ गुलाम नही रह सकती। फासिज्म और नाजीवाद की यह चुनौती मूलत साम्राज्यवाद की ही चुनौती थी। ये दोनो जुडवॉ भाई थे—फर्क महज इतना ही था कि साम्राज्यवाद का विदेश मे उपनिवेशो और अधिकृत देशो मे जो काम था, वही काम फासिज्म व नाजीवाद का अपने देश मे भी था। अगर दुनिया मे आजादी कायम होनी है, तो न सिर्फ फासिज्म और नाजीवाद ही को रुखसत होना होगा बल्कि साम्राज्य का भी बिलकुल नामनिशान मिटा देना होगा।

विदेश की घटनाओ की यह प्रतिक्रिया मुझीतक सीमित नही थी। कुछ हदतक हिन्दुस्तान के बहुतेरे लोग ऐसा ही खयाल करने लगे और जनता को भी इसमे दिलचस्पी पैदा हो गयी। कांग्रेस ने देश मे हर जगह चीन, अबीसीनिया, फिलस्तीन और स्पेन के लोगो से हमदर्दी जाहिर करने के लिए हजारो सभायें और प्रदर्शन किये, जिससे जनता की यह दिलचस्पी कायम रही। चीन और स्पेन को दवा-दारू और रसद की शकल मे कुछ मदद पहुँचाने की भी कोशिशे की गयी। अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे इस प्रकार दिलचस्पी बढने से हमारा अपना राष्ट्रीय सघर्ष ऊँची सतह पर पहुँच गया और जैसा कि हमेशा होता है राष्ट्रीयता की वह सकीर्णता थोडी-बहुत कम हो गयी।

लेकिन, लाजमी तौर पर, इन विदेशी मामलो का यहांके औसत आदमी की जिन्दगी पर कोई असर नही हुआ जो कि अपनी मुसीबत मे फँसा हुआ था। किसान की तकलीफे दिन-ब-दिन बढती जा रही थी। भयकर गरीबी और दूसरे कई बोझे उसे कुचल रहे थे। आखिरकार किसानों की समस्या हिन्दुस्तान की समस्या का एक बडा हिस्सा थी और कांग्रेस ने धीरे-धीरे कर के किसानो के मुतल्लिक एक कार्यक्रम बना लिया था। हालाँकि उसके फल बहुत दूर जानेवाले थे। फिर भी मौजूदा

ढाँचे को उसने मजूर किया। कारखाने के मजदूर की हालत भी कोई बेहतर नही थी और हडताले हुआ करती थी। राजनैतिक विचारोवाले लोग ब्रिटिश पार्लमेण्ट के हिन्दुस्तान पर थोपे गये नये शासन-विधान पर चर्चा करते थे। इस विधान मे अगर्चे कुछ ताकत प्रान्तो को दे दी गयी थी, लेकिन असली ताकत तो ब्रिटिश सरकार और उनके प्रतिनिधियो के ही हाथ मे रखी गयी थी। केन्द्रीय शासन के लिए एक फेडरेशन सुझाया गया, जिसमे सामती और निरकुश रियासतो को अर्ध-जनतन्त्रात्मक प्रान्तो के साथ बँधना पडता और इससे ब्रिटिश साम्राज्य का ढाँचा जैसा का तैसा ही कायम रहता। यह एक वाहियात बात थी, जो कभी नही चल सकती थी और उसमे अग्रेजो के स्थापित स्वार्थो की हर तरह की हिफाजत की गयी थी कि जैसी इन्सान की अक्ल को सूझ सकती थी। काग्रेस ने इस विधान को हिकारत के साथ ठुकराया और सचाई तो यह थी कि हिन्दुस्तान मे शायद ही कोई ऐसा हो जो इसे अच्छा समझता होगा।

पहले तो इसका प्रान्तीय रूप अमल मे लाया गया। हम विधान को नामंजूर कर चुके थे, तो भी हमने तय किया कि चुनाव लडे जाये क्योकि इससे कम-से-कम लाखो करोडो वोटरो ही से नही दूसरे लोगो से भी हम सम्पर्क मे तो आयेगे ही। यह आम चुनाव मेरे लिए तो एक स्मरणीय प्रसग है। मै खुद तो कोई उम्मेदवार नही था, मगर काग्रेस के उम्मेद-वारो की तरफ से मैने हिन्दुस्तान भर का दौरा किया और मेरा खयाल है कि चुनाव-आन्दोलन मे मैने इस तरह की बात की कि जैसी अब-तक नही हुई थी। चार महीने के अन्दर-अन्दर मैने तकरीबन ५० हजार मील का सफर किया और इसमे हर तरह की सवारी से काम लिया और अक्सर ऐसे-ऐसे कोने मे पडे हुए देहाती इलाको तक मे गया जहाँ जाने का कोई ठीक-ठाक जरिया नही था। मैने यह सफर हवाई जहाज मे रेल मे, मोटरकार मे, मोटरलॉरी मे, तरह-तरह की घोडागाडियों मे, बैल गाडियो मे, साइकल पर, हाथी पर, ऊँट पर, घोडे पर, स्टीमर पर, पैडलबोट पर, डोंगी मे और पैदल चलकर किया।

अपने साथ मे ध्वनि-विस्तारक (माइक्रोफोन) और ध्वनिवर्धक

(लांउडस्पीकर) यन्त्र रखता था और दिन भर में एक दर्जन सभायें करता था, सड़कों पर जो भीड़ इकट्ठी हो जाती थी और उससे कुछ कहना पड़ता सो अलग। कुछ में तो एक लाख के करीब भीड़ होती थी और सुननेवालों का औसत आमतौर पर २० हजार का होता था। सभाओं में आनेवाले लोगों का दिनभर का जोड़ एक लाख तो आमतौर हो जाता था, कभी-कभी इससे भी बढ़ जाता था। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि एक करोड़ लोग तो उन सब सभाओं में आये ही होंगे जिनमें कि मैं बोला और शायद कई लाख और मेरे उस सड़क में सफर करने में मेरे सम्पर्क में आये होंगे।

हिन्दुस्तान की उत्तरी सीमा से लगाकर दक्षिण में समुद्र तट तक मैं एक जगह से दूसरी जगह दौड़ता फिरा—बीच में कोई आराम नहीं—और उस मौके के जोश और उस असीम उत्साह ने जो मुझे देखने को मिला, हिम्मत बनी रही। मेरे शरीर ने इतना सब बर्दाश्त कर लिया यह एक असाधारण शारीरिक श्रम था इस खयाल से मुझे अचम्भा हुआ। इस चुनाव-आन्दोलन में लोगों की बहुत बड़ी तादाद ने हिस्सा लिया, इसलिए देशभर में एक हलचल-सी मच गयी और हर जगह नयी जिन्दगी नजर आने लगी। हमारे लिए तो यह महज एक चुनाव-आन्दोलन ही नहीं था, बल्कि कुछ ज्यादा था। हमें महज उन ३ करोड़ मतदाताओं से ही नहीं बल्कि उन करोड़ों लोगों से भी वास्ता था कि जो मतदाता नहीं थे।

इस लम्बी-चौड़ी यात्रा का एक पहलू और भी था जिससे मैं आकर्षित था। मेरे लिए तो यह यात्रा हिन्दुस्तान की और हिन्दुस्तान की जनता की खोज की यात्रा थी। मैंने अपने इस मुल्क के हजारों पहलू ऐसे देखे जो एक दूसरे से बिल्कुल जुदे हैं, लेकिन तो भी सबमें हिन्दुस्तान की एक जैसी छाप है। मैं उन लाखों स्नेहभरी आँखों को ध्यान से देखता था, जो मुझे देख रही थीं, और यह जानने की कोशिश करता था कि उनके पीछे क्या है? जितना ही ज्यादा मैं हिन्दुस्तान की बातें देखता, उतना ही ज्यादा मुझे लगता कि मैं उसके असीम आकर्षण और विविध रूपों के

बारे मे कुछ नही जानता हूँ—और बहुत कुछ पता लगाने और जान-लेने को पडा है। मेरा देश अक्सर मुझे देखकर मुसकरा देता, पर कभी मेरा उपहास करता और मुझसे छल भी करता।

कभी-कभी, लेकिन बहुत कम मै एकाध दिन निकाल लेता और नज़-दीक के मशहूर-मशहूर दर्शनीय स्थान देखता, जैसे अजन्ता की गुफाये या सिन्ध के काँठे मे मोहजोदरो। थोडी देर को जैसे मै गुजरे जमाने मे चला जाता और बोधिसत्त्व और अजन्ता की चित्राकित रूपवती स्त्रियाँ मेरे मन मे समाई रहती। कुछ दिनो बाद जब मै किसी स्त्री को खेत मे काम करती हुई या गाँवो मे कुएँ से पानी खीचती हुई देखता तो मै आश्चर्यचकित रह जाता क्योकि उससे मुझे अजन्ता की स्त्रियो की याद आजाती थी।

आम चुनावों मे काग्रेस को कामयाबी मिली और बडी बहस उठ खडी हुई कि हम सूबो मे मत्रीमण्डल ग्रहण करे या नही? आखिरकार यह तय हुआ कि हम वजारते ग्रहण करेगे, पर यह मानकर कि वायसराय या गवर्नरो की तरफ से कोई दखल नही दिया जायगा।

१९३७ की गर्मी मे मै बर्मा और मलाया गया। यह मेरे लिए छुट्टी न थी क्योकि जहाँ-जहाँ मै गया भीड़ मेरे पीछे लगी रही और काम-काज मे मै घिरा रहा। लेकिन यह तब्दीली खुशगवार थी, और बर्मा के सजधजवाले जवानी से भरे लोगो को देखना और उनसे मिलना मुझे अच्छा लगा क्योकि वे हिन्दुस्तान के लोगो से कई बातो मे भिन्न थे, कि जिनपर गुजरी हुई सदियो की छाप-सी लगी है।

हिन्दुस्तान मे हमारे सामने नये मसले आये। अधिकाश सूबो मे काग्रेस सरकार की हुकूमत थी और बहुत-से वजीर बरसो जेल मे बिता चुके थे। मेरी बहन विजयालक्ष्मी पण्डित युक्तप्रान्त की एक मत्रिणी हुई। हिन्दुस्तान मे सबसे पहली मत्रिणी वह थी। काग्रेस-मत्रिमण्डल के आने का सबसे पहला नतीजा तो यह हुआ कि देहात को एक राहत महसूस हुई, मानो एक बडा बोझ हट गया हो। देशभर मे एक नयी जिन्दगी आगयी और किसान और मजदूर उम्मीद करने लगे कि अब ज़ल्दी बडे-बड़े काम होंगे। राजनैतिक कैदी छोड दिये गये और बहुत से

बडी तकलीफ पहुंची और उन्होने खानगी तौर पर अपनी राय जाहिर की। बाद मे उन्होने एक लेख लिखा जिसमे उन्होने मेरे कुछ ऐसे कामो को नापसन्द किया जो मैंने राष्ट्रपति की हैसियत से किये थे।

मैं महसूस कर रहा था कि मैं कार्यसमिति के एक जिम्मेदार मेम्बर की हैसियत से आगे काम नही कर सकता। लेकिन मैंने तय किया कि मुझे ऐसी कोई बात नही करनी चाहिए जिससे कोई संकट आ जाय। कांग्रेस की मेरी सदारत की मियाद अब खत्म होने पर थी और मैं चुपचाप अलग हो सकता था। मै दो साल लगातार सदर रह चुका था और कुल मिलाकर तीन बार। दूसरे साल के लिए मुझे चुने जाने की कुछ चर्चा थी, मगर मेरे दिमाग मे यह बात साफ थी कि मुझे ऐसा न होना चाहिए। इस वक्त मैंने एक जरा-सी तरकीब की जिसमे मुझे बड़ा मजा आया। मैंने एक लेख लिखा जो कलकत्ते के 'माडर्न रिव्यू' मे बिना नाम से छपा। उसमे मैंने खुद अपने ही दुबारा चुनाव होने का विरोध किया था। यह कोई नही जानता था—खुद सम्पादक भी नही—कि वह किसने लिखा है और मैं बडी दिलचस्पी के साथ देखने लगा कि मेरे साथियो और दूसरो पर उसका क्या असर पड़ता है? लेखक के बारे मे सब तरह की ऊटपटाँग अटकले और अन्दाज लगाये गये, लेकिन जबतक जॉन गुन्थर ने अपनी किताब 'इनसाइड एशिया' मे इसका जिक्र न किया तबतक बहुत ही कम लोगो ने सचाई को जान पाया।

हरिपुरा मे जो अगला कांग्रेस-अधिवेशन हुआ उसके सभापति सुभाष बोस चुने गये और मैंने इसके बाद जल्दी ही यूरोप जाने का निश्चय किया। मैं अपनी बेटी इन्दु को देखना चाहता था, मगर असली सबब तो था अपने थके हुए और परेशान दिमाग को ताजा करना।

लेकिन यूरोप ऐसी जगह थी कहाँ जहाँ आराम से बैठकर सोचा-विचारा जा सके या दिमाग के अँधेरे कोने मे कुछ रोशनी ले जायी जासके। वहाँ तो एक अँधेरा फैला हुआ था। जाहिरा ऐसी शान्ति जरूर थी जैसी तूफान आने के पहले हुआ करती है। वह जून १९३८ का यूरोप था—जबकि मि० नेवाइ चैम्बरलेन की सन्तुष्ट करने की नीति पूरे जोर
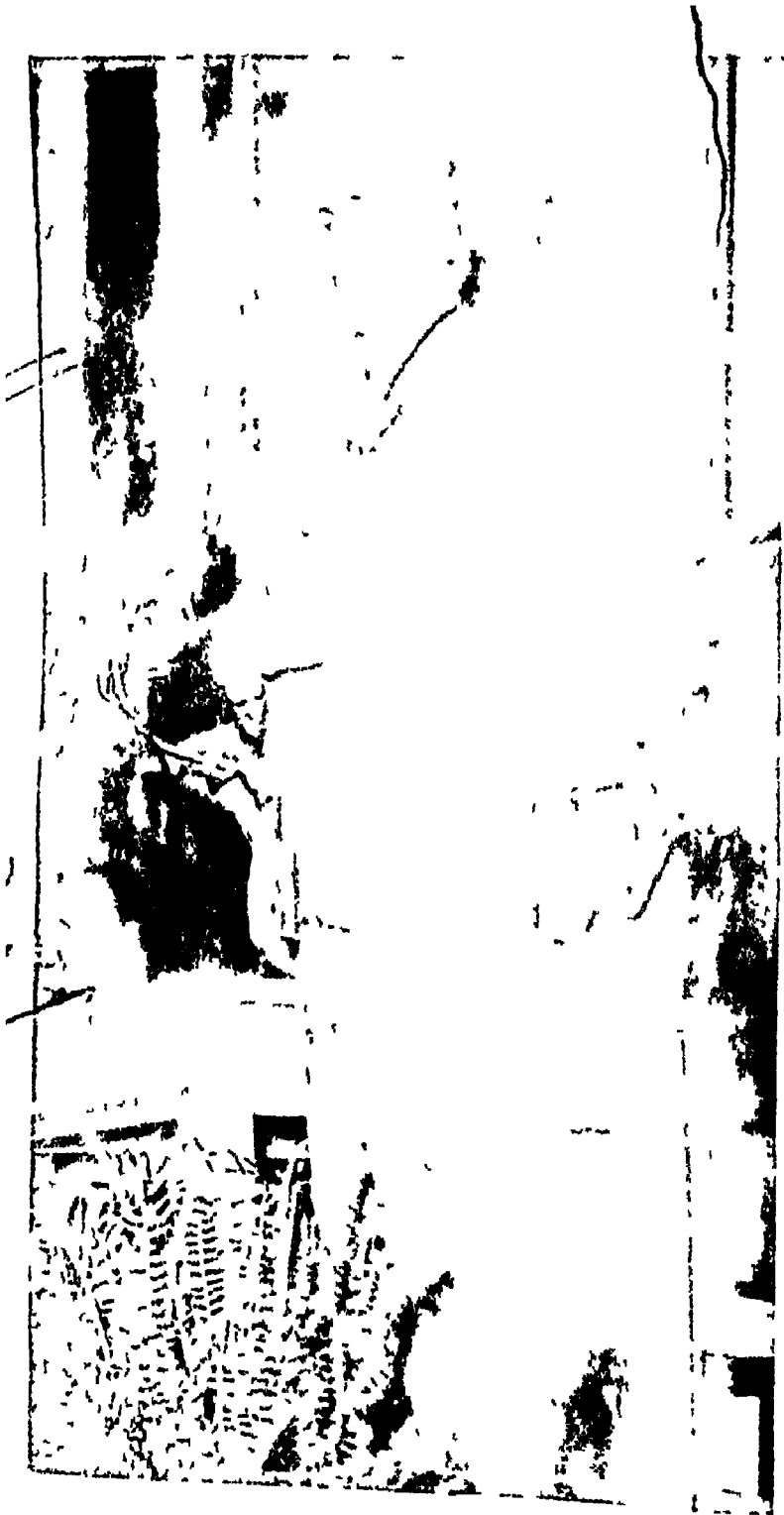
प० जवाहरलाल नहरू : इंगलैंड में

पर थी और वह उन देशों के शरीरों पर चल रही थी कि जिनको उनके साथ दगा करके कुचल डाला गया था और उसके अंतिम दृश्य का नाटक म्यूनिक में हो चुका था। मैं हवाई जहाज से बार्सीलोना पहुँचा और लडाई-झगडों में लगे यूरोप मे प्रवेश किया। वहाँ मैं पाँच दिन तक रहा और रात में आसमान से बमबारी होती देखी। वहाँ बहुत कुछ और भी देखा जिसका मुझपर बडा असर हुआ और वहाँ दरिद्रता, सर्वनाश और हमेशा सिर पर मँडराती हुई विपत्ति के बीच मे मैंने अपने आपको यूरोप की किसी भी दूसरी जगह मे ज्यादा शान्ति में पाया। वहाँ रोशनी थी—रोशनी दिलेरी की, दृढ निश्चय की और कुछ-न-कुछ काम की बात करने की।

मैं इंग्लैण्ड गया और वहाँ एक महीना बिताया और सब दर्जो व सब तरह के विचारोवाले लोगों से मिला। मैंने औसत आदमी मे एक तरह की तब्दीली महसूस की। वह तब्दीली ठीक दिशा मे थी। लेकिन ऊपर चोटी पर कोई तब्दीली नही थी वहाँ चैम्बरलेनवाद विजयगर्व में फूला बैठा था। तब मैं चेकोस्लोवाकिया गया और नजदीक से वह मुश्किल और पेचीदा खेल देखा कि दोस्त के साथ दगा कैसे किया जाता है और उस उद्देश्य को कैसे नुकसान पहुँचाया जाता है कि जिसके आप ऊँची-से-ऊँची नैतिक बुनियाद पर, हामी माने जाते हो। म्यूनिक सकट के दिनो मे मैंने यही खेल लन्दन मे, पेरिस में और जेनेवा से देखा और कई अजीब नतीजो पर पहुँचा। जिससे मुझे सबसे अधिक अचम्भा हुआ वह यह था कि सकट के समय आगे बढे हुए कहलानेवाले लोग और दल ही निहायत नीचे गिर गये। जेनेवा को देखकर तो मुझे पुराने जमाने के खँडहरों का खयाल हो आता था—जिसमे इधर-उधर उन सैकडों अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ की जिनके वहाँ हैडक्वार्टर थे, लाशें बिखरी पडी थी। लन्दन मे इस बात पर तसल्ली दिख रही थी कि लड़ाई टल गयी है और दूसरी किसी चीज़ की परवा थी नही। कीमत दूसरो ने चुका ही दी थी इसलिए उसकी कोई बात थी नही, लेकिन जबतक एक साल न बीत जाये, तबतक उसकी बहुत कुछ बात हो सकती थी। मि० चैम्बरलेन का सितारा बुलन्द होता जा रहा था, हालाँकि उनके विरोध मे आवाज़ उठ रही थी। पेरिस ने मुझे काफी

सदमा पहुँचाया, खासतौर से उसके मध्यम वर्ग ने जिसने विरोध तक नहीं किया। यह था क्रान्ति का पतन, उन आज़ादी का अन्त जो सारी दुनिया की है।

बहुतेरी खामखयालियों को दूर करके मैं यूरप से दुखी और उदास दिल लेकर लौटा। लौटते हुए रास्ते में मैं मिस्र ठहरा, जहाँ नहस पाशा और वफ़्द पार्टी के दूसरे नेताओं ने मेरा हार्दिक स्वागत किया। मुझे उनसे दुबारा मिलकर और जल्दी-जल्दी बदलती हुई दुनिया की परिस्थिति की रोशनी में एक-दूसरे के मसलों पर विचार-विनिमय करके खुशी हुई। कुछ महीने बाद, वफ़्द पार्टी का एक प्रतिनिधि-मण्डल हिन्दुस्तान में हमसे मिलने आया और वह हमारे कांग्रेस के सालाना जल्से में भी शरीक हुआ।

हिन्दुस्तान में पुराने मसले और झगड़े जारी थे। मुझे अपने साथियों में घुलने-मिलने की पुरानी मुश्किल का फिर सामना करना पड़ा। यह देखकर मुझे सन्ताप होता था कि ऐसे समय जब कि दुनिया की काया-पलट होनेवाली है बहुतेरे कांग्रेसी इन छोटे-मोटे दलबन्दियों के झगड़ों में उलझे हुए हैं। फिर भी संस्था के ऊँचे हल्कों के कांग्रेसजनों में ठीक-ठाक समझने और रहने की थोड़ी-सी भावना थी। कांग्रेस के बाहर खराबी और भी ज्यादा साफ़ थी। साम्प्रदायिक द्वेष और तनाव बढ़ गया था और मुसलिम-लीग श्री जिन्ना के नेतृत्व में उग्र रूप से राष्ट्रीयता-विरोधी और संकीर्ण मनवाली हो गयी और ऐसा रास्ता अख्तियार कर रही जो अचम्भे में डालनेवाला था। न तो कोई रचनात्मक सुझाव (उसकी तरफ से) था, न कोई कोशिश बीच-बचाव करके मेल-मिलाप करने की थी, और न सवालों का कोई जवाब मिलता था, कि वे दरअसल क्या चाहते हैं? यह तो एक घृणा और हिंसा का खण्डना-त्मक कार्यक्रम था—जिससे नाजी लोगों के तौर-तरीके याद आजाते थे। जो बात खास तौर से तकलीफदेह थी वह यह थी कि साम्प्रदायिक संस्थाओं की उद्दण्डता बढ़ती जा रही थी—जिसका हमारे सार्वजनिक जीवन पर बुरा असर पड़ रहा था। बेशक ऐसी बहुतेरी मुसलिम जमातें

थी और मुसलमानों की एक बड़ी तादाद ऐसी थी जो मुसलिम लीग की हरकतों से नाराज़ और कांग्रेस के हक़ में थी।

इस रास्ते पर चलकर मुसलिम लीग लाजमी तौर पर ज्यादा-से-ज्यादा गलत रास्ते पर चलती गयी और आख़िरकार वह खुले आम हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र के ख़िलाफ ही नहीं खड़ी हो गयी बल्कि देश के टुकड़े करने तक की हामी हो गयी। ब्रिटिश अफसरों ने इन बेहूदी माँगों में उसकी पीठ ठोकी, क्योंकि वे तमाम दूसरी हानिकर ताकतों की तरह मुसलिम लीग से फायदा उठाना चाहते थे—ताकि कांग्रेस का असर कमज़ोर पड़ जाये। यह एक अचरज की बात थी कि जब यह साफ होगया था कि छोटे-छोटे राष्ट्रों की दुनिया में कोई जगह नहीं रहेगी, सिवा इसके कि वे राष्ट्रों के एक संघ के हिस्से बनकर रहे, ठीक उस समय हिन्दुस्तान के हिस्से किये जाने की यह माँग पेश हो। शायद माँग का इतना गम्भीर अर्थ न लगाया गया हो लेकिन यह श्री जिन्ना के द्वारा पेश किये गये दो राष्ट्रोंवाले सिद्धान्त का दलील से निकलनेवाला नतीजा था। साम्प्रदायिकता की इस नयी सूरत का मज़हबी भेदभाव से कोई वास्ता न था। यह मानी हुई बात थी कि उन्हें ठीक किया जा सकता था। यह तो जो आज़ाद, संगठित और प्रजातन्त्रात्मक भारत चाहते थे उन लोगों और उन ख़ास प्रतिगामी और सामन्त लोगों के बीच होनेवाला राजनैतिक झगड़ा था कि जो मज़हब के बुर्के में अपने ख़ास हितों को कायम रखना चाहते थे। अलग-अलग फिरकेवाले मज़हब पर जिस तरह अमल कर रहे थे और जिस तरह उसका दुरुपयोग करना चाहते थे वह तो मेरी समझ में एक अभिशाप था और सामाजिक और व्यक्तिगत सब प्रगतियों में रुकावट डालनेवाला था। वह धर्म जिससे आशा की गयी थी कि वह आध्यात्मिकता और भ्रातृ-भाव का प्रचार करेगा, अब घृणा तंगख़याली और कमीनेपन का और निचले दर्जे की भौतिकता का ख़ास सोता बन गया।

१९३९ की शुरुआत में राष्ट्रपति के चुनाव के वक्त कांग्रेस में मामला ज़ोर पकड़ गया। बदकिस्मती से मौलाना अबुलकलाम आज़ाद ने चुनाव में खड़े होने से इन्कार कर दिया और चुनाव लड़ने के बाद

सुभाषचन्द्र बोस चुने गये। इससे वे सब तरह की उलझनें और गति-अवरोध पैदा होगये कि जो कई महीनों तक कायम रहे। त्रिपुरी कांग्रेस मे बेहूदा दृश्य देखने मे आये। उस समय मेरा उत्साह बड़ा फीका पड़ा हुआ था और बिना एक दम रोक लगाये आगे चलना मेरे लिए मुश्किल था। राजनैतिक घटनाओं, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बातों का भी मुझपर असर जरूर पड़ा, लेकिन तत्कालीन कारणों का सार्वजनिक मामलों से कोई वास्ता न था। मै खुद अपने आपसे ही ऊब उठा और एक अखबार मे मैंने एक लेख मे लिखा—"मुझे डर है कि मै उन (मेरे साथियों) को सन्तोष नहीं दे पाता लेकिन फिर भी यह कोई अचरज की बात नहीं है, क्योंकि मुझसे अपने आपको तो और भी कम सन्तोष मिलता है। नेतागिरी इस गुण या बल पर नहीं हासिल होती। और जितनी जल्दी मेरे साथी इस बात को जान लें उतना ही उनके और मेरे लिए बेहतर है। मन काफी अच्छी तरह काम कर लेता है, बुद्धि को आदत पड़ गयी है काम चला लेने की, लेकिन वे सोते जो कि उस काम को ठीक चलाने के लिए जिन्दगी और ताकत देते हैं, सूख गये से जान पड़ते हैं।"

सुभाष बोस ने राष्ट्रपति-पद से स्तीफा दे दिया और फारवर्ड ब्लॉक (अग्रगामी दल) चलाया, जो कांग्रेस का करीब-करीब प्रतिद्वन्द्वी संगठन होना चाहता था। कुछ अर्से के बाद उसकी ताकत खत्म होगयी, जैसा कि होना ही था, मगर इससे विध्वंसक प्रवृत्तियों को मदद पहुँची और आम खराबियाँ पैदा हुई। लच्छेदार अलफाज़ के पर्दे मे दुःसाहसी और अवसरवादी लोगों को बोलने का मौका मिल गया और मुझे जर्मनी मे नाजीदल के पैदा होने का खयाल आये बिना न रहा। उनका तरीका था किसी एक प्रोग्राम के लिए आम जनता का सहयोग हासिल करके फिर उसका कतई दूसरे किस्म के मकसद के लिए उपयोग कर लेना।

जान-बूझकर मैं नयी कांग्रेस कार्य-समिति से अलग हो गया। मुझे महसूस हुआ कि कि मैं मेल नही बैठा सकता और जो कुछ हुआ था वह मुझे ज्यादा पसन्द नही था। राजकोट के सिलसिले मे गांधीजी के उपवास और उसके बाद होनेवाली तब्दीलियो से मै परेशान हो गया। मैंने

उस वक्त लिखा था कि "राजकोट की घटनाओं के बाद मेरी असहाय होने की भावना बढ गयी है। जहाँ मेरी समझ मे कुछ नही आता वहाँ मै काम कर नही सकता और जो कुछ हुआ है उसकी दलील मेरी समझ मे कतई नही आती।" आगे मैंने लिखा था—"हममे से बहुतेरों के आगे पसन्दगी की कठिनाई बढती जा रही है, और सवाल न दक्षिण-वाम (नरम-गर्म) पक्ष का है, न राजनैतिक फैसलो का ही है। पसन्दगी के लिए है कि या तो ऐसे फैसलों को बिना सोचे-समझे कबूल कर लो कि जो कभी-कभी एक-दूसरे का ही विरोध करते है और उनमे दलील की गुंजाइश नही है, या मुखालफत करो या कुछ भी कार्रवाई न करो। इनमे से एक भी तरीके को अच्छा कह सकना आसान नही है। बिना सोचे-समझे किसी के ऐसी बात मान लेने से जिसे वह समझता नही या खुशी से मंजूर नही कर करता, उसमे मानसिक कमजोरी और जडता पैदा होती है। इस बुनियाद पर बडे आन्दोलन नहीं चलाये जा सकते और प्रजातन्त्रीय आन्दोलन तो निश्चित रूप से नही। विरोध करना तब मुश्किल होजाता है, जबकि वह हमे कमज़ोर करता और प्रतिपक्षी को मदद पहुँचाता हो। जबकि कार्रवाई करने की पुकार चारो ओर से उठ रही हो तब कुछ न करने से काम बिगडता है और सब तरह की उलझनें पैदा होती है।"

१९३८ के अखीर मे यूरप से लौटने के थोड़े समय बाद ही दो और हलचलो मे मुझे लग जाना पड़ा। मैंने अ० भा० देशी राज्य लोक-परिषद् के लुधियाना-अधिवेशन की सदारत की और इस तरह अर्धसामन्ती देशी रियासतो के प्रगतिशील आन्दोलनों से मेरा और भी घनिष्ट सम्बन्ध होगया। इनमे से बहुत-सी रियासतों मे एक असन्तोष बढता जा रहा था, कि जिससे जब-तब प्रजामण्डलो और अधिकारियों मे कि जिनकी मदद पर ब्रिटिश फौजे होती थी, संघर्ष हो जाता था। इन रियासतो के निस्बत या ब्रिटिश सरकार ने मध्ययुग के इन खण्डहरों को कायम रखने मे जो हिस्सा लिया उसके बारे मे लिखते हुए जबान मे लगाम लगाना मुश्किल है। हाल मे एक लेखक ने उन्हे हिन्दुस्तान मे

ब्रिटेन का 'फिफ्थ कॉलम' (शत्रु का गुप्त दल) ठीक ही कहा है । कुछ सुलझे हुए समझदार शासक है भी जो अपनी प्रजा का पक्ष लेना चाहते है और कारगर सुधार जारी करना चाहते है, मगर सर्वोच्च सत्ता उनके रास्ते मे रोडे अटकाती है । कोई प्रजातन्त्रीय रियासत फिफ्थ कालम वनकर काम नही कर सकती ।

यह साफ है कि ये ५५० छोटी-वडी रियासते राजनैतिक या आर्थिक इकाइयाँ वनकर अलग-अलग काम नही कर सकती । प्रजातन्त्र-भारत मे वे सामती गढ वनकर नही रह सकती । चन्द वडी-वडी रियासते फेडरेशन (सघ) मे प्रजातन्त्रीय इकाई वन सकती है, लेकिन दूसरो को तो विलकुल मिट जाना होगा । इससे कम या छोटे सुधार से मसला हल नही हो सकेगा । राज्य-प्रथा को मिटना होगा और वह तभी मिटेगी जव ब्रिटिश साम्राज्यवाद मिटेगा ।

मेरी दूसरी प्रवृत्ति थी उस राष्ट्र-निर्माण समिति (National Planning Committee) की सदारत जो कांग्रेस के तत्त्वावधान मे प्रान्तीय सरकारो के सहयोग से वनी थी । जैसे हम उस काम को लेकर चले तैसे ही वह वढता गया, वढता गया, यहाँतक कि उसने राष्ट्रीय गतिविधि के हरेक पहलू को छुआ । हमने मुख्तलिफ विषयो के समूहो के लिए २९ उपसमितियाँ मुकर्रर की--कृषि-विषयक, औद्योगिक, सामाजिक आर्थिक, हिसावी आदि, और उनकी हलचलों मे सहयोग पैदा करने की कोशिश की, ताकि हिन्दुस्तान के लिए अर्थ-व्यवस्था करने की कोई योजना वन सके । हमारी योजना जरूरी तौर पर ढांचे की शक्ल मे होगी जिसमे वाद मे कई वाते शामिल होती रहेंगी । यह राष्ट्र-निर्माण-समिति अव भी काम कर रही है और यह मुमकिन नही है कि अगले चन्द महीनो मे ही इसका काम खत्म हो जाये । मेरे लिए यह काम वडा लुभावना रहा और इससे मैंने वहुत सीखा है । यह साफ है कि कोई भी योजना हम वनाये, वह अमल मे तभी आ सकती है, जवकि हिन्दुस्तान आजाद हो । यह भी साफ है कि किसी भी उपयोगी योजना मे आर्थिक ढांचे का समाजीकरण हो जाना जरूरी है ।

१९३९ की गर्मी मे मै थोडे दिन के लिए सीलोन (लका) गया क्योंकि वहाँ के हिन्दुस्तानी वाशिन्दो और सरकार मे झगडा पैदा होगया था। मुझे उस सुन्दर टापू मे जाने से बड़ी खुशी हुई और मै समझता हूँ, कि इस जाने मे हिन्दुस्तान और सीलोन मे नजदीकी रिश्ते कायम हुए। हरेक शख्स की तरफ से मेरा हार्दिक स्वागत हुआ, जिनमे सरकार के सीलोनी मेम्बर भी थे। मुझे इसमे शक नही कि किसी भी आनेवाली व्यवस्था मे सीलोन और भारत साथ जुड़े हुए है। भविष्य की मेरी अपनी तस्वीर मे तो एक सघ है जिसमे चीन भारत, बर्मा, सीलोन, अफगानिस्तान, शायद दूसरे मुल्क भी शामिल होगे। अगर विश्व-सघ बने तो फिर कहना ही क्या ?

१९३९ के अगस्त मे यूरप की हालत डरावनी थी और सकट की घडी मे मै हिन्दुस्तान को छोडकर नही जाना चाहता था। लेकिन चीन की यात्रा करने की ख्वाहिश--भले ही थोडी-सी देर के लिए सही--जोरदार थी। और मै चीन के लिए हवाई जहाज़ से रवाना हुआ और हिन्दुस्तान छोडने के दो ही दिन के अन्दर-अन्दर मै चुगकिंग मे था। पर जल्दी ही मुझे वापस हिन्दुस्तान आ जाना पडा क्योकि आखिरकार यूरप मे लडाई छिड गयी थी। मैने स्वतन्त्र चीन मे दो हफ्ते से भी कम बिताये लेकिन ये दो हफ्ते थे बडे स्मरणीय--न सिर्फ व्यक्तिगत रूप से मेरे ही लिए बल्कि हिन्दुस्तान और चीन के आइन्दा ताल्लुकात के लिए भी। मुझे यह जानकर बडी खुशी हुई कि मेरी इस इच्छा को कि चीन और हिन्दुस्तान आपस मे एक-दूसरे के नजदीक आवे और दोनो मे सबध स्थापित हो चीन के नेताओ ने भी अपनाया और खास तौर पर उस महान् पुरुष ने, जो चीन की एकता, और स्वतत्र होने की लगन का प्रतीक बन गया है। मार्शल च्याग काई शेक और मैडम च्याग से मै कई मर्तबा मिला, और अपने-अपने देशो के वर्तमान और भविष्य पर विचार-विनिमय किया। जब मै भारत लौटा तो चीन और चीनी लोगो का पहले से भी ज्यादा प्रशंसक बनकर लौटा। मुझे यह कल्पना भी न थी कि दुर्दिन इन पुरातन लोगो की, जो कि अब इतने नौजवान बन गये थे, आत्मा को कुचल

सकता है।

युद्ध और हिन्दुस्तान। हमे अब क्या करना था? बरसो से हम इसके वारे मे सोचते आ रहे थे और अपनी नीति की घोषणा कर चुके थे। मगर यह सब होते हुए भी ब्रिटिश सरकार ने हम लोगो की, केन्द्रीय धारासभा की या प्रातीय सरकारो की राय लिये बिना हिन्दुस्तान को लड़ाई मे शरीक मुल्क करार दे दिया। इस उपेक्षा को हम यो ही नही टाल सकते क्योकि इससे प्रकट होता था कि साम्राज्यवाद पहले की तरह काम कर रहा है। सितम्बर १९३९ के बीच मे काग्रेस कार्यसमिति ने एक लम्बा बयान जारी किया, जिसमे हमारी पिछली और हाल की नीति की व्याख्या की गयी और ब्रिटिश सरकार से माँग की गयी कि वह अपने युद्ध-उद्देश्य खासकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रश्न पर साफ करे। हमने अक्सर फासिज्म और नाज़ीवाद की निन्दा की थी लेकिन हम तो साम्राज्यवाद से जो कि हमारे ऊपर सवार था अधिक निकट सम्बन्ध रखते थे। क्या यह साम्राज्यवाद मिट जायगा? क्या उन्होने हिन्दुस्तान की आजादी को और विधान-पचायत द्वारा अपना विधान खुद बना लेने का उनका हक कबूल किया? केन्द्रीय शासन को लोक-निर्वाचित सरकार के मातहत लाने के लिए फौरन क्या कदम उठाये जाये? इसके बाद, किसी भी अल्पसंख्यक समूह से उठाये जा सकने वाले ऐतराजो को रफा करने के लिए विधान-पचायत के पीछे जो खयाल था उसे और भी विस्तृत किया गया। यह बयान किया गया कि इस असेम्बली मे अल्पसंख्यको के हको पर अल्पसंख्यको की राय से फैसले किये जायंगे, बहुमत से नही। अगर किसी सवाल के निस्बत ऐसा समझौता मुमकिन न हो, तो वह एक निष्पक्ष पचायत मे आखरी फैसले के लिए पेश होगा। जनतत्र की दृष्टि से यह सुझाव सुरक्षित नही था। लेकिन अल्पसंख्यको के शुबह को मिटाने के लिए काग्रेस चाहे जितनी दूर तक जाने को तैयार थी।

ब्रिटिश सरकार का जवाब साफ था। इसमे कोई शक नही रहा था कि वह अपने युद्ध-उद्देश्यों को स्पष्ट करने या शासन को जनता के नुमाइन्दो के हाथो मे सौंप देने को तैयार नही थी। पुरानी बाते चलती

रही और चलती रहनेवाली थी। और हिन्दुस्तान मे अग्रेजो के हित अरक्षित नही छोडे जा सकते थे। इस बात पर काग्रेसी मत्रिमण्डलों ने इस्तीफे पेश कर दिये, क्योकि युद्ध को चलाने मे वे इन शर्तो पर सहयोग करना नही चाहते थे। विधान को स्थगित कर दिया गया और स्वेच्छाचारी हुकूमत फिर से कायम हो गयी। ठीक वही पुराना वैधानिक सघर्ष हिन्दुस्तान मे भी आ खड़ा हुआ जैसा कि पश्चिमी देशो मे निर्वाचित पार्लमेण्ट और सम्राट के विशेपाधिकारों मे छिडा था, और जिसमे इग्लैण्ड और फ्रास के दो सम्राटों को अपनी जान देनी पडी थी। लेकिन इस वैधानिक पहलू के अलावा कुछ और बात भी थी। ज्वालामुखी अभी फूटा नही था लेकिन था वह जरूर और उसकी गर्जना सुनाई दे रही थी।

सकट जारी रहा और इसी दर्म्यान नये कानून और आर्डिनेस धीरे-धीरे हमपर लादे जाने लगे और काग्रेसियो और दूसरे लोगो की गिरफ्तारियो की तादाद बढने लगी। विरोध बढा और हमारी तरफ से कुछ कार्रवाई करने की माँग भी। लेकिन लडाई के रवैये और खुद इग्लैण्ड के सकट से हम झिझक भी रहे थे, क्योकि हम वह पुराना सबक पूरी तौर से नही भूल सकते थे, जो गाधीजी ने हमे सिखाया था कि हमारा मकसद विपक्षी को उसकी मुसीबत की घडी मे परेशान करने का नही होना चाहिए।

ज्यो-ज्यो लडाई बढ़ती गयी, नये-नये मसले उठ खडे होते गये या पुराने मसले नयी शकले अख्तियार करते गये और पुरानी रूपरेखाये बदलनी मालूम होने लगी। पुराने स्टैण्डर्ड (माप) धुँधले पडने लगे। कई धक्के लगे और जमे रहना मुश्किल हो गया। रूस-जर्मनी का समझौता, सोवियट का फिनलैण्ड पर हमला, और रूस का जापान की तरफ दोस्ताना झुकाव! इस दुनिया मे क्या कुछ उसूल भी थे, अमल के कोई मापदण्ड भी थे या यह सब महज मौके से फायदा उठाना ही था?

अप्रैल आया और नॉर्वे की हार हुई। मई मे हॉलैण्ड और बेलजियम के भयकर काण्ड हुए। जून मे अचानक ही फ्रास का पतन हुआ और पेरिस कि जो एक गर्वीला, खूबसूरत नगर था और आजादी का पालना

था, अब कुचला हुआ और गिरा हुआ पड़ा था। फ्रांस की सिर्फ फौजी हार ही नहीं हुई बल्कि उसका आध्यात्मिक समर्पण और गिरावट भी हुई कि जो इससे भी बेहद बुरी बात थी। मैं नहीं कह सकता कि जबतक जड़ मे ही कोई खराबी न हो तबतक यह सब कैसे हो सकता था ? क्या खराबी यह थी कि इंग्लैण्ड और फ्रांस उस पुरानी व्यवस्था के सबसे बड़े प्रतिनिधि थे कि जिसको अब खत्म होना चाहिए और इसलिए वे कायम नहीं रह सकते थे ? क्या खराबी यह थी कि साम्राज्यवाद, जो जाहिरा-तौर पर उन्हें ताकत पहुँचा रहा था, दरअसल इस किस्म की लड़ाई में उनको कमजोर कर रहा था ? अगर वे खुद उससे इन्कार करते थे तो वे आजादी के लिए नहीं लड़ सकते थे, और उनका साम्राज्यवाद नग्न (बेहया) फासिज्म में बदल जाता—जैसा कि फ्रांस मे हुआ। मि० चैम्बरलेन और उनकी पुरानी नीति की छाया अब भी इंग्लैण्ड पर पड़ रही थी। जापान को खुश करने के लिए बर्मा-चीन रास्ते को बन्द किया जा रहा था। और यहाँ हिन्दुस्तान मे किसी तब्दीली की आहट तक नहीं थी, और हमारी अपने आप पर लगाई हुई रोक का मतलब यह लगाया जाता था कि हम कोई कारगर काम करने के काबिल नहीं हैं। इस बात मे मुझे हैरानी हुई कि ब्रिटिश सरकार मे किसी तरह की निगाह नहीं है और वह जमाने के इशारे की ओर जो कुछ हो रहा है उसको न समझकर अपने आपको उसके मुताबिक नही बना सकती। क्या यह कोई कुदरत का कायदा था कि दूसरे दायरो की तरह अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं मे भी कारण लाजिमी तौर पर कार्य के पहले ही आना चाहिए और वह प्रणाली जिसका कि अब कोई कारगर काम बाकी नही रह गया था अपनी हिफाजत भी समझदारी के साथ नही कर सकती थी ?

अगर ब्रिटिश सरकार समझ मे सुस्त थी और तजुर्बे मे भी कुछ सबक नही ले सकती थी तो भारत-सरकार की निस्बत कोई क्या कहे ? इस सरकार की कारगुजारियो पर कुछ तो हँसी आती है, पर कुछ दुख भी होता है, क्योंकि कोई भी बात उसकी अपने आप मे ही सन्तुष्ट रहने की सदियो पुरानी नीति से उसे डिगाती नही दिखायी देती—चाहे वह दलील

हो चाहे समझ, चाहे कोई खतरा हो चाहे आफत । रिप वॉन विंकिल की तरह वह जगते हुए भी शिमला-शैल पर सोती रहती है ।

युद्ध की परिस्थिति मे तब्दीलियाँ होती गयी तो काग्रेस कार्य-समिति के सामने नये-नये सवाल आते गये । गाधीजी चाहते थे कि कार्य-समिति अहिसा के सिद्धान्त को कि जिसे हम आजादी की लडाई मे मान रहे थे, बढाकर स्वतन्त्र राष्ट्र के सचालन कार्य-तक ला दे । स्वतन्त्र भारत को बाहरी हमलो या अन्दरूनी झगडो से अपनी हिफाजत करने के लिए इसी सिद्धान्त पर निर्भर रहना होगा । उस वक्त हमारे सामने यह सवाल नही था, लेकिन उनके खुद के दिमाग मे वह समाया हुआ था और वह महसूस करते थे कि उसकी स्पष्ट घोषणा का वक्त आ चुका है । हममें से हरेक इस बात को मानता था कि जैसा कि हमने अबतक किया है हमको अपनी खुद की लडाई मे अहिसा की नीति पर डटे रहना चाहिए । यूरोप के युद्ध ने इस विश्वास को पक्का कर दिया था । लेकिन इसके साथ भविष्य के राष्ट्र को बॉध लेना बात दूसरी थी और ज्यादा मुश्किल थी और यह देखना आसान न था कि राजनीति की सतह पर चलने फिरनेवाला कोई इसे कैसे कर सकेगा ?

गाधीजी ने महसूस किया, और शायद ठीक ही किया, कि वह उस सन्देश को जो उनके पास दुनिया के लिए था, न तो छोड सकते थे, न तोड-मरोड सकते थे । उनको अपनी मर्जी के मुताविक उसे देने की आजादी होनी चाहिए और राजनीतिक आवश्यकताओ से उनको रुकावट नही मिलनी चाहिए । इसलिए पहली मर्त्तबा वह एक तरफ गये और काग्रेस कार्य-समिति दूसरी तरफ । उनसे बिल्कुल सम्बन्ध न रहा हो, यह बात न थी, क्योकि बन्धन बडे कडे थे और इसमे शक नही कि वह तरह-तरह से सलाह देते रहेगे और अक्सर नेतृत्व करते रहेगे । फिर भी इतना तो शायद सच है कि उनके थोडा-सा हट जाने से हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक निश्चित काल खत्म हो गया है । इन पिछले बरसो मे मैने उनमे एक कडाई आती देखी है और मेल बैठाने की क्षमता जो उनमे थी, कम हो गयी है । लेकिन पुराना जादू अभी है, पुराना आकर्षण

काम करता है और उनका व्यक्तित्व और उनकी महानता दूसरों से बढ़-कर है। कोई यह खयाल न करे कि हिन्दुस्तान के करोड़ो लोगो पर उनका जो असर था, वह कुछ कम हो गया है। वह बीस साल और उन से भी ज्यादा से हिन्दुस्तान के भाग्य-निर्माता रहे है और उनका काम अभी पूरा नही हुआ है।

पिछले चन्द हफ्तो मे चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के कहने पर काग्रेस ने ब्रिटेन के सामने एक और प्रस्ताव रखा। राजगोपालाचार्य काग्रेस के नरम पक्ष के कहे जाते है। उनकी अद्भुत मेधाशक्ति, निःस्वार्थ चारित्र्य और विश्लेषण की अपूर्व क्षमता हमारे उद्देश्य के लिए बहुत फायदे की बात रही है। काग्रेस-मन्त्रिमण्डल के शासनकाल मे वह मद्रास के प्रधान मन्त्री थे। सघर्ष से बचने के लिए वह चिन्तित थे, इस-लिए उन्होने एक प्रस्ताव रखा जिसे उनके कुछ साथियो ने बिना हिच-किचाहट के मजूर कर लिया। प्रस्ताव यह था कि ब्रिटेन हिन्दुस्तान की आजादी मजूर करे, केन्द्र मे फौरन ऐसी अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बना दे, जो मौजूदा केन्द्रीय धारासभा के प्रति जिम्मेदार हो। अगर यह हो जाये, तो रक्षा का जिम्मा यह सरकार ले ले और इस तरह लड़ाई की कोशिशो मे मदद पहुँचावे।

काग्रेस का यह प्रस्ताव खासतौर से व्यावहारिक था और फौरन बिना कोई गडबडी पैदा किये अमल मे लाया जा सकता था। राष्ट्रीय सरकार अनिवार्य रूप से एक सगठित वस्तु होनेवाली थी, जिसमे अल्पसख्यक दलो का पूरा प्रतिनिधित्व हो। प्रस्ताव निश्चित रूप से नरम था। रक्षा और युद्ध-प्रयत्नो की दृष्टि से कोई गम्भीर कार्य किया जाये, तो जनता का विश्वास और सहयोग होना चाहिए। इसमे तो कोई सन्देह ही नही। और सिर्फ राष्ट्रीय सरकार मे ही इन सब बातों के होने का मौका है। साम्राज्यवाद के द्वारा यह होना नामुमकिन है।

लेकिन साम्राज्यवाद तो उलटी ही दिशा मे सोचता है। वह खयाल करता है कि वह अपना काम चलाता रह सकता है और अपनी गर्जी पूरी करने के लिए लोगो पर दबाव भी डालता रह सकता है। खतरा सिर

पर होने पर भी वह इस बडी भारी मदद को पाने के लिए तैयार नही है अगर इसमे हिन्दुस्तान का राजनीतिक और आर्थिक काबू छोडना पडे। और तो और, उसे उस बडी भारी नैतिक प्रतिष्ठा की भी परवा नही है जो उसे हिन्दुस्तान मे और सल्तनत के बाकी हिस्सो मे इस तरह की अच्छी बात करने से मिल सकती है।

आज, ८ अगस्त १९४० को जब मै यह लिख रहा हूँ, वायसराय ने ब्रिटिश सरकार का जवाब हमे दे दिया है। वह साम्राज्यवाद की पुरानी भाषा मे है और मजबून किसी कदर भी नही बदला है। यूरोप और दुनिया की तरह यहाँ हिन्दुस्तान मे भी कालचक्र घूमता जा रहा है।

मेरे साथी वापस जेल मे पहुँच गये है और मुझे उनपर थोडा रश्क भी है। शायद युद्ध, राजनीति, फासिज्म, और साम्राज्यवाद की इस पागल दुनिया की बनिस्बत कारावास के एकान्त मे जीवन की चेतन-भावना उत्पन्न कर लेना अधिक आसान है।

लेकिन कभी-कभी कम-से-कम इस दुनिया से थोडी देर को छुटकारा मिल ही जाता है। पिछले महीने मै २३ बरस की गैरहाजिरी के बाद वापस काश्मीर गया। मै वहाँ सिर्फ १२ दिन रहा, लेकिन ये दिन खूबसूरती से भरपूर थे। और मैने जादू भरे उस देश की रमणीकता को पिया। मै घाटी के इधर-उधर घूमा, ऊँचे-ऊँचे पहाडों की सैर की और एक ग्लेशियर पर चढा और महसूस किया कि जीवन भी एक काम की चीज है।

इलाहाबाद,

८ अगस्त १९४०

परिशिष्ट—क

[२६ जनवरी १९३०, पूर्ण स्वाधीनता-दिवस, का प्रतिज्ञा-पत्र]

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भाँति अपना यह जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतन्त्र होकर रहें, अपनी मेहनत का फल खुद भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधायें मिलें जिससे हमें भी विकास का पूरा-पूरा मौक़ा मिले। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार को बदल देने या मिटा देने का भी हक़ है। हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सरकार ने हिन्दुस्तानियों की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नहीं किया है, बल्कि उसका आधार भी ग़रीबों के रक्त-शोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का नाश कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मिल आज़ादी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

"भारत की आर्थिक बरबादी हो चुकी है। जनता की आमदनी को देखते हुए उससे बेहिसाब कर वसूल किया जाता है। हमारी औसत दैनिक आय सात पैसे है और हमसे जो भारी कर लिये जाते हैं उनका २० फी सदी किसानों से लगान के रूप में और ३ फी सदी ग़रीबों से नमक-कर के रूप में वसूल किया जाता है।

"हाथ-कताई आदि ग्राम-उद्योग नष्ट कर दिये गये हैं। इससे साल में कम-से-कम चार महीने किसान लोग बेकार रहते हैं। हाथ की कारीगरी नष्ट हो जाने से उनकी बुद्धि भी मन्द हो गयी और जो उद्योग इस प्रकार नष्ट कर दिये गये हैं उनकी जगह दूसरे देशों की भाँति कोई नये उद्योग जारी भी नहीं किये गये हैं।

"चुंगी और सिक्के की व्यवस्था इस प्रकार की गयी है कि उससे किसानों का भार और भी बढ़ गया। हमारे देश में बाहर का माल अधिकतर अंग्रेजी कारखानों से आता है। चुंगी के महसूल में अंग्रेज़ी

माल के साथ साफतौर पर पक्षपात होता है। इसकी आय का उपयोग गरीबों का बोझा हल्का करने में नहीं, बल्कि एक अत्यन्त अपव्ययी शासन को कायम रखने में किया जाता है। विनिमय की दर भी ऐसे मनमाने तरीके से निश्चित की गयी है कि जिससे देश का करोड़ों रुपया बाहर चला जाता है।

"राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का दर्जा जितना अंग्रेजों के जमाने में घटा है उतना पहले कभी नहीं घटा था। किसी भी सुधार-योजना से जनता के हाथ में असली राजनैतिक सत्ता नहीं आयी। हमारे बड़े-से-बड़े आदमी को विदेशी सत्ता के सामने सिर झुकाना पड़ता है। अपनी राय आजादी से जाहिर करने और आजादी से मिलने-जुलने के हमारे हक छीन लिये गये हैं और हमारे बहुत-से देशवासी निर्वासित कर दिये गये हैं। हमारी सारी शासन की प्रतिभा मारी गयी है और सर्व-साधारण को गाँवों के छोटे-छोटे ओहदों और मुंशीगीरी से सन्तोष करना पड़ता है।

"संस्कृति के लिहाज से शिक्षा-प्रणाली ने हमारी जड़ ही काट दी और हमें जो तालीम दी जाती है उससे हम अपनी गुलामी की जंजीरों को ही प्यार करने लगे हैं।

"आध्यात्मिक दृष्टि से, हमारे हथियार जबर्दस्ती छीनकर हमें नामर्द बना दिया गया। विदेशी सेना हमारी छाती पर सदा मौजूद रहती है। उसने हमारी मुकाबिले की भावना को बड़ी बुरी तरह से कुचल दिया है। उसने हमारे दिलों में यह बात बिठा दी है कि हम न अपना घर सम्हाल सकते हैं और न विदेशी हमलों से देश की रक्षा कर सकते हैं। इतना ही नहीं, चोर, डाकू और बदमाशों के हमलों से भी हम अपने बाल-बच्चों और जान-माल को नहीं बचा सकते। जिस शासन ने हमारे देश का इस तरह सर्वनाश किया है, उसके अधीन रहना हमारी राय में मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति जुर्म है। किन्तु हम यह भी मानते हैं कि हमें हिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी। इसलिए हम ब्रिटिश सरकार से यथासंभव स्वेच्छापूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक के

साज सजायेंगे। हमारा पक्का विश्वास है कि अगर हम राजी-खुशी सहायता देना और उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किये बगैर कर देना बन्द कर सकें तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। इसलिए हम शपथपूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिए कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञायें देगी, उनका हम पालन करते रहेंगे।'

परिशिष्ट—ख

[यरवडा सेण्ट्रल जेल, पूना से १५ अगस्त, १९३० को कांग्रेस-नेताओं द्वारा सर तेजबहादुर सप्रू और श्री मुकुन्दराव जयकर को लिखा गया सुलह की शर्तोंवाला पत्र।]

आप लोगों ने ब्रिटिश-सरकार और कांग्रेस में शान्तिपूर्ण समझौता करने का जो भार अपने ऊपर लिया है, उसके लिए हम लोग आपके बहुत-बहुत आभारी हैं। आपका वाइसराय के साथ जो पत्र-व्यवहार हुआ है, और आपके साथ हम लोगों की जो बहुत अधिक बातें हुई हैं और हम लोगों में आपस में जो कुछ परामर्श हुआ है, उस सबका ध्यान रखते हुए, हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अभी ऐसे समझौते का समय नहीं आया है, जो हमारे देश के लिए सम्मानपूर्ण हो। पिछले पांच महीनों में देश में जो गजब की जाग्रति हुई है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त व मत रखनेवाले लोगों में से छोटे-बड़े सभी प्रकार और वर्ग के लोगों ने जो बहुत अधिक कष्ट सहन किया है, उसे देखते हुए हम लोग यह अनुभव करते हैं कि न तो वह कष्ट-सहन काफी ही हुआ है, और न वह उतना बड़ा ही हुआ है कि उससे तुरन्त ही हमारा उद्देश्य पूरा हो जाय। शायद यहां यह बतलाने की कोई आवश्यकता न होगी कि हम आपके या वाइसराय के इस मत से सहमत नहीं हैं कि सत्याग्रह-आन्दोलन से देश को हानि पहुँची है या वह आन्दोलन कुसमय में खड़ा किया गया है या वह अवैध है। अंग्रेजों का इतिहास ऐसी-ऐसी रक्तपूर्ण क्रान्तियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है, जिनकी प्रशंसा के राग गाते हुए अंग्रेज लोग कभी नहीं थकते, और उन्होंने हम लोगों को भी ऐसा ही करने की शिक्षा दी है। इसलिए

जो क्रान्ति विचार की दृष्टि से बिल्कुल शान्तिपूर्ण है और जो कार्य-रूप में भी बहुत बड़े पैमाने में और अद्भुत रूप से शान्तिपूर्ण ही है, उसकी निन्दा करना वाइसराय या किसी और समझदार अंग्रेज को शोभा नही देता। पर जो सरकारी या गैर सरकारी आदमी वर्तमान सत्याग्रह-आन्दोलन की निन्दा करते है, उनके साथ झगडा करने की हमारी कोई इच्छा नही है। हम मानते है कि सर्व-साधारण जिस आश्चर्य-जनक रूप से इस आन्दोलन मे शामिल हुए, वही इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि यह उचित और न्यायपूर्ण है। यहाँ कहने की बात यही है कि हम लोग भी प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ मिलकर इस बात की कामना करते है कि अगर किसी तरह सम्भव हो, तो यह सत्याग्रह-आन्दोलन बन्द कर दिया जाय या स्थगित कर दिया जाय। अपने देश के पुरुषों, स्त्रियो और बच्चो तक को अनावश्यक रूप से ऐसी परिस्थिति मे रखना कि उन्हे जेल जाना पड़े, लाठियाँ खानी पड़े और इनसे भी बढकर दुर्दशाये भोगनी पड़े, हम लोगों के लिए कभी आनन्ददायक नही हो सकता। इसलिए जब हम आपको और आपके द्वारा वाइसराय को यह विश्वास दिलाते है कि सम्मानपूर्ण शान्ति और समझोते के लिए जितने मार्ग हो सकते है, उन सबको ढूँढकर उनका आसरा लेने के लिए हम अपनी ओर से कोई बात न उठा रखेंगे, तो आशा है कि आप हम लोगो की इस बात पर विश्वास करेंगे। लेकिन फिर भी हम मानते है कि अभीतक हमे क्षितिज पर ऐसी शान्ति का कोई लक्षण नही दिखाई देता। हमे अभीतक इस बात का कोई आसार नही दिखाई पडता कि ब्रिटिश सरकारी दुनिया का अब यह विचार हो गया है कि खुद हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुष ही इस बात का निर्णय कर सकते है कि हिन्दुस्तान के लिए सबसे अच्छा कौन-सा रास्ता है। सरकारी कर्मचारियों ने अपने शुभ विचारों की जो निष्ठापूर्ण घोषणाये की है और जिनमें से बहुत सी प्राय अच्छे उद्देश से की गयी है, उनपर हम विश्वास नही करते। इधर मुद्दतो से अंग्रेज इस प्राचीन देश के निवासियो की धन-सम्पत्ति का जो बराबर अपहरण करते आये है, उनके कारण उन अंग्रेजों मे अब इतनी

शक्ति और योग्यता नहीं रह गयी है कि वे यह बात देख सकें कि उनके इस अपहरण के कारण हमारे देश का कितना अधिक नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक ह्रास हुआ है। वे अपने-आपको यह देखने के लिए तैयार ही नहीं कर सकते कि उनके करने का सबसे बड़ा एक काम यही है कि वे जो हमारी पीठ पर चढ़े बैठे हैं, उसपर से उतर जायँ, और लगभग सौ बरसों तक भारत पर उनका राज्य रहने के कारण सब प्रकार से हम लोगों का नाश और ह्रास करनेवाली जो प्रणाली चल रही है, उससे ये बाहर निकलकर विकसित होने में हमारी सहायता करें, और अबतक उन्होंने हमारे साथ जो अन्याय किये हैं, उनका इस रूप में प्रायश्चित्त कर डालें।

पर हम यह बात जानते हैं कि आपके और हमारे देश के कुछ और विज्ञ लोगों के विचार हमारे इन विचारों से भिन्न हैं। आप यह विश्वास करते हैं कि शासकों के भावों में परिवर्तन हो गया है, और अधिक नहीं तो कम-से-कम इतना परिवर्तन जरूर हो गया है कि जिससे हम लोगों को प्रस्तावित परिषद् में जाकर शरीक होना चाहिए। इसलिए, हालाँकि हम इस समय एक खास तरह के बन्धन में पड़े हुए हैं, तो भी जहाँतक हमारे अन्दर शक्ति है वहाँतक हम इस काम में खुशी से आप लोगों का साथ देंगे। हम जिस परिस्थिति में पड़े हुए हैं, उसे देखते हुए, आपके मित्रतापूर्ण प्रयत्न में हम अधिक-से-अधिक जिस रूप में और जिस हद तक सहायता दे सकते हैं, वे इस प्रकार हैं —

(१) हम यह समझते हैं कि वाइसराय ने आपके पत्र का जो जवाब दिया है, उसमें प्रस्तावित परिषद् के सम्बन्ध में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह भाषा ऐसी अनिश्चित है कि पारसाल लाहौर में जो राष्ट्रीय माँग पेश की गयी थी, उसका ध्यान रखते हुए हम वाइसराय के उस कथन का कोई मूल्य या महत्व ही निर्धारित नहीं कर सकते; और न हमारी स्थिति ही ऐसी है कि कांग्रेस की कार्य-समिति, और जरूरत हो तो महासमिति के नियमित अधिवेशन में विना विचार किये हम लोग अधिकारपूर्ण रूप से कोई बात कह सकें। पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि व्यक्तिगत तौर पर हम लोगों के लिए इस समस्या का

कोई ऐसा निराकरण तबतक सन्तोषजनक न होगा-जबतक कि (क) पूरे और स्पष्ट शब्दो मे यह बात न मान ली जाय कि भारत को इस बात का अधिकार प्राप्त होगा कि वह जब चाहे तब ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हो जाय। (ख) भारत मे ऐसी पूर्ण राष्ट्रीय सरकार स्थापित न होजाय जो उसके निवासियो के प्रति उत्तरदायी हो ताकि उसे देश की रक्षक शक्तियो (सेना आदि) पर और तमाम आर्थिक विषयो पर पूरा अधिकार और नियन्त्रण प्राप्त हो और जिसमे उन ११ बातों का भी समावेश हो जाय जो गाधीजी ने वाइसराय को अपने पत्र मे लिखकर भेजी थी और (ग) हिन्दुस्तान को इस बात का अधिकार प्राप्त न हो जाय कि जरूरत हो तो वह एक ऐसी स्वतन्त्र पचायत बैठाकर इस बात का निर्णय करा सके कि, अग्रेजों को जो विशेष अधिकार और रिआयते वगैरा प्राप्त है, जिसमे भारत का सार्वजनिक ऋण भी शामिल होगा, और जिनके सम्बन्ध मे राष्ट्रीय सरकार का यह मत होगा कि ये न्याय-पूर्ण नही है या भारत की जनता के लिए हितकर नही-है, वे सब अधिकार, रिआयते और ऋण आदि उचित, न्यायपूर्ण और मान्य है या नही ?

नोट—अधिकार हस्तान्तरित होते वक्त भारत के हित के विचार से इस किस्म के जिस लेन-देन आदि की जरूरत होगी, उसका निर्णय भारत के चुने हुए प्रतिनिधि करेगे।

(२) ऊपर बतलाई हुई बाते ब्रिटिश-सरकार को अगर ठीक जँचे और वह इस सम्बन्ध मे सन्तोष-जनक घोषणा कर दे तो हम काग्रेस की कार्य-समिति से इस बात की सिफारिश करेगे कि सत्याग्रह-आन्दोलन या सविनय-अविज्ञा का आन्दोलन बन्द कर दिया जाय, अर्थात्, केवल आज्ञा-भग करने के लिए ही कुछ विशिष्ट कानूनो का भग न किया जाय। पर विलायती कपडे और शराब, ताडी वगैरा की दूकानो पर तबतक शान्तिपूर्ण पिकेटिग जारी रहेगा, जबतक कि सरकार खुद कानून बनाकर शराब ताडी आदि और विलायती कपडे की बिक्री बन्द न कर देगी। सब लोग अपने घरो मे बराबर नमक बनाते रहेगे और नमक-कानून की दण्ड-सम्बन्धी धाराये काम मे नही लायी जायँगी। नमक के

सरकारी या लोगों के निजी गोदामों पर धावा नहीं किया जायगा।

(३) ज्योंही सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया जायगा, त्योंही (क) वे सब सत्याग्रही कैदी और राजनैतिक कैदी, जो सजा पा चुके है पर जो हिंसा के अपराधी नहीं है या जिन्होंने लोगों को हिंसा करने के लिए उत्तेजित नहीं किया है, सरकार द्वारा छोड़ दिये जायंगे, (ख) नमक-कानून, प्रेस-कानून, लगान-कानून और इसी प्रकार के और कानूनों के अनुसार जो तमाम सम्पत्तियाँ जब्त की गयी है, वे सब लोगों को वापिस करदी जायँगी; (ग) सजायाफ्ता सत्याग्रहियों से जो जुर्माने वसूल किये गये है या जो जमानतें ली गयी है, उन सबकी रक़में लौटा दी जायँगी, (घ) वे सब राज-कर्मचारी, जिनमें गाँवों के कर्मचारी भी शामिल है, जिन्होंने अपने पद से स्तीफा दे दिया है या जो आन्दोलन के समय नौकरी से छुड़ा दिये गये है, अगर फिर से सरकारी नौकरी करना चाहे तो अपने पद पर नियुक्त कर दिये जायँगे।

नोट—ऊपर जो उपधारायें दी गयी है उनका व्यवहार असहयोग-काल के सजायाफ्ता लोगों के लिए भी होगा।

(ङ) वाइसराय ने अबतक जितने आर्डिनेन्स जारी किये है, वे सब रद्द कर दिये जायँगे।

(च) प्रस्तावित परिषद् मे कौन-कौन लोग सम्मिलित किये जायगे और उसमे कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किस प्रकार का होगा, उसका निर्णय उसी समय होगा जब पहले ऊपर बताई हुई आरम्भिक बातों का सतोषजनक निपटारा हो जायगा।

भवदीय

मोतीलाल नेहरू, मोहनदास करमचन्द गाधी,

सरोजिनी नायडू, वल्लभभाई पटेल,

जयरामदास दौलतराम, सैयद महमूद,

जवाहरलाल नेहरू।

परिशिष्ट--ग

[२६ जनवरी १९३१ को पढ़ा गया स्मारक-प्रस्ताव]

''भारत-माता की उन सन्तानो का, जिन्होंने आजादी की महान् लडाई मे भाग लिया और देश की स्वतन्त्रता के लिए अनेक कष्ट और कुर्बानी की, अपने उन महान् और प्रिय नेता महात्मा गाधी का, जो कि हमारे लिए सतत स्फूर्ति के स्रोत रहे है, और जो हमे सदैव उसी ऊँचे आदर्श और पवित्र साधनो का मार्ग दिखाते रहे है; उन सैकडो हजारो बहादुर नवयुवकों का, जिन्होने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने प्राणो की बलि चढायी, पेशावर और सारे सीमाप्रान्त और शोलापुर, मिदनापुर और बम्बई के शहीदो का, उन सैकडो हजारो भाइयो का, जिन्होंने दुश्मन के नृशस लाठी-प्रहारो का मुकाबिला किया और उन्हे सहा, गढवाली रेजीमेन्ट के सैनिको और फौज और पुलिस के उन सब भारतीय सिपाहियों का, जिन्होने कि अपनी जाने खतरे मे डालकर भी अपने देश-भाइयो पर गोली आदि चलाने से इन्कार कर दिया, गुजरात के उन दबग किसानो का, जिन्होंने कि बिना झुके और पीठ दिखाये सभी नृसश अत्याचारो का मुकाबिला किया, भारत के अन्य प्रदेशो के उन बहादुर और पीडित किसानो का, जिन्होंने कि सब प्रकार के दमन को सहकर भी लडाई मे पूरा भाग लिया, उन व्यापारियो और व्यवसाय-क्षेत्र के अन्य समुदायो का जिन्होने कि जबरदस्त नुकसान उठाकर भी राष्ट्रीय सग्राम मे विशेप कर विदेशी वस्त्र और ब्रिटिश माल के बहिष्कार मे, सहायता की, उन एक लाख स्त्री-पुरुपो का, जो जेल गये और सब प्रकार के कष्ट सहे, यहाँतक कि कभी-कभी जेल के अन्दर भी लाठी-प्रहार और चोटे सहीं, और खासकर उन साधारण स्वयसेवको का जिन्होने कि भारतमाता के सच्चे सिपाहियो की तरह बिना किसी प्रकार की ख्याति या पुरस्कार की इच्छा के एकमात्र अपने महान् ध्येय का ही ध्यान रखकर कष्टों और कठिनाइयो के बीच भी अनवरत और शान्तिपूर्वक कार्य किया, हम नगर के निवासी गौरव और कृतज्ञतापूर्ण हृदय से

अभिवादन करते हैं, और हम अभिनन्दन और हार्दिक सराहना करते हैं, भारत की नारी-जाति का, जो कि भारत-माता के संकट समय अपने घरों की शरण छोड़कर अदम्य साहस और सहिष्णुतापूर्वक, राष्ट्रीय सेना में अपने भाइयों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर अगली कतार में खड़ी रही और बलिदान और सफलता के उल्लास में पूरा-पूरा भाग लिया, और भारत की उस युवकशक्ति और वानर-सेना पर जिसे उसकी सुकुमार आयु भी लड़ाई में भाग लेने और अपने ध्येय पर कुर्बान होने से न रोक सकी, अपना गर्व प्रकट करते हैं।

और साथ ही, हम कृतज्ञतापूर्वक इस बात की सराहना करते हैं कि भारत की सब बड़ी और छोटी जातियों और वर्णों ने इस महान् संग्राम में हाथ बटाया और ध्येय की प्राप्ति के लिए शक्तिभर प्रयत्न किया। खासकर—मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई आदि अल्पसंख्यक जातियों के प्रति और भी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने अपने साहस और अपनी अनन्य मातृभूमि के प्रति अपनी एकनिष्ठ भक्ति के साथ, एक ऐसे संयुक्त और अविभाज्य राष्ट्र के निर्माण में, जिसकी कि जय निश्चित हो, सहायता दी, और हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता प्राप्त करने और उसे कायम रखने तथा उस नवीन स्वतन्त्रता का भारत के सब समुदाय के लोगों की बेड़ियाँ तोड़कर सबमें से असमानता दूर करने के रूप में मानवता के उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करने का निश्चय किया। भारत के हित के लिए बलिदान और कष्ट-सहन के ऐसे महान् और स्फूर्तिदायक उदाहरणों को अपने सामने रखते हुए हम स्वतन्त्रता की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते हैं और जबतक हिन्दुस्तान आजाद नहीं हो जाता तबतक अपनी लड़ाई जारी रखने का निश्चय करते हैं।

सस्ता साहित्य मण्डल

नोट—१) देकर स्थायी ग्राहक बनने पर हमेशा या १॥) देकर 'जीवन-साहित्य' का ग्राहक बनने पर एक वर्ष के लिए ये पुस्तकें पौने मूल्य में मिलेगी।

'सर्वोदय साहित्य-माला' के प्रकाशन

१.	दिव्य जीवन : स्वेट मार्डेन	।=)
२.	जीवन-साहित्य : काका कालेलकर	॥=)
३.	तामिल वेद : महात्मा तिरुवल्लुवर	॥)
४.	भारत में व्यसन और व्यभिचार : श्री बैजनाथ महोदय	॥=)
*५.	सामाजिक कुरीतियाँ : टाल्स्टाय	॥)
*६.	भारत के स्त्री-रत्न	३)
*७.	अनोखा : टॉल्स्टॉय	१।=)
८	ब्रह्मचर्य-विज्ञान : श्री जगन्नारायणदेव	॥=)
*९.	यूरोप का इतिहास : श्री रामकिशोर शर्मा	२)
१०.	समाज-विज्ञान : श्री चन्द्रराज भंडारी	॥)
*११.	खद्दर का संपत्ति-शास्त्र : रिचर्ड बी ग्रेग	॥≡)
*१२.	गोरों का प्रभुत्व	॥=)
*१३.	चीन की आवाज	।-)
१४.	दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह : महात्मा गांधी	१)
*१५.	विजयी बारडोली [अप्राप्य]	२)
१६.	अनीति की राह पर : महात्मा गाँधी	॥=)
*१७.	सीता की अग्नि-परीक्षा	।-)
१८.	कन्या-शिक्षा : स्व० चन्द्रशेखर शास्त्री	।)
१९.	कर्मयोग : श्री अश्विनीकुमार दत्त	।=)
२०	कलवार की करतूत : टॉल्स्टॉय	=)

*ये पुस्तकें अप्राप्य हैं। इनको मँगाने का कष्ट न करें।

*ये पुस्तकें अप्राप्य हैं। इनको मँगाने का कष्ट न करें।

*४४ जब अंग्रेज आये १।=)
४५. जीवन-विकास : सदाशिवनारायण दातार १)
४६. किसानों का बिगुल =)
*४७. फाँसी ।=)
४८. अनासक्तियोग : (देखिए नवजीवन माला) ≡), =)
*४९ स्वर्ण-विहान : श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' ।=)
५०. मराठों का उत्थान-पतन : श्री गोपाल दामोदर तामस्कर २।)
५१. भाई के पत्र : श्री रामनाथ 'सुमन' १)
*५२ स्वगत : श्री हरिभाऊ उपाध्याय ।=)
*५३ युगधर्म : श्री हरिभाऊ उपाध्याय १=)
५४ स्त्री-समस्या : श्री मुकुटबिहारी वर्मा १॥)
*५५ विदेशी कपड़े का मुक़ाबिला ॥=)
*५६. चित्रपट : श्री शान्तिप्रसाद वर्मा, ।=)
*५७ राष्ट्रवाणी : महात्मा गांधी ॥=)
५८ इंग्लैण्ड में महात्माजी : श्री महादेव देसाई ॥)
५९ रोटी का सवाल : प्रिंस क्रोपाटकिन ॥)
६० दैवी-सम्पद् : श्री रामगोपाल मोहता ।=)
६१ जीवन-सूत्र : टॉमस कैम्पिस ॥)
*६२ हमारा कलंक : महात्मा गांधी ॥=)
६३ बुद्बुद् : श्री हरिभाऊ उपाध्याय ॥)
६४. संघर्ष या सहयोग ? : प्रिंस क्रोपाटकिन १॥)
६५ गांधी-विचार-दोहन : श्रीकिशोरलाल घ० मश्रुवाला ॥)

---

* ये पुस्तकें अप्राप्य हैं। इनको मँगाने का कष्ट न करें।

---

*ये पुस्तके अप्राप्य हैं। इनको मँगाने का कष्ट न करें।

८९. (८) सुगम चिकित्सा : श्री चतुरसेन शास्त्री ॥)

९०. प्रेम में भगवान् : टॉल्स्टॉय ॥)

*९१. महात्मा गांधी : श्री रामनाथ 'सुमन' ।=)

९२. ब्रह्मचर्य : महात्मा गांधी ॥)

९३ (१०) हमारे गाँव और किसान : चौधरी श्री मुख्त्यारसिंह ॥)

९४. गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : स० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् १।)सजिल्द २)

९५. हिन्दुस्तान की समस्यायें : पं० जवाहरलाल नेहरू १)

९६. जीवन-सन्देश : खलील जिब्रान ॥)

९७. समन्वय : श्री डॉ० भगवान्दास २)

९८ समाजवाद : पूँजीवाद : श्री गोभालाल गुप्त ॥।)

९९ मेरी मुक्ति की कहानी : टॉल्स्टॉय ॥)

१०० खादी-मीमांसा : श्री बालूभाई मेहता १॥)

१०१. बापू : श्री घनश्यामदास बिड़ला ॥=),सजिल्द १।),हाथ कागज की २)

१०२. विनोबा और उनके विचार ॥)

१०३ लड़खड़ाती दुनिया : पं० जवाहरलाल नेहरू ॥।)

१०४ सेवाधर्म-सेवामार्ग : श्री श्रीकृष्णदत्त पालीवाल १)

१०५. दुनिया की शासन-प्रणालियाँ तथा यूरोप का वर्तमान युद्ध १॥)

१०६ डायरी के पन्ने : श्री घनश्यामदास बिड़ला ॥।), १)

१०७. तीस दिन : मालवीयजी के साथ : श्री रामनरेश त्रिपाठी

१०८. युद्ध और अहिंसा : महात्मा गांधी

१०९. महावीर-वाणी : पं० बेचरदास दोशी

११०. हमारी संस्कृति और नागरिक जीवन : श्री रामनारायण यादवेन्दु

---

*ये पुस्तकें अप्राप्य हैं। इनको मँगाने का कष्ट न करें।

'नवजीवनमाला' की पुस्तकें

१. गीताबोध : महात्मा गांधी
२. मंगल प्रभात : महात्मा गांधी
३. अनासक्तियोग : महात्मा गांधी—गीता की टीका =), और सजिल्द ≡), सजिल्द ।)
४. सर्वोदय : महात्मा गांधी —)
५. नवयुवकों से दो बात : प्रिंस क्रोपाटकिन —)
६. हिन्द-स्वराज : महात्मा गांधी ≡)
*७. छूतछात की माया : भदन्त आनन्द कौसल्यायन —)
८. किसानों का सवाल : डा० जेड० ए० अहमद =)
९. ग्राम-सेवा : महात्मा गांधी =)
१०. खादी और गादी की लड़ाई : आचार्य विनोबा =)
११. मधुमक्खी-पालन =)
१२. गांवों का आर्थिक सवाल : श्री झवेरभाई पटेल ≡)
१३. राष्ट्रीय गायन =)
१४. खादी का महत्त्व : श्री गुलजारीलाल नन्दा —)॥
१५. जब अंग्रेज नहीं आये थे : दादाभाई नौरोजी =)
१६. सोने की माया : श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला —)
१७. सत्यवीर सुकरात : महात्मा गांधी —)

*ये पुस्तकें अप्राप्य हैं। इनको मँगाने का कष्ट न करें।